2-2

* जयगोर *

परमपूज्यपाद रसिक-कुल-मुकुटमणि

श्रीकृष्णदास–कविराज–गोस्वामि–विरचित

श्री श्री चैतन्यचरितामृत

अन्त्य-लीला

●

श्रीमन्नित्यानन्द-प्रभुवंशावतंश अखण्डगुणगणालंकृत

परमपूज्यपाद श्री १००८ श्री देवकीनन्दन गोस्वामी प्रभुपादाश्रित

श्री श्यामदास

कर्त्तृक सम्पादित

एवं

तत्कर्त्तृक-लिखित श्री श्री गौरसुन्दर–कृपा स्फुरित

चैतन्य-चरण-चुम्बिनी टीका सम्वलित

●

श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल,

श्रीधाम–वृन्दावन ।

सम्पादकीय

परम-करुणागार कलि-पावनावतार स्वयं भगवान् श्री श्री कृष्ण चैतन्यदेव की असीम चरणानुकम्पा से श्रीश्रीचैतन्य चरितामृत की अन्त्य-लीला को श्री हरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल, श्री वृन्दावन, परमोदार पाठकवृन्द के कर कमलों में सहर्ष प्रस्तुत करता है। प्रकाशन सम्बन्धीय अनेक समस्याओं के कारण ग्रन्थ-प्राप्ति में हुए विलम्ब को पाठकवृन्द क्षमा करेंगे।

आदि लीला तथा मध्य लीला की भान्ति इस खण्ड में भी श्रीमन्महाप्रभु जी की अनेक लोकातीत रसमयी लीलाओं का समावेश है। उन्होंने अपने अवतार के चरमतम अन्तरङ्ग उद्देश्य की पूर्त्ति जिन लीलाओं में साधित की है, अथवा रास रसेश्वरी श्री वृषभानुनन्दनी श्री राधा जी के मादनाख्य-महाभाव के आश्रयस्वरूप होकर श्री ब्रजेन्द्रनन्दनस्वरूप श्रीचैतन्यदेव ने जिन दिव्योन्मादमय प्रलपनों में श्रीकृष्ण के असमोर्द्ध्व माधुर्य का रसास्वादन किया है, वे समस्त विषय इस अन्त्य लीला का अभूतपूर्व वैशिष्ट्य हैं।

ग्रन्थारम्भ में श्री चैतन्य शलाका प्रश्नावली एवं अन्त में चैतन्य चरितामृत-आरती तथा परिशिष्ट में समस्त ग्रन्थान्तर्गत-प्रयुक्त पारिभाषिक-ज्ञातव्य शब्दों की वर्णानुक्रमिक सूची, श्री श्री चैतन्यचरितामृत नवाह व मास पारायण तथा मध्यलीला व अन्त्य-लीला के शुद्धि पत्र संलग्न हैं—इस खण्ड की ये भी कुछ एक विशेषताएं हैं।

श्रीमन्महाप्रभु जी के परमकृपापात्र कुमिला-विक्टोरिया कालेज तथा चौमुहनी कालेज कलकत्ता के भूतपूर्व अध्यक्ष, विद्यावाचस्पति, भागवत भूषण, भक्ति सिद्धान्तरत्न, भक्ति भूषण, भक्ति सिद्धान्त भास्कर, एम-ए, डि-लिट-परविद्याचार्य्य (वैष्णव-पारमार्थिक विश्वविद्यालय) श्री राधागोविन्दनाथ महोदय (कलकत्ता निवासी) का मैं विशेष आभारी हूँ, जिनके द्वारा गौर-कृपा-तरङ्गिणी टीका सम्बलित एवं सम्पादित वंगभाषीय श्री श्री चैतन्यचरितामृत के आधार पर, जिनकी स्वीकृति विशेष लेकर मैं इस ग्रन्थ को हिन्दी भाषा में सम्पादन करने में समर्थ हुआ हूँ, केवल मैं ही नहीं, समस्त हिन्दी समाज मानो उनकी ही रचना का हिन्दी भाषा में आस्वादन कर उनका चिर आभारी रहेगा।

श्री श्री चैतन्य चरितामृत के अतिरिक्त वंग भाषा में अध्यक्ष महोदय की अन्य भी कई एक अद्भुत रचनाएं हैं—श्रीश्री गौर करुणार-वैशिष्ट्य, श्री श्रीगौरतत्त्व, गौड़ीयवैष्णवदर्शन गौड़ीय वैष्णव दर्शन तो एक महान विषय एवं उपादेय सङ्कलन है, मानो समस्त श्रुति-स्मृति-वेद-वेदान्त सिद्धान्त सागर को उन्होंने सागर में भर दिया है।

मैं, श्री हरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल, वृन्दावन की ओर से उन समस्त महानुभावों का अति धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने इस विशद कार्य के सम्पन्न करने में तन-मन एवं धन से सहयोग प्रदान किया है।

जीव के भ्रम-प्रमादादि स्वभाववशतः तथा प्रकाशन सम्बन्धीय असुविधाओं के कारण, विशेषतः मुझ, जैसे अल्पबुद्धि व विद्याहीन व्यक्ति द्वारा ऐसे विशद सङ्कलन के प्रथम प्रयास में अनेक त्रुटि-विच्युतियों का रह जाना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। अतः सुविज्ञ पाठकगण उन समस्त अशुद्धियों को आप ही सुधारने की कृपा करेंगे।

अन्त में समस्त पाठकवृन्द से क्षमायाचना करते हुए सानुरोध प्रार्थना करूँगा कि परमोपादेय एवं सर्वोत्कृष्ट गौड़ीय वैष्णव साहित्य, जिसके वंग भाषा में ही सीमित रहने के कारण हिन्दी समाज अभी तक अनभिज्ञ है, उस बहुमूल्य साहित्य के हिन्दी भाषा के प्रकाशन एवं प्रचार-प्रसार में वे तन-मन-धन से अपना पूर्ण सहयोग प्रदान कर श्री हरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल, वृन्दावन को आभारी करें।

वैष्णव पदरजाभिलाषी:—

श्यामलाल हकीम

मन्त्री— **श्री हरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल,**

श्रीधाम—वृन्दावन

सांकेतिक–चिह्न

श्रीगी०, गी०	—	श्री मद्भगवद्गीता
भा०, श्रीभा०	—	श्री मद्भागवत
भ० र० सि०	—	भक्तिरसामृतसिन्धु
उ० नी० म०	—	उज्ज्वलनीलमणि
वि० पु०	—	विष्णु पुराण
ह० भ० वि०	—	हरि भक्ति विलास
तैति०	—	तैतिरीय श्रुति
ल० भ०	—	लघु भागवतामृत
तत्रैव	—	पूर्वोल्लिखित श्लोक–ग्रन्थ
भूमिका	—	श्रीमद्वैष्णव सिद्धान्त-रत्न संग्रह
म० ली०	—	मध्य–लीला
चै० च० चु०–टीका	—	चैतन्य-चरण-चुम्बिनी-टीका
२–१–८ श्लोक	—	श्री चैतन्यचरितामृत मध्य-लीला १ परिच्छेद, ८ वां श्लोक
चै० च० १-८–३२	—	श्री चैतन्यचरितामृत आदि-लीला ८ परिच्छेद, ३२ वां पयार
(ट)	—	टीकान्तर्गत-श्लोक
(उ)	—	उपसंहार श्लोक
अ–१२	—	आदि–लीला पृष्ठ १२
म–१६	—	मध्य–लीला पृष्ठ १६
श–२०	—	शेष या अन्त्य–लीला पृष्ठ २०

श्री चैतन्यशलाका प्रश्नावली

श्री श्री चैतन्य-पदानुरागी भक्तों के लिए श्री चैतन्यशलाका प्रश्नावली नीचे अङ्कित की जाती है एवं उसके नीचे प्रश्नोत्तर निकालने की विधि तथा उसके उत्तर-फलों का उल्लेख किया जाता है। श्रीचैतन्यशलाका प्रश्नावली का स्वरूप इस प्रकार है—

श्री	क्रु	ब	सा	वै	ई	दे	रू	ष्ण	हु	धु	रा	श्त्र	ह
प	म	ज	स	गी	र	त्या	स	न्त्र	न्य	ङ्ग	ह	ज	गा
ना	है	क	सा	इ	ग	दि	त	ते	रे	धु	या	न्ना	ए
न	ह	य	स	ये	थ	इ	भ	वे	दि	ङ्ग	वा	यांर	स
ट्ट	सं	श्र	स	क	हा	ब	र	सा	व	वं	रे	ते	त
घु	र	ण	शा	प	स	मो	ना	मो	की	स्त्रे	रा	र्व	ध
थ	च	त्त	क	पे	अ	में	श्री	न	न	य	क्षा	र्थं	त
जी	क्रु	त	ल	का	क	मो	व	ष्ण	बु	व	र्य	त्त	र
गो	ना	ना	मा	सि	म	जो	पा	म	हि	त्र	द्धि	क	ध
ल	है	पा	सा	न	त्तुं	में	भ	ते	य	धु	हे	म	क्रु
ट्ट	पा	क्रु	स	क्रु	न्य	ष्णो	दा	वे	ष्ण	ङ्गें	ष्ण	था	र
स	क्रु	प	स	क	क	ना	र	ष्ण	दे	वं	रे	रि	पा
घु	र	प्रे	सि	न	ते	ई	न	च	म	द्धि	उ	स	च
ा	र	ध	ह	पे	म	र	थ	न	न	व्य	क्षा	र्थं	ण

प्रश्नोत्तर व उत्तर-फल निकालने की विधि—

श्री चैतन्यशलाका प्रश्नावली के द्वारा जब अपने अभीष्ट प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने की इच्छा हो, तो सर्वप्रथम सर्वाभीष्ट प्रदाता श्री चैतन्यदेव का ध्यान करना चाहिये। तदनन्तर श्रद्धा विश्वास के साथ मन से अपने अभीष्ट प्रश्न का चिन्तन करते हुए प्रश्नावली के किसी अक्षर पर अंगुली या कोई शलाका रखनी चाहिये और उस अक्षर को किसी कोरे कागज़ पर लिख लेना चाहिए। प्रश्नावली के अक्षर पर भी कोई चिन्ह लगा देना चाहिए ताकि उत्तर प्राप्त होने तक वह अक्षर भूल न जाए। फिर जिस अक्षर को लिख लिया गया है, उसके आगे गिनती करके सातवें नम्बर पर जो अक्षर पड़े, उसे भी लिख लेना चाहिए। इसी प्रकार प्रति सातवें अक्षर के सातवें अक्षर को क्रम से लिखते जाइये, जब तक उसी पहले अक्षर तक अंगुली या शलाका न पहुंच जाए। इस प्रकार करने से एक पयार पूरा बन जाएगा, जो प्रश्न कर्त्ता के अभीष्ट प्रश्न का उत्तर होगा।

श्री चैतन्यशलाका प्रश्नावली से जो पयार बनते हैं उन सब का फल सहित उल्लेख नीचे किया जाता है:—

[१] श्री रूप-सनातन भट्ट-रघुनाथ ।
श्री जीव गोपाल भट्ट दास-रघुनाथ ॥ [१-१-१६]

फल—श्री गुरु —वैष्णव-चरणों में वन्दना करके कार्यारम्भ करो, सफलता मिलेगी।

[२] कृष्ण-मन्त्र हैते हवे संसार मोचन ।
कृष्णनाम हैते पावे कृष्णेर चरण ॥ [१-७-७१]

फल--प्रश्न उत्तम है, श्री कृष्णनाम का स्मरण करते रहें,कार्य सिद्ध होगा।

[३] बहु जन्म करे यदि श्रवण-कीर्त्तन ।
तबु नाहि पाय कृष्णपदे प्रेम-धन ॥ [१-८-१५]

फल—निजी स्वार्थ एवं कपट कार्य सिद्धि में बाधक है।

[४] साधुसङ्ग साधुसङ्ग सर्वशास्त्रे कय ।
लवमात्र साधुसङ्गे सर्वसिद्धि हय ॥ [२-८-१५]

फल—तत्पुरुषों का आश्रय लेने से कार्य सफल होगा।

[५] वैरागी हइया येवा करे परापेक्षा ।
कार्यसिद्धि नहे कृष्ण करेन उपेक्षा ॥ [३-६-२२२]

फल—कार्य की सिद्धि नहीं होगी।

[६] ईश्वर जगन्नाथ यांर हाते सर्व अर्थ ।
कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा करिते समर्थ ॥ [३-६-४३]

फल—श्री भगवान सर्वसमर्थ हैं, कार्य सिद्धि में सन्देह है।

[७] देहत्यागादि एइ सब तमोधर्म ।
तमो रजो धर्मे कृष्णेर ना पाई चरण ॥ [३-४-५६]

फल—इस कार्य में भलाई नहीं है, कार्य सफल नहीं होगा।

इस प्रकार श्री चैतन्यशलाका-प्रश्नावली से कुल सात पयार बनते हैं, जिनमें सभी प्रकार के प्रश्नों उत्तराशय सन्निहित हैं।

॥ जयगौर ॥

श्री श्री चैतन्यचरितामृत—अन्त्य-लीला

विषय-सूची

सप्तम परिच्छेद

अष्टम परिच्छेद

नवम परिच्छेद

दशम परिच्छेद

एकादश परिच्छेद

द्वादश परिच्छेद

त्रयोदश परिच्छेद

चतुर्दश परिच्छेद

पञ्चदश परिच्छेद

षोड़ष परिच्छेद

सप्तदश परिच्छेद

अष्टम परिच्छेद

ऊनविंश परिच्छेद

विंश परिच्छेद

श्री श्री चैतन्यचरितामृत—अन्त्य-लीला

श्लोक--सूची

———

श्री श्री ललित विहारिणि-विहारी

श्री हरिनाम सङ्कीर्तन मण्डल

जयगौरः

❀ श्रीश्रीकृष्णचैतन्य-नित्यानन्दपादपद्मेभ्यो नमः ❀

श्रीकृष्णदास-कविराज-गोस्वामि-विरचित—

श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

अन्त्य-लीला

प्रथम परिच्छेद

*

पंगु लङ्घयते शैलं मूकमावर्त्तयेत् श्रुतिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे कृष्णचैतन्यमीश्वरम् ॥१॥

जिनकी कृपा पङ्गु को पर्वत-लङ्घन करा देती है, एवं मूक व्यक्ति द्वारा वेदों का पाठ करा देती हैं, मैं उन ईश्वर श्रीकृष्णचैतन्यदेव की वन्दना करता हूँ ॥१॥

❀ चैतन्य-चरण-चुम्बिनी टीका ❀

वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुत्पदकमलं श्रीगुरून्-वैष्णवांश्च
श्रीरूपं साग्रजातं सहगण-रघुनाथान्वितं तं सजीवम् ।
साद्वैतं सावधूतं परिजनसहितं (श्री)कृष्णचैतन्यदेवं
श्रीराधाकृष्णपादान् सहगण—ललिता श्रीविशाखान्वितांश्च ॥क॥

वाञ्छा-कल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च ।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः ॥ख॥

श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत के रचयिता रसिक-कुल-कमल-दिवाकर श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीपाद श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव की अन्त्य-लीला आरम्भ करने से पूर्व प्रथम श्लोक में इष्ट-वन्दना रूप मङ्गलाचरण करते हैं। वे कहते हैं--"हे प्रभु ! पंगु के लिये जैसे पर्वत पर चढ़ना असम्भव है, गूँगे पुरुष के लिये जैसे वेदाध्ययन करना असम्भव है, मेरे लिये भी आप की लीला वर्णन करना उसी प्रकार असम्भव है, किन्तु हे गौरचन्द्र ! आप की कृपा में एक आश्चर्यमयी अचिन्त्य-शक्ति है,

जिस के प्रभाव से पङ्गु भी सहज में पर्वत पर चढ़ सकता है और मूक-पुरुष भी वेदों का पाठ करने लगता है; आप अपनी उस आश्चर्यमयी अचिन्त्य-कृपा शक्ति द्वारा मुझ दीन हीन-अयोग्य से भी अपनी लीला वर्णन करा लो न ! यही आपके चरणों में मेरी प्रार्थना है।"

अन्त्य-लीला के इस परिच्छेद में श्रीशिवानन्दसेन के श्वान का प्रसङ्ग, श्रीरूपगोस्वामी द्वारा रचित विदग्ध-माधव-नाटक एवं ललित-माधव-नाटक—इन दोनों नाटकों का प्रसङ्ग, नीलाचल पर श्रीमहाप्रभु जी के साथ श्रीरूपगोस्वामी जी के मिलने का प्रसङ्ग, श्रीरूप गोस्वामी जी के साथ श्रीमहाप्रभु की इष्टगोष्ठी, भक्तगणों के साथ श्रीमहाप्रभु द्वारा श्रीरूपकृत-नाटकद्वय का आस्वादन एवं श्रीरूप गोस्वामी जी का वापस श्रीवृन्दावन-गमनादि का प्रसङ्ग वर्णन किया गया है।

दुर्गमे पथि मेऽन्धस्य स्खलत्पादगतेर्मुहुः ।
स्वकृपायष्टिदानेन सन्तः सन्त्ववलम्बनम् ॥२॥

मैं एक अन्धा पुरुष हूँ अर्थात् शास्त्र-ज्ञान हीन हूँ, इसलिए इस दुर्गम (शास्त्र) पथ में बार-बार मेरा पांव फिसला जाता है; अतः साधुगण अपनी कृपा रूप लाठी मुझे प्रदान कर मेरा अवलम्बन हों ॥२॥

चैं० च० चु० *टीका:*—इस श्लोक में कविराज गोस्वामीपाद ने महत्-कृपा की याचना की है कि जिसके प्रभाव से वे श्रीमन्महाप्रभु की लीलावर्णन करने में समर्थ हो सकें, वास्तव में जो शास्त्र-चक्षु-हीन हैं, उनके लिये श्रीकृष्णचैतन्यदेव की दुर्वितर्क्य लीलाओं का समझना या वर्णन करना सर्वथा असम्भव है, कारण कि महत् कृपा के बिना उन लीलाओं के गूढ़ रहस्य में किसी का प्रवेशाधिकार नहीं हो सकता। महत् कृपा की सहायता के बिना उन लीलाओं के वर्णन करने में पद पद पर त्रुटि-विच्युति एवं अनेक अपराधों के हो जाने की आशङ्का रहती है। किन्तु महत्-कृपा को प्राप्तकर लेने पर उसकी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से उस प्रकार के दोषों की सम्भावना नहीं रहती एवं उन गूढ़ रहस्यमयी लीलाओं में अनायास प्रवेशाधिकार मिल जाता है। इसलिये ग्रन्थाकार श्रीकविराज गोस्वामी भी दीनतापूर्वक अपनी असामर्थ्य प्रगट करते हुए ग्रन्थारम्भ में साधु-महापुरुषों की कृपा की प्रार्थना कर रहे हैं। इसी भावना में अगले दो पयारों में वे छः गोस्वामी-चरणों में नमस्काररूप मङ्गलाचरण करते हैं:—

श्रीरूप सनातन भट्ट रघुनाथ ।
श्रीजीव गोपालभट्ट दासरघुनाथ ॥१॥
एइ छय गुरुर करों चरण वन्दन ।
याहा हैते विघ्ननाश अभीष्टपूरण ॥२॥

श्रीरूप गोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीरघुनाथ भट्ट गोस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी, श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामी तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामी—इन छः गुरुजनों के चरणों में मैं वन्दना करता हूँ, जिस से सर्व विघ्नों का नाश होता है एवं वाञ्छित फल की प्राप्ति होती है ॥१–२॥

[श्री श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ के आरम्भ में आदि-लीला में तथा मध्य-लीला में श्रीकविराज गोस्वामीपाद ने जिस प्रकार श्रीवृन्दाबन के अधीश्वर मुख्य तीनों ठाकुर—श्रीश्रीराधामदनमोहन जी, श्रीश्रीराधागोविन्ददेव जी, तथा श्रीश्रीराधागोपीनाथजी महाराज की बन्दना की थी, उसी प्रकार अन्त्य-लीला के मङ्गलाचरण के पश्चात् भी उन्हीं तीन ठाकुर-स्वरूपों की बन्दना निम्नलिखित तीन श्लोकों में करते हैं:—]

जयतां सुरतौ पङ्गोर्मम मन्दमतेर्गती ।
मत्सर्वस्वपदाम्भोजौ राधामदनमोहनौ ॥३॥

मुझ पङ्गु अर्थात् असमर्थ एवं मन्द बुद्धि अर्थात् शास्त्र-ज्ञान-हीन के जो एक मात्र आश्रय हैं, तथा जिनके श्रीचरणारविन्द ही मेरा सर्वस्व हैं—उन परमदयालु श्रीश्रीराधामदनमोहन की जय हो ॥३॥

दीव्यद्वृन्दारण्यकल्पद्रुमाधः श्रीमद्रत्नागारसिंहासनस्थौ ।
श्रीमद्राधा-श्रीलगोविन्ददेवौ प्रेष्ठालीभिः सेव्यमानौ स्मरामि ॥४॥

परम दिव्य-धाम श्रीवृन्दावन में कल्पवृक्ष के नीचे मणिमय मन्दिर में परमसुन्दर रत्नजटित सिंहासन पर जो विराजमान् हैं एवं प्रिय सखीवृन्द जिनकी सेवा में संलग्न हैं, उन श्रीश्रीराधा-गोविन्द जी को मैं स्मरण करता हूँ ॥४॥

श्रीमान् रासरसारम्भी वंशीवट–तट–स्थितः ।
कर्षन् वेणुस्वनैर्गोपीर्गोपीनाथः श्रियेऽस्तु नः ॥५॥

वेणु ध्वनि से व्रजगोपियों को आकर्षण करने वाले, वंशीवट पर विराजमान् रास-रस के प्रवर्त्तक रसिक शेखर श्रीश्रीराधा-गोपीनाथ जी हम सब का कुशल विधान करें ॥५॥

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥३॥
मध्यलीलार एइ संक्षेपे करिल वर्णन । अन्त्यलीलार वर्णन किछु शुन भक्तजन ॥४॥
मध्यलीलामध्ये अन्त्यलीला सूत्रगण । पूर्वग्रन्थे संक्षेपे करियाछि वर्णन ॥५॥

श्रीश्रीकृष्णचैतन्यदेव की जय हो, जय हो । श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु की जय हो । श्रीअद्वैतचन्द्र प्रभु की जय हो । श्रीगौर-भक्त-वृन्द की जय हो । श्रीकविराज कहते हैं—'मध्य-लीला' अर्थात् श्रीमन्महाप्रभु के संन्यास-ग्रहण करने के बाद छः वर्षों तक की लीला मैं संक्षेप से वर्णन कर चुका हूँ, अब श्रीप्रभु की अन्त्य-लीला अर्थात् उनके अन्तिम अठारह वर्षों की लीला कुछ वर्णन करता हूँ, भक्तगण ! उसे श्रवण कीजिये । मध्य-लीला या पूर्व ग्रन्थ में इस अन्त्य-लीला का सूत्र अर्थात् विषय-सूची मैं संक्षेप से वर्णन कर चुका हूँ ॥३–५॥

आमि जराग्रस्त, निकट जानिया मरण । अन्त्य कोनो कोनो लीला करियाछि वर्णन ॥६॥
पूर्वलिखित सूत्रगण अनुसारे । येइ नाहि लिखि, ताहा लिखिये विस्तारे ॥७॥

क्योंकि मैं अत्यन्त वृद्ध हूँ, मध्य-लीला के वर्णन करते समय भी अपने देहावसान की शीघ्र सम्भावना में मैंने मध्य-लीला में श्रीप्रभु की अन्त्य-लीला भी कुछ-कुछ वर्णन करदी थी । उस पूर्वोलिखित सूत्र या सूची के अनुसार जिन लीलाओं का वर्णन नहीं किया था, उनका अब मैं यहाँ विस्तार पूर्वक वर्णन करता हूँ ॥ ६-७ ॥

वृन्दाबन हैते प्रभु नीलाचले आइला । स्वरूपगोसाञि गौड़े वार्त्ता पाठाइला ॥८॥
शुनि शची आनन्दित, सर्वभक्त गण । सभे मेलि नीलाचले करिला गमन ॥९॥
कुलीन ग्रामी भक्त आर यत खण्डवासी । आचार्य-शिवानन्द-सने मिलिला सभे आसि ॥१०॥

जिस समय श्रीमन्महाप्रभु श्रीवृन्दावन से नीलाचल वापस लौटे, तब श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने गौड़ देश में (बङ्गाल में) प्रभु के लौट आने का समाचार भिजवा दिया। उस समाचार को सुनकर श्रीशची माता एवं समस्त गौड़ीय भक्त अति आनन्दित हुए। सब लोग मिल कर नीलाचल जाने की तैयारी करने लगे। कुलीन ग्रामवासी तथा श्रीखण्डवासी सब भक्तगण कोई श्रीअद्वैताचार्य प्रभु के घर शान्तिपुर में और कोई श्रीशिवानन्द सेन के घर कांचरा-पाड़ा में आकर इकट्ठे हुए एवं वहाँ से सब मिल कर नीलाचल की ओर चल दिये ॥ ८-१० ॥

शिवानन्द करे सब घाटि-समाधान। सभारे पालन करे, देन वासास्थान ॥११॥
एकटि कुक्कुर चले शिवानन्दसने। भक्ष्य दिया लञा चले करिया पालने ॥१२॥
एक दिन तबे एक नदीपार हैले। उड़िया नाविक कुक्कुर ना चढ़ाय नौकाते ॥१३॥
कुक्कुर रहिल, शिवानन्द दुखी हैला। दशपण कड़ि दिया कुक्कुर पार कैला ॥१४॥

मार्ग में अनेक स्थानों पर यात्री-कर देना पड़ता था, सो श्रीशिवानन्द सेन ही सब का यात्री-कर भुगतान करते हुए चल रहे थे, यहाँ तक कि सब के खान-पान तथा निवासस्थान का प्रबन्ध भी वही कर रहे थे। एक कुत्ता भी श्रीशिवानन्द के साथ-साथ चल रहा था, उसे भी रास्ते में भोजनादि देते हुए वे उसकी रक्षा कर रहे थे। एक दिन एक नदी को पार करते समय वहाँ के उड़ीसा-वासी नाविक ने कुत्ते को अपनी नाव में बैठा कर पार करने से इन्कार कर दिया। कुत्ता पार नहीं होगा--यह देख कर श्रीशिवानन्द जी को बहुत दुख हुआ। उन्होंने नाविक को दशपण कड़ि अर्थात् ८०० कौड़ी भाड़ा दे दिया और उस कुत्ते को पार ही ले गये ॥ ११-१४ ॥

एक दिन शिवानन्दे घाटिआले राखिला। कुक्कुरके भात दिते सेवक पासरिला ॥१५॥
रात्र्ये आसि शिवानन्द भोजनेर काले। "कुक्कुर पाञाछे भात?" सेवके पुछिले॥१६॥
"कुक्कुर भात नाहि पाय" शुनि दुखी हैला। कुक्कुर चाहिते दश लोक पाठाइला ॥१७॥
चाहिया ना पाइल कुक्कुर, लोक सब आइला। दुखी हञा शिवानन्द उपवास कैला ॥१८॥
प्रभाते उठि चाहे कुक्कुर, काहां ना पाइला। सकल वैष्णव मने चमत्कार हैला ॥१९॥

एक दिन श्रीशिवानन्द जी को कर-वसूल करने वाले ने रोक लिया, (किन्तु और सब लोग आगे चले गये एवं निर्द्धारित स्थान पर जाकर रुके एवं श्रीशिवानन्द के सेवक ने सब लोगों के खान-पान का यथेष्ट प्रवन्ध कर दिया।) वह सेवक उस कुत्ते को भातादि देना भूल गया। रात के समय जब श्रीशिवानन्द जी शिविर में आए और भोजन करने बैठे तो उन्होंने सेवक से पूछा—"क्यों भाई ! कुत्ते को भोजन करा दिया था ?" उसने जब बताया कि कुत्ते को तो भोजन नहीं दिया गया, तो वे बहुत दुखी हुए। उन्होंने उसी समय दश व्यक्तियों को कुत्ते की खोज में इधर-उधर भेजा किन्तु वे लोग हार कर वापस आ गये और उन्होंने बताया कि कुत्ते का कहीं भी पता नहीं मिला है। श्रीशिवानन्द जी ने भी भोजन छोड़ दिया, बहुत दुखी हुए एवं उस रात में वे भूखे रह गये। सवेरा होने पर सब लोगों ने कुत्ते को इधर-उधर बहुत खोजा, किन्तु वह कहीं भी न मिला। सब वैष्णव हैरान रह गए कि कुत्ता गया तो गया कहाँ ? ॥ १५-१९ ॥

उत्कण्ठाय चलि सभे आइला नीलाचले। पूर्ववत् महाप्रभु मिलिला सकले ॥२०॥
सभा लञा कैल जगन्नाथ दरशन। सभा लञा महाप्रभु करिला भोजन ॥२१॥
पूर्ववत् सभारे प्रभु पाठाइला वासास्थाने। प्रभु ठाञि प्रातःकाले आइला आर दिने ॥२२॥
आसिया देखिल सभे, सेइ त कुक्कुरे। प्रभु-काछे वसि आछे किछु अल्प दूरे ॥२३॥
प्रसाद नारिकेल-शस्य देन पेलाइया। 'कृष्ण राम हरि कह' बोलेन हासिया ॥२४॥
शस्य खाय कुक्कुर–'कृष्ण' कहे बार-बार। देखिया लोकेर मने हैल चमत्कार ॥२५॥

अन्ततः उस कुत्ते का विचार छोड़ कर सब श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन की उत्कण्ठा में नीलाचल चले आए एवं पूर्व वर्षों की भान्ति श्रीमहाप्रभु जी सब से मिले। श्रीमहाप्रभु जी ने सब लोगों को साथ लेजाकर श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन किये। सब के साथ मिल कर प्रभु ने भोजनादि किया और फिर सब को उनके वासस्थान पर भेज दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल सब लोग उठ कर जब श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन करने आए तो क्या देखते हैं कि वही कुत्ता श्रीमहाप्रभु के पास कुछ दूर बैठा हुआ है। प्रभु उसे नारियल का शस्य-प्रसाद डाल रहे हैं और मन्द मुस्कराते हुए उसे 'श्रीकृष्ण राम हरि बोल'—ऐसा कह रहे हैं। वह कुत्ता शस्य-प्रसाद खाता जा रहा है और बार-बार 'श्रीकृष्ण-कृष्ण' कहता जा रहा है। यह सब देख कर सब लोग चमत्कृत हो उठे ॥ २०-२५ ॥

शिवानन्द कुक्कुर देखि दण्डवत् कैला। दैन्य करि निज अपराध क्षमाइला ॥२६॥
आर दिन केहो तार देखा न पाइल। सिद्ध देह पाञा कुक्कुर वैकुण्ठते गेल ॥२७॥
ऐछे दिव्य लीला करे शचीर-नन्दन। कुक्कुरके 'कृष्ण' कहाइ करिला मोचन ॥२८॥

श्रीशिवानन्द जी ने जब उस कुत्ते को देखा तो उन्होंने उसे दण्डवत् प्रणाम की और दीनता पूर्वक उस से अपने अपराध की क्षमा याचना की। दूसरे दिन फिर उस भाग्यवान् को किसी ने कुत्ते के शरीर में न देखा, सब के सामने वह पार्षद-देह प्राप्त कर वैकुण्ठ को चला गया। इस प्रकार की अनेक दिव्य लीलायें श्रीशचीनन्दन भगवान् करते हैं। उन्होंने उस कुत्ते से श्रीकृष्णनाम उच्चारण कराकर उस का उद्धार कर दिया ॥ २६-२८ ॥

चै० च० चु० टीकाः—इस कुत्ते की उद्धार-कथा चाहे अन्त्य-लीला में यहाँ वर्णन की गई है, किन्तु यह घटना प्रभु की मध्य-लीला के समय में हुई थी। कारण कि मध्य-लीला का सूत्र वर्णन करते हुए कविराज गोस्वामीपाद ने इस प्रसङ्ग का उल्लेख किया है। (मध्य-लीला प्रथम परिच्छेद १२९-३० पयार द्रष्टव्य है) जिस से ज्ञात होता है, जिस वर्ष श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य जी ने काशी-यात्रा की थी, उसी वर्ष ही यह कुत्ता श्रीशिवानन्द जी के साथ नीलाचल आया था। कवि कर्णपूर जी ने भी श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक में इस कथा का उल्लेख श्रीमहाप्रभु के मथुरा गमन से पहले किसी एक वर्ष में किया है। अतः यह कथा प्रभु की मध्य-लीला के अन्तर्गत ही है।

इस प्रसङ्ग के अन्त्य-लीला में उल्लेख करने का कारण यह दीखता है कि श्रीशिवानन्द जी के सम्बन्ध में भक्तों के साथ नीलाचल-यात्रा के प्रसङ्ग में यह कहा गया है कि "'श्रीशिवानन्द जी सबका यात्री-कर भुगतान कर रहे थे, सब के भोजन एवं वासस्थान का प्रवन्ध करते हुए चल रहे थे—इत्यादि।" इसी प्रसङ्ग में श्रीशिवानन्द जी की असाधारण उदारता दिखाने के लिये इस कथा का उल्लेख

भी यहां कर दिया गया कि प्रभु के चरण-दर्शनार्थी भक्तों की तो क्या बात, एक कुत्ते की भी सुख-सुविधा विधान करने में वे कितने सचेष्ट थे। जीव के प्रति एक वैष्णव की कितनी दया होनी चाहिये, यह प्रसङ्ग उसका आदर्श-स्थानीय है।

जीव अपने कर्म फलानुसार रजस्तमः-प्रधान कुत्ते-पशु-आदि योनि को प्राप्त कर श्रीकृष्ण-नाम के उच्चारण करने के सौभाग्य से वञ्चित हो जाता है, किन्तु इस जीव को भी यदि वैष्णव-सङ्ग एवं महत् कृपा की प्राप्ति हो जाए तो वह भी श्रीकृष्णनाम उच्चारण करने के सौभाग्य को ही केवल नहीं वरं भगवान् के साक्षात् चरण-दर्शन प्राप्त कर परम गति को प्राप्त कर लेता है। हम देखते हैं श्रीशिवानन्द सेन जी के चित में उस कुत्ते के प्रति दया अथवा उसके मङ्गल की कामना ही उसके उद्धार का हेतु है। भक्तों के हृदय की कामना को श्रीभगवान् कभी भी अपूर्ण नहीं रखते। महत् कृपा के प्रभाव से श्रीमन्महाप्रभु ने उस कुत्ते का सब संङ्ग छुड़ा दिया। उसे अपने चरणों में आकर्षण कर उस की प्रारब्ध का भी खण्डन कर दिया, जिससे उस में श्रीकृष्णनाम उच्चारण करने की योग्यता आगई, जिस के फल स्वरूप वह परम गति को प्राप्त होगया। वास्तव में जीव के उद्धार में महत्-कृपा की प्राप्ति की अत्यन्त आवश्यकता है।

एथा प्रभु-आज्ञाय रूप आइला वृन्दावन। कृष्णलीला नाटक करिते हैल मन ॥२९॥
वृन्दाबने नाटकेर आरम्भ करिल। मङ्गलाचरण-नान्दीश्लोक तथाइ लेखिल ॥३०॥
पथे चलि आइसे नाटकेर घटना भाविते। कड़चा करिया किछु लागिला लेखिते ॥३१॥
एइमते दुइभाइ गौड़देशे आइला। गौड़े आसि अनुपमेर गङ्गाप्राप्ति हैला ॥३२॥

इस ओर (प्रयाग में श्रीमन्महाप्रभु जी से भक्तिसिद्धान्तादि के सम्बन्ध में उपदेश तथा भक्ति-शास्त्रादि प्रणयन करने की शक्ति प्राप्त करके) श्रीमन्महाप्रभु जी की आज्ञा से श्रीरूप-गोस्वामी जी श्रीवृन्दावन में आए। वहां उनकी इच्छा श्रीकृष्ण-लीला को एक नाटक रूप में वर्णन की हुई। श्रीरूप गोस्वामी जी ने उस श्रीकृष्ण-लीला नाटक को श्रीवृन्दावन में लिखना आरम्भ किया एवं नाटक के मङ्गलाचरण रूप नान्दी-श्लोक का भी उल्लेख कर लिया, (किन्तु उसके पश्चात् वे एवं उनका भ्राता श्रीअनुपम गौड़ देश की यात्रा में चल दिये।) मार्ग में चलते समय श्रीरूप गोस्वामी जी, नाटक में क्या क्या विषय किस कौशल से वर्णन करेंगे—यह सब सोचते हुए चल रहे थे और जो जो विषय स्थिर होता जाता था, उसे कड़चा (नोट-बुक) में संक्षेप से लिखते भी जाते थे। इस प्रकार जब दोनों भाई गौड़ देश में पहुँचे, तो वहां श्री अनुपम जी ने श्रीगङ्गा जी के किनारे देह त्याग कर दिया ॥२९-३२॥

चै० च० चु० *टीका*:—लीला-विशेष के अभिनयात्मक ग्रन्थ को नाटक कहते हैं, जिस में गद्य एवं पद्य दोनों प्राकृत-भाषा में रहते हैं। नाटक में कथावार्त्ता तथा गान भी साथ-साथ रहता है। किन्तु यात्रा में कथावार्त्ता नहीं होती, उसमें केवल गान ही गान रहता है। श्रीरूपगोस्वामीपाद ने श्रीकृष्ण-लीला अभिनयात्मक ग्रन्थ श्रीवृन्दावन में लिखना आरम्भ किया।

मङ्गलाचरणः—ग्रन्थारम्भ में विघ्न-विनाशादि एवं साफल्यादि के लिये अपने इष्टदेवादि के जो स्मरण-वन्दनादिक किये जाते हैं—उसे मङ्गलाचरण कहते हैं। (आदि-लीला पृष्ठ १-२ द्रष्टव्य।)

नान्दीः—मङ्गलाचरण व नान्दी प्रायः एक ही होते हैं। आशीर्वाद, नमस्कार एवं वस्तु-निर्देश—इन में से किसी एक के साथ जो मङ्गलाचरण होता है—उसे 'नान्दी' कहते हैं। इससे देवतादि आनन्दित होते हैं, अतः इसे 'नान्दी' कहा जाता है।

कड़चा:—जिस कापी या वही में स्मरणीय विषयों को संक्षेप से टीप लिया जाता है, जिसे आज कल 'डायरी' या नोट-बुक कहा जाता है—उसे 'कड़चा' कहते हैं।

रूपगोसाञि प्रभुपाश करिला गमन। प्रभुके देखिते तांर उत्कण्ठित मन ॥३३॥
अनुपम-लागि तांर किछु विलम्ब हैल। भक्तगण पाश आइल, लागि ना पाइल ॥३४॥
उड़ियादेशे 'सत्यभामापुर' नामे ग्राम। एक रात्रि सेइग्रामे करिल विश्राम ॥३५॥
रात्र्ये स्वप्ने देखे—एक दिव्य रूपा नारी। सम्मुखे आसि आज्ञा दिल बहु कृपा करि ॥३६॥
"आमार नाटक पृथक् करह रचन। आमार कृपाते नाटक हइवे विचक्षण" ॥३७॥

वहाँ से श्रीरूपगोस्वामी श्रीमहाप्रभु जी के पास नीलाचल को रवाना हुए, उनका मन प्रभु के दर्शनों के लिये अति उत्कण्ठित हो रहा था। (श्रीरूपगोस्वामी जी का विचार था कि गौड़ीय भक्तों के साथ-साथ मिलकर नीलाचल जाएँगे,) परन्तु रास्ते में श्री अनुपम जी के देहावसान के कारण उन्हें विलम्ब होगया, (और गौड़ीय भक्त वहाँ से नीलाचल रवाना हो चुके थे) इस लिये जब वे गौड़ देश (नवद्वीपादि) में आए तो वहाँ उन्हें गौड़ीय भक्तों का साथ प्राप्त न हुआ और फिर वे वहाँ से अकेले ही नीलाचल की ओर चल दिये। उत्कल देश में एक 'सत्यभामापुर' नाम का गांव है, वहाँ श्रीरूप-गोस्वामी जी ने आकर एक रात विश्राम किया। रात को वे स्वप्न में क्या देखते हैं कि, एक दिव्य रूप-वती रमणी उनके पास खड़ी है और कृपापूर्वक कह रही है कि—"रूप! मेरा नाटक पृथक् भाव में रचना करो। मेरी कृपा से तुम्हारा नाटक अति सुन्दर होगा।" ॥३३-३७॥

स्वप्न देखि श्रीरूप करिल विचार—। सत्यभामार आज्ञा—पृथक् नाटक करिवार ॥३८॥
व्रज-पुरलीला एकत्र करियाछि घटना। दुइ भाग करि एबे करिव रचना ॥३९॥
भाविते भाविते शीघ्र आइला नीलाचले। आसि उतरिला हरिदास—वासास्थले ॥४०॥
हरिदास ठाकुर तारे बहु कृपा कैल। तुमि ये आसिवे, मोरे प्रभुहो कहिल ॥४१॥

स्वप्न देखकर जब श्रीरूप गोस्वामी जागे तो विचार करने लगे कि—"वह तो श्रीसत्यभामा जी थीं, उन्होंने मुझे उनका नाटक पृथक् रचने की आज्ञा की है। मैंने तो व्रजलीला तथा द्वारका-लीला को एकत्र ही लिखने का निश्चय कर रखा था, यदि उनकी ऐसी आज्ञा है तो अब मैं अपने नाटक ग्रन्थ की दो भागों में ही रचना करूंगा।" इस प्रकार चिन्ता करते-करते वे शीघ्र ही नीलाचल आ पहुँचे और श्रीहरिदास जी के वासस्थान पर ही आकर उतरे। (श्रीहरिदास जी के उस वासस्थान का नाम आज-कल 'सिद्ध बकुलतला' नाम से प्रसिद्ध है।) श्रीहरिदास जी उन से बहुत कृपा पूर्वक मिले और बताया कि "श्रीमहाप्रभु जी ने मुझे तुम्हारे आज यहाँ आने की बात पहले ही कही थी।" ॥३८-४१॥

उपलभोग देखि प्रभु हरिदास देखिते। प्रतिदिन आइसेन, प्रभु आइला आचम्बिते ॥४२॥
'रूप दण्डवत् करे'—हरिदास कहिला। हरिदासे मिलि प्रभु रूपे आलिङ्गिला ॥४३॥
हरिदास लञा तिने वसिला एक स्थाने। कुशलप्रश्न इष्टगोष्ठी कैल कथोक्षणे ॥४४॥
सनातनेर वार्त्ता यवे गोसाञि पुछिल। रूप कहे, तांर सङ्गे देखा ना हइल ॥४५॥

आमि गङ्गापथे आइलाम तेंहों राजपथे । अतएव आमार देखा नहिल तांर साथे ॥४६॥
प्रयागे शुनिल, तेंहो गेला वृन्दाबन । अनुपमेर गङ्गाप्राप्ति कैल निवेदन ॥४७॥

श्रीजगन्नाथ जी के प्रातःकालीन मङ्गला के दर्शन करके श्रीमहाप्रभु जी प्रतिदिन श्रीहरिदास जी के स्थान पर आया करते थे । श्रीहरिदास जी तथा श्रीरूप गोस्वामी जी अभी कथा-वार्त्ता कर ही रहे थे कि वहाँ श्रीमहाप्रभु जी आ पहुँचे । प्रभु के देखते ही श्रीरूप गोस्वामी जी उन्हें दण्डवत् प्रणाम करने लगे । श्रीहरिदास जी ने कहा—"प्रभु ! रूप आपको दण्डवत् प्रणाम कर रहे हैं ।" महाप्रभु जी ने श्रीहरिदास जी को आलिङ्गन कर श्रीरूप को आलिङ्गन किया । श्रीमहाप्रभु जी, श्रीहरिदास जी तथा श्रीरूप जी ये तीनों मिलकर एक स्थान पर बैठ गये तथा कुछ समय तक परस्पर कुशल प्रश्न तथा श्रीकृष्ण-कथा करने लगे । जब श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीसनातन गोस्वामी जी के सम्बन्ध में जिज्ञासा की तो श्रीरूप बोले—"मेरा उन से मिलाप नहीं हो सका । मैं तो गङ्गाजी के किनारे-किनारे आया हूँ और वे राज पथ से श्रीवृन्दावन गये हैं—यह बात मैंने प्रयाग में आकर सुनी । इसलिये उनसे प्रभु ! मैं नहीं मिला हूँ ।" तदनन्तर श्रीरूप गोस्वामी जी ने श्रीअनुपम जी (श्रीजीव गोस्वामीपाद के पिताजी) की गङ्गा-प्राप्ति का वृत्तान्त भी श्रीमहाप्रभु जी को सुनाया ॥४२-४७॥

तांरे ताहां वासा दिया गोसाञि चलिला । गोसाञिर सङ्गेर भक्त रूपेरे मिलिला ॥४८॥
आर दिन महाप्रभु सब भक्त लञा । रूपे मिलाइला सभाय कृपा त करिया ॥४९॥
सभार चरण रूप करिल वन्दन । कृपा करि रूपे सभे कैल आलिङ्गन ॥५०॥
अद्वैत—नित्यानन्द प्रभु एइ दुइ जने । प्रभु कहे—रूपे कृपा कर काय-मने ॥५१॥
तोमा दोहांर कृपाते इहांर हय तैछे शक्ति । याते विवरिते पारे कृष्णरसभक्ति ॥५२॥

फिर श्रीरूप को श्रीहरिदास जी के वासस्थान पर निवास करने की आज्ञा देकर श्रीमहाप्रभु जी अपने निवासस्थान पर चले आए । श्रीमहाप्रभु जी के और भक्तों से श्रीरूप गोस्वामी जी मिले । दूसरे दिन श्रीमहाप्रभु जी समस्त भक्तों को अपने साथ श्रीरूप गोस्वामी जी के निवास-स्थान पर ले आए और सबके साथ श्रीरूपगोस्वामीजी को मिलाया । अहो ! श्रीरूप पर प्रभु की कितनी कृपा है ? श्रीरूप ने समस्त भक्तों के चरणों में वन्दना की और उन सब ने कृपा पूर्वक श्रीरूप को आलिङ्गन किया । श्रीअद्वैताचार्य तथा श्रीनित्यानन्द प्रभु को श्रीमहाप्रभु जी कहने लगे—"आप दोनों रूप पर काया और मन से कृपा कीजिये अर्थात् काया से तो अपने चरणों का इसके मस्तक को स्पर्श प्रदान करिये और मन से इसके मङ्गल की इच्छा विधान कीजिये । कारण कि आप दोनों की कृपा से इसे ऐसी अचिन्त्य शक्ति प्राप्त होगी कि जिस से यह श्रीकृष्ण-भक्ति रस का सुचारु रूप से वर्णन कर सकेगा ।" ॥४८-५२॥

गौड़िया उड़िया यत प्रभुर भक्तगण । सभार हइल रूप स्नेहेर भाजन ॥५३॥
प्रतिदिन आसि प्रभु करेन मिलने । मन्दिरे ये प्रसाद पाये, देन दुइ जने ॥५४॥
इष्ट गोष्ठी दुंहासने करि कथोक्षण । मध्याह्न करिते प्रभु करिला गमन ॥५५॥
एइमत प्रतिदिन प्रभुर व्यवहार । प्रभुकृपा पाञा रूपेर आनन्द अपार ॥५६॥

बङ्गदेशीय तथा नीलाचल वासी जितने भी श्रीमहाप्रभु जी के भक्त-गण थे, श्रीरूप उन सब के स्नेह के पात्र हो गये । (जिन के प्रति स्वयं श्रीमहाप्रभु जी की इतनी कृपा हो, प्रभु जिनके लिये अन्य

वैष्णवों की कृपा की भिक्षा करें; उनके प्रति किस का स्नेह न होगा ?) प्रतिदिन श्रीजगन्नाथ जी का दर्शन करने के पश्चात् श्रीमहाप्रभु जी श्रीहरिदास जी तथा श्रीरूप गोस्वामी जी से उनके स्थान पर आकर मिलते एवं जो प्रसाद श्रीजगन्नाथ जी के मन्दिर से उन्हें मिलता, वह उन दोनों को आकर देते। कुछ देर तक उन दोनों के साथ श्रीकृष्ण-लीला कथा कहते सुनते और फिर अपना मध्याह्न कृत्य-आहारादि करने के लिये अपने निवासस्थान पर लौट आते। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी का प्रतिदिन का कार्यक्रम रहता। श्रीमन्महाप्रभु जी की अपार कृपा को प्राप्त कर श्रीरूप गोस्वामी अत्यन्त आनन्दित हुए ॥५३-५६॥

भक्त लञा कैल प्रभु गुण्डिचा-मार्ज्जन। आइटोटा आसि कैल वन्य भोजन ॥५७॥
प्रसाद खान 'हरि' बोलेन सब भक्तगण। देखि हरिदास रूपेर उल्लासित मन ॥५८॥
गोविन्द द्वाराय प्रभुर शेषप्रसाद पाइला। प्रेमे मत्त दुइ जन नाचिते लागिला ॥५९॥

रथयात्रा के एक दिन पहले सब भक्तों को लेकर श्रीमहाप्रभु जी ने गुण्डिचा-मन्दिर का मार्जन-आदि किया। तदनन्तर आइ-टोटा नामक बगीचे में आकर सब ने वन्य-भोजन अर्थात् फल-शाकादि का भोजन किया। (श्रीहरिदास जी तथा श्रीरूप जी दैन्यवशतः अपने को दीन-हीन यहाँ तक कि अस्पृश्य मान कर आहारादि के समय प्रभु एवं अन्यान्य भक्तों से परे-परे बैठ जाया करते और प्रभु की भोजन-लीला का दर्शन किया करते) श्रीमहाप्रभु जी के साथ सब भक्तगण प्रसाद खाते जाते और "हरि-हरि" भी उच्चारण करते जाते। ये सब देखकर श्रीहरिदास तथा श्रीरूपगोस्वामी जी का मन अत्यन्त उल्लासित होता। सब के भोजन कर चुकने के पश्चात् श्रीगोविन्द के द्वारा श्रीमहाप्रभु जी का उच्छिष्ट-प्रसाद पाकर दोनों प्रेमोन्मत्त हो उठते एवं नाचने लगते ॥ ५७-५९ ॥

आर दिन प्रभु रूपे मिलिया वसिला। सर्वज्ञ शिरोमणि प्रभु कहिते लागिला ॥६०॥
"कृष्णके बाहिर नाहि करिह ब्रज हैते। ब्रज छाड़ि कृष्ण कभु ना याय काहांते" ॥६१॥

एक दिन श्रीमहाप्रभु जी श्रीहरिदास जी के स्थान पर श्रीरूप जी से मिलने के पश्चात् वहाँ बैठ गये। प्रभु सर्वज्ञ शिरोमणि हैं। वे श्रीरूप गोस्वामी जी से इस प्रकार कहने लगे—"रूप ! श्रीकृष्ण को ब्रज से बाहर न ले जाना। श्रीकृष्ण ब्रज को छोड़ कर कहीं बाहर नहीं जाते हैं।" ॥६०-६१॥

चै० च० चु० *टीका*:—जैसा कि पहले कहा जा चुका है श्रीरूप गोस्वामी ब्रज-लीला व द्वारका-लीला —इन दोनों लीलाओं को एक साथ एक ही ग्रन्थ में वर्णन करके नाटक लिख रहे थे। उन्होंने उसके सम्बन्ध में अभी तक श्रीमहाप्रभु जी को कुछ भी नहीं कहा था, परन्तु श्रीमहाप्रभु जी तो समस्त सर्वज्ञों के शिरोमणि हैं, वे सब जान गये एवं उसी सम्बन्ध में श्रीरूप गोस्वामी जी को अपने आप उपदेश देने लगे। श्रीमहाप्रभु जी ने कहा कि "श्रीकृष्ण ब्रज को छोड़ कर कभी अन्यत्र नहीं जाते हैं। अतः रूप ! तुम नाटक-रचना में लीलाओं का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण को ब्रज से बाहर मत ले जाना।" श्रीमहाप्रभु जी ने इस बात के प्रमाण में एक शास्त्रीय श्लोक का भी उच्चारण किया, जो इस प्रकार है:—

तथाहि लघुभागवतामृते पूर्वखण्डे (५-४६१) यामलवचनम्—

कृष्णोऽन्यो यदुसम्भूतो यः पूर्णः सोऽस्त्यतः परः।
वृन्दाबनं परित्यज्य स क्वचिन्नैव गच्छति ॥६॥

यदु सम्भूत श्रीकृष्ण अर्थात् श्रीवासुदेव (स्वयं श्रीकृष्ण या श्रीब्रजेन्द्रनन्दन का) अन्य प्रकाश हैं, जो पूर्णतम स्वरूप (श्रीकृष्ण ब्रजेन्द्रनन्दन) हैं, वे इन की अर्थात् श्रीवासुदेव की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। वे किसी भी

समय अर्थात् अप्रकट-लीला-काल में श्रीवृन्दाबन को परित्याग कर अन्यत्र नहीं जाते हैं (और किसी समय अर्थात् प्रकट लीला-काल में जाते हैं।) ॥६॥

चै० च० चु० *टीका*:—श्रीरूप गोस्वामीपाद ने "**कृष्णोऽन्यो यदुसम्भूतो**"—यह यामल-वचन रूप श्लोक अपने लघुभागवतामृत ग्रन्थ में उद्धृत किया है। किन्तु किस उद्देश्य को लेकर उन्होंने इस श्लोक को उद्धृत किया है—उसे न जानने पर इस श्लोक के तात्पर्य को समझना कठिन प्रतीत होता है। श्रीकृष्ण की प्रकट-लीला का विचार करते हुए श्रीरूपगोस्वामी पाद ने एक मत-भेद का उल्लेख किया है—कोई कोई कहते हैं।" परव्योमाधिपति श्रीनारायण का आदिव्यूह जो श्रीवासुदेव हैं वे ही श्रीकृष्ण की प्रकट-लीला के प्रारम्भ में मथुरा में कंस के कारागार में श्रीवसुदेव के गृह में आविर्भूत हुए हैं और लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण माया के साथ गोकुल में श्रीयशोदा के गर्भ से आविर्भूत हुए हैं। (ल० भा० ४५५)॥ इस मतानुसार जो श्रीवसुदेव-गृह में देवकी के गर्भ से प्रकट हुए थे, वे लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण नहीं हैं, वे श्रीनारायण के आद्यव्यूह श्रीवासुदेव हैं। इस सिद्धान्त के अनुकूल, इस मत के अनुयायी "कृष्णोऽन्यो यदु सम्भूतो"—इस यामल-वचन को प्रमाण स्वरूप में उद्धृत करते हैं। इस श्लोक का यथाश्रुत अर्थ इस प्रकार होता है—यदुसम्भूतः (वसुदेवनन्दन) अन्यः (कृष्णात् अन्यः, न कृष्णः) (यतः, येहेतु) अतः (वसुदेवनन्दनः) परः (श्रेष्ठः) यः अस्ति, सः (कृष्ण) वृन्दावनं परित्यज्य क्वचित नैव गच्छति। अर्थात् यदुवंश जात श्रीवसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण से पृथक् हैं, क्योंकि जो श्रीकृष्ण हैं, वे श्रीवसुदेवनन्दन से श्रेष्ठ हैं, वे कभी भी श्रीवृन्दावन को परित्याग करके नहीं जाते हैं, तात्पर्य यह है, श्रीकृष्ण जब श्रीवृन्दावन को परित्याग कर कभी भी नहीं जाते हैं, तब मथुरा में कंस के कारागार में उनका जाना भी असम्भव है, इसलिये मथुरा में देवकी के गर्भ से श्रीकृष्ण का आविर्भूत होना भी असम्भव है। अतः जो देवकी गर्भ से आविर्भूत हुए हैं—वे श्रीकृष्ण नहीं हैं, वे अन्य स्वरूप हैं या वे आद्यव्यूह श्रीवासुदेव हैं।

किन्तु श्रीरूप गोस्वामीपाद ने प्रमाणित किया है कि उपर्युक्त मत या सिद्धान्त समीचीन नहीं है। उन्होंने सिद्ध किया है कि "जो श्रीवसुदेव के गृह में प्रकट हुए, वे भी श्रीकृष्ण ही हैं, और कोई नहीं हैं, वे आद्य व्यूह श्रीवासुदेव नहीं हैं। महालक्ष्मीपति श्रीनारायण जिनकी विलास मूर्ति हैं, वही लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण मथुरा में अविर्भाव के अभिलाषी होकर"""""श्रीवसुदेव के हृदय में प्रकट होते हैं। ॥ ल० भा० ४४२ ॥" और श्रीविष्णु पुराण (४-११-२) में भी यही बात कही है, यथा—

यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परं ब्रह्म नराकृतिम् ॥ग॥

अर्थात् यदुवंश के कथा-प्रसङ्ग को सुनकर व्यक्ति समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। यदुवंश कैसा है? जिस में परम ब्रह्म श्रीकृष्ण नराकृति धारण कर अवतीर्ण हुए हैं। ग॥

अब प्रश्न उठता है—श्रीकृष्ण ही यदि श्रीवसुदेव गृह में आविर्भूत होते हैं, तो यामल-वचनों की सार्थकता कहाँ है? क्या वे मिथ्या वचन हैं?—इसका उत्तर यह है कि यामल-वचन मिथ्या नहीं है। उनका जो यथाश्रुत पहले अर्थ किया गया है, वह उनका प्रकृत अर्थ नहीं है। उनका अर्थ इस प्रकार है—**यदुसम्भूतः** (वसुदेवनन्दनः) **अन्यः** (श्रीकृष्णस्य अन्यप्रकाशः) अर्थात् श्रीवसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण का अन्य या विभिन्न प्रकाश मात्र हैं। वे एक ही स्वरूप हैं, एक ही विग्रह हैं, केवल भाव एवं आवेश का पार्थक्य है।—ऐसा अर्थ करने से ही समस्त शास्त्रों के वचनों के अर्थ सङ्गत बैठते हैं।

यदि श्रीनन्द-नन्दन व श्रीयदुनन्दन एक ही स्वरूप हैं, तो फिर एक प्रश्न उठता है कि यामल-वचनों से यह स्पष्ट है कि व्रज को छोड़ कर श्रीनन्दनन्दन या श्रीकृष्ण अन्यत्र नहीं जाते हैं, तब वे किस रूप से व्रज को छोड़ कर मथुरा जाकर श्रीवसुदेव के घर आविर्भूत हुए ?--इसका उत्तर यह है कि "श्रीकृष्ण व्रज को छोड़ कर अन्यत्र नहीं जाते हैं"—यह उक्ति उनकी अप्रकट-लीला के सम्बन्ध में कही गई है, प्रकट-लीला के सम्बन्ध में नहीं। शास्त्र कहते हैं कि श्रीकृष्ण की अप्रकट व्रज-लीला में मथुरा-गमन लीला नहीं है; कारण कि मथुरा धामोचित-लीला विशिष्ट श्रीकृष्ण अपने परिकरों के साथ अप्रकट-मथुरा में नित्य ही विराजमान रहते हैं। प्रकट-व्रज-लीला में ही उनका व्रज से मथुरा के लिये गमन हुआ है एवं वहां से फिर उनका द्वारका-गमन हुआ है और फिर दन्तवक्र को मारने के पश्चात् द्वारका से वे व्रज में लौट आए हैं"। यही बात पद्मपुराण के वचनों से भी प्रमाणित होती है"—कृष्णोऽपि तं (दन्तवक्रं) **हत्वा यमुनामुत्तीर्य्य नन्दव्रजं गत्वा सोत्कण्ठौ पितरावभिवाद्याऽश्वास्य ताभ्यां साश्रुसेकमालिङ्गितः सकलः गोपवृद्धान् प्रणम्याऽश्वास्य बहुरत्नवस्त्राभरणादिभिस्तत्रस्थान् सर्वान् सन्तर्पयामास। ल० भा० कृ०॥४८२॥"** अर्थात् श्रीकृष्ण दन्तवक्र का वध करने के पश्चात् यमुना पार होकर श्रीनन्द के व्रज में आए एवं उत्कण्ठित माता-पिता को तथा वृद्ध गोपगणों को अभिवादन किया और उन्हें वस्त्र-अलङ्कारादि दान करके परितृप्त किया।" इन प्रमाणों से यह बात सिद्ध होती है कि प्रकट-लीला में श्रीकृष्ण व्रज से मथुरा-द्वारका गये थे। उनकी अप्रकट-लीला में इस प्रकार का गमनागमन नहीं है। यदि उनकी प्रकट-व्रज लीला में मथुरा गमन न हो, तो श्रीमद्भागवत वर्णित अक्रूर द्वारा श्रीकृष्ण का मथुरा ले जाना, उनके साथ श्रीनन्द महाराजादि व्रजवासियों का मथुरा गमन, उनके विरह में व्रज परिकरों की दुसह-यन्त्रणा, व्रजवासियों की सात्वना के लिये श्रीकृष्ण द्वारा उद्धवजी को व्रज में भेजना, उनको उपलक्ष करके श्रीराधादि व्रजसुन्दरियों का भ्रमरगीतोक्त दिव्योन्माद, एवं श्रीकृष्ण के दर्शनों के लिये व्रजवासियों का कुरुक्षेत्र में जाना—इत्यादि ये सब प्रसङ्ग मिथ्या हो जाएँगे। द्वारकानाथ व मथुरानाथ श्रीकृष्ण यदि गोपीजनवल्लभ श्रीव्रजेन्द्रनन्दन नहीं हों, तो उनके लिये व्रजेन्द्रनन्दनैकप्राणा गोपसुन्दरीगण—विशेषतः श्रीराधाजी का इतना विरह-दुख फिर कैसा ? उनके भेजे हुए दूत उद्धव जी के आगे उनके मनोगत भावों का इतना उद्गीर्ण होना ही फिर कैसा? उनके दर्शनों के लिये व्रजगोपियों का फिर कुरुक्षेत्र में जाने का ही क्या प्रयोजन ? व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य स्वरूप के लिये श्रीकृष्ण की नित्य-कान्ताओं में इस प्रकार के आचरण की कल्पना करना भी दोष एवं अपराध जनक है। अतः व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण का प्रकट-लीला में मथुरा-द्वारका गमनागमन शास्त्र सम्मत ही है।

यदि कोई कहे कि यामल-वचनों में प्रकट-अप्रकट लीला की तो कोई बात नहीं कही गई है, फिर यह कैसे मान लिया जाए कि यह बात श्रीकृष्ण की अप्रकट-लीला के सम्बन्ध में है ? उत्तरः—यामल वचनों में प्रकट-अप्रकट आदि किसी शब्द का उल्लेख न रहने पर भी उसका यही तात्पर्य समझा जाता है। "श्रीकृष्ण कभी भी श्रीवृन्दावन त्याग नहीं करते हैं"—यामल ने यह बात नहीं कही है। यदि यही बात उसे कहनी होती तो वह "क्वचित् नैव गच्छति" अर्थात् "कभी नहीं भी जाते हैं"—ऐसा न कह कर "क्वचित् एव न गच्छति" अर्थात् कभी भी नहीं जाते हैं"—ऐसा वर्णन करता। "क्वचित् नैव गच्छति" से ही स्पष्ट होता है "क्वचित् न गच्छति एव, क्वचित् गच्छति एव"। अर्थात् "किसी समय नहीं भी जाते और किसी समय जाते भी हैं।" कब जाते हैं और कब नहीं जाते हैं ?—श्रीकृष्ण प्रकट-लीला में व्रज से मथुरा-द्वारका गये हैं, यह शास्त्र प्रसिद्ध कथा है। अतः यह स्पष्ट है कि वे प्रकट-लीला में व्रज को छोड़ कर अन्यत्र जाते हैं और नहीं जाते हैं कब ?—अप्रकट लीला में। सारांश यह है, कि यामल वचनों से भी सिद्ध

होता है कि श्रीकृष्ण प्रकट-व्रज लीला में व्रज से मथुरा-द्वारकादि अन्य स्थानों पर गमन करते हैं, किन्तु अप्रकट व्रज-लीला में वे व्रज को छोड़ कर अन्यत्र नहीं जाते।

वास्तव में प्रकट-व्रजलीला के उद्देश्य की सिद्धि के लिये ही उनका मथुरादि धामों में जाने का प्रयोजन है। रसास्वादन ही व्रजलीला का मुख्य उद्देश्य है। सम्भोग-रस की पुष्टि के लिये विरह का प्रयोजन होता है, कारण कि विरह या विप्रलम्भ के बिना सम्भोग पुष्ट नहीं होता है। "न बिना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।" इस प्रकार का विरह जितने दीर्घकाल तक स्थायी रहता है, विरह जनित यन्त्रणा तथा मिलने की उत्कण्ठा भी उतनी ही बलवती हो उठती है। अतः उसके पश्चात् मिलन-जनित आनन्द भी उतना ही अपूर्व चमत्कारितामय होता है। सम्भोग की असमोर्द्ध आनन्द चमत्कारिता एक मात्र समृद्धिमान् सम्भोग में ही सम्भव होती है और अति दूर के प्रवास के बिना समृद्धिमान् सम्भोग होता ही नहीं है। अतः श्रीकृष्ण के मथुरादि जाने पर ही सुदूर-प्रवास विहित हुआ एवं उसके पश्चात् व्रज में लौटने पर समृद्धिमान् सम्भोग सिद्ध हो सका। इसलिये समृद्धिमान् सम्भोग के रसास्वादन के लिये प्रकट-लीला में श्रीकृष्ण का मथुरादि गमन एक मुख्य हेतु है।

श्रीमन्महाप्रभुजी ने श्रीरूप गोस्वामीजी को कहा कि "तुम ऐसी कोई घटना अपने नाटक में वर्णन मत करना कि जिस में श्रीकृष्ण व्रज को छोड़ कर अन्यत्र जावें। व्रजलीला सम्बन्धीय नाटक में व्रजलीला के अतिरिक्त और कोई लीला वर्णन नहीं करना, क्योंकि प्रकट-लीला में तो व्रज छोड़कर श्रीकृष्ण मथुरादि जाते हैं किन्तु अप्रकट-लीला में वे व्रज छोड़कर कहीं नहीं जाते। श्रीमहाप्रभु जी ने व्रजलीला सम्बन्धी नाटक को पुरलीला सम्बन्धी नाटक से पृथक् ही वर्णन करने की आज्ञा दी। कारण कि श्रीरूप गोस्वामी जी इन दोनों लीलाओं को एक ही नाटक में वर्णन कर रहे थे। श्रीमहाप्रभु का इन लीलाओं को पृथक्-पृथक् वर्णन कराने का उद्देश्य यह था कि यदि नाटक व्रजलीला से आरम्भ होकर पुर-लीला में शेष होता है तो वह केवल प्रकट-लीला सम्बन्धीय नाटक होगा। अप्रकट-लीला सम्बन्धीय न होगा। इसलिये दोनों लीलाएं पृथक्-पृथक् नाटक में पृथक्-पृथक् भाव में वर्णन की जाएं कि जिससे दोनों नाटक प्रकट तथा अप्रकट दोनों लीलाओं में प्रयोजित हो सकें। २. दोनों लीलाएं एक ही नाटक में वर्णित होने से वह ग्रन्थ प्रकट-लीला सम्बन्धीय होता, इस में कोई क्षति न थी, किन्तु अविशेषज्ञ पाठक हो सकता था उसे श्रीकृष्ण की साधारण लीला जानकर अर्थात् प्रकट व अप्रकट दोनों लीलाओं का नाटक ग्रन्थ जान कर भ्रम में पड़ जाते। ३. स्मरणाङ्ग-साधन में साधक भक्त केवल प्रकट-व्रजलीला का ही स्मरण व मनन किया करते हैं, श्रीकृष्ण की द्वारका-मथुरादि लीलाएं साधकों के नित्य स्मरणीय विषय में अन्तर्भुक्त नहीं हैं। स्मरण में प्रविष्ट अनुरागी भक्तों को मथुरा गमनादि लीलाएं हृदय-विदारक घटना-रूप में अनुभूत होती है, वे ऐसी लीलाओं में अति दुःख का अनुभव करते हैं। अतः उन साधक-भक्तों के निर्विघ्न आनन्द-विधान के लिये परम करुण श्रीमहाप्रभुजी ने व्रजलीला का पृथक् स्वतन्त्र नाटक लिखने की आज्ञा दी। ४. श्रीकृष्ण का रसिक-शेखरत्व एवं कृष्णत्व का विकाश तथा लीला की माधुर्य-वैचित्री व्रजलीला में पुरलीला की अपेक्षा बहुत उत्कृष्ट हैं, अर्थात् व्रजलीला का पुर-लीला से सर्व शास्त्रों में उत्कर्ष वर्णन किया गया है। यदि दोनों लीलाओं को एक ही नाटक में गोस्वामीपाद वर्णित करते, तो होता यह कि उत्कर्षमयी व्रजलीला से नाटक आरम्भ होकर अपकर्षमयी पुरलीला में समाप्त होता, जो नाटक-आस्वादन पक्ष में समीचीन नहीं होता, कारण कि "मधुरेण समापयेत्" की विधि ही सर्व स्थान पर प्रशंसनीय होती है। ५. श्रीरूप गोस्वामी जी ने पुर-लीला सम्बन्धीय नाटक (ललित-माधव) में गत द्वापर की पुर-लीला वर्णन नहीं की है और किसी कल्प की लीला का वर्णन किया है। उस कल्प में श्रीचन्द्रावली जी

श्रीरुक्मिणी के रूप में, स्वयं श्रीराधा जी श्रीसत्यभामा जी के रूप में एवं सोलह हज़ार गोपसुन्दरीगण ही सोलह हज़ार महिषीरूप में द्वारका-लीला के परिकर रूप में प्रकट हुई थीं। इस प्रकार की पुर-लीला यदि ब्रज-लीला के साथ एक ही नाटक में ग्रथित की जाती, तो साधारण पाठकगण इस नाटक को प्रकट-लीला सम्बन्धीय ग्रन्थ जान कर भी यह समझ लेते कि प्रत्येक प्रकट-लीला में ही स्वयं श्रीराधा जी सत्यभामा होकर एवं स्वयं चन्द्रावली जी रुक्मिणी होकर द्वारका-लीला करती हैं। इस भ्रान्ति की सम्भावना को दूर करने के लिये भी श्रीमहाप्रभु जी ने ऐसी आज्ञा श्रीरूप-गोस्वामीपाद को दी। उन्होंने फिर ऐसा ही किया। ब्रज-लीला को 'विदग्ध-माधव'—नामक नाटक में पृथक् रूप से और पुर-लीला को 'ललित-माधव' नामक नाटक में पृथक् रूप से वर्णन किया।

कभी-कभी 'वृन्दाबनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति' ऐसा भी पाठ सुनने में आता है, अर्थात् श्रीकृष्ण श्रीवृन्दाबन को छोड़ कर एक पद भी बाहर नहीं धरते हैं। किन्तु ऐसा पाठ किसी शास्त्रीय श्लोक में नहीं दीखता। फिर भी जहाँ ऐसा पाठ सुना जाता है, तो उसे श्रीकृष्ण की अप्रकट-लीला सम्बन्धीय जानना चाहिये। प्रकट-ब्रजलीला सम्बन्ध में ऐसे पाठ की कुछ भी सार्थकता नहीं है।

एत कहि महाप्रभु मध्याह्ने चलिला। रूप गोसाञि मने किछु विस्मय हइला ॥६२॥
पृथक् नाटक करिते सत्यभामा आज्ञा दिला। जानि पृथक् करिते प्रभुर आज्ञा हैला ॥६३॥
पूर्वे दुइ नाटकेर छिल एकत्र रचना। दुइ नाटक करि एबे करिया घटना ॥६४॥
दुइ नान्दी प्रस्तावना दुइ संघटना। पृथक् करिया लेखे करिया भावना ॥६५॥

इस प्रकार आज्ञा देकर श्रीमहाप्रभु जी अपना मध्याह्न कृत्य करने के लिये अपने निवासस्थान पर चले आए। श्रीरूप गोस्वामी जी के चित्त में कुछ विस्मय हुआ। (विस्मय इसलिये कि) पहले तो सत्यभामापुर में श्रीमती सत्यभामा जी ने स्वप्न में आकर अपनी लीला अर्थात् पुर-लीला को पृथक् उल्लेख करने की आज्ञा दी और अब (श्रीवृन्दावनेश्वरी श्रीराधा-भाव विभावित चित्त) श्रीमहाप्रभुजी अपनी लीला अर्थात् ब्रज-लीला को पृथक् रचने की आज्ञा दे रहे हैं। (श्रीमहाप्रभु जी ने सत्यभामा जी के मन की बात कैसे जान ली?) "पहले जो दोनों नाटकों की एकत्र रचना मैंने कर रखी है"—श्रीरूप गोस्वामी पाद ने विचार किया कि "अब उसे दो पृथक् नाटकों में रचना करूंगा।" इतना विचार कर श्रीगोस्वामीपाद ने दोनों नाटकों के लिये पृथक् पृथक् नान्द (मङ्गलाचरण) श्लोक लिखे, दोनों की पृथक् प्रस्तावना (भूमिका) लिखी एवं भावना-पूर्वक दोनों की पृथक्-पृथक् घटनाओं का उल्लेख किया ॥६२-६५॥

(नाटक-रचना के इतिहास के सम्बन्ध में इतना कह कर ग्रन्थकार श्रीरूप गोस्वामीपाद के सम्बन्ध में और बात अगले पयारों में वर्णन करते हैं।)

रथ यात्राय जगन्नाथ दर्शन करिल। रथ-अग्रे प्रभुर नृत्य-कीर्त्तन देखिल ॥६६॥
प्रभुर नृत्य-श्लोक शुनि श्रीरूपगोसाञि। सेइ श्लोकेर अर्थश्लोक करिल तथाइ ॥६७॥
पूर्वे सेइ सब कथा करियाछि वर्णन। तथापि कहिये किछु संक्षेप-कथन ॥६८॥
सामान्य एक श्लोक प्रभु पढ़ेन कीर्त्तने। केने श्लोक पढ़े? इहा केहो नाहि जाने ॥६९॥
सबे एका स्वरूपगोसाञि श्लोकेर अर्थ जाने। श्लोकानुरूप पद प्रभुके कराय आस्वादने ॥७०॥
रूपगोसाञि, महाप्रभुर जानि अभिप्राय। सेइ अर्थे श्लोक कैल प्रभुरे ये भाय ॥७१॥

श्रीरूप गोस्वामीपाद ने श्रीजगन्नाथ जी की रथ-यात्रा के दर्शन किये एवं रथ के आगे-आगे जिस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी नृत्य-गान करते थे, उसे भी देखा। श्रीमहाप्रभु नृत्य करते समय जिस श्लोक का गान किया करते थे, उसे सुन कर श्रीरूप गोस्वामी जी ने उसी श्लोक के अर्थानुरूप एक और श्लोक की रचना करली। ग्रन्थकार कहते हैं, पहले यह सब कथा हम वर्णन कर आए हैं,(म०ली०पृष्ठ १३ द्रष्टव्य) फिर भी उसका कुछ संक्षेप रूप से वर्णन यहाँ करते हैं। श्रीमहाप्रभु जी ("यः कौमार हरः"-) एक सामान्य श्लोक (जो काव्य-प्रकाश नामक ग्रन्थ का एक सामान्य श्लोक है) कीर्त्तन के समय पढ़ा करते थे। ऐसा श्लोक श्रीमहाप्रभु जी क्यों पढ़ते हैं ? यह बात कोई नहीं जानता था। केवल एक श्रीस्वरूपगोस्वामी जी इस श्लोक का अभिप्राय जानते थे और वही श्लोक के अनुरूप पदों का गान करके श्रीमहाप्रभु जी को (श्रीराधा-भाव का) आस्वादन कराया करते। श्रीरूप गोस्वामी जी ने श्रीमहाप्रभु के मनोगत भावों को जान लिया और यह भी जान गए कि प्रभु को यह श्लोक बहुत प्यारा लगता है, सो उन्होंने उस श्लोक के अर्थों का एक और श्लोक रच लिया॥ ६६-७१॥ (श्रीमहाप्रभु जी जो काव्य-प्रकाश का श्लोक उच्चारण किया करते थे, उसे नीचे उद्धृत करते हैं):—

तथाहि काव्य-प्रकाशे (१-४) साहित्यदर्पणे (१-१०) पद्यावल्याम् (३८६)—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलित मालती सुरभयः प्रौढ़ाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसी तरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥७॥

एक नायिका अपनी एक सखी से कहती है—"जिसने मेरी कौमार-अवस्था का हरण किया था, वही अब मेरा वर है अर्थात् उसीने विवाह करके मुझे अपनी पत्नीरूप में अङ्गीकार कर लिया है। (उसके साथ कौमार-अवस्था में प्रथम-मिलन के समय जो चैत्रमास की रात्रि थी, अब भी) वही चैत्रमास की रात्रि है, (प्रथम मिलन के समय की भांति) प्रफुल्लित मालती-कुसुमों की सुगन्धियुक्त वायु (अब भी) कदम्ब-बन की ओर से मन्द-मन्द प्रवाहित हो रही है। मैं भी वही हूँ, फिर भी उसी रेवा नदी के किनारे वेतसी-वृक्ष के नीचे (प्रथम-मिलन समय में होने वाली) सुरत-कौशलमय क्रीड़ा के लिये मेरा मन उत्कण्ठित हो रहा है—अर्थात् उस प्रथम-मिलन में जो सुख मिला था, अब इस मिलन में वह सुख मुझे प्राप्त नहीं हो रहा है ॥७॥ (मध्य लीला पृष्ठ १३ पर टीका द्रष्टव्य है। श्रीरूपगोस्वामी पाद विरचित श्लोक इस प्रकार है):—

तथाहि पद्यावल्याम् (३८७) श्रीरूपगोस्वामिकृत श्लोकः—

प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरिकुरुक्षेत्रमिलित-
स्तथाहं सा राधा तदिदमुभयोः सङ्गमसुखम्।
तथाप्यन्तः खेलन् मधुर मुरली पञ्चमजुषे
मनो मे कालिन्दी पुलिन विपिनाय स्पृहयति ॥८॥

कुरुक्षेत्र में श्री श्याम सुन्दर के साथ मिलने के पश्चात् श्रीराधाजी अपनी एक प्रिय सहचरी को कहती हैं:—"हे सहचरी ! (जिन्हों ने मेरे साथ श्रीवृन्दावन में विहार किया था) वे श्रीकृष्ण यही हैं, जो

अब मुझे कुरुक्षेत्र में मिले हैं एवं मैं भी वही राधा हूँ। दोनों का यह सङ्गम-सुख भी ठीक वैसा ही है, तथापि जहां क्रीड़ा करते-करते श्रीकृष्ण अपनी मधुर मुरली पञ्चम-स्वर में बजाते थे, यमुना के पुलिन अवस्थित उसी श्रीवृन्दावन के लिये ही मेरा मन व्याकुल हो रहा है।" ॥८॥

ताल पत्रे श्लोक लिखि चालेते राखिला। समुद्र-स्नान करिवारे रूपगोसाञि गेला ॥७२॥
हेन काले प्रभु आइला ताहारे मिलिते। चालेर उपर श्लोक पाञा लागिला पढ़िते ॥७३॥
श्लोक पढ़ि प्रभु सुखे प्रेमाविष्ट हैला। सेइ काले रूपगोसाञि स्नान करि आइला ॥७४॥
प्रभु देखि दण्डवत् अङ्गने पड़िला। प्रभु तारे चापड़ मारि कहिते लागिला ॥७५॥

श्रीरूपगोस्वामीपाद ने उपर्युक्त श्लोक एक तमाल-पत्र में लिखकर अपनी झोंपड़ी की छत्त में खुरस दिया। एक दिन श्रीरूपगोस्वामी जब समुद्र-स्नान करने के लिये गये हुए थे, उसी समय श्रीमहाप्रभुजी उन्हें मिलने आए। अचानक उनकी निगाह उस तमालपत्र पर पड़ी। प्रभु ने उसे निकाल लिया एवं उस पर लिखे श्लोक को पढ़ने लगे। श्लोक को पढ़ते ही श्रीमहाप्रभु आनन्द विह्वल होकर प्रेमाविष्ट हो उठे। इतने में वहां श्रीरूपगोस्वामी जी भी आ पहुँचे। श्रीमहाप्रभु जी को अपने वासस्थान पर देखकर श्रीरूप आङ्गन में पड़ कर उन्हें दण्डवत् प्रणाम करने लगे। श्रीमहाप्रभु जी ने उन्हें उठाया एवं प्रेम पूर्वक एक चपेट मारते हुए इस प्रकार कहने लगे —॥७२-७५॥

गूढ़ मोर हृदय तुञि जानिलि केमने? । एत कहि रूपे कैल दृढ़ आलिङ्गने ॥७६॥
सेइ श्लोक प्रभु लञा स्वरूपे देखाइल। स्वरूपेर परीक्षा-लागि तांहारे पुछिल ॥७७॥
मोर अन्तर-वार्त्ता रूप जानिल केमने। स्वरूप कहे—जानि कृपा करियाछ आपने॥७८॥
अन्यथा ए अर्थ कारो नाहि हय ज्ञान। तुमि कृपा करियाछ--करि अनुमान ॥७९॥

श्रीप्रभु ने कहा:—"रूप! मेरे हृदय की अति गूढ़ बात को तुमने कैसे जान लिया?" इतना कह प्रभु नें श्रीरूप गोस्वामी जी को दृढ़ता से आलिङ्गन किया। उसी श्लोक को ले आकर श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीस्वरूपदामोदर को दिखाया और परीक्षा लेने के लिये उनसे पूछने लगे। "स्वरूप! इस रूप ने मेरे हृदय की बात कैसे जान ली?" श्रीस्वरूप कहने लगे—"प्रभु मैं जानता हूँ, आपने उस पर कृपा की है। कारण कि आपकी कृपा के बिना आप के मन की बात को और कोई भी नहीं जान सकता। इसी से मैं अनुमान करता हूँ, आप ने उस पर कृपा की है"॥७६—७९॥

प्रभु कहे—इंहो आमाय प्रयागे मिलिला। योग्यपात्र जानि इंहाय मोर कृपा हैला ॥८०॥
तबे शक्ति सञ्चारि आमि कैल उपदेश। तुमिह कहिओ इंहाय रसेर विशेष ॥८१॥
स्वरूप कहे--यबे एइ श्लोक देखिल। तुमि करियाछ कृपा--तबहि जानिल ॥८२॥

तब श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"स्वरूप! श्रीवृन्दावन से लौटते समय श्रीरूप मुझे प्रयाग में मिला था। इसे योग्य-पात्र जान कर मैंने इस पर कृपा की थी और इस में शक्ति का सञ्चार करके मैंने इसे भक्ति-तत्त्व का उपदेश दिया था। तुम भी स्वरूप! इसे रस-तत्त्व का विशेष उपदेश देना, (क्योंकि तुम रस-तत्त्व के विशेषज्ञ हो)" श्रीस्वरूप ने कहा —"मैंने जब ही इस श्लोक को देखा, तब ही मैं जान गया था कि आपने श्रीरूप पर अपनी कृपा करदी है" ॥८०—८२॥

तथाहि न्यायः—,

फलेन फलकारणमनुमीयते ॥ ९ ॥

श्रीस्वरूप ने कहा—" जैसा कि न्याय - शास्त्र कहता है कि कार्य से कार्य के कारण का अनुमान हो जाया करता है। (इसलिये इस श्लोक रचना से आपकी श्रीरूप पर कृपा का अनुमान मुझे लग गया था।) और भी कहा गया है :—

तथाहि नैषधीये (७-१७) —

स्वर्गापगाहेममृणालिनीनां नानामृणालाग्रभुजो भजामः ।

अन्नानुरूपांतनुरूपऋद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ॥१०॥

दमयन्ती के प्रति हंस ने कहा था—" हमने स्वर्ग-नदी में उत्पन्न होनेवाली स्वर्ण - कमलनियों के अनेक मृणालों के अग्रभाग का भोजन किया है, उसी अन्न के भोजन अनुरूप इस शरीर रूप सम्पत्ति अर्थात् सुन्दरता को हमने प्राप्त किया है । कारण कि कारण से ही कार्य गुण की प्राप्ति करता है ॥१०॥

चैं० च० चु० *टीका:*—एक समय महाराज नल के पास स्वर्ग का एक परम रमणीय हंस आया, तब तक वे अविवाहित थे । उनसे मिलने के बाद वही हंस अपनी इच्छा से कुमारी दमयन्ती के पास भी चला आया । उस हंस के अद्भुत सौन्दर्य को देख कर, दमयन्ती ने उस सौन्दर्य का कारण उस हंस से पूछा । हंस ने जो उत्तर दिया, वही उक्त श्लोक में कहा गया है । हंस के सौन्दर्य का कारण था कि वह स्वर्ग - स्थित नदी में उत्पन्न होने वाली स्वर्ग कमलनियों के मृणालों के अग्रभाग का भोजन किया करता था । एक तो कमल का मृणाल, फिर स्वर्ग-कमल, उस पर भी स्वर्ग - नदी का कमल । अतः ऐसा मृणाल जो परम सुन्दर होगा । इसमें संदेह क्या हो सकता है । इस प्रकार के मृणालों का भोजन करने वाला हंस अति सुन्दर या रमणीय होगा, यह सुनिश्चित बात है क्योंकि कारण के गुण कार्य में सञ्चारित होते हैं । श्रीस्वरूप जी ने प्रमाण रूप में इस श्लोक को उद्धृत करते हुए कहा कि इसी प्रकार परम गम्भीर- स्वभाव श्रीमन्महाप्रभु जी के मन के निगूढ़ भावों को श्रीरूप जो जान गये हैं, इससे अनुमान होता है कि उनके प्रति श्रीमहाप्रभु जी की कृपा हो चुकी है ।

चातुर्मास्य रहि गौड़े वैष्णव चलिला । रूपगोसाञि महाप्रभुर चरणे रहिला ॥८३॥

एकदिन रूप करे नाटक लिखन । आचम्बिते महाप्रभुर हैल आगमन ॥८४॥

सम्भ्रमे दोंहे उठि दण्डवत् हैला । दोंहा आलिङ्गिया प्रभु आसने वसिला ॥८५॥

गौड़ीय वैष्णव जो श्री जगन्नाथ जी की रथयात्रा का दर्शन करने आए थे, वे सब यात्रा - दर्शन के बाद वर्षा के चार मास तक वहाँ रहे और फिर अपने देश को लौट गये, किन्तु श्रीरूप श्रीमहाप्रभु जी के पास वहाँ नीलाचल में रहे आए । एक दिन श्रीहरिदास जी कुटिया पर अर्थात् अपने वासस्थान पर श्रीरूप जब नाटक लिख रहे थे, अचानक श्रीमन्महाप्रभु जी वहाँ आ पहुँचे । उनको आया देख कर श्रीहरिदास जी तथा श्रीरूप—दोनों एकदम खड़े होगये एवं दोनों ने उन्हें दण्डवत् प्रणाम की । प्रभु ने दोनों को आलिङ्गन किया एवं आसन पर विराजमान होगये । ॥८३-८५॥

'क़ांहा पुथि लिख ?' बलि एक पत्र निल । अक्षर देखिया प्रभुर मने सुख हैल ॥८६॥

श्रीरूपेर अक्षर येन मुकुतार पांति । प्रीत हञा करे प्रभु अक्षरेर स्तुति ॥८७॥

सेइ पत्रे प्रभु एक श्लोक ये देखिला। पढ़ितेइ श्लोक प्रेमे आविष्ट हइला ॥८८॥

श्रीमहाप्रभु जी ने पूछा—"रूप ! कौन सी पुस्तक लिख रहे हो ?" इतना कह कर उन्हों ने एक पन्ना हाथ में लिया और उसके अक्षर देख कर उन्हें अति सुख हुआ। श्रीरूप गोस्वामी जी के अक्षर मानों मोतियों की लड़ी के समान थे। उन्हें देख कर प्रभु वहुत प्रसन्न हुए एवं अक्षरों की प्रशंसा करने लगे। उसी पन्ना पर जो एक श्लोक लिखा हुआ था, उसे पढ़ते ही श्रीमहाप्रभु प्रेमाविष्ट हो गये ॥८६-८८॥ (श्रीरूप उस समय विदग्ध-माधव नाटक अर्थात् व्रज-लीला सम्वन्धीय नाटक लिख रहे थे। उसमें से जो श्लोक श्रीप्रभु ने देखा, वह इस प्रकार है):—

तथाहि विदग्धमाधवे (१-३३)

तुण्डे ताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावलीलब्धये
कर्णक्रोड़ कड़म्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम्।
चेतः प्राङ्गणसङ्गिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी ॥११॥

जो मुख में अर्थात् जिह्वा के अग्रभाग पर नृत्य आरम्भ करते ही तुण्डावली प्राप्त करने के लिये अर्थात् अनेक मुखों की प्राप्ति के लिये रति अर्थात् तीव्र वासना का विस्तार करने लगती है, जो कर्णपथ में अंकुरिता होकर अर्वुद संख्यक कर्णेन्द्रियों की प्राप्ति की इच्छा उत्पादन कर देती है, और जो चित्त रूपी प्राङ्गण में पहुँच कर समस्त इन्द्रियों को चेष्टा रहित कर देती है, हे नान्दीमुखि ! ऐसी जो कृष्ण-वर्णद्वयी है, वह कितने और कैसे अमृत द्वारा रचित है वह मैं कुछ वर्णन नहीं कर सकती, अर्थात् 'कृ' व 'ष्ण' इन दोनों वर्णों में कितना अद्भुत अमृत भरा हुआ है, वह अनिर्वचनीय है ॥११॥

चै० च० चु० *टीका:*—विदग्ध—माधव नाटक का प्रसङ्ग है—श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधा जी का अनुराग उत्पन्न कराने के लिये पौर्णमासी देवी ने नान्दीमुखी को आदेश किया था; उसके उत्तर में नान्दी-मुखी ने कहा कि "श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधा का अत्यधिक अनुराग पहले से ही उत्पन्न हो चुका है"। पौर्णमासी ने पूछा कि "तुम यह बात कैसे जानती हो" ? नान्दीमुखी ने कहा—"मैं इस प्रकार जानती हूँ कि किसी प्रसङ्गवश श्रीकृष्ण का नाम सुनते ही श्रीराधा जी पुलकिताङ्गी हो उठती हैं—यही श्रीकृष्ण के प्रति उनके अनुराग का प्रकृष्ट प्रमाण है।" पौर्णमासी ने कहा—"नान्दीमुखी ! तुम्हारी कथा सत्य है, कृष्ण नाम के माधुर्य का अनुभव श्रीराधा ने किया है, तभी वह कृष्णनाम सुनते ही रोमाञ्चित हो उठती है, सुन मैं तुम्हें कृष्णनाम के अद्भुत माधुर्य की बात सुनाऊं।"

नृत्यकला-विशारदा परमा सुन्दरी नटी का नृत्य जैसे चित्त-विनोदन किया करता है, उसी प्रकार जिह्वा पर कृष्णनाम के उदय होते ही अपूर्व चित्तविनोदन होने लगता है। दर्शकों की इच्छा मात्र से नटी जैसे अपने आप ही नृत्यकलाओं का विस्तार करने लगती है, उसी प्रकार भक्तों की इच्छा मात्र से ही स्वप्रकाश श्रीकृष्णनाम भी अपने आप ही जिह्वा पर नृत्य करने लगता है। जिह्वा पर कृष्णनाम का नृत्य आरम्भ होते ही उसका माधुर्य इतना मनोरम एवं चमत्कृतिजनक हो उठता है कि उसके अत्यधिक आस्वादन करने के लिये बलवती उत्कण्ठा पैदा हो जाती है, यहाँ तक कि असंख्य जिह्वाओं के पाने की तीव्र आकाङ्क्षा उदय हो आती है और फिर किसी दूसरे के द्वारा श्रीकृष्णनाम की ध्वनि जब कानों में पड़ती है, तब मानों कानों में अमृत की शत-शत धारा प्रवाहित होने लगती है, उन अमृत-धाराओं को आस्वादन करने के लिये

अर्बुद-अर्बुद कानों के प्राप्त करने की लालसा जाग उठती है। जब श्रीकृष्णनाम हृदय-प्राङ्गण में पहुँच कर ठुमक-ठुमक नृत्य करने लगता है, फिर तो कहना ही क्या है ? समस्त इन्द्रियां स्थगित हो जाती हैं; नेत्र फिर और कुछ देखना नहीं चाहते, कान कुछ और सुनना नहीं चाहते, जिह्वा तो कुछ और उच्चारण कर ही नहीं सकती। समस्त इन्द्रियां ही उस कृष्णनाम की अमृतधारा में बह जाती हैं, उनका कुछ अपना पृथक् अस्तित्व ही नहीं रह जाता। इसलिये 'कृष्ण' यह वर्णद्वयी-नाम कैसे अद्भुत अमृत द्वारा रचित है, उसे मैं वर्णन नहीं कर सकती"—पौर्णमासी देवी ने इस प्रकार इस श्लोक में श्रीकृष्णनाम की महिमा गान की है।

श्लोक शुनि हरिदास हइल उल्लासी। नाचिते लागिला श्लोकेर अर्थ प्रशंसी ॥८९॥
कृष्णनामेर महिमा शास्त्र साधुमुखे जानि। नामेर माधुरी ऐछे काहां नाहि शुनि ॥९०॥
तबे महाप्रभु दोंहा करि आलिङ्गन। मध्याह्न करिते समुद्रे करिला गमन ॥९१॥

इस श्लोक को सुनते ही श्रीहरिदास जी आनन्द में विभोर होकर नाचने लगे एवं श्लोक के अभिप्राय की प्रशंसा करते हुए कहने लगे—"रूप ! मैंने श्रीकृष्णनाम की महिमा को शास्त्रों द्वारा एवं महत्-पुरुषों द्वारा बहुत सुना है, किन्तु इस प्रकार की नाम-माधुरी को तो कहीं नहीं सुना है।" श्रीमहा-प्रभु जी समय जान कर उठ खड़े हुए एवं दोनों को आलिङ्गन किया और मध्याह्न-कृत्य करने के लिये वे समुद्र की ओर चल दिये ॥८९-९१॥

आर दिन महाप्रभु देखि जगन्नाथ। सार्वभौम—रामानन्द—स्वरूपादिर साथ ॥९२॥
सभा मेलि चलि आइला श्रीरूपे मिलिते। पथे तांर गुण सभारे लागिला कहिते ॥९३॥
दुइ श्लोक शुनि प्रभुर हइल महासुख। निजभक्तेर गुण कहे हञा पञ्चमुख ॥९४॥
सार्वभौम—रामानन्दे परीक्षा करिते। श्रीरूपेर गुण दोंहाय लागिला कहिते ॥९५॥
ईश्वरस्वभाव—भक्तेर ना लय अपराध। अल्प सेवा 'बहु' माने, आत्मपर्यन्त प्रसाद॥९६॥

और एक दिन श्रीमहाप्रभु जी श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करके श्रीरूप गोस्वामी जी को मिलने आए। उस दिन श्रीसार्वभौम जी, श्रीरामानन्द जी तथा श्रीस्वरूपदामोदर जी—इन सबको भी प्रभु अपने साथ-साथ ले आए। रास्ते में इन सबके सामने प्रभु श्रीरूप के गुण बखान करने लगे। श्रीरूप गोस्वामी द्वारा रचित—"प्रियःसोऽयं" तथा "तुण्डे ताण्डविनी"—ये दोनों श्लोक सुन कर श्रीमहाप्रभु जी को महान् सुख हुआ था। वैसे भी वे अपने भक्तों के गुणों को मानों पञ्चमुख होकर बखान किया करते हैं। उक्त दोनों श्लोक कैसे अद्भुत हैं—इस बात की परीक्षा श्रीसार्वभौम जी तथा श्रीरायरामानन्द को कराते हुए श्रीमहाप्रभु जी उनके आगे श्रीरूपगोस्वामी जी की प्रशंसा करने लगे। श्रीभगवान् का यह स्वभाव है कि वे अपने भक्तोंके अपराधों को जरा भी ग्रहण नहीं करते हैं। अपने भक्तों की थोड़ी मात्र सेवा को भी बहुत अधिक करके मानते हैं, यहाँ तक कि वे अपने आपको भक्तों के हाथ बेच देते हैं, उनके वशीभूत हो जाते हैं ॥ ९२-९६॥ जैसा कि भक्तिरसामृत सिन्धु में कहा गया है:—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (२-१-६८)

भृत्यस्य पश्यति गुरूनपि नापराधान् सेवां मनागपि कृतां बहुधाभ्युपैति।
आविष्करोति पिशुनेष्वपि नाभ्यसूयां शीलेन निर्मलमतिः पुरुषोत्तमोऽयम् ॥१२॥

निर्मलमति यह पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण अपने स्वभावगुण से ही सेवक के भारी अपराधों के प्रति दृष्टि नहीं करते हैं, बल्कि सेवक की अति अल्प सेवा को भी बहुत अधिक जान कर ग्रहण करते हैं, एवं दुर्ज्जनों के प्रति वे किसी प्रकार की असूया (घृणा)प्रकाश नहीं करते हैं ।।१२।।

भक्तसङ्गे प्रभु आइला देखि दुइजन । दण्डवत् हैया कैल चरण-वन्दन ।।६७।।
भक्तसङ्गे कैल प्रभु दोंहाके मिलन । पिण्डार उपरे वसिला प्रभु लञा भक्तगण ।।६८।।
रूप हरिदास दोंहे वसिला पिण्डातले । सभार आग्रहे ना उठिला पिण्डार उपरे ।।६६।।
'पूर्व श्लोक पढ़ रूप' ! प्रभु आज्ञा कैल । लज्जाते ना पढ़े रूप—मौन धरिल ।।१००।।
स्वरूपगोसाञि तबे सेइ श्लोक पढ़िल । शुनि सभाकार चित्ते चमत्कार हैल ।।१०१।।

भक्तों के साथ श्रीमहाप्रभु जी को आता हुआ देख कर श्रीहरिदास जी एवं श्रीरूपगोस्वामी, इन दोनों ने दण्डवत् होकर प्रभु के चरणों में प्रणाम किया । भक्तों के साथ श्रीमहाप्रभु जी इन दोनों को मिले एवं सब भक्तों के साथ प्रभु एक चबूतरे पर बैठ गये । श्रीरूप एवं श्रीहरिदास, दोनों चबूतरे के नीचे बैठ गये । सब भक्तों ने उनसे ऊपर बैठने का आग्रह किया, किन्तु वे दोनों चबूतरे के ऊपर न चढ़े । श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीरूप गोस्वामी जी को "प्रियः सोऽयं" श्लोक पढ़ने का आदेश दिया, परन्तु श्रीरूप लज्जावश न पढ़ सके और चुप करके बैठे रहे । फिर श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने उस श्लोक को पढ़ा, जिसे सुन कर सब भक्तों को परम आनन्द हुआ ।।६७-१०१ ।।

तथाहि पद्यावल्याम् (३८७) श्रीरूपगोस्वामिकृतः श्लोकः—

प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि कुरुक्षेत्रमिलित—
स्तथाहं सा राधा तदिदमुभयोः सङ्गमसुखम् ।
तथाप्यन्तः खेलन्मधुर मुरली—पञ्चमजुषे
मनो मे कालिन्दी—पुलिन—विपिनाय स्पृहयति ।।१३।।

इस श्लोक का अर्थ श्लोक ८ पृष्ठ १४ पर द्रष्टव्य है ।।१३।।

राय भट्टाचार्य कहे तोमार प्रसाद बिने । तोंमार हृदय एइ जानिल केमने ? ।।१०२।।
आमाते सञ्चारि पूर्वे कहिल सिद्धान्त । ये सब सिद्धान्तेर ब्रह्मा नाहि पाय अन्त ।।१०३।।
ताते जानि, पूर्वे तोमार पाञाछे प्रसाद । ताहा-बिनु नहे तोमार हृदयेर अनुवाद ।।१०४।।
प्रभु कहे, कह रूप ! नाटकेर श्लोक । ये श्लोक शुनिले लोकेर याय दुखशोक ।।१०५।।
बार बार प्रभु यदि तारे आज्ञा दिल । तबे सेइ श्लोक रूप गोसाञि कहिल ।।१०६।।

श्रीरूप गोस्वामी पाद रचित "प्रियः सोऽयं"—श्लोक को सुन कर श्रीरायरामानन्द जी तथा श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य जी ने कहा—"प्रभु ! आप की कृपा के बिना आप के हृदय की बात को श्रीरूप ने कैसे जान लिया है ?" राय रामानन्द जी ने कहा—"मुझ में भी तो पहले आपने समस्त सिद्धान्तों को सञ्चारित किया था और फिर उन्हें मुझ से कहलवाया था । वे सिद्धान्त ऐसे हैं कि जिनको श्रीब्रह्मा जी भी नहीं जान सके । अतः हम समझते हैं कि श्रीरूप ने पहले आप की कृपा को प्राप्त कभी किया है, वरना

उसके विना आपके हृदय की बात कौन जान सकता है ?" श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—'रूप, ! अब नाटक वाला श्लोक पढ़ो न ! जिस श्लोक को सुनते ही सब लोगों के दुःख-शोक दूर हो जाते हैं।' जब बार-बार प्रभु ने श्रीरूप को इस प्रकार आज्ञा की तब वे उस (निम्नलिखित) श्लोक को कहने लगे ।१०२-१०६।

तथाहि विदग्ध-माधवे (१-३३)

तुण्डे ताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावलीलब्धये
कर्ण क्रोड़कड़म्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम् ।
चेतः प्राङ्गणसङ्गिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेतिवर्णद्वयी ॥१४॥

इस श्लोक का अर्थ श्लोक ११ पृष्ठ १७ पर द्रष्टव्य है ॥१४॥

यत भक्तवृन्द, आर रामानन्दराय । श्लोक शुनि सभार हैल आनन्द-विस्मय ॥१०७॥
सभे कहे, नाममहिमा शुनियाछि अपार । एमन माधुर्य केहो नाहि वर्णे आर ॥१०८॥
राय कहे, कोन ग्रन्थ कर हेन जानि । याहार भितरे एइ सिद्धान्तेर खनि ॥१०९॥
स्वरूप कहे, कृष्णलीला-नाटक करिते । व्रजलीला पुरलीला एकत्र वर्णिते ॥११०॥
आरम्भियाछिला, एवे प्रभुर आज्ञा पाञा । दुइ नाटक करितेछे विभाग करिया ॥१११॥
विदग्धमाधव, आर ललितमाधव । दुइ नाटके प्रेमरस अद्भुत सब ॥११२॥
राय कहे, नान्दीश्लोक पढ़ देखि शुनि । श्रीरूप श्लोक पढ़े प्रभुर आज्ञा मानि ॥११३॥

उक्त श्लोक को सुन कर श्रीरामानन्दराय तथा और जितने भक्तवृन्द बैठे थे, वे सब आनन्दित एवं विस्मित हो उठे। सब ने यही कहा कि हमने श्रीकृष्णनाम की महिमा बहुत सुनी है, परन्तु इस प्रकार की माधुर्यमयी महिमा किसी ने भी वर्णन नहीं की है।" श्रीराय ने श्रीरूप से पूछा—"ऐसा ज्ञात होता है कि तुम किसी ग्रन्थ की रचना कर रहे हो, जिसमें इन सब सिद्धान्तों का वर्णन करोगे।" श्रीस्वरूपदामोदर जी ने कहा—'हां' ये श्रीकृष्णलीला-सम्बन्धीय नाटक लिख रहे हैं। इन्होंने व्रज-लीला तथा पुरलीला (मथुरा-द्वारका-लीला) को एक ही नाटक में वर्णन करने का विचार किया था एवं लिखना भी आरम्भ कर दिया था, परन्तु अब प्रभु की आज्ञा पाकर उन्हें पृथक्-पृथक् दो नाटक-ग्रन्थों में लिख रहे हैं। एक का नाम है—"विदग्ध नाटक" तथा दूसरे के नाम इन्होंने "ललित-माधव" रखा है। दोनों ही प्रेमरस के अद्भुत नाटक-ग्रन्थ हैं"। फिर रायरामानन्द जी ने कहा—"रूप ! नान्दी श्लोक को तो पढ़ के सुनाओ"। प्रभु ने भी जब आज्ञा की तब श्रीरूप निम्नलिखित श्लोक को पढ़ने लगे ।१०७-११३।

तथाहि विदग्धमाधवे (१-१)

सुधानां चान्द्रीणामपि मधुरिमोन्माददमनी
दधाना राधादि प्रणयघनसारैः सुरभिताम् ।
समन्तात् सन्तापोद्गम विषम—संसार-सरणी-
प्रणीतां ते तृष्णां हरतु हरिलीलाशिखरिणी ॥१५॥

जो हरि-लीला रूप शिखरिणी चन्द्र-सुधा के माधुर्यगर्व का खर्व या नाश करने वाली है, एवं जो श्रीराधादि व्रज-देवियों की प्रीतिरूप कर्पूर द्वारा सुगन्ध-युक्ता है, वह (हरि-लीला)—निरन्तर आध्यात्मकादि त्रिविध तापों की उद्गमकारि जो संसार पदवी है उसमें भ्रमण करने से उत्पन्न होने वाली तुम्हारी तृष्णा अर्थात् विविध वासनाओं को हरण करे ।।१५।।

चै० च० च ० *टीका:*—दधि, दुग्ध, चीनी, इलायची, लौंग, मरिच तथा कर्पूरादि को मिला कर बनायी जाने वाली उपादेय वस्तु-विशेष का नाम 'शिखरिणी' है। शिखरिणी अत्यन्त सुस्वादु, स्निग्ध, सुगन्धित एवं सुशीतल पदार्थ हैं। यहाँ श्रीहरि-लीला को भी शिखरिणी की उपमा दी गई है। इस श्लोक में आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण किया गया है, प्रखर धूप में पहाड़ी-पथ में चलने से जैसे व्यक्ति क्लान्त एवं तृषातुर हो उठता है, उसी प्रकार संसाराबद्ध जीव भी नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण करते-करते त्रितापों की ज्वाला में निरन्तर तपा करता है एवं नाना प्रकार की वासनाओं के वशीभूत होकर तृषातुर एवं क्लान्त होकर भ्रमा करता है। श्रीकृष्ण-लीला रूप जो अत्यन्त सुस्वादु, सुगन्धित, स्निग्ध एवं सुशीतल शिखरिणी है, उसी के पान करने से इस संसाराबद्ध क्लान्त एवं तृषातुर जीव की त्रिताप ज्वाला शान्त हो जाती है। श्रीरूपगोस्वामीपाद विदग्ध माधव नाटक के आरम्भ में मङ्गलाचरण करते हुए मानो संसारबद्ध जीवों को आग्रह पूर्वक कह रहे हैं कि श्रीहरि-लीला रूप शिखरिणी का नित्य पान करके अपनी त्रिताप ज्वाला को शान्त करो। ग्रन्थकार श्रीहरिलीला से भी मानों यही प्रार्थना कर रहे हैं कि वह संसारबद्ध जीवों की त्रिताप ज्वाला को नित्य हरण करने वाली हो।

राय कहे, कह इष्टदेवेर वर्णन। प्रभुर सङ्कोचे रूप ना करे पठन ।।११४।।
प्रभु कहे—कह, केने कर सङ्कोच-लाजे ?। ग्रन्थेर फल शुनाइवे वैष्णव-समाजे ।।११५।।
तबे रूपगोसाञि यदि श्लोक पढ़िल। शुनि प्रभु कहे, एइ अति-स्तुति शुनिल ।।११६।।

राय रामानन्द जी ने फिर कहा—"रूप ! इष्टदेव का वन्दनात्मक मङ्गलाचरण श्लोक भी सुनाओ।" श्रीमहाप्रभु जी के आगे संकुचित होकर श्रीरूप चुप बैठे रहे। तब श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"रूप ! तुम सङ्कोच और लाज क्यों करते हो ? सुनाओ ना। ग्रन्थ की कथा वैष्णव समाज को तो सुनानी ही चाहिये। अथवा ग्रन्थ रचना का यही फल है कि उसे वैष्णव समाज को सुनाया जावे।" तब प्रभु के वचन सुन कर श्रीरूप गोस्वामी जी ने (निम्नलिखित) श्लोक पढ़ा। उसे सुन कर श्रीमहाप्रभु जी कहने लगे—"इस श्लोक में तो मेरी अतिरिक्त स्तुति की गई है।" ।।११४-११६।।

तथाहि विदग्धमाधवे (१-२)

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्ति—श्रियम्।
हरिः पुरट सुन्दरद्युति—कदम्ब सन्दीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः ।।१६।।

अनन्त काल से जिसको प्रदान नहीं किया गया—परम उज्ज्वल रसमयी उस अपनी भक्ति-सम्पत्ति को प्रदान करने के लिये जो अपनी करुणा से कलियुग में अवतीर्ण हुए हैं, स्वर्णद्युति राशिवत् समुद्भासित, वे श्रीशचीनन्दन-हरि सर्वदा तुम्हारी हृदय-कन्दरा में स्फुरित हों ।।१६।।

(विशेष टीकादि आदि-लीला पृष्ठ ३ पर द्रष्टव्य है।)

सब भक्तगण कहे श्लोक शुनिया । कृतार्थ करिला एइ श्लोक शुनाइया ॥११७॥
राय कहे—कोन आमुखे पात्र सन्निधान ? । रूप कहे—कालसाम्ये 'प्रवर्त्तक-नाम' ॥११८॥

उक्त श्लोक को सुन कर सब भक्तगणों ने कहा—"रूप ! यह श्लोक सुना कर तुमने हमें कृतार्थ कर दिया है ।" राय रामानन्द जी ने पूछा—"किस प्रस्तावना या भूमिका को उपलक्ष्य करके आपके नाटक के पात्र ने सर्व प्रथम रंगस्थल में प्रवेश किया है ?" श्रीरूप गोस्वामी जी ने कहा—"तुल्य-धर्म-विशिष्ट समय के वर्णन प्रसङ्ग में आकृष्ट होकर प्रवर्त्तक अर्थात् नाटक-पात्र ने सर्व प्रथम रङ्गस्थल में प्रवेश किया है ।"

चै० च० चु० *टीका:*— प्राचीन काल में नियम था कि नाटक खेलने के आरम्भ में नाटक-लेखक का वेश धारण करके एक अभिनेता रंगमञ्च पर प्रवेश करके नान्द-मङ्गलाचरणादि किया करता था—उस अभिनेता को 'सूत्रधार' कहा जाता था । उसके बाद सूत्रधार का एक शिष्य रूप नट मञ्च पर सूत्र-धार से मिला करता था, उसे 'पारिपार्श्विक' कहा जाता था । वे दोनों मिल कर खेले जाने वाले नाटक के सम्बन्ध में वार्त्तालाप करते थे । उस वार्त्तालाप में ही ग्रन्थकार रूप सूत्रधार नाटक की लिपि-कुशलतादि की त्रुटियां वर्णन करते हुए अपनी दीनता का ज्ञापन किया करता था और प्रसङ्गवश अभिनय के प्रति श्रोताओं के मनोयोग को आकर्षण किया करता था एवं अभिनय का विषय भी खोलकर सुना देता था । पात्रों का साज-शृङ्गार शेष हो चुका है कि नहीं—यह बात भी पारिपार्श्विक जताया करता था । सब पात्रादि ठीक सज-धज कर तैयार हो चुके हैं—यह जान कर फिर सूत्रधार एक ऐसे विषय का वर्णन करता कि जिस को उपलक्ष्य करके नाट्योलिखित पात्रगण रङ्ग मञ्च पर प्रवेश करते थे । वास्तविक, जिस दृश्य में प्रकृत अभिनय का आरम्भ हुआ होता है, सूत्रधार उस दृश्य को इसी समय वर्णन किया करता था, फिर प्रकृत नाटक का आरम्भ हुआ करता था । सूत्रधार के मङ्गलाचरण करने के बाद एवं पात्रों के रङ्ग मञ्च पर प्रवेश करने से पूर्व सूत्रधार व पारिपार्श्विक के बीच होने वाले कथोपकथन को **'प्रस्तावना'** या **'आमुख'** कहते हैं । आजकल अभिनय में मङ्गलाचरण व प्रस्तावना कहीं भी नहीं देखी जाती ।

विदग्ध-माधव नाटक के सूत्रधार हैं—श्रीरूप गोस्वामी । उन्होंने रस अभिनय की सूचना के लिये जिस श्लोक का उल्लेख किया है, उसे सुनकर वसन्तकाल की पौर्णमासी की एक रजनी का दृश्य श्रोताओं के चित्त में स्फुरित होता है । सूत्रधार ने पारिपार्श्विक को कहा है—"देख, देख, वह वसन्तकाल आ गया है, जिस में रात्रि के समय नवराग रञ्जितनाथ को सुशोभित करने के लिये राधा के (अर्थात् विशाखा नक्षत्र के) साथ पौर्णमासी आ गई है ।"—इत्यादि । इस प्रकार विदग्धमाधव नाटक की प्रस्ता-वना वर्णन की गई है । निम्नलिखित श्लोक में "प्रवर्त्तक" के सम्बन्ध में प्रमाण उल्लिखित करते हैं:—

तथाहि नाटक चन्द्रिकायाम् (१२)—

आक्षिप्तः कालसाम्येन प्रवेशः स्यात् प्रवर्त्तकः ॥१७॥

सम-धर्म-विशिष्ट-समय-वर्णना प्रसङ्ग में आकृष्ट होकर नाट्योक्त व्यक्ति के रङ्गस्थल में प्रवेश का नाम प्रवर्त्तक है ॥१७॥ [समय-वर्णना-प्रसङ्ग में आकृष्ट होकर नाट्य-पात्र ने सर्व प्रथम रङ्गस्थल में प्रवेश किया है—इस उक्ति के प्रमाण में श्रीरूप गोस्वामी ने निम्नलिखित श्लोक पढ़ा]—

तथाहि विदग्धमाधवे (१-१७)

सोऽयं बसन्तसमयः समियाय यस्मिन् पूर्णं तामीश्वरमुपोढ़नवानुरागम् ।
गूढ़ग्रहो रुचिरया सह राधयासौ रङ्गाय सङ्गमयिता निशि पौर्णमासी ।।१८।।

यह वही बसन्तकाल समागत हुआ है, जिसमें गुप्तग्रहा अर्थात् जिसमें नवग्रह समूह फीके पड़ जाते हैं । यह पौर्णमासी अर्थात् पूर्णिमा तिथि नवीन रक्तिमा को प्राप्त परिपूर्ण निशानाथ अर्थात् चन्द्र को शोभा सम्पन्ना विशाखानक्षत्र के साथ शोभा के लिये रात्रिकाल में सम्मिलित कराएगी ।

श्लेष पक्ष में दूसरा अर्थ यह है कि—यह वही बसन्तकाल समागत हुआ है,जिसमें गूढ़-आग्रहवती यह भगवती पौर्णमासी देवी नवीन-अनुराग-प्राप्त परिपूर्ण ईश्वर श्रीकृष्णचन्द्र को कौतुक-रहस्य उत्पादन के लिये शोभा-सम्पन्ना श्रीराधा के साथ रात्रिकाल में सम्मिलित कराएगी ।।१८।।

चै० च० चु० *टीका*—उक्त श्लोक के दो अर्थ किये गये हैं—प्रथम यह है कि बसन्त काल की रात है, पूर्णिमा की तिथि है, पूर्व दिशा में पूर्णचन्द्र उदय हुआ है और दूसरी ओर विशाखानक्षत्र (जिसका दूसरा नाम राधा नक्षत्र भी है) उदित होकर अपने स्वामी पूर्णचन्द्र की शोभा वर्द्धन कर रहा है। "कवि उत्प्रेक्षा करके कहते हैं कि "यही पूर्णिमा तिथि ही मानो विशाखा (राधा) को ले आकर विशाखा स्वामी चन्द्र के साथ मिला रही है"। यह सूत्रधार के कथित श्लोक का यथाश्रुत अर्थ है ।

इधर परदे के पीछे खड़ी हुई व्रज की पौर्णमासी देवी सूत्रधार के इस श्लोक को सुनती हैं। वह समझती हैं कि सूत्रधार ने 'पौर्णमासी'—शब्द से उसे लक्ष्य किया है और 'राधा'—शब्द से श्रीभानुनन्दिनी को। वह इस प्रकार दूसरा अर्थ समझती हैं कि वसन्त काल की रात्रि में श्रीराधानाथ—श्रीकृष्ण के कौतुक वर्द्धन के लिये श्रीराधा को साथ लेकर पौर्णमासी देवी आई है।" पौर्णमासी देवी ने वास्तविक उस वसन्त रात्री में श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा को मिलाने का सङ्कल्प कर रखा था। सूत्रधार की बात सुनकर पौर्णमासी देवी बोल उठती हैं—" सूत्रधार ! तुमने मेरे मन की गूढ़ बात को कैसे जान लिया ?" इतना कहते हुए वह ज्योंही रङ्ग मञ्च पर आती हैं, सूत्रधार एवं पारिपार्श्विक छोड़ कर चले जाते हैं—इस प्रकार विदग्ध - माधव नाटक में पात्र - सन्निवेश हुआ है। पौर्णमासी देवी ने बसन्त रजनी में श्रीराधा-कृष्ण के मिलाने का सङ्कल्प किया था, इधर सूत्रधार ने भी बसन्त रजनी में पौर्णमासी के आगमन का वर्णन किया है—यही काल- साम्य है। पौर्णिमासी देवी के अभीष्टकाल के साथ सूत्रधा वर्णित काल का ऐक्य होने से काल-साम्य कहा गया है। इसी काल - साम्य को उपलक्ष्य करके पात्र ने मंच पर प्रवेश किया है, अतः उसे प्रवर्त्तक कहा गया है।

राय कहे—प्ररोचनादि कह देखि शुनि ।
रूप कहे महाप्रभुर श्रवणेच्छा जानि ।।११९।।

तदनन्तर राय रामानन्द जी ने कहा—" रूप ! प्ररोचनादि को तो कहिये, उसे सुनना चाहता हूँ।" राय के वचन सुनकर एवं श्रीमहाप्रभु जी की भी सुनने की इच्छा जान कर श्रीरूप प्ररोचनादि का वर्णन करने लगे ।।११९।।

चै० च० चु० *टीका*:—देश काल, कथा, वस्तु एवं श्रोतादिक की प्रशंसा द्वारा श्रोताओं के अभिनय-विषय में प्ररोचित्त अर्थं उन्मुख करने का नाम 'प्ररोचना' है सूत्रधार व पारिपार्श्विक के कथोपकथन में

पात्र-सन्निवेश के पहले यह प्ररोचना हुआ करती है। इस में जो विषय अभिनीत होता है, उसके स्थान व समय का भी उल्लेख रहता है एवं श्रोताओं की प्रशंसा रहती है। श्रोताओं की प्रशंसा द्वारा उनका चित्त सूत्रधार की ओर आकृष्ट करके कौशल क्रम से अभिनय के विषय-स्थान कालादि प्रशंसा द्वारा तत्प्रति श्रोताओं को उन्मुख किया जाता है। श्रीरूप गोस्वामीजी ने निम्नलिखित श्लोक की प्ररोचना का प्रकाश किया है:—

तथाहि विदग्धमाधवे (१-१५) —

भक्तानामुदगादनर्गलधियां वर्गो निसर्गोज्ज्वलः
शीलैः पल्लवितः सबल्लवबधूवन्धोः प्रबन्धोऽप्यसौ।
लेभे चत्वरताञ्च ताण्डव विधेर्वृन्दाटवीगर्भभु-
र्मन्येमद्विध पुण्यमण्डलपरीपाकोऽयमुन्मीलति ॥१६॥

पारिपार्श्विक ने सूत्रधार के प्रति कहा—निर्मल बुद्धि (अर्थात् माया से अनावृत) व स्वभावतः उज्ज्वल भक्तवृन्द आकर उपस्थित हुए हैं, गोपवधूबन्धु अर्थात् श्रीकृष्ण चन्द्र का यह (नाटक रूप) प्रबन्ध भी स्वभावोक्ति-अलङ्कार द्वारा सज्जित हुआ है एवं श्रीवृन्दावनस्थ रासस्थली भी नृत्यकला के रङ्गस्थल रूप को प्राप्त हो रही है; (ये सब देख कर) मैं समझता हूँ, मुझ जैसे व्यक्ति के पुण्यों का फल ही प्राप्त होने जा रहा है।" १६॥

चै० च० चु० *टीका*—इस श्लोक में प्ररोचना प्रकाशित की गई है। उक्त श्लोक में पहिले श्रोताओं अथवा भक्तों की प्रशंसा की गई है—कि "वे स्वभावतः निर्मल-बुद्धि व सुन्दर स्वभाव वाले हैं" और अभिनय के विषय के सम्बन्ध में कहा गया है कि "यह गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण का प्रबन्ध है," अतः यह स्वभावतः ही असमोर्द्ध्व माधुर्यमय है और स्थान के सम्बन्ध में कहा गया है कि "स्वभाव-सुन्दर श्रीवृन्दावन की रासस्थली ने ही रङ्गस्थलत्व प्राप्त किया है। अर्थात् रासस्थली में गोपीकुल समन्वित व्रजराज-नन्दन की नृत्य-गीतादिमयी लीला का ही अभिनय किया जाएगा। इस प्रकार प्ररोचना का इस श्लोक में उल्लेख किया गया है। अब अगले श्लोक में ग्रन्थकार निज दैन्य प्रकाश करते हैं :—

तथाहि तत्रैव (१-१३)—

अभिव्यक्ता मत्तः प्रकृतिलघुरूपादपि बुधा
विधात्री सिद्धार्थान् हरिगुणमयी वः कृतिरियम्।
पुलिन्देनाप्यग्निः किमु समिधमुन्मथ्य जनितो
हिरण्य श्रेणीनामपहरति नान्तः कलुषताम् ॥२०॥

हे सहृदय सभ्य वृन्द! मैं यद्यपि स्वभावतः अति क्षुद्र हूँ, तो भी मेरे द्वारा अभिव्यक्त किया हुआ यह हरिगुण मय प्रबन्ध (नाटक) आपके अभीष्ट अर्थों की सिद्धि सम्पादन करने वाला होगा। अति नीच जाति पुलिन्द यदि काष्ठ सङ्घर्षण करके अग्नि उत्पादन करे, तो वह अग्नि स्वर्ण की शैल को नहीं जलाती है क्या? ॥२०॥

चै० च० चु० *टीका*:—तात्पर्य यह है कि अग्नि चाहे किसी नीच जाति द्वारा उत्पादन क्यों न की गई हो, वह अपने स्वभाव से स्वर्ण के मैल को अथवा किसी भी वस्तु को जला डालती है, वह अपना

स्वाभाविक गुण प्रकट करती है। ग्रन्थकार कहते हैं—उसी प्रकार चाहे मैं अति क्षुद्र-दीन-हीन हूँ, किन्तु मेरे द्वारा लिखित यह हरिगुणमय अभिनय अपने स्वाभाविक गुणों से सब श्रोताओं के अभीष्ट-अर्थों को प्रदान करने वाला ही है। इस श्लोक में ग्रन्थकार ने अपनी दीनता का प्रकाश करते हुए श्रोताओं की एवं वर्णनीय विषय की प्रशंसा की है—यह भी प्ररोचना का अङ्गीभूत है।

राय कहे—कह प्रेमोत्पत्तिर कारण। पूर्वरागविकार, चेष्टा, कामलेखन ॥१२०॥
क्रमे श्रीरूपगोसाञि सकलि कहिल। शुनि प्रभुर भक्तगण चमत्कार हैल ॥१२१॥

श्रीराय ने कहा—"प्रेमोत्पत्ति का कारण, पूर्वराग-विकार, चेष्टा एवं कामलेखन का तो वर्णन करो।" उनके वचन सुन कर श्रीरूप गोस्वामी जी ने क्रमशः सब को कह सुनाया। यह समस्त सुन कर श्रीमहाप्रभु-भक्तों को बहुत ही चमत्कार हुआ। १२०-१२१॥

चै० च० चु० *टीका*—राय रामानन्द जी ने प्रेमोत्पत्ति के कारण के सम्बन्ध में जो जिज्ञासा की है, प्रेम-शब्द से उनका अभिप्राय मधुरा-रति से ही है। श्री उज्ज्वलनीलमणि के स्थायिभाव-प्रकरण में मधुरा-रति के आविर्भाव के कारण इस प्रकार वर्णन किये गये हैं—अभियोग, विषय, सम्बन्ध, अभिमान, तदीय-विशेष, उपमा एवं स्वभाव—इन सब कारणों से रति का आविर्भाव होता है। इन कारणों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता जाननी चाहिये। इन सब का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

अभियोग—अपने द्वारा या दूसरे के द्वारा अपने भावों का जो प्रकाश करना है, उसे 'अभियोग' कहते हैं। (दृष्टान्त) श्रीविशाखा जी के प्रति श्रीराधाजी ने कहा—"सखि! यमुना-तट पर मैंने आज देखा कि श्रीश्यामसुन्दर मेरे अधर के प्रति लोलुप दृष्टि से देख कर नवीन-लतिका का नवीन-पल्लव दशन कर रहे थे। "इसे देख कर मेरा हृदय स्फुटित हो गया है।" यह अपने द्वारा अपने मनोभावों का प्रकाशरूप अभियोग है। इसे देख कर श्रीराधा जी में श्रीकृष्ण के प्रति रति का आविर्भाव होगया।

एक बार एक दूती ने श्रीश्यामसुन्दर से जाकर कहा—"हे ब्रजेन्द्रनन्दन! श्रीराधिका जी तुम्हारे प्रति इतनी अनुरागवती हैं कि वह तुम्हारी बात सुनते ही मूर्च्छित प्रायः हो गई एवं उन्हें यह भी सुधि न रही कि उनका नीवी-बन्धन ढीला हो गया है।" यह दूसरे के द्वारा अपने मनोभावों का प्रकाशरूप अभियोग है। दूसरे के मुख से श्रीकृष्ण की बात सुन कर श्रीराधाजी में रति का उदय हो आया।

विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पांचों को 'विषय' कहा जाता है। श्रीश्यामसुन्दर के शब्द से, स्पर्श से, रूप-दर्शन से, चर्बित-ताम्बूलादि के रसास्वादन से एवं उनकी गात्र की सुगन्धि से ब्रजसुन्दरियों में श्रीकृष्ण-रति का आविर्भाव होता है।

सम्बन्ध—कुल, रूप, शौर्य्य एवं सौशील्य आदि के गौरव अथवा आधिक्य को 'सम्बन्ध' कहते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र के रूप, गुण, लीला, कुल एवं वीरता आदि ब्रजगोपियों में श्रीकृष्ण-रति के उदय का कारण हैं।

अभिमान—"बहुत सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ हैं, ठीक है, पर मुझे तो अमुक वस्तु ही चाहिये"—इस प्रकार के निश्चय-करण का नाम 'अभिमान' है अर्थात् ममतास्पद-वस्तु में जो अनन्य ममतामय सङ्कल्प विशेष है, उसे 'अभिमान' कहते हैं। इस प्रकार का अभिमान रूप-गुणादिक की भी कुछ परवाह न करके रति उत्पादन करता है।

तदीय-विशेष—श्रीकृष्ण के पदाङ्क, गोष्ठ एवं प्रियजनादि को 'तदीय-विशेष' कहते हैं। पदाङ्क दर्शन से, गोष्ठभूमि के स्पर्श से श्रीराधिकादि श्रीकृष्ण-प्रियजनों के सङ्ग–प्रभाव से भी रति का उदय होता है।

उपमा—यथा कथञ्चित् सादृश्ययुक्त वस्तु को 'उपमा' कहते हैं। अभिनयादि में श्रीकृष्ण के वेश-धारी व श्रीकृष्ण के लीलाभिनयकारी किसी अभिनेता को देखकर या उसके अभिनय को देखकर श्रीकृष्ण के प्रति रति उत्पन्न हो जाया करती है।

स्वभाव—जो हेतु की अपेक्षा नहीं करता है, उसे 'स्वभाव' कहते हैं। स्वभाव के दो भेद हैं—निसर्ग तथा स्वरूप। सुदृढ़ अभ्यास-जन्य जो संस्कार है—उसे 'निसर्ग' कहते हैं और रति की उत्पादक स्वतः सिद्ध वस्तु विशेष का नाम 'स्वरूप' है। स्वरूप तीन प्रकार का है—कृष्ण-निष्ठ, ललना-निष्ठ एवं उभय-निष्ठ। असुर-प्रकृति लोगों को छोड़ कर और लोगों में जो श्रीकृष्णदर्शनादि से कृष्णरति का उदय होता है, वह 'कृष्ण-निष्ठ-स्वरूप' है। इस रति-उदय का हेतु श्रीकृष्ण में स्वभावतः है। जन्मावधि श्रीकृष्ण के रूपादि दर्शन एवं गुणादि श्रवण के बिना भी जो उनमें व्रजसुन्दरियों की गाढ़-रति स्वतः ही स्फुरित होती है, वह 'ललना-निष्ठ-स्वरूप' है। इस रति-उदय का हेतु व्रजसुन्दरियों के चित्त में स्वतः ही विद्यमान है। श्रीकृष्ण एवं व्रजललना, इन दोनों का परस्पर स्वरूप एक ही समय जिसमें लब्ध होता है, उसका नाम 'उभय-निष्ठ स्वरूप' है।

यह स्मरण रहे कि यहाँ अभियोगादि को जो रति का हेतु कहा गया है, ये वास्तविक रति का हेतु नहीं हैं, लौकिक रीति अनुसार ही इनको हेतु कहा गया है। कृष्ण-रति का हेतु प्रायः कुछ ही नहीं है। कृष्ण—रति स्वाभाविकी है अभियोगादि को उपलक्ष्य करके केवल मात्र प्रगटित होती है। श्रीराधिका आदि की श्रीकृष्णरति तो नित्यसिद्ध है। उसका कोई भी हेतु स्वरूपतः नहीं हो सकता। साधन सिद्ध परिकरों की रति भी अनेक काल के संस्कारजात निसर्ग से होती है अथवा नित्यसिद्ध-परिकरादि के संसर्ग आदि से उद्भूत होती है।

राय रामानन्द जी ने पूर्वराग विकार, चेष्टा एवं काम-लेखन के सम्बन्ध में भी वर्णन करने के लिये श्रीरूप गोस्वामी जी से कहा है। अब उनका संक्षिप्त उल्लेख करते हैं:—

पूर्वराग—नायक-नायिका के सङ्गम से पूर्व दर्शन व श्रवणादि से जो रति उत्पन्न होती है, वह रति विभावादि के संयोग से विशेष स्वादमयी हो जाती है, उसे 'पूर्वराग' कहते हैं। पूर्वराग के विकारों को पूर्वराग-विकार कहते हैं, पूर्वराग में व्याधि, शङ्का, असूया, श्रम, क्लम, निर्वेद, औत्सुक्य, दैन्य, चिन्ता, निद्रा, प्रबोध, जड़ता, उन्माद, मोह व मृत्ति इत्यादि सञ्चारि भावों का उदय होता है—ये सब पूर्वराग-विकार कहे जाते हैं।

चेष्टा—शारीरिक व्यापार का नाम 'चेष्टा' है। चेष्टा की एक वृत्ति का नाम 'व्यवसाय' है। निश्चयात्मिका-बुद्धि को 'व्यवसाय' कहते हैं।

कामलेखन—अपने प्रेम-प्रकाशक पत्र को 'कामलेखन' कहते हैं। ऐसे पत्रों को युवक युवती के पास और युवतीयुवक के पास भेजा करते हैं।

निम्नलिखित श्लोक में रति की उत्पत्ति का हेतु एवं पूर्वराग—ये दोनों विषय कहते हैं—

रागोत्पत्तिहेतुर्यथा तत्रैव (२–१६)

एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरं
सान्द्रोन्मादपरम्परा मुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः।

एष स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्नः पटे वीक्षणात्
कष्टं धिक् पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृतिं श्रेयसीम् ॥२१॥

श्रीराधा जी ने ललिता-विशाखा जी के प्रति कहा—"हे सखि ! एक पुरुष के 'कृष्ण'—इन नामाक्षरों ने कानों में पड़ते ही मेरी बुद्धि लोप करदी और एक पुरुष की वंशीध्वनि ने मेरे में प्रगाढ़ उन्मत्तता परम्परा (समूह) उत्पन्न कर दी, चित्रपट देखने मात्र से स्निग्ध-घनश्याम-कान्ति विशिष्ट और एक पुरुष मेरे मन में बस गया है; यह बड़ा कष्ट है, मुझे धिक्कार है। (एक तो परपुरुष में रति, फिर उस पर भी) तीन पुरुषों में रति उत्पन्न हुई है, अतएव मरण में ही मेरा श्रेय है ॥२१॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीराधा जी ने सखियों से यहां कहा है कि मेरी परपुरुष में रति उदय हुई है, उस भी पर तीन पुरुषों में, अतः मुझे अपने मरण में ही श्रेय दीखता है। वस्तुतः उन की तीन पुरुषों में रति नहीं उदय हुई है, जिनका नाम श्रीकृष्ण है उनकी ही वंशीध्वनि है और उन्हीं का ही उन्होंने चित्र देखा था। नामरूपसे, वंशीध्वनिरूप से एवं चित्रपटरूप से-इन तीनों भावों से एक श्रीकृष्ण ने ही उनके मन को विचलित कर दिया था, श्री राधाजी के पक्ष में श्रीकृष्ण वस्तुतः परपुरुष भी नहीं हैं, वे उनके नित्य-स्वकान्त हैं। प्रकट लीला में योगमाया के प्रभाव से इस सम्बन्ध का ज्ञान प्रच्छन्न हो जाता है इसलिये श्रीराधा जी ऐसा कह रही हैं।

इस श्लोक से ज्ञात होता है कि श्रीराधा ने जब श्रीकृष्ण नाम सुना, तब-तक उन्होंने श्रीकृष्ण को नहीं देखा था, इसी प्रकार वंशोध्वनि सुनने पर भी वे यह नहीं जानतीं थीं कि जिन का नाम श्रीकृष्ण है, वही वंशीध्वनि करने वाले हैं और चित्रपट भी उन्हीं का है जो श्रीकृष्ण हैं एवं वंशीध्वनि करने वाले हैं इससे श्रीराधा जी के प्रेम का ललना-निष्ठत्व सिद्ध होता है। श्रीकृष्ण के दर्शन करने से पहले ही उन का नाम सुनने से उनमें अनुरक्ति का होना, वंशीध्वनि सुनते ही, चित्रपट देखते ही स्वकान्त का ज्ञान योगमाया द्वारा प्रच्छन्न होने पर भी उन में जो अनुरक्ति का उदय होना है, वह ललनानिष्ठ-स्वरूप प्रेम, का स्वभावगत धर्म है।

इस श्लोक में रति की उत्पत्ति के हेतु एवं पूर्वराग का दृष्टान्त दिया गया है। नामाक्षर, वंशीध्वनि एवं चित्रपट इन तदीय-विषय को उपलक्ष्य करके श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधा जी की अनुरक्ति होने से नामाक्षरादि रति-उत्पत्ति के हेतु हैं। (अब निम्नलिखित श्लोक में पूर्वराग के विकार रूप हृदय वेदना व्याधि का परिचय देते हैं)—

तथा तत्रैव (२-१६)

इयं सखि सुदुःसाधा राधा हृदयवेदना ।
कृता यत्र चिकित्सापि कुत्सायां पर्य्यस्यति ॥२२॥

एक सखीने दूसरी सखी के प्रति कहा—"हे सखि ! श्रीराधा की हृदय-वेदना सर्वथा असाध्य है, इसकी चिकित्सा का निन्दा में ही पर्य्यवसान होगा अर्थात् वेदना निवृति होगी नहीं और चिकित्सा की ही सब लोग निन्दा करेंगे अर्थात् इस की चिकित्सा करना वृथा ही है। ॥२२॥ (अगले श्लोक में काम-लेखन का दृष्टान्त देते हैं)—

कन्दर्पलेखो यथा तत्रैव (२-४८)

धरिअ परिच्छन्दगुणं सुन्दर मह मन्दिरे तुमं वससि ।
तह तह रुन्धसि वलिअं जह जह चइदा पलाएह्मि ॥२३॥

संस्कृत रूप—धृत्वा प्रतिच्छन्दगुणं सुन्दर मम मन्दिरे त्वं वससि।
तथा तथा रुणत्सि वलितं यथा यथा चकिता पलाये ॥घ॥

हे सुन्दर (श्रीकृष्ण) ! प्रतिच्छन्दगुण अर्थात् चित्रपटरूप धारण करके मेरे मन्दिर में वास करते हो , मैं डर कर जिस-जिस स्थान पर भागती हूं, तुम उसी-उसी स्थान पर बलपूर्वक मुझे रोक लेते हो ॥२३॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीश्याम सुन्दर का चित्रपट देख कर एवं अनुरागवती होकर श्रीराधा जी ने एक पत्र लिख कर ललिता-विशाखाजी के हाथ श्री श्याम-सुन्दर को भिजवाया। उस में उन्हों ने लिखा "हे श्याम-सुन्दर ! आपका चित्रपट मैंने अपने घर में लगा लिया है। उसको देखते ही मेरे चित्त में विकार पैदा हो जाता है। मैं कुलवती नारी हूँ,घर में गुरुजन रहते हैं। इसलिये उस चित्तविकार से मैं भयभीत हो उठती हूँ और आपके चित्रपट से दूर-दूर भाग जाती हूँ, किन्तु फिर भी उससे बच नहीं सकती हूँ। जहां जाती हूँ, वहाँ आपही सामने खड़े दीखते हैं।"—इस श्लोक में काम-लेखन का दृष्टान्त दिया गया है। अब चेष्टा का दृष्टान्त निम्नलिखित श्लोक में देते हैं:—

चेष्टा यथा तत्रैव (२-२६)

अग्रे वीक्ष्य शिखण्डखण्ड मचिरादुत्कम्पमालम्बते
गुञ्जानान्तु विलोकनान्मुहुरसौ साश्रं परिक्रोशति।
नो जाने जनयन्नपूर्वनटन क्रीड़ा चमत्कारितां
वालायाः किल चित्तभूमिमविशत् कोऽयं नवीनग्रहः ॥२४॥

मयूरपुच्छ को सामने देखने मात्र से श्रीराधिका कांपने लग जाती हैं, गुञ्जावली को देखते ही बारम्बार अश्रु बहाते-बहाते वह उच्चस्वर से चीत्कार करने लगती हैं। नटन-क्रीड़ा की अपूर्व चमत्कारिता सम्पादन करते-करते किस नूतनग्रह ने श्रीराधिका के चित्तरूप रङ्गमंच पर अधिकार कर लिया है, यह पता नहीं लगरहा है ॥२४॥

चै० च० चु० *टीकाः*—इस श्लोक में श्रीराधिका जी की प्रेम-जनित शारीरिक व्यापाररूप चेष्टा का उल्लेख किया गया है। यह श्लोक मुखरा जी ने कहा था। वह अपनी दोहित्री राधा के अश्रु-कम्पादि, चीत्कारादि सात्विक-विकारों को देख कर मनमें ऐसा विचार करती थी कि न जाने किस दुष्ट ग्रह का श्रीराधा पर आवेश हो गया है ? पौर्णमासी देवी मुखरा जी की बात सुन कर उस की हां में हां मिला देती थीं, किन्तु वह जानती थीं कि श्रीराधा पर किसी ग्रह का आवेश नहीं है, श्रीकृष्ण के नव-अनुराग रूप ग्रह ने ही श्रीराधा की ऐसी दशा कर रखी है। अगले श्लोक में निश्चयात्मिका-बुद्धिरूप व्यवसाय के दृष्टान्त का उल्लेख करते हैं—

व्यवसायो यथा तत्रैव (२-७०)

अकारुण्यः कृष्णो यदि मयि तवागः कथमिदं
मुधा मा रोदीर्म्मे कुरु परमिमामुत्तरकृतिम्।
तमालस्य स्कन्धे विनिहित भुजवल्लरिरियं
यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिष्ठति तनुः ॥२५॥

(श्रीराधा जी ने एक बार ललिता जी तथा विशाखा जी को दूती बना कर श्रीश्यामसुन्दर के पास भेजा। उन्होंने जाकर श्रीराधा जी का प्रेम निवेदन किया। श्रीश्यामसुन्दर ने, जो उत्तर दिया, उसका गूढ़ मर्म वे दोनों न समझ सकीं। विशाखा जी ने ललिता जी को पौर्णमासी के पास उस गूढ़ मर्म को जानने के लिये भेज दिया और स्वयं श्री राधाजी के पास लौट आईं। श्रीललिताजी के लौटने की इन्तज़ार में विशाखा जी श्रीराधा जी के मनोभावों के अनुकूल उनके सामने कुछ न कह सकीं। श्रीराधा जी जान गईं कि श्रीश्यामसुन्दर ने उनके प्रेम-निवेदन को ठुकरा दिया है, ऐसा जान कर श्रीराधा जी ने अपने प्राणों को त्यागने का सङ्कल्प करते हुए अपने गले से इकलड़ा हार उतारा और विशाखा जी को देने लगीं। यह सब देख कर विशाखा जी ने कहा—सखि! ऐसा करके तुम मुझे क्यों दुख देती हो? मैं तो ललिताजी की इन्तज़ार में चुप साध रही हूँ।" ऐसा कह कर विशाखा जी ज़ोर से रोने लगीं। ललिता जी को देर तक न आया देखकर विशाखा जी ने भी यही समझ लिया कि श्रीश्यामसुन्दर का भाव सम्भवत: पौर्णमासी देवी के विचार में श्रीराधा जी के प्रतिकूल ही बैठा है। इसी आशङ्का में विशाखाजी चुप एवं निरुद्यम होकर बैठी थीं। उनको ऐसा देखकर श्रीराधा जी ने प्राण-त्याग का सङ्कल्प कर लिया—यह देख कर विशाखा जी अपने को सम्भाल न सकीं और रोने लगीं। विशाखा जी को रोता देख कर श्रीराधा जी ने कहा—)

"हे सखि! श्रीकृष्ण यदि मेरे प्रति निर्दय हैं, तो इसमें तुम्हारा क्या अपराध है? तुम क्यों वृथा रोती हो? (रो मत!) तमाल वृक्ष के स्कन्ध के साथ मेरी बाहु बांध देना, जिससे मेरा यह शरीर श्रीवृन्दावन में चिरकाल तक अविचल भाव से रहा आवे, मेरे मरने के पश्चात् इस प्रकार से मेरी तुम अन्त्येष्टि-क्रिया कर देना—(बस इतना ही तुम्हारा कर्तव्य है)" ॥२५॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीराधा जी की उक्ति का अभिप्राय यह है कि "सखि! श्रीश्यामसुन्दर के मिलने के लिये मेरे प्राण व्याकुल हो रहे हैं, यदि उन्होंने मेरे प्रति कुछ करुणा न करके मुझे ठुकरा दिया है, तो मेरे जीवित रहने का अब क्या लाभ? मैं मरूंगी; किन्तु हाय, हाय, सखि! मरने पर भी तो उनके मिलन की आकांक्षा मैं त्याग नहीं कर सकती हूँ। विशाखा! तुम एक काम करना, श्रीकृष्ण तो मुझे मिले नही, तमाल वृक्ष भी तो श्रीकृष्ण की भांति काला एवं स्निग्ध है, मेरे मृतक देह को तमाल से बांध देना, जिससे तमाल को आलिङ्गन करके मेरा शरीर चिरकाल तक श्रीवृन्दावन में अवस्थान कर सके।"

इस श्लोक से ज्ञात होता है—विशाखा जी के रोने को देख कर ही श्रीराधा जी ने प्राण त्याग का सङ्कल्प कर लिया एवं श्रीकृष्ण को अलभ्य जान कर देह त्याग के पश्चात् भी मृतक देह से श्रीकृष्ण के अनुरूप तमाल वृक्ष के साथ मिलने का सङ्कल्प त्याग नहीं किया। इस प्रकार 'निश्चयात्मिका-बुद्धिरूप व्यवसाय' इस श्लोक में प्रदर्शित हुआ।

राय कहे—कह देखि भावेर स्वभाव ?।
रूप कहे—ऐछे हय कृष्णविषय भाव ॥१२२॥

तदनन्तर श्रीराय ने पूछा—"रूप! भाव का अर्थात् प्रेम का स्वभाव वर्णन करो।" श्रीरूप ने कहा—"सुनिये, श्रीकृष्ण विषयक-प्रेम इस प्रकार होता है।" (उसे अगले श्लोक में व्यक्त करते हैं)—

तथाहि तत्रैव (२-३०)

पोड़ाभिर्नवकाल–कूटकटुता गर्वस्य निर्वासनो
नि:स्यन्देन मुदां सुधामधुरिमाहङ्कार सङ्कोचनः ।
प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दन परो जागर्त्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः ॥२६॥

पौर्णमासी देवी ने कहा—"हे सुन्दरि ! श्रीनन्दनन्दन का प्रेम जिसके हृदय में उदित होता है, उस प्रेम की पोड़ा एवं मधुरता को वही व्यक्ति ही ठोक-ठीक जान सकता है। उस प्रेम में ऐसी पीड़ा है कि नवीन सर्प की विष की तीव्रता और अहंकार को चूर-चूर कर देती है और जब उस प्रेम की आनन्द-धारा प्रवाहित होती है, तब वह अमृत के माधुर्य के गर्व को भी संकुचित कर देती है। (अभिप्राय यह है कि प्रेम में अत्यधिक सुख और अत्यधिक दुख एक साथ वर्त्तमान हैं। विष और अमृत का एकत्र मिलन है, ऐसा अद्भुत स्वभाव श्रीकृष्ण-प्रेम का है।)" ॥२६॥

राय कहे—कह सहज–प्रेमेर लक्षण ।
रूपगोसाञि कहे—साहजिक–प्रेमधर्म ॥१२३॥

राय रामानन्द जी ने आगे कहा—"सहज प्रेम अर्थात् स्वाभाविक प्रेम अथवा सहजात–प्रेम (जो जन्म के साथ वर्त्तमान रहता है) के लक्षण कहिये।" श्रीरूप गोस्वामी जी ने उत्तर दिया—'प्रेम का धर्म हो साहजिक है अर्थात् निरुपाधि है।' (उस निरुपाधि-प्रेम के लक्षण निम्नलिखित श्लोक में वर्णन करते हैं।)—

तथाहि तत्रैव (५–४)—

स्तोत्रं यत्र तटस्थतां प्रकटयच्चित्तस्य धत्ते व्यथां
निन्दापि प्रमदं प्रयच्छति परीहासश्रियं बिभ्रती ।
दोषेण क्षयितां गुणेन गुरुतां केनाप्यनातन्वती
प्रेम्णः स्वारसिकस्य कस्यचिदियं विक्रीड़ति प्रक्रिया ॥२७॥

मधुमङ्गल के प्रश्न का उत्तर देते हुए पौर्णमासी देवी ने कहा है—"जिसमें, प्रशंसा उदासीनता को प्रकाशित कर चित्त में वेदना प्रदान करती है, (अर्थात् प्रिय व्यक्ति यदि प्रशंसा करे, तो वह उसकी उदासीनता को जताती है, जिस से चित्त में दुख होता है) जिसमें निन्दा भी परिहास जानते हुए आनन्द प्रदान करती है, उस अनिर्वचनीय सहज-प्रेम की क्रिया किसी दोष में न तो ह्रास को प्राप्त होती है और न ही किसी गुण में वृद्धि को प्राप्त होती है ॥२७॥

चै० च० चु० *टीका*—इस श्लोक में यह दिखाया गया है कि प्रिय-व्यक्ति के दोष-गुणों से प्रेम में ह्रास व वृद्धि नहीं होती। बल्कि अपनी स्तुति सुनने से अपने प्रति प्रिय की उदासीनता जान कर चित्त में दुख होता है और अपनी निन्दा सुनकर उसे परिहास जान कर आनन्द उत्पन्न होता है।

जो प्रेम गुणों के ऊपर प्रतिष्ठित होता है, वह दोष देखकर घटने लगता है और किसी नवीन गुण को देख कर बढ़ने लगता है, किन्तु जो प्रेम निरुपाधिक होता है या साहजिक होता है, वह दोष गुण

में घटने-बढ़ने से रहित होता है— यही 'साहजिक-प्रेम' का धर्म है। साहजिक-प्रेम के स्वरूप को एक और दृष्टान्त देकर दिखाते हैं—

रागपरीक्षान्तरं श्रीकृष्णस्य पश्चात्तापो यथा तत्रैव (२-५९)—

श्रुत्वा निष्ठुरतां ममेन्दुवदना प्रेमाङ्कुरं भिन्दती
स्वान्ते शान्तिधुरां विधाय विधुरे प्रायः पराञ्चिष्यति।
किंवा पामरकामकार्मुक परित्रस्ता विमोक्ष्यत्यसून्
हा मौग्ध्यात् फलिनी मनोरथ लता मृद्वी मयोन्मूलिता ॥२८॥

(श्रीललिता-विशाखा जी श्रीराधा जी की दूती बनकर श्रीश्यामसुन्दर के पास आईं और उनसे श्रीराधा जी का प्रेम-निवेदन किया। श्रीकृष्ण ने उसका प्रत्याख्यान करते हुए बाहर का भाव प्रकाश किया जिस से श्रीललिता-विशाखा जी वापस लौट आईं। श्रीकृष्ण के प्रिय सखा मधुमङ्गल ने कहा—"कृष्ण! इन्होंने तो तुम्हारे प्रति यथेष्ठ आदर प्रदर्शित किया है, फिर तुम इन से अपने आदर बढ़वाने वाली बातें करते हो? ऐसा न हो कि तुम्हें फिर पछताना पड़े।" मधुमङ्गल के ऐसे वचन सुन कर श्रीकृष्ण कहने लगे— 'सखे! तुम ठीक ही कहते हो; परिहास करते हुए मैंने यह क्या कर डाला है?" इस प्रकार अपने आचरण का अच्छा परिणाम न निकलने की आशङ्का करते हुए श्रीकृष्ण अनुताप सहित कहने लगे)—

"चन्द्रमुखी श्रीराधिका अपनी सखियों से मेरी निष्ठुरता की बात सुनकर प्रेमाङ्कुर को तोड़ कर व्यथित चित्त होकर अतिशय धैर्य्य धारण पूर्वक मेरे प्रति क्या पराङ्मुखी होंगी? किंवा वह निठुर कन्दर्प के धनुष से भयभीत होकर प्राणों को त्याग देंगी? हाय! हाय! मूर्खतावश फलती हुई कोमल मनोरथ-लता को मैंने जड़ से उखाड़ डाला है"॥२८॥

चै० च० चु० *टीका*:—श्रीकृष्ण अनुताप करते हुए कहने लगे कि "मैंने श्रीराधिका जी की सखियों से जो व्यवहार किया है, वह अत्यन्त निष्ठुरता-पूर्ण है। निष्ठुर भाव से उनके प्रेम का जो मैंने प्रत्याख्यान किया है, उसकी बात सुनकर, श्रीराधिका जी में जो मेरे प्रति नूतन अनुराग उत्पन्न हुआ है, वह उसे परित्याग कर मेरे व्यवहार से चित्त में अति दुखित होंगी। मेरे लिये व्यर्थ मनोरथ होने से जो उन्हें अतिशय दुख होगा उस को प्रशमन करने के लिये अत्यन्त धैर्य धारण कर क्या वह फिर मेरे प्रति स्नेहवती होंगी? हो सकता है कि वह कामवाणों से घायल होकर अपने प्राणों का परित्याग करदें। हाय! हाय! मैंने अपनी मूर्खतावश उनकी फलती हुई कोमल मनोरथ-लता को जड़ से उखाड़ डाला है"।—इस प्रकार श्रीकृष्ण अपने मन में अनुताप करते हैं। इस श्लोक में यह दिखाया गया है कि प्रियव्यक्ति की प्रेमपरीक्षा करने के लिये कपटता मूलक निष्ठुर व्यवहार करने पर भी, उससे प्रिय व्यक्ति के मन में कष्ट होगा—ऐसे विवेचना करते हुए प्रेमिक के हृदय में अत्यन्त खेद होता है, अर्थात् परिहासादि से प्रियव्यक्ति के मन को कहीं दुख न हो—इस आशङ्का में प्रेमिक भी डरता रहता है—यह साहजिक-प्रेम का एक धर्म या स्वभाव है। और आगे कहते हैं:—

श्रीराधाया यथा तत्रैव (२-६०)—

यस्योत्सङ्ग सुखाशया शिथिलिता गुर्व्वी गुरुभ्यस्त्रपा
प्राणेभ्योऽपि सुहृत्तमाः सखि तथा यूयं परिक्लेशिताः।

धर्मः सोऽपि महान् मया न गणितः साध्वीभिरध्यासितो
धिग् धैर्य्यं तदुपेक्षितापि यदहं जीवामि पापीयसी ॥२६॥

(श्रीललिता-विशाखा—सखियों के लौट आने पर जब श्रीराधिका जी यह जान गईं कि श्रीश्याम-सुन्दर ने उनके प्रेम की उपेक्षा कर दी है, तब वह दुखी होकर कहने लगीं):—"हे सखि। जिस श्रीकृष्ण के उत्सङ्ग-सुख की (आलिङ्गन-सुखकी) प्रत्याशा में गुरुजनों की भारी लज्जा को भी मैंने शिथिल अर्थात् त्याग कर दिया है, प्राणों से भी अधिक प्रियतम तुम को भी मैंने कितना कष्ट दिया है, एवं साध्वीगणों द्वारा सेवित प्रसिद्ध पातिव्रत्य-धर्म को भी मैंने जिन के लिये कुछ नहीं गिना है, उन्हीं श्रीकृष्ण ने मेरी उपेक्षा करदी है, फिर भी मैं जीवित हूँ, मेरे धैर्य को धिक्कार है।" ॥२६॥

चौ० च० चु० टीकाः—इस श्लोक में यह दिखाया गया है कि प्रियव्यक्ति के सुख के लिये प्रेमिका सत्कुल-आर्य्यपथादि का भी अनायास में परित्याग कर सकती है, किन्तु प्रियव्यक्ति द्वारा उपेक्षित होने पर जीवन तक को तो त्याग कर सकती है, तथापि प्रियव्यक्ति के प्रति प्रेम का त्याग किसी प्रकार भी नहीं कर सकती—यह भी निरुपाधि-प्रेम या साहजिक-प्रेम का एक लक्षण है। और भी कहते हैं:—

तत्रैव (२-६९)—

गृहान्तः खेलन्त्यो निज सहजबाल्यस्य बलना-
दभद्रं भद्रं वा किमपि न हि जानीमहि मनाक्।
वयं नेतुं युक्ताः कथमशरणां कामपि दशां
कथं वा न्याय्या ते प्रथयितुमुदासीनपदवी ॥३०॥

अपने को श्रीकृष्ण द्वारा उपेक्षिता जान कर एकान्त स्थान पर अञ्जलिबन्धन पूर्वक बैठे हुए अति दुखित चित्त से श्रीराधिका जी कहती हैं):—"हे कृष्ण! अपने सहज बाल्य-स्वभाव से हम घर में रह कर खेलती रहतीं हैं, अच्छा बुरा कुछ भी नहीं जानती हैं। हम को इस प्रकार निराश्रय अवस्था में डाल देना क्या तुम्हारे लिये युक्तियुक्त है? और फिर ऐसी अवस्था में डाल कर तुम्हें उदासीन होकर रहना क्या उचित है? ॥३०॥

ललिताया यथा तत्रैव (२-५३)

अन्तः क्लेशकलङ्किताः किलवयं यामोऽद्य याम्यां पुरीं
नायं वञ्चन सञ्चय प्रणयिनं हासं तथाप्युज्झति।
तस्मिन् सम्पूटिते गभीरकपटैराभीर पल्लीविटे
हा मेधाविनि राधिके तव कथं प्रेमागरीयानभूत् ॥३१॥

[जिस समय श्री ललिता-विशाखा जी ने श्रीराधा जी का प्रेम निवेदन किया और श्रीकृष्ण ने जब वाह्यिक उपेक्षा प्रकाश की, तब अत्यन्त दुखी होकर श्रीकृष्ण के सामने ही सम्भवतः विशाखा जी को लक्ष्य करके ललिता जी बोलीं—"आज अन्तःकरण के क्लेश से कलङ्कित होकर मैं यमपुरी को जाने के लिये तैयार होगई हूँ, तथापि यह (श्रीकृष्ण) कपटता-समूह से भरी सुनिपुण हास्य को त्याग नहीं कर रहा है। हा मेधाविनि! राधिके! गम्भीर कपटता में प्रच्छन्न इस गोप-गांव वासी धूर्त्त शिरोमणि (श्रीकृष्ण) में तुम्हारा कैसे इतना भारी प्रेम हो गया है?

चै० च० चु० *टीका*—श्री ललिता जी नें कहा—"सती कुल-शिरोमणि श्रीराधा जी रूप में, गुण में समस्त रमणियों में सर्व श्रेष्ठ हैं, उनके लिए पर पुरुष में प्रेम निवेदन करना नितान्त अशोभनीय है, तथापि प्रेम की प्रवलता में वह सब कुछ त्याग कर बैठीं, किन्तु उनकी भी श्रीकृष्ण इस प्रकार उपेक्षा करते हैं—यह बात प्राणान्तक दुखदायक है। वह तो श्रीकृष्ण की मीठी मुस्कान देख कर ही ठगी गई हैं, उसी का ही यह फल है कि हम अत्र मृत्युदशा को प्राप्त हो रही हैं; किन्तु हमारी ऐसी दशा देख कर भी इसे जरा भी दया नहीं आई है, क्योंकि अभी तक उसके मुख पर प्रतारणामय हँसी विराजमान है।" श्रीराधा जी को स्मरण करके श्रीललिता जी कहने लगीं—"राधिके ! तुम तो मेधाविनी अर्थात् समस्त मेधा-शक्ति सम्पन्न थीं, अर्थात् तुम्हारी तो बहुत तीक्ष्ण बुद्धि थी, तुम कैसे गाढ़ कपट-सम्पुटित इस गोप-गाँव वासी धूर्त्तशिरोमणि कृष्ण में गाढ़ अनुराग कर बैठीं ?-तुम्हारी तीक्ष्ण बुद्धि भी उस शठ की शठता को तोड़ न सकी ? ऐसे शठ वञ्चक के प्रति हमें प्रेम निवेदन करने के लिये भेजने को व्याकुल हो उठीं ? हमारी समझ में तो कुछ नहीं आता।"

पौर्णमास्या यथा तत्रैव (३-१३)

हित्वा दूरे पथि धवतरोरन्तिकं धर्मसेतो-
र्भङ्गोदग्रा गुरुशिखरिणं रंहसा लङ्घयन्ती ।
लेभे कृष्णार्णव नवरसा राधिका वाहिनी त्वां
वाग्वीचीभिः किमिव विमुखी भावमस्यास्तनोषि ॥३२॥

पौर्णमासी देवी ने श्रीकृष्ण से कहा है—"हे कृष्णार्णव ! धर्म-सेतु को तोड़ने में समर्था नवरसा राधिका नदी धववृक्ष को बहुत दूर परित्याग करके अपने वेग में गुरुजन रूप पर्वत को उलङ्घन करके तुम्हें प्राप्त हुई है, फिर क्यों तुम वाक्यरूप तरङ्ग द्वारा उसे विमुखी करते हो अर्थात् उसकी क्यों उपेक्षा करते हो ?"

चै० च० चु० *टीका*—नदी जैसे समुद्र में जाकर मिलती है, उसी प्रकार श्रीराधा जी भी मानो एक नदी रूपा हैं जो श्रीकृष्ण रूप समुद्र के साथ मिलने को निकट वर्त्तिनी हुई हैं। वह राधा-नदी कैसी है ?—धर्मसेतु को भङ्ग करने में समर्था है। नदी जैसे अपने वेग से रास्ते के सेतु आदिकों को तोड़ती हुई समुद्र की ओर प्रवाहित होती है, श्रीराधा जी भी अपने प्रेम के प्रभाव से लोक-धर्म, वेद-धर्म, गृह-धर्मादि समस्त को तिलांजली देकर श्रीकृष्ण के साथ मिलने के लिये व्याकुल हो रही हैं। वह राधा-नदी फिर कैसी है ?—नवरसा है अर्थात् नदी जैसे हरक्षण नवीन जल से पूरित रहती है, श्रीराधा जी भी विचित्र वैदग्धीवशत: नित्य नूतन-नूतन श्रृङ्गार के नौ रसों से सदैव परिपूरित रहती हैं और कैसी है ? धवतरु को बहुत दूर पथ में परित्याग करने वाली है। धव-शब्द के दो अर्थ होते हैं—धव एक प्रकार का वृक्ष होता है, जहाँ वह धव-वृक्ष होता है, नदी उस स्थान पर कभी नहीं जाती, उसे बहुत दूर छोड़ कर प्रवाहित हुआ करती है। धव-शब्द का दूसरा अर्थ है—पति। जिस प्रकार नदी धव-वृक्ष को बहुत दूर परित्याग कर समुद्र की ओर प्रवाहित हुआ करती है, श्रीराधा जी भी उसी प्रकार लौकिक-लीला में अपने पति आदिक को, आर्य्यपथ को परित्याग करके श्रीकृष्ण की ओर धावित होती हैं और गुरुजन रूप पर्वत को उलङ्घन करके अर्थात् गुरुजनों की मर्यादा को अतिक्रम करके श्रीकृष्ण मिलन के लिये धावित होती हैं। किन्तु श्रीकृष्ण क्या करते हैं ?—वाक्यरूप तरङ्ग से राधा-नदी को विमुखी करते हैं, नदी जब समुद्र में गिरती है, तब समुद्र अपनी तरङ्गों के आघात से नदी की गति को पलटना चाहता

है, उसी प्रकार श्रीराधा जी जब वेद-धर्म, लोकधर्म, स्वजन-आर्य्यपथादि समस्त को त्याग करके श्रीकृष्ण के मिलने के लिये उत्कण्ठित होती हैं, श्रीकृष्ण तब कपट वाक्य-चातुरी द्वारा अपनी अनिच्छा प्रकाशित करते हुए मानो श्रीराधा जी को विमुख करना चाहते हैं। इस श्लोक का यही अभिप्राय है।

ऊपर के तीनों श्लोकों में दिखाया गया है कि अपने प्रति प्रिय-व्यक्ति की उदासीनता देखते हुए भी प्रेमिका का प्रेम किञ्चिन्मात्र भी कम नहीं होता है। इस प्रकार ऊपर के (२७ से ३२ तक के) छः श्लोकों में साहजिक प्रेम के स्वभाव या धर्म का वर्णन किया गया है।

राय कहे—वृन्दावन मुरली निःस्वन। कृष्ण-राधिकार कैछे करिमाछ वर्णन ॥१२४॥

कह, तोमार कवित्व शुनि हय चमत्कार। क्रमे रूपगोसाञि कहे करि नमस्कार ॥१२५॥

राय रामानन्द जी ने फिर पूछा—"रूप ! तुमने श्रीवृन्दावन का, मुरली का, मुरली-ध्वनि का, श्रीकृष्ण का एवं श्रीराधिका का कैसे-कैसे वर्णन किया है ? तुम ये समस्त सुनाओ, कारण कि तुम्हारा कवित्व सुन कर चमत्कार होता है"। श्रीरूप गोस्वामीपाद ने नमस्कार पूर्वक सब का क्रम से वर्णन करना आरम्भ किया ॥१२५॥

निम्नलिखित तीन श्लोकों में श्रीरूप गोस्वामीपाद श्रीवृन्दावन का वर्णन सुनाते हैं —

विदग्धमाधवे (१-४१, ४२, ४८)

सुगन्धौ माकन्द प्रकरमकरन्दस्य मधुरे
विनिस्यन्दे वन्दीकृतमधुपवृन्दं मुहुरिदम्
कृतान्दोलं मन्दोन्नतिभिरनिलैश्चन्दनगिरे-
र्ममानन्दं वृन्दाविपिनमतुलं तुन्दिलयति ॥३३॥

श्रीवृन्दावन की शोभा को देख कर श्रीकृष्ण मधुमङ्गल के प्रति कहते हैं—"हे सखे मधुमङ्गल ! जिस श्रीवृन्दावन के आम्रमुकुल समूह से क्षरित (चुचाते हुए) मकरन्द के सौगन्धि-माधुर्य में भ्रमरसमूह बार-बार वन्दीकृत होते हैं अर्थात् जिस श्रीवृन्दावन को बार-बार नमस्कार करते हैं एवं मलय-पर्वत की मन्द समीर द्वारा जो श्रीवृन्दावन आन्दोलित हो रहा है, वह यह श्रीवृन्दावन मुझे अतुलनीय आनन्द प्रदान कर रहा है ।३३॥

वृन्दावनं दिव्यलतापरीतं लताश्च पुष्पस्फुरिताग्रभाजः।
पुष्पाणि च स्फीतमधुव्रतानि मधुव्रताश्च श्रुतिहारिगीताः ॥३४॥

हे सखे ! यह श्रीवृन्दावन दिव्य लताओं से परिवेष्टित है, उन समस्त लताओं के अग्र भागों में कुसुम परिस्फुटित है; उन कुसुमों पर मधुकरगण मधुपान कर आनन्दित हो रहे हैं और वे मधुकरगण कर्ण-रसायन स्वर से गान कर रहे हैं ।३४॥

क्वचिद्भृङ्गीगीतं क्वचिदनिलभङ्गी शिशिरता
क्वचिद्वल्लीलास्यं क्वचिदमलमल्ली परिमलः।
क्वचिद्धाराशाली करकफलपालीरस भरो
हृषीकाणां वृन्दं प्रमदयति वृन्दावनमिदम् ॥३५॥

कहीं-कहीं मधुकरगणों का सुमधुर गीत हो रहा है, कहीं शीतल वायु प्रवाहित हो रही है, कहीं लताएं नृत्य कर रहीं हैं, कही मल्लिका–कुसुमों की सुगन्धि से वन आमोदित हो रहा है, किसी स्थान पर ढेरों के ढेर रस भरे दाड़िम-फल सुशोभित हैं—अतएव यह श्रीवृन्दावन हमारी इन्द्रियों के परमानन्द को वर्द्धन करने वाला है ॥३५॥

अब निम्नलिखित तीन श्लोकों में मुरली का वर्णन करते हैं—

मुरली यथा तत्रैव (३-२)—

परामृष्टाङ्गुष्ठत्रयमसितरत्नैरुभयतो वहन्ती सङ्कीर्णौ मणिभिररुणैस्तत्परिसरौ ।
तयोर्मध्ये हीरोज्ज्वल विमलजाम्बुनदमयी करे कल्याणीयं विहरति हरेः केलिमुरली ॥३६

जिस (मुरली) का आगे का एवं पीछे का भाग तीन तीन अंगुष्ठ परिमित इन्द्रनीलमणि द्वारा खचित है, फिर तीन-तीन अंगुष्ठ परिमित आगे और पीछे का भाग जिसका अरुणवर्ण मणि द्वारा जड़ित है, इन दोनों अरुणवर्ण भागों के बीच का स्थान जिसका हीरक द्वारा उज्ज्वलीकृत विशुद्ध स्वर्णमय है; वह कल्याणी केलि-मुरली श्रीकृष्ण के हाथ में विलास कर रही है ॥३६॥

तथा तत्रैव (५-११)—

सद्वंशतस्तव जनिः पुरुषोत्तमस्य पाणौ स्थितिर्मुरलिके सरलासि जात्या ।
कस्मात्त्वया वत गुरोर्विषमा गृहीता गोपाङ्गनागण विमोहन मन्त्रदीक्षा ॥३७॥

हे मुरलिके ! तुम्हारा उत्तम वंश में जन्म हुआ है, श्रीपुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण) के हाथ में तुम्हारी अवस्थिति है, एवं जाति से तुम सरला हो; अहो ! तथापि गोपाङ्गनाओं को मोहन करने वाले मन्त्र की विषम दीक्षा किस गुरू से तुमने ग्रहण की है ? ॥३७॥

तथा तत्रैव (४-६)—

सखि मुरलि विशालच्छिद्रजालेन पूर्णा लघुरति कठिना त्वं नीरसा ग्रन्थिलासि ।
तदपि भजसि शश्वच्चुम्बनानन्दसान्द्रं हरिकरपरिरम्भं केन पुण्योदयेन ॥३८॥

हे सखि मुरलि ! तुम अनेक विशाल छिद्रों से पूर्ण हो, अतिशय कठिन, नीरस एवं गठीली हो, तथापि किस पुण्य के प्रभाव से निरन्तर चुम्बन द्वारा श्रीहरि के हाथों का तुम्हें दृढ़ आलिङ्गन प्राप्त हुआ है ? ॥३८॥

अब निम्नलिखित श्लोक में मुरली-ध्वनि का वर्णन करते हैं:—

तथा तत्रैव (१-४४)—

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्व्वन् मुहुस्तुम्बुरुं
ध्यानादन्तरयन् सनन्दन मुखान् विस्मारयन् वेधसम् ।
औत्सुक्यावलिभिर्व्वलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो वभ्राम वंशीध्वनिः ॥३९॥

श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि—समुद्र की तरङ्गों को अथवा मेघों की गति को रोक कर, गायकों में श्रेष्ठ तुम्बुरू ऋषि को चमत्कृत करती हुई, ब्रह्म में आसक्त (सनक-) सनन्दनादि ऋषियों का ध्यान भङ्ग

करके सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा जी को भी सृष्टि-निर्माण का कार्य भुला देती है और औत्सुक्य-परम्परा द्वारा धैर्य्य-शाली श्रीबलि को चञ्चल करके, धरणीधर श्रीअनन्त देव के मस्तक को घुमा कर, ब्रह्माण्ड कटाह को भेदन कर बाहर जाने के लिये अर्थात् अप्राकृत धामों (श्रीगोलोकादि) में जाने के लिये सर्व दिशाओं में भ्रमण करने लगती है ।।३९।।

निम्नलिखित दो श्लोकों में श्रीकृष्ण—रूप का वर्णन करते हैं:—

कृष्णो यथा तत्रैव (१-३६)—

अयं नयनदण्डित प्रवर पुण्डरीक प्रभः
प्रभाति नवजागुड़द्युति विड़म्बिपीताम्बरः ।
अरण्यजपरिष्क्रियादमित दिव्यवेशादरो
हरिन्मणि मनोहरद्युतिभिरुज्ज्वलाङ्गो हरिः ।।४०।।

जिनके नेत्रों की शोभा से श्रेष्ठ नील कमल की प्रभा तिरस्कृत होती है, जिनके धारण किये हुए पीताम्बर की शोभा नव कुङ्कुम की शोभा को लज्जित करने वाली है, जिन के पुष्प-पत्रादि द्वारा रचित अलङ्कारों की शोभा मणिरत्नादि द्वारा रचित दिव्य अलङ्कारों के आदरको पराजयकरने वाली है, अर्थात् जिन का वन्य-वेश मणिरत्नादि द्वारा रचित दिव्य वेश का अनादर करने वाला है, एवं जिन के अङ्गसमूह मरकतमणि की कान्तिसमूह के समान समुज्जवल हैं, वे यही श्रीकृष्ण शोभित हो रहे हैं ।।४०।।

तथा ललित माधवे (४-२७)—

जङ्घाधस्तटसङ्गिदक्षिणपदं किञ्चिद्विभुग्नत्रिकं
साचिस्तम्भितकन्धरं सखि तिरःसञ्चारि नेत्राञ्चलम्
वंशीं कुट्नलिते दधानमधरे लोलाङ्गुलीसङ्गतां
रिङ्गद्भ्रूभ्रमरं वराङ्गि परमानन्दं पुरः स्वीकुरु ।।४१।।

(माधवी-मण्डप में अपने सामने श्रीश्याम-सुन्दर को देख कर श्रीललिता जी श्रीराधा जी को कहती हैं)—"हे सखि ! वराङ्गि ! तुम अपने सामने अवस्थित मूर्त्तिमान् परमानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण को अङ्गीकार करो ।(वेश्रीकृष्ण कैसे है ?)—वाम जङ्घाके निम्न भाग में जिन का दक्षिण चरण अवस्थित हैं, जो अपने अङ्गों में तीन स्थानों पर विभुग्न हो रहे हैं अर्थात् जो ललित-त्रिभङ्गि हैं, जिन का स्कन्धदेश अर्थात् ग्रीवा झुक रही है, जिनका नयन प्रान्त वक्रभाव से सञ्चालित है अर्थात् ईषद् वक्र कटाक्षों से चञ्चल होरहा है, जिनके संकुचित अधरों पर चञ्चल अंगुलियों द्वारा धारण की हुई वंशी है, जिन की भ्रुकुटि नृत्य कर रही है, (हे सखि ! ऐसे सन्मुखस्थित परमानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण को तू अङ्गीकार कर) ।।४१।।

तथा तत्रैव (१-१०६)—

कुलवरतनुधर्मग्राव-वृन्दानि भिन्दन्
सुमुखि निशितदीर्घापाङ्गटङ्कच्छटाभिः ।
युगपदयमपूर्वः कः पुरो विश्वकर्मा
मरकत मणिलक्षैर्गोष्ठ कक्षां चिनोति ।।४२।।

श्री राधा जी ललिता जी के प्रति कहती हैं—"हे सुमुखि ! जो एक ही समय दीर्घ अपाङ्गरूप शाणित (धार लगा हुआ-तीव्र) टङ्क-छटा द्वारा कुलाङ्गनाओं के कुलधर्मरूप पाषाणों को टुकड़े-टुकड़े करता हुआ असंख्य मरकत मणियों से गोष्ठ-प्रदेश की रचना कर रहा है, ऐसा यह अपूर्व विश्वकर्मा कौन है ? ।।४२।।

चौ० च० चु० *टीका*—इस श्लोक में श्रीकृष्णचन्द्र की विश्वकर्मा के साथ तुलना की गई है। देवताओं के गृहादिकों का निर्माण करने वाले विश्वकर्मा जैसे टङ्क (टांकी) द्वारा पत्थरों को काट-छांट कर व उन में छिद्र करके उन में अनेक प्रकार की मणि मुक्ताओं की संयोजित करके देवताओं के लिये गृह-मन्दिरादि का निर्माण करते हैं, श्रीश्याम-सुन्दर भी उसी प्रकार अपने विशाल नेत्रों के तीक्ष्ण कटाक्षों द्वारा गोपसुन्दरियों के कुलधर्म को ध्वंस करके मानों अपने गोष्ठस्थल या क्रीड़ा-स्थल की रचना करते हैं एवं अपनी नीलमणि सदृश उज्जवल अङ्ग कान्ति द्वारा उस क्रीड़ास्थल को सुशोभित करते हैं।

तात्पर्य यह है कि क्रीड़ा के उपकरण द्वारा ही क्रीड़ास्थल का विशेषत्व अभिव्यक्त हुआ करता है। उपकरण के न रहने पर क्रीड़ा भी नहीं हो सकती। क्रीड़ा न होने पर उस स्थल को फिर क्रीड़ास्थल भी नहीं कहा जा सकता। श्रीश्यामसुन्दर की क्रीड़ा का प्रधानतम उपकरण हैं—गोपसुन्दरिगण। किन्तु वे कुलवती नारियां हैं। जब तक उनमें कुल धर्मों के प्रति श्रद्धा रहती है, तब तक उनके साथ रसिक-शेखर की क्रीड़ा भी असम्भव होती है। श्रीश्यामसुन्दर अपने विशाल नयन-कटाक्षों से—अपनी सौन्दर्य-माधुर्य-वैदग्धी द्वारा उनके कुलादि धर्मों का अपहरण कर लेते हैं। इस प्रकार उन्हें अपनी क्रीड़ा की उपयोगिनी बना कर उनके साथ क्रीड़ा करते हैं एवं अपने क्रीड़ास्थल को सार्थकता प्रदान करते हैं। इस प्रकार गोपसुन्दरियों का ध्वंस प्राप्त कुलधर्म ही क्रीड़ास्थली की सार्थकता में प्रधान सहायक होने से, उस कुल धर्म को पत्थर की उपमा दी गई है एवं श्रीश्यामसुन्दर के कटाक्षों को कुलधर्म के विनाश का प्रधान कारण होने से शाणित टङ्क कहा गया है। स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र को क्रीड़ास्थल का निर्माण कर्त्ता विश्वकर्मा कहा गया है। नीलमणि कान्ति विशिष्ट श्रीकृष्ण के साथ मिल कर व्रजसुन्दरियों का भ्रष्ट कुल धर्म भी ग्लानि का हेतु न होकर पराकाष्ठा प्राप्त प्रेम की महिमा का द्योतक बन कर गौरव का ही हेतु हो गया है। अतः उनकी नीलमणि कान्ति को ध्वंस प्राप्त कुल धर्म रूप पत्थर के अलङ्कार रूप मरकतमणि तुल्य कहा गया है। इस प्रकार इस श्लोक में श्रीकृष्ण के गुणों का वर्णन किया गया है। अगला श्लोक भी श्रीकृष्ण के गुणों का व्यञ्जक है—

तथा तत्रैव (१-१०२)—

महेन्द्रमणिमण्डलीद्युति विड़म्बिदेहद्युति-
व्रजेन्द्रकुलचन्द्रमाः स्फुरति कोऽपि नव्यो युवा।
सखि स्थिरकुलाङ्गना-निकरनीविबन्ध्यर्गल-
च्छिदाकरणकौतुकी जयति यस्य वंशीध्वनिः ।।४३।।

ललिता जी श्रीराधा जी के प्रति कहती हैं—जिनके शरीर की कान्ति महा इन्द्रनील मणियों के समूह की द्युति को विडम्बित करने वाली है, व्रजेन्द्र-कुल-चन्द्र के सदृश रूपवान् यह कौन नवीन युवक विराजमान है ? हे सखि ! इस की ही वंशी ध्वनि अविचलित पतिव्रता कुलवती-युवतियों के नीवी बन्धन को तोड़ने या ढीला करने में कौतुकी अर्थात् उत्साह-शील होकर जययुक्त हो रही है ।।४३।।

अब अगले श्लोकों में श्रीराधा जी का रूप वर्णन करते हैं—

श्रीराधाया विदग्धमाधवे (१-६०)

बलादक्ष्णोर्लक्ष्मीः कवलयति नव्यं कुवलयं
मुखोल्लासः फुल्लं कमलवनमुल्लङ्घयति च ।
दशां कष्टामष्टापदमपि नयत्याङ्गिकरुचि-
र्विचित्रं राधायाः किमपि किल रूपं विलसति ।।४४।।

श्रीपौर्णमासी देवी कहती हैं—"जिनके नयनों की शोभा नव-नील कमलों की शोभा को भी बलपूर्वक पराभूत कर रही है, जिनके मुख की प्रफुल्लता प्रफुल्लित कमलों के बन की शोभा को भी निन्दित करने वाली है एवं जिनके अङ्गों की कान्ति स्वर्ण की शोभा को भी लज्जित कर देती है, श्रीराधा जी का वह अनिर्वचनीय रूप आश्चर्य रूप से विलास कर रहा है ।।४४।।

तथा तत्रैव (५-३१)—

विधुरेति दिवा विरूपतां शतपत्रं वत शर्व्वरीमुखे ।
इति केन सदा श्रियोज्ज्वलं तुलनामर्हति मत् प्रियाननम् ।।४५।।

मधुमङ्गल के प्रति श्रीकृष्ण कहते हैं—'हे सखे ! चन्द्र दिन-काल में शोभाविहीन हो जाता है और कमल सन्ध्याकाल में शोभाविहीन हो जाता है, फिर हे सखे ! दिन एवं रात में समान शोभा से उज्ज्वल रहने वाले मेरी प्रिया जी के मुख की तुलना किसके साथ की जा सकती हैं ? ।।४५।।

तथा तत्रैव (२-७८)—

प्रमद- रसतरङ्गस्मेर- गण्डस्थलायाः
स्मरधनुरनुबन्धि भ्रू लता-लास्यभाजः ।
मदकलचलभृङ्गीभ्रान्ति भङ्गी दधानो
हृदयमिदमदङ्क्षीत् पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षः ।।४६।।

श्रीश्यामसुन्दर ने कहा—"आनन्द-रस-तरङ्गों में जिनका गण्डस्थल मन्द मुस्कान युक्त है, जिन की कन्दर्प धनुष के समान भ्रू-लता नृत्य करती रहती है, उन सलोमाक्षी राधा जी के मत्ततावश मधुर एवं चञ्चल मधुकर की भ्रान्ति सम्पादन करने वाले कटाक्ष ने मेरे हृदय को दंशन कर लिया है ।।४६।।

इस प्रकार जब श्रीरूप गोस्वामीपाद ने श्रीविदग्धमाधव नाटक का कुछ वर्णन सुनाया, तो श्रीरामानन्द राय विस्मित होकर इस प्रकार कहने लगे—

राय कहे, तोमार कवित्व अमृतेर धार । द्वितीय नाटकेर कह नान्दी-व्यवहार ।।१२६।।
रूप कहे—काहाँ तुमि सूर्य्यसमभास । मुञि कोन क्षुद्र, येन खद्योत-प्रकाश ।।१२७।।
तोमार आगे धाष्ट्‌र्य एइ मुखेर व्यादान । एत बलि नान्दीश्लोक करिल व्याख्यान।।१२८।।

राय रामानन्द जी ने कहा—"रूप ! तुम्हारी कविता अर्थात् तुम्हारे द्वारा रचित श्रीविदग्ध-माधव नाटक तो अमृत-प्रवाह की भान्ति निरवच्छिन्न माधुर्यपूर्ण है । दूसरे नाटक अर्थात् श्रीललित-माधव-नाटक का नान्दी अर्थात् मङ्गलाचरण आदि का प्रसङ्ग भी कुछ हमें सुनाइये ।' श्रीरूप गोस्वामीजी

ने कहा—"राय ! कहाँ तो आप सूर्य्य के समान दीप्तिमान और कहाँ मैं पटवीजना की भान्ति अति क्षुद्र जीव। आपके सामने मेरा कुछ कहना-सुनाना धृष्टता मात्र हा है।" इस प्रकार दैन्य-प्रकाश करते हुए श्रीरूप गोस्वामी श्रीललित माधव-नाटक का नान्दी श्लोक (जो आशीर्वादात्मक है) वर्णन करने लगे—

तथा ललितमाधवे (१-१)

सुररिपुसुदृशामुरोज कोकान् मुखकमलानि च खेदयन्नखण्डः।
चिरमखिलसुहृच्चकोरनन्दी दिशतु मुकुन्दयशः शशी मुदं वः ॥४७॥

असुरों की कामिनियों के स्तनरूप चक्रवाक् के लिये एवं उनके मुख रूप कमलों के लिये जो खेद उत्पादन करने वाला है तथा सुहृदगण रूप चकोर के लिये आनन्दवर्द्धन करने वाला है—श्रीकृष्ण का अखण्ड कीर्त्ति-चन्द्र चिरकाल पर्यन्त तुम्हारा आनन्द सम्पादन करे ॥४७॥

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीकृष्ण-कीर्ति या उनकी लीला समस्त श्रोतागणों का आनन्द सम्पादन करे—ऐसा आशीर्वाद इस श्लोक में श्रीरूप गोस्वामी जी ने किया है। यहाँ श्रीकृष्ण के गुण-लीला आदि की चन्द्र के साथ तुलना की गई है। चन्द्र जैसे अपनी शीतलता से सब के सन्ताप दूर करता है एवं सब को आनन्दित करता है, श्रीकृष्ण के गुण-लीलादि भी उसी प्रकार जीवों के त्रितापों को दूर करने में एवं जीवों को नित्य विमल आनन्द प्रदान करने में समर्थ हैं। श्लोक में 'मुकुन्द'-शब्द के प्रयोग की सार्थकता यही है कि श्रीकृष्ण-यश कथा संसारबद्ध जीवों को मुक्ति दान करने में समर्थ है। (मुक्तिं ददाति-इति मुकुन्दः—जो मुक्ति दान करता है—वही मुकुन्द है।)

प्राकृत चन्द्र में घटना-बढ़ना होता है, जिससे उसकी सन्तापहारिणी शक्ति एवं आनन्ददायिनी शक्ति में भी घटा-बढ़ी रहती है, किन्तु श्रीकृष्ण यश रूप चन्द्र की सन्तापहारिणी एवं आनन्ददायिनी शक्ति में ह्रास एवं वृद्धि नहीं है, वह नित्य अखण्ड अर्थात् पूर्ण है। इस विषय में तो प्राकृत चन्द्र के साथ श्रीकृष्ण यश रूप चन्द्र की सहशता नहीं है, परन्तु दो और विषयों में इनका परस्पर सादृश है—चक्रवाक समूह के तथा कमल समूह के खेद उत्पादन विषय में इनकी सहशता है। चकवा-चकवी सदा एक साथ आनन्द पूर्वक विहार करते हैं, किन्तु रात्रि के आते ही वे एक दूसरे से बिछुर जाते हैं एवं उनका विहार-आनन्द स्थगित हो जाता है। अतः रात्रि का आगमन अथवा चन्द्र का उदय होना चकवा-चकवी के पक्ष में खेद-जनक हुआ करता है। इसी प्रकार दिन में तो कमल प्रफुल्लित रहते हैं, रात्रि काल में वे मुद्रित हो जाते हैं, इसलिये कमलों के पक्ष में भी रात्रि का आगमन या चन्द्रोदय खेद-जनक होता है। अतएव आकाश के चन्द्र को चक्रवाकों एवं कमलों के लिये खेद-उत्पादक कह कर वर्णन किया है। श्रीश्यामसुन्दर का यशोरूप चन्द्र असुरों की रमणियों के स्तन रूप चक्रवाकों के लिये एवं मुख रूप कमलों के लिये खेद-उत्पादक है। श्रीकृष्णचन्द्र अनेक असुरों का संहार करते हैं जिससे उनकी रमणियों के स्तन-मण्डल को अपने पति के करस्पर्श के आनन्द से वञ्चित होना पड़ता है तथा उनके मुख को अपने पति के अधर-अमृत पान का सौभाग्य सदा के लिये खो बैठना पड़ता है। अतः श्रीकृष्णचन्द्र को असुर-रमणियों के स्तन-रूप चक्रवाकों के पक्ष में एवं मुख रूप कमलों के पक्ष में खेद-उत्पादक कहा है।

और भी एक विषय में आकाशस्थ चन्द्र एवं श्रीकृष्ण यश रूप चन्द्र की सहशता है। चकोर चन्द्र का अमृत पान किया करता है एवं चन्द्र मुख का दर्शन प्राप्त कर वह आनन्द का अनुभव करता है। इसी प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन करने से, उनके गुण-लीलादि की कथा सुन कर उनके माता-पिता-सखादिकों

को तथा उनके भक्त-वृन्दों को परम आनन्द की प्राप्ति होती है। अतः श्रीश्यामसुन्दर के सुहृदवर्गों की चकोर के साथ तुलना की गई है।

इस प्रकार श्रीरूप गोस्वामिपाद से आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण श्लोक सुन कर राय रामानन्द परम हर्षित हुए एवं कहने लगे—

द्वितीय नान्दी कह देखि ?--राय पुछिला।
सङ्कोच पाइया रूप पढ़िते लागिला ॥१२९॥

श्रीराय ने कहा—"रूप! द्वितीय नान्दी अर्थात् इष्टदेव के चरण-वन्दनात्मक मङ्गलाचरण का श्लोक भी सुनाइये।" श्रीरूप गोस्वामी अति सङ्कोच करते हुए उसे सुनाने लगे ॥१२९॥

तथा तत्रैव (१-४)—

निजप्रणयितां सुधामुदयमाप्नुवन् यः क्षितौ
किरत्यलमुरीकृतद्विज कुलाधिराजस्थितिः।
स लुञ्चिततमस्ततिर्मम शचीसुताख्यः शशी
वशीकृतजगन्मना किमपि शर्म विन्यस्यतु ॥४८॥

जिन्होंने क्षितितल पर उदित होकर निज-प्रेम-सुधा का वितरण किया है, जो द्विजकुल-ब्राह्मण-वंश के अधिराज हैं, जिन्होंने जगत् की अज्ञानरूप तमोराशि को नष्ट कर दिया है, समस्त जगत् का मन जिनके वशीभूत है, वही श्रीशचीनन्दन रूप चन्द्र सबका अनिर्वचनीय सुख सम्पादन करें।॥४८॥

इस श्लोक में इष्टवन्दना रूप मङ्गलाचरण किया गया है; इष्टवन्दना के साथ-साथ आशीर्वाद भी इस श्लोक में की गई है। श्रीशचीनन्दन समस्त जगत् वासियों के चित्त में अनिर्वचनीय सुख का सञ्चार करें—इस वाक्य में ग्रन्थकार ने इष्टदेव श्रीगौरसुन्दर के चरणों में प्राथना की गई है।

शुनिञा प्रभुर यदि अन्तरे उल्लास। बाहिरे कहेन किछु करि रोषाभास ॥१३०॥
काहां तोमार कृष्ण-रसकाव्य-सुधासिन्धु। तार मध्ये केने मिथ्यास्तुति-क्षारविन्दु? ॥१३१॥
राय कहे—रूपेर कवित्व अमृतेर पूर। तार मध्ये एक विन्दु दियाछे कर्पूर ॥१३२॥

श्रीरूप गोस्वामी जी के मुख से उक्त श्लोक को सुनकर श्रीमहाप्रभु जी को हृदय में तो उल्लास हुआ, किन्तु बाहर कुछ रोष प्रकट करते हुए कहने लगे—"रूप! कहाँ तो तुम्हारा काव्य श्रीकृष्ण-रस-अमृत के सागर के समान है और कहाँ तुमने (मेरी) मिथ्या-स्तुति रूप क्षार–बिन्दु का इस में समावेश कर दिया है। यह (श्रीमन्महाप्रभु जी की दैन्योक्ति है।) प्रभु के वचन सुन कर राय रामानन्द जी ने कहा—"प्रभु! रूप का कवित्व तो अमृत का सागर है, उसमें आपकी जो स्तुति वर्णित है, वह उस अमृत सागर में कर्पूर का मिश्रण किया गया है, (जिससे वह और भी सुगन्धित—सुशोभित हो उठा है।) ॥१३०-१३२॥

प्रभु कहे--राय! तोमार इहाते उल्लास? | शुनितेइ लज्जा, लोके करे उपहास ॥१३३॥
राय कहे—लोकेर सुख इहार श्रवणे। अभीष्टदेवेर स्मृति मङ्गलाचरणे ॥१३४॥
राय कहे---कोन् अङ्गे पात्रेर प्रवेश?। तबे रूपगोसाञि कहे ताहार विशेष ॥१३५॥

राय की बात सुन कर श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"राय ! तुम्हें क्या इस में प्रसन्नता हो रही है ? मुझे तो सुन कर सङ्कोच हो रहा है और अन्य लोग भी उपहास करेंगे।" राय ने कहा—"प्रभु ! इसे सुन कर लोगों को सुख मिलेगा, कारण कि मङ्गलाचरण में ही यहाँ अभीष्ट देव—इष्टदेव का स्मरण किया गया है।" राय रामानन्द जी ने फिर श्रीरूप गोस्वामी जी से पूछा—"रूप ! इस नाटक की प्रस्तावना के किस अङ्ग में पात्र का प्रवेश तुम ने कराया है ?" श्रीरूप गोस्वामी उसका प्रसङ्ग सुनाने लगे ॥१३३-१३५॥

चै० च० चु० *टीका:*—नाटक की प्रस्तावना के तीन अङ्ग होते हैं, **प्ररोचना, वीथी एवं प्रहसन। प्ररोचना** का लक्षण पृष्ठ २३ पर द्रष्टव्य है। **वीथी** में एक अङ्ग और एक नायक रहता है। आकाशवाणी द्वारा विचित्र प्रत्युक्ति का आश्रय लेकर बहु परिमाण में शृङ्गाररस की एवं अन्य रसों की सूचना दी जाती है—इत्यादि। वीथी के तेरह अङ्ग होते हैं। (साहित्य दर्पण में विशेष विवरण द्रष्टव्य है) **प्रहसन**—नाटक में हास्य रसात्मक परिहास्यमय अंश को प्रहसन कहते हैं। श्रीराय ने पूछा कि इन तीनों अङ्गों में किस अङ्ग का आश्रय लेकर पात्र ने रङ्ग स्थल में प्रवेश किया है। इस का उत्तर श्रीरूप गोस्वामी पाद निम्नलिखित श्लोक में देते हैं—

तथाहि ललितमाधवे (१-२०)—

नटता किरातराजं निहत्य रङ्गस्थले कलानिधिना।

समये तेन विधेयं गुणवति ताराकर ग्रहणम् ॥४६॥

श्रीरूप गोस्वामी जी ने कहा—"वह कलानिधि (श्रीकृष्ण) नृत्य करते-करते रङ्गस्थल में किरातराज कंस को विनाश करके पूर्ण मनोरथ काल में तारा का (श्रीराधा जी का) पाणिग्रहण करेंगे ॥४६॥

चै० च० चु० *टीका:*—सोलह-कला पूर्ण होने से चन्द्र का नाम कलानिधि है और चौंसठ कला पूर्ण होने से श्रीकृष्ण का नाम भी कलानिधि है। चन्द्र के पक्ष में ताराकरग्रहण से—तारा का—नक्षत्र का कर अर्थात् किरण ग्रहण करना—ऐसा अर्थ सङ्गत बैठता है और श्रीकृष्ण के पक्ष में तारा कर ग्रहण शब्द का अथ श्रीराधा का कर अर्थात् पाणिग्रहण (विवाह) सङ्गत बैठता है। इन दोनों अर्थों में श्रीकृष्ण पक्ष वाला अर्थ ही सङ्गत बैठता है, जैसा कि अगले पयार से स्पष्ट होता है—

'उद्घात्यक'—नाम एइ आमुख—बीथी—अङ्ग।

तोमार आगे इहा कहि, धार्ष्ट्येर तरङ्ग ॥१३६॥

आमुख अर्थात् प्रस्तावना के बीथी नामक अङ्ग का जो उद्घात्यक—नामक अङ्ग है, उसमें पात्र का रङ्गस्थल में प्रवेश हुआ है। राय ! आपके सामने इतनी बातें कहना मेरी धृष्ठता मात्र ही है ॥१३६॥

चै० च० चु० *टीका:*—प्रस्तावना के तीन अङ्गों का ऊपर वर्णन किया जा चुका है उनमें बीथी नामक अङ्ग के अनेक अङ्गों में एक अङ्ग का नाम है—उद्घात्यक। उद्घात्यक के लक्षण अगले श्लोक में वर्णन किये गये हैं। जिस पद का अर्थ-सङ्गति नहीं होती है, उसकी अर्थ-सङ्गति के निमित्त अन्य पद के साथ योजना को 'उद्घात्यक' कहते हैं।

उक्त श्लोकमें 'नटता'—शब्द 'कलानिधि'—शब्द का विशेषण है, यदि कलानिधि—शब्द का अर्थ चन्द्र किया जाए तो चन्द्र के पक्ष में नृत्यशीलता सम्भव नहीं है, कारण कि चन्द्र कभी नृत्य नहीं करता

है। श्रीकृष्ण तो नृत्य-शील हैं ही और कंसवध के समय श्रीकृष्ण ने नृत्य किया ही था। अतः कलानिधि-शब्द का अर्थ चन्द्र करने से उसके साथ नटता-शब्द का अर्थ सङ्गत नहीं बैठता है। इसलिये कलानिधि-शब्द का अर्थ यहाँ श्रीकृष्ण करके नटता-शब्द के अर्थ की जो सङ्गति कराई गयी है—इसे 'उद्घात्यक' कहते हैं। इस उद्घात्यक द्वारा ही यह प्रमाणित होता है कि उक्त श्लोक में कलानिधि-शब्द का अर्थ श्रीकृष्ण ही ग्रहणीय है और श्रीकृष्ण ने ही कंस का वध किया था, चन्द्र ने नहीं, श्रीकृष्ण ही नृत्यशील हैं, चन्द्र नहीं। इन बातों से श्रीकृष्ण अर्थ का पक्ष ही प्रधान है। कृष्णपक्षीय अर्थ की प्रधानता से 'तारा कर ग्रहणम्'-शब्द का अर्थ श्रीराधा का पाणिग्रहण—ऐसा अर्थ स्थापित होता है।

श्रीललित—माधव नाटक के पूर्ण मनोरथ-नामक दशम अङ्क में श्रीरूप गोस्वामी जी ने श्रीराधा जी के साथ श्रीकृष्ण की पाणिग्रहण लीला का वर्णन किया है—इस श्लोक में इस बात का भी इशारा मिलता है। निम्नलिखित श्लोक में 'उद्घात्यक' के लक्षण वर्णन करते हैं—

तल्लक्षणं यथा साहित्यदर्पणे (६-२८९) —

पदानि त्वगतार्थानि तदर्थगतये नराः।
योजयन्ति पदैरन्यैः स उद्घात्यक उच्यते ॥५०॥

अवोधित या अस्पष्ट अर्थ युक्त पद की अर्थ-सङ्गति के लिये जो अन्य पद के साथ योजना करना है—उसे 'उद्घात्यक' कहते हैं ॥५०॥

राय कहे—कह आगे अङ्गेर विशेष ?।
श्रीरूप कहेन किछु संक्षेप उद्देश ॥१३७॥

श्रीराय रामानन्दजी ने कहा—"ललितमाधव-नाटक के भी अन्यान्य अंश मुरली निःस्वनादिक का वर्णन कीजिये।" श्रीरूप गोस्वामी संक्षेपतः कुछ कहने लगे—॥१३७॥

तथाहि ललितमाधवे (१-५०)—

ह्रियमवगृह्य गृहेभ्यः कर्षति राधां बनाय या निपुणा।
सा जयति निसृष्टार्था वरवंशज काकलीदूती ॥५१॥

लज्जा को विनष्ट करके घर से बन गमन के निमित्त श्रीराधाजी को जो आकर्षण करती है, वही अपने कार्य में कुशला श्रेष्ठ वंशी-ध्वनि रूपा निसृष्टार्था दूती जययुक्ता हो रही है ॥५१॥

चैं० च० चु० *टीका:*—इस श्लोक में वंशीध्वनि के गुण वर्णन किये हैं एवं वंशीध्वनि को निसृष्टार्था-दूती कह कर वर्णन किया गया है। नायक या नायिका जब किसी कार्य-विशेष की सिद्धि के लिये एक दूसरे के पास किसी दूती को भेजते हैं, वह दूती यदि अपनी युक्ति से दोनों को मिला देने में सफल रहे तो उसे निसृष्ठार्था-दूती कहते हैं।

वंशीध्वनि श्रीश्यामसुन्दर के मुख से निसृत होकर श्रीराधा जी के कानों के मार्ग से उनके मर्म स्थान पर पहुँचती है और उनके चित्त को विचलित करके श्रीश्यामसुन्दर के निकट ही आकृष्ट कर लेती है। अतः यहाँ वंशीध्वनि को निसृष्टार्था-दूती कहा गया है।

तत्रैव (१-४९)—

हरिमुद्दिशते रजोभरः पुरतः सङ्गमयत्यमुं तमः।
व्रजवामदृशां न पद्धतिः प्रकटा सर्वदृशः श्रुतेरपि ॥५२॥

(व्रज गोपसुन्दरियों के लिये) रजः (धूलि) श्रीकृष्ण का उद्देश्य करता है एवं तमः (अन्धेरा) उनके साथ उनका सङ्गम कराता है, अतः व्रजाङ्गनाओं की कृष्ण-भजन पद्धति सकल लोकों की चक्षु स्वरूप श्रुतियों के लिये भी अगोचर है।।५२।।

चै० च० चु० *टीका*—रजः शब्द का एक अर्थ है—धूलि या गो-धूलि और दूसरा अर्थ है-रजोगुण। इसी प्रकार तमः-शब्द का एक अर्थ है—अन्धकार और दूसरा अर्थ है—तमोगुण। मध्याह्न के पश्चात् श्रीकृष्ण जब बन से गौएँ चरा कर वापस लौटते हैं, उस समय जो गो-धूलि उड़ती है, उसे देख कर अपने घरों में श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा में व्याकुला गोपीगण यह जान जाती हैं कि श्रीकृष्ण अब बन से आ रहे हैं। अतः रजसमूह या गो-धूलि व्रजाङ्गनाओं के लिये श्रीकृष्ण का उद्देश करती है और तम अर्थात् रात्री अन्धकार में गोपीगण अभिसार करके श्रीकृष्ण के साथ मिलन प्राप्त करती हैं। अतः उनके पक्ष में तमः श्रीकृष्ण-मिलन का हेतु है।

श्लेषार्थ में रजः या रजोगुण के द्वारा चित्त विक्षिप्त होता है और तमः या तमोगुण के द्वारा चित्त आवरणयुक्त हो जाता है। अतः इन दोनों के द्वारा श्रीकृष्ण की प्राप्ति या श्रीकृष्ण का उद्देश या अनुसन्धान नहीं हो सकता—ऐसा श्रुतियाँ कहती हैं। श्रीवृन्दावन में किन्तु इसके विपरीत व्यवहार है—रजः (गो-धूलि) एवं तमः (अन्धकार) ये दोनों ही श्रीकृष्ण का अनुसन्धान एवं मिलन कराने वाले हैं। इसी श्लेषार्थ को ही लक्ष्य करके कहा गया है कि व्रजाङ्गनाओं की जो कृष्ण-भजन पद्धति या भाव-पद्धति है, श्रुतियों के लिये वह अगोचर है, चाहे श्रुतियाँ समस्त के लिये चक्षु स्वरूपा हैं अर्थात् सब को श्रीकृष्ण प्राप्ति का अथवा भला-बुरा मार्ग प्रदर्शक करने वाली हैं।

इस श्लोक से श्रीवृन्दावन की अपूर्व महिमा सूचित होती है एवं व्रजसुन्दरियों के भाव का अपूर्व विशेषत्व प्रकाशित होता है।

तथाहि तत्रैव (२-२३)—

सहचरि निरातङ्कः कोऽयं युवा मुदिरद्युति-
व्रजभुवि कुतः प्राप्तो माद्यन्मतङ्गज विभ्रमः।
अहह चटुलैरुत्सर्पद्भिर्दृगञ्चल—तस्करै-
र्मम धृतिधनं चेतः कोषात् विलुण्ठयतीह यः ॥५३॥

श्रीश्यामसुन्दर का दर्शन करके श्रीश्यामा जी अपनी सखी के प्रति कहती हैं—"हे सहचरि! जो नवीन मेघ की भान्ति श्यामसुन्दर वर्णविशिष्ट है, एवं मदमत्त हाथी की भान्ति जो विलास करने वाला है, वह ऐसा निर्भीक युवा कौन है? और कहाँ से व्रजमण्डल में आ गया है? बहुत दुःख का विषय है कि इस श्रीवृन्दावन में वह अपने चञ्चल एवं भ्रमणशील कटाक्ष-तस्करों के (लुटेरों के) द्वारा मेरे चित्त रूप धनागार (कोष) से धैर्य्य रूप धन का अपहरण कर रहा है।।५३।।

तथाहि तत्रैव (२-२२) —

विहार सुरदीर्घिका मम मनः करीन्द्रस्य या
विलोचन चकोरयोः शरदमन्दचन्द्रप्रभा ।
उरोऽम्बरतटस्य चाभरणचारुतारावली
मयोन्नत मनोरथैरियमलम्भि सा राधिका ॥५४॥

श्रीश्यामसुन्दर श्रीराधिका जी के गुण वर्णन करते हुए कहते हैं—"जो मेरे चित्तरूप हस्ती के विहार के लिये (स्वर्ग गंगा) मन्दाकिनी के समान है, जो मेरे नेत्र रूप चकोरों के लिये शारदीय पूर्ण चन्द्र प्रभा के समान है, एवं जो मेरे हृदयाकाश की भूषण स्वरूप नक्षत्र माला है, उसी श्रीराधिका को मैंने अनेक काल की आकांक्षा के पश्चात् प्राप्त किया है ॥५४॥

एत शुनि राय कहे प्रभुर चरणे । रूपेर कवित्व प्रशंसि सहस्र बदने ॥१३८॥
कवित्व न हय एइ अमृतेर धार । नाटक लक्षण सब सिद्धान्तेर सार ॥१३९॥
प्रेम परिपाटी एइ अद्भुत वर्णन । शुनि चित्त-कर्णेर हय आनन्द घूर्णन ॥१४०॥

इस प्रकार श्रीरूप गोस्वामी जी के मुख से श्रीविदग्ध—माधव एवं श्रीललित—माधव नाटक के कुछ एक श्लोक सुन कर राय रामानन्द श्रीमहाप्रभु जी से श्रीरूप गोस्वामी की रचनाओं की सहस्र बदन होकर प्रशंसा करते हुए कहने लगे—"प्रभु ! यह कवित्व नहीं है, यह तो अमृत की धारा है। इस में समस्त नाटक के लक्षण विद्यमान् हैं एवं वे सब सिद्धान्तों का सार है। प्रेम परिपाटी का तो इसमें अद्भुत वर्णन है, जिसे सुन कर चित्त एवं श्रवण आनन्द में झूमने लगते हैं ॥१३८-१४०॥

तथाहि प्राचीनकृत-श्लोकः—

किं काव्येन कवेस्तस्य किं काण्डेन धनुष्मतः ।
परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः ॥५५॥

जैसा कि कहा गया है—उस कवि की काव्य रचना का क्या प्रयोजन—यदि वह सुनने-पढ़ने से अन्य जन के हृदय में प्रवेश कर आनन्द से उसके मस्तक को चलायमान नहीं करती है ? और उस धनुषधारी के वाण क्षेपण से ही क्या लाभ, यदि वह बाण अन्य के हृदय में लग कर वेदना से उसके मस्तक को घुमा नहीं देता है ? ॥५५॥

तोमार शक्ति बिनु एइ जीवे नहे बाणी । तुमि शक्ति दिया कहाओ, हेन अनुमानि ॥१४१॥
प्रभु कहे—प्रयागे इंहार हइल मिलन । इंहार गुणे इंहाते आमार तुष्ट हइल मन ॥१४२॥
मधुर प्रसन्न इंहार काव्य सालङ्कार । ऐछे कवित्व बिनु नहे रसेर प्रचार ॥१४३॥
सभे कृपा करि इंहारे देह एइ वर । व्रज लीला प्रेमरस वर्णे निरन्तर ॥१४४॥

राय ने आगे कहा—"प्रभु ! आप की शक्ति के बिना जीव में इस प्रकार की वाणी (काव्य रचना) असम्भव है। मैं तो यह समझता हूँ आप ही श्रीरूप में अपनी शक्ति सञ्चार कर इससे ऐसी वाणी कहलवाते हो।" राय के वचन सुन कर श्रीमहाप्रभु बोले—"राय ! प्रयाग में इसके साथ

मेरा मिलन हुआ था । इसके ऐसे गुणों को देख कर मेरा मन इस पर प्रसन्न हो गया था । रूप की रचना मधुर कवित्व पूर्ण है, अलंङ्कार पूर्ण एवं चित्त की प्रसन्नता साधक है, ऐसे कवित्व के बिना रस का प्रचार भी नहीं हो सकता । राय ! आप सब मिल कर रूप पर कृपा करते हुए इसे यही वर दीजिये कि यह निरन्तर व्रज-लीला-प्रेम रस का वर्णन करता रहे" ॥१४१-१४४॥

इंहार ये ज्येष्ठ भ्राता—नाम सनातन । पृथिवीते विज्ञवर नाहि तांर सम ॥१४५॥
तोमार यैछे विषय त्याग, तैछे तांर रीति । दैन्य वैराग्य पाण्डित्येर तांहातेइ स्थिति ॥१४६॥
एइ दुइ भाइ आमि पाठालाङ वृन्दावने । शक्ति दियाछि भक्तिशास्त्र करिते प्रवर्त्तने ॥१४७॥

श्रीमहाप्रभु ने आगे कहा—"राय ! इस का जो बड़ा भाई सनातन है, उसके समान तो ज्ञानवान् पृथ्वी तल पर नहीं है । राय ! तुमने जैसे विद्या नगर का आधिपत्य—सम्पत्ति आदि विषयों का त्याग कर दिया है, उसी प्रकार सनातन ने भी उच्च राज कार्य विपुल सम्पति आदि समस्त विषयों का त्याग कर दिया है । राय ! दीनता, वराग्य एवं पाण्डित्य—ये तीनों एक साथ केवल सनातन में ही अवस्थान कर रहे हैं । इन दोनों भाइयों को मैंने श्रीवृन्दावन भेजा था और भक्ति-शास्त्र के सङ्कलन एवं प्रचार करने की शक्ति भी इनमें मैंने सञ्चार की थी ॥१४५-१४७॥

राय कहे—ईश्वर तुमि ये चाह करिते । काष्ठेर पुतली तुमि पार नाचाइते ॥१४८॥
मोर मुखे ये सब रस कैले प्रचारणे । सेइ सब देखि एइ इंहार लिखने ॥१४९॥
भक्त कृपाय प्रकटिते चाह व्रजेर रस । यारे कराओ,से करिवे,जगत् तोमार वश ॥१५०॥

राय रामानन्द जी ने कहा—" प्रभु ! आप ईश्वर (सर्व शक्तिमान) हो, जो करना चाहो, कर सकते हो । यहाँ तक कि आप एक काष्ट की पुतली को भी इच्छानुसार नचा सकते हो । मेरे मुख द्वारा (गोदावरी के तीर पर) जो रस (सिद्धान्त) अभिव्यक्त कराया था, वही समस्त रस श्रीरूप की रचना में भी मैं देख रहा हूं । भक्तों पर कृपा करने के लिये आप व्रजरस का प्राकट्य करना चाहते हैं । समस्त जगत् आपके वशीभूत है, जिससे आप जो करना चाहो करा सकते हो ॥१४८-१५०॥

तबे महाप्रभु कैल रूपे आलिङ्गन । तांहारे कराइल सभार चरण वन्दन ॥१५१॥
अद्वैत-नित्यानन्दादि सब भक्तगण । कृपा करि रूपे सभे कैल आलिङ्गन ॥१५२॥
प्रभुर कृपा रूपे, आर रूपेर सद्गुण । देखि चमत्कार हैल सब भक्तेर मन ॥१५३॥
तबे महाप्रभु सब भक्त लैया गेला । हरिदास ठाकुर रूपे आलिङ्गन कैला ॥१५४॥

तब श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीरूप को आलिङ्गन किया और उससे सब के चरणों में वन्दना कराई । श्रीअद्वैताचार्य प्रभु, श्रीनित्यानन्द प्रभु एवं सब भक्तों ने कृपा पूर्वक श्रीरूप को आलिङ्गन किया । श्रीमन्महाप्रभु की कृपा श्रीरूप गोस्वामी पर देख कर एवं श्रीरूप गोस्वामी के सद्गुणों को देख कर सब भक्तों के मन चमत्कृत हो उठे । तब श्रीमहाप्रभु जी सब भक्तों को लेकर वहाँ से चल दिये । श्रीहरिदास ठाकुर ने श्रीरूप को आलिङ्गन किया ॥१५१-१५४॥

हरिदास कहे—तोमार भाग्येर नाहि सीमा । ये सब वर्णिले इहार के जाने महिमा? ॥१५५॥
श्रीरूप कहे—आमि किछुइ ना जानि । येइ महाप्रभु कहाय, सेइ कहि वाणी ॥१५६॥

श्रीहरिदास जी ने कहा—"रूप ! तुम्हारे भाग्यों की सीमा नहीं है, तुम्हारे भाग्यों का वर्णन करके कोई भी उनका पार नहीं पा सकता है । श्रीरूप गोस्वामी जी ने कहा—"ठाकुर ! मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ, जो कुछ श्रीमहाप्रभु मुझ से कहलवाते हैं, वही बात मैं कहता हूँ ।" ॥१५५-१५६॥ श्रीरूप गोस्वामी जी ने श्रीभक्ति रसामृतसिन्धु के आदि में भी इसी बात को कहा है—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१-१-२)

हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्त्तितोऽहं वराकरूपोऽपि ।
तस्य हरेः पदकमलं वन्दे चैतन्यदेवस्य ॥५६॥

हृदय में जिनकी प्रेरणा पाकर रूप-नामक अति क्षुद्र मैं (भक्ति-शास्त्र प्रणयन में) प्रवर्त्तित हुआ हूँ, मैं उन्हीं श्रीचैतन्यदेव के चरण कमलों में वन्दना करता हूँ ॥५६॥

एइमत दुइजन कृष्ण कथारङ्गे । सुखे काल गोङाय रूप हरिदास सङ्गे ॥१५७॥
चारिमास वहि सब प्रभुर भक्तगण । गोसाञि विदाय दिल, गौड़े करिला गमन ॥१५८॥
श्रीरूप प्रभुपदे नीलाचले रहिला । दोलयात्रा प्रभु सङ्गे आनन्दे देखिला ॥१५९॥
दोल अनन्तरे प्रभु रूपे विदाय दिला । अनेक प्रसाद करि शक्ति सञ्चारिला ॥१६०॥

इस प्रकार श्रीरूप गोस्वामी एवं श्रीहरिदास जी श्रीकृष्ण कथा रस में सुख पूर्वक अपना समय बिताते थे । इधर गौड़ीय भक्तों को चार मास बीत चुके थे, श्रीमहाप्रभु जी ने उन सब को विदा किया और वे सब गौड़ देश में लौट आए । श्रीरूप गोस्वामी नीलाचल में ही प्रभु के पास रहे आए और श्रीजगन्नाथ जी की डोल-यात्रा के दर्शन श्रीमहाप्रभु के साथ-साथ आनन्द पूर्वक किये । डोल-यात्रा के बाद श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीरूप गोस्वामी जी को विदा किया एवं अनेक कृपा पूर्वक उनमें अपनी शक्ति का सञ्चार किया । ॥१५७-१६०॥

'वृन्दावन याह तुमि, रहिओ वृन्दावने । एक बार इहां पाठाइओ सनातने ॥१६१॥
ब्रजेर रसशास्त्र तुमि कर निरूपण । तीर्थ सब लुप्त, तार करिह प्रचारण ॥१६२॥
कृष्ण सेवा रसभक्ति करिह प्रचार । आमिहो देखिते ताहां याइव एक बार ॥१६३॥
एत बलि प्रभु तांरे कैल आलिङ्गन । रूप गोसाञि धरिल शिरे तांहार चरण ॥१६४॥

श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीरूप गोस्वामीजी को विदा करते समय कहा—"रूप ! तुम श्रीवृन्दावन जाओ और श्रीवृन्दावन में ही रहना । एक बार श्रीसनातन को मेरे पास यहाँ अवश्य भेजना । ब्रज के रस-शास्त्रों का तुम जाकर निरूपण (प्रणयन) करो और वहाँ के तीर्थ सब लुप्त हो चुके हैं, उनका भी फिर प्राकट्य जाकर करना । श्रीकृष्ण सेवा-रस भक्ति का ही तुम जाकर प्रचार करना । मैं भी एक बार तुम्हें मिलने वहाँ आऊँगा । " (श्रीमन्महाप्रभु किन्तु प्रकट-लीला में फिर श्रीवृन्दावन नहीं गये । किन्तु आविर्भाव रूप से श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीरूप गोस्वामी जी को फिर अनेक बार श्रीवृन्दावन में दर्शन दिये ।) इतना कह कर श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीरूप गोस्वामी को आलिङ्गन किया एवं श्रीरूप गोस्वामी जी ने श्रीमहाप्रभु जी के चरण कमलों को अपने सिर पर धारण कर लिया । " ॥१६१-१६४॥

महाप्रभु भक्तस्थाने विदाय मागिला। पुनरपि गौड़पथे वृन्दावन आइला ।।१६५।।
एइ त कहिल पुन रूपेर मिलन। इहा येइ शुने, पाय चैतन्य चरण ।।१६६।।
श्रीरूप रघुनाथ पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ।।१६७।।

श्रीरूप गोस्वामी जी ने फिर श्रीमहाप्रभु जी के समस्त भक्तों से विदा मांगी और गौड़ देश से होते हुए श्रीवृन्दावन आ पहुँचे। श्रीकृष्णदास कविराज कहते हैं—"इस प्रकार मैंने श्रीमहाप्रभु जी के साथ श्रीरूप गोस्वामीजी का तीसरा मिलन वर्णन किया है (एक बार तो इन का परस्पर मिलन रामकेलि ग्राम में हुआ था और दूसरी बार प्रयाग में—जिस का वर्णन मध्य-लीला में किया जा चुका है)। जो भी इस कथा को सुनेगा, उसे श्रीचैतन्य देव के चरण कमल प्राप्त होंगे। श्रीरूप गोस्वामी, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के चरण कमलों की आशा करते हुए श्रीकृष्णदास गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं। ।। १६५-१६७ ।।

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां
पुनः श्रीरूपसङ्गमो-नाम
प्रथम परिच्छेदः ।।१।।

जयगौर

अन्त्य-लीला

द्वितीय परिच्छेद

*

वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुत पद कमलं श्रीगुरून् वैष्णवांश्च
श्रीरूपं साग्रजातं सहगण रघुनाथान्वितं तं सजीवम् ।
साद्वैतं सावधूतं परिजन—सहितं कृष्णचैतन्यदेवं
श्रीराधाकृष्ण पादान् सहगणललिता-श्राविशाखान्वितांश्च ।।१।।

द्वितीय परिच्छेद के आरम्भ में श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी सब की वन्दना करते हुए कहते हैं—" मैं अपने श्रीदीक्षा-गुरु जी के चरण कमलों की वन्दना करता हूं, शिक्षागुरुजनों की एवं समस्त वैष्णवगणों की वन्दना करता हूँ । अग्रज श्रीसनातन गोस्वामी के सहित, परिकर के साथ श्रीरघुनाथ भट्ट एवं श्रीरघुनाथदास गोस्वामी, तथा श्री जीवगोस्वामी—इन सब के साथ श्रीरूप गोस्वामीजी की वन्दना करता हूँ । श्रीअद्वैताचार्य- श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु जी के साथ एवं परिकर वर्ग के साथ श्रीश्रीकृष्णचैतन्यदेव को मैं प्रणाम करता हूं, परिकर वर्ग सहित श्रीललिता-विशाखा जी के साथ श्री श्रीराधाकृष्ण के चरण कमलों की वन्दना करता हूँ ।।१।।

[इस द्वितीय परिच्छेद में नकुल ब्रह्मचारी के शरीर में श्रीमन्महाप्रभु के आवेश की कथा श्रीनृसिंहानन्द के सामने प्रभु के आविर्भाव का प्रसङ्ग, तथा छोटे श्रीहरिदास का वर्जनादि प्रसङ्ग वर्णन किए गए हैं ।]

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौर भक्त वृन्द ।।१।।
सर्व लोक निस्तारिते गौर-अवतार । निस्तारेर हेतु तांर त्रिविध प्रकार ।।२।।
साक्षाद्दर्शन, आर योग्य भक्त जीवे । आवेश करये काहां, काहां आविर्भावे ।।३।।
साक्षात् दर्शने प्राय सभा निस्तारिला । नकुल ब्रह्मचारिदेहे आविष्ट हइला ।।४।।

श्रीश्रीचैतन्यदेव जी की जय हो, श्रीमन्नित्यानन्दप्रभु जी की जय हो । श्रीअद्वैताचार्यप्रभु की जय हो एवं समस्त गौरभक्तवृन्द की जय हो । श्रीगौराङ्ग सुन्दर का अवतार समस्त लोकों के निस्तार करने के लिये हुआ है, कहीं उनके निस्तार करने की शैली तीन प्रकार की है, कहीं साक्षात-दर्शन से, कहीं योग्य भक्तजीवों में आवेश रूप से तथा कहीं आविर्भावरूप से वे जीवों का निस्तार करते हैं । साक्षात्

दर्शन देकर तो प्राय सब का श्रीमहाप्रभु जी ने निस्तार किया था। नकुल ब्रह्मचारी जी के देह में एक बार श्रीमहाप्रभु आविष्ट होगये (जिन्हों ने उस समय नकुल ब्रह्मचारी जी के दर्शन किये, वे सब लोग निस्तार को प्राप्त होगये) तथा श्रीप्रद्युम्न-नृसिहानन्द के आगे प्रभु आविर्भूत हुए एवं अनेक जीवों का निस्तार कर दिया। (श्रीभगवान् इस प्रकार विविध उपायों से जीवों का क्यों निस्तार करते हैं ? —इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि) जीवों का निस्तार करना—यह ईश्वर—श्रीभगवान् का स्वभाव अर्थात् स्वरूप धर्म ही है ।।१-५।।

चै० च० चु० *टीका*:—श्रीभगवान् का स्वरूप धर्म है—जीवों का निस्तार करना। अर्थात् श्रीभगवान् जीवों का निस्तार किये बिना अवस्थान ही नहीं कर सकते क्यों कि स्वरूप धर्म को छोड़ कर किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं रह सकती। श्रीभगवान् तीन प्रकार से जीवों का निस्तार करते हैं-साक्षाद्दर्शन से, आवेश से, एवं आविर्भाव से। साक्षाद्दर्शन से तात्पर्य है कि जिन लोगों ने श्रीमन्महाप्रभु जी के साक्षात् दर्शन जाकर किये थे अथवा जहा-जहाँ प्रभु ने गमन किया वहां के जिन लोगों ने प्रभु के दर्शन प्राप्त किये, उन सब का निस्तार होगया। कारण कि श्रीभगवान् के दर्शन करने मात्र से ही जीव का माया वन्धन नाश हो जाता है, जैसा कि श्रीमद्भागवत जीं (१-३-२१) में कहा गया है—

भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ।।ङ।।

"श्रीभगवान् के दर्शन प्राप्त होने से हृदय की अविद्यादि ग्रन्थियां नष्ट हो जाती हैं, समस्त सन्देह—शंकाएं निरसन हो जाती हैं एवं समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है।"

आवेश—कोई उपर्युक्त भक्त जब श्रीभगवान् की इच्छा से श्रीभगवान् के भाव में आविष्ट होता है, तब उसे भगवान् का 'आवेश' कहते हैं। जैसे किसी पर भूत का आवेश होता है और वह अपने नाम-रूप-शरीर आदि सब कुछ के ज्ञान से रहित हो जाता है, तथा नाम-आदि पूछने पर वह व्यक्ति भूत का नाम, भूत का वासस्थान बोला करता है, उसी प्रकार भगवदावेश में भी आवेशित भक्त को अपने नाम रूपादि की कुछ भी स्मृति नहीं रहती। उसके शरीर का आश्रय लेकर श्रीभगवान् ही अपने उद्देश्य की सिद्धि किया करते हैं। आविष्ट भक्त का आचार-व्यवहार, कथा वार्त्ता, यहाँ तक कि शरीर का वर्ण सब कुछ भगवान् की भान्ति हो जाया करता है। उसमें भगवान् के धर्म सर्वज्ञतादि भी आ जाया करते हैं। श्रीमन्महाप्रभु जी इसी प्रकार एक बार श्रीनकुल-ब्रह्मचारी के देह में आविष्ट हो गये थे। उस समय जिन लोगों ने नकुल-ब्रह्मचारी के दर्शन किये, उन सब का भगवत् कृपा से उद्धार हो गया। (इसी परिच्छेद में यह कथा विस्तार पूर्वक आगे वर्णन की जाएंगी।) यह बात स्मरणीय है कि ऐसे वैसे हर एक जीव में श्रीभगवान् का आवेश नहीं होता है। शुद्ध सत्व के आविर्भाव से जिस भक्त का चित्त समुज्ज्वल हो जाता है, सम्भवः उसी भक्त में ही इस प्रकार का आवेश होता है।

आविर्भाव—किसी वाहन पर सवार होकर, अथवा पाँव से चल कर या अन्य किसी लौकिक उपाय के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर न जाकर हठात् जो आत्म-प्रकाश है अर्थात् अपने-आप वहीं का वहीं जो आत्म-प्रकट करना है, उसे 'आविर्भाव' कहते हैं। इस प्रकार का आविर्भाव एक मात्र सर्व व्यापी विभु वस्तु के पक्ष में ही सम्भव होता है। श्रीभगवान् विभु हैं, चाहे लोग साधारणतः उनका दर्शन नहीं कर सकते, यदि वे कृपा करें, तो जिस स्थान पर, जब भी जिस व्यक्ति को दर्शन देना चाहें—तभी, उसी स्थान पर, उसी व्यक्ति को वे दर्शन दे सकते हैं। इस भाव से आत्म-प्रकटन ही आविर्भाव है।

श्रीमन्महाप्रभु जी का श्रीनृसिंहानन्द-प्रद्युम्न के आगे इसी प्रकार आविर्भाव हुआ था, जिस का वर्णन आगे करेंगे।

प्रद्युम्न उनका नाम था, वे श्रीनृसिंह देव के उपासक थे। श्रीनृसिंह जी में उनकी अत्यन्त भक्ति देख कर श्रीमन्महाप्रभु जी उन्हें नृसिंहानन्द-प्रद्युम्न कहते थे।

श्रीभगवान् साक्षाद्दर्शन आदि से जीव का निस्तार करते हैं—इस में एक प्रश्न उठता है कि श्रीभगवान् तो अप्राकृत चिन्मय हैं और जीव प्राकृत वस्तु है एवं जीव के चक्षु आदि इन्द्रिय भी प्राकृत हैं। अप्राकृत वस्तु प्राकृत इन्द्रियों की विषयीभूत नहीं हो सकती, तब श्री भगवान् के सामने आने पर जीव कैसे तो उनके दर्शन कर सकता है और कैसे निस्तार को प्राप्त करता है ?—उत्तर—श्रीभगवान् का स्वभाव ही इस का एक मात्र कारण है। करुणा श्रीभगवान् का स्वरूप गत धर्म या स्वभाव है। इसी करुणावश जीव के निस्तार करने की इच्छा भी श्रीभगवान् का स्वरूप गत-धर्म या स्वभाव है। इसी स्वभाववश जब वे जीव के सामने आत्म प्रकट करते हैं, तब जीव जिससे उनके दर्शन कर सके—वे उसे उस प्रकार की शक्ति भी प्रदान करते हैं। वास्तव में उनकी शक्ति के बिना कोई भी उन के दर्शन नहीं प्राप्त कर सकता। श्रीमहाभारत–शान्ति पर्व (३३८-१६) में कहा गया है—

"यस्य प्रसादं कुरुते सः वै तं द्रष्टुमर्हति"

"जिस में भगवान् अपने देखने की शक्ति रूप कृपा सञ्चार करते हैं, केवल वह ही उनके दर्शन प्राप्त कर सकता है"।

एक प्रश्न और भी उठता है—लोक निस्तार यदि श्रीभगवान् का स्वभाव या स्वरूप-गत धर्म है, तो हर समय इस धर्म की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती ? हर समय वे लोक निस्तार क्यों नहीं करते ? इस का उत्तर यह है कि करुणा एवं करुणावशतः लोक-निस्तार की वासना श्रीभगवान् का स्वरूपगत धर्म है और उसकी नित्य ही अभिव्यक्ति है। किन्तु भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न उपायों से उनकी करुणामूलक जीव-निस्तार की वासना क्रिया करती है। बहिर्मुखतावशतः एवं माया में मदान्ध होने के कारण जीव के चित्त में अपने आप श्रीकृष्ण की स्मृति जाग्रत नहीं हो सकती। अतः जीव अपने आप श्रीभगवान् के प्रति उन्मुख नहीं हो सकता। इसलिये परम करुण श्रीभगवान् जीव के उद्धार के लिये वेद-पुराणादि शास्त्रों को प्रकट करते हैं, जिनका अध्ययन कर जीव अपनी दुर्दशा को जान सके एवं भगवत् भजन में प्रवृत्त हो सके। अप्रकट लीला काल में इस भाव से श्रीभगवान् की लोक-निस्तार की स्वाभाविकी वासना काम किया करती है।

वेद-शास्त्रादि से भी जब कुछ विशेष फल नहीं दीखता, तब युगावतारों के रूप में श्रीभगवान् जीव के सामने साक्षात् अवतीर्ण होते हैं एवं जीवों को अपनी ओर उन्मुख करने की चेष्टा करते हैं और ब्रह्मा के एक दिन में एक बार स्वयं रूप से भी अवतीर्ण होकर पात्र-अपात्र का कुछ भी विचार न करते हुए आपामर-साधारण का उद्धार कर लोक-निस्तार की वासना की पराकाष्ठा दिखाया करते हैं, इस तरह उनकी जीव निस्तार की स्वाभाविकी वासना प्रकट लीलाकाल में अभिव्यक्त रहती है।

यहाँ एक और भी प्रश्न हो सकता है—श्रीभगवान् में लोक-निस्तार की वासना का मूल जो करुणा है, वह यदि श्रीभगवान् का स्वरूपगत धर्म है, तो सर्व प्रथम उन्होंने जीव को माया के बन्धन में पड़ने ही क्यों दिया और मायिक जगत् की सृष्टि करके मायाबद्ध जीव की अत्यन्त दुर्गति का सामान ही क्यों किया ?—इस का उत्तर यह है कि श्रीभगवान् तो सदा मङ्गलमय हैं, वे जीव को माया के बन्धन में

गिरा कर कभी भी उसका अमङ्गल नहीं करते। जीव अपनी इच्छा से ही माया कवल में जा पड़ता है। वे जो मायिक जगत् की सृष्टि करते हैं, वह जीव को यातना भोग कराने या उसे दण्डित करने के लिये नहीं करते। उनकी लीला तो—**"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्"** इस सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित है। जीव अपनी इच्छा से अपने कर्म फलानुसार इस मायिक जगत् में आकर अशेष यातना भोग करता है। इस का दायित्व श्रीभगवान् पर नहीं है।

श्रीभगवान् परम स्वतन्त्र हैं। स्वतन्त्र भगवान् का अंश होने से जीव में अणु स्वातन्त्र्य है, क्योंकि किसी वस्तु का स्वरूपगत धर्म उसके क्षुद्रतम अंश में भी वर्त्तमान रहता है। शास्त्र कहता है, **"स्वकर्म फलभुक् पुमान्"**—जीव अपने किये कर्मों का फल भोगता है,इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जीव अपनी स्वतन्त्रता वश कुछ इच्छानुरूप कर्म या व्यवहार कर सकता है। अर्थात् जीव में अणुस्वातन्त्र्य है, उसका प्रयोग करते हुए अनादिकाल से कितने जीव तो श्रीकृष्ण की सेवा की इच्छा करते हैं और वे **'नित्यमुक्त-जीव'** कहलाते हैं और कितने अनादिकाल से माया की सेवा करने के इच्छुक बन कर माया को आत्म समर्पण कर देते हैं और **'मायाबद्ध-जीव'** कहलाते हैं। लीलावश श्रीभगवान् जब माया द्वारा जगत् को सृष्टि कहते हैं। तब वे वहिर्मुख मायावद्ध जीव भी माया के साथ मायिक प्रपञ्च में आ पड़ते हैं। क्योंकि उन्होंने माया को दृढ़ रूप से पकड़ रखा है। वे माया को कभी भी छोड़ सकते नहीं। जहाँ माया जाती है, वे भी वहीं माया के साथ-साथ लगे फिरते हैं। जिस मिट्टी से कुम्भकार घड़ा तैयार करता है, उस मिट्टी के साथ यदि एक कोई पत्थर का कण भी संलग्न हो जाए, तो वह भी मिट्टी के साथ-साथ कुम्भकार के चक्र पर घूमता है और घड़े के साथ-साथ अग्नि में जाकर पकता एवं जलता है। इस पत्थर के भ्रमण करने एवं जलने में कुम्भकार का क्या दायित्व है ?—कुछ भी नहीं। इस प्रकार मायावद्ध जीव भी माया उपाधि को अङ्गीकार कर मायिक जगत् में आकर माया चक्र में भ्रमण करता है एवं कभी स्वर्ग कभी नरक, अनेक प्रकार के दुःखों की यातना का भोग करता है। यह सब जीव के इच्छाकृत कर्म का फल है। जीव के अणुस्वातन्त्र्य के अपव्यवहार का फल है—अतः इसमें परम करुण श्रीभगवान् का कुछ भी दायित्व नहीं है।

यदि कोई पूछे—लीला सुख के लिये श्रीभगवान् जगत् की सृष्टि करते हैं और जीव कर्मफलानु-सार उस में पड़ कर नाना प्रकार दुःख-यातना भोग करते हैं—प्रकारान्तर में क्या इस में श्रीभगवान् की निष्ठुरता प्रकाशित नहीं होती है ? क्या उसके शिवत्व व करुणत्व की हानि नहीं होती है ?—इसका उत्तर यह है कि सृष्ट प्रपञ्च में पतित न होकर यदि जीव को बहिर्मुखता रूप दुख निवृत्ति की कोई सम्भावना रहे; या उस में पतित होने से ऐसी सम्भावना अर्थात् कृष्ण बहिर्मुखता की निवृति की सम्भावना नष्ट हो जाए तभी तो अवश्य यह कहा जा सकता है कि प्रपञ्च-सृष्टि के द्वारा जीव के प्रति श्रीभगवान् की निष्ठु-रता प्रकाशित होती है एवं उनके शिवत्व या करुणत्व की हानि होती है। किन्तु ऐसा कभी नहीं है—सृष्टि द्वारा जीव को बहिर्मुखता के नष्ट होने की पूर्ण सम्भावना है एवं सृष्टि के विना जीव की बहिर्मुखता दूरीभूत होने का और कोई उपाय नहीं है। कारण कि अपने अणु स्वातन्त्र्य के अपव्यवहार से अनादि-काल से बहिर्मुख जीव ने जो कर्म फल कमाया है, उसकी निवृत्ति के विना अन्तर्मुखीनता असम्भव है। फिर भोग किये बिना कर्म फल की भी निवृत्ति असम्भव है। कर्म फल को भोगने के लिये भोगायतन—शरीर का प्रयोजन है। सृष्टि से पहले जीव सूक्ष्मावस्था में कर्म फल को आश्रय करके कारण समुद्र में अवस्थान करते हैं, उस समय जीवों का भोगायतन नहीं रहता। इसलिये वहां कर्म फल का भोग नहीं किया जा सकता। भजन द्वारा भी कर्म फल निरसन हो सकता है, किन्तु जब जीव सूक्ष्मावस्था में कारण

समुद्र में रहता है तब उसका शरीर भजनोपयोगी नहीं रहता। जीव जब तक उपाधि को अङ्गीकार कर मायिक वस्तुओं के साथ प्राय तादात्म्य प्राप्त किये रहता है, तब तक उसके लिये चिन्मय देह की प्राप्ति भी असम्भव रहती है। अर्थात् माया का सम्बन्ध जब तक रहता है, तब तक कर्मबन्धन रहता है और तब तक चिन्मय देह की प्राप्ति भी असम्भव रहती है। बहिर्मुख जीव जब तक चिन्मय शरीर को प्राप्त नहीं कर पाता, तब तक उसे कर्म भोग के निमित्त अवश्य जड़ देह का आश्रय लेना पड़ता है। मायिक सृष्टि के बिना जीव के लिये जड़-देह की प्राप्ति असम्भव है और कर्म फलों का निरसन भी उसके लिये असम्भव है। प्राकृतिक सृष्टि होने पर ही जीव कर्मफल भोगायतन—देह को प्राप्त करते हैं एवं उसी देह के सहयोग से कर्मफल का भोग करते करते जब जीव को भजनोपयोगी मानुषदेह की प्राप्ति होती है, तभी कर्मफल भोग के साथ साथ श्रीकृष्ण भजन करने से उसकी अनादि वहिर्मुखता दूर हो सकती है एवं श्रीकृष्ण उन्मुखता उत्पन्न हो सकती है। अतः लीलापुरुषोत्तम की लीला वासना के फलस्वरूप जो जगत् प्रपञ्च की सृष्टि होती है वह उनके स्वरूपगत धर्म मङ्गलमयत्व व करुणत्व के कारण मायाबद्ध जीव के पक्ष में मायाबन्धन निवृत्ति एवं श्रीकृष्ण-उन्मुखता का सुयोग ही उयस्थित करती है।

यहाँ एक प्रश्न और उठता है—इस सब झंझटबाजी का आखिर प्रयोजन ही क्या था? मायिक जगत् में भोगायतन देह देना, फिर उसके द्वारा कर्मफल भोग कराना, फिर भजनोपयोगी देह देना, भजन कराकर जीव की बहिर्मुखता दूर करना इत्यादि इस झंझट में पड़ने का श्री भगवान् को क्या लाभ था? वे तो सवशक्तिमान हैं। फिर वे परम करुणामय हैं, इस पर भी उनमें जीव निस्तार की वासना उनका स्वरूपगत धर्म है। उन्हें जीव को मायिक सृष्ट जगत् में लाने की जरूरत ही क्या थी? कारण समुद्र में जब जीव अवस्थान करता था, उसी सूक्ष्मावस्था में ही उसको मायामुक्त कर देते एवं उसे अपने चरणों में ले सकते थे।

इसके समाधान में यह वक्तव्य है कि—परम स्वतन्त्र भगवान् का अंश होने से जीव में अणुस्वातन्त्र्य है, यह अणुस्वातन्त्र्य चाहे अति क्षुद्र है फिर भी इसकी स्वरूपगत शक्ति की नितान्त उपेक्षा नहीं की जा सकती। जब तक यह स्वातन्त्र्य रहेगा, तब तक इसकी गति भी अप्रतिहत रहेगी, कारण कि गतित्व ही स्वातन्त्र्य का स्वरूप है। जब तक जीव का अस्तित्व रहेगा तब तक उसका अणुस्वातन्त्र्य भी रहेगा। जीव नित्य है। अतः उसका अणुस्वातन्त्र्य भी नित्य है। जीव के इस अणुस्वातन्त्र्य को किसी समय भी कोई ध्वंस नहीं कर सकता। वोध होता है स्वयं भगवान् भी ऐसा नहीं कर सकते, कारण कि सर्वशक्तिमान होकर भी, नित्य वस्तु के स्वरूप को वे भी ध्वंस नहीं कर सकते। इससे उनके सर्वशक्तिमय की हानि कुछ नहीं है, जिस वस्तु का ध्वंस है ही नहीं, जो नित्य है, उसका ध्वंस न कर सकने में किसी की अक्षमता सूचित नहीं होती है। कोई यदि मनुष्य के सिर पर सींग नहीं देखता है, तो उसकी दृष्टिशक्ति का कोई दोष नहीं है, कारण कि जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसे न देख सकने में किसी की अक्षमता नहीं कही जा सकती। अतः जीव का अणुस्वातन्त्र्य जब नित्य है, वह नष्ट नहीं किया जा सकता। हाँ, श्रीभगवान् उसकी गति-परिवर्त्तन कर सकते हैं, क्योंकि जीव का अणुस्वातन्त्र्य उनके विभुस्वातन्त्र्य का अंश है। अतः वह उनके द्वारा नियम्य है। किन्तु यह गतिपरिवर्त्तन भी बलपूर्वक नहीं किया जा सकता। कारण कि बल प्रयोग स्वातन्त्र्य का विरोधी है। किसी कौशल से अणुस्वातन्त्र्य की गति बदली जा सकती है।

अनादिकाल से जीव ने अपने अणुस्वातन्त्र्य को बहिमुखी गति दे रखी है, श्रीकृष्ण को छोड़कर माया की ओर भाग रहा है। इस गति को परिवर्त्तन करने के लिये श्रीभगवान् यथेष्ट चेष्टा करते हैं—वेद-पुराणादि शास्त्रों का प्रणयन करके, युगावतारादिरूप से उपदेश देकर, स्वयं अवतीर्ण होकर उपदेश

देकर, भजन-शिक्षा देकर—इत्यादि अनेक प्रकार से श्रीभगवान् इस जीव के स्वातन्त्र्य की गति को अपनी ओर फिराने का यत्न करते हैं, किन्तु किसी प्रकार भी सार्वजनीय भाव से कुछ भी तो फल नहीं प्राप्त होता है। इसी से जान पड़ता है कि जीव का अणुस्वातन्त्र्य नितान्त क्षुद्र होते हुए भी इसकी शक्ति एकदम उपेक्षणीय नहीं है। बल प्रयोग से इसकी गति परिवर्तन करना असम्भव है। कौशल क्रम से यदि इस अणु स्वतन्त्र-जीव की इच्छा को नियन्त्रित किया जाए तभी इस के स्वातन्त्र्य की गति बदल सकती है, मायिक प्रपञ्च की सृष्टि उसी कौशल-क्रम का जाल-विस्तार है। सृष्टि से पूर्व जीव माया-उपाधि को अङ्गीकार करके मायिक सुख भोग के लिये लालायित हो उठता है, उसी सुख भोग के लिये अपने अणुस्वातन्त्र्य का उपयोग कर माया के पीछे भाग पड़ता है। विना कुछ भोग कराये जीव की बलवती लालसा के प्रशमित होने की सम्भावना नहीं हो सकती।

वन की हरी-हरी घास के पीछे जो गाय या पशु रस्सी के बन्धन को तोड़ कर घर से भाग निकलता है, उसके पीछे दौड़ने, ताड़ने या बल प्रयोग करने से उसको गति को रोका नहीं जा सकता; उसे यदि घर में वापस लाया जा सकता है तो कुछ हरी-हरी घास दिखा कर। जीव जो मायिक जगत् के सुख भोगों के लोभ में बहिर्मुख होकर माया के पीछे भाग रहा है; उसके आगे यदि चिन्मय जगत् के सुखों का चित्र भी उपस्थित किया जाए, तो भी वह उस में लुब्ध नहीं होता, कारण कि वे मायिक जगत् के सुखों को उसकी अपेक्षा मधुर तर मानता है। इस लिये श्रीभगवान् इस जीव को मायिक जगत् में ही सुख भोग के लिये छोड़ देते हैं। जीव जब मायिक जगत् में सुख का आस्वादन करता है, तब श्रीभगवान् वेद-शास्त्रादि द्वारा, युगावतारादि रूप से उपदेश द्वारा जीव को चिन्मय जगत् के सुखों की कथा-वार्ता की कुशलता द्वारा भगवत्-सेवा सुख की ओर लुब्ध कराते हैं। जो भाग्यवान् जीव हैं वे उपभुक्त मायिक सुख की अपेक्षा भगवत् सुख को अधिकतर मधुर जान कर अपने स्वातन्त्र्य की गति को श्रीकृष्ण-चरण-सेवा की ओर फिरा लेते हैं और धन्य-धन्य हो जाते हैं। जब इस रीति से भी कुछ विशेष सफलता नहीं मिलती, तब परम-करुण श्रीभगवान् स्वयं अवतीर्ण होकर अपनी असमोर्द्ध-माधुर्यमयी लीलाओं को प्रकट करते हैं जिन्हें साक्षात् देख कर अनेक भाग्यवान् जीव मायिक सुख को अत्यन्त तुच्छ जान कर श्रीभगवान् की चरण-सेवा के सुख में प्रलुब्ध हो जाते हैं एवं माया-बन्धन से रहित होकर श्रीकृष्णोन्मुख हो जाते हैं।—इस प्रकार कौशल (चतुराई) से परम करुणामय भगवान् माया-बद्ध जीवों का उद्धार करते हैं।—सृष्टि-लीला के बिना इस प्रकार का कौशल और कहीं भी प्रयोग नहीं किया जा सकता। अतः श्रीभगवान् जीव को पहले सृष्टि-लीला में प्रवेश कराते हैं, तभी उसी का वे क्रमशः उद्धार करते हैं—यही उनकी लीला का प्रयोजन है।

जीव के अणुस्वातन्त्र्य की प्रयोजनीयता की सार्थकता केवल इसी में ही है कि वह श्रीकृष्ण-चरण-सेवा के लिये, उनकी आनुगत्यमयी सेवा को प्राप्त करने के लिये ही अपने स्वरूपगत अणुस्वातन्त्र्य का प्रयोग करे। अन्यथा अपने अणु स्वातन्त्र्य का अपव्यवहार करने से जीव अशेष दुख-यातना का भोग ही करता रहता है।

साक्षाद्दर्शने सब जगत् तारिल। एक बार ये देखिल, से कृतार्थ हैल ॥६॥
गौड़देशेर भक्तगण प्रत्यब्द आसिया। पुन गौड़देशे याय प्रभुके मिलिया ॥७॥
आर नानादेशेर लोक आसि जगन्नाथ। चैतन्य चरण देखि हइल कृतार्थ ॥८॥
सप्तद्वीपेर लोक आर नवखण्डवासी। देव गन्धर्व किन्नर मनुष्यवेशे आसि ॥९॥

प्रभुके देखिया याय 'वैष्णव' हइया। 'कृष्ण'—कहि नाचे सभे प्रेमाविष्ट हैया ॥१०॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने साक्षात् दर्शन देकर तो सब जगत् का निस्तार किया। एक बार जिसने भी उनके दर्शन किये, वही कृतार्थ हो गया। गौड़देश के सब भक्त प्रतिवर्ष नीलाचल में आते थे और प्रभु के दर्शन कर वापस गौड़देश लौट जाते थे। और-और देशों के असंख्य लोग जो श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करने आते, वे भी श्रीचैतन्यदेव के चरण कमलों के दर्शन प्राप्त कर कृत कृत्य हो जाते। सातों द्वीपों एवं नवखण्डों के निवासी—क्या देवता, क्या गन्धर्व, क्या किन्नर, ये भी सब मनुष्य का वेश धारण कर श्रीगौरसुन्दर के आकर दर्शन करते एवं वैष्णव होकर "श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण' कह कर प्रेमावेश में नृत्य करने लगते ॥६—१०॥

एइमत त्रिजगत् दर्शने निस्तारि। ये केहो आसिते नारे अनेक संसारी ॥११॥
ता सभा तारिते प्रभु सेइ सब देशे। योग्य—भक्त—जीवदेहे करेन आवेशे ॥१२॥
सेइ जीवे निजशक्ति करेन प्रकाशे। ताहार दर्शने 'वैष्णव' हय सर्व देशे ॥१३॥
एइ मत आवेशे तारिल त्रिभुवन। गौड़े ऐछे आवेश, करि दिग्दरशन ॥१४॥

इसप्रकार श्रीगौरसुन्दर ने सबको साक्षाद् दर्शन देकर उनका निस्तार किया। अनेक संसारीजीव ऐसे भी थे जो उनके दर्शनों को आकर प्राप्त न कर सके, तो करुणा कर प्रभु उन सब के निस्तार केलिये उनके देशों में पधारे एवं किसी योग्य भक्त-जीव के देह में आविष्ट हो जाते और उनके शरीर में अपनी शक्ति को प्रकाशित करते। उसी आविष्ट जीव के दर्शन करते ही वहां के सब लोग वैष्णव होजाते। इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु जी ने आवेश से भी त्रिभुवन का निस्तार किया। गौड़देश में इस प्रकार के आवेश की लीला का यहां हम दिग्दर्शन कराते हैं ॥११-१४॥

आम्बुया मुलुके हय नकुल ब्रह्मचारी। परम वैष्णव तेंहो—बड़ अधिकारी ॥१५॥
गौड़देशेर लोक निस्तारिते मन हैल। नकुल—हृदये प्रभु आवेश करिल ॥१६॥
ग्रहग्रस्तप्राय नकुल प्रेमाविष्ट हञा। हासे कान्दे नाचे गाय उन्मत्त हइया ॥१७॥
अश्रु कम्प स्तम्भ स्वेद—सात्त्विकविकार। निरन्तर प्रेमे नृत्य सघन हुङ्कार ॥१८॥
तैछे गौर कान्ति तैछे सदा प्रेमावेश। ताहा देखिवारे आइसे सर्व गौड़देश ॥१९॥

वर्द्धमान जिला अन्तर्गत अम्बुया गांव में नकुल ब्रह्मचारी रहते थे, वह परम वैष्णव थे एवं भक्ति के उत्तम अधिकारी थे। श्रीमहाप्रभु जी का मन गौड़देश के लोगों के निस्तार के लिये जब उत्सुक हुआ, तो प्रभु उनके हृदय में जाकर आविष्ट होगये। जैसे लोग गृहादि में आविष्ट हो जाते हैं और उन्हें कुछ भी बाहर की सुधि नहीं रहती, उसप्रकार श्रीनकुल जी भगवत् प्रेम में निरन्तर आविष्ट होकर रहने लगे। कभी वे हँसते,कभी रोते, कभी उन्मत्त होकर नृत्य करने लगते। अश्रु, कम्प, स्तम्भ, स्वेदादि समस्त सात्विक विकार उनके शरीर में होने लगते। सघन हुङ्कार पूर्वक वे निरन्तर प्रेमावेश में नृत्य करते रहते। श्रीमन्महाप्रभु जी की भांति उनकी भी गौरकाँति होगई एवं प्रभु की भांति ही वे भी निरन्तर प्रेमावेश में रहते। उनके दर्शन करने के लिये समस्त गौड़देश उमड़ पड़ा ॥१२-१९॥

यारे देखे, तारे कहे—कह कृष्णनाम। ताहार दर्शने लोक हय प्रेमोद्दाम ॥२०॥

'चैतन्य-आवेश हय नकुलेर देहे'। शुनि शिवानन्द आइला करिया सन्देहे ॥२१॥
परीक्षा करिते तार यवे इच्छा हैल। बाहिरे रहिया तबे विचार करिल ॥२२॥
आपने आमाके बोलाय 'इहां आमि' जानि। आमार इष्टमन्त्र जानि कहेन आपनि॥२३॥
तबे जानि इंहाते हय चैतन्य-आवेश। एत चिन्ति शिवानन्द रहिला दूरदेश ॥२४॥

श्रीनकुल ब्रह्मचारी जिसे देखते, उसे श्रीकृष्णनाम बोलने को कहते। उनके दर्शन करते ही लोगों में प्रेम का उदय हो आता। नकुल के शरीर में श्रीचैतन्य का आवेश है—यह बात श्रीशिवानन्द ने भी सुनी वे सन्दिग्ध चित्त होकर उनको देखने आए। उनकी इच्छा हुई कि मैं नकुल-ब्रह्मचारी के आवेश की परीक्षा करके देखूँ। उनके निवास स्थान के बाहर खड़े होकर वे विचार करने लगे-"यदि नकुल जी मुझे अपने आप भीतर बुलावें और वें यह जानलें कि मैं यहां बाहर खड़ा हूँ (तब मैं उनके आवेश को सत्य मानूंगा) और यदि वे मेरे इष्ट मन्त्र को अपने आप बतादे तभी में मानूँगा कि नकुल जी में श्री चैतन्य का आवेश है"। ॥२०-२४॥

असंख्य लोकेर घटा—केहो आइसे याय। लोकेर संघट्ट केहो दर्शन न पाय ॥२५॥
आवेशे ब्रह्मचारी कहे—शिवानन्द आछे दूरे। जन दुइ चारि याह-बोलाह ताहारे॥२६॥
चारिदिगे धाय लोक 'शिवानन्द' बलि। शिवानन्द कोन्?तोमाय बोलाय ब्रह्मचारी॥२७॥
शुनि शिवानन्दसेन आनन्दे आइला। नमस्कार करि तांर निकटे वसिला ॥२८॥
ब्रह्मचारी बोले—"तुमि ये कैले संशय। एकमन हञा शुन ताहार निश्चय ॥२९॥
गौरगोपाल मन्त्र तोमार चारि-अक्षर। अविश्वास छाड़ येइ करियाछ अन्तर" ॥३०॥
तबे शिवानन्दसेन प्रतीत हइल। अनेक सम्मान भक्ति तांहारे करिल ॥३१॥

उस समय असंख्य लोग श्रीनकुल ब्रह्मचारी के निवास स्थान पर जमा थे, कोई आरहा था, कोई जा रहा था, इतनी भीड़ थी कि ब्रह्मचारी जी का दर्शन करना भी दुर्लभ होरहा था। उसी समय आवेश में आकर ब्रह्मचारी जी कहने लगे—"देखिये! शिवानन्दसेन दूर वाहर खड़े हैं दो-चार व्यक्ति जाकर उन्हें बुला लाइये"। उनके वचन सुनकर चारों ओर लोग वाहर उनको बुलाने लगे कि शिवानन्द कौन हैं? शिवानन्द किस का नाम है? उसे ब्रह्मचारीजी भीतर बुला रहे हैं। लोगों के मुख से यह सुनकर श्रीशिवानन्द जी को वहुत आनन्द हुआ एवं उन्होंने निकट आकर ब्रह्मचारी जी को नमस्कार की एवं उनके पास बैठ गये। श्रीब्रह्मचारीजी ने कहा—"शिवानन्द! तुम्हारे मन में जो संशय हैं उसका समाधान दत्त चित्त होकर सुनो। तुम्हारा इष्ट मन्त्र चार-अक्षर गौर गोपाल मन्त्र है। (क्लीं कृष्ण क्लीं—यह गौर गौपाल मन्त्र है। प्रकटलीला में श्रीकृष्ण एक स्थान की योगपीठ पर विराज मान थे। इस योगपीठ की स्वर्ण वर्ण कमलों की ज्योति जब श्रीकृष्ण-अङ्गों पर पड़ी तो उनका गौरवर्ण दीखने लगा था—इस स्वरूप को यहां गौर गोपाल कहा गया है) तुम्हारे भीतर जो अविश्वास है, उसका त्याग करदो।" श्रीब्रह्मचारी जी के बचन सुनकर श्रीशिवानन्द जी का संशय नाश होगया और वे अनेक सम्मान पूर्वक श्रीब्रह्मचारी जी की सेवा करने लगे ॥२५-३१॥

एइमत महाप्रभुर अचिन्त्य प्रभाव। एवे शुन प्रभुर यैछे हय 'आविर्भाव' ॥३२॥
शचीर मन्दिरे आर नित्यानन्द-नर्त्तने। श्रीवास कीर्त्तने आर राघव भवने ॥३३॥

एइ चारि ठाञि प्रभुर सतत आविर्भाव । 'प्रेमाकृष्ट हये' प्रभुर सहज स्वभाव ॥३४॥
नृसिंहानन्देर आगे आविर्भूत हञा । भोजन करिल ताहा शुन मन दिया ॥३५॥

इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु जी का अचिन्त्य प्रभाव—महिमा है। अब श्रीमहाप्रभु के आविर्भाव का प्रसङ्ग सुनिये। माता शची के मन्दिर में, श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु के नृत्य में, एवं श्रीवास के कीर्त्तन में तथा श्रीराघव के भवन में—इन चार स्थानों पर श्रीमहाप्रभु जी का सतत अर्थात् नित्य-आविर्भाव रहता है। कारण यह है कि श्रीमहाप्रभु जी प्रेम में आकृष्ट हो जाते हैं—यह उनका सहज स्वभाव है। श्रीनृसिंहानन्द के आगे भी श्रीमन्महाप्रभु जी आविर्भूत हुए एवं उन्होंने भोजन किया इस कथा को मन देकर सुनिये ॥ ३२-३५॥

चौ० च० चु० टीका:—आविर्भाव दो प्रकार का है, एक **नित्य आविर्भाव**, दूसरा—**सामयिक-आविर्भाव**। श्रीशची माता के मन्दिर में, श्रीनित्यानन्दप्रभु के नृत्य में, श्रीवास के कीर्त्तन में एवं श्रीराघव के घर पर श्रीमहाप्रभु जी का **नित्य-आविर्भाव** है। स्थल विशेष पर प्रेम की प्रबलता के कारण जो प्रभु का आविर्भाव होता है, उसे **सामयिक-आविर्भाव** कहते हैं। श्रीनृसिंहानन्द के आगे जो प्रभु के आविर्भाव का प्रसङ्ग वर्णन करने लगे हैं वह प्रभु का सामयिक आविर्भाव है। वह प्रसङ्ग इस प्रकार है—

शिवानन्देर भागिना—श्रीकान्तसेन नाम । प्रभुर कृपाते तेहों बड़ भाग्यवान् ॥३६॥
एक वत्सर तेंहो प्रथमेइ एकेश्वर । प्रभु देखिवारे आइला उत्कण्ठा अन्तर ॥३७॥
महाप्रभु देखि तारे बहु कृपा कैला । मासदुइ महाप्रभुर निकटे रहिला ॥३८॥
तबे प्रभु तारे आज्ञा दिल गौड़ याइते । 'भक्तगणे निषेधिह एथा के आसिते' ॥३९॥
ए वत्सर ताहां आमि याइव आपने । ताहांइ मिलिव सब अद्वैतादि-सने ॥४०॥

श्रीशिवानन्द सेन का एक भांजा था, जिसका नाम श्रीकान्तसेन था। वह श्रीमहाप्रभु जी की कृपा का पात्र होने से महाभाग्यवान् था। एक वर्ष वह अकेला ही मन में बहुत उत्कण्ठित होकर श्रीमहाप्रभु जी के दर्शनों के लिये नीलाचल गया। श्रीमहाप्रभु जी ने उसके प्रेम को देख कर उस पर बहुत कृपा की। श्रीकान्त श्रीमहाप्रभु के पास दो मास तक रहे, फिर श्रीमहाप्रभु ने उन्हें गौड़ देश जाने की आज्ञा की और उन से कहा कि वह जाकर गौड़ीय भक्तों को यहाँ नीलाचल में आने के लिये मना करें। श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"श्रीकान्त ! इस वर्ष मैं ही वहां गौड़ देश जाऊँगा, श्रीअद्वैताचार्य आदि सब भक्तों से वहाँ ही मेरा मिलन होगा।" ॥३६-४०॥

शिवानन्दे कहिय, आमि एइ पौषमासे । आचम्बिते अवश्य याइव तांहार आवासे ॥४१॥
जगदानन्द हय ताहां, तेंहो भिक्षा दिवे । सभाके कहिय—ए-वर्ष केहो ना आसिवे ॥४२॥
श्रीकान्त आसिया गौड़े सन्देश कहिल । शुनि भक्तगण-मने आनन्द हइल ॥४३॥
चलितेछिला आचार्यगोसाञि रहिलास्थिर हञा। शिवानन्द जगदानन्द रहेप्रत्याशा करिया४४

श्रीमहाप्रभु जी ने आगे कहा—"श्रीकान्त ! अपने मामा शिवानन्द से जाकर कहना कि मैं इसी पौषमास में उनके घर हठात् अवश्य आऊँगा और जगदानन्द रसोई करके मुझे भिक्षा कराएगा। सब से तुम श्रीकान्त ! जाकर कहना इस वर्ष कोई भी नीलाचल नहीं आवे।" (श्रीमन्महाप्रभु जी ने गौड़देश

जाने की बात तो कही, किन्तु आप गये नहीं थे। केवल आविर्भाव से वहां गये, लौकिक रीतिसे नहीं गये) श्रीकान्त श्रीमहाप्रभु जी से विदा होकर गौड़देश में आए एवं सब को प्रभु का सन्देश कह सुनाया। प्रभु के सन्देश को सुनकर सब भक्तों को आनन्द हुआ। श्रीआचार्य गोस्वामी नीलाचल जाने को तैयार थे, उन्हों ने भी प्रभु का सन्देश सुनकर अपनी यात्रा स्थगित करदी। श्रीशिवानन्द एवं श्रीजगदानन्द प्रभु के दर्शनों की आशा कर उनकी इन्तज़ार करने लगे ॥४१-४४॥

पौषमास आइले दोंहे सामग्री करिया। सन्ध्या पर्यन्त रहे अपेक्षा करिया ॥४५॥
एइमत मास गेल, गोसाञि न आइला। जगदानन्द शिवानन्द दुखी बड़ हैला ॥४६॥
आचम्बिते नृसिंहानन्द ताहांइ आइला। दोंहे तारे मिलि तबे स्थाने वसाइला ॥४७॥
दोंहे दुखी देखि तबे कहे नृसिंहानन्द। तोमा दोंहाकारे केने देखि निरानन्द ॥४८॥
तबे शिवानन्द तांरे सकल कहिला। 'आसिव' आज्ञा दिला प्रभु केने न आइला ॥४९॥

इधर पौष मास आ गया, श्रीशिवानन्द एवं श्रीजगदानन्द जी दोनों प्रति दिन श्रीमहाप्रभु जी के लिये सामग्री (रसोई) तैयार करके उनकी प्रतीक्षा में बैठ जाते। सन्ध्या पर्यन्त बैठे रहते किन्तु श्रीमहाप्रभु न पधारते एवं वे निराश हो जाते। इस प्रकार प्रायः सारा पौष मास बीत गया (दो-तीन दिन बाकी रह गये) श्रीमहाप्रभु जी वहाँ न आए। श्रीशिवानन्द एवं श्रीजगदानन्द बड़े दुखी हुए। अकस्मात् उनके निवास स्थान पर श्रीनृसिंहानन्द आ पहुँचे। दोनों ने उन्हें मिल कर आसनादि दिया। दोनों को दुखी देख कर श्रीनृसिंहानन्द जी कहने लगे—"मैं आप दोनों को बहुत उदास देख रहा हूँ— इसका क्या कारण है" ? तब श्रीशिवानन्द ने उन्हें सब बात कह सुनाई कि प्रभु ने सन्देश भेजा था कि वे पौष मास में उनके घर आवेंगे किन्तु वे अभी तक नहीं आए हैं, न जाने वे क्यों नहीं पधारे" ? ४५-४९॥

शुनि ब्रह्मचारी कहे--करह सन्तोषे। आमि त आनिव तांरे तृतीय दिवसे ॥५०॥
तांहार प्रभाव प्रेम जाने दुइ जन। 'आनिव प्रभुरे एहों'—निश्चय कैल मन ॥५१॥
प्रद्युम्न ब्रह्मचारी--तांर निज नाम। 'नृसिंहानन्द' नाम तांर कैल गौरधाम ॥५२॥
दुइ दिन ध्यान करि शिवानन्देरे कहिल। पानीहाटिग्रामे आमि प्रभुरे आनिल ॥५३॥
कालि मध्याह्ने तेहों आसिवेन मोर घरे। पाक सामग्री आन,आमि भिक्षा दिवे तारे॥५४॥
तबे तांरे एथा आमि आनिव सत्वर। निश्चय कहिल, किछु सन्देह न कर ॥५५॥

श्रीशिवानन्द जी के वचन सुन कर श्रीब्रह्मचारी जी ने कहा—"आप दोनों सन्तोष करिये। मैं उनको आपके घर तीसरे दिन लेकर आऊँगा।" श्रीनृसिंहानन्द जी के प्रभाव एवं प्रेम को श्रीशिवानन्द एवं श्रीजगदानन्द अच्छी प्रकार जानते थे--उन्होंने मन में निश्चय कर लिया कि श्रीब्रह्मचारी जी अवश्य उन्हें ले आवेंगे। वास्तव में इनका नाम श्रीप्रद्युम्न-ब्रह्मचारी था, श्रीमहाप्रभु जी ने इनका नाम श्रीनृसिंह ब्रह्मचारी रखा था। श्रीब्रह्मचारी ने दो दिन ध्यानस्थित रह कर श्रीशिवानन्द जी को बताया कि "मैं श्रीमहाप्रभु जी को पानीहाटि गाँव तक ले आया हूँ, कल मध्याह्न तक वे मेरे घर आ पहुँचेंगे। आप लोग रसोई की सामग्री सब इकट्ठी कर लीजिये मैं तो उन्हें भिक्षा कराउंगा। उसके बाद मैं ही उनको यहाँ आपके घर ले आऊँगा।"—यह बात निश्चित है, इस में सन्देह नहीं करना" ॥५०-५५॥

ये चाहिये, ताहार कर हइया तत्पर। अति त्वराय करिब पाक शुन अतः पर ॥५६॥

पाक सामग्री आर—आमि ये-ये चाइ। ये मागिल शिवानन्द आनि दिल ताइ ॥५७॥
प्रातःकाल हैते पाक करिल अपार। नाना व्यञ्जन पिठा क्षीर नाना उपहार ॥५८॥
जगन्नाथेर भिन्न भोग पृथक् बाढ़िल। चैतन्य प्रभुर लागि आर भोग कैल ॥५९॥
इष्टदेव नृसिंह—लागि पृथक् बाढ़िल। तिन जने समर्पिया बाहिरे ध्यान कैल ॥६०॥

दूसरे दिन श्रीनृसिंहानन्द आकर श्रीशिवानन्द जी से बोले—"शिवानन्द ! मैं जैसे कहूं, तुम वैसे अति शीघ्र करो। सुनो, मैं अति शीघ्र रसोई तैयार करता हूं। मैं जो कुछ चांहू, तुम सब सामान रसोई का लाकर दो"। श्रीशिवानन्द जी ने सब सामग्री श्रीब्रह्मचारी जी के आगे लाकर रखदी, श्रीनृसिंहानन्द जी प्रातः काल से ही अपार रसोई तयार करने लगे। पीठी, क्षीर आदि के नाना प्रकार के उपहार उन्होंने तैयार किये। रसोई तैयार होजाने पर उन्हों ने एक स्थान पर श्रीजगन्नाथजी के लिये पृथक् भोग सजाया, दूसरे स्थान पर श्रीचैतन्यदेव के लिये भोग रखा एवं अपने इष्टदेव के लिये तीसरे स्थान पर पृथक् भोग सजाया। तीनों भगवत्स्वरूपों के लिये भोग सामग्री अर्पण कर श्रीनृसिंहानन्द बाहर आगये एवं प्रभु का ध्यान करने लगे ॥५६ ६०॥

देखि, आसि शीघ्र वसिला चैतन्य गोसाञि। तिन भोग खाइल, किछु अवशिष्ट नाइ ॥६१॥
आनन्दे विह्वल, प्रद्युम्न, पड़े अश्रुधार। 'हा हा कि कर, कि कर' बलि करये फुत्कार ॥६२॥
जगन्नाथे तोमाय ऐक्य, खाओ तांर भोग। नृसिंहेर भोग केने कर उपयोग ॥६३॥
नृसिंहेर हैल जानि आजि उपवास। ठाकुर उपवासी रहे, जीये कैछे दास ? ॥६४॥
भोजन देखिया यद्यपि तांर हृदये उल्लास। नृसिंहे लक्ष्य करि करे बाहिरे दुखाभास ॥६५॥

इतने में श्रीनृसिंह ब्रह्मचारी क्या देखते हैं कि श्रीचैतन्यदेव झट आकर विराजमान होगये एवं तीनों भोगों को ही वे पागये. कुछ बाकी नहीं छोड़ा। इस आनन्द को देखकर श्रीनृसिंहानन्द विह्वल हो उठे एवं उनके नेत्रों से अश्रुओं की धारा प्रवाहित होने लगी। वे कहने लगे—"हाय-हाय, यह क्या कररहे हो, यह क्या कर रहे हो ? ऐसे कहकर वे फटकारने लगे—"हे चैतन्य ! श्रीजगन्नाथ जी के साथ तो तुम्हारा कोई भेद नहीं है, उनका भोग भले ही आप खालो, किन्तु मेरे इष्टदेव श्रीनृसिंह तो आज उपवासी ही रह गये। मेरे इष्टदेव—ठाकुर यदि आज उपवासी रहेंगे तो मैं उनका दास कैसे जीवन धारण करूंगा ?" श्रीमहाप्रभु की इस भोजन-लीला को देखकर यद्यपि श्रीनृसिंहानन्द जी को हृदय में अतीव हर्ष होरहा था, तथापि श्रीनृसिंहदेव को लक्ष्य करके वे बाहरी इस दुखाभास को प्रगट कर रहे थे। ॥६१-६५॥

'स्वयं भगवान् कृष्ण'—चैतन्यगोसाञि। जगन्नाथ नृसिंह-सह किछु भेद नाइ ॥६६॥
इहा जानिबारे प्रद्युम्नेर गूढ़ हैत मन। ताहा देखाइल प्रभु करिया भोजन ॥६७॥
भोजन करिया प्रभु गेला पानीहाटि। सन्तोष पाइल देखि व्यञ्जन-परिपाटी ॥६८॥
शिवानन्द कहे—केने करह फुत्कार। तेंहो कहे—देख तोमार प्रभुर व्यवहार ॥६९॥
तिनजनार भोग तेंहो एकला खाइल। जगन्नाथ नृसिंहेर उपवास हैल ॥७०॥

श्रीचैतन्यदेव स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं एवं श्रीजगन्नाथ जी एवं श्रीनृसिंहदेव के साथ इन का कुछ भेद नहीं है—(चाहे यह बात श्रीनृसिंहानन्द ब्रह्मचारी जानते थे फिर भी) इस तत्त्व को

निश्चितरूप से जानने की गूढ़ वासना उनके मन में थी। इसी बात को दिखाने के लिये श्री मन्महाप्रभु जी ने तीनों भोगों को आरोग लिया था। भोजन करने के पश्चात् श्रीमहाप्रभु जी पानीहाटि गांव में लौट गये एवं व्यञ्जनों की परिपाटी अर्थात् रसोई की कुशलता देखकर प्रभु बहुत सन्तुष्ट हुए। श्रीनृसिंहानन्द जी को फुत्कार करते हुए देखकर श्रीशिवानन्द पूछने लगे—"ब्रह्मचारी जी! (आप भगवान् का भोग लगा रहे हैं या कुछ और कर कहे हैं?) आप फुत्कार किसे रहे हो? श्रीब्रह्मचारी बोले—" शिवानन्द! अपने प्रभु श्रीचैतन्यदेव का व्यवहार तो देखो। तीनों भोगों को अकेले ही खाये जारहे हैं, आज श्रीजगन्नाथ जी तथा मेरे इष्टदेव श्रीनृसिंहदेव का तो उपवास ही रहा।"॥६६—७०॥

शुनि शिवानन्द चित्ते हइल संशय। किवा प्रेमावेशे कहे, किवा सत्य हय ॥७१॥
तबे शिवानन्दे पुन कहे ब्रह्मचारी। सामग्री आन नृसिंह-लागि पुन पाक करि ॥७२॥
तबे शिवानन्द भोग सामग्री आनिल। पाक करि नृसिंहेर भोग लागाइल ॥७३॥
वर्षान्तरे शिवानन्द लञा भक्तगण। नीलाचले गिया देखिल प्रभुर चरण ॥७४॥
एक दिन सभाते प्रभु बात चालाइला। नृसिंहानन्देर गुण कहिते लागिला ॥७५॥
गतवर्षे पौषे आमा कराइल भोजन। कभु नाहि खाइ ऐछे मिष्टान्न व्यञ्जन ॥७६॥
शुनि भक्तगण मने आश्चर्य हइल। शिवानन्देर मने तबे प्रतीति जन्मिल ॥७७॥

यह बात सुनकर श्रीशिवानन्द को चित्त में सन्देह हुआ कि ब्रह्मचारी जी यह बात प्रेमावेश में ही कह रहे हैं अथवा सत्य कह रहे हैं? तब ब्रह्मचारी जी ने श्रीशिवानन्द जी से कहा—"आप और सामग्री लाइये जिससे मैं श्रीनृसिंहदेव के लिये दुबारा रसोई करूँगा।" श्रीशिवानन्द जी और सामग्री ले आए एवं श्रीब्रह्मचारी जी ने श्रीनृसिंहदेव को भोग लगाया। एक वर्ष के बाद श्रीशिवानन्द जी गौड़ीय भक्तों को साथ लेकर नीलाचल में गये एवं जाकर श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन किये। एक दिन श्रीमहाप्रभु जी ने सभा में कुछ बात चलाई एवं श्रीनृसिंहानन्द ब्रह्मचारी के गुण बखान करने लगे और कहने लगे—"गत वर्ष पौष मास में जो नृसिंहानन्द ने मुझे भोजन कराया, मैंने वैसे मिष्टान्न एवं व्यञ्जन कभी नहीं खाये हैं।" प्रभु की यह बात सुन कर सब भक्तों को आश्चर्य हुआ, कि प्रभु गत वर्ष तो नीलाचल से कहीं बाहर गये ही नहीं—ये क्या कह रहे हैं? किन्तु श्रीशिवानन्द जी के मन में जो सन्देह था, वह नष्ट हो गया॥७१-७७॥

एइमत शचीगृहे सतत भोजन। श्रीवासेर गृहे करेन कीर्त्तन-दर्शन ॥७८॥
नित्यानन्देर नृत्य देखे आसि बारे बारे। निरन्तर आविर्भाव राघवेर घरे ॥७९॥
प्रेमवश गौर प्रभु याहां प्रेमोत्तम। प्रेमवश हइ ताहां देन दरशन ॥८०॥
शिवानन्देर प्रेम सीमा के कहिते पारे। यार प्रेमे वश गौर आइसे बारे बारे ॥८१॥
एइ त कहिल गौरेर आविर्भाव। इंहा येइ शुने, जाने चैतन्य प्रभाव ॥८२॥

इसी प्रकार आविर्भूत होकर श्रीमन्महाप्रभु निरन्तर श्रीशची माता के घर भोजन करते हैं एवं श्रीवास जी के घर कीर्त्तन-दर्शन करते हैं और श्रीनित्यानन्द प्रभु के नृत्य को तो बार-बार देखने आते हैं। उनका श्रीराघव के घर में भी बार-बार आविर्भाव होता है। श्रीगौराङ्ग प्रभु प्रेम के वशीभूत हैं, जहाँ भी

उनका उत्तम प्रेम है, उसी के वशीभूत होकर वे उसे वहीं दर्शन देते हैं। श्रीशिवानन्द जी के प्रेम की महिमा का कौन वर्णन कर सकता है ? जिनके वशीभूत होकर श्रीगौरसुन्दर बार बार उन्हें दर्शन देते हैं। इस प्रकार श्रीगौर सुन्दर के आविर्भाव का प्रसङ्ग वर्णन किया है, जो भी इस प्रसङ्ग को सुनेगा, वह श्रीचैतन्यदेव की महिमा जान सकेगा ।। ७८—८२ ।।

पुरुषोत्तमे प्रभुपाशे भगवान् आचार्य। परम वैष्णव तेंहो पण्डित अति आर्य ।।८३।।

सख्यभावाक्रान्तचित्त गोप-अवतार। स्वरूप गोसाञि सह सख्य व्यवहार ।।८४।।

एकान्त भावे आश्रयाछे चैतन्यचरण। मध्ये मध्ये प्रभुके तेंहो करे निमन्त्रण ।।८५।।

घरे भात करि करे विविध व्यञ्जन। एकले प्रभुके लञा करान भोजन ।।८६।।

तांर पिता, विषयी बड़—शतानन्दखान। विषय विमुख आचार्य—वैराग्य प्रधान ।।८७।।

(अब एक और प्रसङ्ग सुनिये—)नीलाचल में श्रीमहाप्रभुजी के पास एक परम वैष्णव श्रीभगवानाचार्य रहते थे, जो बहुत शास्त्रज्ञ एवं अति सरल थे। वे श्रीकृष्ण के एक गोप का अवतार थे। उनके चित्त में श्रीभगवान् का सख्य भाव था। श्रीस्वरूपगोस्वामी जी के साथ भी उनका सखा भाव था। वे श्रीमहाप्रभुजी में एकान्त-निष्ठा के भक्त थे। कभी कभी वे प्रभु को अपने घर निमन्त्रण भी करते थे। अपने घर में अनेक प्रकार के व्यञ्जन तैयार करते एवं अकेले श्रीमहाप्रभु जी को ले जाकर भोजन कराते। घर में उनके पिता भी विद्यमान थे, जिनका नाम था शतानन्दखान एवं जो बड़े भारी विषयासक्त थे। किन्तु श्रीभगवानाचार्य जी विषयों के विमुख परम वैराग्यवान थे। ।। ८३-८७ ।।

गोपाल भट्टाचार्य नाम—तांर छोट भाइ। काशीते वेदान्त पढ़ि गेला तांर ठाञि ।।८८।।

आचार्य तांहारे प्रभुपाशे मिलाइला। अन्तर्यामी प्रभु मने सुख ना पाइला ।।८९।।

आचार्य सम्बन्धे बाह्ये करे प्रीत्याभास। कृष्णभक्ति विनु प्रभुर ना हय उल्लास ।।९०।।

स्वरूपगोसाञिरे आचार्य कहे आर दिने। वेदान्त पढ़ि गोपाल आसिछे एखाने ।।९१।।

सभे मिलि आइस शुनि भाष्य इहार स्थाने। प्रेमक्रोधे स्वरूप तांरे बोलये वचने ।।९२।।

श्रीभगवान् आचार्य के एक छोटे भाई थे, उनका नाम था—श्रीगोपाल भट्टाचार्य। वे काशी से वेदान्त का शङ्करभाष्य पढ़कर अपने भाई के पास आए। श्रीभगवानाचार्य उन्हें श्रीमहाप्रभु जी के पास ले गये। वे श्रीमहाप्रभु तो अन्तर्यामी हैं, वे जान गये कि वह शङ्कर भाष्य पढ़कर आया है, अत: उन्हें देखकर प्रभु का मन प्रसन्न न हुआ। क्योंकि वे श्रीभगवानाचार्य के छोटे भाई थे, इसलिये प्रभु ने कुछ बाहरी प्रीति का तो आभास, अवश्यप्रकट किया, कारण कि श्रीमहाप्रभुजी को, जहाँ श्रीकृष्ण-भक्ति नहीं है, वहां आनन्द नहीं मिलता है। दूसरे दिन श्रीभगवानाचार्य ने श्रीस्वरूप गोस्वामीजी से कहा—"मेरा छोटा भाई गोपाल काशी से वेदान्त पढ़कर यहाँ आया है, आप सब मिलकर थोड़ा उससे शंकर-भाष्य तो सुनिये।" श्रीभगवानाचार्य के वचन सुनकर श्रीस्वरूप गोस्वामी प्रेमजनित क्रोध करते हुए कहने लगे—

बुद्धि भ्रष्ट हैल तोमार गोपालेर सङ्गे। मायावाद शुनिवारे उपजिल रङ्गे ।।९३।।

वैष्णव हइया ये शारीरक भाष्य शुने। सेव्य-सेवक—भाव छाड़ि आपनाके 'ईश्वर' माने ।।९४।।

महाभागवत येइ-कृष्ण प्राणधन यांर। मायावाद शुनिले मन अवश्य फिरे तार ।।९५।।

आचार्य कहे—आमासभार कृष्णनिष्ठ चित्ते। आमासभार मन भाष्य नारे फिराइते ॥९६॥
स्वरूप कहे—तथापि मायावाद श्रवणे। चिद्‌ब्रह्म, माया मिथ्या, एइमात्र शुने ॥९७॥
जीवाज्ञान कल्पित ईश्वर-सकलि अज्ञान। याहार श्रवणे भक्तेर फाटे मन कान ॥९८॥
लज्जा-भय पाञा आचार्य मौन करिला। आर दिन गोपालेरे देशे पाठाइला ॥९९॥

श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने कहा—"भगवानाचार्य! गोपाल का सङ्ग पाकर तुम्हारी बुद्धि भी भ्रष्ट होगई दीखती है, तभी तुम मायावाद को सुनना चाहते हो। वैष्णव होकर जो प्राकृत भाष्य सुनता है, वह सेव्यसेवक भाव त्याग कर अपने को ईश्वर मानने लगता है। जो महाभागवत हैं, जिनके श्रीकृष्ण ही प्राणधन हैं; मायावाद सुनने से उनके मन में भी अवश्य विपरीत भाव की उत्पत्ति होने लगती है।" श्रीभगवानाचार्य ने कहा—"हम सबका चित्त तो श्रीकृष्ण निष्ठायुक्त हो चुका है। मायावाद हमारे मन विचलित नहीं कर सकता है।" श्रीस्वरूप गोस्वामीजी ने कहा—आचार्य तुम्हारी बात सत्य है कि मायावाद कृष्णनिष्ठायुक्त चित्त को विचलित नहीं कर सकता। फिर भी मायावाद सुनने से लाभ ही क्या है? उसके सुनने में वृथा समय ही नष्ट करना है और उसके सुनने में एक बार भी तो श्रीकृष्ण नाम सुनने को नहीं मिलता केवल 'चित, ब्रह्म, माया, मिथ्या' यही तो शब्द सुनने को मिलते हैं। "जीव ने अज्ञानवश ईश्वर की कल्पना करली है। जो भगवान् के साकार-सगुण सच्चिदानन्द स्वरूप की कल्पना करते हैं—वे सब अज्ञानी हैं—" यही तो शङ्कर भाष्य का मत है—"इस बात के सुनने से तो कृष्ण-भक्तों का मन एवं कान फटने लगते हैं।" श्रीस्वरूप गोस्वामी जी के वचन सुनकर श्रीभगवानाचार्य लज्जित एवं भयभीत होकर चुप हो गये, (शङ्करभाष्य सुनने का अनुरोध किया था—इस बात से वे लज्जित हुए एवं गोपाल श्रीमहाप्रभु जी को प्रीति से कहीं वञ्चित न रह जाए—इसे सोचकर वे भयभीत हो गये।) उन्होंने गोपालाचार्य को दूसरे दिन नीलाचल से अपने देश को भेज दिया ॥ ९३-९९ ॥

एक दिन आचार्य प्रभुके कैल निमन्त्रण। घरे भात करि करे विविध व्यञ्जन ॥१००॥
छोट हरिदास-नाम प्रभुर कीर्त्तनीया। ताहारे कहेन आचार्य डाकिया आनिया ॥१०१॥
मोर नामे शिखिमाहितीर भग्नीस्थाने गिया। ओराइया चालु एक मान आनह मागिया॥१०२॥
माहितीर भगिनी सेइ—नाम माधवी देवी। वृद्धा तपस्विनी आरे परम वैष्णवी ॥१०३॥
प्रभु लेखा करे—राधा ठाकुराणीर गण। जगतेर मध्ये पात्र सार्द्ध तिनजन ॥१०४॥
स्वरूपगोसाञि, रायरामानन्द। शिखिमाहिती, आर तांर भग्नी अर्द्धजन ॥१०५॥
तांर ठाञि तण्डुल मागि आनिल हरिदास। तण्डुल देखि आचार्येर हइल उल्लास ॥१०६॥

एक दिन श्रीभगवानाचार्य ने श्रीमहाप्रभु जी को निमन्त्रण दिया एवं घर में भातादि अनेक प्रकार के व्यंजन करने का विचार किया। छोटा हरिदास-नामक श्रीमहाप्रभु जी का एक कीर्त्तनीया था, उसे बुलाकर श्री भगवानाचार्य ने कहा—"हरिदास! तुम शिखिमाहिती की बहन के घर चले जाओ और मेरी ओर से उससे एक मान (एक सेर से कुछ अधिक) ओरा-नाम के चावल माँग लाओ।" शिखिमाहिती की बहन का नाम था—माधवीदेवी जो वयस में वृद्धा थी एवं बड़ी तपस्विनी व परम वैष्णवी थी। श्रीमहाप्रभु जी भी गिनकर बताया करते थे कि श्रीराधा जी के सेवा के अधिकारी जगत् में केवल साढ़े तीन जने हैं। एक तो श्रीस्वरूप गोस्वामी, दूसरे राय रामानन्द एवं तीसरे श्रीशिखिमाहिती, तथा वे आधे

में इसी माधवी देवी को गिना करते थे। उसी माधवी के यहाँ से हरिदास जब तण्डुल माँग कर ले आया तो उन्हें देखकर श्रीभगवानाचार्य को बहुत आनन्द हुआ ॥ १००-१०६ ॥

चै० च० चु० *टीका*:—उपर्युक्त पयारों से पता लगता है कि श्रीमन्महाप्रभु जी के मत में जगत् में श्रीराधा जी की सेवा के अधिकारी केवल साढ़े तीन व्यक्ति हैं—श्रीस्वरूप दामोदर, रायरामानन्दजी, श्रीशिखिमाहिती एवं स्त्री होने से माधवी देवी-आधा व्यक्ति। गौरगणगुणोद्देश दीपिका के मतानुसार श्रीस्वरूपदामोदर जी व्रजलीला में श्रीललिता-सखी थे एवं श्रीरामानन्द जी थे—श्रीविशाखा-सखी। श्रीशिखिमाहिती रागलेखा सखी थे एवं माधवीदेवी थी कलाकेलि दासी। इस प्रकार ये चारों जने श्रीराधा जी के परिकरभुक्त थे।

शङ्का उठती है कि श्री रूप-सनातनादि अनेक अनेक भक्तों के होते हुए भी केवल उक्त चार जनों को श्रीमहाप्रभु जी ने क्यों पात्र या भक्ति का अधिकारी कहा ? श्रीमहाप्रभु जी के पार्षद गणों में सब ही भक्ति के पात्र थे। किन्तु यहाँ पात्र-शब्द का श्रीराधाजी की परिकरभुक्ता सखी-मञ्जरियों से अभिप्राय है। श्रीमहाप्रभु के पार्षदगणों में केवल यही चार जने ही व्रजलीला में श्रीराधा जी के परिकरभुक्त थे, यह बात भी तो नहीं है। श्रीरूप-सनातन, श्रीगोपाल भट्टादि अनेक ऐसे भक्त थे जो व्रजलीला में श्रीराधा जी के परिकर की सखी-मञ्जरी थे फिर भी केवल स्वरूपादि चार जनों को श्रीमहाप्रभु जी ने जो जगत् में पात्र या सेवा अधिकारी कहा है—इसमें एक विशेष कारण प्रतीत होता है।

वह यह है कि श्रीमहाप्रभु जी के आविर्भाव से पहले व्रजगोपियों का आनुगत्य लेकर मधुरभाव के भजन की प्रथा श्रीकृष्ण-उपासकों में विशेष प्रचलित न थी। कोई विरले जनों में इस भाव की उपासना देखने में आती थी। गोदावरी तीर पर श्रीमहाप्रभु के साथ रायरामानन्द जी के मिलन प्रसङ्ग को देख कर यह ज्ञात होता है कि प्रभु के दर्शन-मिलन से पहले ही रायरामानन्द जी का व्रजगोपियों का आनुगत्यमय भजन था। इसी प्रकार श्रीस्वरूपदामोदर शिखिमाहिती एवं माधवीदेवी में उसी भाव के भजन का यथार्थ कोई स्पष्ट लेख नहीं मिलता, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें भी रायरामानन्द की भाँति श्रीमहाप्रभु जी के मिलन-दर्शन से पहले ही व्रजगोपियों का आनुगत्यमय भजन-भाव था। सम्भवतः इसी असाधारण विशेषत्व को लक्ष्य करके श्रीमहाप्रभु जी ने ऐसा कहा हो।

श्री अद्वैत—श्रीवासादि अनेक भक्तों में श्रीमहाप्रभु जी से पहले भजन की प्रवृत्ति अवश्य थी। किन्तु सबका ऐश्वर्य-प्रधान भजन था। श्रीअद्वैताचार्य महाविष्णु के अवतार हैं, और श्रीनित्यानन्द श्रीवलराम हैं। अतः श्रीमहाप्रभुजी ने इनको उक्त श्रेणी में भुक्त ही नहीं कियां। श्रीरूप-सनातनादि में व्रजगोपियों के मधुर माव का आनुगत्यमय भजन श्रीमहाप्रभु जी के मिलने एवं उपदेश के पश्चात् ही आरम्भ हुआ है। अतः सम्भवतः इसी विशेषत्व को लक्ष्य करके श्रीमहाप्रभु जी ने उक्त चार जनों को उस श्रेणी में गिनाया है।

स्नेहेते रान्धिल प्रभुर प्रिय ये व्यञ्जन। देउलप्रसाद आदाचाकि लेम्बु सलवन ॥१०७॥
मध्याह्ने आसिया प्रभु भोजने वसिला। शाल्यन्न देखि प्रभु आचार्ये पुछिला ॥१०८॥
उत्तम अन्न, ए तण्डुल काहांते पाइला ? आचार्य कहे माधवीदेवीपाश मागि आनाइला ॥१०९॥
प्रभु कहे—कोन् याइ मागिया आनिल ? छोट हरिदासेर नाम आचार्य करिल ॥११०॥
अन्न प्रशंसिया प्रभु भोजन करिल। निजगृह आसि गोविन्देरे आज्ञा दिल ॥१११॥

आजि हैते एइ मोर आज्ञा पालिवा। छोट हरिदासे इहां आसिते ना दिवा ॥११२॥

श्रीभगवानाचार्य ने अति स्नेह पूर्वक श्रीमन्महाप्रभु जी के मनभाते व्यञ्जन, श्रीजगन्नाथ जी का प्रसादान्न, नमकीन अदरक निबु आदि सब सामग्री तैयार की। मध्याह्न में श्रीमहाप्रभु जी पधारे एवं भोजन करने के लिये बैठे। चावलों को देख कर श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीभगवानाचार्य से पूछा—"ये चावल बहुत उत्तम दीखते हैं, ये तुमने कहाँ से मँगाए हैं?" आचार्य ने उत्तर दिया—"ये मैंने माधवी देवी से मँगाए हैं।" प्रभु ने पूछा—"इन्हें उससे कौन माँग कर लाया था?" आचार्य ने छोटे हरिदास का नाम लिया। इतना सुन कर श्रीमहाप्रभु जी ने प्रसादान्न की बहुत प्रशंसा करते हुए भोजन किया एवं अपने निवासस्थान पर चले आए। श्रीमहाप्रभु जी ने अपने सेवक गोविन्द को आज्ञा दी कि "गोविन्द! आज से मेरी आज्ञा का पालन करना होगा कि छोटा हरिदास मेरे पास नहीं आने पावे।" १०७-११२॥

द्वारमाना हैल, हरिदास दुखी हैल मने। कि लागिया द्वारमाना, केहो नाहि जाने ॥११३॥

तिन दिन हैल हरिदास करे उपवास। स्वरूपादि आसि पुछिला महाप्रभुर पाश ॥११४॥

कोन् अपराध प्रभु! कैल हरिदास। कि लागिया द्वारमाना, करे उपवास ॥११५॥

प्रभु कहे--वैरागी करे प्रकृति सम्भाषण। देखिते ना पारि आमि ताहार बदन ॥११६॥

दुर्व्वार इन्द्रिय करे विषय ग्रहण। दारवी प्रकृति हरे मनेरपि मन ॥११७॥

जब श्रीहरिदास के लिये प्रभु के दर्शनों का द्वार बन्द होगया तो श्रीहरिदास मन में अत्यन्त दुखी हुए। किस लिये उसके दर्शन बन्द हुए हैं—यह बात कोई भी न जान सका। श्रीहरिदास को इसी दुख में उपवास करते तीन दिन हो गये। श्रीस्वरूप दामोदर आदि भक्तों ने मिल कर श्रीमहाप्रभु जी से जिज्ञासा की—"प्रभु! हरिदास से ऐसा कौनसा अपराध बन गया है कि आपने उसको दर्शन देना बन्द कर दिया है? वह तीन दिन से उपवास कर रहा है।" श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"हरिदास ने संसार को त्याग कर वैष्णव-सन्यास ग्रहण किया हुआ है अर्थात् वह वैरागी होकर स्त्री से सम्भाषण—बातचीत करता है, मैं उसका मुँह नहीं देखना चाहता। इन्द्रिय दुर्दमनीया हैं—वह विषयों को ग्रहण करने वाली हैं। काष्ठ की निर्मित स्त्री भी मुनियों का मन हरण कर लिया करती है—(इसने तो स्त्री से बात-चीत की है—ऐसे वैरागी का मुँह मैं नहीं देखना चाहता।) ॥११३-११७॥

चै० च० चु० *टीका*—वस्तुतः मनुष्य की सभी इन्द्रियाँ दुर्दमनीया हैं। विषयों को साक्षात् देखने पाने की तो बात दूर है, उन विषयों का स्मरण करने मात्र से वे अत्यन्त चञ्चल हो उठती हैं। फिर भी कामेन्द्रिय की सब इन्द्रियों से अधिक प्रबलता शास्त्रों में वर्णन की गई है। बड़े-बड़े ऋषि मुनि यहाँ तक कि ब्रह्मा पर्यन्त कामेन्द्रिय को अपने वश में नहीं रख सके—ऐसे अनेक चरित्र शास्त्रों में वर्णित हैं। इसलिये शास्त्र कहते हैं कि अन्य स्त्री की तो बात दूर रही, अपनी बहन, कन्या एवं यहाँ तक कि माता के साथ भी एक आसन पर एकान्त स्थान में नहीं रहना चाहिये, क्योंकि इसमें इन्द्रियों के चाञ्चल्य की सम्भावना है और बलवान् इन्द्रिय गण किसी भी सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखती हैं। इसलिये शास्त्र कहता है कि जो भवसागर से पार जाने के इच्छुक हैं एवं भगवत् प्राप्ति के लिये साधन करना चाहते हैं उनको स्त्री से तो क्या, काष्ठ की स्त्री मूर्त्ति से भी कोसों दूर रहना चाहिये।

इन समस्त कारणों से श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"वैरागी होकर हरिदास ने स्त्री से सम्भाषण किया है, उसके पक्ष में यह निषिद्धाचरण है। उसने शास्त्र की आज्ञा का उल्लङ्घन किया है, आश्रम की मर्यादा की हानि की है। अतः मैं उसका मुँह नहीं देखना चाहता।"

किन्तु यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि छोटे हरिदास के प्रति यह जो शासन है वह केवल लोक शिक्षा के निमित्त ही है। वास्तविक छोटे हरिदास के चित्त में इस प्रकार के चाञ्चल्य की सम्भावना भी कभी नहीं हो सकती। वह प्रभु के अन्तरङ्ग पार्षद थे एवं उनके महाकृपापात्र थे। उस ओर माधवी देवी श्रीराधा जी परिकरभूता महावैष्णवी थीं। उस पर भी वह अत्यन्त वृद्धा थीं, किसी ओर भी इन्द्रिय चाञ्चल्य की सम्भावना या चिन्ता करना भी नहीं बनता। श्रीमहाप्रभु का यह शासन केवल लोक शिक्षा के निमित्त ही थी। श्रीहरिदास निर्दोष थे, उसका एक प्रकृष्टप्रभाव आगे चलकर हम देखेंगे कि देहत्याग के बाद भी अप्रत्यक्ष देह से वे पहले की भाँति श्रीमहाप्रभु जी को कीर्त्तन सुनाया करते और श्रीमहाप्रभु जी भी उसे प्रीतिपूर्वक सुना करते।

एक मात्र लोक शिक्षा के निमित्त श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीहरिदास को शासित किया। यह बताने के लिये कि वैरागी साधक लोगों के लिये स्त्री जाति से किसी प्रकार का भी संश्रव उचित नहीं है, अपितु शास्त्र विरुद्ध एवंआश्रम विरुद्ध है। किन्तु वाह रे कलियुग! आज हम देखते हैं कि रंगेकपड़े पहरने वाले अथवा बहुरूप धारण करने वाले कितने वैरागी या संन्यासी हैं जो स्त्रियों से परे हैं? कहने को वे संन्यासी हैं, कहने को वे वैरागी हैं, घरबार छोड़ कर वे जीवोद्धार के ठेकेदार बने हुए हैं, किन्तु उनके आश्रमों में जाकर देखने से पता लगता है कि उनके स्त्री-जाति से कितने और कैसे-कैसे सम्बन्ध हैं। दिन-रात स्त्रियों से पांव पुजाते हैं। उनके हाथों से खान-पान करते हैं! क्या उनके ये आचरण शास्त्र की कसौटी पर पूरे उतर सकते हैं? क्या उन में भगवत् प्राप्ति का कोई लक्षण कहा जा सकता है? भगवान् की माया बड़ी प्रबल है, उनकी एक मात्र शरण ग्रहण करने से जीव ऐसे निषिद्ध-आचरणों से बच सकता है, अन्यथा और कोई उपाय नहीं है। इसी प्रसङ्ग के प्रमाण में श्रीमद्भागवत का एवं मनुसंहिता का एक श्लोक उद्धृत करते हैं–

तथाहि (भागवते ६-१६-१७) मनुसंहितायाम् (२-२१५) —

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥२॥

माता, बहन एवं कन्या—इनके साथ भी एक सङ्कीर्ण आसन पर नहीं बैठना चाहिये क्योंकि बलवान् इन्द्रियगण विद्वान व्यक्ति को भी आकर्षण कर लिया करती हैं ॥२॥

क्षुद्र जीव सब मर्कटवैराग्य करिया। इन्द्रिय चराञा बुले प्रकृति सम्भाषिया ॥११८॥
एत बलि महाप्रभु अभ्यन्तरे गेला। गोसाञिर आवेश देखि सभे मौन कैला ॥११६॥
आर दिन सभे मिलि प्रभुर चरणे। हरिदास लागि किछु कैल निवेदने ॥१२०॥
अल्प अपराध प्रभु! करह प्रसाद। एबे शिक्षा हैल, ना करिब अपराध ॥१२१॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने आगे कहा—"संयमहीन जीव मर्कट वैराग्य (बन्दर जैसा केवल बाहरी वैराग्य) करके स्त्रियों के साथ आलापादि करके अपनी इन्द्रियों की लालसा पूर्त्ति करते फिरते हैं"। इतना कहकर श्रीमहाप्रभु सब के सामने से उठ कर भीतर चले गये। प्रभु का क्रोधावेश देखकर सब मौन हो गये। फिर दूसरे दिन सबने मिलकर प्रभु के चरणों में हरिदास के लिये कुछ प्रार्थना की और कहा—"प्रभु! हरिदास का अपराध बहुत छोटा है, (कारण कि वह अपने आप स्त्री के पास बात चीत करने नहीं गया था, आपके भक्त श्रीभगवानाचार्य की आज्ञा से गया था। दूसरे किसी अन्य कार्य की सिद्धि के लिये नहीं

गया है, आप की सेवा के लिये चावल लाने गया था। तीसरे उसने अपने आश्रमधर्म या मर्यादा का जान बूझ कर उलङ्घन नहीं किया है, वल्कि आपकी सेवा के आवेश में फिर भक्त आज्ञा के पालन करने के आनन्द में—उत्साह में वह अपने आपको भूल गया। फिर माधवी देवी परम वैष्णवी एवं वृद्धा नारी है जिसे वह अपनी माता के समान जानता है।) अतः आप उस पर कृपा कीजिये। इतना उसके लिये वहुत है, उसे ही नहीं हम सब को शिक्षा मिलगई है, फिर ऐसा अपराध नहीं होगा"॥ ११८-१२१॥

प्रभु कहे—मोर वश नहे मोर मन। प्रकृति सम्भाषी वैरागी ना करे दर्शन॥१२२॥
निज़कार्ये याह सभे, छाड़ वृथा कथा। पुन यदि कह, आमा ना देखिवे एथा॥१२३॥
एत शुनि सभे निज कर्णे हस्त दिया। निज निज कार्ये सभे गेलेन उठिया॥१२४॥
महाप्रभु मध्याह्न करिते चलि गेला। बुझन ना याय एइ महाप्रभुर लीला॥१२५॥

सब के वचन सुन कर श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"मेरा मन मेरे वश में नहीं है, स्त्रियों के साथ सम्भाषण करने वाले वैरागी को वह नहीं देखना चाहता। आप इस वृथा बात को छोड़ कर अपने-अपने कार्य में जाइये, फिर यदि आप लोग इस वात को चलाएंगे तो मुझे फिर यहाँ नीलाचल में नहीं देखेंगे।" ऐसी बात सुन कर सब लोग अपने कानों पर हाथ रख कर उठ खड़े हुए और अपने-अपने कामों में चले गये। श्रीमहाप्रभुजी भी मध्याह्न का कृत्य करने के लिये चले गये। श्रीमहाप्रभु जी की क्या लीला है, कोई भी समझ नहीं सकता है॥१२२-१२५॥

आर दिन सभे परमानन्दपुरी स्थाने। 'प्रभुके प्रसन्न कर'—कैल निवेदने॥१२६॥
तबे पुरी गोसाञि एका प्रभुस्थाने आसिला। नमस्करि प्रभु तांरे सम्भ्रमे वसाइला॥१२७॥
पुछिल—कि आज्ञा, केने कैले आगमन?। 'हरिदासे प्रसाद लागि'कैल निवेदन॥१२८॥
शुनि महाप्रभु कहे—शुनह गोसाञि। सब वैष्णव लञा गोसाञि! रह एइ ठाञि॥१२९॥
मोरे आज्ञा देह,मुञि याङ आलालनाथ। एकला रहिव ताहां—गोविन्द मात्र साथ॥१३०॥
एत वलि प्रभु गोविन्देरे बोलाइला। पुरीके नमस्कार करि उठिया चलिला॥१३१॥
आस्तेव्यस्ते पुरीगोसाञि प्रभुस्थाने गेला। अनुनय करि प्रभुरे घरे वसाइला॥१३२॥

दूसरे दिन सब वैष्णव मिल कर श्रीपरमानन्द पुरी जी के पास गये और निवेदन किया कि "आप जाकर प्रभु को प्रसन्न करो—वे हरिदास के अपराध को क्षमा करें।" श्रीपरमानन्द पुरी अकेले ही श्रीमहाप्रभु जी के पास आए। श्रीमहाप्रभु जी ने उन्हें नमस्कार किया और आसन पर वैठाया एवं पूछने लगे—"गोसाईं! मेरे लिये क्या आज्ञा है? आपका यहाँ कैसे आगमन हुआ है?" श्रीपुरी जी ने कहा—"प्रभु! हरिदास पर कृपा कीजिये—इसलिये मैं आपके पास आया हूँ।" पुरी जी की यह बात सुनते ही श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"गोस्वामि! सुनिये, आप इन सब वैष्णवों के साथ यहाँ नीलाचल में वास कीजिये और मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आलालनाथ जाकर निवास करूँगा। वहाँ ही मैं एकान्त वास करूंगा—केवल गोविन्द मेरे साथ रहेगा।" इतना कह कर प्रभु ने गोविन्द को बुलाया और पुरी गोस्वामी को नमस्कार कर वहाँ से चल दिये। यह देख कर पुरी गोस्वामी झटपट प्रभु के पीछे भागे और अनुनय विनय करके जैसे-तैसे प्रभु को घर में लौटा लाए॥ १२६-१३२॥

ये तोमार इच्छा ताहि कर, स्वतन्त्र ईश्वर। केवा कि वलिते पारे तोमार ऊपर? ॥१३३॥
लोकहित-लागि तोमार सब व्यवहार। आमि सब ना जानि गम्भीर हृदय तोमार ॥१३४॥
एत बलि पुरी गोसाञ्चि गेला निजस्थाने। हरिदास ठाञ्चि आइला सब भक्तगणे ॥१३५॥
स्वरूप गोसाञ्चि कहे—शुन हरिदास ! सभे तोमार हित कहि, करह विश्वास ॥१३६॥
प्रभु हठे पड़ियाछे स्वतन्त्र ईश्वर। कभु कृपा करिवेन, याते दयालु अन्तर ॥१३७॥
तुमि हठ कैले, तांर हठ से वाढ़िवे। स्नान भोजन कर, आपने क्रोध यावे ॥१३८॥
एत बलि तांरे स्नान-भोजन कराइया। आपनार घर आइला तांरे आश्वासिया ॥१३९॥

श्रीपुरी गोस्वामी ने कहा—"प्रभु ! जो आपकी इच्छा हो वैसे ही करिये, आप स्वतन्त्र हैं, ईश्वर हैं। आपके लिये कोई क्या कह सकता है ? आप का सब आचरण लोगों के हित के लिये ही है, मैं इस बात को नहीं जान सका हूँ। आपका हृदय बहुत गम्भीर है।"—इतना कह कर पुरी गोस्वामी अपने स्थान पर लौट आए। फिर सब भक्त-गण हरिदास के पास आए। श्रीस्वरूप गोस्वामी ने कहा—"हरिदास ! तुम विश्वास करो, हम सब ने श्रीमहाप्रभु जी को तुम्हारे लिये कहा है। किन्तु वे स्वतन्त्र ईश्वर हैं और अब उन्होंने भी हठ पकड़ लिया है। किन्तु वे अन्दर से बहुत दयालु हैं; कभी फिर तुम पर कृपा करेंगे ही। यदि तुम अब हठ करोगे तो उनका भी हठ बढ़ता चला जाएगा। अतः तुम हठ छोड़ कर उठो और स्नान करके भोजन करो—इस प्रकार प्रभु का भी क्रोध शान्त हो जाएगा।" इतना कह कर सब ने हरिदास जी को स्नान-भोजनादि कराया और उसे आश्वासन देकर सब अपने-अपने स्थान पर चले आए ॥१३३-१३९॥

प्रभु यदि यान जगन्नाथ-दरशने। दूरे रहि हरिदास करेन दर्शने ॥१४०॥
महाप्रभु कृपासिन्धु, के पारे बुझिते। प्रियभक्ते दण्ड करे-धर्म बुझाइते ॥१४१॥
देखित्रास उपजिल सब भक्तगणे। स्वप्नेहो छाड़िल सभे स्त्री सम्भाषणे ॥१४२॥
एइमते हरिदासेर एकवतसर गेल। तभु महाप्रभुर मने प्रसाद नहिल ॥१४३॥
रात्रि अवशेषे प्रभुरे दण्डवत् हञा। प्रयागेरे गेला, कारे किछु ना वलिया ॥१४४॥
प्रभुपद प्राप्ति लागि सङ्कल्प करिल। त्रिवेणी प्रवेश करि प्राण छाड़िल ॥१४५॥
सेइक्षणे दिव्यदेहे प्रभुस्थाने आइला। प्रभु कृपा पाञा अन्तर्धानेइ रहिला ॥१४६॥
गन्धर्वेर देहे गान करे अन्तर्धाने। रात्र्ये प्रभुरे शुनाय गीत, अन्य नाहि जाने ॥१४७॥

श्रीमन्महाप्रभु जी जब श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करने जाते, तब दूर रह कर श्रीहरिदास उन का दर्शन कर लिया करते। श्रीमहाप्रभु कृपा के सिन्धु हैं, यह बात कौन समझ सकता है ?—अपने प्यारे भक्तों को भी दण्ड देते हैं, केवल धर्म सिखाने के लिये। श्रीमहाप्रभु जी की इस लीला को देख कर सब भक्तों का मन भयभीत हो गया और सब ने वैसे तो क्या, स्वप्ने में भी स्त्री से बातचीत करना छोड़ दिया। इस प्रकार करते-करते हरिदास जी को एक वर्ष बीत गया, फिर भी श्रीमहाप्रभु जी ने उस पर कृपा न की। एक दिन रात्रि के अवशेष में हरिदास उठे एवं श्रीमहाप्रभु जी को उन्होंने दण्डवत् प्रणाम की और किसी से कुछ भी न कह कर प्रयाग की तरफ चल दिये। श्रीमन्महाप्रभु जी की प्राप्ति का सङ्कल्प

लेकर वहां श्रीहरिदास त्रिवेणी में कूद पड़े एवं अपने प्राणों को त्याग दिया। उसी क्षण ही दिव्य देह को प्राप्त कर हरिदास जी श्रीमहाप्रभु जी के स्थान पर आ पहुंचे। श्रीमहाप्रभु जी की कृपा प्राप्त करली किन्तु अन्तर्धान रूप से—दिव्यदेह से वहां रहने लगे। गन्धर्वदेह से अप्रगट रहकर वे गान करते-रहते एवं रात को श्रीमहाप्रभु जी को गान सुनाया करते। इस बात को और कोई भी नहीं जानता था ॥१४०-१४७॥

चै० च० चु० टीका:—स्थूल दृष्टि से श्रीहरिदास के त्रिवेणी में प्रवेश कर शरीर त्याग को आत्म हत्या कहा जा सकता है, किन्तु यह वास्तविक आत्म हत्या नहीं है। इस शरीर त्याग का क्या फल हुआ—इस बात से यह जाना जा सकता है कि यह वास्तविक आत्म हत्या नहीं है। आत्म हत्या करना महा पाप है। आत्म हत्यारे के उद्धार के लिये कोई अन्त्येष्टि-क्रिया की भी शास्त्रों में व्यवस्था नहीं है। आत्म घाती का कभी उद्धार नहीं होता। आत्म घाती व्यक्ति भूत-प्रेत बन कर अशेष यन्त्रणा भोग करता रहता है। किन्तु श्रीहरिदास जी ने त्रिवेणी में शरीर त्याग करते ही अप्राकृत देह की प्राप्ति करली एवं उसी शरीर से ही कीर्त्तन सुनाकर श्रीमहाप्रभु जी की सेवा का अधिकार भी पा लिया। उसके लिये किसी ने श्राद्ध नहीं किया, वे एक क्षण भी भूतहोकर न रहे। इससे ज्ञात होता है, उनका इस प्रकार शरीर त्याग करना साधारण आत्म हत्या नहीं है।

वासना ही मायाबन्धन का हेतु होती है। जो लोग आत्म हत्या करते हैं, किसी उत्कट दुख से दुखी होकर या किसी वासना की पूर्त्ति न होने पर। किम्वा किसी के प्रति तीव्र विद्वेष या क्रोध के कारण अथवा असहनीय अपमानवश ही वे ऐसा जघन्य काम करते हैं। उनकी हत्या का एक मात्र कारण होता है—अपने लिये एक भावना। इस लिये वह हत्या उनके बन्धन का कारण होतीं है एवं उन्हें अशेष दुख यन्त्रणा भोग करनी पड़ती है। विशेषत: यह मानव शरीर भजन के लिये ही मिलता है, भोगों के लिये नहीं। भोगों के लिये तो कुत्ते शृगालादि का देह पर्याप्त है। भजन न करके जो लोग आत्म सुख एवं दुख के लिये इस दुर्लभ शरीर को नष्ट करते हैं, उनके लिये अशेष तन्त्रणा का होना स्वाभाविक है। किन्तु छोटे श्रीहरिदास जी ने क्रोधवश या विद्वेषवश अथवा असह्य अपमान वश शरीर का त्याग नही किया। उन्हों ने केवल भगवत् सेवा का उद्देश्य लेकर शरीर का त्याग किया। जितने दिन वे उस शरीर को धारण करते उतने दिन उन्हें श्रीश्रीगौरसुन्दर की सेवा से वञ्चित ही रहना पड़ता। अत: उन्हें ऐसे देह की रक्षा करने से कुछ लाभ नहीं था। खाने-पीने आदि से वह अपने शरीर की सेवा तो कर पाते किन्तु भगवत् सेवा का उनके लिये कुछ सुयोग न था। कोई कह सकता है कि शरीर की रक्षा करके वे कुछ भजन तो कर सकते थे?—किन्तु श्रीगौरसुन्दर की सेवा के लिये वे इतने अधीर हो उठे कि उनके लिये गौर-सेवा-वञ्चित शरीर को रखना असम्भव हो गया। अत: उन्होंने उस शरीर के त्याग का सङ्कल्प कर लिया।

उनके मृतक देह को देखकर श्रीगौरसुन्दर को, उनके भक्तों को अवश्य कष्ट होता, इसलिये उन्हों ने प्रयाग में जाकर ही देह त्याग किया। विशेषत: वे जानते थे कि त्रिवेणी में शरीर छोड़ने से सङ्कल्प की सिद्धि होती है, उनका उद्देश्य यदि केवल शरीर का त्याग करना होता तो वे कहीं भी वन में जाकर भी शरीर त्याग कर सकते थे, किन्तु शरीर छोड़ने का उद्देश्य था केवल श्रीगौरपद सेवा—इसी सङ्कल्प की सिद्धि के लिये उन्होंने त्रिवेणी में जाकर देह का त्याग किया। श्रीगौरचरण में सम्यक्‌रूप से आत्म समर्पण करते हुए गौरचरण सेवा की महोत्कण्ठा भरी वासना लेकर ही उन्होंने शरीर का त्याग किया। जीव में अन्त समय जो संस्कार रहता है, देहत्याग के पश्चात् उसको वैसी ही गति प्राप्त होती है—श्रीगीता जी (८, ६) में कहा गया है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥च॥

हे अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकाल में जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है, मृत्यु के पश्चात् वह उस-उस को ही प्राप्त होता है । जिस भाव का सदा चिन्तन करता है, उसी भाव का ही अन्तकाल में प्रायः स्मरण होता है ” ॥च॥

जो आत्म हत्या करते हैं, किसी असह्य दुख में ही अन्तसमय उनका मन सम्यक् रूप से आविष्ट रहता है, इसलिये मृत्यु के बाद उन्हें असह्य दुख ही भोगना पड़ता है । किन्तु छोटे श्रीहरिदास का मन अन्तसमय श्रीगौरसुन्दर की सेवा में ही आविष्ट था एवं गौर सेवा के लिये ही उनकी तीव्र वासना थी । इस लिये उन्हें सेवा के उपयोगी दिव्यदेह—गन्धर्वदेह की प्राप्ति हुई, जिसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है ।

और फिर छोटे हरिदास तो श्रीगौरसुन्दर की अशेष कृपा के पात्र थे । उनके नित्य सिद्ध पार्षद थे । केवल जीव शिक्षा के लिये एक घटना को उपलक्ष्य करके प्रभु ने उन्हें शासित किया, जैसे किसी प्राकृत जीव को शासित किया जाता है । जिस अपराध को उपलक्ष्य करके प्रभु ने श्रीहरिदास को शासित किया, प्राकृत जीव के पक्ष में उसी अपराध का क्या प्रायश्चित है—उसे दिखाने के लिये प्रभु ने उनके चित्त में त्रिवेणी में देह त्याग का सङ्कल्प उत्पन्न किया एवं उसी द्वारा उनका देह भी छुड़ा दिया ।

श्रीहरिदास के ऊपर श्रीमहाप्रभु की कृपा थी—निम्नलिखित पयारों से उसका पता चलता है—

एक दिन महाप्रभु पुछिला भक्तगणे । हरिदास काहां ?–तारे आनह एखाने ॥१४८॥
सभे कहे—हरिदास वर्षपूर्णदिने । रात्रे उठि काहां गेला, केह नाहि जाने ॥१४९॥
शुनि महाप्रभु ईषत् हासिया रहिला । सब भक्तगण मने विस्मय हइला ॥१५०॥

एक दिन श्रीमहाप्रभु जी भक्तगणों से पूछने लगे—“हरिदास कहाँ है ? उसे यहाँ ले आइये ।” सब ने कहा—“प्रभु ! आपके दर्शन बिना एक वर्ष बीतने पर वह रात को उठ कर कहाँ चला गया कोई भी नहीं जानता है । यह बात सुन कर श्रीमहाप्रभु मन्द मुस्करा कर रह गये । सब भक्तों को श्रीमहाप्रभु की हँसी पर विस्मय हुआ । (श्रीहरिदास तो मेरे पास आ चुका है एवं नित्य मैं उसका कीर्त्तन सुनता हूँ—तुम लोगों को पता ही नहीं है—इस बात पर प्रभु मुस्करा दिये थे । उनकी हँसी का क्या कारण है—वे लोग कुछ भी न जान सके ।) १४८-१५०॥

एक दिन जगदानन्द स्वरूप गोविन्द । काशीश्वर शङ्कर दामोदर मुकुन्द ॥१५१॥
समुद्र स्नाने गेला सभे शुने कथोदूरे । हरिदास गायेन येन डाकि कण्ठस्वरे ॥१५२॥
मनुष्य ना देखे, मधुर गीत मात्र शुने । गोविन्दादि मिलि सभे कैल अनुमाने ॥१५३॥
विष खाञा हरिदास आत्मघात कैल । सेइ पापे जानि ‘ब्रह्मराक्षस’ हइल ॥१५४॥
आकार ना देखि तार शुनि मात्र गान । स्वरूप कहेन--एइ मिथ्या अनुमान ॥१५५॥

एक दिन श्रीजगदानन्द, श्रीस्वरूप दामोदर, श्रीगोविन्द, श्रीकाशीश्वर, श्रीशङ्कर, श्रीदामोदर एवं श्रीमुकुन्द—ये सब जने समुद्र पर स्नान करने गये । इन सब ने सुना कि कुछ दूरी पर जैसे श्रीहरिदास उच्च स्वर में गान कर रहा हो । कोई मनुष्य तो दीखता नहीं था, केवल मधुर गीत ही सुनाई पड़ रहा

था। श्रीगोविन्दादि सब भक्तों ने यही अनुमान किया कि "ज्ञात होता है हरिदास ने विष खाकर आत्म हत्या कर डाली है और उसी पाप से वह ब्रह्मराक्षस—भूत हो गया है। इसलिये उसका शरीर तो दीखता नहीं है परन्तु उसी की आवाज सुनाई दे रही है।" श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने कहा—"आप सब लोगों का अनुमान मिथ्या है" ॥१५१-१५५॥

आजन्म कृष्णकीर्त्तन प्रभुर सेवन। प्रभुर कृपा पात्र आर क्षेत्रेर मरण ॥१५६॥
दुर्गति ना हय तार सद्गति से हय। प्रभुर भङ्गी एइ पाछे जानिव निश्चय ॥१५७॥
प्रयाग हैते एक वैष्णव नवद्वीप आइला। हरिदासेर वार्त्ता तेंहो सभारे कहिला ॥१५८॥
यैछे सङ्कल्प तैछे त्रिवेणी प्रवेशिला। शुनि श्रीवासादि मने विस्मय हइला ॥१५९॥
वर्षान्तरे शिवानन्द सब भक्त लञा। प्रभुरे मिलिला आसि आनन्दित हञा ॥१६०॥

श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने कहा—"हरिदास ने जन्म से लेकर श्रीकृष्ण कीर्त्तन किया है ए उसके द्वारा श्रीमहाप्रभु जी की सेवा की है। वह श्रीमहाप्रभु का कृपा पात्र था, फिर उसने जगन्नाथपुरी में शरीर छोड़ा है (इन सब को यही अनुमान था कि श्रीहरिदास ने नीलाचल में ही कहीं शरीर छोड़ा होगा—इन्हें उसके त्रिवेणी में देह त्याग का कुछ पता नहीं था—इसलिये ऐसा कह रहे हैं) इसलिये उसकी कभी भी दुर्गति नहीं हो सकती। उसकी अवश्य सद्गति हो गई है। श्रीमहाप्रभु अवश्य इस बात का हमें संकेत देंगे, आप फिर जान सकोगे।" इधर प्रयाग से एक वैष्णव जब नवद्वीप गया तो उसने श्रीहरिदास का सब वृत्तान्त जाकर वहाँ सुनाया जिस प्रकार श्रीहरिदास ने सङ्कल्प किया एवं जैसे शरीर का त्याग किया। इस वृतान्त को सुन कर श्रीवासादि सब भक्तों के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ। एक वर्ष के पश्चात् श्रीशिवानन्द सेन सब भक्तों को साथ लेकर नीलाचल में आये एवं श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन कर अति आनन्दित हुए ॥१५६-१६०॥

'हरिदास काहां'? यदि श्रीवास पुछिला। 'स्वकर्म फल भुक्पुमान्'-प्रभु उत्तर दिला॥१६१॥
तबे श्रीनिवास तार वृत्तान्त कहिला। यैछे सङ्कल्प करि त्रिवेणी प्रवेशिला ॥१६२॥
शुनि प्रभु हासि कहे सुप्रसन्नचित्त। प्रकृतिदर्शन कैले एइ प्रायश्चित्त ॥१६३॥
स्वरूपादि मिलि तबे विचार करिला। त्रिवेणी प्रभावे हरिदास प्रभुपद पाइला ॥१६४॥

तब समय पाकर श्रीवास ने प्रभु से पूछा—"प्रभु ! छोटा हरिदास कहाँ है ?"—श्रीमहाप्रभुजी ने उत्तर दिया—"श्रीवास ! मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल भोगता है। (इस उत्तर के दो अर्थ हो सकते हैं—पहला तो यथाश्रुत अर्थ है कि उसने वैरागी होकर स्त्री के साथ सम्भाषण किया, अतः उसका शरीर छूट गया एवं मर कर ब्रह्मराक्षस हो गया। दूसरा—उसने आजन्म मुझे कीर्त्तन सुनाया अब वह दिव्य देह को प्राप्त कर मुझे नित्य कीर्त्तन ही सुनाता है।) तब श्रीनिवास ने श्रीहरिदास का सब हाल कह सुनाया—जैसे उसने सङ्कल्प किया था एवं त्रिवेणी में शरीर का त्याग किया था। श्रीमहाप्रभु जी ने सुप्रसन्न चित्त होकर हँसते हुए कहा—"संन्यासी—वैरागी होकर स्त्री-दर्शन का यही प्रायश्चित है।" श्रीस्वरूपादि सब भक्तों को तब ज्ञात हुआ कि श्रीहरिदास ने त्रिवेणी में शरीर त्याग कर प्रभु के चरणों की प्राप्ति कर ली है" ॥१६१-१६४॥

एइमत लीला करे शचीर नन्दन । याहार श्रवणे भक्तेर जुड़ाय कर्ण मन ॥१६५॥
आपन कारुण्य, लोके वैराग्य शिक्षण । स्वभक्तेर गाढ़ानुराग-प्रकटीकरण ॥१६६॥
तीर्थेर महिमा, निजभक्ते आत्मसाथ । एकलीलाय करे प्रभु कार्य पांच-सात ॥१६७॥
मधुर चैतन्य-लीला समुद्रगम्भीर । लोके नाहि बुझे, बुझे येइ भक्त धीर ॥१६८॥
विश्वास करिया शुन चैतन्यचरित । तर्क ना करिह, तर्के हवे विपरीत ॥१६९॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश । चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥१७०॥

इस प्रकार श्रीशचीनन्दन अद्भुत लीलाएं करते हैं, जिन के सुनने से भक्तों के श्रवण एवं हृदय शीतल होते हैं । अपनी करुणा—(जीव के प्रति करुणावशतः जीव शिक्षा) जीवों को वैराग्य की शिक्षा, अपने भक्तों का अपने में गाढ़-अनुराग का प्रकटन, त्रिवेणी तीर्थ की महिमा, निज भक्त को प्रभु कैसे अङ्गीकार करते हैं— ये सब काम प्रभु ने इसी एक लीला में करके दिखा दिये हैं । श्रीचैतन्य की मधुर लीलाएं समुद्र की भांति गम्भीर हैं, साधारण जन समाज उन्हें नहीं समझ सकता, जो धीर-अचञ्चल भक्त हैं (जिन में स्वसुख वासना जनित चञ्चलता नहीं है) वही इन लीलाओं का रहस्य जान सकते हैं । सदा विश्वास पूर्वक ही श्रीचैतन्य लीलाओं को सुनना चाहिये, उनमें तर्क का स्थान नहीं है, जो तर्क करते हैं, उनको विपरीत फल—अर्थात् अत्यन्त क्षति पहुँचती है । श्रीरूप-गोस्वामी, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥१६५-१७०॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां

पुनः श्रीरूपसङ्गमो-नाम

द्वितीय परिच्छेदः ॥२॥

जयगौर

अन्त्य-लीला

तृतीय परिच्छेद

*

वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुतपदकमलं श्रीगुरून् वैष्णवांश्च
श्रीरूपं साग्रजातं सहगणरघुनाथान्वितं तं सजीवम् ।
साद्वैतं सावधूतं परिजन सहितं कृष्णचैतन्यदेवं
श्रीराधाकृष्णपादान् सहगणललिता श्रीविशाखान्वितांश्च ॥१॥

मैं श्रीदीक्षागुरुजी के चरण कमलों में वन्दना करता हूँ, शिक्षा गुरुगण की एवं वैष्णवगणों की वन्दना करता हूँ। अग्रज श्रीसनातन के साथ परिकर समन्वित श्रीरघुनाथ भट्ट व श्रीरघुनाथदास गोस्वामी तथा श्रीजीव गोस्वामी सहित श्रीरूप गोस्वामी जी की वन्दना करता हूँ। श्रीअद्वैताचार्य व श्रीमन्नित्यानन्द के साथ परिकर वर्ग के सहित श्रीकृष्ण चैतन्यदेव की वन्दना करता हूँ। परिकर वर्ग के सहित श्रीललिता-विशाखा समन्वित श्रीश्रीराधाकृष्ण के चरणों की वन्दना करता हूँ ॥१॥

किसी-किसी ग्रन्थ में इस श्लोक के बाद निम्नलिखित श्लोक भी वर्णन किया गया है:—

दामोदराद् वाक्यदण्डमङ्गीकृत्य दयानिधिः ।
गौरः स्वां हरिदासास्याद् गूढ़लीलामथाश्रृणोत् ॥छ॥

(जिन) दयानिधि श्रीगौराङ्ग देव ने श्रीदामोदर के वाक्य-दण्ड को अङ्गीकार करके श्रीहरिदास के मुख से अपनी गूढ़ लीला को श्रवण किया--(मैं उनको प्रणाम करता हूँ।) छ॥

[इस परिच्छेद में श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीदामोदर जी के वाक्य-दण्ड को जैसे अङ्गीकार किया था, वह प्रसङ्ग वर्णित है एवं श्रीहरिदास ठाकुर के गुणों का वर्णन किया गया है।]

जय जय गौरचन्द्र जय नित्यानन्द। जयाद्वैत चन्द्र जय गौर भक्तवृन्द ॥१॥
पुरुषोत्तमे एक उड़िया ब्राह्मण कुमार। पितृशून्य महासुन्दर मृदु-व्यवहार ॥२॥
गोसाञि ठाञि नित्य आइसे करे नमस्कार। प्रभुसने बात कहे.प्रभु प्राण तार ॥३॥
प्रभुते ताहार प्रीत, प्रभु दया करे। दामोदर तार प्रीत सहिते ना पारे ॥४॥

बार बार निषेध करे ब्राह्मण कुमारे। प्रभु ना देखिले सेइ रहिते ना पारे ॥५॥
नित्य आइसे, प्रभु तारे करे महाप्रीत। याहां प्रीत ताहां आइसे, बालकेर रीत ॥६॥

श्रीगौरचन्द की जय हो, जय हो, श्रीमन्नित्यानन्द प्रभुजी की जय हो। श्रीअद्वैताचार्यप्रभु की जय हो एवं श्रीगौरभक्तों की जय हो। नीलाचल में एक ब्राह्मण कुमार रहता था, उस बालक का पिता मर चुका था। (उसकी माता एक ब्राह्मणी युवती मौजूद थी। किन्तु श्रीमन्महाप्रभुजी यह नहीं जानते थे कि यह बालक एक सुन्दरी युवती का पुत्र है जो विधवा है) वह बालक महासुन्दर था एवं नम्र तथा कोमल स्वभावयुक्त था। वह नित्य श्रीमन्महाप्रभुजी के पास आता और उन्हें नमस्कार करता एवं प्रभु के साथ बात चीत भी करता था। उसे श्रीमहाप्रभुजी प्राणों के समान प्रिय लगते। प्रभु से उसकी बड़ी प्रीति थी एवं प्रभु भी उस पर प्रीति करते थे। श्रीमहाप्रभुजी के एक प्रिय भक्त, जिनका नाम श्रीदामोदर था वह उस बालक तथा श्रीमहाप्रभु की परस्पर प्रीति को सहन न कर सकते थे। श्रीदामोदर बार बार उस ब्राह्मण कुमार को प्रभु के पास आने से रोकते। किन्तु वह श्रीमहाप्रभुजी के दर्शन किये बिना रह ही नहीं सकता था। वह श्रीदामोदर के रोकने पर भी नित्य प्रभु के पास आ जाता और प्रभु भी उसे प्यार करते। बालकों की यह रीति है कि—जो कोई उन्हें प्रीति करे, वे उसके पास आते जाते हैं ॥१-६॥

ताहा देखि दामोदर, दुख पाय मने। बह्निते ना पारे, बालक निषेध ना माने ॥७॥
आर दिन से बालक गोसाञिठाञिआइला। गोसाञि तारे प्रीत करि वार्त्ता पुछिला ॥८॥
कथोक्षणे से बालक उठि यवे गेला। सहिते ना पारे दामोदर कहिते लागिला ॥९॥
अन्योपदेशे पण्डित, कहे गोसाञि ठाञि। गोसाञि गौसाञि,एवे जानिव गोसाञि॥१०॥
एवे गोसाञिर गुणयश सब लोके गाइवे। तबे गोसाञिर प्रतिष्ठा पुरुषोत्तमे हैवे ॥११॥

उस बालक को आता देखकर श्रीदामोदर मन में, बहुत दुखी होते, श्रीमहाप्रभु से भी कुछ वे न कह सकते और बालक भी रोकने से न मानता था। एक दिन वह बालक श्रीमहाप्रभुजी के पास आया और श्रीमहाप्रभुजी ने भी उसे प्यार किया एवं कुछ बात पूछी, थोड़ी देर के पश्चात् जब वह बालक चला गया, तब श्रीदामोदरजी से रहा न गया, वे कहने लगे—"औरों को उपदेश देने में तो आप बड़े पण्डित बनते हैं, गोसाईं, गोसाईं अब पता लगेगा कि आप कैसे गोसाईं हैं। अब गोसाईं का यश-गुण सब लोग गान करेंगे, तभी नीलाचल में गोसाईंजी को विख्याती फैल जावेगी।"

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीदामोदर श्रीमहाप्रभुजी के प्रिय भक्त थे वह कभी भी किसी की अपेक्षा न रखते थे। जो बात उन्हें अच्छी लगती, निःसङ्कोच होकर उसे हर एक को कह डालते। गाढ़-प्रीति-वश एवं अपने निरपेक्ष स्वभाव वश वे श्रीमहाप्रभुजी का भी कभी कभी वाक्यों से शासन कर देते। जैसे कि उक्त पयारों में हम देखते हैं। श्रीदामोदरजी की उक्ति ऐसी प्रतीत होती है जैसे अपने कान्त के प्रति कोई प्रखरा नायका बोला करती है। इसका हेतु भी एक यह है कि श्रीदामोदर ब्रजलीला में प्रखरा-शैव्या थे, इनमें सरस्वतीदेवी का भी आवेश था। इसलिये इनमें ऐसी वाक्चातुरी थी। श्रीदामोदरजी को उस बालक का प्रभु के पास आना क्यों न सुहाता था—उनमें प्रभु के प्रति कैसी प्रीति थी—उसका अगले पयारों में वर्णन करते है—

शुनि प्रभु कहे—काहां कह दामोदर। दामोदर कहे, तुमि स्वतन्त्र ईश्वर ॥१२॥

स्वच्छ आचार कर, के पारे बलिते । मुखर जगतेर मुख पार आच्छादिते ? ॥१३॥
पण्डित हइया मने विचार ना कर । राण्डी ब्राह्मणीर बालके प्रीत केने कर ?॥१४॥
यद्यपि ब्राह्मणी सेइ तपस्विनी सती । तथापि ताहार दोष, सुन्दरी युवती ॥१५॥
तुमिह परम युवा परम सुन्दर । लोकेर काणाकाणिवाते देह अवसर ? ॥१६॥
एत बलि दामोदर मौन करिला । अन्तरे सन्तोष गोसाञि हासि विचारिला ॥१७॥

श्रीदामोदर के वचन सुनकर श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"दामोदर ! यह क्या कह रहे हो ? क्या बात है ? ।" श्रीदामोदर ने कहा—"मैं क्या कहूँगा ? आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं ? आप जैसा चाहो वैसा आचरण कर सकते हो, किन्तु इस मुखर (बोलीबाज़) जगत् के लोगों के मुख को क्या कोई बन्द कर सकता है ? आप पण्डित हैं, तब भी मन में आप विचार नहीं करते हैं ? विधवा ब्राह्मणी के बालक के साथ आप क्यों प्रीति करते हैं ? यद्यपि वह ब्राह्मणी, तपस्विनी, सती नारी है, तथापि वह एक सुन्दरी युवती है जिससे उसमें अनेक दोषों की आशङ्का की जा सकती है । इधर आप भी परम युवा एवं परम सुन्दर हैं, लोगों को आप कानाफूंसी करने का अवसर ही क्यों देते हैं ?"—इतना कहकर श्रीमहाप्रभुजी का हृदय सन्तुष्ट हो गया और हँसकर विचारने लगे ॥१२–१७॥

इहाके कहिये शुद्ध प्रेमेर तरङ्ग । दामोदर सम मोर नाहि अन्तरङ्ग ॥१८॥
एत विचारिया प्रभु मध्याह्न करिते उठिला । आरदिने दामोदरे निभृते बोलाइला ॥१९॥
प्रभु कहे—दामोदर चलह नदीया । मातार समीपे तुमि रह ताहां याञा ॥२०॥
तोमा बिना ताहें रक्षक नाहि देखि आन । आमाकेइ याते तुमि कैले सावधान ॥२१॥
तोमासम निरपेक्ष नाहि आमार गणे । निरपेक्ष ना हैले धर्म ना याय रक्षणे ॥२२॥

श्रीमहाप्रभुजी ने विचार किया—"इसे शुद्ध-प्रेम की तरङ्ग (क्रिया) कहते हैं अर्थात् जिस प्रेम के प्रभाव से भक्त अपने प्रभु के अपयश-आदि की आशङ्का करके अपने प्रभु का भी शासन करता है—वही प्रेम ही शुद्ध प्रेम है । श्रीदामोदर के समान मेरा अन्तरङ्ग प्रिय और कोई नहीं है"—ऐसा विचार कर प्रभु मध्याह्न करने के लिये चले गये । दूसरे दिन श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीदामोदर को एकान्त में बुलाया और उन्हें कहने लगे—"दामोदर ! तुम नदिया में चले जाओ और शची माता के साथ जाकर रहो । तुम्हारे बिना और मुझे उसकी देख-भाल अच्छी प्रकार करने वाला और कोई नहीं दीखता है, जब तुम ने मुझे ही सावधान कर दिया है तब तुम वहाँ जाकर हर प्रकार से सावधानता बरतोगे इसमें क्या संशय है ? मेरे भक्तों में तुम जैसा निरपेक्ष भक्त और कोई नहीं है । दामोदर ! निरपेक्ष न होने पर अपने धर्म की भी कोई रक्षा नहीं कर सकता अर्थात् जब तक किसी की उपेक्षा, सङ्कोच, लिहाज-मुलाहज़ा रहता है, तब तक अपने धर्म का कोई भी यथेष्ठ रूप से पालन नहीं कर सकता ॥१८–२२॥

आमा हैते ये ना हय, से तोमा हैते हय । आमाके करिले दण्ड, आन केवा दय ॥२३॥
मातार गृहे रह याइ मातार चरणे । तोमार आगे नहिबे कारो स्वच्छन्दाचरणे ॥२४॥
मध्ये मध्ये कभु आसि आमार दर्शने । करि शीघ्र पुन ताहां करिह गमने ॥२५॥
माताके कहिब मोर कोटि नमस्कारे । मोर सुख कथा कहि सुख दिह तांरे ॥२६॥

"निरन्तर निज कथा तोमारे शुनाइते । एइ लागि प्रभु मोरे पाठाइल इहांते" ॥२७॥
एत कहि मातार मने सन्तोष जन्माइह । आर गुह्य कथा तांरे स्मरण कराइह ॥२८॥

श्रीमहाप्रभुजी ने आगे कहा —"दामोदर ! जो मुझ से भी नहीं हो पाता है, वह तुम कर सकते हो । मुझे ही तुमने शासित किया है, और की फिर क्या बात है ? । तुम माता शची के पास जाकर माता के ही घर में निवास करना । तुम्हारे आगे कोई भी स्वच्छन्दता से आचरण नहीं कर सकेगा, बीच बीच में तुम यहाँ आकर मुझे मिल जाते रहना । किन्तु फिर शीघ्र ही वहाँ लौट जाया करना । दामोदर ! माताजी को जाकर मेरी कोटि नमस्कार कहना । मेरी कुशलता कहकर उन्हें सुखी करना और उनसे कहना—"अपनी सुख-कथा तुम्हें सुनाने के लिये ही निमाई ने मुझे तुम्हारे पास रहने को भेजा है, इस प्रकार माताजी को सदा सन्तुष्ट करते रहना और एक गूढ़ बात भी जाकर उन्हें स्मरण कराना ।" २३-२८

"बारबार आसि आमि तोमार भवने । मिष्टान्न-व्यञ्जन सब करिये भोजने ॥२९॥
भोजन करिये आमि, तुमि ताहा जान । बाह्य विरहे ताहा स्वप्न करि मान ॥३०॥
एइ माघ-संक्रान्त्ये तुमि रन्धन करिला । नाना पिठा-व्यञ्जन-क्षीर-पायस रान्धिला ॥३१॥
कृष्णे भोग लागाइया यबे कैले ध्यान । आमा स्फूर्त्ति हैल, अश्रु भरिल नयन ॥३२॥
आस्तेव्यस्ते आमि गिया सकल खाइल । आमि खाइञा देखि तोमार बड़ सुख हैल ॥३३॥
क्षणेके अश्रु मुछि शून्य देख पात । स्वपन देखिल येन निमाञि खाइल यात ॥३४॥

"दामोदर ! तुम माता जी को कहना कि मैं अनेक बार उसके घर आता हूँ और उसके बनाए हुए मिष्ठान्न–व्यञ्जनों को भोजन कर जाया करता हूं । वह भी यह जानलेती हैं कि मैंने भोजन कर लिया है फिर भी वह बाहरी विरह को जान कर उस बात को स्वप्न ही समझ लेती हैं । दामोदर ! माता जी को बताना कि उसने इसी माघ की संक्रान्ति पर अनेक प्रकार के पिठा-व्यञ्जन, क्षीर-पायसादि तैयार किये थे और जब उस ने श्रीकृष्ण के भोग लगाने के लिये ध्यान किया था, तब उसे मेरी स्फूर्ति हुई थी और उसके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे थे । उसी समय झटपट मैंने ही आकर सब व्यञ्जन खा लिये थे । मैंने सब कुछ खा लिया है—यह देखकर उसे बहुत सुख हुआ था ! क्षण के बाद अश्रुओं को पोंछकर उसने सब पात्र खाली ही देखे थे और उसने यह समझ लिया था कि उसने ऐसा स्वप्न देखा है कि निमाई सब व्यञ्जनों को खा गया है ॥२९-३४॥

बाह्य–विरह दशाय पुन भ्रान्ति हैल । भोग ना लागाइल-एइ सब ज्ञान हैल ॥३५॥
पाक पात्रे देख–सब अन्न आछे भरि । पुन भोग लागाइल स्थान संस्कार करि ॥३६॥
एइ मत बारबार करिये भोजन । तब शुद्ध प्रेमे आमा करे आकर्षण ॥३७॥
तोमार आज्ञाते आमि आछि नीलाचले । तोमार निकटे नेओयाय आमा तोमार प्रेमबले ॥३८
एइमत बारबार कराइह स्मरण । आमार नाम लञा तांर वन्दिह चरण" ॥३९॥
एत कहि जगन्नाथेर प्रसाद आनाइल । माताके वैष्णवे दिते पृथक् पृथक् दिल ॥४०॥

"मैं नीलाचल रहता हूँ एवं वह नदिया में रहती है—यह जो बाहर का विरहा उसने जान रखा है—इसी के कारण उसे भ्रम हो गया कि उसने भोग ही नहीं लगाया है । ऐसा ज्ञान होने पर उसने जब

व्यञ्जनों के पात्रों को फिर देखा तो उन सब में उसने अन्न भरा हुआ पाया। फिर उसने स्थान को लीप कर शुद्ध किया एवं दुबारा भोग लगाया। दामोदर! तुम माता जी से कहना—मैं इसी प्रकार बार-बार आकर इसके घर में भोजन करता हूँ-इसका कारण एक मात्र उसका शुद्ध प्रेम ही है, जो मुझे खींच ले जाता है। मैं उनकी आज्ञा से ही नीलाचल में वास कर रहा हूं किन्तु उन का प्रेम मुझे वर-वश वहां खींच ले जाता है। इस प्रकार दामोदर! तुम उन्हें स्मरण करना और मेरा नाम लेकर उनके चरणों में वन्दना करना "इतना कहकर श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीजगन्नाथ जी का प्रसाद मगवाया और शची माता के लिये तथा भक्तों के लिये पृथक्-पृथक् बांट कर दिया ॥३५-४०॥

तबे दामोदर चलि नदीया आइला। माताके मिलिया तांर चरणे रहिला ॥४१॥
आचार्यादि वैष्णवेरे महाप्रसाद दिल। प्रभुर यैछे आज्ञा पण्डित ताहा आचरिल ॥४२॥
दामोदर आगे स्वातन्त्र्य ना हय काहार। तांर भये सभे करे सङ्कोच व्यवहार ॥४३॥
प्रभुर गणे यार देखे अल्प मर्यादा-लङ्घन। वाक्यदण्ड करि करे मर्यादा स्थापन ॥४४॥
एइ त कहिल दामोदरेर वाक्यदण्ड। याहार श्रवणे भाजे अज्ञान-पाषण्ड ॥४५॥
चैतन्येर लीला गम्भीर कोटि समुद्र हइते। कि लागि कि करे केह ना पारे बुझिते ॥४६॥
अतएव गूढ़ अर्थ किछुइ ना जानि। बाह्य अर्थ करिवारे करि टानाटानि ॥४७॥

फिर श्रीदामोदर नीलाचल से चलकर नदिया चले आए, वहां आकर शची माता से मिले एवं उनके पास ही निवास करने लगे। श्रीअद्वैताचार्यादि सब भक्तों को श्रीजगन्नाथ जी का प्रसाद दिया, जैसे जैसे श्रीमहाप्रभु ने आज्ञा दी थी, श्रीदामोदर जी ने वैसे ही किया। श्रीदामोदर जी के आगे कोई भी स्वच्छन्दाचरण न कर सकता था। उसके भय से सभी वैष्णव सङ्कोचमय व्यवहार करते थे। श्रीप्रभु के जिस भक्त को कुछ भी मर्यादा का उल्लङ्घन करते वे देख लेते तो उसे वाक्यदण्ड द्वारा शासित करते एवं मर्यादा की स्थापना करते।—इस प्रकार मैंने श्रीदामोदर जी के वाक्यदण्ड का प्रसङ्ग वर्णन किया है, जिन के श्रवण करने से अज्ञानवशतः जो पाषण्डाचरण करते हैं, वह नाश हो जाता है। श्रीचैतन्यदेव की लीला कोटि समुद्रों से भी अधिक गम्भीर है, किसलिये वे कब क्या करते हैं, इसे कोई भी नहीं जान सकता इस लिये उनकी लीलाओं का गूढ़ रहस्य मैं भी कुछ नहीं जान सकता हूं, केवल जो बाहरी उद्देश्य होता है, उसे ही मैं व्यक्त करने का प्रयास करता हूँ ॥४१-४७॥

एक दिन प्रभु हरिदासेरे मिलिला। तांहा लञा गोष्ठी करि तांहारे पुछिला ॥४८॥
"हरिदास! कलिकाले यवन अपार। गो-ब्राह्मण हिंसा करे महादुराचार ॥४९॥
इहासभार कोनमते हइवे निस्तार। ताहार हेतु ना देखिये, ए दुख अपार" ॥५०॥
हरिदास कहे—प्रभु! चिन्ता ना करिह। यवनेर संसार देखि दुख ना भावहि ॥५१॥
यवन सकलेर मुक्ति हवे अनायासे। हाराम हाराम बोल कहे नामाभासे ॥५२॥
महाप्रेमे भक्त कहे, 'हा राम' हा राम'। यवनेर भाग्य देख, लय सेइ नाम ॥५३॥
यद्यपि अन्यसङ्केते अन्य हय'नामाभास'। तथापि नामेर तेज ना हय विनाश ॥५४॥

एक दिन श्रीमहाप्रभु जी श्रीहरिदास जी से जाकर मिले, उनके साथ बैठ कर प्रभु उनसे पूछने लगे—"हरिदास ! कलियुग में अनेक यवन होंगे, जो गौओं एवं ब्राह्मणों की हिन्सा करने वाले होंगे तथा महान दुराचारी होंगे—उन सब का निस्तार कैसे होगा ? उनके निस्तार का कोई उपाय नहीं दीखता है-यह मुझे बड़ा दुख है।" श्रीहरिदास जी ने कहा—"प्रभु ! आप कुछ चिन्ता न कीजिये तथा उन के संसार दुख—आवागमन एवं अशेष यन्त्रणाओं को देखकर आप दुखी मत हूजिये। समस्त यवनों की अनायास ही मुक्ति होजाएगी। वे लोग 'हाराम' 'हाराम' कहकर नामाभास करते हैं। भक्त लोग तो महाप्रेम से 'हा राम' 'हाराम' उच्चारण किया करते हैं। यवनों के भाग्यों को देखिये, वे भी वही नाम लेते हैं। इस लिये उनका भी उद्धार हो जाएगा यद्यपि नामी के प्रति लक्ष्य न रखकर अन्य वस्तु को लक्ष्य करके नाम उच्चारण करने को **नामाभास** कहते हैं (जैसे पुत्र को लक्ष्य करके अजामिल ने श्रीनारायण का नाम लिया था) तथापि नामाभास में नाम की शक्ति नष्ट नहीं होती है ॥४८-५४॥

तथाहि नृसिंह पुराने—

दंष्ट्रि दंष्ट्राहतो म्लेच्छो हारामेति पुनः पुनः ।
उक्त्वापि मुक्तिमाप्नोति किं पुनः श्रद्धया गृणन् ॥२॥

दान्तों वाले शूकर के दान्तों से घायल यवन व्यक्ति बार-बार 'हाराम' 'हाराम' शब्द उच्चारण करने पर जब मुक्ति प्राप्त कर लेता है, तब श्रद्धापूर्वक श्रीहरिनाम करने से वो मुक्ति प्राप्त हो सकती है-इसमें और आश्चर्य क्या है ? ॥२॥

अजामिल पुत्र बोलाय बलि 'नारायण' । विष्णुदूत आसि छोड़ाय ताहार बन्धन ॥५५॥
'राम' दुइ अक्षर इहां नहे व्यवहित । प्रेमवाची 'हा'-शब्द ताहाते भूषित ॥५६॥
नामेर अक्षर सभेर एइ त स्वभाव । व्यवहित हैले ना छाड़े आपन प्रभाव ॥५७॥

अजामिल ने नारायण नाम का उच्चारण करके अपने पुत्र को बुलाया था, उसी के प्रभाव से विष्णु दूतों ने आकर अजामिल को यमराज के दूतों से छुड़ा लिया था। 'हाराम'-शब्द में 'राम'-नाम के जो दो अक्षर 'रा' और'म'हैं इनमें परस्पर व्यवधान कुछ नहीं है अर्थात् रा और म ये दोनों जुड़े हुए—एक दूसरे के पास स्थित हैं और विशेषता यह है कि 'हा-शब्द जो प्रेम वाचक है वह यहाँ 'राम के साथ और लगा हुआ है। नाम के सब अक्षरों का यह स्वभाव है कि एक दूसरे से दूर रहने पर भी वे अपना प्रभाव नहीं छोड़ते ॥५५-५७॥

चै० च० चु० *टीकाः*—ऊपर के पयारों में कहा गया है कि श्रीहरिनाम के अक्षर परस्पर एक दूसरे के साथ-साथ जुड़े रहें तो वे मुक्ति प्रदान करते ही हैं किन्तु यदि वे परस्पर दूर स्थित हों, उनके बीच में अन्यान्य शब्द भी क्यों न जुड़े हुए हों, तो भी नाम के अक्षर नामाभास रूप में मुक्ति प्रदान करने वाले हैं। जैसे 'राजमहिषी'–शब्द में 'रा' तथा 'म' के मध्य 'ज' शब्द पड़ा हुआ है, 'रा' एवं 'म' शब्द यहाँ व्यवहित हैं अर्थात् एक दूसरे से परे स्थित है, तथापि 'राजमहिषी'–शब्द उच्चारण करने से 'राम'–शब्द नाम के उच्चारण का (नामाभास का) फल प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'पराविद्या महिमा'–शब्द में 'रा' एवं 'म' शब्दों में 'विद्या'–शब्द आ गया है किन्तु 'रा' तथा 'म'—ये जो 'राम' शब्द के अक्षर है—'पराविद्या महिमा'—शब्द उच्चारण करने से अपना फल (नामाभास का फल) प्रदान करते हैं, कारण

कि नाम के अक्षरों का यह स्वरूप धर्म है। इस में किसी युक्ति एवं तर्क की गुंजाइश नहीं है—इस आप्त-वाक्य के प्रमाण में निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत करते हैं—

तथाहि हरिभक्तिविलासे (११-२८९) पद्मपुराणवचनम्—

नामैकं यस्य वाचि स्मरणपथगतं श्रोत्रमूलंगतं वा
शुद्धं वाशुद्धवर्णं व्यवहितरहितं तारयत्येव सत्यम् ।
तच्चेद्देह द्रविणजनतालोभ — पाषण्ड — मध्ये
निक्षिप्तं स्यान्न फलजनकं शीघ्रमेवात्र विप्र ॥३॥

श्रीभगवान् का कोई एक नाम यदि किसी की जिह्वा पर आता है अथवा मन को स्पर्श करता है अर्थात् उसका हृदय में स्मरण होता है, अथवा कानों में सुनाई देता है, वह नाम चाहे शुद्ध हो, चाहे अशुद्ध ही क्यों न हो, उस नाम के अक्षर आपस में जड़े हुए (अव्यवहित हों) अथवा व्यवहित हों—एक दूसरे से दूर स्थित हों या वह नाम शेषांश वर्जित हो, तो भी वह श्रीहरिनाम उच्चारण कर्त्ता के समस्त पापों को निश्चित रूप से नाश कर देता है एवं उसे संसार से तार देता है। किन्तु यदि वही नाम देह, धन एवं जन समाज में प्रतिष्ठा तथा लोभ के लिये पाषण्ड पूर्वक उच्चारण किया गया हो तो उसका इस लोक में फल शीघ्र प्राप्त नहीं होता ॥३॥

चै० च० चु० *टीका:*—उपर्युक्त श्लोक के पूर्वले अंश में कहा गया है कि श्रीभगवान् का नाम शुद्ध-अशुद्ध अथवा व्यवहित या अव्यवहित किसी भी प्रकार से जिह्वा पर आजाए, या मन में उसकी स्फूर्ति हो उठे अथवा कानों में सुनाई पड़ जाए, तो वह निश्चित रूप से नाम उच्चारण कर्त्ता के समस्त पापों को नाश कर देता है एवं उसके संसार बन्धन को नष्ट कर देता है। यहाँ तक कि यदि वह नाम (रहितं) शेषांश रहित भी क्यों न हो—अर्थात् भगवान् का नाम—'गोपाल' कहते-कहते यदि 'गोपा' 'गोप' शब्द का भी उच्चारण हो जाता है—तो भी वह शेषांश रहित श्रीभगवन्नाम अपना फल प्रदान करता है।

श्लोक के शेषांश में कहा गया है कि यदि उस प्रकार का भगवन्नाम देह, धनादि अथवा प्रतिष्ठा के लिये पाखण्ड पूर्वक लिया जाये तो उसका फल शीघ्र नहीं प्राप्त होता, किन्तु वह नामोच्चारण भी निष्फल नहीं है, उसका फल शीघ्र न मिल कर किन्तु विलम्ब से अवश्य प्राप्त होगा। श्रीसनातन गोस्वामी पाद ने कहा है कि इस प्रकार के विलम्ब से फल प्राप्ति का कारण नाम में शक्ति की कोई कमी नहीं है, बल्कि विलम्ब का कारण केवल नामापराध ही हैं—वे नामापराध चाहे पूर्व जन्म के सञ्चित हों अथवा वर्त्तमान जन्म के उपार्जित हों। नामापराधों के क्षय होने पर उस प्रकार के भगवन्नाम—उच्चारण का फल तत्काल प्राप्त हो जाता है। किसी भी रूप में भगवन्नाम का उच्चारण यदि श्रीभगवान् को लक्ष्य करके अथवा निष्काम भाव से किया जाता है, उसका फल तत्काल मिल जाता है। किन्तु जिस किसी रूप में भगवन्नाम का उच्चारण यदि देह–मान–धनादि के सम्बन्ध में किया जाता है तो उसके फल प्राप्ति में विलम्ब होता है—नामापराधों के क्षय होने काल तक। इस श्लोक का यही तात्पर्य है।

नामाभास हैते हय सर्व पापक्षय ॥५८॥

नामाभास से सर्व पापों का नाश हो जाता है ॥५८॥ इसके प्रमाण में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं:—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (२-१-५१)—

तं निर्व्याजं भज गुणनिधे पावनं पावनानां
श्रद्धारज्यन्मति रतितरामुत्तमःश्लोक मौलिम् ।
प्रोद्यन्नन्तःकरण-कुहरे हन्त यन्नामभानो-
राभासोऽपि क्षपयति महापातक ध्वान्तराशिम् ॥४॥

राजा धृतराष्ट्र के प्रति श्रीविदुर जी ने कहा है—"जिन के नाम-रूप सूर्य्य के आभास मात्र के ही अन्तःकरण गह्वर में उदित होने से महत्पातक रूप अन्धकार राशि विनष्ट हो जाती है, हे गुणनिधे ! पावनों को भी पावन करने वाले एवं उत्तम-श्लोकों के शिरोमणि उन श्रीकृष्ण का कपट छोड़ कर एवं श्रद्धा पूर्वक आसक्तचित्त होकर भजन कर ॥४॥

नामाभास हैते हय संसारेर क्षय ॥५६॥

श्रीभगवान् के नामाभास से संसार-बन्धन या संसार की आसक्ति नष्ट हो जाती है ॥५६॥ इस का प्रमाण कहते हैं—

तथाहि (भाः ६-२-४६)—

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम् ।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन् ॥५॥

महापातकी अजामिल जब मृत्यु के समय पुत्र को बुलाने से 'नारायण' नाम का उच्चारण कर वैकुण्ठ धाम को प्राप्त हो गया, तब श्रद्धा पूर्वक श्रीहरिनाम कीर्त्तन करने से अनायास में वैकुण्ठ की प्राप्ति होगी—इस में और कहना ही क्या है ? ॥५॥

नामाभासे मुक्ति हय सर्वशास्त्रे देखि । श्रीभागवते ताहां अजामिल साक्षी ॥६०॥
शुनिया प्रभुर सुख बाढ़ये अन्तरे । पुनरपि भङ्गी करि पुछये ताहारे ॥६१॥
पृथिवीते बहु जीव स्थावर-जङ्गम । इहा सभार कि प्रकारे हइबे मोचन ? ॥६२॥
हरिदास कहे—प्रभु ! याते ए कृपा तोमार । स्थावर-जङ्गमेर प्रथम करियाछ निस्तार ॥६३॥
तुमि येइ करियाछ उच्च सङ्कीर्त्तन । स्थावर-जङ्गमेर सेइ हय त श्रवण ॥६४॥
शुनितेइ जङ्गमेर हय संसार क्षय । स्थावरे से शब्द लागे, ताते प्रतिध्वनि हय ॥६५॥

सर्व-शास्त्र कहते हैं कि नामाभास से मुक्ति होती है, श्रीमद्भागवत में अजामिल इस बात का साक्षी है। श्रीहरिदास जी के वचन सुन कर श्रीमहाप्रभु जी को हृदय में आनन्द हो रहा था, फिर भी वे जान-बूझकर श्रीहरिदास जी से पूछने लगे—"हरिदास ! (जो जीव नाम उच्चारण कर सकते हैं, उनका तो नामोच्चारण से या नामाभास से निस्तार हो जाएगा— यह सत्य है किन्तु) पृथ्वी पर स्थावर-जङ्गम दोनों प्रकार के अनेक जीव हैं उन सब का अर्थात् स्थावरों का—वृक्षादि का कैसे मोचन हो सकेगा ?" श्रीहरिदास जी ने कहा —"प्रभु ! आप की करुणा ने तो स्थावर-जङ्गम दोनों प्रकार के जीवों का पहले ही निस्तार कर दिया है। आप जो उच्च ध्वनि से श्रीनाम सङ्कीर्त्तन करते हैं, उसे स्थावर एवं जङ्गम

दोनों ही श्रवण करते हैं। जङ्गम जो मनुष्य, पशु–पक्षी हैं उसको सुनते ही उन का संसार-बन्धन टूट जाता है और स्थावर-वृक्षादिकों के साथ जाकर जब वह सङ्कीर्त्तन ध्वनि टकराती है, तो उनसे भी प्रतिध्वनि निकला करतो है ॥६०–६५॥

प्रतिध्वनि नहे सेइ—करये कीर्त्तन । तोमार कृपाय एइ अकथ्य-कथन ॥६६॥
सकल जगते हय उच्च सङ्कीर्तन । शुनि प्रेमावेशे नाचे स्थावर-जङ्गम ॥६७॥
यैछे कैले झारिखण्डे वृन्दावन याइते । बलभद्र भट्टाचार्य कहियाछे आमाते ॥६८॥
वासुदेव जीव—लागि कैल निवेदन । तबे अङ्गीकार कैले जीवेर मोचन ॥६९॥
जगत् निस्तारिते एइ तोमार अवतार । भक्तगण आगे ताते करियाछ अङ्गीकार॥७०॥
उच्च सङ्कीर्त्तन ताते करिला प्रचार । स्थिर चर-जीवेर सब खण्डाइले संसार ॥७१॥

श्रीहरिदास जी ने कहा—"प्रभु ! वह व स्तव में प्रतिध्वनि नहीं है, वही वे कीर्तन करते हैं। आप की कृपा से ही यह अकथ्य कथन होता है अर्थात् नकथन कर सकने वाले स्थावर जीव भी नाम का कथन करते हैं। समस्त जगत् में उच्चस्वर से नाम सङ्कीर्त्तन होता है, उसे सुनकर स्थावर जङ्गम प्रेमावेश में नृत्य करने लगे थे। यह बात मुझे वलभद्र भट्टाचार्य ने सुनाई थी। श्रीवासदेव दत्त ने जब आपको जीवों के लिये प्रार्थना की थी (उन्होंने कहा था कि मुझे समस्त जीवों के पापों का फल दे दोजिये और समस्त जीवों का उद्धार कर दीजिये मैं ही अकेला नरक यातना को भोगा करूंगा—मध्यलीला १५-परिच्छेद द्रष्टव्य) तब आपने उसे समस्त जीवों की पाप-यातना को भीग न कराकर–केवल उसकी इच्छानुसार समस्त जीवों के उद्धार कर देने की प्रार्थना को स्वोकार कर लिया था। प्रभु ! जगत् का निस्तार करने के लिये ही तो आपका अवतार हुआ है, यह बात भक्तगणों के सामने ही आपने अङ्गीकार की थी। उच्चध्वनि से नाम सङ्कीर्त्तन करने से स्थावर-जङ्गम, समस्त जगत् का उद्धार हो जाता है ॥६६–७१॥

प्रभु कहे—सब जीव यबे मुक्त हवे । एइ त ब्रह्माण्ड तबे सब शून्य हवे ? ॥७२॥
हरिदास कहे—तोमार यावत् मर्त्त्ये स्थिति। ताहा–यत स्थावर-जङ्गम जीव-जाति ॥७३॥
सब मुक्त करि तुमि वैकुण्ठे पाठाइवे । सूक्ष्म जीवे पुन कर्म उद्बुद्ध करिवे ॥७४॥
सेइ जीव हवे इहां स्थावर—जङ्गम । ताहाते भरिवे ब्रह्माण्ड येन पूर्वसम ॥७५॥
रघुनाथ येन सब अयोध्या लइया । बैकुण्ठ गेला अन्यजीवे अयोध्या भरिया॥७६॥
.वतरि एवे तुमि पातियाछ हाट । केहो नाहि बुझे तोमार एइ गूढ़ नाट ॥७७॥
पूर्वे येन व्रजे कृष्ण करि अवतार । सकल ब्रह्माण्ड-जीवेर खण्डाइल संसार ॥७८॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"हरिदास ! जब समस्त जीवों का उद्धार हो जाये, तब यह ब्रह्माण्ड तो सूना हो जायेगा ?" श्रीहरिदास जी ने उत्तर दिया-"प्रभु ! जब तक आप इस मर्त्यलोक में प्रकट रहोंगे तब तक आप, जितने भी जगत् के स्थावर-जङ्गम हैं उन सब को मुक्त करके वैकुण्ठ भेज दोगे। इधर जो समस्त जीव सूक्ष्मरूप से अपने–अपने कर्मों सहित कारण—समुद्र में अवस्थान करते हैं—उनके कर्मों को जाग्रत कर उन को आप स्थूल देह प्रदान कर दोगे, वही स्थावर जङ्गम रूप में आकर फिर इस ब्रह्माण्ड को पहले की भान्ति भर देंगे। श्रीराम जी जैसे सब अयोध्या वासी स्थावर-जङ्गम-जीवों को अपने साथ-

साथ निजलोक में लेगये थे, उनके वैकुण्ठ जाने पर जैसे अन्य जीवों ने आकर अयोध्या को भरपूर कर दिया था, उसी प्रकार सब जीवों का आपके निस्तार कर देने पर ब्रह्माण्ड में अन्य जीव आकर भर जायेंगे। अब आप ने भी जगत् के जीवों को निस्तार करने के लिये अवतार लिया है और लग्गा लगाया है। आपकी इस गूढ़-लीला को कोई भी नहीं समझ सकता। पहले श्रीकृष्णचन्द्र ने भी व्रज में अवतीर्ण होकर समस्त ब्रह्माण्ड के जीवों का संसार-बन्धन तोड़ दिया था-उन्हें मुक्त कर दिया था।।७२-७८।।

तथाहि (भाः १०-२९-१६)—

न चैवं विस्मयः कार्य्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ।।६।।

जिन से यह चराचर जगत् मुक्तिलाभ करता है, योगेश्वरों के भी ईश्वर, जन्मादिरहित उन भगवान् श्रीकृष्ण के सम्वन्ध में यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है ।।६।।

चैं० च० चु० *टीका:*—श्रीमद्भागवत-रासपञ्चाध्यायी का यह एक श्लोक है। श्रीश्याम-सुन्दर की वंशी ध्वनि सुनते ही असंख्य व्रजगोपीगण उनके निकट आ पहुँची, किन्तु कोई एक गोपी अपने पति के वर्ज्जन कर देने एवं एक कोठरी में वन्द करदी जाने के कारण उनके पास इस शरीर से न पहुँच सकी। श्रीकृष्ण के असह्यविरह-दुख में वह गुणमयदेह को त्याग कर श्रीकृष्ण में जा मिली। यद्यपि वह श्रीकृष्ण को परमात्मा करके नहीं जानती थी, वह उन्हें अपना प्राण प्रियकान्त ही जानती थी तथापि श्रीकृष्ण परमब्रह्म है। उनके स्वरूप का ज्ञान होने पर भी, उनके ध्यान प्रभाव से वह व्रजगोपी गुणमय देह से मुक्त होगई। वस्तुशक्ति बुद्धशक्ति की अपेक्षा नहीं रखती है, इसलिये श्रीकृष्ण-परमात्मा के साथ जिस किसी भाव से भी सम्बन्ध होने पर जीव का संसार वन्धन क्षय हो जाता है। श्रीकृष्ण के संस्रव में आने का यह स्वरूपगतफल है। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध के इस अपूर्व फल के प्रति लक्ष्य करके इस श्लोक में कहा गया है-किसी भी भाव से श्रीकृष्ण के साथ संस्रव होने से संसार बन्धन से मुक्ति होजाती है—इस में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कारण कि उनसे चराचर समस्त विश्व मुक्ति लाभ करता है। जो योगेश्वर-शिव-ब्रह्मादिक हैं, उन में भी जव असाधारण शक्ति होती है, श्रीकृष्ण तो योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं उन में जगत् से मुक्त करने की असाधारण शक्ति है-इसमें क्या सन्देह हो सकता है ? और भी—जैसा कि श्रीविष्णु-पुराण में कहा है—

तथाहि विष्णु पुराणे (४-१५-१०)—

अयं हि भगवान् दृष्टः कीर्त्तितः संस्मृतश्च
द्वेषानुबन्धेनाप्यखिल सुरासुरादिदुर्लभं फलं
प्रयच्छति किमुत सम्यग्भक्ति मताम् ।।७।।

यह भगवान् श्रीकृष्ण, उनका दर्शन, कीर्त्तन व स्मरण करने वालों को एवं अपने विद्वेष करने वालों को भी, सुर-असुरों को भी जो दुर्लभ है, ऐसा फल प्रदान करने वाले हैं, फिर सम्यग् भक्तियुक्त पुरुषों को वे ऐसा फल अर्थात् मुक्ति प्रदान कर देते हैं, इसमें सन्देह ही क्या है ? ।।७।।

चैं० च० चु० *टीका:*—शिशुपाल का भगवान् श्रीकृष्ण में अत्यन्त विद्वेषभाव था। इसी विद्वेष के कारण श्रीकृष्ण का अनिष्ट करने के उद्देश्य से वह सदा श्रीकृष्ण का चिन्तन किया करता था, श्रीकृष्ण का नाम भी वार-वार ग्रहण करता था। उसीके फलस्वरूप श्रीकृष्णने उसे अपने हाथों से मारा एवं उसे

सुर-असुरों को जो दुर्लभ है, वह मुक्ति प्रदान कर दी। इस प्रकार जो अपने परम शत्रुओं को भी मुक्ति दान कर देते हैं, जगत् के उद्धार के निमित्त जब वे अवतीर्ण होते हैं, तो वे समस्त ब्रह्माण्ड के जीवों का संसार-बन्धन तोड़ देते हैं—इसमें संशय ही क्या है ?—

तैछे तुमि नवद्वीपे करि अवतार। सकल ब्रह्माण्डजीवेर करिले निस्तार ॥७९॥

ये कहे, चैतन्य महिमा मोर गोचर हय। से जानुक, मोर पुन एइ त निश्चय ॥८०॥

तोमार महिमानन्तामृतापार सिन्धु। मोर वाङ्मनोगोचर नहे तार एक बिन्दु ॥८१॥

एत शुनि प्रभु मने चमत्कार हैल। मोर गूढ़लीला हरिदास केमने जानिल? ॥८२॥

अन्तरे सन्तोष तारे कैल आलिङ्गन। बाह्ये प्रकाशिते ए सब करिल वर्ज्जन ॥८३॥

ईश्वर स्वभाव—ऐश्वर्य चाहे आच्छादिते। भक्तठाञि लुकाइते नारे हय त विदिते॥८४॥

श्रीहरिदासजी ने कहा— ("जैसे श्रीरामजी तथा श्रीकृष्णचन्द ने जगत् में अवतीर्ण होकर समस्त जगत् जीवों का निस्तार कर दिया था) उसी प्रकार आप भी नवद्वीप में अवतीर्ण हुए हैं एवं आपने समस्त ब्रह्माण्ड के जीवों का उद्धार कर दिया है।" प्रभु ! जो कहता है मैंने श्रीचैतन्य की महिमा जान ली है, वह जानता रहे और ऐसा कहता रहे, किन्तु मेरा तो यही निश्चय है कि आप की अनन्त महिमा एक अपार सिन्धु है, जिसके एक विन्दु का भी मैं अपनी वाणी एवं मन से पार नहीं पा सकता हूँ।' इतना सुनकर श्रीमहाप्रभुजी चमत्कृत हो उठे और सोचने लगे कि श्रीहरिदास ने मेरी गूढ़लीला को कैसे जान लिया है ? हृदय में सन्तुष्ट होकर उन्होंने श्रीहरिदास को आलिङ्गन किया और उन्हें इस लीला रहस्य को बाहर किसी के सामने प्रकाशित करने के लिये रोक दिया। ईश्वर का यह स्वभाव है कि वे अपने ऐश्वर्य्य को छिपाना चाहते हैं, किन्तु उनकी महिमा भक्तों से छिपी नहीं रह सकती, सबको विदित हो ही जाती है ॥७९-८४॥ जैसा कि श्रीयमुनाचार्य्य-स्तोत्र में कहा गया है—

तथाहि यमुनाचार्य-स्तोत्रे (१८)—

उल्लङ्घित त्रिविधसीमसमातिशायि—सम्भावनं तव परिव्रढिमस्वभावम्।

मायाबलेन भवतापि निगुह्यमानं पश्यन्ति केचिदनिशं त्वदनन्यभावाः ॥८॥

हे भगवन् ! जो देश, काल तथा परिणाम— इन तीनों की सीमाओं से परे है, जिसके समान एवं जिससे अधिक कोई नहीं, तथा जिसे अपनी योगमाया के प्रभाव से सदा आप गोपन करने की चेष्टा करते हैं, आपके उस प्रभुत्व के स्वरूप को आपका कोई कोई अनन्य भक्त सदा अनुभव करता है ॥८॥

तबे महाप्रभु निजभक्त—पाशे याञा। हरिदासेर गुण कहे शतमुख हञा ॥८५॥

भक्तगुण-कहिते प्रभुर बाढ़ये उल्लास। भक्तगण श्रेष्ठ ताते श्रीहरिदास ॥८६॥

हरिदासेर गुणगण असंख्य अपार। केहो कोन अंशे वर्णे, नाहि पाय पार ॥८७॥

चैतन्यमङ्गले श्रीवृन्दावनदास। हरिदासेर गुण किछु करियाछे प्रकाश ॥८८॥

सब कहा ना याय हरिदासेर अनन्तचरित्र। केहो किछु कहे करिते आपना पवित्र ॥८९॥

वृन्दावनदास याहा ना करेन वर्णन। हरिदासेर गुण किछु शुन भक्तगण ॥९०॥

श्रीहरिदास से विदा होकर श्रीमहाप्रभु अपने अन्यान्य भक्तों के पास आए और उनके आगे श्रीहरिदासजी के गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। श्रीमहाप्रभुजी को भक्तों के गुण-गान करने में आनन्द

की वृद्धि होती है और उसमें भी श्रीहरिदासजी तो भक्तों में श्रेष्ठ-भक्त हैं । श्रीहरिदासजी के अपार एवं असंख्य गुण हैं, जो भी कोई वर्णन करता है, वह उनके आंशिक गुणों का ही वर्णन कर पाता है । उनका पार कोई भी नहीं पा सकता है । श्रीवृन्दावनदासजी ने श्रीचैतन्य-भागवत में श्रीहरिदासजी के कुछ गुणों का वर्णन किया है । श्रीहरिदासजी के अनन्त चरित्र हैं, चाहे वे सब कोई भी वर्णन नहीं कर सकता, तथापि अपने को पवित्र करने के लिये सब किसी ने कुछ कुछ वर्णन किये ही हैं । अतः श्रीवृन्दावनदासजी ने जिन चरित्रों का वर्णन नहीं किया है, उन चरित्रों को कुछ मैं वर्णन करता हूँ । हे भक्तगण ! आप उन्हें सुनिए ॥८५-९०॥

हरिदास यवे निजगृह त्याग कैला । वेणापोलेर वनमध्ये कथोदिन रहिला ॥९१॥
निर्ज्जन बने कुटीर करि तुलसी सेवन । रात्रि-दिने तिनलक्ष नाम सङ्कीर्तन ॥९२॥
ब्राह्मणेर घरे करे भिक्षा निर्वाहण । प्रभावे सकल लोक करये पूजन ॥९३॥
सेइ देशाध्यक्ष—नाम रामचन्द्रखान । वैष्णवद्वेषी सेइ पाषण्डि-प्रधान ॥९४॥
हरिदासे लोकेर पूजा सहिते ना पारे । तार अपमान करिते नाना उपाय करे ॥९५॥
कोन प्रकारे हरिदासेर छिद्र नाहि पाय । वेश्यागण आनि करे छिद्रेर उपाय ॥९६॥

श्रीहरिदासजी ने जब अपने घर को (जो बूढ़न गाँव जिला यशोहद में था) त्याग किया, तब वे वेणापोल गांव के निकटवर्त्ती बन में कुछ दिन आ रहे । उस निर्जन बन में उन्होंने कुटीर बना रखी थी । वहाँ वे तुलसीदेवी का पूजन करते एवं दिन रात में तीन लाख नाम का सङ्कीर्त्तन करते । (एक लाख श्रीहरिनाम का तो वे उच्च स्वर से गान करते थे, इसलिये कि उच्च नाम-सङ्कीर्त्तन से स्थावर-जङ्गमादि जीवों का कल्याण उनका ध्येय था ।) ब्राह्मणों के घरों से भिक्षा लेकर निर्वाह करते । उनके भजन का प्रभाव ऐसा था कि सब लोग उनकी पूजा करते । उस देश का प्रधान उस समय रामचन्द्र खान था जो वैष्णवों के साथ द्वेष करने वाला था एवं महा पाषण्डी था । लोगों के द्वारा श्रीहरिदास ठाकुर के मान-प्रतिष्ठा को वह सहन न कर सकता था । श्रीहरिदासजी का अपमान करने के लिये वह अनेक उपाय रचा करता । किन्तु किसी प्रकार से भी वह उनमें दोष न निकाल सकता । एक बार उसने वश्याओं को लाकर श्रीहरिदासजी को दूषित करने का प्रयास किया ॥९१-९६॥

वेश्यागणे कहे—एइ वैरागी हरिदास । तुमि सब कर इहार वैराग्य-धर्म नाश ॥९७॥
वेश्यागण मध्ये एक सुन्दरी युवती । सेइ कहे—तिन दिवसे हरिब तार मति ॥९८॥
खान कहे—मोर पाइक याउक तोमार सने । तोमार सहित एकत्र तारे धरि येन आने॥९९॥
वेश्या कहे—मोर सङ्ग हउक एकवार । द्वितीये धरिते पाइक लइब तोमार ॥१००॥
रात्रिकाले सेइ वेश्या सुवेश करिया । हरिदासेर वासा गेला उल्लसित हैया ॥१०१॥
तुलसी नमस्करि हरिदासेर द्वारे याञा । गोसाञिरे नमस्करि रहिला दाण्डाइया॥१०२॥

रामचन्द्र खान ने वैश्यागणों को कहा—"देखो ! यह हरिदास बड़ा वैरागी बनता है । तुम सब मिलकर इसके वैराग्यधर्म को नाश करो ।" वैश्यागणों में एक बहुत सुन्दर युवती थी, वह बोली—"मैं तीन दिनों में ही इसकी बुद्धि हरण कर लूंगी ।" रामचन्द्र खान् ने कहा—"मेरा एक नौकर भी तुम्हारे साथ जाएगा, जब तुम दोनों एक स्थान पर रहोगे, तब वह तुम्हारेसाथ उसे यहां पकड़ कर ले आवेगा ।"

वैश्या ने कहा—"एक बार तो आप उसका मेरे साथ सङ्ग होने दीजिये, दूसरे सङ्गम के समय पकड़ने के लिये तुम्हारा नौकर साथ ले जाऊँगी।" उसी दिन रात के समय वह वेश्या सुन्दर भेष बनाकर बड़ी उल्लसित होकर श्रीहरिदासजी की कुटिया पर पहुंची। उनके द्वार पर तुलसी का वृक्ष था, उसे उस वेंश्या ने नमस्कार किया एवं फिर श्रीहरिदासजी को नमस्कार करके वहाँ खड़ी होगई ॥६७-१०२॥

अङ्ग उघाड़िया देखाइ वसिला दुयारे। कहिते लागिल किछु सुमधुर स्वरे ॥१०३॥
ठाकुर! तुमि परम सुन्दर प्रथम यौवन। तोमा देखि कोन् नारी धरिते पारे मन?॥१०४॥
तोमार सङ्गम लागि लुब्ध मोर मन। तोमा ना पाइले प्राण ना याय धारण ॥१०५॥
हरिदास कहे—तोमा करिब अङ्गीकार। संख्यानाम-समाप्ति यावत् ना हय आमार॥१०६॥
तावत् तुमि वसि शुन नाम सङ्कीर्त्तन। नामसमाप्ति हैले करिब ये तोमार मन ॥१०७॥

फिर वह वैश्या अपने मुख-वक्षस्थलादि का कपड़ा हटाकर अपने अङ्गों को दिखाती हुए कुटिया के दरवाजे पर बैठ गई और मीठे स्वर से कहने लगी—"ठाकुर! तुम नवीन यौवन युक्त परमसुन्दर हो। तुम्हें देखकर कौनसी ऐसी नारी होगी जो मन में धीर धारण कर सके? तुम्हारे सङ्गम के लिये मेरा मन लालायित हो रहा है। तुम्हारे मिलन के बिना मेरे लिये प्राण रखना भी कठिन हो रहा है"। श्रीहरिदासजी ने कहा—"मैं तुम्हें अङ्गीकार करूंगा। किन्तु जब तक मेरे हरिनाम की संख्या (तीन लाख) की समाप्ति नहीं हो पाती है, तव तक तुम यहाँ बैठो और नाम सङ्कीर्त्तन को सुनो। नाम-संख्या के पूरा हो जाने पर जैसा तुम चाहोगी वैसा मैं करूंगा" ॥१०३-१०७॥

एत शुनि सेइ वेश्या वसिया रहिला। कीर्त्तन करे हरिदास, प्रातःकाल हैला ॥१०८॥
प्रातःकाल देखि वेश्या उठिया चलिला। सब समाचार याइ खानेरे कहिला ॥१०६॥
आजि आमा अङ्गीकार करियाछे वचने। कालि अवश्य तार सङ्गे हइबे सङ्गमे ॥११०॥
आर दिन रात्रि हैल, वेश्या आइला। हरिदास तारे बहु आश्वास करिला ॥१११॥
कालि दुख पाइले, अपराध ना लैबे मोर। अवश्य करिब आमि तोमारे अङ्गीकार ॥११२॥
तावत् इहां बसि शुन नाम सङ्कीर्त्तन। नाम पूर्ण हैले पूर्ण हबे तोमार मन ॥११३॥

श्रीहरिदासजी के यह वचन सुनकर वह वैश्या बैठ गई। श्रीहरिदासजी कीर्त्तन कहते रहे, इतने में प्रातः काल हो गया। प्रातः काल का समय देखकर वैश्या उठकर चल दी और सब समाचार जाकर रामचन्द्र खान को सुनाया और कहने लगी—"आज मुझे हरिदास ने वचन देकर अङ्गीकार कर लिया है, कल मेरा उसके साथ अवश्य सङ्गम होगा।" दूसरे दिन जब रात का समय हुआ, वह वैश्या फिर श्रीहरिदासजी के पास आ पहुंची। श्रीहरिदासजी ने उसे बहुत आश्वासन दिया और कहने लगे—"कल तुमने बहुत दुख पाया, मुझे क्षमा करना। मैं तुमको अवश्य अङ्गीकार करूंगा। तब तक तुम यहाँ बैठ कर नाम सङ्कीर्त्तन सुनो, जब तक मेरी नाम-संख्या समाप्त नहीं होती है। नाम संख्या पूर्ण हो जाने पर तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो जाएगी।" (श्रीहरिदासजी की उक्ति का गूढ़ अर्थ यह था कि मायिक सुख भोग में कभी भी मन की तृप्ति नहीं होती है—जीव के सुख की कामना तो तभी पूर्ण होती है जब वह परम सुख-स्वरूप श्रीभगवान् की सेवा या उसके नाम की प्राप्ति कर लेता है, किन्तु वैश्या ने तो अपने मन की बात की ही पूर्णता उनके वचनों से निश्चित करली।) ॥१०८-११३॥

तुलसीके तांके वेश्या नमस्कार करि । द्वारे बसि नाम शुने, बोले 'हरि हरि' ॥११४॥
रात्रि शेष हैल वेश्या उषिमिषि करे । तार रीत देखि हरिदास कहेन ताहारे ॥११५॥
कोटि नाम ग्रहण-यज्ञ करि एक मासे । एइ दीक्षा करियाछि, हैल आसि शेषे ॥११६॥
'आजि समाप्ति हइवे' हेन ज्ञान छिल । समस्त रात्रि निल नाम, समाप्ति करिते नारिल॥११७॥
कालि समाप्त हवे, तबे हवे व्रतभङ्ग । स्वच्छन्दे तोमार सङ्गे हइवेक सङ्ग ॥११८॥
वेश्या याइ समाचार खानेरे कहिला । आर दिन सन्ध्या हैते ठाकुर-ठाञि आइला॥११९॥
तुलसीके ठाकुरके दण्डवत् करि । द्वारे बसि नाम शुने—बोले 'हरि हरि' ॥१२०॥

तब वेश्या श्रीतुलसीजी को तथा श्रीहरिदासजी को नमस्कार करके दरवाजे पर बैठ गई और नाम सुनने लगी तथा साथ साथ 'हरि-हरि' भी बोलने लगी। श्रीहरिदासजी को आज भी नाम करते करते रात बीत गई—यह देखकर वेश्या छटपटाने लगी अर्थात् कुछ अस्थिर हो गई। उसकी यह दशा देखकर श्रीहरिदासजी उसे कहने लगे—"मैंने एक मास में कोटि नाम ग्रहण करने का नियम लिया था, वह शेष होने को था। मेरा विचार था कि आज वह संख्या पूरी हो जावेगी। इस लिये आज मैंने सारी रात नाम-कीर्त्तन किया है, फिर भी उसे पूरा नहीं कर पाया हूं। कल अवश्य वह संख्या समाप्त हो जावेगी, तब मेरा व्रत खुलेगा और तब तुम्हारे साथ मेरा स्वच्छन्द सङ्गम होगा। वेश्या प्रातः काल जानकर घर लौट आयी और सब समाचार रामचन्द्र खान् को कहकर सुनाया। तीसरे दिन सन्ध्या के होते ही वह वेश्या श्रीहरिदासजी के पास आ बैठी और श्रीतुलसी को तथा श्रीहरिदासजी को नमस्कार कर दरवाजे पर बैठ गई और नाम सुनने लगी एवं 'हरि-हरि' बोलने लगी ॥११४-१२०॥

'नाम पूर्ण हवे आजि'—बोले हरिदास । तबे पूर्ण करिव आजि तोमार अभिलाष ॥१२१॥
कीर्त्तन करिते तबे रात्रि शेष हैल । ठाकुरेर सङ्गे वेश्यार मन फिरि गेल ॥१२२॥
दण्डवत् हञा पड़े ठाकुरेर चरणे । रामचन्द्र खानेर कथा कैल निवेदने ॥१२३॥
वेश्या हञा मुनि पाप करियाछों अपार । कृपा करि कर मो-अधमेर निस्तार ॥१२४॥
ठाकुर कहे—खानेर कथा सब आमि जानि । अज्ञ मूर्ख सेइ, तारे दुख नाहि मानि ॥१२५॥
सेइ दिन आमि याइताङ ए स्थान छाड़िया । तिन दिन रहिलाङ तोमा निस्तार लागिया॥१२६॥

उसे आया देखकर श्रीहरिदास जी ने कहा—"आज अवश्य नाम संख्या पूर्ण हो जाएगी। तब मैं आज तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करूंगा।" कीर्त्तन करते-करते आज भी रात समाप्त हो आई और इधर श्रीहरिदास ठाकुर का (तीन दिन) निरन्तर सङ्ग प्राप्त कर वेश्या का मन भी बदल गया। वह वेश्या दण्डवत् होकर श्रीहरिदास जी के चरणों पर गिर पड़ी और रामचन्द्र खान की सब करतूत कह सुनाई। और कहने लगी—"ठाकुर महाशय ! मैं वेश्या हूँ, मैंने बड़ा भारी पाप किया है। आप कृपाकर मुझ पापिनि का उद्धार कीजिये।" श्रीहरिदासजी बोले—"मैंने रामचन्द्र खान् की सब बात जान ली थी। मैं उसे मूर्ख एवं अज्ञानी जानकर उसकी बात का दुख नहीं मानता हूँ। मैं तो पहले दिनही (जिस दिन उसने तुम को भेजने का प्रस्ताव किया था) इस स्थान को छोड़कर चला जाता, किन्तु केवल तुम्हारे निस्तार के लिये मैं यहां तीन दिन रुका रहा हूँ। ॥१२१-१२६॥

चै० च० चु० *टीका*—मायावद्ध-जीव संसार के विषय-भोगों में ही अपनी चिरन्तिनी सुख वासना की तृप्ति करना चाहता है, किन्तु सांसारिक विषयों में सुख स्वरूपता है ही नहीं। परम सुख स्वरूप श्रीभगवान् की प्राप्ति के लिये जब तक इस जीव का साधन नहीं बनता तब तक उसके मन की वासनाओं की पूर्णता विधान नहीं होती। श्रीभगवान् की प्राप्ति की वासना का उदय केवल मात्र तब ही होता है जब जीव को भगवत् भक्तों का सङ्ग प्राप्त होता है। भगवत् भक्तों के सङ्ग को पाकर भजन में प्रवृत्ति होती है एवं अन्त में भक्ति की प्राप्ति होकर परम सुख की प्राप्ति हुआ करती है। यहाँ इस प्रसङ्ग में हम देखते हैं वैश्या को परम भागवत श्रीहरिदासजी का सङ्ग प्राप्त हुआ है। उसी सङ्गोपलक्ष्य में वह वैश्या श्रीतुलसी जी के दर्शन व उसकी वन्दना करती रही। वैष्णव दर्शन, वैष्णव-वन्दना फिर उस पर निष्किञ्चन भगवद् भक्त के मुख से भुवन मङ्गल श्रीहरिनाम का सङ्कीर्त्तन सुनती रही। इस पर भी सर्वोपरि श्रीहरिदासजी की उसे उद्धार करने की इ छा वर्त्तमान है। इनमें से किसी एक भक्ति अङ्ग से भी हर व्यक्ति का निस्तार हो सकता है। यहाँ तो वैश्या के लिये समस्त उद्धार सामग्री उपस्थित हैं। फिर उसके उद्धार पाने में-या उसके मन के बदल जाने में देर ही क्या थी? महत् सङ्ग, तुलसी-दर्शन-वन्दना, वैष्णव-दर्शन तथा श्रीहरिदासजी के मुख से श्रीहरिनाम का उपदेश ग्रहण कर वह महाभाग्यवती वैश्या साँसारिक सुख को त्यागकर भगवदोन्मुख हो गई एवं उनके चरणों में दण्डवत् प्रणाम कर उनसे भगवत् भक्ति के उपदेश की प्रार्थना करने लगी।

वेश्या कहे—कृपा करि कर उपदेश। कि मोर कर्त्तव्य याते याय भवक्लेश ॥१२७॥
ठाकुर कहे—घरेर द्रव्य ब्राह्मणे कर दान। एइ घरे आसि तुमि करह विश्राम ॥१२८॥
निरन्तर नाम लओ, कर तुलसी सेवन। अचिराते पावे तबे कृष्णेर चरण ॥१२९॥
एत बलि तारे नाम उपदेश करि। उठिया चलिला ठाकुर बलि 'हरि हरि' ॥१३०॥
तबे सेइ वेश्या गुरुर आज्ञा लइल। गृह वित्त येवा छिल ब्राह्मणेरे दिल ॥१३१॥
माथा मुड़ि एक वस्त्रे रहिला सेइ घरे। रात्रि दिने तिनलक्ष नाम ग्रहण करे ॥१३२॥
तुलसी-सेवन करे चर्व्वण उपवास। इन्द्रिय-दमन हैल प्रेमेर प्रकाश ॥१३३॥

वह वश्या बोली—"ठाकुर! आप कृपाकर मुझे उपदेश दीजिए। मेरे लिये क्या कर्त्तव्य है? जिससे मेरा यह भवबन्धन छूट जाए।" श्रीहरिदासजी ने कहा— 'तुम्हारे पास जो धन सम्पत्ति है, उस समस्त को ब्राह्मणों के लिये दान दे दो और इस मेरी कुटिया पर आकर वास करो। निरन्तर श्रीहरिनाम ग्रहण करो एवं श्रीतुलसीजी का सेवन-अर्च्चन करो। इसी से ही अतिशीघ्र तुम्हें श्रीकृष्ण-चरणों की प्राप्ति हो जायगी।" इतना कहकर उसे श्रीहरिनाम का उपदेश किया और श्रीहरिदासजी वहाँ से 'हरि-हरि' बोलकर चल दिये (और सप्तग्राम के निकटवर्त्ती चान्दपुर में आकर रहने लगे।) वह वैश्या अपने गुरुदेव–श्रीहरिदासजी की आज्ञा पाकर घर में गई एवं सर्व धन-सम्पत्ति को ब्राह्मणों के लिये दान कर दिया, मस्तक मुण्डा कर एक वस्त्र धारण कर श्रीहरिदासजी की कुटिया पर आकर रहने लगी। दिन रात में वह तीन लाख श्रीहरिनाम ग्रहण करने लगी। नित्य श्रीतुलसीजी का सेवन करती। क्षुधा निवृत्ति के लिये चना चबेना चबा लिया करती अथवा तुलसी दल का ही चर्वण कर लिया करती। कभी कभो उपवास कर लेती। इस प्रकार इन्द्रियों पर उसने काबू पा लिया एवं उसके हृदय में भगवत्-प्रेम प्रकाशित हो उठा।।

प्रसिद्ध वैष्णवी हैला परम महान्त। बड़-बड़ वैष्णव तांर दर्शनेते यान त ॥१३४॥

वेश्यार चरित्र देखि लोके चमत्कार । हरिदासेर महिमा कहे करि नमस्कार ॥१३५॥
रामचन्द्रखान् अपराधवीज रुइल । सेइ बीज वृक्ष हञा आगे त फलिल ॥१३६॥
महद्पराधेर फल अद्‌भुत कथन । प्रस्ताव पाइया कहि,शुन भक्तगण ॥१३७॥
सहजेइ अवैष्णव रामचन्द्र खान । हरिदासेर अपराधे हैल असुर-समान ॥१३८॥

वह वेश्या अब प्रसिद्ध वैष्णवी एवं परम महान बन गई, बड़े बड़े वैष्णव आकर उसके दर्शन कर कृतार्थ होते । उसके चरित्र को देखकर लोग चमत्कृत होउठे और उसे नमस्कार करते हुए श्रीहरिदास जी की महिमा का गान करते । रामचन्द्र खान् ने जो वैष्णव अपराध का बीज बोया था, वह फूट कर वृक्ष हो गया एवं उसमें फल लगा । महत्-पुरुषों के प्रति अपराध करने का बहुत विकट फल हुआ करता है जो अकथनीय होता है । प्रसङ्गवश उसे यहां कुछ कहते हैं. हे भक्तगण ! उसे श्रवण कीजिये । रामचन्द्र खान् स्वभाव से अवैष्णव तो था ही, श्रीहरिदासजी के प्रति अपराध के फल से वह राक्षसों के समान आचरण करने वाला बन गया ॥१३४–१३८॥

वैष्णव-धर्म-निन्दा करे वैष्णव-अपमान । बहुदिनेर अपराधे पाइल परिणाम ॥१३९॥
नित्यानन्दगोसाञि यबे गौड़े आइला । प्रेम प्रचारिते तबे भ्रमिते लागिला ॥१४०॥
प्रेम प्रचारण आर पाषण्ड दलन । दुइ कार्य्ये अवधूत करेन भ्रमण ॥१४१॥
सर्वज्ञ नित्यानन्द आइला तार घरे । आसिया वसिला दुर्गामण्डप-उपरे ॥१४२॥
अनेक लोकजन सङ्गे, अङ्गन भरिल । भितर हैते रामचन्द्र सेवक पाठाइल ॥१४३॥
सेवक कहे—गोसाञि ! मोरे पाठाइल खान । गृहस्थेर घरे तोमाय दिव वासास्थान ॥१४४॥
गोयालेर घरे गोहालि से अत्यन्त विस्तार । इहां सङ्कीर्ण स्थान,तोमार मनुष्य अपार ॥१४५॥

रामचन्द्र खान् बहुत दिन से वैष्णव धर्म की निन्दा किया करता था एवं वैष्णवों का सदा अपमान किया करता था, उन बहुत दिनों का अपराध अब परिणाम तक आपहुँचा । वह यह कि जब श्रीमन्नित्यानन्द गोस्वामी श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा से गौड़ देश में आये और प्रेम-प्रचार करते हुए ग्राम ग्राम में भ्रमण कर रहे थे, तब उनके दो ही कार्य थे—एक प्रेम का प्रचार, दूसरा—पाषण्ड का दमन करना । इन दोनों उद्देश्यों से अवधूत श्रीनित्यानन्द भ्रमण कर रहे थे । सर्वज्ञ श्रीनित्यानन्द प्रभु रामचन्द्र खान् के घर भी (इन्हीं उद्देश्यों को लेकर) आए । इसके घर में जहाँ दुर्गादेवी का मन्दिर था, वहाँ आकर बैठ गये । असंख्य लोग प्रभु के साथ इसके घर में घुस आए और इसके आङ्गन में बहुत भीड़ हो गई । यह देखकर रामचन्द्र खान् बाहर तो आया नहीं—प्रभु के सन्मुख कैसे आता ? बल्कि अपने सेवक के द्वारा कुछ कहला भेजा । सेवक ने आकर कहा—"गोसाई ! मुझे रामचन्द्र खान् ने भेजा है, वह कहते है, यहां जगह बहुत तंग है, आपके साथ बहुत लोग आए हैं । मैं आपको ग्रहस्थियों के रहने लायक और स्थान देता हूं—जहां गौशाला है और ग्वाले लोग रहते हैं—वहाँ बड़ी खुली जगह है ।' ॥१३९ १४५॥

भितरे आछिल शुनि क्रोधे वाहिर हैला । अट्ट अट्ट हासि गोसाञि कहिते लागिला ॥१४६॥
सत्य कहे, एइ घर मोर योग्य नय । म्लेच्छ गोवध करे, तार योग्य हय ॥१४७॥
एत वलि क्रोधे गोसाञि उठिया चलिला । तारे दण्ड करिते सेइ ग्रामे न रहिला ॥१४८॥

इहां रामचन्द्र खान सेवके आज्ञा दिल । गोसाञि याहां वसिला ताहां माटि खोदाइल॥१४९॥
गोमय-जले लेपिल सब मन्दिर अङ्गन । तभु रामचन्द्रेर मन ना हैल प्रसन्न ॥१५०॥
दस्युवृत्ति करे रामचन्द्र, ना देय राजकर । क्रुद्ध हञा म्लेच्छ ओजीर आइलतार घर ॥१५१॥

प्रभु श्रीनित्यानन्दजी ने दुर्गा मन्दिर के भीतर बैठे बैठे उस सेवक के वचन सुने और वे क्रोधित हो उठे। बाहर निकल आए और अट्ट-अट्ट हास करते हुए श्रीनित्यानन्दजी बोले—"रामचन्द्र खान् ने ठीक बात कही है, यह घर मेरे निवास करने योग्य नहीं है। यहाँ तो म्लेच्छ (मुसलमान) आकर गो-वध करें—यह घर इसी लायक है। इतना कहते हुए प्रभु वहाँ से क्रोधित होकर चल दिये। उसे दण्ड देने के लिये प्रभु उस गाँव में भी ना रहे। इधर रामचन्द्र खान् की बुद्धि इतनी भ्रष्ट हुई कि वह अपने सेवक से कहने लगा—कि "नित्यानन्द जहाँ आकर बैठा है, उस स्थान की मिट्टी खुदवा डालो एवं गोबर जल से लिपवा कर सब मन्दिर और आङ्गन को शुद्ध करो।" सेवकों ने वैसा कर दिया किन्तु इस पर भी रामचन्द्र खान् के मन को तसल्ली न हुई। (उसकी बुद्धि और भी भ्रष्टता की सीमा पर पहुंच गई) वह डाकाजनी करने लगे और राजकर को भी अदा न करने लगा। इस पर मुसलमान राजा का वज़ीर उसके घर-गाँव पर चढ़ आया।१४९-१५१॥

चै० च० चु० *टीका*:—श्रीहरिदासजी के प्रति अपराध का बीज यहाँ तक फलित हुआ कि जगत् को प्रेमदान करते हुए एवं पाषण्ड का दलन करते हुए भगवान् श्रीनित्यानन्दप्रभु जब रामचन्द्र खान् के घर पर आए, परन्तु उसकी बुद्धि इतनी भ्रष्ट हुई कि उनकी कृपा को प्राप्त न कर सका। श्रीनित्यानन्द प्रभु सर्वज्ञ थे, वे उसके अपराध को जानते थे, और सम्भवतः इसी लिये ही उसके घर पर आए थे। किन्तु वैष्णव-अपराध के कारण वह कुबुद्धि इनके सन्मुख ही नहीं आया। उस पर भी प्रभु नित्यानन्दजी के अपमान के लिये सेवकों द्वारा स्थान लेपन-आदि कराया। श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु परम कृपालु हैं, उन्होंने जब यह देखा कि उसके पापों का घड़ा भर चुका है और वैष्णव-अपराधों के कारण वह मेरे सन्मुख आने को भी तैयार नहीं है तब उन्होंने उसे शासित करने का ही विचार किया। इसलिये वे यहाँ से चले गये एवं उसे प्रेमदान से वञ्चित कर दिया। वास्तव में उसे दण्डित करना भी प्रभु की उस पर कृपा ही थी। दो ही प्रकार से प्रभु अपराधी या बहिर्मुख जीवों को अपनाया करते हैं—प्रेमप्रदान करके या शासित करके। उसे प्रभु ने शासन—दण्ड देना ही उचित समझा। वह दण्ड इस रूप में उपस्थित हुआ कि उसने वैष्णव-अपराध के फलरूप में श्रीभगवान् बलराम का अनादर किया। श्रीभगवान् के अनादर का फल यह हुआ कि वह डाकुओं जैसी वृत्ति करने लगा और राजकर का भुगतान बन्द कर बैठा—उसके फल-स्वरूप समस्त धन सम्पत्ति से वञ्चित हो गया एवं अशेष यातना का भागी हुआ; जिसे अगले पयारों में वर्णन करते हैं।

आसि सेइ दुर्गामण्डपे वासा कैल। अवध्य-वध करि मांस से घरे रान्धाइल ॥१५२॥
स्त्री-पुत्र सहिते रामचन्द्रेरे वान्धिया। तार घर ग्राम लुटे तिनदिन रहिया ॥१५३॥
सेइ घरे तिन दिन करे अमेध्य-रन्धन। आर दिन सभा लञा करिल गमन ॥१५४॥
जाति-धन-जन खानेर सब नष्ट हैल। बहुदिन पर्यन्त ग्राम उजाड़ रहिल ॥१५५॥
महान्तेर अपमान येइ ग्रामे देशे हय। एकजनेर दोषे सब देश हय क्षय ॥१५६॥

उस मुसलमान वज़ीर ने उसी दुर्गामन्दिर में आकर निवास किया एवं अवध्य गौ आदि का बध कर उसीस्थान पर मासादि को पकाया। उस वज़ीर ने स्त्री-पुत्र के सहित रामचन्द्र खान् को बान्ध लिया और उसके घर-गाँव को तीन दिन तक लूटा। तीन दिन रामचन्द्र खान के घर गौ-माँसादि को पकाया और फिर वहाँ से उनको साथ लेकर चल दिया। इस तरह रामचन्द्र खान् के जाति, धन एवं जन, सब को उसने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अनेक दिनों तक वह गाँव उजाड़ पड़ा रहा। क्योंकि जिस गाँव-देश में महत्-पुरुष-भगवत् भक्त का अपमान किया जाता है, एक व्यक्ति के दोष से भी वह सारा देश नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है ॥१५२-१५६॥

हरिदास ठाकुर चलि आइला चान्दपुरे। आसिया रहिला वलराम-आचार्येर घरे ॥१५७॥
हिरण्य गोवर्धन दुइ-मुलुकेर मजुमदार। तांरत्न पुरोहित-बलराम नाम तांर ॥१५८॥
हरिदासेर कृपापात्र—ताते भक्तिमाने। यत्न करि ठाकुरे राखिल सेइ ग्रामे ॥१५९॥
निर्ज्जने पर्णशालाय करेन कीर्त्तन। बलरामाचार्यगृहे भिक्षा निर्वाहण ॥१६०॥
रघुनाथदास बालक करे अध्ययन। हरिदास ठाकुरे याइ करे दरशन ॥१६१॥
हरिदास कृपा करे तांहार उपरे। सेइ कृपा कारण हैल तांरे चैतन्य पाइवारे ॥१६२॥
ताहां यैछे हैल हरिदासेर महिमा-कथन। व्याख्यान अद्भुत कथा शुन भक्तगण ॥१६३॥

इधर श्रीहरिदासजी वहाँ से चलकर चान्दपुर में चले आए और श्रीबलराम-आचार्य के घर पर आकर रहने लगे। श्रीहिरण्यदास एवं श्रीगोवर्धनदास—ये दोनों भाई उस गाँव के वन्दोवस्त करने वाले थे। इनके पुरोहित थे—श्रीवलरामाचार्य। श्रीबलरामाचार्य, श्रीहरिदासजी के कृपापात्र थे, इसलिये आचार्य ने भक्तिपूर्वक एवं आग्रह पूर्वक श्रीहरिदासजी को उसी गाँव में निवास कराया। श्रीहरिदासजी वहाँ निर्जन वन में पर्णशाला बनाकर रहने लगे एवं वहाँ भी सदा कीर्त्तन करते रहते और श्रीबलरामाचार्य के घर में अपना भिक्षा-निर्वाह करते। श्रीगोवर्धनदास के पुत्र श्रीरघुनाथदास उस समय बालक थे और पाठशाला में पढ़ा करते थे। समय समय पर वह श्रीहरिदासजी के पास जाकर उनके दर्शन करते। श्रीहरिदासजी भी श्रीरघुनाथदास पर बहुत कृपा करते। उसी कृपा के प्रभाव से श्रीरघुनाथदासजी ने श्रीचैतन्यदेव को प्राप्त कर लिया और श्रीरघुनाथदास गोस्वामी नाम से प्रसिद्ध हुए। चान्दपुर में जैसे श्रीहरिदासजी की महिमा विख्यात हुई, वह भी एक अद्भुत प्रसङ्ग है, भक्तगण! उसे सुनिये ॥१५७-१६३॥

एक दिन बलराम विनति करिया। मजुमदारेर सभाय आइला ठाकुर लइया ॥१६४॥
ठाकुर देखि दुइ भाइ कैल अभ्युत्थान। पाय पड़ि आसन दिल करिया सम्मान ॥१६५॥
अनेक पण्डित सभाय ब्राह्मण सज्जन। दुइ भाइ महापण्डित हिरण्य-गोवर्धन ॥१६६॥
हरिदासेर गुण सभे कहे पञ्चमुखे। शुनिञा दुइ भाइ मने पाइल बड़ सुखे ॥१६७॥
तिन लक्ष नाम ठाकुर करेन कीर्त्तन। नामेर महिमा उठाइल पण्डितेर गण ॥१६८॥
केहो बोले—नाम हैते हय पाप क्षय। केहो बोले—नाम हैते जीवेर मोक्ष हय ॥१६९॥
हरिदास कहे—नामेर एइ दुइ फल नहे। नामेर फले कृष्णपदे प्रेम उपजाये ॥१७०॥

एक दिन श्रीबलरामाचार्यजी ने बहुत विनय-अनुनय की और श्रीहरिदासजी को मजूमदार की सभा में ले आए। श्रीहिरण्यदास तथा श्रीगोवर्धनदास—इन दोनों भाईयों ने श्रीहरिदासजी को आया देख कर उनका सम्मान किया और उठ खड़े हुए। उनके चरणों में नमस्कार कर उन्होंने बहुत आदर किया एवं उन्हें आसन दिया। उस सभा में अनेक विद्वान ब्राह्मण एवं सज्जन बैठे हुए थे और स्वयं भी वे दोनों भाई—श्रीहिरण्यदास एवं श्रीगोवर्धनदास महान् पण्डित थे। सबने श्रीहरिदासजी के गुणों का प्रचुर वर्णन किया। श्रीहरिदासजी की महिमा सुनकर दोनों ने बहुत सुख पाया। पण्डित जनों ने, श्रीहरिदासजी नित्य तीन लाख हरिनाम कीर्त्तन करते हैं—इस बात को उठाकर श्रीहरिनाम की महिमा का प्रसङ्ग चलाया। उनमें से कोई कहने लगा—"श्रीहरिनाम कीर्त्तन से समस्त पापों का नाश होता है।" दूसरे ने कहा—श्रीहरिनाम से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है।" इस पर श्रीहरिदासजी बोल उठे—"अरे भाई! नाम के फल ये दोनों नहीं हैं, नाम का फल तो केवल यही है कि इससे श्रीकृष्ण के चरणों में प्रेम उदय होता है।' जैसे कि श्रीमद्भागवतजी में कहा गया है—

तथाहि (भा: ११-२-४०)

एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥९॥

इस प्रकार भक्ति के अङ्गों के अनुष्ठान का नियम लेकर जो अपने प्रिय श्रीहरिनाम का सङ्कीर्त्तन करते हैं, उनके हृदय में कृष्णप्रेम उदय हो आता है, जिससे वे द्रवीभूत चित्त होकर तथा मान-अपमान रहित होकर उन्मत्त की तरह उच्च स्वर से कभी हँसने लगते हैं, कभी रोने तथा पुकारने लगते हैं, कभी वे गाने और नाचने लगते हैं ॥९॥

आनुषङ्गिक फल नामेर—मुक्ति, पाप नाश। ताहार दृष्टान्त यैछे सूर्य्येर प्रकाश ॥१७१॥

श्रीहरिदासजी ने कहा—"मुक्ति और पापनाश—ये दोनों तो श्रीहरिनाम के आनुषङ्गिक फल हैं। जैसे सूर्य के उदय होने से पहले अन्धकार का नाश आनुषङ्गिकरूप से अपने आप हो जाता है। (सूर्य के उदय होने का मुख्य फल तो धर्म-कर्मादि का प्रकाशित होना है—अन्धकार का नाश तो सूर्य उदय का आनुषङ्गिक फल है। उसी प्रकार श्रीहरिनाम के ग्रहण करने से पहले अथवा उसके ग्रहण करने की इच्छा होते ही पापों का नाश एवं मोक्ष—प्राप्ति तो आनुषङ्गिकरूप से हो जाते हैं—श्रीहरिनाम का मुख्य फल श्रीकृष्ण-पद में प्रेम का उदय होना ही है।) जैसे कि पद्यावली में कहा गया है—

तथाहि पद्यावल्याम् (१६)—

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य।
तरणिरिव तिमिर जलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम ॥१०॥

सूर्य उदय होते ही जैसे अन्धकार समुद्र को नाश कर देता है, उसी प्रकार जगन्मङ्गल श्रीहरिनाम एक बार जिह्वा पर आते ही लोगों के समस्त पाप विनष्ट करके जय युक्त विराजमान होता है ॥१०॥

एइ श्लोकेर अर्थ कर पण्डितेर गण। सभे कहे—तुमि कह अर्थ विवरण ॥१७२॥
हरिदास कहे—यैछे सूर्येर उदय। उदय ना हैते आरम्भे तमेर हय क्षय ॥१७३॥

चोर-प्रेत–राक्षसादिर हय भय त्रास। उदय हैले धर्म कर्म–मङ्गल-प्रकाश ।।१७४।।
तैछे नामोदयारम्भे पापादि क्षय। उदय हैले कृष्णपदे हय प्रेमोदय ।।१७५।।
मुक्ति तुच्छ फल हय नामाभास हैते ।।१७६।।

श्रीहरिदासजी ने इस श्लोक को पढ़ा और सब पण्डितजनों से कहा कि—"इस श्लोक का अर्थ कहिये।" सबने कहा—"आपही इसका अर्थ बखान कीजिये।" श्रीहरिदासजी ने कहा—"सूर्य उदय होता है, किन्तु उसके उदय होने से पहले ही जैसे अन्धकार नाश हो जाता है और चोर–प्रेत-भूत एवं राक्षस आदि भयभीत होकर पलायन कर जाते हैं तथा जब सूर्य्य उदय हो आता है तब धर्म-कर्मों का मङ्गल-कार्य आरम्भ हो जाता है, उसी प्रकार नाम के ग्रहण करने से पहले ही पापादि दूर भाग जाते हैं, उनका ध्वंस हो जाता है और जब नाम ग्रहण किया जाता है उससे श्रीकृष्ण चरण-कमलों के प्रेम का हृदय में उदय होता है। मुक्ति तो नामाभास का एक तुच्छ फल है। जैसे कि श्रीमद्भागवतजी में कहा गया है—

तथाहि (भा: ६–२–४९ —

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन् ।।११।।

महापातकी अजामिल भी जब अन्त समय में पुत्र को बुलाने के छल से 'नारायण' नाम का उच्चारण करके बैकुण्ठ को प्राप्त हो गया, तब श्रद्धापूर्वक श्रीहरिनाम कीर्त्तन करने से जो अनायास ही वैकुण्ठ की प्राप्ति हो जाती है, इसमें और संशय ही क्या है ।।११।।

येइ मुक्ति भक्त ना लय, कृष्ण चाहे दिते ।।१७७।।

श्रीहरिदासजी ने आगे कहा "नामाभास से प्राप्त हो जाने वाली जो मुक्ति है, उसे भक्त कभी अङ्गीकार नहीं करते हैं। चाहे श्रीकृष्ण उसे देना भी चाहें, तो भी भक्त उसे ग्रहण नहीं करते हैं जैसे कि श्रीभागवत्जी में कहा गया है—

तथाहि (भा: ३–२९–१३)

सालोक्य - सार्ष्टि–सामीप्य–सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।।१२।।

श्रीभगवान् कहते हैं—"मेरे भक्त मेरी सेवा को छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य एवं एकत्व (सायुज्य) इन पांच प्रकार की मुक्तियों को मेरे देने पर भी ग्रहण नहीं करते हैं—।।१२।।

चै० च० च० टीका:—उक्त प्रसङ्ग में कहा गया है कि नामाभास से मुक्ति प्राप्त होती है। इस के प्रमाण में एक श्लोक को उद्धृत किया गया है। फिर यह कहा गया है कि उस मुक्ति को श्रीकृष्ण के देने पर भी भक्त ग्रहण नहीं करते हैं। इसके प्रमाण में उपर्युक्त श्लोक कहा गया है। इस श्लोक में पाञ्चों प्रकार की मुक्ति का उल्लेख है। इससे स्पष्ट जाना जाता है कि पाञ्चों प्रकार की मुक्ति केवल नामाभास से ही प्राप्त होती है।

श्रीहरिदास जी के कथा प्रसङ्ग में श्रीचैतन्यचरितामृत कहता है कि नामाभास से ही पञ्चविधा मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। इस उक्ति के प्रमाण में श्रीभागवत जी के अजामिल उपाख्यान

का ही उल्लेख किया गया है। इस विषय की सम्यक् आलोचना करने से पहले अजामिल के उपाख्यान पर संक्षेप से दृष्टि डालते हैं।

अजामिल ब्राह्मण था एवं अत्यन्त सदाचार सम्पन्न व सद्धर्मपरायण था। किन्तु दैव-दुर्विपाक से एक भ्रष्टा दासी को देखकर वह धर्म से पतित होगया। माता-पिता-स्त्री को त्याग कर उसी दासी के साथ रहने लगा एवं दुष्टाचार से जीविका निर्वाह करने लगा। उससे उसके दस पुत्र हुए। सब से छोटे पुत्र का नाम नारायण था। नारायण पर उसका अत्यन्त स्नेह था। ८८ वर्ष की आयु में उसका मृत्युकाल आया। तीन भीषणाकृति यमदूतों को हाथों में पाश लिये देखकर अजामिल भयभीत हो उठा और अपने छोटे पुत्र को 'नारायण'-'नारायण' कहकर पुकारने लगा। इतना सुनते ही वहां चार विष्णुदूत आ उपस्थित हुए एवं अजामिल को यमदूतों से मुक्त करा लिया। यमदूतों ने विस्मित होकर कहा—"अजामिल महा पापी है, इसने अपने पापों का कोई प्रायश्चित नहीं किया है। इसे हम दण्ड के लिये यमराज के पास-ले जाएंगे-आप लोग कौन हैं ?" विष्णुदूतों ने कहा-हम श्रीविष्णु के दूत हैं। यह बात ठीक है,अजामिल महा पापी था, किन्तु अब यह पापी नहीं रहा है। जिस क्षण में इसने अपने पुत्र को बुलाने के लिये आभास मात्र चार-अक्षर "नारायण" नाम उचारण किया था, उसी क्षण ही इसके समस्त पाप ध्वंस होगये थे। इसलिये इसने तो कोटिजन्मों के पापों का प्रायश्चित कर लिया है। यह कह कर विष्णुदूतों ने अजामिल को उन से मुक्त करा लिया। अजामिल ने उनके दर्शन कर अतीव आनन्द अनुभव किया। इतने में विष्णुदूत एवं यमदूत परस्पर धर्मालोचना करके वहां से अन्तर्हित होगये।

अजामिल ने अपने दुष्कर्मों का भारी पश्चाताप किया और उसका हृदय भगवद्भक्ति से पूर्ण हो उठा। विष्णुदूतों (महत्-पुरुषों) के क्षणमात्र सङ्ग से अजामिल को वैराग्य उत्पन्न होगया और स्त्री-पुत्रादि के स्नेह पाश को तोड़ कर गङ्गा किनारे चला गया। वहाँ आत्मा में मन लगा कर एकाग्रता के द्वारा देह-इन्द्रियों से आत्मा को मुक्त कर लिया तथा उन्हें परमब्रह्म भगवान् में नियोजित कर दिया। उसके बाद उसका मन श्रीभगवान् में निश्चल होगया। तब उसने पूर्वदृष्ट विष्णुदूतों के फिर दर्शन किये और तब देह त्याग कर भगवत्-पार्षदों का स्वरूप प्राप्त कर विमान पर चढ़ कर विष्णुदूतों के साथ वैकुण्ठ को चला गया।

इस उपाख्यान से यह ज्ञात होता है कि'नारायण' के नामाभास के उच्चारण करने से अजामिल के पूर्वकृत समस्त पाप विनष्ट हो गये, विष्णुदूतों के सङ्ग प्रभाव से उसने निर्वेद अवस्था को प्राप्त किया, तब सब कुछ त्याग कर उसने गङ्गा के किनारे भगवान् का भजन किया एवं अन्त में देह-त्याग कर भगवत् पार्षदरूप को प्राप्त कर उसने वैकुण्ठ को प्राप्त किया। यमदूतों के छोड़ देने पर उसे उसी समय विष्णुदूत अपने साथ वैकुण्ठ नहीं ले गये। उनके चले जाने के बाद अजामिल जीवित रहा एवं उसने भजन किया। भजन के बाद उसने शरीर त्याग किया, फिर वह वैकुण्ठ गया।

यहां एक प्रश्न उठता है—**अजामिल की यह जो वैकुण्ठ-प्राप्ति है, यह उसके पुत्र को पुकारने से नारायण के नामाभास का फल है या उसके भजन करने का फल है ?** यथाश्रुत अर्थ से तो यह प्रतीत होता है कि यह वैकुण्ठ प्राप्ति उसके भजन का ही फल है। कारण कि विष्णुदूतों की उक्ति से पता लगता है कि नामाभास से उसके पूर्वसञ्चित पाप ही नष्ट होगये थे। वैकुण्ठ की प्राप्ति की योग्यता के सम्बन्ध में उनके वचनों का कोई उल्लेख नहीं है। श्रीशुकदेव जी ने भी कहा है विष्णु दूतों के सङ्ग प्रभाव से अजामिल को निर्वेद अवस्था की प्राप्ति हुई। उसके फलस्वरूप वह सब कुछ त्याग कर भजन में प्रवृत्त हुआ। नामाभास के फल से उसे निर्वेद अवस्था प्राप्त हुई-ऐसा उल्लेख भी नहीं मिलता। बल्कि यह भी कहा जा सकता है

कि अजामिल ने पहले भी अपने पुत्र के नामकरण के बाद अब तक अनेकों बार 'नारायण'-नारायण' कहकर पुकारा होगा, उस समय में भी तो नामाभास हुआ होगा, उससे हर बार उसके समस्त पाप विनष्ट हुए होंगे, किन्तु ऐसा करने पर फिर भी उसकी पाप में प्रवृत्ति क्यों बनी रही? फिर उसने दासी का सङ्ग क्यों न छोड़ दिया? नामकरण के बाद अनेक वार 'नारायण-नाम उच्चारण करने पर भी अजामिल की जब पापकर्मों में प्रवृत्ति बनी रही, तब यह कहा जा सकता है कि नामाभास से निर्वेद अवस्था (वैराग्य) उत्पन्न नहीं होता, पाप-प्रवृत्ति का मूल भी नष्ट नहीं होता है, पूर्वकृत पापों का ध्वंस होगया होगा-ऐसा तो कहा जा सकता है, किन्तु उसके पापों की प्रवृत्ति का मूल नष्ट नहीं हुआ, कारण कि अनेक समय तक वह पाप-कर्मानुष्ठान से लिप्त रहा।

यह भी कहा जा सकता है कि गीता के वचनानुसार जब तक भगवान् की शरण ग्रहण नहीं की जाती तब तक माया से उद्धार पाना कठिन है। और जब तक माया-बन्धन है तब तक वैकुण्ठ की प्राप्ति की योग्यता भी किसी में नहीं आ सकती। नामाभास में शरणागति है नहीं, इसलिये मायाबन्धन से मुक्ति भी इसके द्वारा नहीं होसकती। अतः नामाभास से वैकुण्ठ की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। हाँ! नामाभास को वैकुण्ठ प्राप्ति की परम्परा का कारण मात्र तो कहा जा सकता है, किन्तु नामाभास वैकुण्ठ प्राप्ति का साक्षाद् कारण नहीं हो सकता—इस प्रकार इस उपाख्यान में अनेक शंकाए उठती हैं।

किन्तु श्रीहरिदासजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"नामाभास से मुक्ति होती है। यह बात सर्व-शास्त्र भी कहते हैं। मुक्ति नामाभास का एक तुच्छ फल है, उस मुक्ति को श्रीकृष्ण के देने पर भी भक्त-ग्रहण नहीं करते हैं। श्रीहरिदासजी के इस मत का अनुमोदन श्रीमन्महाप्रभुजी ने भी किया है। श्रीहरिदास जी कहते हैं इस उपाख्यान का जो यथाश्रुत अर्थ कल्पना किया जाता है और कहा जाता है कि नामाभास वैकुण्ठ प्राप्ति की परम्परा का कारण मात्र हो सकता है—साक्षाद् कारण नहीं—यह प्रकृत अर्थ नहीं है। नामाभास साक्षाद् भाव से ही मुक्ति का कारण है। इस उक्ति की पुष्टि करते हुए श्रीहरिदासजी ने यहां तक कह दिया है कि "यदि नामाभास से मुक्ति न होती हो तो मेरी नाक काट डालो" (३-३-१८६)। यह बात श्रीहरिदासजी ही केवल नहीं कहते, श्रीशुकदेव जी ने भी यही बात स्पष्टरूप से कही है-

श्रीमद्भागवत (६-२-४५)—

एवं स विप्लावित-सर्वधर्मा दास्याः प्रतिः पतितो गर्ह्य कर्म्मणा।
निपत्यमानो निरये हतव्रतः सद्यो विमुक्तो भगवन्नामगृह्णन् ॥ज॥

अर्थात् सर्व-धर्म-भ्रष्ट दासीपति, निन्दित कर्माचरण द्वारा पतित एवं व्रतहीन वह अजामिल नरक में जाता, किन्तु ऐसे समय में उसने भगवन्नाम ग्रहण किया कि तत्क्षणात् मुक्ति को प्राप्त कर गया। इससे प्रमाणित होता है कि नामाभास मात्र से पापों का नाश एवं मुक्ति की प्राप्ति होती है। प्रसङ्ग वश नाम की महिमा का कुछ उल्लेख करते हैं।

(क) द्वादशाब्दव्यापी प्रायश्चित से भी नाम का वैशिष्ट्यः—

श्रीविष्णु दूतों ने कहा है—श्रीमद्भागवत (६-२-९व१०)—

स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग् ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
स्त्री राजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोपरे ॥झ॥

सर्वेषामप्य – घवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यत स्तद्विषया मतिः ॥८॥

स्वर्ण की चोरी करने वाला, मद्यपान करने वाला, मित्र-द्रोही, ब्रह्महत्याकारी, गुरु-स्त्रीगामी, स्त्री हत्याकारी, राजहत्याकारी गोहत्याकारी एवं अन्यान्य जितने समस्त पातकी हैं, उनके समस्त पापों का श्रेष्ठ प्रायश्चित—श्रीहरिनाम ही है, कारण कि भगवान् श्रीकृष्ण का नाम उच्चारण करने मात्र से श्रीभगवान् की बुद्धि नाम-उच्चारण करने वाले की ओर आकर्षित हो जाती है। अर्थात् तत्क्षणात् श्रीभगवान् यह समझते हैं कि मेरा नाम–उच्चारण करने वाला कोई मेरा अपना ही जन है, इस की रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है" ।—इस श्लोक की टीका में श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती पाद ने लिखा है कि वासनाओं के वशीभूत होकर जीव अशेषविध उक्त प्रकार के महापातक किया करता है, एक बार नहीं, हजार-हजार बार करता है। समस्त पापों के अनेक प्रायश्चित शास्त्रों में वर्णित हैं जिन्हें **द्वादशाब्द-प्रायश्चित** कहते हैं। चक्रवर्तीपाद कहते हैं उन द्वादशाब्द व्यापी कोटि-कोटि प्रायश्चितों के करने से भी पाप की मूल जो दुर्वासना है, वह दूर नहीं होती है। यही कारण है कि प्रायश्चित करने के बाद भी प्रायश्चित करने वाले लोग फिर महा-पातक में लिप्त हो जाते हैं। किन्तु श्रीभगवान् का नाम लेने से पाप का जो मूल है वह उत्पाटित हो जाता है। मूल उत्पाटित हो जाने से हरिनाम-उच्चारणकारी की पुनः पाप करने में प्रवृत्ति नहीं होती। उसका कारण यह है कि हरिनाम-उच्चारण कारी को श्रीहरि अपना जन मान लेते हैं एवं उसकी सर्वतो भावेन रक्षा करते हैं। किन्तु द्वादशाब्द व्यापी प्रायश्चित करने वाले लोगों के प्रति श्रीभगवान् की ऐसी कृपा कभी नहीं होती. कि जिस से प्रायश्चित करने वालों की पाप–मति दूर हो जाए। अतः **श्रीभगवन्नाम का द्वादशाब्द व्यापी प्रायश्चितों की अपेक्षा वैशिष्ट्य वर्णन किया गया है।**

(ख) श्रीभगवन्नाम के इस असाधारण माहात्म्य का कारण यह है कि नाम और नामी-भगवान् अभिन्न हैं,—

अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न श्रीभगवान् में जैसी शक्ति है, उनके नाम में भी वैसी ही शक्ति है, बल्कि उससे भी अधिक ! द्वादशाब्द व्यापी प्रायश्चितों में वैसी शक्ति नहीं है,क्योंकि वे प्रायश्चित श्रीभगवान् से अभिन्न नहीं है। अतः उनकी शक्ति श्रीभगवान् के समान नहीं है। भगवन्नाम के समान नहीं है।

(ग) पाप -वासना के निर्मूल करने में नामाभास की शक्ति भी नाम की शक्ति के समान है।

उसका कारण यह है कि नाम और नामाभास का पार्थक्य केवल प्रयोग स्थल में ही है। शब्दों में पार्थक्य नहीं है। चाहे श्रीभगवान् को लक्ष्य करके उच्चारण किया जावे या पुत्र को लक्ष्य करके उच्चारण किया जाए, उच्चारण किया जाता है "नारायण–शब्द ही, 'नारायण' या और कोई भगवन्नाम जिस भाव से या जिस लक्ष्य को ले करके क्यों न उच्चारण किया जाए, उच्चारण होने पर उस नाम के उच्चारण करने वाले को श्रीभगवान् अपना जन जान लेते हैं एवं उसकी रक्षा करना अपना कर्त्तव्य मान लेते हैं, जैसा कि पूर्वोल्लिखित **नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद् विषया मतिः**-आदि श्लोक में कहा गया है। नाम का स्वरूपगत धर्म है कि नामी को अपनी ओर खींचता–झुकाता है-**"नमयति इति नाम"**। इसलिये किसी भी प्रकार से नाम का उच्चारण किया जाए, नामी–श्रीभगवान् नाम उच्चारणकारी को अङ्गीकार करते हैं। किसी वस्तु को क्यों न लक्ष्य करके नाम उच्चारण किया जाए, वह अपनी शक्ति को प्रकाशित करता ही है। क्यों करता है ? यह प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि वस्तु शक्ति बुद्धि की अपेक्षा नहीं रखती। नाम परम स्वतन्त्र, चिद्वस्त, परम शक्ति शाली एवं सर्वोपरि परम करुण है।

श्रुति कहती है-" एतद्‌ध्हि एव अक्षरं ब्रह्म"—नामाक्षर ही ब्रह्म है। ब्रह्म जैसा परम स्वतन्त्र, चिद्वस्तु एवं सच्चिदानन्द स्वरूप है, ब्रह्म का वाचक नाम भी उसी प्रकार परम स्वतन्त्र चिद्वस्तु एवं सच्चिदानन्द स्वरूप है। जैसा कि कहा गया है—

कृष्णनाम, कृष्णरूप, कृष्णलीलावृन्द ।
कृष्णेर स्वरूप-सम सब चिदानन्द ॥

प्राकृत बुद्धि से किसी भी अप्राकृत वस्तु की महिमा नहीं जानी जा सकती। अतः नाम अपने अचिन्त्य शक्ति-प्रभाव से नामाभास रूप में भी अपने स्वरूप धर्म वशतः अपने समान ही फल प्रदान करने में समर्थ है।

(घ) नाम के अक्षर व्यवहित होने पर भी नाम की शक्ति नष्ट नहीं होती ।

जैसे कि पहले कहा जा चुका है भगवन्नाम के अक्षर परस्पर जुड़े रहें अथवा उनमें व्यवधान रहे अर्थात् एक दूसरे से दूर-दूर रहें तो भी वह अपना फल प्रदान करते हैं। 'राजमहिषी'-शब्द में जो 'रा' एवं 'म' शब्द हैं, वे भी 'राम'-श्रीभगवन्नाम का फल प्रदान करने वाले हैं। प्राकृत अक्षरों द्वारा अवश्य हम भगवन्नामों को लिखते हैं। किन्तु भगवन्नाम रूप में आते ही वे चिन्मयता को प्राप्त कर लेते हैं। प्राकृत वस्तुएँ—भोजन-वस्त्रादि भगवन् अर्पण होने पर जैसे चिन्मयता को, प्रसादरूपता को प्राप्त कर लेती हैं, उसी प्रकार नामाक्षर भी भगवन्नामरूप को प्राप्त कर चिन्मय हो जाते हैं। वे चिन्मय अक्षर प्राकृत ही दीखते हैं वह नेत्रों का ही दोष है। मायाकृत विभ्रम द्वारा जैसे मूर्खलोग श्रीभगवान् के विग्रह को प्राकृत जान लेते हैं, उनके कहने से जैसे वस्तुतः भगवद् विग्रह प्राकृत नहीं हो जाता, उसी प्रकार भगवन्नाम के अक्षर मायाविभ्रमद्वारा चाहे हमें प्राकृत दीखते हैं तथापि वे चिन्मय ही होते हैं। अतः भगवन्नामाक्षर व्यवहित होने पर भी परस्पर अलग-अलग रहने पर भी चिन्मय स्वरूप ही रहते हैं एवं उनकी शक्ति अक्षुण्ण रहती है।

(ङ) नामाभास से क्या सब की मुक्ति हो जाती है ?

जगत् में प्राय सब ही लोग किसी न किसी समय, किसी न किसी उपलक्ष को लेकर नामाभास का उच्चारण करते ही हैं, और नामाभास में पाप निर्मूल करने की एवं मुक्ति देने की स्वभाविकी शक्ति है। ऐसा होने पर फिर जगत् में सब लोगों की बार-बार पाप में प्रवृत्ति क्यों है? क्या नामाभास से सब मुक्त होजाएँगे ?—इसका उत्तर यह है कि सब के पापों का निर्मूलीकरण भी नहीं होगा और न ही सब की मुक्ति ही होगी। उसका कारण केवल नामापराध है। जब तक पूर्व सञ्चित या वर्तमान जन्म के सञ्चित नामापराध रहते हैं तब तक नाम या नामाभास अपना फल प्रदान नहीं करते ऐसा शास्त्रों का निर्णय है। नाम-माहात्म्य सुन कर भी नाम ग्रहण करने की प्रवृत्ति न होना—यह एक नामापराध है। यह नामापराध प्रायः सब जगत् के लोगों में रहता है अतः इस नामापराध के कारण सब की पाप-निवृत्ति एवं मुक्ति नहीं होती।

(च) स्मृतिविहित कर्मादि के अनुष्ठान प्रसङ्ग में उच्चारित नाम से मुक्ति होती है क्या ?

स्मृति विहित कर्मानुष्ठान करने या कराने वालों द्वारा जो नाम उच्चारित होता है, उन को भी नाम का फल प्राप्त नहीं होता या वे मुक्त नहीं होते ! कारण कि वे भगवन्नाम में अर्थवाद की कल्पना करते हैं जो एक नामापराध है—इसी कारण कर्मों का अनुष्ठान करते कराते में उन्हें नामाभास का भी फल प्राप्त नहीं होता। निरपराध होकर नाम ग्रहण करने से नाम का मुख्य फल—भगवत्-प्रेम प्राप्त किया

जा सकता है, उसमें आनुषङ्गिक भाव से स्मृति विहित कर्मों का फल प्राप्त हो सकता है, तथापि वे लोग नाम का आश्रय ग्रहण न करके स्मृति विहित कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत होते हैं—इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनकी नाम में अधिक श्रद्धा नहीं है। वे नाम की महात्म्यकथा को दिल बहलाने वाली अतिरञ्जित उक्ति ही मानते हैं—जो नाम के प्रति अपराध है, अतः उनको नामाभास का फल भी प्राप्त नहीं होता है, उनको मुक्ति नहीं होती है, कर्मों का फल भोगने के बाद वे फिर संसार बन्धन में आते हैं।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती पाद ने कहा है—**श्रीहरिनाम एक बार ही उच्चारित होने पर पाप को समूल नष्ट कर देता है**, यह बात सत्य है, किन्तु फल वाले वृक्ष जैसे यथा समय फल धारण या प्रदान करते हैं, वृक्ष बोने के साथ साथ उनमें फल नहीं लगने लग जाता, कुछ विलम्ब पाकर उनमें फल आता है, उसी प्रकार भगवन्नाम भी किञ्चत विलम्ब से लोगों को अपना फल दिखाता है और बहिर्मुख-शास्त्रमत जिससे उच्छेद को प्राप्त न हो, इस उद्देश्य को लेकर भी बाहर फल का प्रकाश न करते हुए निरपराध नाम उच्चारण करने वालों को श्रीहरिनाम भगवद्धाम को ले जाता है। तात्पर्य यह है कि जिन में नामापराध नहीं है, उनको भगवन्नाम भगवद्धाम में ले जाता है। नामापराध युक्त नाम उच्चारणकारी को नाम भगवद्धाम में नहीं ले जाता। दूसरे—नाम का फल जगत् में यदि बाहर प्रकाशित हो जाए तो उससे बहिर्मुख-शास्त्रों के मत उच्छेद को प्राप्त हो सकते है—इसलिये कभी कभी नाम अपने फल को बाहर प्रकाशित नहीं करता है।

प्रश्न हो सकता है—बहिर्मुखशास्त्र मत के उच्छेद को प्राप्त होने में क्षति क्या है?—इसका समाधान यह है कि जो बहिर्मुखजीव हैं, वही देह-दैहिक वस्तु सम्बन्धीय स्मृति आदि शास्त्रों का अनुसरण करते हैं—देह के सुख या दुख-निवारण के उद्देश्य से। पारमार्थिक भक्ति शास्त्रों में उन की लगन ही नहीं है। क्योंकि पारमार्थिक भक्तिशास्त्र देह-दैहिक वस्तुओं की आसक्ति को त्याग करने का उपदेश देते हैं। वे यदि यह जान लें कि बहिर्मुख शास्त्र मत का मूल्य विशेष कुछ नहीं है, तो फिर वे उन शास्त्रमतों का अनुसरण न करेंगे—अनुसरण न करना ही शास्त्रमत की उच्छेद प्राप्ति है और बहिर्मुखता वश वे पारमार्थिक शास्त्रमतों का तो अनुसरण करेंगे ही नहीं। इससे न वे उधर के रहेंगे न इधर के। उनका अधःपतन हो जाएगा। पारमार्थिक शास्त्रों का अनुसरण न करने पर स्मृति-आदि शास्त्रों का अनुसरण करने में चित्त शुद्धि एवं संयत जीवन यापक करने की सम्भावना है। इसलिये बहिर्मुख जीवों के लिये स्मृत्यादि शास्त्रों का अनुसरण आपेक्षिक भाव से कल्याण जनक है। अतः अधिकारी भेद से इन समस्त शास्त्रों की प्रयोजनीयता है। किन्तु नाम का फल बाहर प्रकाश होने से बहिर्मुख लोग यह देखेंगे कि स्मृति-आदि शास्त्रमत का अनुसरण न करने पर भी केवल नाम से जीव का दुख एवं संसार बन्धन नष्ट हो सकता है, तब वे कष्ट साध्य एवं खर्चीले कर्मानुष्ठानों को क्यों करने लगेंगे? अर्थात् वे कर्मानुष्ठानों का त्याग कर देंगे। (बहिर्मुखतावशतः वे नाम भी ग्रहण न कर सकेंगे) इस प्रकार बहिर्मुख जीवों के लिये किञ्चित् कल्याण करने वाले बहिर्मुख शास्त्र मत उच्छेद को—क्षति को प्राप्त हो जाएँगे। अतः श्रीहरिनाम कभी कभी फल बाहर प्रकाश नहीं भी करता।

(छ) प्रायश्चितादि प्रसङ्ग में नामापराध रहने से उसका फल प्राप्त होता है कि नहीं? योग ज्ञानादि के अङ्गभूत नाम का फलः—

ऊपर कहा जा चुका है कि हरिनाम का आश्रय ग्रहण न करके जो अन्यान्य प्रायश्चित करते हैं, वे नाम के प्रति अपराध करते हैं—अब यह प्रश्न उठता है कि उन प्रायश्चित करने वालों को उस प्रायश्चित का फल भी प्राप्त होगा कि नहीं? अर्थात् जिस पाप की निवृत्ति के लिये वे जो प्रायश्चित कर रहे

हैं, उस प्रायश्चित से उनका वह पाप (नामापराधी होते हुए) नष्ट होगा कि नहीं ?—और जो योग और ज्ञान मार्ग का अनुसरण करने वाले हैं जो आनुषङ्गिकरूप से नाम का ग्रहण करते हैं, उनको नाम का क्या फल मिलेगा ?—इस प्रश्न का उत्तर श्रीचक्रवर्ती पाद ने श्रीभागवतजी के (६-१-६ व १०वें) श्लोक की टीका में इस प्रकार दिया है—वे कहते हैं, उस प्रायश्चित से उनका वह पाप नष्ट हो जायगा। जो फल की कामना करते हुए शास्त्र विहित कर्मों के अनुष्ठान करते हैं, वे जो अपने कर्मों की फल सिद्धि के निमित्त भगवन्नाम ग्रहण करते हैं—वह नाम ग्रहण करना **नामोपलक्षिता-भक्ति** है, जो भक्ति का एक अङ्ग है। किन्तु उसमें फलाभिसन्धान है—इसलिये वह उनकी **गुणीभूता-भक्ति** है। नामोपलक्षिता-भक्ति भी अपनी कृपा के तारतम्यानुसार भिन्न भिन्न रूप से फल प्रदान किया करती हैं। अतः इस रूप में उनके प्रायश्चित के फल में वही भक्ति ही उनके पापों का नाश कर देती है। किन्तु कर्म-योग-ज्ञान तथा भक्ति के एक साथ रहते हुए यहां कर्म योग-ज्ञानादि की प्रधानता रहती है क्योंकि कर्मों का फल प्राप्ति ही उनका मुख्य उद्देश्य होता है और इसीलिये ही वे भक्ति की सहायता लेते हैं। इसलिये गुणीभूता भक्ति की सहायता से जो कर्म-योग-ज्ञान के अनुष्ठान करने वाले हैं उन्हें कर्मी-योगी-ज्ञानी ही कहा जाता है, उन्हें भक्त या वैष्णव नहीं कहा जाता। वे स्वरूपतः ही नामापराध युक्त हैं, क्योंकि वे भगवन्नाम को अपने कर्मादि अनुष्ठानों का अङ्ग रूप मानते हैं, और कर्म-योग-ज्ञानादि अनुष्ठानों को अङ्गी मानते हैं। फलदान विषय में नाम को यदि धर्म-व्रत-शुभ क्रियाओं के समान समझा जाए तो नामापराध होता है, यहाँ जो नाम को धर्म का अङ्ग माने बैठे हैं—वे स्वरूपतः नामापराधी हैं—इसमें शक ही क्या है ? किसी उद्देश्य से भी क्यों न हो, नाम का वे लोग आश्रय तो लेते ही हैं, इसी नामाश्रय ग्रहण रूप गुण लेश के प्रभाव से नामापराध रहते हुए भी, कर्मी-योगी-ज्ञानियो द्वारा अपना अपकर्ष जानते हुए भी, केवल अपनी असाधारण कृपासे, कर्मादि अनुष्ठानों का अंगरूप होकर भी श्रीभगवन्नाम कर्मियों को, योगियों को एवं ज्ञानियों को उनके अनुष्ठानों का फल प्रदान करता ही है, इसी प्रकार नामापराध होते हुए भी प्रायश्चितादि का अंगभूत भगवन्नाम प्रायश्चित-कारियों के पापों को नष्ट कर ही देता है।

श्रीचक्रवर्तीपाद ने यह भी लिखा है कि जो लोग प्रायश्चित नहीं करते हैं, उन्हें पापों का फल भोगने के लिये नरक में जाना पड़ता है। किन्तु वैष्णवजनों को प्रायश्चित न करने पर भी नरक में नहीं जाना पड़ता है, कारण कि वैष्णवजन भगवन्नाम कीर्त्तन करते रहते हैं, उनके पाप विनष्ट हो जाते हैं। कर्मी एवं ज्ञानी लोग यदि पुनः पुनः नाम में अर्थवाद की कल्पना एवं साधुनिन्दादि रूप नामापराध करते रहें, तो उनके धर्मानुष्ठान का अंगभूत होते हुए भी भगवन्नाम गुणीभूता भक्ति साधन-धर्मादि का फल दान नहीं करता है। किन्तु वे यदि उस अपराध से निवृत्त होकर नामकीर्त्तन परायण हो जाएँ, तब नामा-पराध-क्षयता के तारतम्यानुसार उनकी कर्मफल प्राप्ति में भी तारम्तय रहता है। साधुसंग के प्रभाव से समस्त नामापराधों के क्षय हो जाने पर भक्तिदेवी की सम्यक् कृपा-प्राप्ति होने पर नाम का पूर्णफल प्राप्त हो सकता है।

(ज) नामापराध यदि होता है, तो कर्मज्ञानादि के अङ्ग रूप में नामोच्चारण का विधान क्यों है ? प्रश्न हो सकता है—कर्म-ज्ञानादि के अङ्ग रूप में भगवन्नाम-उच्चारणादि रूप भक्ति अङ्ग के अनुष्ठान की बात जब शास्त्रों में वर्णित है, तब इस प्रकार के शास्त्रों के विधि वाक्यों को पालन करने में नामापराध क्यों होता है या क्यों रह जाता है ?—शास्त्र का विधान है कि एक मात्र भक्ति के प्रभाव से ही कर्म-योग-ज्ञानादि समस्त धर्मों की सम्यक् सिद्धि हो सकती है। उससे महापातकादि भी विनष्ट हो सकते हैं। जिन को शास्त्र के इन वचनों पर विश्वास नहीं है, जो कर्म-ज्ञानादि में ही श्रद्धा रखने वाले हैं, कर्मादि के अङ्ग रूप से भक्ति-अङ्गों के अनुष्ठान के फल में उस समस्त लोगों के चित्त में भक्ति की महिमा

स्फुरित हो सकती है—इसी उद्देश्य को लेकर ही परम-करुण वेद-शास्त्रों ने कर्म-ज्ञानादि के अङ्गरूप में भक्तिअङ्गों के अनुष्ठान का उपदेश दिया है। ताकि वे किसी न किसी प्रकार भक्तिअङ्गों का अनुष्ठान करें तो सही। यज्ञों के लिये पशु-हिंसा का विधान भी शास्त्रों में दीखता है। पशु-हिंसा मूलक यज्ञों के अनुष्ठान के फल से स्वर्ग की प्राप्ति तो हो जाती है, किन्तु पशु-हिंसा जनित जो पाप है वह नष्ट नहीं होता, वह रह जाता है, उसी प्रकार कर्मादि की **अङ्गभूत भक्ति के फल से उन्हें कर्मों का फल तो प्राप्त हो जाता है, किन्तु नामापराध नष्ट नहीं होता, वह शेष रहता है।**

(झ) नामापराध कैसे दूर हो सकता है ?—

इस प्रसङ्ग में श्रीभागवत के (६-२-९ वें) श्लोक की टीकान्तर्गत श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद लिखते हैं—"जो समस्त नामापराधी वैष्णव श्रीगुरु द्वारा वैष्णव-दीक्षा ग्रहण करके प्रधान रूप से भक्ति-देवी का आश्रय ग्रहण कर नाम सङ्कीर्त्तनादि द्वारा श्रीभगवान् का भजन करते हैं, उन पर ही भक्ति-देवी की कृपा होती है, उनके हृदय में भक्तिरानी उदय होती है। उस भक्ति के तारतम्यानुसार भजन करने वालों पर भक्ति की कृपा का भी तारतम्य होता है। उस कृपा के तारतम्यानुसार उनके अपराधों के नाश में भी तारतम्य रहता है। भक्ति के मुख्य फलोदय में भी तारतम्य रहता है। जैसे कि श्रीभगवान् ने उद्धव जी के प्रति श्रीभागवत जी में (११-१४-२६) में कहा है—"हे उद्धव ! चक्षुओं में अञ्जन लगाने से जैसे सूक्ष्म वस्तु दीखने लगती है, उसी प्रकार मेरे भजन के आरम्भ से लेकर मेरी पुण्य-कथा के श्रवण-कीर्त्तनादि के द्वारा साधक का चित्त क्रमशः जैसे-जैसे परिशुद्ध होता है, मेरे रूप-गुण-लीला आदि का स्वरूप एवं मेरे माधुर्य का स्वरूप वह क्रमशः वैसे वैसे ही अनुभव कर पाता है।

सारांश यह है कि—यथारीति वैष्णव-दीक्षा लेकर भक्ति-अङ्गों के अनुष्ठान के द्वारा ही क्रमशः अपराधों का क्षय होता है। अपराधों के नाश हो जाने पर ही साधक को श्रीभगवान् की प्राप्ति हो सकती है, जिस से पुनः उसका आवागमन संसार में नहीं होता।

(ञ) वैष्णव का पुनर्जन्म व पाप—

क्यों जी, अपराध तो सम्पूर्ण रूप से नाश हुए नहीं और मृत्यु हो गई, तो क्या वैष्णव का पुनर्जन्म नहीं होता है ? क्या उसे नरक भोग नहीं करना पड़ता है ?—इसके उत्तर में कहते हैं—अपराध युक्त व्यक्ति में भजन के अभ्यास के अभाव वशतः यदि किसी का पूर्व जन्म का पाप क्षय नहीं होता है और कोई-कोई यदि पाप एवं अपराध भी करता रहता है, तथापि देहत्याग के बाद उसे नरक में नहीं जाना पड़ता है। यह बात तो स्वयं यमराज ने कहा है (श्री भाः ६-३-२६) —"जिन्होंने भक्तियोग का आश्रय ग्रहण किया है, वे कभी भी मेरे द्वारा दण्ड प्राप्ति के योग्य नहीं हैं, चाहे उनका किसी कारण से पाप भी वर्त्तमान है, वह भगवन्नाम कीर्त्तन से नष्ट हो जाता है।'

अपराध युक्त वैष्णव का पुनर्जन्म होता है, यह बात सत्य है, किन्तु उसका जन्म अन्यान्य लोगों की भांति पाप-पुण्यादि कर्म-फल बन्धन वशतः नहीं होता है। "न **कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानाञ्च विद्यते इति**"। शुद्धा-भक्ति मार्ग के अनुष्ठान में जो प्रवृत्त हो जाता है, उपक्रम से यदि उसके लिये कोई विघ्न प्राप्त हो जाता है, उस से उसकी भक्ति अंकुर मात्र भी विनष्ट नहीं होती है। देह त्याग के बाद भी वह अविनश्वर रहती है, कारण कि वह स्वरूपतः अविनश्वरा है। वह पापादि द्वारा अतिक्रम नहीं की जा सकती, वह अमोघ है। देह त्याग से पहले किञ्चिन्मात्र भक्ति भी यदि निष्काम भक्त के चित्त में आविर्भूत हो जाए तो देह त्याग के बाद दूसरे जन्म में वही भक्ति ही उसे फिर भक्ति-साधन में जुटा देती है। अतः

अपराधयुक्त वैष्णव का यदि शरीर पात हो जाता है तो पुनः भजन करने के लिये ही उस वैष्णव का पुनर्जन्म हुआ करता है। उस जन्म में प्राचीन भक्ति संस्कार होने से वह फिर नामकीर्त्तनादि में प्रवृत्त हो जाता है और उस के द्वारा पाप एवं अपराधों को सम्पूर्ण नष्ट करके वह भक्ति देवी की कृपा को प्राप्त कर लेता है और उसके फलस्वरूप उसे भगवत्-प्राप्ति हो जाती है।

(ट) अदीक्षित नामाश्रयी —

उपर्युक्त आलोचना से ज्ञात होता है-जो वैष्णव गुरुदेव से वैष्णव दीक्षा ग्रहण कर भजन में प्रवृत्त होते हैं, भजन की अपक्व अवस्था में देह-त्याग हो जाने पर भी वे नरक में नहीं जाते, किन्तु जो दीक्षा लिये बिना नाम कीर्त्तन-भजन किया करते हैं, उन की गति क्या होगी ?—श्रीचक्रवर्ती पाद कहते हैं-जो कर्मयोग ज्ञानादि से रहित हैं, नामापराध-युक्त हैं परन्तु ऐसे होकर भी जो श्रवण कीर्त्तनादि भक्ति अङ्गों के अनुष्ठानों मे लगे हुए हैं, किन्तु यदि उन्होंने श्रीगुरुचरण आश्रय ग्रहण नहीं किया है-दीक्षित नहीं हैं, वे भी एक प्रकार से वैष्णव ही हैं। दीक्षित पुरुष दीक्षा द्वारा श्रीभगवान् को अपने इष्टदेव के रूप में ग्रहण करते हैं और अदीक्षित पुरुष नाम का आश्रय लेकर भजन द्वारा श्रीभगवान् को अपने भजनीय रूप में ग्रहण करते हैं। दोनों का भजनीय तत्त्व एक ही श्रीभगवान् हैं, अतः दीक्षित व्यक्ति की भाँति अदीक्षित नामाश्रयी पुरुष को भी नरक नहीं भोगना पड़ता।

इस सिद्धान्त का उल्लेख करके श्रीचक्रवर्ती पाद स्वयं कहते हैं कि कोई-कोई इस सिद्धान्त को सुसङ्गत नहीं मानते हैं। " उनका सिद्धान्त यह है कि—"श्रीभगवान् ने श्रीमद्भागवत (११-२०-१७) में कहा है कि श्रीगुरु का चरणाश्रय अपरिहार्य है"। अतः जो अदीक्षित हैं किन्तु नाम का आश्रय जिन्हों ने ले रखा है, भजन के प्रभाव से दूसरे जन्म में वे श्रीगुरु का चरण आश्रय लेकर ही जब भजन करेंगे, तब ही उनको भगवत्-प्राप्ति होगी, अन्यथा नहीं। किन्तु यह बात स्मरणीय है कि जो गो-गर्दभ की भाँति अपनी इन्द्रियों को विषयों में ही लगाए हुए हैं, भगवान् क्या वस्तु है, भक्ति क्या वस्तु है, गुरु क्या होता है-स्वप्न में भी जो इस सब विषय को नहीं जानते हैं। वे यदि निरपराध अजामिल की तरह नामाभास रूप से भी श्रीहरिनाम ग्रहण करते हैं, उनका बिना गुरुचरणाश्रय उद्धार हो सकता है। किन्तु जो यह जान चुके हैं कि श्रीभगवान् ही भजनीय तत्त्व हैं, भजन के द्वारा ही उनकी प्राप्ति होती है, भजन का उपदेश श्रीगुरु द्वारा ही प्राप्त होता है एवं गुरु द्वारा उपदेश प्राप्त सब भक्तों ने ही श्रीभगवान् की प्राप्ति की है ये सब विषय जान कर भी जो यह कहते हैं कि "नाम दीक्षा-पुरश्चरण आदि किसी की अपेक्षा नहीं रखता। जिह्वा से स्पर्श होने से ही नाम आचाण्डाल सब का उद्धार कर देता है, अजामिल ने कौन सा गुरु धारण किया था ? गुरु धारण करने का क्या प्रयोजन है, नाम कीर्त्तन से ही हमें भगवत्-प्राप्ति हो जायगी— "उन लोगों को कभी भी भगवत्-प्राप्ति का स्वप्न नहीं देखना चाहिये, कारण कि उन में गुरु-अवज्ञारूप महापराध है, उनको कभी भी भगवत्-प्राप्ति नहीं हो सकती। जब तक उनका यह अपराध क्षय नहीं होता, जब तक वे इस जन्म में नहीं बल्कि जन्मजन्मान्तर में श्रीगुरुचरण आश्रय ग्रहण नहीं करते तब तक उन्हें भगवत्-प्राप्ति नहीं हो सकती। यह सिद्धान्त अटल है।

(ठ) बार-बार नामाभास उच्चारण करते हुए भी मृत्युपर्यन्त अजामिल की पाप-प्रवृत्ति क्यों रही ? —

उपर्युक्त आलोचना से श्रीभगवन्नाम की असाधारण महिमा का ज्ञान होता है। किसी प्रकार से किसी भाव से भी नाम का उच्चारण किया जाये, उससे अशेष पापों का क्षय हो जाता है। इतना अवश्य है कि नामापराधों के रहते हुए नामोच्चारण का तत्क्षण फल नहीं प्राप्त होता। अजामिल दुराचारी था

किन्तु उसमें नामापराध न था। अपने पुत्र के नाम-करण के नाद उसने अनेक बार 'नारायण'-'नारायण' कह कर बुलाया होगा केवल मृत्यु के समय नहीं। जब उसने सर्व प्रथम 'नारायण' नाम का उच्चारण किया होगा, तभी उसके सर्व पाप नष्ट हो गये होंगे। यदि ऐसा ही है तो उसके बाद फिर उसकी आसक्ति दासी में क्यों बनी रह गई ? फिर भी वह जीवन पर्यन्त क्यों पापों में लगा रहा ?—इससे यह कहा जा सकता है कि प्रथम बार नामोच्चारण के बाद उसके पाप या उसकी पाप-वासना निर्मूल नहीं हुई ?–इस आशङ्का के उत्तर देते हुए श्रीजीवगोस्वामीपाद एवं श्रीचक्रवर्तीपाद ने कहा है—वस्तुत: अजामिल ने अपने पुत्र के नामकरण के बाद जब प्रथम बार 'नारायण'-नाम का उच्चारण किया था—उसी एक बार नाम उच्चारण करने से ही अजामिल के समस्त पाप विनष्ट हो गये थे। उसके बाद जो अनेक बार वह नामों का उच्चारण करता रहा—वे नाम उसके भक्ति के साधक थे—भक्ति के उद्बोधक थे। प्रश्न यह है कि ऐसा होने पर भी अजामिल की प्रवृति पापों में मृत्यु पर्यन्त कैसे बनी रही ?—श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती-पाद ने कहा है—पूर्व संस्कार वशत: जीवन्मुक्त पुरुषों को भी कर्म करते हुए देखा जाता है, अजामिल भी उसी प्रकार पूर्व संस्कार वशत: मृत्युसमय पर्यन्त पाप-कर्मों को करता रहा। किन्तु जैसे जिस सर्प के विषके दाँत उखाड़ लिये गये हैं, उसके काटने से जैसे किसी के शरीर में विष नहीं व्यापता। उसी प्रकार पहली बार नामोच्चारण के बाद अजामिल जो समस्त पाप कर्म करता रहा उन पापों का कुछ भी फल प्रसव न हुआ, वे निष्फल ही थे।

(ड) विष्णुदूत अजामिल को उसी समय वैकुण्ठ क्यों न ले गये ?

प्रश्न उठता है—अजामिल यदि अविद्या-निर्मुक्त ही हो गया होता तो नाम ग्रहण मात्र से ही उसे वैकुण्ठ-प्राप्ति होनी चाहिये थी और जैसे पहले कहा गया है--कि पूर्व संस्कार वशत: ही प्रथम बार नाम ग्रहण करने के फल से मायामुक्त होकर भी वह पाप कर्म करता रहा—किन्तु विष्णुदूतों द्वारा जब उसे यमदूतों के हाथों से छुड़ा लिया गया था, तब उसमें पूर्व संस्कार कोई भी न रहा था, वह निर्वेद-अवस्था को प्राप्त हो गया था। उसके बाद उसने पाप कर्म भी कुछ नहीं किया, किन्तु फिर भी उसे विष्णुदूत वैकुण्ठ में नहीं ले गये, ऐसा क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीजीवगोस्वामीपाद ने लिखा है कि दो प्रकार से नाम ग्रहण किया जाता है। १-केवल रूपसे, २–स्नेह संयुक्तरूप से। केवल रूपसे अर्थात् श्रीभगवान् के प्रति लक्ष्य रख कर श्रद्धा सहित एकान्तिक भाव से नाम ग्रहण किया जाता है, उससे नाम तत्क्षण ही नाम ग्रहण कारी को भगवत् लोक की प्राप्ति करा देता है। स्नेह युक्त-भाव से जो नाम ग्रहण किया जाता है, उससे भगवत् सामीप्य की प्राप्ति होती है। श्रीभगवान् ने कहा है, "जो मेरा भजन करते हैं, मेरे स्मरण मनन-ध्यानादि के द्वारा मुझ में उनका स्नेह वर्द्धित हो, इसी उद्देश्य से मैं उन भक्तों को अपने लोक में शीघ्र नहीं ले जाता हूँ। जब उनका भजन करते-करते मुझ में वृद्धि प्राप्त स्नेह हो जाता है तब मैं उन्हें अपने पास बुला लेता हूँ (श्रीभागवत १०-३२-२०)। इस से पता लगता है कि स्नेह-युक्त नाम से किञ्चिद् बिलम्ब से ही भगवान् का सामीप्य प्राप्त होता है अर्थात् स्नेह-युक्त भाव से जो नाम-कीर्त्तन करते हैं, ध्यानादि द्वारा उनको स्नेह-वृद्धि के उद्देश्य से, उनको ध्यानादि का सुयोग देने के उद्देश्य से सहसा उनको भगवत् लोक में नहीं ले जाया जाता, कुछ विलम्ब से ले जाया जाता है।

अजामिल का श्रीभगवान् में स्नेह नहीं था। उसका स्नेह था नारायण-नामक पुत्र में। विष्णु दूतों ने देखा—अजामिल ने श्रीनारायण के प्रति लक्ष्य करके तो नामोच्चारण किया नहीं। अब कुछ दिन यह श्रीभगवान् के प्रति भी लक्ष्य रख कर उत्कण्ठा सहित श्रीभगवन्नामादि का कीर्त्तन करे एवं उस के फल से श्रीभगवान् में इसका स्नेह भी प्रकृष्ट रूप से बढ़ आवे—फिर इसे वैकुण्ठ में ले जाएंगे—यही मानो

उन के प्रभु श्रीभगवान् की उनके लिये आज्ञा थी। इसीलिये अजामिल को तत्क्षणात् विष्णु-दूत वैकुण्ठ में नहीं ले गये। तात्पर्य यह है कि श्रीनाम कीर्त्तनादि द्वारा श्रीभगवान् में एवं श्रीभगवन्नाम में अजामिल की प्रीति उत्पादन करने के लिये एवं प्रीति-वर्धन का सुयोग देने के उद्देश्य से विष्णु-दूत यम पाशों से मुक्त कर गये किन्तु अपने साथ वैकुण्ठ नहीं ले गये।

(ढ) देह-धनादि के उद्देश्य से नामकीर्त्तन—

अनेक लोग ऐसे भी हैं, जो केवल अपने जीवन निर्वाह के लिये कथा-नाम कीर्त्तनादि करते हैं। नाम कीर्त्तन से लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, उन से अपनी देह-प्रतिष्ठा एवं धन उपार्जन किया करते हैं—यह उनका पेशा है—उन लोगों के लिये भी पूर्ववर्त्ती (३-३-३) "नामैकं यस्य वाचि स्मरण पथगतम्"—इत्यादि श्लोक में कहा जा चुका है कि देह-वित्तादि के उद्देश्य को लेकर जो नाम कीर्त्तनादि करते हैं, उन्हें भी नाम का फल शीघ्र प्राप्त नहीं होता। कारण कि कर्म-योग-ज्ञान के साथ मिश्रित भक्ति की तरह देह-वित्तादि का उद्देश्य रख कर जो नामोच्चारण है, वह भी गौणभक्ति है। वह नाम के प्रति अपराध है, अतः जब तक नाम को गौणरूप में उच्चारण करने का नामापराध रहता है, तब तक नाम का फल प्राप्त नहीं होता। होता है किन्तु विलम्ब से नामापराध रहित होने पर। इस प्रकार का या सब प्रकार के नामापराध भी केवल नाम-कीर्त्तन से ही दूर होते हैं—जैसा कि श्रीहरिभक्तिविलास (११-२८-७ व ८) में कहा गया है—

जाते नामापराधेऽपि प्रमादेन कथञ्चन।
सदा सङ्कीर्त्तयन्नाम तदेक शरणो भवेत् ॥ट॥
नामापराधयुक्तानां नामन्येव हरन्त्यघम।
अविश्रान्त प्रयुक्तानि तान्येवार्थ कराणि च ॥ठ॥

"अनवधानतावश जब किसी भी प्रकार का नामापराध हो जावे, तो भी नाम सङ्कीर्त्तन करते हुए केवल नाम की ही शरणापन्न होना चाहिये। नामापराध-युक्त पुरुषों के समस्त पाप-अपराध भगवन्नाम ही हरण कर लेता है। निरन्तर नाम-सङ्कीर्त्तन करने से नामापराध से जीव रहित हो जाता है, एवं उसे नाम के मुख्य फल—श्रीभगवत्-प्रेम की प्राप्ति हो जाती है।

गोपाल चक्रवर्त्ती नाम एक ब्राह्मण। मजुमदारेर घरे सेइ आरिन्दा प्रधान ॥१७८॥
गौड़े रहे,पात्शाहा आगे आरिन्दागिरी करे। बारलक्ष मुद्रा सेइ पात्शार ठाञि भरे ॥१७९॥
परम सुन्दर पण्डित नूतन यौवन। 'नामाभासे मुक्ति' शुनि ना हइल सहन ॥१८०॥
क्रुद्ध हञा बोले सेइ सरोष वचन। भावकेर सिद्धान्त शुन पण्डितेरगण ॥१८१॥
कोटि जन्मे ब्रह्मज्ञाने येइ मुक्ति नय। एइ कहे, नामाभासे सेइ मुक्ति हय ॥१८२॥
हरिदास कहे—केने करह संशय ? शास्त्रे कहे, नामाभास मात्रे मुक्ति हय ॥१८३॥
भक्ति सुख आगे मुक्ति अति तुच्छ हय। अतएव भक्तगण मुक्ति नाहि छोंय ॥१८४॥

(जिस समय श्रीहरिदास जी ने उस सभा में कहा कि नामाभास से तुच्छ मुक्ति तो सहज में में मिल जाती है और भक्त-गण मुक्ति देने पर भी ग्रहण नहीं करते हैं) वहाँ एक ब्राह्मण बैठा था, जिसका नाम गोपाल चक्रवर्त्ती था। वह श्रीहिरण्यदास व श्रीगोवर्धनदास जी के घर का प्रधान कारिन्दा

था। गौड़ देश में रहने वाले नवाव को वह बारह लाख मुद्रा हिसाव करके दोनों भाईयों की ओर से प्रतिवर्ष भुगतान किया करता था। वह परम सुन्दर एवं नवीन यौवन युक्त था, जव उसने यह सुना कि नामाभास से मुक्ति प्राप्त हो जाती है, तो उस से सहन न हुआ। वह क्रोधित होकर कठोर वचन कहने लगा—"पण्डित जन ! इस भावक पुरुष का सिद्धान्त भी सुनिये। कोटि जन्म तक ब्रह्मज्ञान का साधन करने से भी जो मुक्ति प्राप्त नहीं होती है, यह बता रहे हैं वह ऐसी दुर्लभ मुक्ति नामाभास से मिल जाती है। (भावक कहने का तात्पर्य यह था कि इस उक्ति को कोई शास्त्र व विद्वत् समाज अनुमोदित नहीं करेगा—यह भावक लोग हैं अर्थात् सरल बुद्धि एवं अति-विश्वासी हैं, यह इनकी भाव-पूर्ण वाचालता है—और कुछ नहीं ? ऐसा कह कर गोपाल चक्रवर्त्ती ने श्रीहरिदास का उपहास किया।) श्रीहरिदास जी ने कहा—"आप संशय क्यों कर रहे हैं ?—शास्त्र ही कहता है, (मैं भावक नहीं कहता हूँ) कि भक्ति सुख के सामने मुक्ति अति तुच्छ है, इसलिये भक्तजन मुक्ति को छूने भी नहीं हैं ।।१७८—१८४।।

तथाहि हरिभक्तिसुधोदय (१४-३६)—

त्वत्साक्षात्करणाह्लादविशुद्धाब्धिस्थितस्य मे ।
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्माण्यपि जगद्गुरो ।।१४।।

श्रीप्रह्लाद जी ने श्रीनृसिंहदेव जी के प्रति कहा है—'हे जगद् गुरो ! आपके साक्षात् दर्शन करने से जिस अप्राकृत विशुद्ध आनन्द समुद्र का मैं अनुभव कर रहा हूँ, उसके सामने निर्विशेष ब्रह्मानन्द मुझे गोपद की भान्ति अति तुच्छ लगता है ।।१४।।

(भक्तिसुख के सामने ब्रह्मानन्द अति तुच्छ है—इस वात का प्रमाण ऊपर के श्लोक में मिलता है।)

विप्र कहे—नामाभासे यदि मुक्ति नय। तबे तोमार नाक काटि करह निश्चय ।।१८५।।
हरिदास कहे—यदि नामाभासे मुक्ति नय। तबे आमार नाक काटि एइ सुनिश्चय ।।१८६।।
शुनि सब सभार लोक करे हा हा कार। मजुमदार सेइ विप्रे करिल धिक्कार ।।१८७।।
बलाइ-पुरोहित तारे करिल भर्त्सन। घट—पटिया मूर्ख तुञि भक्ति काहा जान ।।१८८।।
हरिदास ठाकुरे तुञि कैल अपमान। सर्वनाश हवे तोर ना हवे कल्याण ।।१८९।।
एत शुनि हरिदास उठिया चलिला। मजुमदार सेइ विप्रे त्याग करिला ।।१९०।।
सभासहित हरिदासेर पड़िला चरणे। हरिदास हासि कहे मधुर वचने ।।१९१।।

गोपाल चक्रवर्त्ती ने कहा—"यदि नामाभास से मुक्ति न होती हो तो तुम्हारी नाक काट लूँगा—यह निश्चय जान लो।" श्रीहरिदास जी बोले—"यदि नामाभास से मुक्ति न होती हो, तो तुम निश्चय मेरी नाक काट लेना"।—ये वचन सुनते ही सारी सभा में हा-हाकार मच गया। मजुमदार (श्रीहिरण्यदास एवं श्रीगोवर्धनदास) ने गोपाल चक्रवर्त्ती को बहुत धिक्कार किया। श्रीबलरामाचार्य ने उसे बहुत बुरा-भला कहा और बोले—"तू मूर्ख अभी घट-पट आदि पढ़ने वाला है, तू भक्ति की महिमा को क्या जानता है ? तूने श्रीहरिदासठाकुर का अपमान किया है, तेरा सर्वनाश होगा एवं तेरा कभी कल्याण नहीं होगा"। यह बात सुनकर श्रीहरिदास जी वहां से उठ कर चल दिये। मजूमदार ने उस विप्र का त्याग

कर दिया। दोनों भाईयों ने सभा के सहित उठ कर श्रीहरिदास जी के चरण पकड़ लिये। श्रीहरिदास जी मुस्करा कर कहने लगे—॥१८५-१९१॥

तोमासभार कि दोष, एइ अज्ञ ब्राह्मण। तार दोष नाहि, तार तर्क निष्ठ मन ॥१९२॥
तर्केर गोचर नहे नामेर महत्व। कोथा हैते जानिवेक से एइ सब तत्त्व ॥१९३॥
याह घर, कृष्ण करुन कुशल सभार। आमार सम्बन्धे येन दुख ना हय काहार ॥१९४॥
तबे से हिरण्यदास निजघर आइला। सेइ त ब्राह्मणे निजद्वार माना कैला ॥१९५॥
तिन दिन भितरे से विप्रेर कुष्ठ हैल। अति उच्च नासा तार गलिया पड़िल ॥१९६॥
चम्पक-कलिकासम हातपायेर अंगुलि। कोंकड़ हइल सब कुष्ठे गेल गलि ॥१९७॥
देखिया सकल लोकेर हैल चमत्कार। हरिदासे प्रशंसे लोक करि नमस्कार ॥१९८॥

श्रीहरिदास जी ने कहा—"आप सब का क्या दोष है, यह ब्राह्मण अज्ञ—मूर्ख है। उस का भी दोष नहीं है, उस का मन तर्क-कुतर्क युक्त है। जिसके हृदय में तर्क है, उसके लिये नाम की महिमा को जानना कठिन है, इसलिये वह भक्ति की एवं नाम की महिमा के तत्व को कहां से जान लेता? आप सब अपने घरों को जाइये, श्रीकृष्ण सब का कुशल करें, मैं चाहता हूँ, मेरे सम्बन्ध से किसी को कोई दुख न मिले"। तब श्रीहिरण्यदास भी अपने घर चले आए और उस ब्राह्मण को अपने पास आने से मना कर दिया। इधर क्या हुआ कि तीन दिन के भीतर गोपाल चक्रवर्ती को कुष्ठ रोग हो गया और उसकी जो अति उच्च नासिका थी, गल कर गिर गई। चम्पक-कलियों के समान उसकी हाथ-पाव की अङ्गुलियाँ थीं, वे सब कुष्ठ रोग से गल-गल कर गिर गईं और वह लूला-लंगड़ा हो गया। गोपाल की यह अवस्था देख कर सब लोग आश्चर्य में डूब गये एवं श्रीहरिदास जी की अनेक प्रशंसा करके उन्हें नमस्कार करने लगे ॥१९२-१९८॥

यद्यपि हरिदास विप्रेर दोष ना लइल। तथापि ईश्वर तारे फल भुञ्जाइल ॥१९९॥
भक्तेर स्वभाव—अज्ञेर दोष क्षमा करे। कृष्णेर स्वभाव-भक्तनिन्दा सहिते ना पारे॥२००॥
विप्रेर कुष्ठ शुनि हरिदास दुखी हैला। बलाइ पुरोहिते कहि शान्तिपुर आइला ॥२०१॥
आचार्ये मिलिया कैल दण्डवत् प्रणाम। अद्वैत आलिङ्गन करि करिल सम्मान ॥२०२॥
गङ्गातीरे गोंफा करि निर्जने तारे दिल। भागवत-गीतार भक्ति अर्थ शुनाइल ॥२०३॥
आचार्येर घरे नित्य भिक्षा—निर्वाहण। दुइजना मिलि कृष्णकथा-आस्वादन ॥२०४॥

यद्यपि श्रीहरिदास जी ने गोपाल के दोष पर ध्यान नहीं दिया था, तथापि श्रीभगवान् ने श्रीहरिदास जी के प्रति अपराध का फल गोपाल को भुगवा दिया। भक्तों का तो स्वभाव है कि वे अज्ञ-मूर्ख पुरुषों के अपराधों को सदा क्षमा ही कर देते हैं किन्तु श्रीकृष्ण भगवान् का यह स्वभाव है कि वे भक्त की निन्दा या अपराध को सहन नहीं कर सकते हैं। श्रीहरिदास जी ने जब गोपाल के कुष्ठ रोग के विषय में सुना तो उन्हें बहुत दुख हुआ। श्रीबलरामचार्य से आज्ञा लेकर वे शान्तिपुर में चले आए। श्रीअद्वैताचार्य जी को मिलने पर श्रीहरिदास जी ने उन्हें दण्डवत प्रणाम की एवं श्रीआचार्यपाद ने उन्हें आलिङ्गनकर के उनका सम्मान किया। श्रीआचार्यपाद ने गङ्गाजी के किनारे निर्जन स्थान पर उनके रहने के लिये एक

गुफ़ा तैयार करा दी। (अद्वैताचार्यप्रभु श्रीहरिदास जी को श्रीमद्भागवत जी तथा श्रीगीता जी की व्याख्या सुनाने लगे। श्रीहरिदास जी नित्य श्रीअद्वैताचार्य के घर पर भिक्षा-निर्वाह करते एवं वहाँ दोनों जने मिल कर श्रीकृष्ण-कथा-रस का आस्वादन करते ॥१९९-२०४॥

हरिदास कहे--गोसाञि ! करों निवेदन। मोरे प्रत्यह अन्न देह कोन् प्रयोजन ?॥२०५॥

महा महा विप्र हेथा कुलीन-समाज। नीचे आदर कर, ना वासह भय लाज ॥२०६॥

अलौकिक आचार तोमार कहिते बासों भय। सेइ कृपा करिवे, याते मोर रक्षा हय ॥२०७॥

आचार्य कहेन-तुमि ना करिह भय। सेइ आचरिव, येइ शास्त्र मत हय ॥२०८॥

तुमि खाइले हय कोटि ब्राह्मण-भोजन। एत बलि श्राद्धपात्र कराइल भोजन ॥२०९॥

जगत-निस्तार-लागि करेन चिन्तन। अवैष्णव जगत् कैछे हइवे मोचन ॥२१०॥

श्रीहरिदास ने कहा—"गोस्वामि ! मैं एक निवेदन करता हूँ कि आप मुझे प्रति दिन क्यों भोजन कराते हैं ? यहाँ बड़े बड़े कुलीन ब्राह्मण निवास करते हैं। आप उन्हें भोजन न देकर मुझ नीच का आदर करते हैं—आप को उनका भय एवं सङ्कोच क्या नहीं लगता है ?—आपका तो अलौकिक आचरण देखता हूँ, उसे कहने में भी मुझे भय लगता है। बस आप इतनी कृपा मुझ पर रखना कि जिस से मेरा कोई अपराध न बन जाए।" श्रीअद्वैताचार्य ने कहा—"हरिदास ! तुम कुछ चिन्ता न करो, मैं तो वही आचरण करता हूँ जो शास्त्र-सम्मत होता है। तुम्हें भोजन कराने से कोटि ब्राह्मण-भोजन का फल होता है। इतना कह कर श्रीआचार्यपाद ने श्रीहरिदास जी को श्राद्ध का भोजन भी करा दिया। (आदिलीला पृष्ठ २०५ पर ४२ पयार की टीका द्रष्टव्य है।) दोनों बैठ कर नित्य जगत् जीवों के उद्धार का उपाय सोचा करते कि अवैष्णव जगत् का कैसे संसार बन्धन निवृत्त हो ॥२०५-२१०॥

कृष्ण अवतारिते आचार्य प्रतिज्ञा करिल। जल-तुलसी दिया पूजा करिते लागिल ॥२११॥

हरिदास करे गोंफाय नाम सङ्कीर्त्तन। कृष्ण अवतीर्ण हये--एइ तार मन ॥२१२॥

दुइजनार भक्त्ये चैतन्य कैल अवतार। नाम-प्रेम प्रचारि कैल जगत उद्धार ॥२१३॥

आर एक अलौकिक चरित्र तांहार। याहार श्रवणे लोक हय चमत्कार ॥२१४॥

तर्क ना करिह, तर्कागोचर तांर रीति। विश्वास करिया शुन करिया प्रतीति ॥२१५॥

श्रीअद्वैताचार्य प्रभु ने श्रीकृष्ण को अवतरित कराने की प्रतिज्ञा कर ली एवं गङ्गाजल तथा तुलसी से नित्य श्रीभगवान् का पूजन करने लगे। श्रीहरिदास भी श्रीकृष्ण के अवतीर्ण होने के उद्देश्य से अपनी गुफा में नित्य नाम-सङ्कीर्त्तन करने लगे। इन दोनों की भक्ति के फल से ही श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण-चैतन्य रूप में अवतीर्ण हुए एवं उन्होंने श्रीनाम एवं कृष्ण-प्रेम का प्रचार करके जगत् का उद्धार कर दिया। श्रीहरिदास जी के एक और भी अलौकिक चरित्र का वर्णन करते हैं, जिसे सुन कर सब को चमत्कार होगा। कोई भी उसमें तर्क नहीं करना, कारण कि श्रीहरिदास जी की भक्ति-महिमा तर्कातीत है। इसलिये सब भक्तगण विश्वासपूर्ण हृदय से उसे सुनिये ॥२११-२१५॥

एक दिन हरिदास गोंफाते वसिया। नाम-सङ्कीर्त्तन करे उच्च करिया ॥२१६॥

ज्योत्स्नावती रात्रि दश दिशा सुनिर्मल। गङ्गार लहरी ज्योत्स्ना करे झलमल ॥२१७॥

दुयारे तुलसी लेपा पिण्डिर उपर। गोफार शोभा देखि लोकेर जुड़ाय अन्तर ॥२१८॥
हेनकाले एक नारी अङ्गने आइला। तांर अङ्गकान्त्ये स्थान पीत वर्ण हैला ॥२१६॥
तांर अङ्गगन्धे दशदिग् आमोदित। भूषण ध्वनिते कर्ण हय चमकित ॥२२०॥
आसिया तुलसीके सेइ कैल नमस्कार। तुलसी-परिक्रमा करि गेला गोंफाद्वार ॥२२१॥

एक दिन श्रीहरिदास जी अपनी गुफा में बैठे हुए उच्चस्वर से नाम सङ्कीर्त्तन कर रहे थे। चान्दनी रात थी, दशों दिशाएं सुनिर्मल थीं। चान्दनी से श्रीगङ्गाजी की तरङ्गें झलमल-झलमल कर रही थीं। गुफा के दरवाजे पर लीपे हुए एक चबूतरे पर श्रीतुलसी जी की अपार शोभा थी। गुफा के दर्शन करते ही समस्त लोगों का मन शीतल हो जाता था। उसी समय एक नारी वहां आङ्गन में आ पहुँची। उसके शरीर की कान्ति से सब स्थान पीतवर्ण से चमक उठा। उसके शरीर की सुगन्धि से दशों दिशाएं आमोदित हो रही थीं। उसके भूषणों की झनझनाहट से कान चमत्कृत हो रहे थे। उस नारी ने आकर श्रीतुलसी जी को नमस्कार किया एवं तुलसी जी की परिक्रमा करके वह गुफा के दरवाजे पर आई॥ २१६-२२१॥

योड़हाथे हरिदासेर वन्दिल चरण। द्वारे वसि कहे किछु मधुर वचन ॥२२२॥
जगतेर वन्द्य तुमि रूपगुणवान्। तोमार सङ्ग लागि मोर एथाके प्रयाण ॥२२३॥
मोरे अङ्गीकार कर हइया सदय। दीने दया करे, एइ साधु स्वभाव हय ॥२२४॥
एइ बलि नाना भाव करये प्रकाश। याहार दर्शने मुनिर हय धैर्य्य नाश ॥२२५॥
निर्विकार हरिदास गम्भीर-आशय। बलिते लागिला तांरे हइया सदय ॥२२६॥

श्रीहरिदास जी को देख कर उस सुन्दरी ने दोनों हाथ जोड़ कर उनके चरणों में प्रणाम किया और दरवाजे पर बैठ कर कुछ मधुर वचन कहने लगी—"महाशय! आप तो समस्त जगत् से वन्दना करने योग्य हैं एवं आपका रूप एवं गुण जगत् को मोहित करने वाला है। मैं आपका सङ्ग करने के लिये आई हूँ। अतः आप दया कर मुझे अङ्गीकार कीजिये। साधु पुरुषों का यह स्वभाव है कि वे दीनों पर दया करते हैं।" इतना कह कर वह नानाविध हाव-भाव दिखाने लगी, जिन को देख कर मुनि लोगों का धीरज भी ध्वंश हो जाता है। किन्तु श्रीहरिदास जी निर्विकार बैठे थे एवं उनका चित्त श्रीकृष्ण में गम्भीरता से निविष्ठ था। उसके प्रति करुण होकर श्रीहरिदास जी कहने लगे॥२२२-२२६॥

संख्यानाम इ सङ्कीर्त्तन एइ महायज्ञ मन्ये। ताहाते दीक्षित आमि हइ प्रतिदिने ॥२२७॥
यावत् कीर्त्तन-समाप्ति नहे, ना करि अन्य काम। कीर्त्तन-समाप्तिहैले हय दीक्षार विश्राम ॥२२८॥
द्वारे वसि शुन तुमि नाम-सङ्कीर्त्तन। नाम समाप्त हैले करिव तोमार प्रीति आचरण ॥२२९॥
एत बलि करेन तेंहो नाम सङ्कीर्त्तन। सेइ नारी वसि करे नाम श्रवण ॥२३०॥
कीर्त्तन करिते आसि प्रातः काल हैल। प्रातःकाल देखि नारी उठिया चलिल ॥२३१॥

श्रीहरिदास जी ने कहा—"सुन्दरि! मैं (तीन लाख) संख्या-नाम सङ्कीर्त्तन को महायज्ञ मानता हूँ, उस यज्ञ के लिये मैं प्रतिदिन दीक्षित होता हूँ अर्थात् नियम या सङ्कल्प ग्रहण करता हूँ जब तक नाम-

कीर्त्तन की संख्या समाप्त नहीं होती है, तब तक मैं और कोई काम नहीं करता हूँ। कीर्त्तन की समाप्ति होने पर मेरा व्रत या नियम समाप्त हो जाता है। इसलिये तुम द्वार पर बैठ कर नाम सङ्कीर्त्तन का श्रवण करो। संख्या समाप्त हो जाने पर मैं तुमसे प्रीति का आचरण करूंगा (अर्थात् जिससे तुम्हें कृष्णप्रीति की प्राप्ति हो) इतना कह कर श्रीहरिदास जी नाम सङ्कीर्त्तन करने लगे और वह नारी दरवाजे पर बैठ कर नाम सङ्कीर्त्तन सुनने लगी। कीर्त्तन करते-करते प्रातः काल निकट आगया। प्रातः काल को देखकर वह नारी उठ कर न जाने कहाँ चली गई। ॥२२९–२३१॥

चै० च० चु० *टीका*—यह बात उल्लेखनीय है कि पहले भी इसी प्रकार एक चरित्र में कहा गया है कि श्रीहरिदास जी ने नाम संख्या को पूरा करते-करते प्रातः काल कर दिया था और रामचन्द्रखान् के द्वारा भेजी हुई वेश्या प्रातः काल जान कर उठ गई थी—और यहाँ भी वही बात वर्णन की गई है—वक्तव्य यह है कि इन नारियों को देख कर श्रीहरिदास जी नाम संख्या का बहाना बनाकर नहीं बैठ जाया करते थे और रात को बिता दिया करते थे। वस्तुतः श्रीहरिदास जी नित्य प्रति तीन लाख नाम करते थे एवं अपनी नाम-संख्या को पूरा करने के लिये जागते रहते थे और समस्त रात्रिभर नाम सङ्कीर्त्तन करते रहते थे। रात भर नाम सङ्कीर्त्तन करना—उनके लिये नारी-सङ्ग के बचाव का कोई उपाय न था उनका तीन लाख संख्यायुक्त श्रीनाम कीर्त्तन करना नित्य का नियम था, जो चौबीस घंटों में भी बड़ी कठिनाई से पूरा हो पाता था।

एइमत तिन दिन करे आगमन। नानाभाव देखाय याते ब्रह्मार हरे मन ॥२३२॥
कृष्णनामाविष्ट–मन सदा हरिदास। अरण्ये रोदित हैल स्त्री-भावेर प्रकाश ॥२३३॥
तृतीय दिवसेर यदि शेषरात्रि हैल। ठाकुरेरे तबे नारी कहिते लागिल ॥२३४॥
तिन दिन वञ्चिला आमा करि आश्वासन। रात्रि दिने नहे तोमार नाम समापन ॥२३५॥
हरिदास ठाकुर कहे, आमि कि करिव ?। नियम करियाछि ताहा केमने छाड़िव ?॥२३६॥
तबे नारी कहे,तांरे करि नमस्कार। आमि माया,करिते आइलाङ्परीक्षा तोमार॥२३७॥

इसी प्रकार वह सुन्दरी तीन दिन तक श्रीहरिदास जी के पास आती रही और ऐसे अनेक भाव प्रकाशित करती रही कि एक बार जिन्हें देख कर स्वयं ब्रह्मा भी मोहित हो जाएं। किन्तु श्रीहरिदास जी का मन सदा श्रीकृष्ण नाम में ही आविष्ट रहा, उस नारी के हाव-भाव का प्रकाशित करना सुनसान बन में रोने के समान व्यर्थ ही रहा। तीसरे दिन जब रात्रि समाप्त होने को आई तब वह नारी श्रीहरिदास जी के प्रति कहने लगी–"महाशय ! आपने इस प्रकार आश्वासन देकर मुझे तीन दिन तक वञ्चित रखा है, आपका तो दिन रात कभी नाम समाप्त नहीं होता है"। श्रीहरिदास जी ने कहा —"मैं क्या करूं ? मैंने जिस का नियम ले रखा है, उसे त्याग कैसे कर सकता हूं ?" इस पर उस नारी ने श्रीहरिदास जी को नमस्कार किया और कहने लगी—"हरिदास ! मैं माया हूं, और तुम्हारी परीक्षा करने के लिये यहां आयी थी" ॥२३२–२३७॥

ब्रह्मादि जीवेरे आमि सभारे मोहिल। एकला तोमारे आमि मोहिते नारिल ॥२३८॥
महाभागवत तुमि तोमार दर्शने। तोमार कीर्त्तन-कृष्णनाम-श्रवणे ॥२३९॥
चित्त मोर शुद्ध हैल, चाहे कृष्णनाम लैते। कृष्ण नाम उपदेशि कृपा कर मोते ॥२४०॥

चैतन्यावतारे बहे प्रेमामृत-वन्या । सब जीव प्रेमे भासे पृथिवी हैल धन्या ॥२४१॥
ए वन्याय ये ना भासे सेइ जीव छार । कोटि कल्पे कभो तार नाहिक निस्तार ॥२४२॥
पूर्वे आमि रामनाम पाञाछि शिव हैते । तोमासङ्गे लोभ कैल कृष्णनाम लैते ॥२४३॥
मुक्तिहेतुक 'तारक' हय रामनाम । कृष्णनाम 'पारक' हये—करे प्रेमदान ॥२४४॥
कृष्णनाम देह सेवों, कर मोरे धन्या । आमारे भासाय यैछे एइ प्रेम वन्या ॥२४५॥
एत बलि वन्दिल हरिदासेर चरण । हरिदास कहे, कर कृष्ण-सङ्कीर्त्तन ॥२४६॥

माया ने आगे कहा—"हरिदास ! ब्रह्मा से लेकर समस्त जीवों को मैंने मोहित कर लिया है किन्तु एक आप ही ऐसे हो कि आपको मैं मोहित नहीं कर पाई। आप महाभागवत हो कि आपके दर्शन से, आपके द्वारा श्रीकृष्ण नाम का कीर्त्तन सुनने से मेरा चित्त भी शुद्ध हो गया है और मेरा मन भी श्रीकृष्ण-नाम-कीर्त्तन करने को हो रहा है। आप कृपा कर मुझे श्रीकृष्ण-नाम का उपदेश देकर कृतार्थ कीजिये। श्रीचैतन्य भगवान् के अवतार लेने से ही यह प्रेमामृत की वन्या बहने लगी है जिस से सब जीव इस में निमज्जन कर प्रेम प्राप्त कर रहे हैं और समस्त पृथ्वी धन्य-धन्य हो गई है। इस श्रीकृष्ण नाम-अमृत की वन्या में जो जीव सराबोर नहीं होते हैं उनका जीवन वृथा है। कोटि कल्पों तक भी उन जीवों का निस्तार नहीं होगा। पहले काल में मैंने श्रीशिव जी से श्रीराम-नाम को प्राप्त किया था। आप के पास श्रीकृष्ण-नाम प्राप्त करने के लोभ से आई हूँ। श्रीराम-नाम तारक-मन्त्र है एवं मुक्ति का हेतु है अर्थात् श्रीराम-नाम संसार से त्राण-रक्षा करने वाला है और उसके जप से जीवों को मुक्ति प्राप्त होती है। श्रीकृष्ण-नाम पारक-मन्त्र है जो संसार से उद्धार कर जीवों को प्रेम भी प्रदान करता है। हे ठाकुर ! आप मुझे वही श्रीकृष्ण-नाम प्रदान कीजिये कि जिस से मैं धन्य-धन्य होजाऊं और इस प्रेमामृत की वन्या में सरावोर हो सकूँ।" इतना कह कर माया ने श्रीहरिदास जी के चरणों में वन्दना की। श्रीहरिदास जी ने कहा—"देवी ! तू सदा श्रीकृष्ण-नाम का सङ्कीर्त्तन किया कर।" ॥२३८-२४६॥

चै० च० चु० *टीका*:—श्रीराम-नाम तारक-मन्त्र है और श्रीकृष्ण-नाम पारक-मन्त्र है—इसका प्रमाण श्रीपाद श्रीसनातन गोस्वामी जी ने अपने द्वारा सङ्कलित श्रीमथुरा-माहात्म्यम् नामक ग्रन्थ में पाद्मोत्तर-पातालखण्ड से निम्नलिखित श्लोकों में उद्धृत किया है। श्रीमहादेव जी के मुख से मथुरा-माहात्म्य सुनने के बाद श्रीपार्वती जी ने प्रश्न किया है और श्रीमहादेव जी ने उसका उत्तर दिया है—

श्रीपार्वती प्रश्नः—

उक्तोऽद्भुतश्च महिमा मथुरायाः जटाधर ।
मुनेर्भुवो वा सरितः प्रभावः केन वा विभो ॥ड॥
कृष्णस्य वा प्रभावोऽयं संयोगस्य प्रतापवान् ।

श्रीपार्वती जी ने पूछा—"हे जटाधर ! मथुरा मण्डल की जो यह अद्भुत महिमा आपने कथन की है, इस महिमा का क्या कारण है ? मुनियों के प्रभाव से, पृथ्वी के अथवा यमुना जी के प्रभाव या उनके संयोग से मथुरा-मण्डल का इतना माहात्म्य है ?"

श्रीमहादेवोत्तरम्—

न भूमिकाप्रभावश्च सरितो वा वरानने ॥ढ॥
ऋषीणां न प्रभावश्च प्रभावो विष्णुतारके ।

तथा पारकचिच्छक्ते रुभे तत्पद्कारके ।।ण।।
तदेव शृणु भो देवि प्रभावो येन वर्त्तते ।
श्रीकृष्ण महिमा सर्वश्चिच्छक्तेर्यं प्रवर्त्तते ।।त।।
तारकं पारकं तस्य प्रभावोऽयमनाहतः ।
तारकाज्जायते मुक्तिः प्रेमभक्तिश्च पारकात् ।।थ।।

श्रीमहादेव जी ने उत्तर दिया—"हे वरानने ! इस प्रकार की महिमा का कारण न तो पृथ्वी का कुछ प्रभाव है और न ही यमुना का और न ही किसी ऋषि-मुनि का प्रभाव हो है। श्रीकृष्ण के चित्-शक्ति स्वरूप जो तारक एवं पारक दोनों मन्त्र या नाम हैं—उनके ही प्रभाव से इसका इतना माहात्म्य है। हे देवि ! इन का ऐसा प्रभाव जिस कारण से है, उसे भी तुम सुनो। समस्त श्रीकृष्ण-महिमा उनकी चित्-शक्ति में ही वर्तमान है। उस चित्-शक्ति के स्वरूप जो तारक एवं पारक मन्त्र हैं उनका यह सब अप्रतिहत प्रभाव है। तारक से मुक्ति प्राप्त होती है और पारक से प्रेम-भक्ति की प्राप्ति होती है।

तत्रैव श्रीभगवद्वाक्यम्—

उभौ मन्त्रावुभौ नाम्नी मदीय प्राणवल्लभे ।
नाना नामानि मन्त्राश्च तन्मध्ये सारमुच्यते ।।द।।
अज्ञातमथवा ज्ञातं तारकं जपते यदि ।
यत्र तत्र भवेन्मृत्युः काश्यान्तु फलमादिशेत् ।।ध।।
वर्त्तते यस्य जिह्वाग्रे स पुमांल्लोकपावनः ।
छिनत्ति सर्वपापानि काशीवासफलं लभेत् ।।न।।
इति तारकमन्त्रोऽयं यस्तु काश्यां प्रवर्त्तते ।
स एव माथुरे देवि वर्त्ततेऽत्र वरानने ।।थ।।

श्रीभगवान् ने कहा है—"इन दोनों मन्त्रों के दोनों नाम मुझे प्राणों के समान प्यारे हैं। अनन्त मन्त्रों एवं अनन्त नामों में यही दोनों नाम ही सार स्वरूप हैं। जान कर अथवा न जान कर तारक (श्रीराम-नाम) का जो व्यक्ति जप करता है, उसको मृत्यु कहीं भी क्यों न हो, काशी में मृत्यु होने से जो फल मिलता है, उसे वही फल अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है। जिसकी जिह्वा पर श्रीराम-नाम अवतीर्ण होता है, वह व्यक्ति लोकों को पावन करने वाला होता है, सर्व पापों को नाश करने वाला होता है, वह काशी के वास के फल को (मुक्ति को) प्राप्त करता है। हे वरानने ! श्रीराम नाम तारक मन्त्र है जो काशी में अभिव्यक्त है और वही ही मथुरा-मण्डल में यहां प्रकाशित हो रहा है।

अथ पारकमुच्येत यथा मन्त्रं यथाबलम् ।
पारकं यत्र वर्त्तेत ऋद्धि सिद्धि समागमः ।।फ।।
पूज्यो भवति त्रैलोक्ये शतायुर्जायते पुमान् ।
अष्टसिद्धि समायुक्तो वर्त्तते यत्र पारकम् ।।ब।।

पारकं यस्य जिह्वाग्रे तस्य सन्तोषवर्त्तिता ।
परिपूर्णो भवेत् कामः सत्य सङ्कल्पता तथा ॥भ॥
द्विविधा प्रेमभक्तिस्तुश्रुता दृष्टा तथैव च ।
अखण्ड-परमानन्दस्तद्गतो ज्ञेय लक्षणः ॥म॥
अश्रुपातः क्वचिन्नृत्यं क्वचित् प्रेमातिविह्वलः ।
क्वचित्तस्य महामूर्च्छा मद्गुणो गीयते क्वचित् ॥य॥

श्रीमहादेवजी ने आगे कहा—"हे पार्वती ! अब मैं पारक-मन्त्र को एवं उसकी शक्ति का कुछ वर्णन करता हूँ । (श्रीकृष्ण-नाम ही पारक-मन्त्र है) श्रीकृष्ण-नाम जहां अभिव्यक्त होता है, वहाँ समस्त ऋद्धि-सिद्धि आकर उपस्थित होती हैं । श्रीकृष्ण-नाम जपने वाला व्यक्ति शतवर्ष की आयु को प्राप्त करता हुआ त्रिभुवन में पूज्यनीय होता है ! उसके पास अष्ट सिद्धियाँ सदैव वशीभूत रहती हैं। जिस भाग्यवान् की जिह्वा पर पारक मन्त्र (श्रीकृष्ण-नाम) अवतीर्ण होता है उसमें सन्तुष्टता, सत्यसङ्कल्पता पूर्ण-कामता आदि गुण आ जाते हैं । उसमें दोनों प्रकार की प्रेमभक्ति देखी एवं सुनी जाती हैं । उसका अन्तः-करण अखण्ड परमानन्द से परिपूर्ण रहता है (यह लक्षण नेत्र गोचर नहीं हैं—ऐसा सुना जाता है) और साक्षात् यह लक्षण उसमें दीखने में आते हैं—वह कभी प्रेम में अति विह्वल होकर अश्रुपात करने लगता है और कभी नृत्य करने लगता है । कोई कोई तो मेरे नाम-गुणों का कीर्त्तन करते हुए महामूर्च्छा को प्राप्त हो जाता है ।"

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि तारक-मन्त्र (श्रीराम-नाम) के जप से मुक्ति की प्राप्ति होती है और पारक मन्त्र (श्रीकृष्ण-नाम) के जप से प्रेमाभक्ति की प्राप्ति होती है । इसलिये मायादेवी ने श्रीहरिदासजी से यह बात कही कि आप कृपाकर मुझे अब श्रीकृष्ण-नाम प्रदान कीजिये कि जिससे मैं प्रेमामृत की वन्या में सराबोर हो सकूं । श्रीहरिदासजी ने उसे श्रीकृष्ण-नाम के सङ्कीर्त्तन करने का उपदेश दिया ।

श्रीहरिदासजी के पास मायादेवी का इस रूप में आगमन उनको मोहित करने की चेष्टा एवं श्रीकृष्ण के उपदेश की प्रार्थना–इत्यादि—ये समस्त मायादेवी की लीला मात्र ही है । श्रीहरिदासजी की महिमा को जगत् में प्रचार करना ही इस लीला का उद्देश्य है । श्रीहरिदासजी की परीक्षा द्वारा माया ने जगत् के जीवों को यह जतलाया है कि जिनका मन श्रीकृष्ण-नाम रस में निमग्न है, कोई भी विषय उनके देह-इन्द्रियों को प्रलुब्ध नहीं कर सकते । श्रीकृष्ण-नाम में ऐसा एक अद्वितीय रसास्वादन है । मायादेवी ने श्रीहरिदासजी से श्रीकृष्ण-नाम के उपदेश की प्रार्थना से यह भी इंगित किया है कि नाम-रसाविष्ट भक्तों के उपदेश से–दीक्षा से जो श्रीकृष्ण-नाम प्राप्त होता है, उसमें एक अद्भुत शक्ति होती है । नाम-उत्सुक जीवों के लिये नाम-रसाविष्ट गुरुदेव द्वारा नाम का उपदेश ग्रहण करके ही नाम जप-कीर्त्तन करना विधेय है ।

मायादेवी श्रीभगवान् की बहिरङ्गा शक्ति है, वह भी शक्तिमान श्रीभगवान् की सदा सेवा करती ही है । किन्तु प्रेमाभक्ति का एक ऐसा अद्भुत स्वभाव है कि जितना उसका रसास्वादन किया जाये, थोड़ा ही है, तृप्ति कभी नहीं होती—मायादेवी ने श्रीहरिदासजी से श्रीकृष्ण-नाम सेवन की प्रार्थना कर इस बात को भी प्रमाणित किया है । श्रीकृष्ण भी स्वयं जब अपने रूप–गुण–नाम–माधुर्य के रसास्वादन करने के लिये लालायित हो उठते हैं, तो उनकी माया-शक्ति यदि ऐसी लीला करे, तो आश्चर्य क्या है ?

एक बात और भी है—श्रीहरिदासजी को ब्रह्मा का अवतार माना गया है। यदि वह तथ्य है तो इस लीला का एक गूढ़तम रहस्य यह भी हो सकता है—मायादेवी ने ब्रह्माजी को ऐसा एक बार मोहित किया था कि वे अपनी कन्या के पीछे आसक्त होकर भाग पड़े थे। ब्रह्मा ने उस बार माया के आगे पराजय स्वीकार की थी। उस समय ब्रह्मा प्रेमभक्ति के अभी अधिकारी ही न थे। प्रेमाभक्ति के अधिकार की तो उन्होंने प्रेमाभक्ति के अधिकारी ब्रजवासियों की चरणरेणु की अभिलाषा करते हुए प्रार्थना की थो (श्रीमद्भागवत (१०-१४-३४) यद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यामित्यादि) वही ब्रह्माजी प्रेमाभक्ति के अधिकारी होकर श्रीहरिदासजी के रूप में अवतीर्ण हुए। अब के माया को उन्होंने पराजित कर दिया। ऐसा जान पड़ता है माया ने भी पिछली बात को स्मरण कर अपने उस गर्हित कार्य को ब्रह्मा के प्रति अपराध जानकर अनुताप किया एवं उसकी क्षमा प्रार्थना के लिये श्रीहरिदासर्जी के पास आकर शिष्यत्व को स्वीकार कर उनकी वन्दना-स्तुति की। साथ साथ जगत्-जीवों को भी यह शिक्षा दी कि यदि किसी के प्रति अपराध बन जाए तो उसके खण्डन का एक मात्र उपाय यही है कि उसके चरणों में जाकर वन्दना-स्तुति करे। इस प्रकार इस लीला के अनेक उद्देश्य हो सकते हैं एवं जीव को अनेक शिक्षाएँ मिलती हैं।

उपदेश पाञा माया चलिला हञा प्रीत। ए सब कथाते कारो ना जन्मे प्रतीत ॥२४७॥

प्रतीत करिते कहि कारण इहार। याहार श्रवणे हय विश्वास सभार ॥२४८॥

चैतन्यावतारे कृष्ण प्रेमे लुब्ध हञा। ब्रह्मा-शिव-सनकादि पृथिवीते जन्मिया ॥२४९॥

कृष्णनाम लय नाचे प्रेमवन्याय भासे। नारद प्रह्लाद आसि मनुष्ये प्रकाशे ॥२५०॥

लक्ष्मी-आदि सभे कृष्णप्रेमे लुब्ध हञा। नाम-प्रेम आस्वादये मनुष्ये जन्मिया ॥२५१॥

अन्येर का कथा, आपने व्रजेन्द्रनन्दन। अवतरि करे प्रेमरस-आस्वादन ॥२५२॥

मायादेवी प्रेम मागे, इथे कि विस्मय। साधु कृपा नाम बिने प्रेम नाहि हय ॥२५३॥

इस प्रकार श्रीहरिदासजी का उपदेश पाकर मायादेवी वहाँ से प्रेममुग्ध होकर चली गई। कविराज गोस्वामी पाद कहते हैं "हो सकता है इस कथा में किसी व्यक्ति को विश्वास न हो (माया-शक्ति भगवान् की शक्ति होकर श्रीहरिदास जी के पास कृष्ण-नाम की प्राप्ति के लिये क्यों आने लगी?) तो मैं इस बात का कारण कहता हूँ, जिसे सुन कर सबका संशय मिट जाएगा। श्रीचैतन्यदेव के अवतार के समय श्रीकृष्णप्रेम में लुब्ध होकर श्रीब्रह्मा जी, श्रीशिवजी तथा श्रीसनकादि भी पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे एवं वे सब कृष्णनाम प्राप्त कर नृत्य करते थे एवं प्रेम की वन्या में बह जाते थे। श्रीनारद जी, श्रीप्रह्लाद जी श्रीलक्ष्मी जी,—आदि-आदि ये सब श्रीकृष्ण प्रेम प्राप्त करने के लिये मनुष्यों के देह में पृथ्वी पर प्रगट, हुए थे और प्रेम का आस्वादन करते थे। औरों की क्या बात है—स्वयं श्रीकृष्ण ब्रजेन्द्रनन्दन भी तो इसी प्रेम के आस्वादन करने के लिये श्रीकृष्ण चैतन्यरूप से अवतीर्ण हुए हैं। उनकी शक्ति मायादेवी यदि आज प्रेम की भिक्षा कर रही है तो इस में आश्चर्य क्या है? अर्थात् कुछ आश्चर्य नहीं है। कारण कि महत् पुरुषों की कृपा के विना तथा श्रीहरिनाम की कृपा के विना कभी भी किसी को प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥२४७-२५३॥

चैतन्य गोसाञिर लीलार एइ त स्वभाव। त्रिभुवन नाचे गाय पाञा प्रेमभाव ॥२५४॥

कृष्ण-आदि आर यत स्थावर-जङ्गम। कृष्णप्रेमे मत्त करे कृष्ण-सङ्कीर्त्तन ॥२५५॥

स्वरूप गोसाञि कड़चाय ये लीला लिखिल। रघुनाथदास-मुखे ये सब शुनिल ॥२५६॥
सेइ सब लीला लेखि संक्षेप करिया। चैतन्य कृपाय लेखिल क्षुद्रजीव हञा ॥२५७॥
हरिदास ठाकुरेर कैल महिमा-कथन। याहार श्रवणे भक्तेर जुड़ाय श्रवण ॥२५८॥
श्रीरूप–रघुनाथ पदे यार आश। चैतन्य चरितामृत कहे कृष्णदास ॥२५९॥

श्रीचैतन्यदेव की लीलाओं का यह स्वभाव ही है कि त्रिभुवनवासी प्रेम को प्राप्त कर नाचने-गाने लगते हैं। श्रीकृष्णनाम सङ्कीर्त्तन का ऐसा एक अद्भुत प्रभाव है कि श्रीकृष्ण को लेकर जितने भी स्थावर जङ्गम हैं, यह उनको कृष्ण-प्रेम में मतवाला करदेता है। श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने अपनी कड़चा में जिन लीलाओं का उल्लेख किया है और जिन लीलाओं को मैंने श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी के मुख से सुना है, उन समस्त लीलाओं का मैंने संक्षेप से वर्णन किया है। मैं क्षुद्र जीव होकर भी श्रीचैतन्यदेव की कृपा से उनकी लीलाओं का वर्णन कर रहा हूँ। मैंने इस परिच्छेद में श्रीहरिदास जी ठाकुर की कुछ महिमा का कथन किया है जिस को सुनकर भक्तगणों के श्रवण शीतल होंगे। श्रीरूप गोस्वामी जी तथा श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी जी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास जी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥२५४–२५९॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां
श्रीहरिदास-महिमा-कथनं–नाम
तृतीय परिच्छेदः ॥३॥

जयगौर

अन्त्य-लीला

चतुर्थ परिच्छेद

वृन्दाबनात् पुनः प्राप्तं श्रीगौरः श्रीसनातनम् ।
देहपातादवन् स्नेहान् शुद्धं चक्रे परीक्षया ॥१॥

(जिन) श्रीगौराङ्ग ने श्रीवृन्दावन से पुनः आये हुए श्रीसनातन गोस्वामी की स्नेहवशतः (रथ के आगे गिरकर) देह-त्यागने से रक्षा की एवं परीक्षा के द्वारा उन्हें शुद्ध किया, (उन की मैं वन्दना करता हूं) ॥१॥

इस चतुर्थ परिच्छेद में श्रीसनातन गोस्वामी पाद, श्रीवृन्दावन से नीलाचल में प्रभु के पास आए हैं एवं उन्होंने रथ के आगे पड़कर अपना देह-त्याग करने की चेष्टा की है, किन्तु सर्वान्तर्यामी श्रीमहाप्रभुजे ने स्नेहवश उनकी रक्षा की है एवं उनकी जिस प्रकार परीक्षा कर उन्हें शुद्ध किया है, वह सब कथा-प्रसङ्ग वर्णन किया है । उपर्युक्त श्लोक में इस परिच्छेद के वर्णनीय विषय का उल्लेख किया गया है ।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौर भक्त वृन्द ॥१॥
नीलाचल हैते रूप गौड़े यबे गेला । मथुरा हैते सनातन नीलाचले आइला ॥२॥
झारिखण्ड पथे आइला एकला चलिया । कभु उपवास कभु चर्व्वण करिया ॥३॥
झारिखण्डेर जले दुःख-उपवास हैते । गात्र कण्डु हैला, रसा चले खाजुया हैते ॥४॥
निर्वेद हइल, पथे करेन विचार । नीच जाति, देह मोर अत्यन्त असार ॥५॥
जगन्नाथ गेले तांर दर्शन ना पाइव । महाप्रभुर दर्शन सदा करिते नारिव ॥६॥

श्रीचैतन्यदेव की जय हो, जय हो, श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु की जय हो । श्रीअद्वैतचन्द्रप्रभु की जय हो, श्रीगौरभक्त-वृन्दों की जय हो । जब श्रीरूप गोस्वामीजी नीलाचल से गौड़ देश में गये थे, तब श्रीसनातन गोस्वामी मथुरा से नीलाचल के लिये रवाना हो चुके थे । श्रीसनातन झारि-खण्ड के रास्ते से अकेले ही नीलाचल आए । मार्ग में उन्हें कई दिन उपवास करना पड़ा और कभी वे चने आदि चबाकर शरीर को रख सके । झारि-खण्ड मार्ग में तलाब-तलाई के गन्दे जल पान से एवं उपवास से श्रीसनातन पाद के शरीर में पके खाज का रोग उत्पन्न हो गया । सारे शरीर में जहाँ भी वे खुजाते वहाँ से रसा बहने लगता। इस शरीर की अनित्य अवस्था को देखकर श्रीसनातन पाद को शरीर से वैराग्य उत्पन्न हो आया। मार्ग में

चलते चलते विचार करने लगे—"मैं अत्यन्त नीच-जाति हूं: और मेरा शरीर भी (कृष्ण-भजन के अयोग्य होने से) असार है। इस दूषित शरीर से श्रीजगन्नाथपुरी में जाकर भी मैं उन के दर्शन नहीं कर पाऊँगा और न ही इस शरीर से मैं नित्य श्रीमहाप्रभुजी के दर्शन कर पाऊँगा।"

मन्दिर निकटे शुनि तांर वासास्थिति। मन्दिर-निकटे याइते मोर नाहि शक्ति ॥७॥
जगन्नाथेर सेवक फेरे कार्य्य-अनुरोधे। तांर स्पर्श हैले मोर हैवे अपराधे ॥८॥
ताते एइ देह यदि भाल स्थाने दिये। दुखशान्ति हय, आर सद्गति पाइये ॥९॥
जगन्नाथ रथयात्राय हैवेन बाहिर। तांर रथचाकाय एइ छाड़िव शरीर ॥१०॥
महाप्रभुर आगे, आर देखि जगन्नाथ। रथे देह छाड़िव, एइ परम पुरुषार्थ ॥११॥
एइ त निश्चय करि नीलाचले आइला। लोके पुछि हरिदास स्थाने उत्तरिला ॥१२॥

श्रीसनातन पाद विचार करने लगे—"मैंने सुना है श्रीमहाप्रभुजी का निवास स्थान भी श्रीजगन्नाथजी के मन्दिर के निकट है फिर मन्दिर के निकट जाने की योग्यता भला मुझ में कहां है? क्योंकि श्रीजगन्नाथजी के सेवक–पुजारीगण कार्यवश इधर–उधर आस-पास आतेजाते रहते होंगे, उन का यदि मेरे शरीर से कहीं स्पर्श हो गया तो मेरे लिये अति अपराध होगा। इसलिये इस शरीर को तो कहीं अच्छे स्थान पर ठिकाने लगाना चाहिये, जिससे (श्रीकृष्ण-भजन-दर्शन-अयोग्यतारूप) दुख की भी शान्ति हो जायगी एवं सद्गति भी प्राप्त हो जायगी। श्रीजगन्नाथजी रथ–यात्रा के दिन बाहर रथ पर पधारेंगे। उन्हीं के रथ के पहिए के नीचे ही पड़कर इस शरीर को त्याग दूंगा। एक तो श्रीमहाप्रभुजी सामने होंगे, दूसरे श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करता हुआ, तीसरे उनके रथ के पवित्र पहिये के नीचे इस शरीर को छोड़ूंगा—इससे बढ़कर और क्या अच्छा सुयोग हो सकता है—यही परम पुरुषार्थ है।" ऐसा निश्चय करके श्रीसनातन पाद नीलाचल में पहुँचे और लोगों से श्रीहरिदासजी का पूछकर उनके स्थान पर उतरे ॥७–१२॥

हरिदासेर कैल तेंहो चरण वन्दन। हरिदास जानि तांरे कैल आलिङ्गन ॥१३॥
महाप्रभु देखिते तांर उत्कण्ठित मन। हरिदास कहे—प्रभु आसिव एखन ॥१४॥
हेन काले प्रभु उपल भोग देखिया। हरिदासे मिलिते आइला भक्तगण लञा ॥१५॥
प्रभु देखि दोंहे पड़े दण्डवत् हञा। प्रभु आलिङ्गिल हरिदासे उठाइया ॥१६॥
हरिदास कहे–सनातन करे नमस्कार। सनातने देखि प्रभुर हैल चमत्कार ॥१७॥
सनातने आलिङ्गिते प्रभु आगे हैला। पाछे भागे सनातन कहिते लागिला ॥१८॥

श्रीहरिदास जी को देखकर श्रीसनातन जी ने उनके चरणों में वन्दना की एवं उन्हों ने भी पहचान कर श्रीसनातन जी को उठा कर आलिङ्गन किया। श्रीसनातन जी का मन श्रीमहाप्रभु जी के दर्शनों के लिये उत्कण्ठित हो रहा था—यह जानकर श्रीहरिदास जी ने कहा—"सनातन! प्रभु अभी यहाँ आते ही होंगे'। इतने में श्रीमहाप्रभु जी श्रीजगन्नाथ जी के प्रातः—कालीन भोग के दर्शन करके अपने भक्तों को साथ लेकर श्रीहरिदास जी को मिलने के लिये आ पहुँचे। श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन कर दोनों—श्रीहरिदास जी एवं श्रीसनातन गोस्वामी उन्हें दण्डवत् प्रणाम करने लगे। श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीहरिदास

श्री श्री चैतन्यचरितामृत (अन्त्य-लीला)
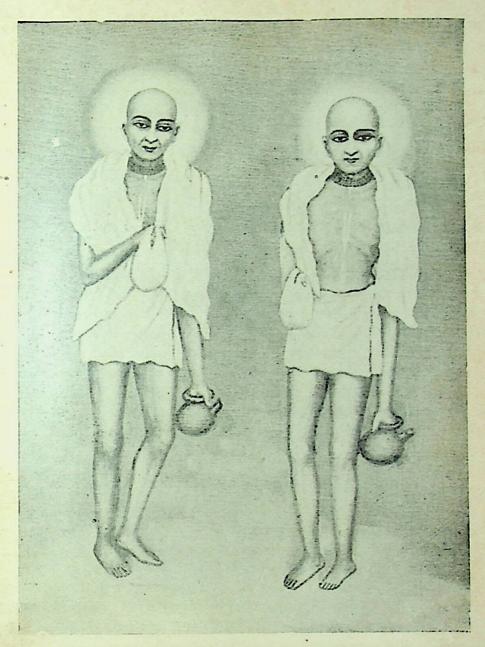
श्री श्री गौर भगवत्-प्रियपार्षद

श्रीपाद सनातन गोस्वामी श्रीपाद रूप गोस्वामी

श्री हरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल,
श्री वृन्दावन.
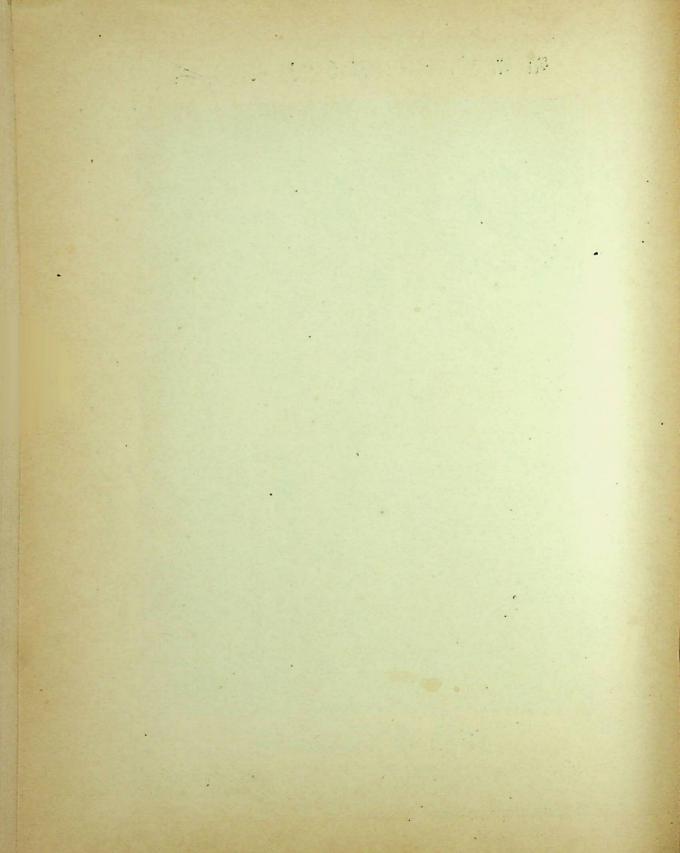
जी को उठाकर आलिङ्गन किया। श्रीहरिदास जी ने कहा—"प्रभु ! सनातन आपको नमस्कार कर रहा है"। श्रीसनातन को देखकर श्रीमहाप्रभु जी को परम आनन्द हुआ। श्रीसनातन को आलिङ्गन करने के लिये श्रीमहाप्रभु जी ज्यों ही आगे बढ़े, श्रीसनातन पीछे-पीछे हटने लगे-और कहने लगे ॥१३–१८॥

मोरे ना छुंइह प्रभु ! पड़ों तोमार पाय। एके नीच अधम, आरे कण्डुरसा गाय ॥१९॥
बलात्कारे प्रभु तांरे आलिङ्गन कैल। कण्डुक्लेद महाप्रभुर श्रीअङ्गे लागिल ॥२०॥
सब भक्तगणे प्रभु मिलाइल सनातने। सनातन कैल सभार चरण वन्दने ॥२१॥
सभा लञा प्रभु वसिला पिण्डार उपरे। हरिदास सनातन वसिला पिण्डार तले ॥२२
कुशलवार्त्ता महाप्रभु पुछेन सनातने। तेंहो कहे—परम मङ्गल देखिनु चरणे ॥२३॥
मथुरार वैष्णवेर गोसाञि कुशल पुछिल। सभार कुशल सनातन जानाइल ॥२४॥

श्रीसनातन जी ने कहा—"प्रभु ! मुझे मत छुइए, मैं आप के चरण पकड़ता हूँ। एक तो मैं अति नीच-अधम हूँ और दूसरे मेरा शरीर कण्डुरोग से गलित हो रहा है"। किन्तु श्रीमहाप्रभुजी ने वल-पूर्वक श्रीसनातन को आलिङ्गन कर ही लिया। खाज का क्लेद (पीव) श्रीमहाप्रभु जी के भी अङ्गों में लग गया। श्रीमहाप्रभु जी ने सब नीलाचल वासी भक्तों का श्रीसनातन से परिचय कराया और श्रीसनातनजी ने भी उन सब के चरणों में वन्दना की। सब को लेकर श्रीमहाप्रभुजी एक चबूतरे पर बैठ गये किन्तु श्रीहरिदास जी एवं सनातन जी चबूतरे के नीचे वैठे। श्रीमहाप्रभुजी श्रीसनातन जी से कुशल वार्त्ता पूछने लगे और वह भी कहने लगे—"प्रभु ! आपके चरण दर्शन करके सब कुशल है"। फिर प्रभु ने मथुरावासी सब वैष्णवों की कुशलता पूछी। श्रीसनातन जी ने सब की कुशलता प्रभु को जताई। ॥१९–२४॥

प्रभु कहे—इहां रूप छिला दशमास। इहां हैते गौड़े गेला हैल दिन दश ॥२५॥
तोमार भाइ अनुपमेर हैल गङ्गा प्राप्ति। भाल छिल, रघुनाथे दृढ़ तार भक्ति ॥२६॥
सनातन कहे—नीचवंशे मोर जन्म। अधर्म अन्याय यत, आमार कुलधर्म ॥२७॥
हेन वंशे घृणा छाड़ि कैले अङ्गीकार। तोमार कृपाते वंशे मङ्गल आमार ॥२८॥
सेइ अनुपम भाइ बालककाल हैते। रघुनाथ-उपासना करे दृढ़ चित्ते ॥२९॥
रात्रि दिने रघुनाथेर नाम आर ध्यान। रामायण निरवधि शुने करे गान ॥३०॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"सनातन ! रूप यहाँ मेरे पास दस महीने रहा है, अब दस ही दिन हुए हैं वह यहाँ से गौड़देश चला गया है। मैंने रूप के मुख से सुना था कि तुम्हारे भाई अनुपम की गङ्गा-प्राप्ति होगई है, भला पुरुष था। उसकी श्रीरामचन्द्रजी में दृढ़ भक्ति थी"। श्रीसनातनजी ने कहा—"प्रभु ! मेरा जन्म नीच वंश में है, जितने अधर्म एवं अनाचार हैं, वह मेरे कुलधर्म थे— (यह श्रीसनातन पाद की दैन्योक्ति है। वस्तुतः उनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था एवं उनके पिता जी कर्णाट-राजवंशीय ब्राह्मण थे।) ऐसे कुल को घृणा छोड़ कर आपने अङ्गीकार कर लिया है। बस इसी आपको कृपा से मेरे वंश का मङ्गल हो गया है। वह मेरा भाई अनुपम बालक काल से ही दृढ़ चित्त से श्रीराम जी की उपासना करता था। रात-दिन वह श्रीराम जी का नाम जप करता था एवं उनके ध्यान में निमग्न रहता था। वह निरन्तर श्रीरामायण जी को सुनता था एवं उसका गान किया करता था ॥२५–३०॥

आमि आर रूप, तांर ज्येष्ठ सहोदर। आमा दोंहा सङ्गे तेंहो रहे निरन्तर ॥३१॥
आमा-सभा-सङ्गे कृष्ण कथा भागवत शुने। तांहार परीक्षा आमि कैल दुइजने ॥३२॥
शुनह वल्लभ! कृष्ण परम मधुर। सौन्दर्य्य माधुर्य्य प्रेम विलास प्रचुर ॥३३॥
कृष्ण भजन कर तुमि आमा दोंहार सङ्गे। तिन भाई एकत्र रहिव कृष्णकथारङ्गे ॥३४॥
एइ मत बारबार कहि दुइ जन। आमा दोंहार गौरवे किछु फिरि गेल मन ॥३५॥
'तोमा दोंहार' आज्ञा आमि कतेक लङ्घिव? दीक्षामन्त्र देह, कृष्णभजन करिव ॥३६॥
एत कहि रात्रिकाले करे विचारण। केमने छाड़िव रघुनाथेर चरण? ॥३७॥
सव रात्रि क्रन्दन करि कैल जागरण। प्रातःकाले आमादोंहा कैल निवेदन ॥३८॥

श्रीसनातन पाद ने कहा—"प्रभु! मैं और रूप उसके बड़े भाई हैं, वह निरन्तर हम दोनों के पास ही रहता था। हमारे साथ वह सदा श्रीभागवतजी व श्रीकृष्ण कथा को सुनता था। हम दोनों ने एक दिन उसकी परीक्षा करते हुए कहा—"वल्लभ! सुनो, श्रीकृष्ण परम मधुर हैं। उनका सौन्दर्य एवं माधुर्य तथा प्रेम विलास श्रीराम जी से अधिक है। इसलिये तू भी हम दोनों के साथ-साथ श्रीकृष्ण का भजन किया कर। तीनों भाई एक साथ रह कर श्रीकृष्ण-कथा रस का आस्वादन किया करेंगे। इस प्रकार जब हम दोनों ने उसे बार-बार मजबूर किया तो हम उसके बड़े भाई हैं—इस गौरव से उसका मन कुछ डांवाडोल हो गया और वह बोला—"बन्धुवर! आप दोनों मेरे बड़े हैं, मैं आप की आज्ञा का आखिर कहाँ तक उल्लङ्घन करूं? आप मुझे श्रीकृष्ण-मन्त्र की दीक्षा दीजिये, "मैं श्रीकृष्ण का ही भजन करूंगा" इतना कहने के पश्चात् अनुपम ने रात को विचार किया—"हाय! हाय! मैं श्रीरघुनाथ जी के चरणों को कैसे त्याग दूं? इस विचार में प्रभु! वह सारी रात रोता रहा और जागता रहा। प्रातः काल होते ही वह हम दोनों के पास आया और कहने लगा" ॥३१–३८॥

रघुनाथेर पदे मुञ्चि बेचियाछों माथा। काढ़िते ना पारों माथा, पाङ बड़ व्यथा ॥३९॥
कृपा करि मोरे आज्ञा देह दुईजन। जन्मे जन्मे सेवों रघुनाथेर चरण ॥४०॥
रघुनाथेर पादपद्म छाड़न ना याय। छाड़िवार मन हैले प्राण फाटि बाहिराय ॥४१॥
तबे आमि दोंहे तारे आलिङ्गन कैल। 'साधु दृढ़ि भक्ति तोमार' कहि प्रशंसिल ॥४२॥
ये वंश-उपरे तोमार हय कृपा लेश। सकल मङ्गल ताहां, खण्डे सब क्लेश ॥४३॥

"प्रातः काल अनुपम ने आकर कहा—"बन्धुवर्ग! मैं अपने इस मस्तक को श्रीरघुनाथ जी के चरणों में बेच चुका हूँ, (कल मैंने अवश्य मुख से कह दिया था कि आप मुझे श्रीकृष्ण मन्त्र की दीक्षा दीजिये, और मैं कृष्ण भजन करूंगा) परन्तु मैं अब अपने मस्तक को श्रीराम जी के चरणों से हटा नहीं सकता हूँ। इस द्विविधा में मैं अत्यन्त दुख पारहा हूँ। आप दोनों कृपाकर मुझे अब यही आज्ञा दीजिये कि जन्म जन्मान्तर तक मैं श्रीरघुनाथ जी के ही चरण सेवन करता रहूँ। मुझ से श्रीरघुनाथ जी के चरण नहीं छोड़े जा सकते। यह बात सोचते ही मेरे प्राण बाहर निकलते हैं एवं हृदय विदीर्ण होता है"। श्रीसनातन पाद ने कहा—उसके यह वचन सुन कर हम दोनों ने उसे आलिङ्गन किया और "अनुपम! तुम्हारी श्रीरामचरणों में दृढ़भक्ति ठीक ही है, (हमने तुम्हारी परीक्षा ली थी,) ऐसा कह कर

हमने उसे आश्वासन दिया । हे महाप्रभु ! जिस वंश पर भी आपकी लेशमात्र कृपा हो गई है,समस्त मङ्गल वहाँ बास करते हैं एवं उस वंश के समस्त दुख–क्लेश नाश हो जाते हैं ।।३९–४३।।

चै० च० चु० *टीका:*—इस कथा प्रसङ्ग से हमें एक महान् शिक्षा मिलती है। वास्तव में हर व्यक्ति की रुचि एवं भाव भिन्न हैं। श्रीभगवान् के भी अनन्त स्वरूप हैं। जिस स्वरूप में जिसकी रुचि हो, श्रद्धा हो वह उसी स्वरूप की उपासना करके धन्य-धन्य हो सकता है। हां,उस उपासना में भक्ति एवं एकान्त निष्ठा की आवश्यकता है। भक्ति भाव की उपासना में यदि अपने उपास्य के प्रति किसी साधक की ऐकान्तिक निष्ठा व प्रीति है, वह फिर चाहे किसी भी भगवत् स्वरूप का उपासक क्यों न हो, उसमें हमारी श्रद्धा व प्रीति होनी चाहिये। उसका उपास्य अपने उपास्य से पृथक् होने पर भी उसमें हमारी पूर्ण श्रद्धा रहनी चाहिये। जहाँ उपास्य में निष्ठा एवं प्रीति का अभाव है, वहाँ ही उपास्य को लेकर अनेक प्रकार की दलबन्दी एवं साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता है। जो अन्यान्य सम्प्रदाय या उपासकों के ऊपर छींटा कशी करते हैं—और यह समझते हैं कि हम अपनी सम्प्रदाय या आचार्यों का उत्कर्ष स्थापन कर रहे हैं—यह उनकी आत्म-वञ्चना मात्र ही है। वे अपने आप को धोका देते हैं एवं महापराध के भागी होते हैं।

गोसाञि कहेन, एइमत मुरारिगुप्ते। पूर्वे आमि परीक्षिल, तार एइमते ।।४४।।
सेइ भक्त धन्य, ये ना छाड़े प्रभुर चरण। सेइ प्रभु धन्य, ये ना छाड़े निज जन ।।४५।।
दुर्दैवे सेवक यदि याय अन्य स्थाने। सेइ ठाकुर धन्य, तारे चूले धरि आने ।।४६।।
भाल हैल तोमार इहां हैल आगमने। एइ घरे रह इहां हरिदास सने ।।४७।।
कृष्ण भक्ति रसे दोंहे परम प्रधान। कृष्ण रस आस्वादह लओ कृष्णनाम ।।४८।।
एत बलि महाप्रभु उठिया चलिला। गोविन्द द्वाराय दुहांके प्रसाद पाठाइला ।।४९।।

श्रीसनातन गोस्वामी जी के वचन सुन कर श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"सनातन ! मैंने एक दफा इस प्रकार मुरारि गुप्त की परीक्षा ली थी, वह भी विचलित नहीं हुआ था। वास्तव में वही भक्त धन्य है जो अपने उपास्य–प्रभु की चरण सेवा नहीं छोड़ता है और प्रभु भी वही धन्य हैं जो अपने भक्त को कभी नहीं छोड़ते। दुर्दैव वशतः यदि कोई सेवक अपने प्रभु को छोड़ कर और स्थान पर चला जाता है, तो भी वह प्रभु–स्वामी धन्य हैं जो अपने सेवक को गोद में उठा कर फिर अपने पास ले आते हैं"। श्रीमहाप्रभु जी ने फिर कहा—'सनातन ! यह बहुत अच्छा हुआ, तुम यहाँ चले आए। तुम अब यहाँ श्रीहरिदास के पास ही रहो। श्रीकृष्ण भक्ति-रस में तुम दोनों की प्रधान निष्ठा है, यहां दोनों साथ-साथ रह कर श्रीकृष्ण-रस का आस्वादन करो एवं श्रीकृष्ण नाम सङ्कीर्त्तन करो"। इतना कह कर श्रीमहाप्रभु जी वहाँ से उठ कर चल दिये और वास स्थान पर जाकर अपने सेवक श्रीगोविन्द के हाथ श्रीहरिदास जी तथा श्रीसनातन जी के लिये श्रीजगन्नाथ जी का प्रसाद भिजवा दिया ।।४४-४९।।

एइमत सनातन रहे प्रभुस्थाने। जगन्नाथेर चक्र देखि करेन प्रणामे ।।५०।।
प्रभु आसि प्रतिदिन मिले दुइजने। इष्ट गोष्ठी कृष्ण कथा कहे कथोक्षणे ।।५१।।
दिव्य प्रसाद पाय नित्य जगन्नाथ मन्दिरे। ताहा आसि नित्यावश्य देन दोंहाकारे ।।५२।।
एक दिन आसि प्रभु दोंहारे मिलिला। सनातने आचम्बिते कहिते लागिला ।।५३।।
सनातन ! देह त्यागे कृष्ण ना पाइये। कोटि देह क्षणेके तबे छाड़िते पारिये ।।५४।।

देह त्यागे कृष्ण ना पाइ,पाइये भजने । कृष्ण-प्राप्त्येर उपाय कोनो नाहि भक्ति विने ।।५५।।
देह-त्यागादि एइ सब तमोधर्म । तमो रजोधर्मे कृष्णेर ना पाइ चरण ।।५६।।
भक्ति बिनु कृष्णे कभु नहे प्रेमोदय । प्रेम बिनु कृष्ण प्राप्ति अन्य हैते नय ।।५७।।

इस प्रकार श्रीसनातन पाद नीलाचल में रहने लगे । वे श्रीजगन्नाथ जी के दर्शनों को दैन्यवशत: न जाते, केवल श्रीजगन्नाथ जी के मन्दिर की चोटी पर स्थित चक्र के नित्य दर्शन कर उसे प्रणाम कर देते । श्रीमन्महाप्रभु जी प्रति-दिन इन दोनों को आकर मिलते और कुछ देर तक वहाँ विश्राम करते एवं श्रीकृष्ण कथा प्रसङ्ग कह सुन कर इष्ट-गोष्ठी करते । श्रीमहाप्रभु जी को श्रीजगन्नाथ जी के मन्दिर से जो दिव्य प्रसाद नित्य मिलता, उसे इन दोनों को आकर अवश्य देते । एक दिन प्रभु श्रीहरिदास एवं श्रीसनातन जी से आकर मिले और वहाँ बैठते ही श्रीसनातन जी के प्रति अचानक कहने लगे—"सनातन ! देह के त्यागने से श्रीकृष्ण की प्राप्ति नहीं होती है । यदि देह त्याग से श्रीकृष्ण की प्राप्ति हुआ करती होती तो एक क्षण में कोटि-कोटि देह त्याग कर श्रीकृष्ण को प्राप्त कर लिया जाता । देह त्याग से श्रीकृष्ण नहीं मिलते हैं, उनकी प्राप्ति होती है—भजन से । भक्ति भजन को छोड़ कर और कोई भी उपाय श्रीकृष्ण प्राप्ति का नहीं है । देह—त्यागादि, ये सब तमोगुण के धर्म हैं । तमोगुण एवं रजोगुण प्रधान धर्मों से श्रीकृष्ण चरण की प्राप्ति नहीं हो सकती । भक्ति—भजन के बिना कभी प्रेम की प्राप्ति नहीं होती और बिना प्रेम के और किसी उपाय से भी श्रीकृष्ण की प्राप्ति नहीं होती ।।५०-५७।। जैसा कि श्रीमद्भागवतजी में कहा गया है:—

तथाहि (भा: ११-१४-२०)—

न साधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ।।२।।

श्रीभगवान् ने उद्धव जी से कहा है—"हे उद्धव ! मेरी दृढ़ भक्ति मुझे जैसे भक्त के वशीभूत कर देती है, योग, सांख्य-धर्म, वेदाध्ययन, तपस्या तथा त्याग या संन्यास उसी प्रकार मुझे वशीभूत नहीं कर सकते ।। २ ।।

देहत्यागादि तमोधर्म—पातक-कारण । साधक ना पाय ताते कृष्णेर-चरण ।।५८।।
प्रेमी भक्त वियोगे चाहे देह छाड़िते । प्रेमे कृष्ण मिले सेहो ना पारे मरिते ।।५९।।
गाढ़ानुरागेर वियोग ना याय सहन । ताते अनुरागी वाञ्छे आपन मरण ।।६०।।

देह त्याग करना —आदि ये जो तमोधर्म हैं —यह पापों के कारण हैं, अर्थात् देह त्याग—आत्महत्या करना महापातक है । साधक को ऐसा करने से श्रीकृष्ण चरणों की प्राप्ति नहीं होती । प्रेमी भक्त भगवद्-वियोग में शरीर छोड़ना चाहता है किन्तु उसकी प्रेम प्रबलता के कारण श्रीकृष्ण उसे प्राप्त हो जाते हैं उसको मरने नहीं देते या वह देहत्याग नहीं कर पाता । क्योंकि अनुराग की गाढ़ता-वश प्रेमी भक्त वियोग को सहन नहीं कर सकते, इसलिये वे अपने देह का त्याग कर देना चाहते हैं ।।५८–६०।।

चै० च० चु० *टीका:*--कोई-कोई साधक ऐसा विचार करते हैं कि—"इस देह द्वारा अनेक पाप कर्म किये हैं, अत: इस देह से और भजन करने की सम्भावना नहीं है । किसी प्रकार इस देह को त्याग कर नया देह प्राप्त हो, तभी उससे भजन करेंगे" । किन्तु यह एक मूर्खतापूर्ण गल्पना-कल्पना है । पाप

कर्मोंका धब्बा केवल स्थूल देहपर ही नहीं पड़ा करता, बल्कि मन एवं सूक्ष्म देह पर भी पाप कर्मों का विशेष दाग़ आया करता है। स्थूल देह त्यागने के पश्चात् सूक्ष्मदेह एवं मन पर वह दाग अमिट रहता है। और जीव जब दूसरा देह प्राप्त करता है, पूर्वले पाप कर्मों के दागों सहित मन एवं सूक्ष्म शरीर उस भोगायतन देह में प्रवेश करते हैं। इसलिये देह त्याग करते समय जीव के मन की जो अवस्था रहती है, नवीन देह ग्रहण करते समय प्राय: वही अवस्था रहती है। इसलिये पापों के दाग़ों को धोने के लिये केवल देह का त्याग कर देना काफी नहीं है, उसके लिये भजन करना होगा, भजन के द्वारा ही वे पाप कर्म नष्ट हो सकते हैं। इस जन्म के भजन द्वारा ही दूसरे जन्म में भजनोपयोगी शरीर मिल सकता है।

प्रश्न उठता है—देहत्याग से यदि श्रीकृष्ण की प्राप्ति नहीं होती, तो फिर कोई-कोई प्रेमिक भक्त कृष्ण प्राप्ति के लिये देह को त्याग क्यों करना चाहते हैं? श्रीरुक्मिणी जी ने भी श्रीकृष्ण को न पाने पर अनशनव्रत द्वारा देहत्याग करने का सङ्कल्प कर लिया था। व्रजगोपियों ने भी श्रीकृष्ण को न पाने पर देह त्याग करने का विचार कर लिया था—इसका क्या कारण है? इस प्रश्न का ही उत्तर श्रीप्रभु ने ५९ पयार में दिया है। "प्रेमिक भक्त श्रीकृष्ण-विरह में अधीर होकर कभी-कभी देहत्याग करने की इच्छा चाहे करते हैं, किन्तु उनका वह देह त्याग का सङ्कल्प कृष्णप्राप्ति के उद्देश्य को लेकर नहीं होता, श्रीकृष्ण-विरह की असह्य यन्त्रणा से बचाव के उद्देश्य से वे ऐसा चाहते हैं। देह त्याग करने से श्रीकृष्ण मिल जाएंगे—यह बात उनके मन में नहीं होती। फिर भी ऐसी इच्छा करने पर भी उनको देह-त्याग नहीं करना पड़ता है। उनके प्रेम-स्वभाव से श्रीकृष्ण आकर उन्हें दर्शन देते हैं।

श्रीरुक्मिणी जी ने श्रीकृष्णप्राप्ति के लिये जैसे देह त्याग का सङ्कल्प किया—उस श्लोक को नीचे उद्धृत करते हैं—

तथाहि (भा: १०-५२-४३)—

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजः स्नपनं महान्तो—वाञ्छन्त्युमापति रिवात्मतमोपहत्यै।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं जह्यामसून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात् ॥३॥

श्रीरुक्मिणी जी ने कहा था—"हे कमल नयन श्रीकृष्ण! उमापति-श्रीशिव जैसे महद्व्यक्तिगण भी अपने तमोनाश के निमित्त जिनके चरण कमलों की धूलि के धोवन जल की अभिलाषा करते हैं, मैं (रुक्मिणी) यदि आपकी उस कृपा को प्राप्त न कर सकी, तो उपवासादि व्रत द्वारा इन दुर्बल प्राणों का त्याग कर दूंगी। इस प्रकार बार-बार देह त्याग करके शतजन्मों में तो आपकी कृपा को प्राप्त कर ही लूंगी" ॥३॥

श्रीरुक्मिणी जी ने श्रीकृष्ण भगवान् को न पा सकने पर इस प्रकार प्राण त्याग का सङ्कल्प किया था! किन्तु उन्हें प्राण-त्याग नहीं करने पड़े, श्रीकृष्ण ने उन्हें पत्नीरूप में अङ्गीकार कर लिया एवं उनका अभीष्ट पूर्ण कर दिया।

इसी प्रकार श्रीव्रजगोपियों ने भी विरहातुर होकर देह-त्याग का सङ्कल्प किया था—उनकी श्रीमुखोक्ति को नीचे उद्धृत करते हैं—

तथाहि (भा: १०-२९-३६)—

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृत पूरकेण—हासावलोक कलगीतज हृच्छयाग्निम्।
नोचेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्त देहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥४॥

श्रीव्रजसुन्दरियों ने कहा—"हे श्रीकृष्ण ! आपकी मुस्कानयुक्त अवलोकन द्वारा एवं आपके मधुर गान द्वारा हमारे भीतर जो कामाग्नि उत्पन्न हुई है, उसे आप अपने अधरामृत द्वारा शान्त कीजिये, नहीं तो, हे सखे ! आपके विरह जनित अग्नि द्वारा अपने शरीर को भस्म करके ध्यान द्वारा हम आपके चरणों में आकर प्राप्त होंगी" । ।।४।।

श्रीकृष्ण के वियोग में प्रेमवती गोपसुन्दरियों ने जो प्राण-त्याग की इच्छा की थी, वह बात इस श्लोक में वर्णन कीगई है, किन्तु उन्हें भी प्राण त्याग नहीं करने पड़े । श्रीकृष्ण ने उनकी मनोवासना का पूर्ण किया था ।

कुबुद्धि छाड़िया कर श्रवण कीर्त्तन । अविराते पावे तबे कृष्णेर चरण ।।६१।।
नीच जाति नहे कृष्ण भजने अयोग्य । सत्कुल विप्र नहे भजनेर योग्य ।।६२।।
येइ भजे सेइ बड़, अभक्त हीन छार । कृष्ण भजने नाहि जाति-कुलादि विचार ।।६३।।
दीनेरे अधिक दया करे भगवान् । कुलीन पण्डित धनीर बड़ अभिमान ।।६४।।

इस प्रकार श्रीभागवत जी के श्लोकों का वर्णन करते हुए श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"सनातन ! कुबुद्धि को छोड़ कर सदा श्रीकृष्ण-नाम गुणों का श्रवण एवं कीर्त्तन कर, इससे अतिशीघ्र श्रीकृष्ण चरणों की प्राप्ति होगी । (तुम बार-बार अपने को नीच जाति कहते हो —वस्तुतः तुम नीच जाति हो भी नहीं फिर भी) नीच जाति श्रीकृष्ण-भजन के अयोग्य नहीं है । उसे भी कृष्ण-भजन का अधिकार है और ऐसा भी नहीं है कि सत्कुल में उत्पन्न ब्राह्मण ही कृष्ण-भजन के योग्य या कृष्ण-भजन का अधिकारी हो, जो भी श्रीकृष्ण का भजन करता है वही बड़ा या महान् है । जो श्रीकृष्ण का भजन नहीं करता, वह अभक्त तुच्छ है एवं उसका जन्म वृथा है । सनातन ! श्रीकृष्ण भजन में जाति-कुलादि का कुछ भी विचार नहीं है । मैं तो यह कहता हूँ—दीन-हीन व्यक्ति पर श्रीभगवान् अधिक दया करते हैं और कुलीन, पण्डित एवं धनी लोगों पर श्रीभगवान् दया नहीं करते, कारण कि उनमें अधिक अभिमान होता है । और श्रीभगवान् को अभिमान प्रिय नहीं है ।।६१-६४।। जैसा कि श्रीभागवत जी में कहा गया है:—

तथाहि (भाः ७-६-१०)

विप्राद्द्विषड् गुण युतादरविन्दनाभ-पादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पित मनो वचनेहितार्थ-प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ।।२।।

श्रीप्रह्लाद जी ने कहा है—"कमल की भांति सुन्दर एवं सुगन्धित जिनकी नाभि है, ऐसे जो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उनके चरण कमलों की भक्ति से रहित जो द्वादशगुण युक्त ब्राह्मण है, उसकी अपेक्षा श्रीकृष्ण चरणों में जिसने अपने मन, वचन, चेष्टा, अर्थ एवं प्राण—ये सब अर्पण कर दिये हैं, ऐसा जो श्वपच है, उसे मैं श्रेष्ठ मानता हूँ, कारण कि वह श्वपच अपने कुल को पवित्र करने में समर्थ है, किन्तु अतिशय गर्वयुक्त वह ब्राह्मण ऐसा करने में असमर्थ है ।।५।।

अभक्त श्रेष्ठ ब्राह्मण से भक्त श्वपच श्रेष्ठ है—इस बात को उपर्युक्त श्लोक प्रमाणित करता है ।

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ—नवविध-भक्ति । कृष्ण-प्रेम कृष्ण दिते धरे महाशक्ति ।।६५।।
तार मध्ये सर्व श्रेष्ठ—नाम सङ्कीर्त्तन । निरपराध नाम हैते हय प्रेम धन ।।६६।।

एत शुनि सनातनेर हैल चमत्कार। प्रभुके ना भाय मोर मरण विचार ॥६७॥
सर्वज्ञ महाप्रभु निषेधिल मोरे। प्रभुर चरण धरि कहेन तांहारे ॥६८॥
सर्वज्ञ कृपालु तुमि ईश्वर स्वतन्त्र। यैछे नाचाओ, तैछे नाचि,ना हइ स्वतन्त्र ॥६९॥
नीच पामर मुञि अधम-स्वभाव। मोरे जीयाइले तोमार कि हइबे लाभ ॥७०॥

श्रीमहाप्रभु जी ने आगे कहा—"सनातन! श्रीकृष्ण भजन में भी नवविधा भक्ति (श्रवण-कीर्त्तनादि) श्रेष्ठ है। नवविधा में श्रीकृष्ण-प्रेम एवं श्रीकृष्ण को प्राप्त कराने की महाशक्ति है। नवविधा-भक्ति में भी श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन सर्व श्रेष्ठ है। अपराध रहित होकर श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन करने से प्रेम धन की प्राप्ति होती है।" श्रीमहाप्रभु जी के यह वचन सुन कर श्रीसनातन पाद को महान् आश्चर्य हुआ और विचार करने लगे कि मैंने जो देह त्याग करने का सङ्कल्प कर रखा है, श्रीमहाप्रभु जी को मेरा यह सङ्कल्प अच्छा नहीं लग रहा है। श्रीमहाप्रभु सर्वज्ञ हैं, उन्होंने मेरे मन की बात जान ली है और वह मुझे ऐसा करने से निषेध कर रहे हैं। श्रीसनातन गोस्वामी जी श्रीमहाप्रभु जी के चरण पकड़ कर कहने लगे—"प्रभु! आप सर्वज्ञ एवं कृपालु हो, आप स्वतन्त्र ईश्वर हो, आप जैसे मुझे नचाओगे, वैसे ही नाचूंगा, मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। प्रभु! मैं नीच एवं पतित हूं, मेरा अधम स्वभाव है, मुझे जिलाने से आपको क्या लाभ होगा? ॥६५-७०॥

प्रभु कहे—तोमार देह मोर निज धन। तुमि मोरे करियाछ आत्मसमर्पण ॥७१॥
परेर द्रव्य तुमि केने चाह विनाशिते?। धर्माधर्म विचार किवा ना पार करिते? ॥७२॥
तोमार शरीर आमार प्रधान साधन। ए शरीरे साधित्र आमि बहु प्रयोजन ॥७३॥
भक्त-भक्ति-कृष्णप्रेम-तत्त्वेर निर्द्धार। वैष्णवेर कृत्य आर वैष्णव-आचार ॥७४॥
कृष्णभक्ति-कृष्णप्रेम-सेवा प्रवर्त्तन। लुप्ततीर्थ-उद्धार आर वैराग्य-शिक्षण ॥७५॥
निजप्रियस्थान मोर मथुरा-वृन्दाबन। ताहां एत धर्म चाहि करिते प्रचारण ॥७६॥
मातार आज्ञाय आमि वसि नीलाचले। ताहां धर्म शिखाइते नाहि निज बले ॥७७॥
एत सब कर्म आमि ये देहे करिव। ताहा छाड़िते चाह तुमि केमते सहिव? ॥७८॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"सनातन! तुम्हें स्मरण रहे, तुम मुझे आत्म समर्पण कर चुके हो, इसलिये तुम्हारा शरीर अब मेरा निजी धन है। पराये अर्थात् मेरी वस्तु को तुम विनाश करने की कैसे इच्छा कर रहे हो? क्या तुम धर्म-अधर्म का विचार भी नहीं कर सकते? सनातन! तुम्हारा शरीर मेरी उद्देश्य-पूर्त्ति का प्रधान साधन है, इस शरीर से मैं अपने अनेक प्रयोजन सिद्ध करूंगा। भक्त-तत्व, भक्ति-तत्व, श्रीकृष्ण-प्रेम-तत्व—इन सब तत्वों का ठीक-ठीक निर्णय, एवं वैष्णवों को भक्ति-अङ्गों का अनुष्ठान किस प्रकार करना चाहिये, तथा वैष्णवों का क्या आचरण है, श्रीकृष्ण भक्ति का प्रचार एवं प्रेम सहित श्रीकृष्ण सेवा का प्रवर्त्तन, लुप्त-तीर्थों का उद्धार, वैराग्य के अर्थात् देह-दैहिक वस्तुओं में अनासक्ति, मेरे जो अतिप्रिय मथुरा एवं श्रीवृन्दावन धाम हैं, उन में इन (उपर्युक्त) समस्त धर्मों का मैं प्रचार करना चाहता हूँ। मैं तो शचीमाता की आज्ञा से नीलाचल निवास कर रहा हूँ, अतः वहाँ जाकर इन धर्मों का प्रचार करना मेरे लिये सम्भव-पर नहीं है। इन समस्त कामों को मैं जिस शरीर से कराना चाहता हूँ, सनातन! तुम उस शरीर को नष्ट करना चाहते हो? मै इस बात को भला कैसे सहन कर सकता हूँ?

तबे सनातन कहे—तोमाके नमस्कारे। तोमार गम्भीर हृदय के बुझिते पारे ? ॥७६॥
काष्ठेर पुतली येन कुहके नाचाय। आपने ना जाने पुतली, किबा नाचे गाय ॥८०॥
यैछे यारे नाचाओ, तैछे से करे नर्त्तने। कैछे नाचे, केबा नाचाय,सेहो नाहि जाने ॥८१॥
हरिदासे कहे प्रभु—शुन हरिदास। परेर द्रव्य इहों चाहेन करिते विनाश ॥८२॥
परेर स्थाप्य द्रव्य केहो ना खाय विलाय। निषेधिह इंहारे येन ना करे अन्याय ॥८३॥

श्रीमहाप्रभु जी के वचन सुन कर श्रीसनातन जी बोले—"प्रभु ! आपको मेरो नमस्कार है। आपके हृदय के गूढ़ रहस्य को कौन समझ सकता है ? मदारी जब काठ की पुतली को नचाता है, पुतली स्वयं भी यह नहीं जानती कि वह कैसे नाच-गा रही है। उस प्रकार आप भी जिसको जैसे नचाते हो, वह वैसे ही नाचता है, किन्तु वह कैसे नाचता है, उसे कौन नचा रहा है—यह बात वह स्वयं भी नहीं जानता।" श्रीमहाप्रभु जी श्रीहरिदास जी से कहने लगे—"हरिदास ! सुनो, यह सनातन पराय धन को नष्ट करना चाहता है। दूसरे के अमानती धन या वस्तु को भी कोई नहीं खाता—बिगाड़ता है। तुम इसे मना करो—यह सब इस प्रकार का अन्याय मुझ से न करे।" ॥७६-८३॥

हरिदास कहे—मिथ्या अभिमान करि। तोमार गम्भीर हृदय बुझिते न पारि ॥८४॥
कोन् कोन् कार्य तुमि कर कोन् द्वारे। तुमि ना जनाइले केहो जानिते ना पारे ॥८५॥
एतादृश तुमि इंहारे करियाछ अङ्गीकार। ये सौभाग्य इंहार आर ना हय काहार ॥८६॥
तबे महाप्रभु दोंहाय करि आलिङ्गन। मध्याह्न करिते उठि करिला गमन ॥८७॥

श्रीहरिदास जी ने कहा—"प्रभु ! हम लोग अपने कर्त्तापने का मिथ्या अभिमान करते हैं। आप के हृदय के गूढ़ रहस्य को हम नहीं जान सकते हैं, क्या-क्या कार्य आप किस के द्वारा कराते हैं, यह बात आप जब तक न जनाओ, कोई भी इसे नहीं जान सकता। प्रभु ! आप ने श्रीसनातन को जब इस प्रकार अङ्गीकार कर लिया है, इसके सौभाग्यों का क्या कहना ? इस के समान और किसी के भाग्य नहीं हो सकते।" तब श्रीमहाप्रभु जी ने दोनों को आलिङ्गन किया और मध्याह्न का कार्य करने के लिये अपने निवास स्थान पर चल दिये ॥८४-८७॥

सनातने कहे हरिदास करि आलिङ्गन। तोमार भाग्येर सीमा ना याय कथन ॥८८॥
तोमार देह प्रभु कहे 'मोर निजधन'। तोमासम भाग्यवान् नाहि अन्यजन ॥८६॥
निजदेहे येइ कार्य ना पारे करिते। से कार्य करावे तोमा सेहो मथुराते ॥९०॥
ये कराइते चाहे ईश्वर सेइ सिद्ध हय। तोमार सौभाग्य एइ कहिल ना हय ॥९१॥
भक्ति सिद्धान्त शास्त्र आचार-निर्णय। तोमा द्वारे कराइवेन, बुझिल आशय ॥९२॥
आमार एइ देह प्रभुर कार्ये ना आइल। भारत भूमे जन्मि एइ देह वृथा गेल ॥९३॥

श्रीहरिदास जी श्रीसनातन गोस्वामी जी को आलिङ्गन करके उन से कहने लगे—"सनातन ! तुम्हारे भाग्यों की महिमा नहीं कही जा सकती है। तुम्हारे शरीर को प्रभु अपना निजधन बता रहे हैं। तुम्हारे समान और कोई भो भाग्यवान् नहीं हो सकता। अपने-शरीर से श्रीमहाप्रभु जो कार्य नहीं कर

सकते हैं, वह कार्य वे तुम से कराएंगे, वह भी अपने प्रिय धाम मथुरा मण्डल में, इससे बढ़ कर और सौभाग्य क्या हो सकता है। श्रीभगवान् जो कार्य कराना चाहते हैं, वह निश्चय ही सिद्ध होगा, इसलिये तुम्हारे सौभाग्य का कथन नहीं हो सकता। भक्ति सिद्धान्त-परक शास्त्र प्रणयन एवं वैष्णवाचरण-निर्णय श्रीमहाप्रभु तुम्हारे द्वारा कराना चाहते हैं—यही प्रभु की इच्छा है। सनातन ! हाय !हाय ! मेरा यह शरीर प्रभु के किसी भी काम में नहीं आया, भारतवर्ष में जन्म लेकर भी मेरा जीवन वृथा चला गया"॥८८-९३॥

चै० च० च० *टीका*:—श्रीहरिदास जी ने उपर्युक्त पयार में कहा है—मेरा शरीर श्रीभगवान् के किसी काम में न आया, भारत भूमि पर जन्म लेकर भी मेरा जीवन वृथा चला गया। वास्तव में भारत-वर्ष-वासियों की यह दृढ़ धारणा है कि परोपकार में ही जीवन की या शरीर की सार्थकता है। श्रीमहाप्रभु जी ने भी कहा है—**"भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार। जन्म सार्थककर करि उपकार"**। (चै० च०-१-९-३९)। श्रीमद्भागवत (१०-२२-३५) में भी कहा गया है:—

एतावज्जन्म साफल्यं देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय आचरणं सदा॥२॥

अर्थात् अर्थ द्वारा, बुद्धि द्वारा, वचनों द्वारा और तो क्या प्राणों द्वारा भी यदि सर्वदा जीवों का उपकार या मङ्गल-साधन किया जावे, तभी ही मनुष्य जन्म की सफलता है। तात्पर्य यह है कि जीव का उपकार करने में ही मनुष्य-जीवन की सफलता है। —यह धारणा एवं यह सिद्धान्त केवल भारत-वर्ष में ही रहा है और अब भी है। अन्यान्य देशों में स्वार्थ-सिद्धि को ही जीवन का लक्ष्य माना है, उनमें जहाँ कुछ परोपकार का आचरण दीखता है, उसके मूल में उनका स्वार्थ ही निहित है।

स्वार्थरहित परोपकार भारत वासियों का ही आदर्श है। उपकार का स्वरूप क्या है ? केवल इस जगत् की सुख-सुविधा किसी के लिये सम्पादन कर देना, इहलौकिक सुखभोग का साधन जुटा देना परोपकार का मुख्य स्वरूप नहीं है। जिस से इहलौकिक एवं मुख्यत: पारलौकिक मङ्गल सम्पादन हो, वही मुख्य परोपकार है। इहलौकिक सुख विधान में जीव का मायाबन्धन नहीं छूट सकता, वरन् और भी दृढ़तर होजाता है—अत: इसमें जीव का परम मङ्गल नहीं है। जिस के कारण जीव अनेक दुःखों की यातना को भोग रहा है, वह है मायाबन्धन, भगवद् बहिर्मुखता। मायाबन्धन एवं भगवद्वहिर्मुखता जिन साधनों से नष्ट हो, जीव सदा-सदा के लिये सुखी हो, परोपकार का मुख्य स्वरूप वही है। जीवों को कृष्णोन्मुख करना, उनके माया-वन्धन को छुड़ाने के लिये भजन में प्रवृत्त कराना—यही सब से महान् परोपकार है। इस वात को ही लक्ष्य करके श्रीहरिदास जी ने कहा है—"सनातन ! श्रीमहाप्रभु जी तुम्हारे द्वारा भक्ति सिद्धान्त शास्त्रों का प्रणयन एवं वैष्णवाचरण का निर्णय कराना चाहते हैं, प्रभु की इच्छा होने से वह कार्य अवश्य तुम्हारे द्वारा सिद्ध होगा। उन भक्ति-वैष्णव सिद्धान्त शास्त्रों को अध्ययन करके अनेक जीवों का मायाबन्धन ध्वंस होगा—अनेक जीव श्रीभगवत्-भजन में प्रवृत्त होंगे-जो भारतवर्ष में जन्म लेने के मुख्य उद्देश्य—परोपकार का चरम लक्ष्य है। श्रीहरिदासजी ने आगे यह भी कहा—"मुझ से ऐसा कोई भी कार्य न हुआ जिससे भारतवर्ष में मेरा जन्म लेना भी सार्थक हो जाता। वास्तव में श्रीहरि-दास जी की यह दैन्योक्ति ही है। श्रीसनातन गोस्वामी पाद अगले पयारों में श्रीहरिदास जी के द्वारा जीवों के मङ्गल-कार्य-विधान का उल्लेख करते हैं:—

सनातन कहे--तोमासम केवा आन ?। महाप्रभुरगणे तुमि महाभाग्यवान् ॥९४॥

अवतार-कार्य प्रभुर—नामेर प्रचारे । सेइ निजकार्य प्रभु करेन तोमा द्वारे ॥९५॥
प्रत्यह कर तिन लक्ष नाम सङ्कीर्त्तन । सभार आगे कर नामेर महिमा-कथन ॥९६॥
आपने आचरे केहो—ना करे प्रचार । प्रचार करये केहो—ना करे आचार ॥९७॥
आचार-प्रचार नामेर कर दुइ कार्य्य । तुम सर्व गुरु, सर्व जगतेर आर्य्य ॥९८॥

श्रीहरिदास जी की बात सुनकर श्रीसनातन गोस्वामी जी बोले—"ठाकुर ! आपके समान भला और कौन हो सकता है ? आप श्रीमहाप्रभु जी के गणों में—परिकर में महाभाग्यवान् हैं । श्रीमहाप्रभु जी के अवतार का एक प्रयोजन है—श्रीहरिनाम-प्रचार । वह श्रीहरिनाम-प्रचार का अपना काम श्रीमहाप्रभु आपके द्वारा करा रहे हैं । आप प्रति दिन तीन लाख श्रीनाम का सङ्कीर्त्तन करते हैं और हर एक के आगे श्रीनाम की महिमा का भी आप कथन करते हैं । कोई-कोई स्वयं किसी अनुष्ठान का आचरण करते हैं किन्तु उसका वे प्रचार नहीं करते और कोई ऐसे हैं वे केवल प्रचार करते हैं किन्तु स्वयं उसका आचरण नहीं करते । आप तो श्रीनाम का आचरण एवं प्रचार दोनों कार्य करते हैं अतः आप सबके गुरु हैं एवं समस्त जगत् के पूज्य हैं ॥९४–९८॥

एइ मत दुइ जन नाना कथा रङ्गे । कृष्ण कथा आस्वादये रहे एक सङ्गे ॥९९॥
यात्रा काले आइला सब गौड़ेर भक्तगण । पूर्ववत् कैला रथयात्रा दरशन ॥१००॥
रथ-आगे प्रभु तैछे करिल नर्त्तन । देखि चमत्कार हैल सनातनेर मन ॥१०१॥
चारि मास वर्षा रहिला सब भक्तगण । सभा-सङ्गे प्रभु मिलाइल सनातन ॥१०२॥
अद्वैत नित्यानन्द श्रीवास वक्रेश्वर । वासुदेव मुरारि राघव दामोदर ॥१०३॥
पुरी भारती स्वरूप पण्डित गदाधर । सार्वभौम रामानन्द जगदानन्द शङ्कर ॥१०४॥
काशीश्वर—गोविन्दादि यत प्रभुर गण । सभासने सनातनेर कराइल मिलन ॥१०५॥

इस प्रकार श्रीहरिदास जी एवं श्रीसनातन पाद दोनों एक साथ रहते एवं श्रीकृष्ण-कथा का नानाप्रकार रसास्वादन करते । इतने में गौड़ीय भक्त सब श्रीजगन्नाथ जी की रथ यात्रा का दर्शन करने नीलाचल आए एवं पहले की भांति रथ-यात्रा के दर्शन किये । श्रीमन्महाप्रभु जी ने रथ के आगे पूर्ववत् नृत्य-सङ्कीर्त्तन किया । श्रीसनातन गोस्वामी यह सब देखकर बहुत आनन्दित हुए । गौड़ीय भक्त वर्षा के चार मास तक वहां नीलाचल में रहे । श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीसनातन को सब भक्तों से परिचय कराया । श्रीअद्वैताचार्य प्रभु, श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीवास, श्रीवक्रेश्वर, श्रीवासुदेव, श्रीमुरारीगुप्त, श्रीराघव, श्रीदामोदर, श्रीपुरी, श्रीभारती, श्रीस्वरूप, श्रीगदाधर पण्डित, श्रीसार्वभौम, श्रीरामचन्द, श्रीजगदानन्द, श्रीशङ्कर, श्रीकाशीश्वर, श्रीगोविन्द-आदि-आदि जितने भी प्रभु के भक्त थे । सब के साथ श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीसनातन गोस्वामी का परिचय कराया । ॥९९–१०५॥

यथायोग्य कराइल सभार चरण-वन्दन । ताहारे कराइल सभार कृपार भाजन ॥१०६॥
स्वगुणे पाण्डित्ये सभार हैल सनातन । यथायोग्य कृपा-मैत्री-गौरव-भाजन ॥१०७॥
सकल वैष्णव यबे गौड़देशे गेला । सनातन महाप्रभुर चरणे रहिला ॥१०८॥

दोल यात्रादिक प्रभुर सङ्गे देखिल। दिने दिने प्रभु सङ्गे आनन्द बाढ़िल ॥१०९॥
पूर्वेवे वैशाख मासे सनातन यबे आइला। ज्येष्ठ मासे प्रभु तारे परीक्षा करिला ॥११०॥

श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीसनातन को यथायोग्य सब के चरणों में वन्दना कराई और सभी का कृपा पात्र श्रीसनातन को किया। श्रीसनातन जी भी अपने गुणों एवं पाण्डित्य के कारण यथायोग्य किसी की कृपा के, किसी के साथ मैत्री के एवं किसी के गौरव के पात्र बन गये। सब गौड़ीय वैष्णव चतुर्मास के बाद गौड़ देश को लौट गये, किन्तु श्रीसनातन जी श्रीमहाप्रभु जी के पास ही रहे आय। वहाँ उन्होंने श्रीमहाप्रभु जी के साथ श्रीजगन्नाथ जी की फूलडोल यात्रा के दर्शन किये। श्रीमहाप्रभु के साथ रह कर उन्होंने प्रति दिन आनन्द एवं प्रेम की वृद्धि प्राप्त की। श्रीसनातन गोस्वामी नीलाचल में वैशाख मास में आए थे, 'श्रीमहाप्रभु जी ने ज्येष्ठ मास में उनकी परीक्षा ली। (किस प्रकार परीक्षा ली—उसे अगले पयारों में कहते हैं)—

ज्येष्ठ मासे प्रभु यमेश्वरटोटा आइला। भक्त अनुरोधे ताहांइ भिक्षा करिला ॥१११॥
मध्याह्ने भिक्षाकाले सनातने बोलाइला। प्रभु बोलाइल तार आनन्द बाढ़िला ॥११२॥
मध्याह्ने समुद्रेर बालु हञाछे अग्निसम। सेइ पथे सनातन करिला गमन ॥११३॥
प्रभु बोलाञाछे एइ आनन्दित मने। तप्त बालुते पा पोड़े, ताहा नाहि जाने ॥११४॥
दुइ पाय फोस्का हैल गेला प्रभु स्थाने। भिक्षा करि महाप्रभु करियाछे विश्रामे ॥११५॥
भिक्षा अवशेष पात्र गोविन्द तारे दिला। प्रसाद पाञा सनातनप्रभु पाशे आइला ॥११६॥

(श्रीजगन्नाथ जी के मन्दिर की दक्षिण-पश्चिम दिशा में एक यमेश्वर नाम का बगीचा था, जिस में श्रीगदाधर पण्डित रहा करते थे) श्रीगदाधर जी एवं भक्तों के अनुरोध से एक बार ज्येष्ठ मास में श्रीमहाप्रभु जी उस यमेश्वर बागीचा में आए एवं वहीं आपने भिक्षा-प्रसाद भोजन किया। मध्याह्न का समय था, भोजन के समय श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीसनातन जी को बुलवा भेजा। "प्रभु ने बुलाया है"—इस आनन्द में श्रीसनातन पाद फूले न समाए। (यमेश्वर-बाग में जाने के दो रास्ते थे एक तो श्रीजगन्नाथजी के मन्दिर के सिंहद्वार के पास होकर पक्की सड़क थी। यह रास्ता आबादी में से होकर निकलता था। वृक्ष-छाया-पूर्ण रास्ता था। दूसरा रास्ता समुद्र के किनारे होकर जाता था। वह रास्ता रेतीला था, उसमें कोई छाया-वृक्षादि न थे।) मध्याह्न के समय समुद्र के किनारे की बालू अग्नि की भांति तप रही थी। (ज्येष्ठ मास था) श्रीसनातन गोस्वामी उसी रास्ते से ही श्रीमहाप्रभु के पास चले। "श्रीमहाप्रभुजी ने बुलाया है"—बस इसी आनन्द में मग्न थे। (नंगे पाँव श्रीसनातन जल्दी-जल्दी जा रहे थे) तपी हुई बालू पर उनके पाँव जले जा रहे हैं—यह वे नहीं जान रहे थे। दोनों पाँवों में छाले पड़ गये—इस अवस्था में श्रीसनातन जी श्रीमहाप्रभु जी के पास पहुँचे। उस समय श्रीमहाप्रभु जी भोजन कर चुके थे एवं विश्राम कर रहे थे। श्रीगोविन्द ने श्रीप्रभु का उच्छिष्ट भोजन का पात्र श्रीसनातन पाद के आगे रख दिया। उन्होंने आनन्द पूर्वक प्रसाद पाया और निवृत होकर जहाँ प्रभु विश्राम कर रहे थे—वहाँ गये ॥१११-११६॥

प्रभु कहे—कोन् पथे आइले सनातन। तेंहो कहे—समुद्र पथे करिला गमन ॥११७॥
प्रभु कहे—तप्त बालुते केमते आइला ?। सिंहद्वारेर पथ शीतल,केने ना आइला?॥११८॥
तप्त बालुते तोमार पाये हैल व्रण। चलिते ना पार, केमते करिले सहन ॥११९॥

सनातन कहे—दुख बहु ना पाइल । पाये व्रण हइयाछे—ताहा ना जानिल ॥१२०॥
सिंहद्वारे याइते मोर नाहि अधिकार । विशेषे ठाकुरेर ताहां सेवक प्रचार ॥१२१॥
सेवक सव गतागति करे अवसरे । कारोसह स्पर्श हइले सर्वनाश हवे मोरे ॥१२२॥

श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीसनातन जी को देखते ही पूछा—"सनातन ! तुम किस रास्ते से यहाँ आए हो ?" । श्रीसनातन जी ने कहा—"प्रभु ! समुद्र के रास्ते होकर ही आया हूँ ।" प्रभु ने कहा—"तप्त-वालू पर होकर तुम कैसे चले आए ? सिंहद्वार का रास्ता शीतल था, उस रास्ते से क्यों न आए ? देखो, तप्त बालू से तो तुम्हारे पाँवों में फफोले एवं घाव हो रहे हैं, तुम तो चल भी न सकोगे । तुमने गर्म वालू को कसे सहन कर लिया ?" । श्रीसनातन जी बोले—"मुझे कुछ अधिक दुःख नहीं हुआ, प्रभु ! मुझे तो पता ही नहीं लगा कि मेरे पाँव में घाव हो रहे हैं । प्रभु ! मुझे सिंहद्वार के रास्ते से आने का अधिकार नहीं है, कारण कि उस पर तो विशेषतः श्रीजगन्नाथ जी के सेवक आते-जाते रहते हैं । इस समय तो श्रीजगन्नाथ जी की शयन के वाद उनके पुजारी-सेवक अवसर पाकर अपने घरों में आ-जा रहे हैं, यदि किसी के साथ मेरा स्पर्श हो गया तो प्रभु ! मेरा तो सर्वनाश हो जाएगा ।" ॥११७-१२२॥

शुनि महाप्रभु मने सन्तोष पाइला । तुष्ट हञा तारे किछु कहिते लागिला ॥१२३॥
यद्यपि तुमि हओ जगत-पावन । तोमा स्पर्शे पवित्र हय देव-मुनिगण ॥११४॥
तथापि भक्त-स्वभाव मर्यादा-रक्षण । मर्य्यादा पालन हय—साधुर भूषण ॥१२५॥
मर्य्यादा-लङ्घने लोके करे उपहास । इह लोक परलोक दुइ लोक नाश ॥१२६॥
मर्य्यादा राखिले, तुष्ट कैले मोर मन । तुमि ऐछे ना कैले आर करिव कोन्‌जन ॥१२७॥
एत बलि प्रभु तारे आलिङ्गन कैल । तार कण्डुरसा प्रभुर श्रीअङ्गे लागिल ॥१२८॥
बार बार निषेधे—तबु करे आलिङ्गन । अङ्गे रसा लागे, दुख पाय सनातन ॥१२९॥
एइमते सेवक प्रभु दोंहे घर गेला । आर दिन जगदानन्द सनातनेरे मिलिला ॥१३०॥
दुइजने वसि कृष्ण कथा गोष्ठी कैला । पण्डितेरे सनातन दुःख निवेदिला ॥१३१॥

श्रीसनातन गोस्वामी जी की वात सुन कर श्रीमहाप्रभु जी मन में बहुत सन्तुष्ट हुए और उनसे कहने लगे—"सनातन ! यद्यपि तुम जगत् को पावन करने वाले हो । तुम्हें स्पर्श करने से तो देवता-मुनि जन भी पवित्र हो जाते हैं, तथापि (तुम महाभागवत हो और) भक्त का स्वभाव है कि वह मर्य्यादा की रक्षा करता है । मर्य्यादा का पालन करना, साधु पुरुषों का भूषण ही है । मर्य्यादा का उलङ्घन करने से साधु का जगत् में उपहास होता है और उसके यह लोक एवं परलोक, दोनों लोक नाश हो जाते हैं । तुमने मर्यादा की रक्षा करके मेरे मन को सन्तुष्ट कर दिया है । सनातन ! तुम ऐसा न करोगे तो और कौन करेगा ?" इतना कह कर प्रभु ने उन्हें आलिङ्गन किया एवं ऐसा करते में उनके कण्डुरोग का रसा भी श्रीमहाप्रभु जी के श्रीअङ्गों में लगा । श्रीसनातन तो वार-वार निषेध कर रहे थे । प्रभु को खाज का रसा लग रहा था, श्रीसनातन बहुत दुखी हो रहे थे, किन्तु फिर भी प्रभु बार-बार उन्हें आलिङ्गन कर रहे थे । इस प्रकार वोलते-वतलाते प्रभु एवं सेवक अपने-अपने निवास स्थान पर चले गये । दूसरे दिन श्रीसनातन गोस्वामी श्रीजगदानन्द जी से मिले एवं दोनों ने वैठ कर परस्पर श्रीकृष्ण-कथारसास्वादन किया । श्रीसनातन जी ने अपने मन का दुःख उन्हें सुनाया—॥१२३-१३१॥

इहां आइलाङ प्रभु देखि दुख खण्डाइते । येवा मने वाञ्छा, प्रभु ना दिल करिते ॥१३२॥
निषेधिते प्रभु आलिङ्गन करे मोरे । मोर कण्डुरसा लागे प्रभुर शरीरे ॥१३३॥
अपराध हय मोर, नाहिक निस्तार । जगन्नाथ ना देखिये, ए दुख अपार ॥१३४॥
हित लागि आइलाङ, हैल विपरीते । कि करिले हित हय, नारि निर्द्धारिते ॥१३५॥
पण्डित कहे—तोमार वास योग्य वृन्दावन । रथयात्रा देखि ताहां करह गमन ॥१३६॥
प्रभु-आज्ञा हइयाछे तोमरा दुइ भाये । वृन्दावने वैस, ताहां सर्व सुख पाइये ॥१३७॥
ये कार्ये आइला प्रभुर देखिला चरण । रथे जगन्नाथ देखि करह गमन ॥१३८॥

श्रीसनातन पाद बोले—"पण्डित ! मैं यहाँ श्रीमहाप्रभु के दर्शन कर अपने दुख की शान्ति के लिये आया था । यही मेरे मन की वाञ्छा थी, किन्तु प्रभु ने उसे पूरा नहीं करने दिया । मैं बार बार निषेध करता हूँ, तो भी प्रभु मुझे बार-बार आलिङ्गन कर लेते हैं । मेरे व्रणों का रसा प्रभु के श्रीअङ्ग में लगता है—जो बहुत बड़ा अपराध है—इस से मेरा निस्तार नहीं होगा । और फिर यह भी बहुत दुःख है कि श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन भी मैं प्राप्त नहीं कर सकता हूँ । मैं आया तो था यहाँ हित के लिये, अपने उद्धार के लिये, किन्तु यहाँ हो रहा है विपरीत । मेरा कैसे निस्तार होगा—मैं इस बात का अभी निर्णय नहीं कर पाया हूँ ।" श्रीसनातन पाद के वचन सुन कर श्रीजगदानन्द कहने लगे—"सनातन ! तुम्हारे रहने योग्य स्थान तो श्रीवृन्दावन है । रथयात्रा देख कर तुम यहाँ से चले जाओ । क्योंकि प्रभु ने तुम दोनों भाइयों को पहले ही यही आज्ञा की थी कि दोनों जाकर श्रीवृन्दावन वास करो, वहाँ ही समस्त सुख प्राप्त होंगे । जिस लिये तुम यहाँ आए थे सो तुम ने श्रीमहाप्रभु के चरण दर्शन कर लिये हैं, रथयात्रा के दर्शन करके तुम यहाँ से चले जाना, सनातन ! मेरी तो यही राय है ।" ॥१३२-१३८॥

सनातन कहे--भाल कैले उपदेश । तांहा याव, सेइ आमार प्रभुदत्त देश ॥१३९॥
एतबलि दोंहे निज कार्य्ये उठि गेला । आर दिन महाप्रभु मिलिते आइला ॥१४०॥
हरिदास कैल प्रभुर चरण वन्दन । हरिदासे कैला प्रभु प्रेम-आलिङ्गन ॥१४१॥
दूरे हैते दण्ड प्रणाम करे सनातन । प्रभु बोलाय बार-बार करिते आलिङ्गन ॥१४२॥
अपराध-भये तेंहो मिलिते ना आइला । महाप्रभु मिलिवारे सेइ ठाञि गेला ॥१४३॥
सनातन पाछे भाजे करेन गमन । बलात्कारे धरि प्रभु कैल आलिङ्गन ॥१४४॥
दुइ जन लञा प्रभु बसिला पिण्डाते । निर्विण्ण सनातन लागिला कहिते ॥१४५॥

श्रीसनातन पाद ने कहा—"जगदानन्द ! आप ने ठीक बात कही है, मैं श्रीवृन्दावन ही चला जाऊँगा, वही देश ही प्रभु ने हमें रहने को दिया है ।" इतना कह कर दोनों जने उठ कर अपने-अपने कार्य को चले गये । दूसरे दिन श्रीमहाप्रभु जी श्रीहरिदास जी के स्थान पर उन से एवं श्रीसनातन जी को मिलने आए । श्रीहरिदास जी ने उठ कर प्रभु के चरणों में वन्दना की और प्रभु ने श्रीहरिदास को प्रेम पूर्वक आलिङ्गन किया । श्रीसनातन गोस्वामी दूर से ही पृथ्वी पर पड़ कर प्रभु को दण्डवत् प्रणाम कर रहे थे । श्रीमहाप्रभु आलिङ्गन करने के लिये बार-बार उन्हें बुलाने लगे, किन्तु अपराध के भय से (प्रभु को खाज का रसा लगता है—इस अपराध के भय से) वह प्रभु के पास मिलने के लिये न आए । श्रीमहाप्रभु स्वयं ही उठ कर उनके पास जाने लगे, श्रीसनातन पीछे-पीछे भागने लगे किन्तु करुणामय

महाप्रभु भी उन के पीछे भागने लगे। प्रभु ने श्रीसनातन जी को बल पूर्वक पकड़ ही लिया और प्रेम पूर्वक आलिङ्गन कर लिया। श्रीहरिदास जी एवं श्रीसनातन जी दोनों को लेकर प्रभु चबूतरे पर आ बैठे। श्रीसनातन जी बहुत दुखी होकर कहने लगे ॥१३६-१४५॥

हित लागि आइलों मुञि, हैल विपरीत। येवा योग्य नहों, अपराध करों नित ॥१४६॥

सहजे नीच जाति मुञि दुष्ट पापाशय। मोरे तुमि छुंइले मोर अपराध हय ॥१४७॥

ताते आमार अङ्गे कण्डुरक्त-रसा चले। तोमार अङ्गे लागे, तभु स्पर्श मोरे बले ॥१४८॥

वीभत्स स्पर्शिते नाहि कर घृणालेश। एइ अपराधे मोरे हबे सर्वनाश ॥१४९॥

ताते इहां रहिले मोर ना हय कल्याणे। आज्ञा देह, रथ देखि याङ वृन्दावने ॥१५०॥

जगदानन्द पण्डिते आमि युक्ति पुछिल। वृन्दावन याइते तेंहों उपदेश दिल ॥१५१॥

श्रीसनातन पाद ने कहा—"प्रभु! मैं अपने कल्याण के लिये यहाँ आया था, किन्तु हुआ उसके विपरीत है, जो मुझे नहीं करना चाहिये, वही अपराध मुझ से नित्य होता है। सहज ही मैं नीच जाति हूँ, दुष्ट हूँ एवं पापों का घर हूँ, मुझे आप स्पर्श करते हैं—उस में मेरा अपराध होता है, क्योंकि मेरे अङ्गों से खाज के कारण रक्त व रसा बहता है, वह आप के श्रीअङ्ग में लगता है। मैं मना करता हूँ, फिर भी आप बल पूर्वक मुझे आलिङ्गन करते हैं। ऐसे घृणित शरीर को स्पर्श करने में आप ज़रा भी घृणा नहीं करते हैं—इस अपराध से मेरा तो सर्वनाश हो जाएगा। इसलिये यहाँ नीलाचल में रहने से मेरा कल्याण न होगा—प्रभु! आप मुझे आज्ञा दीजिये कि रथयात्रा दर्शन करके मैं यहाँ से श्रीवृन्दावन चला जाऊँ। श्रीजगदानन्द जी से भी मैंने सलाह की है, उन्होंने भी मुझे श्रीवृन्दावन चले जाने का उपदेश दिया है।

एत शुनि महाप्रभु सरोष अन्तरे। जगदानन्दे क्रुद्ध हञा करे तिरस्कारे—॥१५२॥

कालिकार बटुया जगा, ऐछे गर्व हैल। तोमाकेओ उपदेश करिते लागिल ॥१५३॥

व्यवहार परमार्थे तुमि तार गुरुतुल्य। 'तोमाकेओ उपदेशे'—ना जाने आपन मूल्य ॥१५४॥

आमार उपदेष्टा तुमि प्रामाणिक आर्य्य। तोमाके उपदेशे बालका करे ऐछे कार्य्य ॥१५५॥

श्रीसनातन जी की बात सुनते ही श्रीमहाप्रभु जी क्रोधित हो उठे एवं श्रीजगदानन्द का तिरस्कार करते हुए कहने लगे—"कल का छात्र जगा (जगदानन्द)—उसको ऐसा गर्व हो गया है? सनातन! वह तुम्हें उपदेश करने लगा है? व्यवहार में एवं परमार्थ विषय में तुम तो उसके गुरु समान हो, हैं! वह तुम्हें उपदेश देने लगा है? वह अपना मूल्य नहीं समझता है। सनातन! तुम तो मुझे भी उपदेश करने में समर्थ हो, तुम प्रामाणिक व्यक्ति हो (जो तुम कह दो—वही प्रमाण-स्वरूप में व्यवहृत हो सकता है, कोई उसे खण्डन नहीं कर सकता) वह छोकड़ा तुम्हें उपदेश देता है—ऐसा काम वह करने लगा है?" ॥१५२-१५५॥

शुनि पाय धरि सनातन प्रभु के कहिल—। जगदानन्देर सौभाग्य आजि से जानिल ॥१५६॥

आपनार दौर्भाग्येर आजि हैल ज्ञान। जगते नाहि जगदानन्दसम भाग्यवान् ॥१५७॥

जगदानन्दे पियाओ आत्मीयता-सुधाधारे। मोरे पियाओ गौरव-स्तुति-निम्ब निसिन्दासारे १५८

आजिह नहिल मोरे आत्मीयता-ज्ञान। मोर अभाग्य, तुमि स्वतन्त्र भगवान् ॥१५९॥

श्रीमहाप्रभु के वचन सुन कर श्रीसनातन गोस्वामी जी ने प्रभु के चरण पकड़ लिये और कहने लगे—"प्रभु ! जगदानन्द के ऐसे सौभाग्य हैं—यह आज मैं जान पाया हूँ एवं अपने दुर्भाग्यों का ज्ञान भी मुझे आज ही हुआ है। इस जगत् में श्रीजगदानन्द के समान कोई भाग्यवान् नहीं है। श्रीजगदानन्द को आप अपने अधरों का आत्मीयता रूप अमृत पान कराते हो अर्थात् उसे अपना आत्मीय जन समझते हो (आत्मीय न होने से इस प्रकार कोई किसी का तिरस्कार थोड़े कर सकता है) और मुझे आप मेरी प्रशंसा-स्तुति रूप निम्ब एवं निसिन्दा (अति कड़वा गुल्म विशेष) का रस पान कराते हैं, अर्थात् मेरा गौरव रखते हैं—मेरा स्तुति करते हैं—जैसे पराये मनुष्य की मर्यादानुसार की जाती है—मैंने देह त्याग का अति तुच्छ सङ्कल्प किया था—कितना दोष था ? किन्तु आपने युक्तियों द्वारा उसे अन्याय कह कर मुझे उस से हटा लिया—मेरा तिरस्कार नहीं किया। मैंने ही आप के चरण छोड़ कर वृन्दावन जाने का सङ्कल्प किया है—किन्तु आप मुझे तिरस्कृत न करके मेरी स्तुति ही करते हैं—वही प्रमाण है कि आप मुझे आत्मीय नहीं जानते हैं। गौरव एवं स्तुति नहीं करते हैं बल्कि आप मुझे नीम एवं निसिन्दा का कड़वा रस पान करा रहे हैं। आज तक मैं आपका आत्मीय नहीं बन सका हूँ, यह मेरे ही अभाग्य हैं, आप तो स्वतन्त्र भगवान् हैं ॥१५६-१५६॥

शुनि महाप्रभुर किछु लज्जित हैल मन। तारे सन्तोषिते किछु बोलेन वचन ॥१६०॥
जगदानन्द प्रिय आमार नहे तोमा हैते। मर्य्यादा-लङ्घन आमि ना पारि सहिते ॥१६१॥
काहां तुमि प्रमाणिक शास्त्रे त प्रवीण। कांहा जगाइ कालिकार वटुया नवीन ॥१६२॥
आमाकेह बुझाइते धर तुमि शक्ति। कत ठाञि बुझाइयाछ व्यवहार भक्ति ॥१६३॥
तोमाके उपदेश करे, ना याय सहन। अतएव तारे आमि करिये भर्त्सन ॥१६४॥

श्रीसनातन जी के यह वचन कि प्रभु ! आप मुझे आत्मीय नहीं जानते हो—सुनकर श्रीमहाप्रभु जी का मन कुछ सङ्कुचित हो गया और श्रीसनातन जी को सन्तोषित करने के लिये कहने लगे—"सनातन ! यह बात ठीक है कि जगदानन्द मुझे प्रिय है, किन्तु जितने प्रिय तुम हो, उतना वह मुझे प्रिय नहीं है। मैं किन्तु मर्य्यादा के उलङ्घन को सहन नहीं कर सकता हूँ। सनातन ! कहाँ तो तुम एक प्रामाणिक व्यक्ति, सब शास्त्रों में प्रवीण और कहाँ वह जगाई (जगदानन्द) कल का नवीन विद्यार्थी। तुम मुझे भी समझाने की शक्ति रखते हो, तुमने मुझे कितने स्थानों पर व्यवहार विषय में तथा भक्ति विषय में शिक्षा दी है। (तुम्हें याद होगा, जब मैं श्रीवृन्दावन जाने के उद्देश्य से रामकेलि गाँव में आकर रहा था, तो वहां के यवनराजा के विरुद्धाचरण की आशङ्का करते हुए तुमने मुझे बताया था कि यहाँ से आप शीघ्र चले जाओ यह तुम्हारी व्यवहारिक-शिक्षा थी। और फिर जब मेरे साथ अनेक जन समूह श्रीवृन्दावन जाते हुए तुमने देखा, तो भी तुमने मुझे टोका था—कि श्रीवृन्दावन जाने की यह परिपाटी नहीं है—श्रीवृन्दावन यात्रा में इतनी भीड़ भाड़ का क्या प्रयोजन ? वहां तो अकेला ही जाना चाहिये— यह तुम्हारी मुझे भक्ति विषयक शिक्षा थी।) वह जगदानन्द तुम्हें कुछ उपदेश दे, यह मुझ से सहन नहीं हो सकता। अतएव मैं उनका तिरस्कार कर रहा हूं (और जो तुम्हारे गुणों की प्रशंसा कर रहा हूँ—वह केवल जगदानन्द के अन्याय या मर्यादा उलङ्घन को दिखाने के लिये तुम्हारे स्वरूप का वर्णन कर रहा हूँ—तुम्हारी स्तुति का प्रयोजन लेकर ऐसा नहीं कहता हूं) ॥१६०-१६४॥

वहिरङ्गबुद्ध्ये तोमाय ना करि स्तवन। तोमार गुणे स्तुति कराय, ऐछे तोमार गुण ॥१६५॥

यद्यपि कारो ममता बहु जने हय। प्रीतेर स्वभावे काहाते कोनो भावोदय ॥१६६॥
तोमार देहे तुमि कर वीभत्सेर ज्ञान। तोमार देह आमाके लागे अमृत समान ॥१६७॥
अप्राकृत देह तोमार, प्राकृत कभु नय। तथापि तोमार ताते प्राकृत बुद्धि हय ॥१६८॥
प्राकृत हैले तोमार वपु नारि उपेक्षिते। भद्राभद्र वस्तु ज्ञान नाहिक प्राकृते ॥१६९॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"सनातन ! मैं तुम्हें पराया जान कर या तुम्हें बहिरङ्ग जान कर तुम्हारी स्तुति नहीं करता हूँ। तुम्हारे ऐसे गुण हैं कि वे मुझ से तुम्हारी स्तुति कराते हैं। देख ! यद्यपि किसी एक व्यक्ति की अनेक व्यक्तियों में प्रीति होती है, वह प्रीति सब में एक रूप नहीं होती है, किसी में कोई भाव होता है किसी में कोई अन्य भाव होता है – यह प्रीति का स्वभाव ही है। तुम अपने शरीर को घृणित वस्तु जान रहे हो, किन्तु तुम्हारा शरीर मुझे अमृत के समान प्रिय लगता है, तुम्हारा देह अप्राकृत—चिन्मय है, वह मायिक नहीं है, फिर भी तुम्हारी उसमें प्राकृत-बुद्धि है। यदि तुम्हारा देह प्राकृत भी होता, तो भी तुम्हारे शरीर की उपेक्षा करना सङ्गत नहीं था। कारण कि प्राकृत वस्तु में, अच्छा-बुरा—ऐसा ज्ञान बनता नहीं है अर्थात् प्राकृत वस्तुओं के सम्बन्ध में —यह अच्छी है, यह बुरी है —ऐसा समझना भ्रान्ति मात्र ही है। ॥१६५–१६९॥

चै० च० चु० *टीका*—उपर्युक्त पयारों में श्रीमहाप्रभु जी ने कहा है कि एक व्यक्ति की अनेक जनों के प्रति प्रीति होती है, किन्तु वह प्रीति सब के प्रति एक प्रकार की नहीं होती। माता-पिता, सखा, पुत्र, स्त्री-आदि के प्रति हर एक व्यक्ति की प्रीति भिन्न-भिन्न भाव की हुआ करती है। विभिन्न व्यक्तियों के प्रति विभिन्न प्रकार की प्रीति हुआ करती है।

श्रीमहाप्रभु जी की इस उक्ति का एक और भी गूढ़ उद्देश्य जान पड़ता है। श्रीसनातन गोस्वामी तथा श्रीजगदानन्द के प्रति श्रीमहाप्रभु जी की प्रीति के पार्थक्य का मुख्य कारण यह भी है कि श्रीजगदानन्द जी द्वारका-लीला में श्रीकृष्ण-महिषी सत्यभामा थे—"सत्यभामा प्रकाशोऽपि जगदानन्दपण्डित:"—महिषीगणों की प्रीति समञ्जसा-रतिमयी है। इस प्रीति में समय-समय पर स्वसुखवासना के द्वारा भेद-प्राप्त होता है। उनके प्रेम में श्रीकृष्ण सर्वतोभावेन वशीभूत नहीं होते हैं। कोई असङ्गत कार्य देख कर श्रीकृष्ण उन पर रुष्ट भी होते हैं। द्वारका लीला व नवद्वीप लीला में श्रीकृष्ण एवं उनके परिकरों के यद्यपि देह भिन्न हैं किन्तु उनमें प्रीति वही की वही विद्यमान् है। इस लिये श्रीजगदानन्द का असङ्गत आचरण देख कर प्रभु ने उस का तिरस्कार कर दिया।

किन्तु श्रीसनातन गोस्वामी ब्रज लीला में श्रीराधा जी की सेवा-परा दासी रतिमञ्जरी या लवंग मञ्जरी थे। श्रीराधा जी की भांति उनकी मञ्जरीगणों की प्रीति भी महाभावमयी है। उनके मन-आदि इन्द्रियगण भी महाभाव के स्वरूप को प्राप्त हैं इस लिये उनका कोई आचरण, यहाँ तक कि उनके द्वारा किये गये तिरस्कार में भी श्रीकृष्ण आनन्द अनुभव करते हैं। ब्रजसुन्दरियों की प्रीति समर्था रति-मयी है, जो श्रीकृष्ण को सर्वतो भावेन वशीभूत करने में समर्थ हैं। उन के इसी गुण के कारण श्रीकृष्ण सदैव उनकी प्रशंसा ही किया करते हैं। ब्रजसुन्दरियों की उसी प्रीति को लेकर श्रीरतिमञ्जरी ही नवद्वीप लीला में श्रीसनातन रूप से प्रगट हुई है। अत: श्रीमहाप्रभुजी उनके गुणों के वशीभूत होकर उनकी प्रशंसा करते हैं।

श्रीजगदानन्द के असङ्गत-आचरण को देख कर श्रीप्रभु उनका तिरस्कार करते हैं और श्रीसनातन गोस्वामी पाद जी का असङ्गत-आचरण—देह-त्याग का सङ्कल्पादि देख कर प्रभु ऐसा नहीं

करते, इस पार्थक्य का मूल कारण प्रभु के प्रति उनकी प्रीति का ही पार्थक्य है, अथवा श्रीमहाप्रभु जी की उन दोनों के प्रति विभिन्न भावमयी प्रीति ही मूल कारण है।

श्रीमहाप्रभु जी ने यह भी कहा—"सनातन ! तुम चाहे अपने देह को प्राकृत जान रहे हो एवं खाज आदि के कारण अपने देह को घृणित वस्तु जान रहे हो, परन्तु तुम्हारा शरीर प्राकृत नहीं है, वह अप्राकृत ही है। श्रीमहाप्रभु जी ने यह भी कहा—यदि तुम्हारे देह को प्राकृत भी जान लिया जाए तो भी वह मेरे लिये उपेक्षणीय वस्तु नहीं है। कारण कि जगत् में समस्त वस्तुएँ ही जब प्राकृत हैं, सब वस्तुएँ एक जातीय हैं, तब उन में किसी को अच्छा और किसी को बुरा जानना असङ्गत ही है।

परवर्त्ती श्लोकों को देख कर प्रतीत होता है, श्रीमहाप्रभु जी ने यह बात ज्ञान मार्ग को लक्ष्य करते हुए कही है। श्रीसनातन जी से कुछ तो परिहास करने की सूझी है, अथवा अपनी दीनता प्रगट करते हुए अपने को संन्यासी बताते हुए अपने को भक्ति-हीन बताने का बहाना किया है। कारण कि "प्राकृत-वस्तुओं के सम्बन्ध में–यह वस्तु अच्छी है; यह वस्तु बुरी है—यह सोचना भ्रान्ति है या अवास्तव है"— यह मत ज्ञान-मार्ग का है, भक्ति-मार्ग का यह मत नहीं है। भक्ति मार्ग में अच्छे-बुरे, पवित्र-अपवित्र पदार्थों का विचार अपरिहार्य है। साधक-भक्तों के आचरणों से एवं श्रीविग्रह-सेवादि की विधि से यह बात स्पष्ट दीखती है। क्या वस्तु वैष्णव को ग्रहण करनी है, क्या वस्तु सेवा में लेनी है, क्या वस्तु वैष्णव को ग्रहण नहीं करनी है व क्या वस्तु भगवत्-सेवा में निषेध है—इस प्रकार का विचार भक्ति मार्ग में आवश्यक है, किन्तु ज्ञान मार्ग में इस प्रकार के विचार का अवकाश ही नहीं है। अच्छे-बुरे का विचार करने में तो एक से अधिक अनेक वस्तुओं को मानना पड़ता है, किन्तु जिस ज्ञान मार्ग में एक वस्तु-ब्रह्म को छोड़ कर और कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, द्वैत की सत्ता ही नहीं है—वहाँ कुछ अच्छा, और कुछ बुरा फिर कैसे हो सकता है। ज्ञान मार्ग कहता है—अनेक वस्तुएँ जो हम देखते हैं, वह एक भ्रान्ति मात्र है। तब एक वस्तु अच्छी है, एक वस्तु बुरी है, ऐसे विचार का अवकाश कहाँ रहता है ? भक्ति-मार्ग में परिदृश्यमान् जगत् को भगवान् की परिणति माना गया है, स्वीय अचिन्त्य शक्ति प्रभाव से भगवान् सब वस्तुओं में परिणत होकर भी स्वयं अविकृत रहते हैं। अतः जो कुछ हम देखते हैं, उस समस्त का अस्तित्व है, चाहे वह अस्तित्व नित्य नहीं है। जिसका अस्तित्व है, उसका गुण दोष भी है। अतः उसके सम्बन्ध में अच्छे-बुरे का विचार भी वास्तविक है, भ्रान्ति नहीं है।

इसलिये यहाँ, श्रीसनातन पाद का देह उपेक्षणीय नहीं है—इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये प्रभु ने एक तो उनके देह को अप्राकृत कह कर वर्णन किया और फिर दूसरे कुछ परिहास करते हुए अथवा अपनी दीनता दिखाते हुए प्रभु ने आज कुछ ज्ञान-मार्ग की बात कह डाली।

इस में प्रभु के दैन्य का प्रकाश इस प्रकार दीखता है—"मैं तो मायावादी संन्यासी हूँ, अपने को ब्रह्म मानता हूं, मैं ब्रह्म का दास हूँ—ऐसा ज्ञान मुझे नहीं है, इसलिये कुछ भी अच्छा-बुरा मुझे नहीं भासता है अर्थात् मैं भक्ति मार्ग से बहुत दूर हूँ"—इस तरह श्रीमहाप्रभु का यहाँ दैन्य प्रकाशित होता है।

श्रीमहाप्रभु जी का इस उक्ति में श्रीसनातन के प्रति परिहास है, वह इस प्रकार कि प्रभु ने कहा—"सनातन ! तुम अपने शरीर को प्राकृत जानते हो—मुझे इस से क्या ? मैं तो संन्यासी हूँ। मेरे लिये तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' है। मेरे लिये अच्छा-बुरा कुछ भी नहीं है। मेरे लिये चन्दन एवं कीच एक समान हैं" —इस प्रकार के वचन (जो ज्ञान-मार्गीय संन्यासी बोला करते हैं) व्यंग रूप में प्रभु ने कहकर श्रीसनातन जी से परिहास किया और अपनी उक्ति को पुष्ट करने के लिये श्रीमद्भागवत जी का एक श्लोक भी पढ़ा, जो इस प्रकार है—

तथाहि (भा: ११-२८-४ ;—

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत् ।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ॥६॥

मिथ्याभूत द्वैतवस्तु में अर्थात् जगत् में पवित्र क्या और अपवित्र क्या ? (कुछ भी पवित्र व अपवित्र नहीं है ।) क्योंकि जो वाक्यों द्वारा कथित होती हैं या चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा गोचर होती हैं, वे समस्त वस्तुएँ ही मिथ्या हैं एवं मन के द्वारा चिन्तन किये जाने वाले भी सब पदार्थ मिथ्या हैं ॥६॥ श्रीमहाप्रभु जी ने और भी कहा—

द्वैत भद्राभद्र-ज्ञान—सब मनोधर्म ।
'एइ भाल, एइ मन्द'—एइ सब भ्रम ॥१७०॥

श्रीप्रभु ने कहा—"जहाँ द्वैत है—जहाँ एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का भी अस्तित्व माना गया है, वहाँ ही अच्छे-बुरे का विचार या ज्ञान है । किन्तु ऐसा जानना मन का ही धर्म है । यह अच्छा है, यह बुरा है, यह सब भ्रान्ति मात्र ही है" ॥ १७० ॥ जैसा कि श्रीगीताजी में भी कहा गया है:—

तथाहि श्री भगवद्गीतायाम् (५-१८)

विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥७॥

विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता एवं श्वपाक (चाण्डाल) इन सब में ही (परम कारण रूप से परमात्मा समान-भाव से विद्यमान है—यह अनुभव करके, इन समस्त वैषम्यमय वस्तुओं में ही) जो समदर्शी हैं, वही पण्डित हैं ॥७॥

चै० च० चु० *टीका*:—इस श्लोक में प्रकृत पण्डित या ज्ञानी के लक्षण कहे गये हैं । जो सर्वत्र समदर्शी हैं, वही प्रकृत ज्ञानी हैं । वस्तुओं का वैषम्य भी दो प्रकार का है । **जातिगत-वैषम्य** तथा **गुण कर्मगत-वैषम्य** । मनुष्य, गौ, हाथी, कुत्ते आदि में जाति-गत वैषम्य है, कारण कि इन सब की जाति एक नहीं है, मनुष्य एक जातीय जीव है । पशु-गौ-हाथी-कुत्ता आदि अन्य जातीय-जीव हैं । अतः इन में जातिगत-वैषम्य है । इन विभिन्न जातियों में पार्थक्य होते हुए भी जो वास्तविक ज्ञानी हैं, ब्रह्म दृष्टि होने से वे इन में समान दृष्टि रखते हैं । और एक ही मनुष्य जाति में ब्राह्मण, कुत्ते का मांस भोजन करने वाला—श्वपाक या चाण्डाल--इन में गुण-कर्मगत-वैषम्य है—इनके गुण-कर्मों में पार्थक्य है, किन्तु जो ब्रह्मज्ञानी हैं—वे इनमें भी समान दृष्टि रखते हैं ।

यहाँ यह बात स्मरण रहे कि वास्तविक पण्डित या ज्ञानी के लिये इस श्लोक में सब के प्रति समदर्शी अर्थात् समान दृष्टि रखने वाला कहा गया है, समवर्त्ती नहीं कहा गया है । सब के साथ एक बर्ताव करने वाला या एक आचरण करने वाला नहीं कहा गया है । उस का बर्ताव या आचरण सब के प्रति एक सा नहीं होता, न हो सकता है । ज्ञानी या पण्डित दूध गौ का पीता है, कुतिया का नहीं । हाथी पर सवारी करता है, मनुष्य पर नहीं । भोजन ब्राह्मण के हाथ का करता है, चाण्डाल का नहीं । इसलिये सब के साथ एक आचरण, सब के साथ खा लेना, सब के साथ मेल करना—आचरण की दृष्टि से, यह

पण्डित या ज्ञानी पुरुषों का अथवा श्रीमद्भगवद्गीता का सिद्धान्त नहीं है। श्रीमहाप्रभु जी ने और एक श्लोक कहा, जो निम्नलिखित है—

तथाहि तत्रैव (६-८)

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ट्राश्मकाञ्चनः ॥८॥

जिनका चित्त ज्ञान एवं विज्ञान से तृप्त हो चुका है अर्थात् जिनका चित्त शास्त्र के उपदेशादि से लब्ध ज्ञान द्वारा एवं अपरोक्ष-अनुभूति, ब्रह्मानुभूति या भगवदनुभूति द्वारा निराकाङ्क्ष हो चुका है, जो विकारशून्य हैं, जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुके हैं, जिन की मृत्तिका में, पत्थर में एवं सोने में समान दृष्टि है, वही योगारूढ़ (युक्त) योगी हैं ॥८॥

इन सब प्रमाणों से श्रीमहाप्रभु जी का एक मात्र उद्देश्य यही था कि श्रीसनातन का शरीर मेरे लिये उपेक्षणीय नहीं है। अगले पयारों में प्रभु अपनी दीनता का कुछ प्रकाश करते हैं—

आमि त संन्यासी——आमार समदृष्टि धर्म। चन्दने पङ्के आमार ज्ञान हय सम ॥१७१॥
एइ लागि तोमा त्याग करिते ना जुयाय। घृणाबुद्धि करि यदि, निजधर्म याय ॥१७२॥
हरिदास कहे——प्रभु ! ये कहिले तुमि। एइ बाह्य-प्रतारणा नाहि मानि आमि ॥१७३॥
आमासभा अधमे ये करियाछ अङ्गीकार। दीनदयालु-गुण करिते प्रचार ॥१७४॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"सनातन ! मैं तो संन्यासी हूँ न, सम-दृष्टि रखना मेरा धर्म है। मेरे लिये चन्दन एवं कीच समान ही हैं। इसलिये मैं तुम्हारा त्याग नहीं कर सकता हूँ। यदि मैं भी घृणा बुद्धि करूं, तो मेरा संन्यासोचित धर्म नष्ट हो जाएगा।" श्रीमहाप्रभु जी के वचन सुन कर श्रीहरिदास जी बोले—"प्रभु ! यह जो सब कुछ आपने कहा है, यह सब आप की बनावटी बातें हैं जिस से आप हमें छलना चाहते हैं, मैं यह सब कुछ नहीं मानता हूँ। हम पतित-अधमों को जो आपने अङ्गीकार किया है— इस में आपने अपने दीनदयालु गुण को प्रकाशित किया है। संन्यासोचित धर्म जो समान दृष्टि है, उसके वशीभूत होकर आपने हम अधम-पतित जनों को अङ्गीकार नहीं किया है, दीनों पर दया रना, अधम-पतित जनों को अपनाना—यह आपका स्वरूपगत धर्म है, उसी गुण के वशीभूत होकर ही आपने हमें अङ्गीकार किया है।) ॥१७१-१७४॥

प्रभु हासि कहे——शुन हरिदास सनातन। तत्त्व कहि—तोमाविषये यैछे मोर मन ॥१७५॥
तोमाके 'लाल्य' मानि, आपनाके 'लालक' अभिमान। लालकेर लाल्ये नहे दोष-परिज्ञान ॥१७६॥
आपनाके हय मोर अमान्य-समान। तोमा-सभाके करों मुञि बालक-अभिमान ॥१७७॥
मातार यैछे बालकेर अमेध्य लागे गाय। घृणा नाहि उपजय, आरो सुख पाय ॥१७८॥
लाल्यामेध्य लालके चन्दन सम भाय। सनातनेर क्लेद आमार घृणा न जन्माय ॥१७९॥

"श्रीहरिदास मेरे हृदय की बात को जान गये हैं" —यह जान कर श्रीमहाप्रभु जी हँस पड़े और कहने लगे—"हरिदास ! सनातन ! तुम दोनों सुनो, तुम दोनों के प्रति जो भाव मेरे मन में है, उसे अब मैं कहता हूं—तुम्हें मैं लालन-योग्य मानता हूँ और अपने को तुम्हारा लालन-कर्त्ता जानता हूँ, लालन-

कर्त्ता को अपने लाल्य के दोषों की अनुभूति नहीं हुआ करती है। मैं अपने को तुम्हारा माननीय नहीं मानता हूँ, अमान्य मानता हूं और तुम सब को अपना बालक मानता हूं। बालक का मल-मूत्र जैसे कभी माता को लग जाता है, उसको उस से घृणा नहीं लगती है, वरं उसे धोय-धा कर बालक को शुद्ध करने में आनन्द का अनुभव करती है। अपने लाल्य का मल-मूत्र भी लालक को चन्दन के समान लगता है। उसी प्रकार सनातन ! तुम्हारे खाज के रसा लगने में मुझे घृणा नहीं होती है ॥१७५-१७६॥

चै० च० चु० टीका—श्रीमहाप्रभुजी ने कहा है—"हरिदास ! सनातन ! मैं तुम्हें अपना लाल्य समझता हूँ जैसे एक माता अपनी सन्तान को लाल्य मानती है। बालक या सन्तान में कुछ दोष ही क्यों न हों, किन्तु माता को उन दोषों की अनुभूति नहीं हुआ करती। इसलिये हो सकता है, सनातन ! तुम्हारे शरीर में कोई अन्य लोग दोष देखते हों, किन्तु मुझे उसकी अनुभूति नहीं होती। और फिर जैसे माता अपने बालक से यह नहीं चाहती कि बालक उसका सम्मान करे या वह उसकी माननीय है, उसी प्रकार मैं भी आपके आगे अपने को माननीय या पूज्यनीय नहीं मानता हूं। माता को जैसे अपनी सन्तान के मल-मूत्रादि से घृणा नहीं होती, उस प्रकार मुझे भी, सनातन ! तुम्हारी खाज के पीव रक्तादि से कुछ भी घृणा नहीं होती, क्योंकि मैं तुम्हें अपना बालक या लाल्य ही समझता हूँ।"

हरिदास कहे—तुमि ईश्वर दयामय। तोमार गम्भीर हृदय बुझन ना याय ॥१८०॥
वासुदेव गलित्कुष्ठ अङ्गे कीड़ामय। तारे आलिङ्गन कैले हइया सदय ॥१८१॥
आलिङ्गिया कैले तारे कन्दर्पसम-अङ्ग। के बुझिते पारे तोमार कृपार तरङ्ग ॥१८२॥
प्रभु कहे—वैष्णवेर देह 'प्राकृत' कभु नय। 'अप्राकृत' देह भक्तेर चिदानन्दमय ॥१८३॥
दीक्षा काले भक्त करे आत्मसमर्पण। सेइकाले कृष्ण तांरे करे आत्म सम ॥१८४॥
सेइ देह तांर करे चिदानन्द मय। अप्राकृत देहे तांर चरण भजय ॥१८५॥

श्रीमहाप्रभु जी के वचन सुन कर श्रीहरिदास जी ने कहा—"प्रभू ! आप ईश्वर हो, आप दयामय हो, आपके हृदय की गम्भीरता को कोई भी नहीं जान सकता। वासुदेव के अङ्गों में गलित्कुष्ठ था एवं उस के शरीर में कीड़े पड़ चुके थे, आपने उसे कृपा पूर्वक एक बार आलिङ्गन किया था। आलिङ्गन करते ही उसका शरीर कामदेव के समान कान्तिमथ-निरोग हो गया था, (अब श्रीसनातन को आप रोज आलिङ्गन करते हो, किन्तु उसका खाज रोग भी दूर नहीं हो रहा है। इसलिये प्रभु ! आपके हृदय की गम्भीरता को कोई नहीं जान सकता है) आप की कृपा-तरङ्ग को भला कौन समझ सकता है ?" श्रीमहाप्रभु जी बोले—"हरिदास ! वैष्णव का देह प्राकृत कभी नहीं होता है। भक्तों का देह सदा चिदानन्दमय अप्राकृत हुआ करता है। जब दीक्षा ली जाती है, तब भक्त श्रीभगवान् के लिये आत्मसमर्पण किया करता है, उसी समय से ही श्रीकृष्ण उसे अपने समान चिदानन्दमय—गुणातीत कर देते हैं। (भक्त को भगवान् कोई दूसरा चिन्मय देह नहीं प्रदान करते) उसके उसी देह को ही चिदानन्दमय कर देते हैं। उस अप्राकृत देह से ही भक्त श्रीभगवान् के चरणों का सेवन किया करता है ॥१८०-१८५॥

चै० च० चु० टीका:—श्रीहरिदास जी ने कहा—"प्रभु ! आपने हम जैसे अधम-पतित जनों को भी अङ्गीकार कर लिया है, यह केवल इसलिये है कि आप ईश्वर हो। वैसे तो आप सब जगत् के पालक या लालक हो, किन्तु हमें लाल्य जान कर हमारे दोषों से भी आपको घृणा नहीं है, यह आपकी विशेष करुणा है, अतः आप दयालु हो। ऐसा हम जानते हैं किन्तु इतना जानना भी पर्याप्त नहीं है। आपके हृदय

की गूढ़ लीला को फिर भी हम नहीं जान पाए हैं। कारण कि श्रीवासुदेव के कीड़ामय गलितकुष्ठ को दक्षिण-यात्रा के समय आपने एक वार आलिङ्गन कर नष्ट कर दिया था और उसके शरीर को कामदेव की भान्ति सुन्दर एवं निरोग वना दिया था (मध्य-लीला सप्तम् परिच्छेद पृष्ठ १५९ द्रष्टव्य) हम देखते हैं आप प्रति-दिन इस सनातन को जिसे आप अपना अत्यन्त प्रिय लाल्य वता रहे हैं, आलिङ्गन करते हैं, किन्तु इसका साधारण खाज रोग भी निवृत्त नहीं हो रहा है। अतः हम कैसे यह कहें कि आपके स्वरूप को—आपके हृदय के गूढ़ रहस्य को हमने जान लिया है ?

श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा है—जो श्रीगुरुदेव द्वारा मन्त्र-दीक्षा उपदेश ग्रहण करता है, वही भक्त है एवं उसी का देह चिन्मयत्व को प्राप्त करता है अर्थात् वह माया गुणातीत हो जाता है। यहाँ तक कि जब वह दीक्षा के समय श्रीकृष्ण को आत्मसमर्पण करता है अर्थात् अहंतास्पद व ममतास्पद जो कुछ भी हो सकता है, श्रीकृष्ण चरणों में निवेदित कर देता है, तव श्रीभगवान् उसे आत्मसम—अपने समान कर लेते हैं। आत्मसम का तात्पर्य केवल गुणातीतत्व व अप्राकृतत्व से है। श्रीभगवान् अपने भक्त को चिन्मयत्व प्रदान कर देते हैं। चिन्मयत्वांश में ही वह भक्त श्रीकृष्ण की समता लाभ करता है, समस्त विषयों में भगवान् की समता लाभ नहीं करता न ही और कोई कर सकता है, कारण कि श्रीभगवान् तो अद्वैय ज्ञान तत्व हैं, उनकी समता कैसी ?

यहाँ यह भी जानना चाहिये कि दीक्षा ग्रहण करते ही भक्त सम्पूर्ण चिन्मयत्व प्राप्त नहीं कर लेता। उसी समय से चिन्मयत्व प्राप्ति का आरम्भ मात्र हो जाता है। फिर भक्ति अङ्गों का साधन-अनुष्ठान करते-करते जब निष्ठा-रुचि इत्यादि क्रम से भक्त रति को प्राप्त करता है, तभी उसे सम्पूर्ण चिन्मयत्व लाभ होता है। परवर्ती श्लोक की टीका करते हुए श्रीचक्रवर्त्तीपाद ने इसी बात का उल्लेख किया है—"**विचिकीर्षितः इति सन्-प्रत्यय-योगात् निर्गुणः कर्त्तुमारभ्यमाण एव स शनैः शनैर्भक्त्या-भ्यासवान् निष्ठारुच्यासक्तिरिति भूमिकारूढ़ एव सम्यक् निर्गुणः स्यात्।**"

इस बात का एक रहस्य यह भी है कि विना श्रीगुरुद्वारा दीक्षा-उपदेश ग्रहण किये कोई भी मनोनीत भजनकारी उस चिन्मयत्व को प्राप्त नहीं कर सकता। जब तक भजनकारी चिन्मयत्व या गुणातीतत्व को प्राप्त नहीं करता, तब तक उसके भजन-साधन की सार्थकता भी कुछ नहीं है। हां, यह बात अवश्य है कि भक्ति-अङ्गों के अनुष्ठान के प्रभाव से वैसे साधकों की जब अनर्थ निवृत्ति होजाएगी, उनमें फिर आत्मसमर्पण की योग्यता आएगी, तब श्रीकृष्ण कृपा से—उनका साधन परिपक होने पर उनका प्राकृतत्व नष्ट हो जाएगा एवं वे भी अप्राकृतत्व को प्राप्त कर लेंगे तव से उनका वास्तविक भजन आरम्भ होगा।

श्रीगुरुद्वारा दीक्षा-उपदेश ग्रहण करने से एवं श्रीकृष्ण चरण में आत्मनिवेदन करने से भक्त का देह चिन्मयत्व प्राप्त करता है—इसके प्रमाण में श्रीभागवत जी का एक श्लोक नीचे उद्धृत करते हैं—

तथाहि (भा: ११-२९-३४)—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्त कर्मा—निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै ॥९॥

श्रीउद्धव जी के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—"मनुष्य जब अन्यान्य समस्त कर्मों का त्याग करके मुझे आत्म समर्पण करता है, तव उसके लिये भी कुछ विशेष करने की मेरी इच्छा होती है,

उसी कारण वह मेरे सेवा योग्यत्व को एवं अमृत्व अर्थात् मरण धर्म शून्यता—अप्राकृतत्व या चिन्मयत्व को प्राप्त करता है ॥६॥

सनातनेर देहे कृष्ण कण्डु उपजाञा । आमा परीक्षते इहां दिल पाठाइया ॥१८६॥
घृणा करि आलिङ्गन ना करिताङ यवे । कृष्ण ठाञि अपराध-दण्ड पाइताङ तवे॥१८७॥
पारिषद्-देह एइ ना हय दुर्गन्ध । प्रथम दिन पाइल अङ्गे चतुःसमेर गन्ध ॥१८८॥
वस्तुतः प्रभु यवे कैल आलिङ्गन । तांर स्पर्शे गन्ध हइल चन्दनेर सम ॥१८९॥
प्रभु कहे—सनातन ! ना मानिह दुख । तोमा आलिङ्गने आमि पाइ बड़ सुख ॥१९०॥
ए वत्सर तुमि इहां रह आमा सने । वत्सर बहि तोमा पाठाइव वृन्दावने ॥१९१॥
एत बलि पुन तांरे कैल आलिङ्गन । कण्डु गेल, अङ्ग हैल सुवर्णेर सम ॥१९२॥

श्रीमहाप्रभु जी फिर कुछ अपना दैन्य प्रकाश करते हुए कहने लगे—"हरिदास ! श्रीकृष्ण ने सनातन के शरीर में खाज उत्पन्न कर मेरी परीक्षा के लिये इसे मेरे पास भेज दिया है। यदि मैं घृणा कर इसे आलिङ्गन न करता, तो मैं श्रीकृष्ण द्वारा इस अपराध के दण्ड को भोगता।" (वैष्णव जन किसी के अपराध को अपने मन में धारण नहीं करते और न ही श्रीकृष्ण से उस अपराध का दण्ड अपराधी व्यक्ति को देने के लिये प्रार्थना ही करते हैं, किन्तु भक्तवत्सल भगवान् अपने जनों के प्रति किसी का अपराध सहन नहीं करते, अतः उसे श्रीकृष्ण ही शासित करते हैं—अपना अपराधी जान कर। इसलिये श्रीमहाप्रभु जी ने कहा है कि यदि मैं श्रीसनातन से घृणा करता तो मैं श्रीकृष्ण का अपराधी होता—और वही मुझे इस अपराध का दण्ड देते। वस्तुतः श्रीमहाप्रभु की यह दैन्योक्ति ही है।) फिर प्रभु ने कहा—"सनातन श्री भगवान् का पाषद है, इसके देह में दुर्गन्ध कहां ? मैंने तो पहले दिन इसे आलिङ्गन करते ही चतुःसम की सुगन्धि का अनुभव किया था।" (चन्दन, कस्तूरी, केसर एवं अगर—इनको चतुःसम कहते हैं। भगवान् एवं उनके परिकर गण इन का अनुलेप अङ्गों पर धारण करते हैं।) श्रीकविराज कहते हैं—वास्तव में पहले दिन जब श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीसनातन गोस्वामी जी को आलिङ्गन किया था, उसी दिन से श्रीसनातन जी के कण्डु-रस में चन्दन की सुगन्धि आने लगी थी। श्रीमहाप्रभुजी ने आगे कहा—"सनातन ! तुम दुख नहीं मानो, तुम्हें आलिङ्गन करते हुए मुझे वहुत सुख होता है। इसलिये इस वर्ष तो तुम मेरे पास रहे आओ, वर्ष वीतने पर फिर तुम्हें श्रीवृन्दावन भेज दूंगा।" इतना कह कर श्रीमहाप्रभु जा ने श्रीसनातन जी को पुनः आलिङ्गन किया, आलिङ्गन करते ही श्रीसनातन जी का कण्डु रोग नष्ट हो गया और उनका शरीर सुवर्ण की भान्ति उज्ज्वल हो उठा ॥१८६-१९२॥

देखि हरिदासेर मने हैल चमत्कार । प्रभु के कहेन, एइ भङ्गी ये तोमार ॥१९३॥
सेइ झारिखण्डेर पानी तुमि खाओयाइला । सेइ पानी लक्ष्ये इहार कण्डु उपजाइला ॥१९४॥
कण्डु करि परीक्षा करिले सनातने । एइ लीला-भङ्गी तोमार केहो नाहि जाने ॥१९५॥
दोंहा आलिङ्गिया प्रभु गेला निजालय । प्रभुर गुण कहे दोंहे हञा प्रेममय ॥१९६॥

श्रीमहाप्रभु जी की यह लीला देख कर श्रीहरिदास जी चमत्कृत हो उठे और प्रभु से कहने लगे—"प्रभु ! ये सब आप की ही लीला है कि श्रीसनातन को आप ने झारिखण्ड के मार्ग से यहाँ बुलाया है और उस झारिखण्ड का गन्दा पानी आपने ही इन्हें पिलवाया है। उसके द्वारा इन के शरीर में

खाज भी आपने पैदा की है—इस प्रकार आप ने श्रीसनातन की परीक्षा ली है। आप की लोलाओं को भला कौन जान सकता है? तदनन्तर श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीहरिदास एवं श्रीसनातन—इन दोनों को आलिङ्गन किया एवं अपने निवास-स्थान पर चले गये। श्रीहरिदास जी तथा श्रीसनातन गोस्वामी जी श्रीमहाप्रभु जी के गुण गान करते हुए प्रेम विह्वल हो उठे ॥१९३-१९६॥

एइमते सनातन रहे प्रभु-स्थाने। कृष्ण-चैतन्य गुण कथा हरिदास सने ॥१९७॥
दोलयात्रा देखि प्रभु तारे विदाय दिला। वृन्दावने ये करिबेन, सब शिखाइला ॥१९८॥
ये काले विदाय हैला प्रभुर चरणे। दुइ जनार विच्छेद-दशा ना याय वर्णने ॥१९९॥
येइ बनपथे प्रभु गेला वृन्दावन। सेइ पथे याइते मन कैल सनातन ॥२००॥
ये पथे ये ग्राम नदी शैल,याहां येइ लीला। बलभद्र-भट्टाचार्य्य-स्थाने सब लिखि निला॥२०१॥
महाप्रभुर भक्तगण सभारे मिलिया। सेइ पथे सनातन चले से स्थान देखिया ॥२०२॥

इस प्रकार श्रीसनातन गोस्वामी एक वर्ष पर्यन्त श्रीमहाप्रभु जी के पास नीलाचल रहे और श्रीहरिदास जी के साथ श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्ण चैतन्य की गुण-कथाओं का रसास्वादन करते रहे। डोल-यात्रा दर्शन करने के पश्चात् श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीसनातन को विदा किया और श्रीवृन्दावन जाकर उन्होंने जो कुछ करना था उस समस्त की शिक्षा उन्हें दी। जब वे श्रीमहाप्रभु जी से बिछुड़े हैं, उस समय की जो (श्रीमहाप्रभु एवं श्रीसनातन जी) दोनों की विच्छेद-कथा है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। जिस मार्ग से श्रीमहाप्रभु जी श्रीवृन्दावन गये थे उसी मार्ग से ही जाने का विचार गोस्वामी पाद ने किया। जिस मार्ग से, जिस ग्राम से होकर, जिस नदी एवं जिस पर्वत पर से उतर कर, जहाँ-जहाँ जो-जो लीला श्रीमहाप्रभु जी ने की थी, वह समस्त श्रीसनातन पाद ने श्रीबलभद्र भट्टाचार्य जी से लिख ली। श्रीमहाप्रभु जी के सब भक्तों से यथायोग्य मिल कर श्रीसनातन गोस्वामी उसी मार्ग से उन-उन स्थानों को देखते हुए चल दिये ॥१९७-२०२॥

ये ये लीला प्रभु पथे कैल ये ये स्थाने। ताहा देखि प्रेमावेश हय सनातने ॥२०३॥
एइ मते सनातन वृन्दावने आइला। पाछे रूपगोसाञि आसि तांहारे मिलिला ॥२०४॥
एकवत्सर रूपगोसाञिर गौड़े विलम्ब हैल। कुटुम्बेर स्थिति अर्थ विभाग करि दिल॥२०५॥
गौड़े ये अर्थ छिल, ताहा आनाइल। कुटुम्ब-ब्राह्मण-देवालये बांटि दिल ॥२०६॥
सब मनः कथा गोसाञि करि निवेदन। निश्चिन्त हइया शीघ्र आइला वृन्दावन ॥२०७॥
दुइ भाइ मिलि वृन्दावने वास कैल। प्रभुर ये आज्ञा दोंहे सब निर्वाहिल ॥२०८॥

श्रीमहाप्रभु जी ने रास्ते में जिस-जिस स्थान पर जो-जो लीलाएँ की थीं, उन स्थानों के दर्शन कर श्रीसनातन पाद को प्रेमावेश होजाता। इस प्रकार वे श्रीवृन्दावन में आ पहुँचे। इनके श्रीवृन्दावन पहुँचने के पश्चात् श्रीरूप गोस्वामी जी भी श्रीवृन्दावन आ पहुँचे। श्रीरूप गोस्वामी जी नीलाचल से विदा होकर एक वत्सर गौड़देश में रहे। वहां गौड़देश में अपने कुटुम्ब की सम्पत्ति व धनादि को उन्होंने अपने कुटुम्बियों में बांट दिया और वङ्गाल देश में जो उनका धन-पैसा था उसे एकत्रित कर उसे कुछ अपने कुटुम्बियों में, कुछ ब्राह्मणों में एवं कुछ देवालयों में बांट दिया। वहाँ अपने मन की समस्त कथा भी जो जिसे कहने योग्य थी कहदी—इस प्रकार निश्चिन्त होकर श्रीरूप गोस्वामी शीघ्र श्रीवृन्दावन में

चले आए। (केवल विषय-सम्पत्ति की चिन्ता ही साधक के भजन में विघ्नों का कारण नहीं होती, साधक के मन में यदि कोई गोपनीय बात भी रहती है, वह भी कभी-कभी स्मरण होकर भजन में विघ्न डालती है। इसलिये साधक को वह कथा भी प्रगट कर मन को सर्वथा परिष्कार कर देना ही विधेय है—श्रीरूप गोस्वामी जी ने यही आचरण कर साधकों को शिक्षा दी है।) दोनों भाईयों ने मिलकर श्रीवृन्दावन वास किया और श्रीमहाप्रभु जी की जो आज्ञा थी, दोनों ने उसे पूरा-पूरा निभाया ॥२०३–२०८॥

नाना शास्त्र आनि लुप्त तीर्थ उद्धारिला। वृन्दावने कृष्णसेवा प्रचार करिला ॥२०९॥
सनातन कैल ग्रन्थ भागवतामृते। भक्ति-भक्त–कृष्णतत्व जानि याहा हैते ॥२१०॥
सिद्धान्तसार ग्रन्थ कैल दशमटिप्पनी। कृष्णलीलारस प्रेम याहा हैते जानि ॥२११॥
हरिभक्ति विलास ग्रन्थ कैल वैष्णव-आचार। वैष्णवेर कर्त्तव्य याहां पाइये पार ॥२१२॥
आर यत ग्रन्थ कैल, के करे गणन ?। मदनगोपाल-गोविन्देर कैल सेवा-स्थापन ॥२१३॥

इन दोनों भाईयों ने नाना विधि शास्त्रों का संग्रह एवं अध्ययन कर ब्रजमण्डल से समस्त लुप्त तीर्थों का उद्धार किया एवं श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्णसेवा का प्रचार इन्हों ने किया। श्रीसनातन गोस्वामी जी ने श्रीवृहद् भागवतामृतग्रन्थ की रचना की, जिसके अध्ययन करने से भक्ततत्व,-भक्तितत्त्व, एवं श्रीकृष्णतत्त्व का सम्यक् ज्ञान लाभ होता है। उन्हों ने दशम टिप्पणी (श्रीमद्भागवत-दशम स्कन्ध की टीका) ग्रन्थ की रचना की जिसमें सर्व सिद्धान्तों के सार का मर्म वर्णित है। उस से श्रीकृष्णलीला रस एवं श्रीकृष्णप्रेम तत्त्व का ज्ञान होता है। वैष्णव आचरण की शिक्षा के लिये उन्हों ने श्रीहरिभक्ति विलास नामक ग्रन्थ की रचना की, जिस के अध्ययन से वैष्णवों को अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होता है। और भी अनेक ग्रन्थ उन्हों ने प्रणयन किये, जिन की गिनती नहीं की जासकती। श्रीसनातन गोस्वामी जी ने श्रीश्रीराधामदन मोहन जी के श्रीविग्रह की भी स्थापना एवं सेवा का प्रचार किया ॥२०९–२१३॥

च० च० चु० *टीका*—श्रीश्रीहरिभक्ति विलास के मङ्गलाचरण श्लोक से यह ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ की रचना श्रीपाद—श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी जी ने की थी। श्रीसनातन गोस्वामी पाद ने जब इस ग्रन्थ को देखा तो उन्हों ने अनुभव किया कि श्रीमहाप्रभु जी ने जिन-जिन विषयों पर या वैष्णव आचरणों पर प्रकाश डालने का मुझे आदेश दिया था, वे समस्त विषय इस ग्रन्थ में श्रीपादगोपालभट्ट जीं ने यथेष्ठ रूप में वर्णन कर दिये हैं एवं उन्हे नाना शास्त्र-पुराणों के प्रमाणों से सम्पन्न किया है, तब उन्हों ने इसी ग्रन्थ की टीका, जो दिग्दर्शिनी नाम से विख्यात् है: लिखी। श्रीमहाप्रभु जी के उद्देश्य की पूर्ति देखकर श्रीसनातन गोस्वामी पाद ने पृथक् रूप में सङ्कलन नहीं किया। इस ग्रन्थ की टीका लिख कर उन्हों ने श्रीमहाप्रभु जी के आदेश का भी पालन कर दिया।

रूप गोसाञि कैल रसामृत ग्रन्थसार। कृष्णभक्ति-रसेर याहां पाइये विस्तार ॥२१४॥
उज्ज्वल नीलमणि-नाम ग्रन्थ कैल आर। राधाकृष्ण-लीला-रसेर याहां पाइये पार॥२१५॥
विदग्ध ललित माधव–नाटक युगल। कृष्ण लीलारस ताहां पाइये सकल ॥२१६॥
दानकेलि कौमुदी-आदि लक्ष ग्रन्थ कैल। येइ सब ग्रन्थे ब्रजेर रस प्रचारिल ॥२१७॥
तारं लघु भ्राता–श्रीवल्लभ अनुपम। तारं पुत्र महापण्डित–जीवगोसाञि नाम ॥२१८॥

श्रीरूप गोस्वामी जी ने भक्ति ग्रन्थों के सार रूप श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ की रचना की जिसमें श्रीकृष्ण-भक्तिरस का विस्तारपूर्वक वर्णन किया। दूसरा ग्रन्थ उन्होंने श्रीउज्ज्वल-नीलमणि नामक रचा जिसमें श्रीराधाकृष्ण-लीला रस का एवं सखा-सखी-प्रेम तत्त्व का विस्तृत वर्णन है। श्रीविदग्ध-माधव तथा श्रीललित माधव नाटक—इन दोनों की रचना की जिनमें श्रीकृष्ण की ब्रजलीला का एवं द्वारकालीला का सविस्तार वर्णन है। श्रीदान-केलि-कौमदी ग्रन्थ की उन्होंने रचना की। इस प्रकार श्रीरूप गोस्वामी पाद ने असंख्य ग्रन्थों की रचना की। (जिनके श्लोकों की संख्या एक लाख है।) इन समस्त ग्रन्थों में ब्रजरस का ही प्रचार किया गया है। श्रीरूप गोस्वामी जी के छोटे भाई जो श्रीवल्लभ अनुपम थे, उन के पुत्र महा विद्वान हुए जिनका नाम था—श्रीजीव गोस्वामी। ॥२१४-२१८)॥

सर्व त्यागी तेंहो पाछे आइला वृन्दावन। तेंहो भक्तिशास्त्र बहु कैल प्रचारण ॥२१९॥
भागवतसन्दर्भ-नाम कैल ग्रन्थसार। भागवत सिद्धान्तेर ताहां पाइये पार ॥२२०॥
गोपालचम्पू-नाम ग्रन्थसार कैल। ब्रजेर प्रेम-रस-लीला-सार देखाइल ॥२२१॥
षट्सन्दर्भ कृष्ण-प्रेम-तत्त्व प्रकाशिल। चारिलक्ष ग्रन्थ दोंहे विस्तार करिल ॥२२२॥

श्रीजीव गोस्वामी जी भी सब कुछ त्याग कर श्रीवृन्दावन चले आए और उन्हों ने भी अनेक भक्ति शास्त्रों की रचना की उन्हों ने श्रीभागवत-सन्दर्भ ग्रन्थ की रचना की जो एक अद्वितीय ग्रन्थ है। उससे श्रीमद्भागवत जी के समस्त सिद्धान्तों का ज्ञान होता है। (उसके विना श्रीमद्भागवत जी के सिद्धान्तों का समझना असम्भव है।) उन्हों ने श्रीगोपालचम्पू नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें ब्रजप्रेम, ब्रजरस एवं ब्रजलीलाओं के गूढ़ रहस्यो को प्रकाशित किया है। षट् सन्दर्भों में श्रीकृष्णप्रेम-तत्त्व की परम सीमा वर्णित है। इस प्रकार उन्होंने चार लाख श्लोकों में अनेक ग्रन्थों की रचना की है। (मध्य-लीला पृष्ठ ७, ८ पर गोस्वामी ग्रन्थों की सूची विवरण सहित द्रष्टव्य है) ॥२१९-२२२॥

जीवगोसाञि गौड़ हैते मथुरा चलिला। नित्यानन्द प्रभुस्थाने आज्ञा मागिला ॥२२३॥
प्रभु प्रीते तांर माथे धरिल चरण। रूप-सनातन-सम्बन्धे कैल आलिङ्गन ॥२२४॥
आज्ञा दिला—शीघ्र तुमि याह वृन्दावने। तोमार वंशे प्रभु दियाछेन सेइ स्थाने ॥२२५॥
तांर आज्ञा लञा आइला, आज्ञार फल पाइला। शास्त्र करि बहु काल भक्ति प्रचारिला॥२२६॥
एइ तिन गुरु आर रघुनाथदास। इहां सभार चरण वन्दों यांर मुञि दास ॥२२७॥
एइ त कहिल पुन सनातन सङ्गमे। प्रभुर आशय जानि याहार श्रवणे ॥२२८॥
चैतन्य चरित एइ इक्षुदण्डसम। चर्व्वण करिते हय रस आस्वादन ॥२२९॥
श्रीरूप-रघुनाथ पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥२३०॥

श्रीजीव गोस्वामी जी गौड़ देश से जब मथुरा-श्रीवृन्दावन आए तब उन्होंने श्रीनित्यानन्द प्रभु से आज्ञा माँगी, प्रभु पाद ने उन पर कृपा करते हुए उनके मस्तक पर अपना चरण रखा और श्रीरूप सनातन के सम्बन्ध से उन्हें आलिङ्गन किया। प्रभु पाद ने श्रीजीवगोस्वामी जी को आज्ञा दी कि तुम शीघ्र ही श्रीवृन्दावन चले जाओ। तुम्हारे वंश को प्रभु ने वही स्थान—श्रीवृन्दावन ही दिया है। उनकी आज्ञा को पाकर गोस्वामीपाद श्रीवृन्दावन आए और उसका फल भी उन्होंने प्राप्त किया। अनेक काल

तक वे श्रीवृन्दावन में रहे एवं अनेक शास्त्रों की रचना कर उन्होंने भक्ति का प्रचार किया। श्रीकविराज गोस्वामी कहते हैं—"श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीरूपगोस्वामी एवं श्रीजीवगोस्वामी—ये तीनों गुरुपाद तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामी -इन सब के चरणों में मैं वन्दना करता हूँ, इन सब का मैं दास हूँ। इस प्रकार मैंने श्रीसनातन गोस्वामी जी का श्रीमहाप्रभु जी से तीसरी बार मिलन का प्रसङ्ग कहा है (पहली बार रामकेलि गांव में, दूसरी बार काशी में एवं अब के तीसरी बार नीलाचल में) इस प्रसङ्ग के श्रवण करने से श्रीमन्महाप्रभु के हृदय के आशय का ज्ञान होता है—अर्थात् इस प्रसङ्ग से यह ज्ञान होता है कि श्रीमन्महाप्रभु जी इतने करुणामय हैं कि अपने भक्तों को अपना लाल्य (सन्तान तुल्य) जानते हैं। श्रीचैतन्यदेव की लीलाएँ मानो ईख के समान हैं, इनका चर्वण करने से—बार-बार श्रवण-कथन करने से इनके अति मधुर रस का आस्वादन मिलता है। श्रीरूपगोस्वामी, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी—इन दोनों के चरण कमलों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं।

चै० च० च० *टीका*—भक्ति रत्नाकर ग्रन्थ में श्रीजीव गोस्वामीपाद का विस्तृत चरित्र वर्णित है। उससे पता लगता है कि श्रीमन्महाप्रभु जी जिस समय रामकेलिगांव में पधारे थे, तब श्रीजीवपाद भी अपने पिता श्रीवल्लभ जी के साथ-साथ रामकेलिग्राम में वास करते थे। श्रीवल्लभ जी टाकशाला के अध्यक्ष थे। श्रीमहाप्रभु जी के रामकेलि में दर्शन करने के पश्चात् श्रीरूप-सनातन गोस्वामीपाद ने समस्त विषयों को त्याग करने की चेष्टा की। श्रीरूप पाद तो रामकेलि से माड़ग्राम में चले गये। नीलाचल से श्रीमहाप्रभु जी जब श्रीवृन्दावन की यात्रा में चले तो यह बात सुन कर श्रीरूप एवं श्रीवल्लभ गृह त्याग कर प्रयाग में प्रभु से आकर मिले। ये बाल्यकाल से ही अत्यन्त भक्ति परायण थे। श्रीकृष्ण-बलराम की मूर्त्ति रच कर बालकों के साथ उनकी पूजादि करते थे, पुलकित गात्र से भगवान् को दण्डवत् प्रणाम करते। वहाँ चन्द्रद्वीप में एक दिन रात के समय श्रीकृष्ण-बलराम जी ने श्रीजीव जी को स्वप्न में दर्शन दिया एवं उन दोनों ने फिर श्रीगौर-नित्यानन्दरूप में उन्हें दर्शन दिये। निद्राभङ्ग होने पर श्रीजीव अध्ययन का बहाना कर नवद्वीप चले आए। श्रीवास के आङ्गन में आकर इन्होंने अश्रु पूर्ण नेत्रों से श्रीमन्नित्यानन्द प्रभुजी के चरणों में दण्डवत् प्रणाम की। परम करुणामय प्रभु ने महावात्सल्य में भर कर इनके मस्तक पर अपने युगल चरण धर दिये एवं इनको आलिङ्गन करते हुए इन्हें आज्ञा दी कि "तुम शीघ्र श्रीवृन्दावन चले जाओ। श्रीमहाप्रभु जी ने तुम्हारे वंश के लिये श्रीवृन्दावन प्रदान किया है।" श्रीवासादि भक्तों के चरणों में वन्दना कर श्रीजीव नवद्वीप से काशी चले आए। काशी में कुछ काल तक रह कर उन्होंने सर्वशास्त्र-अध्यापक श्रीपाद श्रीमधुसूदन वाचस्पति से न्याय-वेदान्तादि शास्त्रों का अध्ययन किया। असाधारण पाण्डित्य, भक्ति एवं सौन्दर्य से श्रीजीव सब के श्रद्धा एवं आदर के पात्र बन गये। तदनन्तर वे श्रीवृन्दावन में चले आए। श्रीरूप-सनातन पाद के अन्तर्द्धान होने के बाद श्रीजीवगोस्वामी जी ही श्रीवृन्दावन के समस्त वैष्णववृन्द के शिरोमणि थे।

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां

पुनः सनातनसङ्गमो-नाम

चतुर्थ परिच्छेदः ॥४॥

जयगौरः

अन्त्य-लीला

पञ्चम परिच्छेद

वैगुण्य कीट कलितः पैशुन्यव्रण पीड़ितः।
दैन्यार्णवे निमग्नः श्रीचैतन्यवैद्यमाश्रये ॥१॥

ग्रन्थकार श्रीकविराज गोस्वामी कहते हैं—"मैं (मात्सर्य्यादि) दोष रूप कीट द्वारा व्याप्त हूँ, उस पर भी दुष्टता रूप व्रण से पीड़ित हूँ, इसलिये दीनता के समुद्र में पड़ कर मैं श्रीचैतन्यदेव रूप वैद्य का आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥१॥

चै० च० चु० *टीका*ः—जैसे कोई व्यक्ति कण्डु रोग से पीड़ित हो एवं उसके व्रण-घावों में कीड़े पड़ गये हों, वह एक कुशल वैद्य का—चिकित्सक का आश्रय ग्रहण करता है, कविराज कहते हैं—उसी प्रकार मैं दुष्टता रूप घावों से पीड़ित हूं एवं अनेक दोष जो मुझ में हैं वह मानो मेरे शरीर में कीड़ों के समान दुख दे रहे हैं। मेरे पास कुछ भक्ति साधन रूप धन-सम्पत्ति नहीं है, अतः मैं अति दीन होकर अहैतुक चिकित्सक वैद्य—श्रीचैतन्यदेव की शरण ग्रहण करता हूँ—मैंने सुना है, वे परम दयालु हैं, वही मेरे इस भवरोग को समूल नष्ट करेंगे।

[इस पञ्चम परिच्छेद में श्रीरामानन्द राय से श्रीप्रद्युम्न-मिश्र का कृष्ण-कथा सुनना, श्रीमहाप्रभु जी द्वारा श्रीरामानन्द राय का महिमा वर्णन तथा बङ्गदेशीय कवि का नाटक वर्णन—प्रसङ्ग आदि वर्णन किये गये हैं]

जय जय शचीसुत श्रीकृष्णचैतन्य। जय जय कृपामय नित्यानन्द धन्य ॥१॥
जयाद्वैत कृपासिन्धु जय भक्तगण। जय स्वरूप गदाधर रूप-सनातन ॥२॥
एक दिन प्रद्युम्न मिश्र प्रभुर चरणे। दण्डवत् करि किछु कैल निवेदने—॥३॥
महाप्रभु ! मुञि दीन गृहस्थ अधम। कोन् भाग्ये पाञाछों तोमार दुर्ल्लभ चरण ॥४॥
कृष्णकथा शुनिवारे मोर इच्छा हय। कृष्णकथा कह मोरे हइया सदय ॥५॥

श्रीशचीनन्दन श्रीकृष्णचैतन्यदेव की जय हो, जय हो। महाभाग्य परमकरुण श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु की जय हो, जय हो। कृपासिन्धु श्रीअद्वैताचार्य प्रभु की जय हो, जय हो। सब भक्त वृन्दों की जय हो। श्रीस्वरूप गोस्वामी, श्रीगदाधर गोस्वामी, श्रीरूप-सनातन गोस्वामी पाद की जय हो, जय हो।

एक दिन श्रीप्रद्युम्न मिश्र ने श्रीमन्महाप्रभु जी के चरणों में दण्डवत् प्रणाम करते हुए कहा—"हे श्रीमन्महाप्रभु ! मैं एक अधम दीन गृहस्थी हूं, किसी भाग्यवश मैंने आपके दुर्लभ चरणों की प्राप्ति की है। मेरे मन में श्रीकृष्ण-कथा सुनने की इच्छा है। अतः आप कृपामय होकर मुझे श्रीकृष्ण-कथा सुनाइये।" ॥५॥

प्रभु कहे—कृष्ण कथा आमि नाहि जानि। सबे रामानन्द जाने, तार मुखे शुनि ॥६॥
भाग्य तोमार, कृष्ण कथा शुनिते हय मन। रामानन्द पाश याइ करह श्रवण ॥७॥
कृष्ण कथा-रुचि, तोमार, बड़ भाग्यवान्। यार कृष्ण कथाय रुचि,से हय भाग्यवान्॥८॥

श्रीमहाप्रभु जी बोले—"मिश्र ! मैं तो श्रीकृष्णकथा नहीं जानता हूं, उसे तो केवल श्रीरामानन्द राय जानते हैं, मैंने भी उन से कृष्णकथा सुनी थी। तुम्हारे मन में श्रीकृष्णकथा सुनने की इच्छा जागी है, तुम्हारे बड़े भाग्य हैं। तुम श्रीरामानन्द राय के पास जाकर उसे श्रवण करो। श्रीकृष्णकथा में तुम्हारी रुचि है, तुम बड़े भाग्यशाली हो, क्योंकि जिसके मन में श्रीकृष्णकथा के सुनने की रुचि होती है, वस्तुतः वही भाग्यवान् है ॥६-८॥

श्रीमहाप्रभु जी श्रीकृष्ण कथा नहीं जानते हों, यह बात नहीं थी, उनके इन वचनों के भी कई उद्देश्य थे—स्वीय दीनता प्रकाश, भक्तों की महिमा प्रकाशित करना, श्रीरामानन्द राय की गुणगरिमा को प्रकाशित करना एवं पाण्डित्याभिमानी तथा कुलीनता के अभिमानी व्यक्तियों का गर्वनाश करना—ये सब बातें क्रमशः इस चरित्र में व्यक्त की जाएँगी। जिसके हृदय में श्रीकृष्णकथा सुनने की रुचि है—वही भाग्यवान् है—इसके सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत जी का एक श्लोक नीचे उद्धृत करते हैं—

तथाहि (भा: १-२-८)

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्कसेनकथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥२॥

श्रीसूतजी ने कहा है—"हे ऋषिगण ! कोई एक धर्म भी, जो सुन्दर रूप से अनुष्ठित किया गया है, यदि वह श्रीहरि कथा में रति या रुचि उत्पादन नहीं करता है, तो वह धर्म केवल परिश्रम मात्र ही है—उसमें जीव की कृतार्थता कुछ भी नहीं है ॥२॥

चै० च० चु० *टीका*—धर्म किसे कहते हैं ? जो जीव को स्वरूप में स्थिर रखता है, अर्थात् स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य में जो जीव को स्थिर रखता है, वही प्रकृत **धर्म** है इस अवस्था को लाभ करने की जो समस्त अनुष्ठान अनुकूलता विधान करते हैं, वे समस्त भी धर्म या **साधन धर्म** हैं। जीव का कर्त्तव्य है कि साधन-धर्मों का अनुष्ठान करके स्वरूपानुबन्धि अवस्था को प्राप्त करने की चेष्टा करना। उस अवस्था के प्राप्त होते ही, यहाँ तक कि उस अवस्था-प्राप्ति की सूचना से भी श्रीभगवान् के प्रति प्राणों में एक उत्कण्ठा जाग उठती है—उनके गुण-कथा सुनने के लिये प्राण छटपटा उठते हैं। किन्तु जिन साधन-धर्मों के अनुष्ठानों में भगवत् कथा सुनने की लालसा नहीं जागती है, उनका अनुष्ठान निरर्थक ही जानना चाहिये वह केवल मात्र परिश्रम ही है। उनके द्वारा अस्थिर स्वर्गादि लोकों के भोगों की प्राप्ति हो सकती है, जो जीव की चरमकाम्य वस्तु—सच्चिदानन्द स्वरूपता, श्रीकृष्ण-चरण-सेवा-सुख को प्रदान नहीं करते हैं; ऐसे निरर्थक धर्मों के अनुष्ठान में जीव के जीवन की कुछ भी सार्थकता नहीं है।

किन्तु जिसके मन में श्रीकृष्ण कथा सुनने की रुचि उत्पन्न होती है, समझना चाहिये कि उसकी विषयासक्ति के अन्तर्हित होने का समय आगया है। उसका मायावन्धन रूप दुर्भाग्य नाश हो चुका है, क्योंकि श्रीकृष्ण-कथा में रुचि होने से ही भजन में प्रवृत्ति होती है, श्रीकृष्ण-कृपा से भजन के प्रभाव से क्रमशः समस्त अनर्थों की निवृत्ति होती है, तव शुद्ध-सत्व के आविर्भाव से चित्त समुज्जवल हो उठता है जिसमें क्रमशः जीव के स्वरूपानुवन्धि कर्त्तव्य श्रीकृष्ण-सेवा की प्राप्ति होती है, यही सबसे बड़ा जीव का सौभाग्य है। अतः श्रीमहाप्रभु जी ने कहा कि "मिश्र ! तुम्हारे मन में श्रीकृष्ण-कथा सुनने की रुचि जाती है, तुम वहुत भाग्यशाली हो।

तबे प्रद्युम्न मिश्र गेला रामानन्द स्थाने। रामानन्द-सेवक तांरे बसाइल आसने ॥६॥
दर्शन ना पाय मिश्र, सेवके पुछिल। रायेर वृत्तान्त सेवक कहिते लागिल– ॥१०॥
दुइ देवकन्या हय परम सुन्दरी। नृत्यगीते निपुण सेइ वयसे किशोरी ॥११॥
ताहां–दोंहा लञा राय निभृत उद्याने। निज नाटकेर गीते शिक्षा-आवर्त्तने ॥१२॥
तुमि इहां वसि रह क्षणेके आसिवेन। तबे येइ आज्ञा देह, सेइ करिवेन ॥१३॥

श्रीमहाप्रभु जी का आदेश पाकर श्रीप्रद्युम्नमिश्र श्रीरामानन्द राय के घर पहुँचे। श्रीराय के सेवक ने उन्हें आसन देकर बैठाया। राय रामानन्द जी उस समय घर पर न थे, मिश्र जी ने सेवक से पूछा कि "राय कहाँ गये हैं" ? तव वह सेवक श्री रामानन्द का वृत्तान्त कहने लगा। उसने कहा—"दो देवकन्यायें जो परम सुन्दरी हैं एवं नृत्य गीत में बड़ी निपुण हैं तथा जिनकी किशोर अवस्था है, उन्हें साथ लेकर राय इस समय एक निर्जन बगीचा में गये हुए हैं, वे वहाँ उनको अपने द्वारा रचित 'श्रीजगन्नाथ-वल्लभ नाटक' की शिक्षा दिया करते हैं। आप थोड़ी देर यहाँ बैठिये, वे अभी आने वाले हैं, फिर जो जो आप आज्ञा करेंगे, वे वही करेंगे"। ॥६–१३॥

चौ० च० चु० *टीका*:—श्रीजगन्नाथ जी के आगे जो अविवाहित कन्याएं नृत्य–गीत किया करती थीं—उन समस्त को देवकन्या या देवदासी कहा जाता था—उन्हीं में से दो कन्याओं को श्रीरामानन्द जी अभिनय की शिक्षा दिया करते थे। इन देव कन्याओं को वे इस प्रकार की शिक्षा क्यों देते थे ? इस का तो ऊपर के पयार में स्पष्ट उल्लेख है कि वे अपने श्रीजगन्नाथ-वल्लभ नाटक का अभिनय उन कन्याओं द्वारा श्रीजगन्नाथ जी के आगे प्रस्तुत करना चाहते थे, किन्तु इस नाटक में तो अनेक पात्र एवं पात्री हैं, केवल दो कन्याओं को ही शिक्षा देने का क्या अभिप्राय था ! बात यह थी कि अनेक पात्र–पात्री रहते हुए भी इस नाटक में नायिका श्रीराधा जी एवं नायक श्रीकृष्ण की ही मुख्य भूमिका है। इनकी भूमिका में ही अति दुर्गम भावों की अभिव्यक्ति है। श्रीरामानन्द राय जैसे रसिक भक्त के विना दूसरे के लिये इन समस्त निगूढ़ भावों का अनुभव एवं अभिनयकी शिक्षा देना असम्भव ही था, इसलिये स्वयं श्रीरामानन्दजी एक देवकन्या को श्रीराधा जी की तथा एक देवकन्या को श्रीकृष्ण की भूमिका की शिक्षा दिया करते थे। श्रीराधा जी एवं श्रीकृष्ण परम सुन्दर तथा किशोर-अवस्था युक्त हैं, अतः उनकी भूमिका के लिये किशोर अवस्थायुक्त एवं परम सुन्दरी देव कन्याओं का ही शिक्षित करना आवश्यक था। इसलिये श्रीरायरामानन्द जी ऐसी देवकन्याओं को शिक्षा दिया करते थे।

तबे प्रद्युम्न मिश्र ताहां रहिला वसिया। रामानन्द निभृते सेइ दुइजन लञा ॥१४॥
स्वहस्ते करान तांर अभ्यङ्ग मर्द्दन। स्वहस्ते करान स्नान गात्र-सम्मार्ज्जन ॥१५॥

स्वहस्ते परान वस्त्र सर्वाङ्ग-मण्डन । तभु निर्विकार राय रामानन्देर मन ॥१६॥
काष्ठ-पाषाण-स्पर्शे हय यैछे भाव । तरुणी-स्पर्शे रामरायेर ऐछे स्वभाव ॥१७॥
सेव्यबुद्धि आरोपिया करेन सेवन । स्वाभाविक-दासीभाव करें आरोपण ॥१८॥
महाप्रभुर भक्तगणेर दुर्गम महिमा । ताहे रामानन्देर भाव-भक्तिप्रेम-सीमा ॥१९॥

सेवक के वचन सुन कर श्रीप्रद्युम्न मिश्र वहाँ बैठ कर श्रीराय की प्रतीक्षा करने लगे। श्रीकविराज गोस्वामी कहते हैं कि श्रीरामानन्दराय उन देवकन्याओं को निभृत उद्यान में ले जाकर उन के प्रत्येक अङ्ग पर अपने हाथ से हरिद्रा-तैलादि से मर्द्दन किया करते। अपने हाथों से उन्हें स्नान कराते एवं उनके गात को पोंछा करते। अपने हाथों से उनके शरीर को वस्त्र-भूषणों से सुशोभित करते। तथापि राय रामानन्द जी का मन निर्विकार ही रहता। लकड़ी एवं पत्थर को स्पर्श करने से जैसे मनुष्य निर्विकार रहता है, युवती देवकन्याओं को स्पर्श करते हुए श्रीरामानन्द जी उसी प्रकार निर्विकार रहते थे। उन देवकन्याओं में वे सेव्यबुद्धि आरोप करके उनकी सेवा किया करते थे। उनका जो स्वाभाविक दासी-भाव था—वही भाव वे अपने में आरोप कर ऐसा किया करते थे। श्रीमन्महाप्रभु जी के भक्तों की महिमा अति दुर्गम है। उसमें भी श्रीरामानन्द राय का भाव तो भक्तिप्रेम की सीमा है ॥१४-१९॥

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीरामानन्द राय उन देवकन्याओं का मर्द्दन, स्नान-वेश भूषा इत्यादि अपने हाथों से इसलिये किया करते थे कि श्रीश्रीराधा-कृष्ण की भूमिका या अभिनय करने वाली देव-कन्याओं की सुन्दरता एवं शृंगार को वे गुप्त रखना चाहते थे, ताकि अभिनय के समय उनका रूप-लावण्य दर्शकों के लिये विशेष चमत्कार का कारण हो सके। दूसरे, किसी और व्यक्ति को उन के संश्रव में लाने की उन्हें इच्छा और विश्वास भी न था। श्रीश्रीराधा-कृष्ण किस अङ्ग में किस वर्ण का, कैसा वस्त्र-भूषण धारण करते हैं ब्रज रस-रसिकों के बिना और कौन जान सकता है? श्रीरामानन्द जी ब्रजलीला की श्रीविशाखा सखी हैं। अतः श्रीश्रीराधा-कृष्ण की वेश भूषा में पात्रों को सजाने या शृङ्गारित करने में वे ही परम निपुण थे—इसलिये वे अपने ही हाथों से ये सब काम किया करते थे।

युवती नारी का स्पर्श तो दूर, उसका दर्शन भी बड़े-बड़े साधन-परायण मुनियों के चित्त में विकार उत्पन्न कर देता है। किन्तु श्रीरामानन्द जी का चित्त मर्द्दन स्नानादि-शृङ्गार वेष भूषादि—यह सब कार्य उन युवती देव कन्याओं का करते हुए भी सर्वथा निर्विकार रहता था—उसका विशेष कारण यह था कि वे उन देव-कन्याओं को अपने सेव्य श्रीराधा जी एवं श्रीकृष्ण के रूप में देखते थे। उनमें सेव्य बुद्धि का आरोप कर उनकी समस्त सेवा किया करते थे। आरोप का अभिप्राय यह है कि वस्तुतः वे देव कन्याएं उनकी सेव्य तो थीं नहीं, उनके सेव्य थे श्रीश्रीराधा-कृष्ण। अतः उन में सेव्य बुद्धि का केवल आरोप ही करते थे—कल्पना ही करते थे। और वे अपने को भी रामानन्द (पुरुष) रूप में नहीं देखते थे, बल्कि उस समय अपने को श्रीराधा जी की एक सेविका—दासी ही जान कर उनकी वेष-भूषा किया करते थे। श्रीराधा जी की दासी का अभिमान ही उनका स्वाभाविक-भाव था। इसलिये कहा गया है कि वे स्वाभाविक दासी-भाव का आरोपण करके उनकी सेवा किया करते थे।

श्रीरामानन्द राय ब्रजलीला में श्रीविशाखा थे। श्रीविशाखा जी श्रीराधा जी की सखी हैं। श्रीराधा जी की सखियाँ भी अपने को श्रीराधा जी की दासी ही जानतीं थीं। दासी-अभिमान में ही वे परम आनन्द प्राप्त करतीं थीं—दासी-अभिमान ही उनका स्वभाविक-भाव था। इसलिये यहां श्रीरामानन्द राय के दासी अभिमान को भी स्वाभाविक कहा गया है।

यहां एक और बात भी आलोच्य है—श्रीरामानन्द राय उन देवदासियों में सेव्य-बुद्धि आरोप करके एवं अपने में उनके दासी-भाव का आरोप करते थे। यहाँ 'सेव्य' से क्या अभिप्राय है? राय-रामानन्द जी के सेव्य कौन हैं? वे रागानुगा मार्ग के मधुर भाव के उपासक थे। इसलिये परिकर सहित श्रीश्रीराधाकृष्ण ही उनके मुख्य सेव्य थे। तो क्या वह देवदासियों को श्रीश्रीराधाकृष्ण रूप जानकर सेव्य बुद्धि का आरोप करते थे? या उनको श्रीश्रीराधाकृष्ण का परिकर जानकर सेव्य बुद्धि का आरोप करते थे? उन दोनों में—एक को श्रीकृष्ण एवं दूसरी को श्रीराधा जी जानते थे? या एक को श्रीमदनिका (पौर्णमासी) और दूसरी को श्रीराधा जी जानते थे? इसका समाधान यह है कि श्रीरामानन्द राय उन देवदासियों को न तो श्रीश्रीराधा-कृष्ण रूप जानकर उन में सेव्य बुद्धि करते थे और न ही उन्हें श्रीश्रीराधा-कृष्ण का कोई परिकर ही मानकर उनमें सेव्य बुद्धि का आरोप करते थे। क्यों कि राय रामानन्द जी परम भागवत थे एवं सर्व शास्त्रों में उनका अगाध पाण्डित्य था। जीव में ईश्वर बुद्धि करना तो अपराध जनक है—यह बात वे जानते ही थे। और वे यह भी जानते थे कि भगवत् तत्व में एवं उनकी चिच्छक्ति के विलासरूप भगवत्-परिकर तत्व में कुछ भी विशेष भेद नहीं है। इसलिये किसी जीव को श्रीराधा-ललिता या मदनिकादि भगवत् परिकर समझना भी अपराध जनक है। इसलिये उन देवदासियों को श्रीराधा-कृष्ण या उनका परिकर जान कर सेवन करना श्रीरामानन्द राय जैसे परम पण्डित एवं परम भागवत् के लिये सम्भव नहीं प्रतीत होता।

कोई यह भी प्रश्न कर सकता है कि उन के लिये ऐसा समझना और करना क्यों असम्भव था? जब आज भी श्रीव्रजधाम में व्रजवासी बालक व्रजलीलाओं का या रासलीला का अभिनय करते है, तब उन के पिता-मातादि,अनेक महाभागवत व्यक्ति, गुरुजनादि भी उनकी सेवा-पूजा-दण्डवत् प्रणाम करते हैं। जो बालक श्रीकृष्ण का अभिनय करता है, उस की सब श्रीकृष्ण बुद्धि से पूजा करते हैं और जो बालक श्रीराधा जी का अभिनय करता है, उसकी श्रीराधा बुद्धि से सब सेवा पूजा करते ही हैं।

इस सम्बन्ध में निवेदन यह है कि श्रीव्रजधाम में जो इस प्रकार का आचरण दीखता है, वह दो भावों पर प्रतिष्ठित है। **प्रथमतः** रासलीला दर्शन करने वालों में जिन दर्शकों को यह जान पड़ता है कि श्रीकृष्ण का अभिनय करने वाले बालक में श्रीकृष्ण का आवेश है, वे फिर उस आविष्ट-बालक में श्रीकृष्ण की पूजा करने लगते हैं—जो स्वाभाविक है। बालक ही स्वयं कृष्ण हैं—इस बुद्धि से पूजा नहीं की जाती, बालक में श्रीकृष्ण का आवेश है—इस बुद्धि से पूजादि की जाती है। श्रीराधा जी का अभिनय करने वाले बालक के सम्बन्ध में भी यही बात है। किन्तु जबतक या जिस समय तक वे बालक लीला का अभिनय करते हैं, तब तक ही उनकी सेवा-पूजा की जाती है। यदि कोई अन्य समय में उनकी पूजा सेवा करता है तो उन बालकों को श्रीभगवान् का या उनके परिकर का अत्यन्त कृपा पात्र जान कर, **द्वितीयतः**—उन दर्शकों में जब कोई ऐसा सुरसिक परम भागवत् भी हो, जिसे लीला दर्शन करते हुए बाह्यस्मृति न रहे, लीला में ही जो तन्मव होजाए अथवा उसे अपने सिद्ध देह का आवेश हो उठे और वह ऐसा जानने लगे कि लीला में स्वयं श्रीकृष्ण ही उनके परिकरों के साथ रासविलास कर रहे हैं। अपने इस प्रकार के आवेश की अवस्था में वह भी अभिनय कारी बालकों की सेवा-पूजन करने लगता है। वह भी अस्वाभाविक नहीं है। उसमें भी बालक के प्रति श्रीकृष्ण की बुद्धि नहीं रहती, उसे बालक का ज्ञान नहीं रहता। वह यदि पूजा करता है—साक्षात् श्रीकृष्ण की या उनके परिकर वर्ग की। यहाँ भी जीव में ईश्वर बुद्धि नहीं है। यह आचरण भी केवल लीला के समय ही सम्भव हो सकता है, अन्य समय में नहीं।

श्रीरामानन्द राय तो अभिनय की शिक्षा देने से भी पहले उन देवदासियों की अङ्ग सेवा—अभ्यङ्ग मर्द्दन, स्नान वेश भूषादि रचना किया करते थे। उस समय उन दोनों का अभिनय-उचित शृंगार भी नहीं रहता था। इसलिये उस समय उनके दर्शन कर व्रजलीला की स्फूर्ति का भी कोई अवकाश न होता था और न ही उनमें श्रीराधा-कृष्ण या मदनिका का आवेश ही होता था। और न ही अपने में सिद्ध देह के आवेश का कोई प्रश्न उठता है, क्यों कि उस समय कोई अभिनय नहीं हो रहा होता था। इसलिये अभिनय से पूर्व देवदासियों की अङ्ग सेवा के समय श्रीराधा-कृष्ण बुद्धि से अथवा उनके परिकर की बुद्धि से या उनके आवेश की बुद्धि से राय रामानन्द जी के पक्ष में उनकी सेवा पूजा नहीं मानी जा सकती।

तो यहाँ 'सेव्य-बुद्धि' से क्या तात्पर्य है? मुख्य सेव्य श्रीकृष्ण व उनके परिकर के अतिरिक्त भक्तों के लिये श्रीभगवान् के प्रिय भक्त भी सेव्य हुआ करते हैं। इसलिये जान पड़ता है श्रीरामानन्दराय उन देव कन्याओं को श्रीभगवान् की परमभक्ता जान कर ही उनमें सेव्य बुद्धि का आरोप करते थे। वह देव कन्या साधारण सांसारिक-कार्यरता रमणी न थीं, वे श्रीजगन्नाथ की दासियाँ थी। विशेषतः नृत्य गीतादि के द्वारा श्रीजगन्नाथ जी का चित्त-विनोद करना ही उनकी मुख्य सेवा थी। श्रीकृष्ण की असमोर्ध्व माधुरी-मय व्रजलोला रस का निपुणता पूर्वक परिवेषण करके वे श्रीजगन्नाथ जी की प्रीति सम्पादन करने वाली उनकी महा कृपापात्री थीं। श्रीकृष्ण के कृपा पात्र भक्तों के प्रति भक्तों की जैसे सेव्य-बुद्धि हो जाती है, राय रामानन्द जी भी उन देव कन्याओं में वही सेव्यबुद्धि आरोप कर उनकी सेवा-पूजा करते थे। अपने सम्बन्ध में तो उनका श्रीराधा-दासी भाव स्वाभाविक ही था—उसी स्वाभाविक भाव को लेकर वह (स्त्री रूप से) उन देव कन्याओं की सेवा-पूजा करते थे, जिसमें चित्त विकार या किसी प्रकार के सङ्कोच का अवकाश ही नहीं है।

देव कन्याओं की इस प्रकार सेवा-पूजा राय रामानन्द जी का कोई नित्य-कार्य नहीं था। केवल अभिनय की शिक्षा देने के समय तक उनका यह आनुषङ्गिक सामयिक कार्य-मात्र था और यह भी स्मरण रहे कि यह आचरण उनके भजन का अङ्ग भी न था। उनका भजन था—रागानुगामार्गीय मधुर-भाव का भजन। इस प्रकार की भजन-प्रणाली में स्त्री के साहचर्य में भजन करने का कोई भी अवकाश नहीं है, उल्लेख नहीं है। वरं श्रीमहाप्रभु जी ने स्त्री के सङ्ग के त्याग के लिये ही स्पष्ट रूप से उपदेश एवं शिक्षा दी है। इसलिये इस प्रकार के आचरण को कभी भी भजन के अङ्ग रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। रागानुगामार्ग के भजन में न तो यह वाह्यसाधन है और न ही अन्तर-साधन है। इसलिये यह आचरण राय रामानन्द का विशेष प्रयोजन लेकर एक सामयिक कार्य मात्र ही था—उनके भजन का अङ्ग नहीं था, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

अन्त में कहा गया है श्रीमहाप्रभु जी के भक्तों की महिमा दुर्गम है, उसमें भी रामानन्द जी का भावभक्ति एवं प्रेम की सीमा है। इसका अभिप्राय यही है कि जिन भक्तों ने श्रीमहाप्रभु श्रीचैतन्यदेव के चरणों में आत्मसमर्पण कर दिया है और प्रभु ने भी जिन्हें अपने अभय-चरणों की शरण दे दी है, उन भक्तों की महिमा दुर्गम है—अबोध्य है। भक्त भी दो प्रकार के हैं—साधक एवं सिद्ध। जो जातरति साधक श्रीकृष्ण के साक्षात्कार के उपयुक्त हैं, उन्हें साधक-भक्त कहते हैं और जो पञ्चविध विघ्नों के अनुभव से परे हैं, जो सर्वदा श्रीकृष्ण के आश्रित ज्ञान से कृष्ण सम्बन्धीय ही कार्य करते हैं और कोई काम भी नहीं करते, जो सर्वभाव से प्रेम-सौख्य का आस्वादन करने वाले हैं—वे सिद्ध-भक्त हैं। सिद्ध-भक्तों में कोई साधन-सिद्ध है और कोई कृपा-सिद्ध तथा कोई नित्यसिद्ध है।

जातरति साधक गणों में विघ्नों की सम्भावना रहती है। उनकी श्रीकृष्णरति के भी विलुप्त होने की अथवा उसके रत्याभास में व अहंग्रहोपासना में परिणत होने की सम्भावना होती है। दूसरे अनर्थों की आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाने पर भी जातरति भक्तों की अपराधजात अनर्थों की प्रायिकी-निवृत्ति मात्र ही होती है, आत्यन्तिकी या पूर्ण निवृत्ति नहीं होती है। किसी भी अनर्थ के बीज के रहने पर चित्त के विकारादि की सम्भावना रहती है। इसलिये वैष्णव-अपराध युक्त जातरति भक्तों में चित्त-विकार की सम्भावना देखी जाती है।

जिन में वैष्णव-अपराध नहीं रहता, ऐसे जातरति साधक-भक्तों में अन्यान्य समस्त अनर्थों की ही आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है इसलिये युवती-रमणी के संसर्ग में आने पर भी उनके चित्त में विकार की सम्भावना नहीं रहती। अनर्थों के फल से ही चित्त में विकारादि हुआ करते हैं। सारांश यह है कि जो सिद्ध भक्त हैं, जो वैष्णवापराध हीन जातरति भक्त हैं, उन की आत्यन्तिकी अनर्थ निवृत्ति हो जाती है, इसलिये उन में चित्त-विकारादि की सम्भावना नहीं होती।

जब ऐसे सिद्ध भक्तों में चित्त विकारादि की सम्भावना नहीं रहती तब राय रामानन्द जी जो ब्रजलीला को विशाखा हैं जिनका भाव प्रेम-भक्ति की सीमा अर्थात् महाभाव तक उन्नत है, जो आत्म सुख-वासना हीन नित्य सिद्ध परिकर हैं, उन में रमणी या देव कन्याओं की सेवा-पूजा में चित्त विकार की आशङ्का निर्मूल ही है। इसलिये कविराज कहते हैं कि श्रीरामानन्द राय का भाव प्रेम-भक्ति की सीमा है, उनकी महिमा दुर्गम है।

उन देव कन्याओं को श्रीराय रामानन्द जो-जो शिक्षा देते हैं—उसे कविराज अगले पयारों में वर्णन करते हैं—

तबे सेइ दुइजने नृत्य शिक्षाइल। गीतेर गूढ़ अर्थ अभिनय कराइल ॥२०॥
सञ्चारि-सात्त्विक-स्थायिभावेर लक्षण। मुखे नेत्रे अभिनय करे प्रकटन ॥२१॥
भाव-प्रकटन-लास्य राय ये शिक्षाय। जगन्नाथेर आगे दोंहे प्रकट देखाय ॥२२॥
तबे सेइ दुइजने प्रसाद खाओयाइल। निभृते दोंहारे निजघरे पाठाइल ॥२३॥
प्रतिदिन राय ऐछे करये साधन। कोन् जाने क्षुद्र जीव काहां तार मन ॥२४॥
मिश्रेर आगमन सेवक रायेरे कहिला। शीघ्र रामानन्द तबे सभाते आइला ॥२५॥

श्रीकविराज कहते हैं—"तब उन देव कन्याओं को श्रीराय रामानन्द जी अभिनय के अनुकूल शिक्षा देते थे। उस नाटक के अन्तर्गत जो गीत हैं, उनके गूढ़ तात्पर्य के अनुकूल उन्हें नृत्य सिखाते। सञ्चारि, सात्त्विक एवं स्थायिभावों के लक्षणों को मुख से, नेत्रों से प्रकाशित करने का अभिनय कराते। इस प्रकार जो-जो भाव, जसा-जैसा नृत्य राय उन कन्याओं को सिखाते, वे उसी प्रकार के भाव एवं नृत्य श्रीजगन्नाथ जी के आगे प्रकाशित करतीं। इस शिक्षा के बाद राय रामानन्द जी उन्हें प्रसाद खिलाते एवं फिर उन्हें चुपचाप उनके घरों में पहुँचा देते। प्रतिदिन श्रीराय रामानन्द इस प्रकार का आचरण करते। क्षुद्र जीव भला उनके मन की अवस्था को कैसे जान सकते हैं? जब श्रीरामानन्द निवृत्त होकर अपने घर आए तब सेवक ने उनसे श्रीप्रद्युम्न मिश्र के आने की सूचना दी। यह बात सुनते ही वे सभा में चले आए जहाँ श्रीमिश्र जी बैठे थे ॥२०-२५॥

मिश्रे नमस्कार करि सम्मान करिया। निवेदन करे किछु विनत हइया ॥२६॥
बहु क्षण आइला, मोरे केहो ना कहिल। तोमार चरणे मोर अपराध हैल ॥२७॥
तोमार आगमने मोर पवित्र हैल घर। आज्ञा कर काहां करों तोमार किङ्कर ॥२८॥
मिश्र कहे—तोमा देखिते कैल आगमने। आपना पवित्र कैल तोमा-दरशने ॥२९॥
अतिकाल देखि मिश्र किछु ना कहिला। विदाय हइया मिश्र निज घर आइला ॥३०॥

श्रीराय ने श्रीमिश्र को सम्मान देते हुए उन्हें नमस्कार किया एवं अति विनम्र होकर कहने लगे—"आप बहुत देर से यहाँ आए हैं, मुझे यथा समय इस बात की किसी ने सूचना नहीं दी। आपके चरणों के प्रति मेरा अपराध हुआ है, सो क्षमा करें, आपके पधारने से मेरा घर पवित्र हुआ है, मैं आप का दास हूँ, आप आज्ञा करिये, क्या सेवा करूँ ?" श्रीमिश्र ने कहा –"राय ! मैं आपके दर्शनों को ही आया था, आपने दर्शन देकर मुझे पवित्र कर दिया है।" बहुत विलम्ब जान कर मिश्र ने उनसे और कुछ भी न कहा और उन से विदा मांग कर अपने घर चले आए ॥२६-३०॥

आर दिन मिश्र आइला प्रभु-विद्यमाने। प्रभु कहे—कृष्णकथा शुनिले रायस्थाने ?॥३१॥
तबे मिश्र रामानन्देर वृत्तान्त कहिला। शुनि महाप्रभु तबे कहिते लागिला--॥३२॥
आमित'संन्यासी'आपना'विरक्त'करि मानि। दर्शन रहु दूरे, प्रकृतिर नाम यदि शुनि ॥३३॥
तबहि विकार पाय आमार तनु-मन। प्रकृति दर्शने स्थिर हय कोन् जन ? ॥३४॥
रामानन्द-रायेर कथा शुन सर्वजन। कहिवार कथा नहे, आश्चर्य कथन ॥३५॥
एके देवदासी, आर सुन्दरी तरुणी। तार सब अङ्ग सेवा करेन आपनि ॥३६॥
स्नानादि कराय, पराय वास-विभूषण। गुह्य-अङ्गेर हय ताहा दर्शन-स्पर्शन ॥३७॥
तभु निर्विकार राय रामानन्देर मन। नानाभावोद्‌गार तारे कराय शिक्षण ॥३८॥
निर्विकार देह-मन काष्ठ-पाषाण-सम। आश्चर्य तरुणी स्पर्शे निर्विकार मन ॥३९॥

दूसरे दिन श्रीप्रद्युम्न मिश्र श्रीमहाप्रभु जी के पास आए। तब प्रभु ने पूछा—"आप ने क्या राय रामानन्द से कल कृष्ण-कथा सुनी थी ?" प्रभु के वचन सुन कर मिश्र ने रामानन्द जी का सब वृत्तान्त कह सुनाया। उसे सुन कर श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—'मैं तो संन्यासी हूं, अपने को विरक्त मानता हूं। दर्शन की तो बात दूर रही, स्त्री का नाम भी यदि कान में पड़ जाए, तब भी मेरे मन एवं शरीर में विकार आ जाता हैं, स्त्री को देख कर भला किस का मन स्थिर रह सकता है ? (यह सब वास्तव में प्रभु की दैन्योक्ति है।) प्रभु ने आगे कहा—"सब लोग सुनिये ! राय रामानन्द की महिमा कहता हूं, उनकी महिमा की बात अनिर्वचनीय है, उसे सुनते ही आश्चर्य होता है। एक तो वे कन्याएँ, देव दासी अर्थात् अविवाहिता कन्याएँ हैं, उस पर वे परम सुन्दरी है और फिर यौवन अवस्था युक्त हैं— उनकी वे अपने हाथों से सर्वाङ्ग सेवा करते हैं। उन्हें स्नान कराते हैं, उन्हें वस्त्र भूषणादि पहराते हैं। उनके मुख-वक्षस्थलादि गुह्य अङ्गों को वे देखते और स्पर्श भी करते हैं, इतने पर भी राय रामानन्द का मन निर्विकार रहता है और फिर नाना प्रकार के हाव-भाव पूर्ण नृत्य की उन्हें शिक्षा देते हैं। फिर

भी उनका मन एवं शरीर निर्विकार रहता है, जैसे कोई काष्ठ एवं पत्थर का स्पर्श कर रहा हो। युवती कन्या के स्पर्श में मन का निर्विकार रहना बहुत ही आश्चर्य का विषय है" ॥३१-३६॥

एक रामानन्देर हय एइ अधिकार। ताते जानि—अप्राकृत देह तांहार ॥४०॥
तांहार मनेर भाव तेंहो जाने मात्र। ताहा जानिवारे द्वितीय नाहि पात्र ॥४१॥
किन्तु शास्त्रदृष्ट्ये एक करि अनुमान। श्रीभागवत शास्त्र ताहाते प्रमाण ॥४२॥
ब्रजवधुसङ्गे कृष्णेर रासादि विलास। येइ इहा कहे शुने करिया विश्वास ॥४३॥
हृद्रोग काम तार तत्काले हय क्षय। तिनगुण-क्षोभ नाहि, महाधीर हय ॥४४॥
उज्ज्वल मधुर प्रेमभक्ति सेइ पाय। आनन्दे कृष्णमाधुर्ये विहरे सदाय ॥४५॥

श्रीमहाप्रभु जी ने आगे कहा—"यह एक राय रामानन्द ही हैं, जिनका ऐसा अधिकार है। इसलिये मैं समझता हूँ कि उनका देह इन्द्रिय अप्राकृत हैं। उनके मन के भावों को केवल वे आप ही जानते हैं, उन्हें और कोई दूसरा व्यक्ति नहीं जान सकता। किन्तु शास्त्र दृष्टि से मैं एक अनुमान करता हूं और उसका प्रमाण श्रीमद्भागवत जी हैं—वह यह है कि ब्रजगोपियों के साथ श्रीकृष्ण की रास-विलास की जो कथा है, उसे जो कोई विश्वास पूर्वक--श्रद्धा पूर्वक सुनता है अर्थात् वह लीला प्राकृत काम-क्रीड़ा नहीं है, किन्तु श्रीकृष्ण की स्वरूप-शक्ति की विलासभूता नित्यकान्तागणों के साथ आत्माराम श्रीकृष्ण की अप्राकृत प्रेम-लीला है—ऐसा जान कर जो उस कथा को सुनता है) उसका हृद-रोग जो काम है वह तत्काल नष्ट हो जाता है अर्थात् उसके चित्त को मलिन करने वाली समस्त कामनाएँ तत्काल ध्वंस हो जाती हैं। उसके हृदय में सत्व, रज, तमः—इन तीन मायिक गुणों का क्षोभ या विकार उत्पन्न नहीं होता। वह महाधीर अर्थात् नितान्त अचञ्चल चित्त वाला हो जाता है। (उसमें स्वसुख वासना जनित कोई भी मलीनता या क्षोभ नहीं रहता) तब वह उज्ज्वल (स्वसुख वासना हीन) अत्यन्त आस्वाद्य प्रेमलक्षणा-भक्ति को प्राप्त करता है, जिसके फल स्वरूप वह श्रीकृष्ण माधुर्य के परमानन्द में सदा विचरता रहता है ॥४०-४५॥ जैसा कि श्रीभागवत जी में कहा गया है—

तथाहि (भा: १०-३३-३६)—

विक्रीड़ितं ब्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥३॥

जो श्रद्धा-पूर्वक ब्रजगोपियों के साथ श्रीकृष्ण की इस समस्त रासादि लीला की कथा निरन्तर सुनता है एवं फिर वर्णन भी करता है, वह अति शीघ्र स्थिर चित्त होकर भगवान् श्रीकृष्ण की सर्वोत्तमा-प्रेम भक्ति प्रतिक्षण में नवीन-नवीन भाव में प्राप्त करता है एवं वह कामादि दुर्वासनाजनित हृदय-रोगों को अति शीघ्र ही त्याग कर देता है अर्थात् उन से मुक्त हो जाता है ॥३॥

ये शुने ये पढ़े तार फल एतादृशी। सेइ भावाविष्ट येइ सेवे अहर्निशि ॥४६॥
तार फल कि कहिव, कहने ना याय। नित्यसिद्ध सेइ प्राय सिद्ध तार काय ॥४७॥
रागानुगामार्गे जानि रायेर भजन। सिद्ध देह तुल्य ताते प्राकृत नहे मन ॥४८॥

आमिह रायेर स्थाने शुनि कृष्ण कथा। शुनिते इच्छा हय यदि पुन याह तथा ॥४६॥
मोर नाम लइह—तेंहो पाठाइल मोरे। तोमार स्थाने कृष्णकथा शुनिवार तरे ॥५०॥
शीघ्र याह यावत् तेंहो आछेन सभाते। एत शुनि प्रद्युम्नमिश्र चलिल तुरिते ॥५१॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा—"रासलीला को सुनने एवं वर्णन करने से ही जब मन-कामादि दुर्वासनाओं से रहित हो जाता है—उसका ऐसा फल मिलता है, तब उसी गोपी भाव में आविष्ट होकर जो दिन रात श्रीकृष्ण भगवान् की उपासना करता है—उसका उसे क्या फल मिलता होगा ? अर्थात् निश्चित रूप से उसका मन कामादि विकारों से रहित हो जाता है। इसलिये यह बात निश्चित है कि रामानन्द राय नित्य सिद्ध परिकर हैं एवं उनका शरीर-मन नित्य सिद्ध भक्तों के समान—अप्राकृत ही है। राय का भजन रागानुगा-मार्गीय है। उनका मन एवं देह सिद्ध हो चुका है अर्थात् शुद्ध सत्त्वात्मक हो चुका है—अप्राकृत हो चुका है।" इस प्रकार श्रीराय रामानन्द जी की गुण महिमा कह कर प्रभु कहने लगे—"मिश्र ! मैंने भी श्रीराय से श्रीकृष्ण कथा का श्रवण किया था (क्योंकि भक्त के मुख से सदा श्रीकृष्ण कथा सुननी चाहिये।) यदि तुम्हारी इच्छा हो तो फिर तुम उन्हीं के पास चले जाओ। मिश्र ! तुम उन से मेरा नाम लेकर कहना कि प्रभु ने मुझे आप के पास कथा सुनने के लिये भेजा है। तुम अब शीघ्र ही चले जाओ अभी तो वे सभा में ही बैठे होंगे।" श्रीमहाप्रभु के वचन सुन कर श्रीप्रद्युम्न मिश्र वहाँ से शीघ्र चल दिये ॥४६-५१॥

राय पाश गेला, राय प्रणति करिल। आज्ञा देह ये लागिया आगमन हैल ॥५२॥
मिश्र कहे, महाप्रभु पाठाइल मोरे। तोमार स्थाने कृष्ण कथा शुनिवार तरे ॥५३॥
शुनि रामानन्दराय हैला प्रेमावेशे। कहिते लागिला किछु मनेर उल्लासे ॥५४॥
प्रभु आज्ञाय कृष्णकथा शुनिते आइला एथा। इहा वहि महाभाग्य आमि पाव कोथा ॥५५॥
एत कहि तारे लञा निभृते वसिला। "कि कथा शुनिते चाह ?" मिश्रेरे पुछिला ॥५६॥

श्रीमिश्र श्रीराय के पास पहुँचे, राय रामानन्द जी ने मिश्र जी की वन्दना की और पूछा—"आपका आगमन कैसे हुआ ? मुझे आज्ञा दीजिये।" श्रीमिश्र ने कहा—"राय ! मुझे आपके पास श्रीमहाप्रभु जी ने भेजा है और आपके पास मैं श्रीकृष्ण कथा सुनने आया हूं।" श्रीमिश्र के वचन सुनते ही रामानन्द जी प्रेमाविष्ट हो उठे और उल्लसित चित्त होकर कहने लगे—"श्रीमहाप्रभु जी की आज्ञा से, फिर श्रीकृष्ण कथा सुनने को आप मेरे स्थान पर पधारे हैं—इस से परे और क्या महाभाग्य मेरे हो सकते हैं ?" इतना कह कर राय रामानन्द जी श्रीमिश्र जी को एकान्त स्थान पर ले गये। वहाँ दोनों बैठे और श्रीराय ने पूछा—"आप कौन सा प्रसङ्ग सुनना चाहते हैं ?" ॥५२-५६॥

तेंहो कहे—ये कहिले विद्यानगरे। सेइ कथा क्रमे तुमि कहिवे आमारे ॥५७॥
आनेर कि कथा, तुमि प्रभुर उपदेष्टा। आमित भिक्षुक विप्र, तुमि मोर पोष्टा ॥५८॥
भाल-मन्द किछु आमि पुछिते ना जानि। दीन देखि कृपा करि कहिवे आपुनि ॥५९॥
तबे रामानन्द क्रमे कहिते लागिला। कृष्ण कथा—रसामृत-सिन्धु उथलिला ॥६०॥
आपने प्रश्न करि पाछे करेन सिद्धान्त। तृतीय प्रहर हैल, नहे कथा अन्त ॥६१॥
वक्ता श्रोता कहि-शुनि दोंहे प्रेमावेशे। आत्म-स्मृति नाहि, काहां जानिव दिन शेषे ॥६२॥

श्रीमिश्र ने कहा—"जो प्रसङ्ग आपने विद्यानगर में श्रीमहाप्रभु जी को सुनाया था, उसे आप क्रमशः मुझे सुनाइये, और क्या कहूं—आप तो प्रभु के भी उपदेष्टा हो, मैं तो एक भिखारी ब्राह्मण हूं, आप मेरा पोषण करने वाले हैं। मैं अच्छा-बुरा कुछ पूछना भी तो नहीं जानता हूं, मुझे दीन जान कर आप ही कृपा कर सब कुछ सुना दीजिये।" तब श्रीरामानन्द जी क्रम से सब प्रसङ्ग कहने लगे। फिर क्या था? वहाँ तो श्रीकृष्ण कथा रसामृत का सागर उछल पड़ा। श्रीराय पहले स्वयं ही प्रश्न उठाते और फिर आप ही उसका समाधान एवं सिद्धान्त कहते। इस प्रकार तीसरा प्रहर आ गया, किन्तु उनके प्रसङ्ग का अन्त नहीं हुआ। वक्ता एवं श्रोता दोनों ही कृष्णकथा कहते-सुनते में प्रेमाविष्ट हो रहे थे। उन दोनों को आत्मस्मृति ही न रही, वे दिन को बीतता हुआ भला कैसे जानते?" ॥५७-६२॥

सेवके कहिल—दिन हैल अवसान। तबे राय कृष्ण कथा करिल विश्राम ॥६३॥
बहुत सम्मान करि, मिश्रे विदाय दिला।"कृतार्थ हइलाङ'बलि मिश्र नाचिते लागिला॥६४॥
घरे आसि मिश्र कैल स्नान भोजन। सन्ध्या काले देखिते आइल प्रभुर चरण ॥६५॥
प्रभुर चरण वन्दे उल्लासित मन। प्रभु कहे—कृष्णकथा हइल श्रवण? ॥६६॥
मिश्र कहे—प्रभु! मोरे कृतार्थ करिला। कृष्णकथामृतार्णवे मोरे डुबाइला ॥६७॥
रामानन्दराय-कथा कहिल ना हय। मनुष्य नहेन राय, कृष्णभक्ति रसमय ॥६८॥

श्रीराय के सेवक ने आकर जब कहा—कि दिन ढल चुका है, तब राय ने कृष्णकथा को विश्राम दिया। बहुत सम्मान देकर श्रीराय ने श्रीमिश्र को विदा किया और मिश्र भी यह कहते हुए कि 'मैं कृतार्थ हो गया" आनन्द में नाचने लगे। तब मिश्र जी अपने घर आए और स्नान-भोजन किया। सन्ध्या के समय श्रीमिश्र श्रीमहाप्रभु जी के चरण दर्शन करने गये। उन्होंने आनन्दित चित्त होकर प्रभु के चरणों में प्रणाम किया। तब श्रीमहाप्रभु जी ने पूछा—"कहो मिश्र! तुम ने श्रीकृष्ण कथा का श्रवण किया?" मिश्र ने कहा—"प्रभु! मुझे तो आपने कृतार्थ कर दिया है, मैं तो श्रीकृष्ण कथामृत सिन्धु में सराबोर हो गया। राय रामानन्द की महिमा वर्णन नहीं की जा सकती, वे साधारण मनुष्य नहीं हैं, रसमय कृष्ण-भक्ति की प्रतिमूर्त्ति ही हैं" ॥६३-६८॥

आर एक कथा राय कहिल आमारे। कृष्ण कथा-वक्ता करि ना जानिह मोरे ॥६९॥
मोर मुखे कथा कहे श्रीगौरचन्द्र। यैछे कहाय तैछे कहि, येन वीणायन्त्र ॥७०॥
मोर मुखे कहाय कथा करे परचार। पृथिवीते के जानिवे ये लीला तांहार ॥७१॥
ये सब शुनिल कृष्णरसेर सागर। ब्रह्मार ए सब रस ना हय गोचर ॥७२॥
हेन रस पान मोरे कराइले तुमि। जन्मे जन्मे तोमार पाय बिकाइलाङ आमि ॥७३॥
प्रभु कहे—रामानन्द विनयेर खनि। आपनार कथा परमुण्डे देन आनि ॥७४॥
महानुभवेर एइ सहज स्वभाव हय। आपनार गुण नाहि आपने कहय ॥७५॥

श्रीमिश्र ने आगे कहा—"प्रभु! राय ने मुझे एक और बात भी कही थी। उन्होंने कहा कि कृष्णकथा का वक्ता मुझे तुम नहीं जान लेना। मेरे मुख से श्रीगौरचन्द्र ही यह सब कथा कह रहे हैं। जैसे वे मुझ से कहलवाते हैं, वैसे वीणा की भान्ति मैं कहता जा रहा हूं। मेरे मुख द्वारा कहलवा कर

प्रभु श्रीकृष्ण कथा का प्रचार करते हैं। मिश्र ! इस पृथ्वी पर उनकी लीलाओं को कौन जान सकता है ? प्रभु ! श्रीकृष्णकथा रस का सागर जो कुछ मैं सुन कर आया हूं, वह सब रस ब्रह्मा जी को भी प्राप्त नहीं होता है। प्रभु ! यह रस आपने ही मुझे पान कराया है, मैं तो जन्म जन्मान्तर आपके चरणों में बिका हुआ हूं।" श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"मिश्र ! श्रीरामानन्द नम्रता की खान है, अपने गुणों को भी दूसरे के माथे मढ़ देता है और महानुभाव—महत् पुरुषों का यह सहज स्वभाव है कि वे अपने गुणों को आप नहीं कहते हैं।" ।।६९-७५।।

रामानन्द रायेर एइ कहिल गुण लेश। प्रद्युम्न मिश्रेर यैछे कैल उपदेश ।।७६।।
गृहस्थ हञा राय नहे षड्‌वर्गेर वशे। विषयो हइया संन्यासीरे उपदेशे ।।७७।।
एइ सब गुण तांर प्रकाश करिते। मिश्रेरे पाठाइल ताहां श्रवण करिते ।।७८।।
भक्त गुण प्रकाशिते गौर भाल जाने। नानाभङ्गीते गुण प्रकाशि निज लाभ माने ।।७९।।
आर एक स्वभाव गौरेर शुन भक्तगण। ऐश्वर्य्य-स्वभाव गूढ़ करये प्रकटन ।।८०।।

ग्रन्थकार श्रीकविराज कहते हैं—राय रामानन्द जी के थोड़े से गुणों का मैंने यहाँ वर्णन किया है, जैसे उन्होंने श्रीप्रद्युम्न मिश्र को उपदेश किया था। गृहस्थ होकर भी श्रीराय काम-क्रोध-मोह-लोभ-मद एवं मात्सर्य्य इन छः रिपुओं के वशीभूत नहीं थे। धन-सम्पत्ति आदि विषयों के सम्पर्क में रहते हुए भी वे संन्यासियों को उपदेश देने की योग्यता रखते थे। इन सभी गुणों को प्रकाशित करने के लिये ही प्रभु ने मिश्र जी को उनके पास कृष्ण-कथा सुनने को भेजा था। क्योंकि श्रीमहाप्रभु जी भक्तों के गुणों को अच्छी प्रकार प्रकाशित करना जानते हैं। अनेक बहानों एवं युक्तियों से भक्तों के गुण प्रकट करते हैं एवं इसी में ही अपनी अभीष्ट पूर्त्ति जानते हैं या सन्तुष्ट होते हैं। कविराज कहते हैं—"भक्तगण ! श्रीगौरसुन्दर का एक और भी स्वभाव सुनिये—वे अपने ऐश्वर्य स्वभाव को—स्वरूपगत ऐश्वर्य को प्रकट-लीला में अर्थात् पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर नर लीला में गुप्त ही रखते हैं। अपनी महिमा को गुप्त रखते हैं" ।।७६-८०।।

संन्यासि-पण्डितगणेर करिते गर्वनाश। नीच-शूद्र द्वारे करे धर्मेर प्रकाश ।।८१।।
भक्ति तत्त्व प्रेम कहे राय करि वक्ता। आपने प्रद्युम्न मिश्रसह हय श्रोता ।।८२।।
सनातन द्वाराय भक्ति सिद्धान्त विलास। हरिदासद्वाराय नाम-माहात्म्य-प्रकाश ।।८३।।
श्रीरूपद्वाराय व्रजेर प्रेमरस लीला। के बुझिते पारे गम्भीर चैतन्येर खेला ? ।।८४।।
चैतन्येर लीला एइ अमृतेर सिन्धु। त्रिजगत् भासाइते पारे यार एक विन्दु ।।८५।।
चैतन्यचरितामृत कर नित्य पान। याहा हैते प्रेमानन्द भक्तितत्त्व ज्ञान ।।८६।।

श्रीमहाप्रभु जी अपनी महिमा को गुप्त रख कर संन्यासी एवं पण्डित जनों का आश्रम तथा -विद्याजाति कुल अभिमान ध्वंस करने के लिये नीच—दीन हीन एवं शूद्रों (राजसेवीजनों) द्वारा धर्म का प्रचार करते हैं। वे श्री राय को वक्ता बनाकर भक्ति तत्त्व को प्रकाशित करते हैं और स्वयं उसे सुनने के लिये तथा श्रीप्रद्युम्न मिश्रको श्रोता बना लेते हैं। श्रीसनातन के द्वारा भक्तिके अखण्ड सिद्धान्तों का प्रचार कराते हैं, श्रीहरिदास के द्वारा नाम-महिमा को प्रकाशित करते हैं। श्रीरूप के द्वारा व्रज की

प्रेम रसमयी लीलाओं का प्रचार कराते हैं—श्रीचैतन्यदेव की इन गम्भीर लीलाओं को कौन जान सकता है ? श्रीचैतन्यदेव की समस्त लीलाएं अमृत के समुद्रवत् गम्भीर एवं मधुर हैं। उनके लीला समुद्र का एक बिन्दु त्रिभुवन को प्रेम में सराबोर कर देता हैं। कविराज कहते है—इसलिये हे भक्तगण ! आप नित्य श्रीचैतन्यचरितामृत का रस पान करिये, जिससे प्रेमानन्द की प्राप्ति होगी एवं भक्ति तत्त्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाएगा ॥८१-८६॥

एइमत महाप्रभु भक्तगण लञा। नीलाचले विहरये भक्ति प्रचारिया ॥८७॥
बङ्गदेशेर एक विप्र प्रभुर चरिते। नाटक करि लैया आइल प्रभु के शुनाइते ॥८८॥
भगवान्-आचार्य-सने तांर परिचय। तांरे मिलि तांर घरे करिल आलय ॥८९॥
प्रथमे नाटक तेंहो तांरे शुनाइल। तांर सङ्गे अनेक वैष्णव नाटक शुनिल ॥९०॥
सभेइ प्रशंसे—नाटक परम उत्तम। महाप्रभु के शुनाइते सभार हैल मन ॥९१॥

इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु जी अपने भक्तों के सहित भक्ति का प्रचार करते हुए नीलाचल में विहार करते थे। एक बार एक बङ्ग देशीय ब्राह्मण प्रभु के चरित्र का नाटक रचकर नीलाचल में प्रभु को सुनाने आया। उस विप्र का श्रीभगवानाचार्य के साथ पहला परिचय था, इसलिये वह उन्हे आकर मिला और उनके घर ही उसने अपना ठिकाना किया। उस विप्र ने पहले वही नाटक श्रीभगवानाचार्य को सुनाया, उनके साथ और भक्तों ने भी उसे सुना। सभी वैष्णव उस नाटक को बहुत उत्तम कह कर प्रशंसा करने लगे। सब की यही इच्छा हुई कि इस नाटक को प्रभु को सुनाया जाए ॥८७-९१॥

गीत श्लोक ग्रन्थ किवा येइ करि आने। प्रथमे शुनाय सेइ स्वरूपेर स्थाने ॥९२॥
स्वरूप ठाञि उत्तरे यदि लञा तार मन। तबे महाप्रभु-स्थाने कराय श्रवण ॥९३॥
रसाभास हय यदि सिद्धान्त विरोध। सहिते ना पारे प्रभु, मने हय क्रोध ॥९४॥
अतएव प्रभु किछु आगे नाहि शुने। एइ मर्य्यादा प्रभु करियाछे नियमे ॥९५॥

यदि कोई व्यक्ति कोई गीत, कोई श्लोक या कोई ग्रन्थ रचना करके प्रभु को सुनाने आता, तो पहले उसे श्रीस्वरूप दामोदरजी को सुनाता। यदि श्रीस्वरूप गोस्वामीजी का मन उससे सन्तुष्ट होता और वह उसे सिद्धान्त युक्त समझ लेते, तब वह व्यक्ति उसे श्रीमहाप्रभु जी को सुना सकता था। क्यों कि यदि किसी रचना में रसाभास होता और सिद्धान्त का विरोध होता, तो श्रीमहाप्रभु जी उसे सहन न कर सकते थे, उसे सुन कर वे, क्रोधित हो उठते। इसलिये श्रीमहाप्रभु जी पहले-पहले किसी रचना को आप न सुना करते थे, उनसे पहले श्रीस्वरूप गोस्वामी जी उसे सुनते—प्रभु ने ऐसा एक नियम-मर्यादा बना रखी थी ॥९२-९५॥

स्वरूपेर ठाञि आचार्य कैल निवेदन। एक विप्र प्रभुर नाटक करियाछे उत्तम ॥९६॥
आदौ तुमि शुन, यदि तोमार मन माने। पिछे महाप्रभुके तवे कराइव श्रवणे ॥९७॥
स्वरूप कहे—तुमि गोयाल परम उदार। ये-से-शास्त्र शुनिते इच्छा उपजे तोमार ॥९८॥
यद्वा-तद्वा कविर वाक्ये हय रसाभास। सिद्धान्त विरुद्ध शुनिते ना हय उल्लास ॥९९॥
रस-रसाभाव यार नाहि ए विचार। भक्ति सिद्धान्त सिन्धुर नाहि पाय पार ॥१००॥

व्याकरण नाहि जाने,ना जाने अलङ्कार । नाटकालङ्कार ज्ञान नाहिक याहार ।।१०१।।
कृष्णलीला वर्णिते ना जाने सेइ छार । विशेषे दुर्गम एइ चैतन्य विहार ।।१०२।।
कृष्णलीला गौर लीला से करे वर्णन । गौर पादपद्म यार हय प्राणधन ।।१०३।।

तब श्रीभगवानाचार्य ने श्रीरूप गोस्वामी जी को निवेदन किया कि एक विप्र प्रभु की लीला का नाटक रचना कर लाया हैं, जो उत्तम प्रतीत होता है । किन्तु आप उसे पहले सुनिये, यदि आप का मन माने तो उसे फिर श्रीमहाप्रभु जी को भी वह विप्र उस नाटक को सुनाएगा । श्रीस्वरूप जी ने कहा—"भगवानाचार्य ! तुम तो ग्वाले हो । (ब्रजलीला में श्रीभगवानाचार्य गोप-जातीय थे ।) ऐसे वैसे ग्रन्थों को सुनने की तुम्हारी इच्छा होती है । ऐसे वैसे कवियों की रचना में रसाभास होता है । ऐसी सिद्धान्त विरुद्ध कविता को सुनने में मुझे तो आनन्द आता नहीं । जिसको रस का, (रसाभास का) विचार नहीं है, वह भक्ति सिद्धान्त रूप समुद्र का पार नहीं पा सकता है । जो व्याकरण नहीं जानता, न ही जो अलङ्कार जानता है और न ही जिसे नाटक-अलङ्कार का ज्ञान है, वह व्यर्थ प्रयास करने वाला कवि श्रीकृष्ण लीला का वर्णन नहीं कर सकता है, उसमें फिर श्रीकृष्ण चैतन्य की लीला का वर्णन करना तो और भी दुर्गम है । श्रीकृष्ण लीलाएवं श्रीगौराङ्ग लीला को तो वही वर्णन करे जिस के प्राणधन श्रीगौरचरण कमल हों ।।९६-१०३।।

चौ० च० चु० *टीका*:—देखा जाता है अनेक कवियों की वाणियों में रसाभास होता है, वह भगवत्-लीलाको वर्णन तो करते हैं, किन्तु उस वर्णन-शैली में अनेक ऐसी बातें वे वर्णन करते हैं जो सिद्धान्त के विरुद्ध हुआ करती हैं। ऐसी रचनाएं— वाणियाँ रसिक एवं रसज्ञ समाज में समादृत नहीं होतीं ।

जो उक्ति आपात दृष्टि से रस को पुष्ट करने वाली प्रतीत होती है, किन्तु विचार पूर्वक देखने से ज्ञान होता है उसमें रस के लक्षण यथार्थ भाव में नहीं होते, विभावादि के लक्षण वर्णीय रस के अनुकूल नहीं होते, उस उक्ति को **'रसाभास'** कहते हैं । जैसे "यशोदा जी ने कहा—हे भगिनि ! जिस दिन से मैंने यह देखा है कि मेरे पुत्र श्रीकृष्ण ने बड़े-बड़े पर्वताकार राक्षसों को मार गिराया है, उस दिन से प्रबल युद्ध भी क्यों न आ पड़े, मुझे श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कभी भी कोई चिन्ता नहीं रहती" । इस उक्ति में रसाभास है । माता यशोदा का श्रीकृष्ण के प्रति शुद्ध वात्सल्य भाव है । उस वात्सल्य भाव के कारण वह श्रीकृष्ण को नितान्त क्षुद्र एवं दुर्बल समझती है । इसलिये वह हर समय' ऐसी चिन्ता करती रहती है कि कोई विपत्ति श्रीकृष्ण पर न आपड़े, उसे कोई मार-पीट न दे-इस प्रकार वह सदा आशङ्कित रहती है, वस्तुतः यही भाव ही वात्सल्य भाव का सार है । माता की दृष्टि में सन्तान हर समय शिशुवत् हुआ करती है । शक्ति शाली होने पर भी माता सन्तान को शक्तिहीन जाना करती है, किन्तु उपर्युक्त उक्ति में यह भावना नहीं है । श्रीकृष्ण की शक्ति में वह पूर्ण यिश्वासवती दिखाई देती है एवं श्रीकृष्ण के विपत्ति में पड़ जाने में भी उसे कोई चिन्ता या डर नहीं लगता— यह उक्ति अस्वाभाविक है । ऐसा भाव वात्सल्य रस के अनुकूल नहीं हैं, अतः इसे **'रसाभास'** कहते हैं ।

इसी प्रकार जिस उक्ति में शास्त्र-सम्मत सिद्धान्त के साथ मेल नहीं है, असङ्गति है, वह उक्ति 'सिद्धान्त-विरुद्ध' कही जाती है । आज कल ऐसी अनेक रचनायें एवं वाणियाँ प्रचलित हैं जिनमें रसाभास एवं सिद्धान्त-विरोधी उक्तियों की भरमार होती है, इस दोष को केवल रसज्ञ व्यक्ति ही जान सकते हैं । इसलिये श्रीरूप गोस्वामी कह रहे हैं कि जो व्यक्ति व्याकरण, अलङ्कार एवं रस के स्वरूप

को नहीं जानता है, उसके लिये श्रीकृष्ण लीला का यथार्थ भाव में वर्णन करना असम्भव है, विशेषतः जिसे श्रीगौर चरण कृपा की प्राप्ति नहीं हुई है, वह व्यक्ति श्रीकृष्ण-लीला व श्रीगौर लीला वर्णन करने में असमर्थ है।

ग्राम्य-कविर कवित्व शुनिते हय दुख। विदग्ध आत्मीय काव्य शुनिते हय सुख ॥१०४॥

रूप यैछे दुइ नाटक करियाछे आरम्भ। शुनिते आनन्द बाढ़े यार मुखवन्ध ॥१०५॥

भगवान् आचार्य कहे—तुमि शुन एकबार। तुमि शुनिले भाल-मन्द जानिव बिचार॥१०६॥

दुइ चारिदिन आचार्य आग्रह करिल। तार आग्रहे स्वरूपेर शुनिते मन हैल ॥१०७॥

सभा लैया स्वरूप गोसाञि शुनिते वसिला। तबे सेइ कवि नान्दीश्लोक पढ़िला ॥१०८॥

श्रीस्वरूप गोस्वामीजी ने कहा—"शास्त्र-ज्ञान-हीन कवि के कवित्व को सुनने से दुख होता है (क्योंकि उसमें रसाभास एवं सिद्धान्त विरोधी बातें होती हैं) किन्तु रसज्ञ कवि द्वारा लिखित जो आत्मीय अर्थात् सर्वात्मा— श्रीकृष्ण विषयक लीला कथा है, उसे सुनने से सुख होता है। जैसे कि श्रीरूप ने दो नाटकों (श्रीललित माधव व श्रीविदग्ध माधव) की रचना की है, उनके किसी अंश को या मंगला-चरण को सुनते ही—परमानन्द की प्राप्ति होती हैं"। यह सुन कर श्री भगवानाचार्य बोले—"गोस्वामी! इसलिये मैं प्रार्थना करता हूँ कि एक बार आप इस नाटक को सुन लीजिये, सुनने पर ही तो इस के अच्छे-बुरे का आप विचार कर पायेंगे"। इस प्रकार दो चार दिन जब श्रीभगवानाचार्य ने बार-बार आग्रह किया तो श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने उसे सुनना स्वीकार कर लिया। सब भक्तों को साथ लेकर श्रीस्वरूप उसे सुनने के लिये बैठ और वह कवि अपने नाटक का नान्दी श्लोक (मङ्गलाचरण-श्लोक) सुनाने लगा—

तथाहि बङ्गदेशीयविप्रस्य—

विकच कमल नेत्रे श्रीजगन्नाथ संज्ञे कनक रुचि विहात्मन्यात्मतां यः प्रपन्नः।

प्रकृति जड़मशेषं चेतयन्नाविरासीत् स दिशतु तव भव्यं कृष्णचैतन्य देवः ॥४॥

जो स्वभावतः ही जड़ है ऐसे अशेष विश्व में चेतनता उत्पादन करने के लिये स्वर्ण-वर्ण-कान्ति विशिष्ट जो श्रीकृष्ण चैतन्यदेव प्रफुल्ल कमल-नयन श्रीजगन्नाथ नामक देह से आत्म-रूपता को प्राप्त होकर इस ब्रह्माण्ड में आविर्भूत हुए हैं, वे तुम्हारा मङ्गल विधान करें।

(विप्र ने तो इन्हीं अर्थों को लेकर उपर्युक्त श्लोक की रचना की थी, किन्तु सरस्वती देवी इस श्लोक का अर्थ निम्नलिखित रूप में करती हैं—)

स्वभावतः जो जड़ है, ऐसे समस्त विश्व में चेतनता उत्पादन करने के लिये जो श्रीकृष्ण, स्वीय आत्मरूप प्रफुल्ल-कमल-नयन श्रीजगन्नाथ-विग्रह के साथ एकता या आत्मता प्राप्त होकर स्वर्ण वर्ण कान्ति विशिष्ट श्रीकृष्ण चैतन्यरूप में आविर्भूत हुए हैं—वे तुम्हारा मङ्गल विधान करें ॥४॥

परवर्त्ती ११०—१११ पयारों में इस श्लोक का कविकृत अर्थ एवं १३९—१४४ पयारों में सरस्वतीकृत अर्थ विवृत हुआ है—

श्लोक शुनि सर्वलोके ताहारे बाखाने। स्वरूप कहे—एइ श्लोक करह व्याख्याने ॥१०९॥

कवि कहे—जगन्नाथ सुन्दर-शरीर। चैतन्यगोसाञि ताते शरीरी महाधीर ॥११०॥

सहजे जड़ जगतेर चेतन कराइते। नीलाचले महाप्रभु हैला आविर्भूते ॥१११॥
शुनिञा सभार हैल आनन्दित मन। दुख पाञा स्वरूप कहे सक्रोध वचन ॥११२॥

श्लोक को सुनकर सब लोग उस विप्र की प्रशंसा करने लगे। श्रीस्वरूप जी ने कहा—"इस श्लोक की व्याख्या करो"। विप्र कवि कहने लगा—"श्रीजगन्नाथजी का सुन्दर विग्रह तो शरीर है और श्रीचैतन्य देव महावीर उसके शरीरी हैं। यह समस्त जगत् स्वभावतः जड़ है (प्राकृत है) इस जड़ जगत् के जीवों में चेतनता (कृष्णोन्मुखता) उत्पन्न करने के लिये श्रीकृष्णचैतन्य देव नीलाचल में आविर्भूत हुए है"। इस व्याख्या को सुनकर सब का मन आनन्दित हुआ किन्तु श्रीस्वरूप गोस्वामी दुखित होकर क्रोध पूर्वक बोले—॥१०९-११२॥"

आरे मूर्ख ! आपनार कैले सर्वनाश। दुइ त ईश्वरे तोमार नाहिक विश्वास ॥११३॥
पूर्णानन्द चित्स्वरूप जगन्नाथ राय। तांरे कैले जड़ नश्वर प्राकृत काय ॥११४॥
पूर्ण षड़ैश्वर्य्य चैतन्य स्वयं भगवान्। तांरे कैले क्षुद्रजीव स्फुलिङ्ग समान ॥११५॥
दुइ ठाञि अपराधे पाइबे दुर्गति। 'अतत्त्वज्ञ तत्त्व वर्णे' तांर एइ रीति ॥११६॥

श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने कहा—"अरे मूर्ख ! तुमने तो अपना सर्व नाश कर दिया है। श्रीजगन्नाथ जी एवं श्रीकृष्ण चैतन्यदेव इन दोनों ईश्वर स्वरूपों में तुम्हारा विश्वास या तत्त्व ज्ञान नहीं है। श्रीजगन्नाथ जी का विग्रह तो पूर्ण आनन्द मय है—अखण्ड आनन्द स्वरूप है एवं वह स्वरूपतः चिदानन्दमय है, तुमने उस चिदानन्दमय विग्रह को जड़, नाशवान प्राकृत-देह कह कर वर्णन कर दिया है। और श्रीचैतन्य देव जो पूर्ण हैं, षडैश्वर्य युक्त स्वयं भगवान् हैं, उन्हें तुमने एक क्षुद्र जीव जो चिंगारी के समान है, बता दिया है। तुम ने दोनों ईश्वरों के प्रति अपराध किया है, तुम्हारी दुर्गति होगी। तत्त्व के अज्ञाता जब तत्त्व का वर्णन करते हैं तो उनकी यही रीति हुआ करती है अर्थात् उनकी दुर्गति हुआ करती है। ॥११३-११६॥

चै० च० चु० *टीका*:—कवि ने श्लोक की व्याख्या करते हुए श्रीजगन्नाथ जी को देह स्थानीय कहा एवं श्रीचैतन्यदेव को देही स्थानीय कह कर वर्णन किया। जीव में देह एवं देही का भेद रहता है। देह स्वभावतः जड़-अचेतन होता है और देही अर्थात् जीवात्मा चैतन्य होता है। श्रीजगन्नाथ जी का विग्रह अचल होने से विशेतः दारुमय होने से कवि ने उसे देह-जड़ के समान बताया और श्रीचैतन्यदेव को चैतन्य होने के कारण देही—जीवात्मा बता दिया। देह एवं देही का जसे भेद हैं उसी प्रकार कवि ने श्रीजगन्नाथ जी एवं श्रीचैतन्यदेव में भेद की स्थापना करदी।

इस व्याख्या को सुनकर तत्त्वज्ञ श्रीस्वरूप गोस्वामी जी को बहुत दुख हुआ और उन्हों ने बताया कि"मूर्ख ! तुमने श्रीजगन्नाथ जी एवं श्रीचैतन्यदेव—इन दोनों के तत्त्वों को नहीं समझा है। श्रीजगन्नाथ जी का अथवा किसी भी भगवत् स्वरूप का विग्रह चिदानन्दमय होता है। कारण कि जब किसी मूर्त्ति या विग्रह की प्रतिष्ठा की जाती है, तब उसमें भगवान् अधिष्ठित हो जाया करते हैं अर्थात् भगवान् उस विग्रह को अङ्गीकार करके अपने साथ उसको तादात्म्य प्राप्त करा देते हैं। वह मूर्ति या विग्रह फिर प्राकृत नहीं रह जाता। तुमने श्रीजगन्नाथ-विग्रह को देह बना दिया है, जो स्वभावतः जड़ होता है। इसलिये तुमने श्रीजगन्नाथ जी के प्रति अपराध किया है।

द्वितीयतः श्रीचैतन्यदेव को तुमने देही-जीवात्मा कह कर बखान किया है। जीवात्मा श्रीभगवान् का चित्कण एक अंश है एवं श्रीभगवान् की तुलना में एवं सर्व प्रकार से अति क्षुद्र है। इस प्रकार तुमने श्रीचैतन्यदेव को अति क्षुद्र जीवात्मा बताया है—किन्तु श्रीकृष्ण चैतन्यदेव तो षड़ैश्वर्यपूर्ण स्वयं भगवान्—श्रीव्रजेन्द्रनन्दन हैं। उन्हें क्षुद्र जीवात्मा बताकर तुमने उनके प्रति भी अपराध किया है"।

ईश्वर में देह-देही भेद नहीं हुआ करता, किन्तु कवि ने श्रीजगन्नाथ जी को देह एवं श्रीचैतन्यदेव को देही बताकर ईश्वर में देह-देही भेद का भी प्रतिपादन किया है। जो एक घोर अपराध है—इसी बात को अगले पयारों में वर्णन करते हैं।

आर एक करियाछ परम प्रमाद। देह-देही भेद ईश्वरे कैले अपराध ॥११७॥

ईश्वरे नाहिक कभु देह-देही-भेद। स्वरूप देह 'चिदानन्द'- नाहिक विभेद ॥११८॥

श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने आगे कहा—"तुम ने एक और भी प्रमाद किया है कि—श्रीजगन्नाथ जी एवं श्रीचैतन्यदेव को देह-देही स्थानीय कह कर वर्णन किया है। ईश्वर में देह-देही भेद करने से अपराध होता है। ईश्वर में कभी देह-देही भेद नहीं होता। उनका स्वरूप एवं विग्रह—दोनों ही चिदानन्दमय—चिन्मय (अप्राकृत) हुआ करते हैं। इन दोनों में कोई भी पार्थक्य नहीं रहता ॥११७-११८॥ जैसा कि श्रीमद्भागवत जी में कहा गया है—

(५। ३४२) कौर्मवचनम्।

देह देहि विभागोऽपं नेश्वरे विद्यते क्वचित् ॥५॥

देह व देही—इस प्रकार का विभाग ईश्वर में कभी नहीं होता ॥५॥

श्रीभागवते च (३-९-३ व ४)—

नातः परं परम यद्भवतः स्वरूपमानन्दमात्रमविकल्पमविद्ध वर्च्चः।
पश्यामि विश्वसृजमेकम विश्वमात्मन् भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि ॥६॥
तद्वा इदं भुवनमङ्गल मङ्गलाय ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम्।
तस्मैं नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं यो नादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः ॥७॥

श्रीब्रह्मा जी ने कहा है—"हे परम! आपका जो अनावृत प्रकाश स्वरूप है, अर्थात् माया द्वारा जिसके तेज एवं शक्ति कभी प्रतिहत नहीं होते, जो त्रिविध भेद-शून्य आनन्द स्वरूपमात्र है, (जिस स्वरूप की नाभि से मेरी उत्पत्ति हुई है,) उसे मैं आप के इस (श्रीव्रजेन्द्रनन्दन) स्वरूप से भिन्न नहीं देखता हूं। अतः मैं आपके इस रूप का आश्रय ग्रहण करता हूं। हे आत्मन्! (आपका यह स्वरूप उपासना योग्य है, कारण कि) यह समस्त उपास्य स्वरूपों में मुख्य है एवं आप ही पुरुषादि रूप से विश्व की सृष्टि करने वाले हैं, किन्तु आप इस विश्व से भिन्न हो अर्थात् आपका रूप अप्राकृत, चिन्मय है। आपका यही रूप समस्त भूतों का एवं इन्द्रियों का कारण है।

हे भुवनमङ्गल! हम आपके उपासक हैं, हमारे मङ्गल के निमित्त ध्यान के समय हमें आपने अपने इस रूप का दर्शन कराया था, अतएव यह आपका वही रूप है, इस में सन्देह नहीं है। इसलिये हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं। हे भगवन्! जो नराधम अनीश्वरवादियों की कुतर्क में नियुक्त हैं, वे समस्त नरक के अधिकारी हैं ॥६-७॥ इन श्लोकों से प्रमाणित होता है कि श्रीभगवान् का स्वरूप चिन्मय-अप्राकृत है एवं उस में देह-देही भेद नहीं है।

काहां पूर्णानन्दैश्वर्य कृष्ण, मायेश्वर। काहां क्षुद्र जीव दुखी, मायार किङ्कर ॥११९॥

श्रीस्वरूप पाद ने कहा—"कहां तो श्रीकृष्ण (श्रीकृष्णचैतन्य) पूर्णानन्दमय एवं पूर्णैश्वर्ययुक्त तथा माया के पति और कहाँ क्षुद्र जीव जो सदा दुखी रहता है और फिर माया का दास ! [इसलिये हे कवि ! तुमने जो श्रीकृष्णचैतन्य को जीव कह कर वर्णन किया है, यह बात सिद्धान्त विरुद्ध है, वे जीवात्मा नहीं है, वे पूर्णानन्देश्वर्ययुक्त मायापति स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं ।]

भगवान् एवं जीव के स्वरूप का पार्थक्य शास्त्रों में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

तथाहि भावार्थदीपिकायां (भा: १-७-६)

श्रीभगवत् सन्दर्भ-धृतं श्रीविष्णुस्वामि वचनम्—

ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः ।
स्वाविद्यासंवृतो जीवः संक्लेश निकराकरः ॥८॥

सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर ह्लादिनी एवं सम्वित् शक्तियों द्वारा पूर्ण है और जीव अपने अज्ञान द्वारा आवृत्त है, इसलिए जीव बहुविध क्लेशों की खान है, अतः जीव और ईश्वर में समानता नहीं हो सकती ॥ ८ ॥

शुनि सभासदेर चित्ते हैल चमत्कार । सत्य कहेन गोसाञि,दुहांर करियाछे तिरस्कार॥ १२०॥
शुनिञा कविर हैल लज्जा भय विस्मय । हंस मध्ये वक यैछे किछु नाहि कय ॥१२१॥
तार दुख देखि स्वरूप सदय हृदय । उपदेश कैल तारे यैछे हित हय ॥१२२॥
याह, भागवत पढ़ वैष्णवेर स्थाने । एकान्त आश्रय कर चैतन्य चरणे ॥१२३॥
चैतन्येर भक्तगणेर कर नित्य सङ्ग । तबे त जानिवे सिद्धान्त-समुद्र-तरङ्ग ॥१२४॥
तबे त पाण्डित्य तोमार हइवे सफल । कृष्णेर स्वरूप लीला वर्णिवे निर्मल ॥१२५॥

श्रीस्वरूप गोस्वामी जी के मुख से इस प्रकार सिद्धान्त सुन कर सभी सभासद चमत्कृत हो उठे और कहने लगे—"गोस्वामि ! आपने ठीक ही कहा है, इस ने श्रीजगन्नाथ जी एवं श्रीचैतन्यदेव—इन दोनों का तिरस्कार किया है । " उस कवि को यह सब जान कर बहुत लज्जा, भय एवं विस्मय हुआ । (अपनी अज्ञता एवं अनधिकार चेष्टा जान कर उसे लज्जा हुई । ईश्वर के प्रति अपराध होने से वह भय-भीत हुआ और श्रीस्वरूप दामोदर की असाधारण बुद्धि एवं शास्त्र ज्ञान को देख कर उसे विस्मय हुआ ।) हंसों के बीच में काग की भान्ति वह अवाक रह गया । उसके दुख को देख कर श्रीस्वरूप जी के हृदय में दया आई और जैसे उसका मङ्गल हो, ऐसा उपदेश उसे देने लगे । उन्होंने कहा—"कवि ! जाओ, तुम किसी वैष्णव गुरू से श्रीभागवत जी का अध्ययन ग्रहण करो । नित्य श्रीचैतन्यदेव के भक्तों का सङ्ग करो, तभी तुम इस सिद्धान्त रूप सागर की तरङ्गों का कुछ मर्म जान सकोगे । तभी तुम्हारे पाण्डित्य की सफलता होगी और तभी तुम दोष रहित या रसाभास रहित श्रीकृष्ण के स्वरूप व श्रीकृष्ण लीला का वर्णन कर सकोगे ॥१२०-१२५॥

एइ श्लोक करियाछ पाइया सन्तोष । तोमार हृदयेर अर्थ दोंहाय लागे दोष ॥१२६॥
तुमि यैछे तैछे कह ना जानिया रीति । सरस्वती सेइ शब्दे करियाछे स्तुति ॥१२७॥
यैछे इन्द्र-दैत्यादि करे कृष्णेर भर्त्सन । सेइ शब्दे सरस्वती करेन स्तवन ॥१२८॥

श्रीस्वरूपपाद ने आगे कहा—"कवि ! तुम ने जो सन्तुष्ट होकर इस श्लोक (विकच कमल-नेत्रे-श्लोक) की रचना की है एवं उसके जो अर्थ तुम्हारे हृदय में स्फुरित हुए हैं, उन से दोनों ईश्वर-स्वरूपों के प्रति तिरस्कार सूचित होता है। तुम अपनी अज्ञानता वश सिद्धान्त सम्मत बात को नहीं कह सके हो, किन्तु सरस्वती देवी ने तुम्हारे इन्हीं शब्दों में भी भगवान् की स्तुति ही की है। जैसे इन्द्र, दैत्यगणादि जब श्रीकृष्ण का तिरस्कार करते हैं, सरस्वती देवी उन्हीं शब्दों में किन्तु श्रीभगवान् की स्तुति ही करा देती है।" जैसे कि श्रीभागवत जी में यज्ञ नष्ट होने पर इन्द्र ने श्रीकृष्ण के प्रति वचन कहे थे—

तथाहि (भा: १०-२५-५)—

वाचालं वालिशं स्तब्धमज्ञं पण्डितमानिनम् ।
कृष्णं मर्त्त्यं मुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम् ॥६॥

श्रीइन्द्र ने कहा था—"वाचाल (बहु भाषी), वालिश (बालक), स्तब्ध (अविनीत),अज्ञानी, पण्डिताभिमानी एवं मरणशील कृष्ण का आश्रय लेकर गोपों ने मेरा अप्रिय कार्य किया है" ॥६॥

[इन्द्र ने तो इन शब्दों में श्रीकृष्ण का तिरस्कार किया था किन्तु सरस्वती देवी ने इन शब्दों के दूसरे अर्थ फेर कर श्रीकृष्ण की स्तुति ही की थी वह अर्थ इस प्रकार है—]

शास्त्र समूह का मूल कारण (वाचाल) होकर भी जो (वालिश) बालकवत् निरभिमानी हैं, सर्व श्रेष्ठ होने के कारण जो किसी के आगे नत नहीं होते हैं, (स्तब्ध हैं,) जिन से बढ़ कर और कोई ज्ञानी नहीं हैं जो (अज्ञ हैं), और जो पण्डितगणों के माननीय हैं और जो सदानन्द ब्रह्म होकर भी भक्त-वात्सल्यतावश मनुष्यवत् (मर्त्य) प्रतीत होते हैं, उन श्रीकृष्ण का आश्रय लेकर गोपों ने मेरा अप्रिय कार्य किया है ॥६॥

ऐश्वर्यमदे मत्त इन्द्र येन मातोयाल। बुद्धिनाश हैल, केवल नाहिक सम्भाल ॥१२६॥
इन्द्र बोले-मुञि कृष्णेर करियाछ निन्दन। तारि मुखे सरस्वती करेन स्तवन ॥१३०॥
'वाचाल' कहिये—वेद प्रवर्त्तक धन्य। 'वालिश'-तथापि शिशु-प्राय गर्वशून्य ॥१३१॥
वन्द्याभावे अनम्र—'स्तब्ध' शब्दे कय। याहा हैते अन्य विज्ञ नाहि से अज्ञ हय ॥१३२॥
पण्डितेर मान्यपात्र, हय पण्डित मानी। तथापि भक्तवात्सल्ये'मनुष्य'-अभिमानी ॥१३३॥

इन्द्र ऐश्वर्य के मद में मतवाला हो रहा था, इसलिये उसकी बुद्धि नाश होगई, उसे अपनी सम्भाल न रही और कहने लगा या समझने लगा कि मैंने श्रीकृष्ण की निन्दा की है, किन्तु सरस्वती देवी ने उसके मुख से श्रीकृष्ण की स्तुति करा दी थी। वाचाल का अर्थ है जो वेदों के प्रवर्त्तक अर्थात् मूल कारण है। वालिश-शब्द का अर्थ है बालकवत् गर्व शून्य। स्तब्ध-शब्द से वे अभिप्रेत हैं जो किसी की वन्दना नहीं करते, सर्व श्रेष्ठ होने से जो अनम्र हैं। जिन से अधिक विज्ञ कोई नहीं, वे अज्ञ हैं। पण्डितों के भी जो मान्य पात्र हैं, वे पण्डित-मानी हैं—ऐसे गुणों युक्त होकर भी जो भक्तवत्सलता के कारण एक साधारण मनुष्य की भांति लीला करते हैं, उन्हें मर्त्य कहते हैं ॥१२६-१६३॥

जरासन्ध कहे—कृष्ण 'पुरुष-अधम'। तोर सङ्गे ना मुझिमु, 'याहि बन्धुहन्' ॥१३४॥
याहा हैते अन्य पुरुष सकल अधम। सेइ 'पुरुषाधम' एइ सरस्वतीर मन ॥१३५॥

वान्धे सभारे ताते अविद्या 'बन्धु' हय। अविद्यानाशक 'बन्धुहन्' शब्दे कय ॥१३६॥
एइमत शिशुपाल करिल निन्दन। सेइ वाक्ये सरस्वती करेन स्तवन ॥१३७॥

श्रीस्वरूप दामोदर जी ने कहा—इन्द्र की भान्ति जरासन्ध ने भी श्रीकृष्ण की निन्दा करते हुए कहा था कि कृष्ण ! तुम पुरुषाधम (पुरुषों में अधम) हो, तुम बन्धुहन (बान्धवों को मारने वाले) हो, मैं तुम्हारे साथ युद्ध नहीं करूंगा। किन्तु सरस्वती ने इन दोनों शब्दों के अर्थ इस प्रकार किये हैं—जिनके सामने अन्यान्य समस्त पुरुष अधम—हीन है, वे भगवान् 'पुरुषाधम' है और जो समस्त का बन्धन करने वाली अविद्या के नाश करने वाले हैं—वे 'बन्धुहन' श्रीकृष्ण हैं। इस प्रकार शिशुपाल ने भी श्रीकृष्ण की निन्दा की थो, किन्तु सरस्वती ने उन्हीं शब्दों में उनकी स्तुति ही करा दी थी ॥१३४-१३७॥

तैछे एइ श्लोके तोमार अर्थे निन्दा आइसे। सरस्वतीर अर्थं शुन, याते स्तुति भासे—॥१३८॥
जगन्नाथ हय कृष्णेर आत्मस्वरूप। किन्तु इहं दारुब्रह्म स्थावर-स्वरूप ॥१३९॥
तांहा सह आत्मता एकरूप हञा। कृष्ण एक-तत्त्व रूप दुइ रूप हञा ॥१४०॥
संसार-तारण हेतु येइ इच्छा शक्ति। ताहार मिलन करि एकता यैछे प्राप्ति ॥१४१॥
सकल संसारि-लोकेर करिते उद्धार। गौर जङ्गमरूपे कैल अवतार ॥१४२॥

श्रीरूप गोस्वामी जी ने कहा—"कवि ! उसी प्रकार तुम्हारे श्लोक-अर्थ में भगवान् की निन्दा आती है, किन्तु मैं तुम्हें सरस्वती देवी के अर्थ सुनाता हूँ, जिन में श्रीभगवान् की स्तुति की गई है—श्रीजगन्नाथ जी श्रीकृष्ण के आत्म स्वरूप हैं। किन्तु यहां श्रीजगन्नाथ जी ने दारुब्रह्म अचल स्वरूप धारण कर रखा है और श्रीकृष्ण जो परतत्व हैं, उन्होंने दो रूप धारण किये हैं—एक श्रीजगन्नाथ रूप, दूसरा श्रीकृष्णचैतन्य रूप। संसार का उद्धार करने को श्रीकृष्ण की जो स्वभाविकी इच्छा है, उसके दो रूपों का मिलन होकर यहां एकता हो रही है अर्थात् एक भाव में श्रीकृष्ण संसार-उद्धार की इच्छा करके श्रीजगन्नाथ रूप में प्रकट हुए हैं और दूसरे भाव में संसार उद्धार की इच्छा कर श्रीकृष्ण, श्रीकृष्णचैतन्य रूप में प्रकट हुए हैं। समस्त संसार का उद्धार करने के लिये श्रीकृष्ण जङ्गम अर्थात् गति शील श्रीगौराङ्ग रूप से अवतीर्ण हुए हैं ॥१३८-१४२॥

जगन्नाथ-दरशने खण्डये संसार। सवदेशेर सब लोक नारे आसिवार ॥१४३॥
श्रीकृष्णचैतन्यगोसाञि देशे देशे याञा। सब लोक निस्तारिल जङ्गमब्रह्म हञा ॥१४४॥
सरस्वतीर अर्थ एइ कैल विवरण। एहो भाग्य तोमार ऐछे करिले वर्णन ॥१४५॥
कृष्णे गालि दिते करे नाम उच्चारण। सेइ नाम हय तार मुक्तिर कारण ॥१४६॥

श्रीजगन्नाथ स्वरूप के दर्शन करने से संसार का बन्धन नष्ट होता है, किन्तु समस्त देशों के सब लोगों का आकर उनके दर्शन प्राप्त करना असम्भव है। इसलिये श्रीकृष्ण दूसरे स्वरूप—श्रीकृष्ण-चैतन्य स्वरूप से देश-देश में भ्रमण करके गतिशील ब्रह्म रूप से सब लोगों का निस्तार करते हैं। इस प्रकार मैंने तुम्हें सरस्वती देवी के अर्थों की व्याख्या सुनाई है। कवि ! यह भी तुम्हारे भाग्य हैं कि तुमने श्रीगौरलीला का जैसे-तैसे वर्णन किया है। श्रीकृष्ण को गालियाँ देते हुए भी जो उनके नाम का उच्चारण करता है, उसी नामोच्चरण से उस व्यक्ति को मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है" ॥१४३-१४६॥

तबे सेइ कवि सभार चरणे पड़िया । सभार शरण लैल दन्ते तृण लैया ॥१४७॥
तबे सब भक्त तारे अङ्गीकार कैला । तार गुण कहि महाप्रभुरे मिलाइला ॥१४८॥
सेइ कवि सब छाड़ि रहिला नीलाचले । गौरभक्तगणकृपा के कहिते पारे ? ॥१४९॥
एइ त कहिल प्रद्युम्न मिश्र विवरण । प्रभु-आज्ञाय कैल कृष्ण कथार श्रवण ॥१५०॥
तार मध्ये कहिल रामानन्देर महिमा । आपने श्रीमुखे प्रभु वर्णे यार सीमा ॥१५१॥

तदनन्तर उस कवि ने सब के चरणों में वन्दना की एवं अति दीन होकर दान्तों में तृण दबा कर उसने सब भक्तों की शरण ग्रहण की । सब भक्तों ने उसे अङ्गीकार कर लिया—अपना लिया एवं उसके गुणों का वर्णन करके उसे श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन कराए । वह कवि सब कुछ त्याग कर नीलाचल में ही निवास करने लगा । श्रीगौर भक्तों की कृपा की महिमा को भला कौन वर्णन कर सकता है ? श्रीकविराज कहते हैं—इस परिच्छेद में मैंने श्रीप्रद्युम्न मिश्र का प्रसङ्ग वर्णन किया है, जिन्होंने श्रीमहाप्रभु जी की आज्ञा से श्रीकृष्ण-कथा का राय रामानन्द जी से श्रवण किया । उसी प्रसङ्ग में श्रीरामानन्द राय जी की महिमा का वर्णन किया है जिसे स्वयं श्रीमहाप्रभु जी ने अपने मुख-कमल से बखान किया है ।

प्रस्ताव पाञा कहिल कविर नाटक-विवरण । अज्ञ हैया श्रद्धाय पाइल प्रभुर चरण॥१५२॥
श्रीकृष्णचैतन्यलीला अमृतेर सार । एक—लीला—प्रवाहे बहे शत-शत धार ॥१५३॥
श्रद्धा करि एइ लीला येइ जन शुने । गौर लीला-भक्ति-भक्त-रसतत्त्व जाने ॥१५४॥
श्रीरूप - रघुनाथ-पदे यार आश । श्रीचैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥१५५॥

प्रसङ्ग पाकर मैंने कवि के नाटक-प्रसङ्ग को भी यहाँ वर्णन किया है, अज्ञ होकर भी जिसने श्रद्धा से श्रीमहाप्रभु जी के चरणों की प्राप्ति कर ली । श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु की लीलाएँ अमृत का सार हैं। उनकी एक-एक लीला में शत-शत धाराएँ प्रवाहित होती हैं । जो व्यक्ति उनको श्रद्धा सहित श्रवण करता है, वही गौरलीला के तत्त्व को, भक्तितत्त्व को, भक्ततत्त्व एवं रसतत्त्व को जान लेता है । श्रीरूपगोस्वामी एव श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी के चरणों की आशा करते हुए श्रीकविराज कृष्णदास गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥१५२-१५५॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां
प्रद्युम्नमिश्रोपाख्यानं नाम
पञ्चम परिच्छेदः ॥५॥

जयगौर

अन्त्य-लीला

षष्ठ परिच्छेद

*

कृपागुणैर्यः सुगृहान्धकूपादुद्धृत्य भङ्गया रघुनाथदासम्।
न्यस्य स्वरूपे विदधेऽन्तरङ्गं श्रीकृष्णचैतन्यममुं प्रपद्ये ॥१॥

जिन्हों ने कृपारूप रज्जु द्वारा सुन्दर गृहरूप अन्धकूप से श्रीरघुनाथदास का चतुरता पूर्वक उद्धार किया एवं उन्हें श्रीस्वरूप-दामोदर के हाथों में अर्पण कर अपना अन्तरङ्ग भक्त कर लिया, उन्हीं श्रीकृष्ण चैतन्य देव की मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥१॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी के पिता विशेष सम्पन्न व्यक्ति थे, धन-सम्पत्ति आदि की कुछ भी कमी न थी, श्रीरघुनाथदास जी उस समस्त सम्पत्ति के एकमात्र भावी अधिकारी थे—ऐसे सुन्दर व सम्पन्न घर से श्रीरघुनाथ दास जी को श्रीमहाप्रभु जी ने अपनी कृपा रज्जु द्वारा खैंच कर बाहर किया एवं उनका उद्धार कर दिया। सुन्दर एवं सम्पन्न गृह को भी यहां अन्धे कुएँ से उपमा दी गई है। कारण कि अन्धे कुएँ में जिस प्रकार महा अन्धकार रहता है एवं उसमें पड़े हुए व्यक्ति को जैसे अनेक प्रकार के जीव-जन्तु काटते और दुख देते हैं और वह असहाय होकर चिल्लाता रहता है कि उसे कोई रस्सी डाल कर बाहर निकाले, ठीक उसी प्रकार धन सम्पति आदि विषय सम्पन्न गृह में भी केवल इन्द्रियतृप्ति की वासना रूप अन्धकार रहता है उसमें भगवदुन्मुखता रूप छोटी सी किरण भी नहीं पहुँच पाती। काम-क्रोधादि एवं त्रितापों की ज्वाला में दिन रात वह व्यक्ति महान दुख भोग करता है। इसलिये यहाँ सुन्दर सम्पन्न गृह को एक अन्धा कूप कहा गया है। श्रीरघुनाथदास जी की ठीक यही अवस्था थी—श्रीमहाप्रभु जी ने अपनी कृपारूप रज्जु द्वारा उनका इस कूप से उद्धार किया। वस्तुतः भगवत् कृपा के विना जीव इस संसार रूप कूप से कभी भी उद्धार को प्राप्त नहीं हो सकता और वह भगवत् कृपा महत्पुरुषों के माध्यम से महत्कृपा के रूप में ही अभिव्यक्त हुआ करती है। यहाँ भी वही बात है, श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीरघुनाथदास जी को गृह कूप से बाहर निकाल कर महत् पुरुष—श्रीस्वरूपदामोदर के हाथ सौप दिया—महत्कृपा प्राप्ति के लिये। फिर उन्हें अपना अन्तरङ्ग पार्षद कर लिया।

इस परिच्छेद में श्रीरघुनाथदासजी का चरित्र वर्णन किया गया है, कविराज गोस्वामी ने उसी का इंगित करते हुए इस श्लोक में परम करुणामय श्रीचैतन्यदेव की वन्दना की है।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द। जयाद्वैतचन्द्र जय गौर भक्तवृन्द ॥१॥
एइमत गौरचन्द्र भक्तगण-सङ्गे। नीलाचले नाना लीला करे नानारङ्गे ॥२॥
यद्यपि अन्तरे कृष्णवियोग बाधये। बाहिरे ना प्रकाशये भक्तदुःख-भये ॥३॥
उत्कट वियोगदुःख यबे बाहिराय। तबे ये वैकल्य प्रभुर वर्णन ना याय ॥४॥
रामानन्देर कृष्णकथा, स्वरूपेर गान। विरहवेदनाय प्रभुर राखये पराण ॥५॥

श्रीश्रीचैतन्यदेव की जय हो, जय हो, श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु जी की जय हो। श्रीअद्वैताचार्य प्रभु एवं श्रीगौर भक्तवृन्द की जय हो, जय हो। इस प्रकार श्रीगौराङ्ग सुन्दर अपने भक्तों के साथ नीलाचल में अनेक भाव-पूर्ण अनेक लीलाएँ करते थे। यद्यपि उन के भीतर हृदय में श्रीकृष्ण का वियोग हर समय वृद्धि को प्राप्त हो रहा था, फिर भी उसे वे बाहर प्रकाशित न करते थे, इसलिये कि उन की विरह वेदना को देख कर निकट वर्ती भक्त जनों को अति दुख होता था। जो छिपाया न जा सकता था—ऐसा उत्कट वियोग दुख जब श्रीमहाप्रभु जी में उछल कर बाहर आ जाता, तब उनकी जो व्याकुलता होती, उस का वर्णन नहीं किया जा सकता। केवल श्रीरामानन्द राय श्रीकृष्ण कथा सुनाकर एवं श्रीस्वरूप गोस्वामी भावानुकूल कृष्ण-गान सुनाकर ही विरह वेदना में व्याकुल श्रीमहाप्रभु जी के प्राणों की रक्षा करते थे ॥१-५॥

दिने प्रभु नानासङ्गे हय अन्यमना। रात्रिकाले बाढ़े प्रभुर विरहवेदना ॥६॥
तांर सुख हेतु सङ्गे रहे दुइ जना। कृष्णरस श्लोक-गीते करेन सान्त्वना ॥७॥
सुबल यैछे पूर्व्वे कृष्ण सुखेर सहाय। गौर सुखदान हेतु तैछे रामराय ॥८॥
पूर्व्वे यैछे राधार सहाय ललिता प्रधान। तैछे स्वरूपगोसाञि राखे महाप्रभुर प्राण॥९॥
एइ दुइजनार सौभाग्य कहने ना याय। "प्रभुर अन्तरङ्ग" करि यांरे लोके गाय ॥१०॥

दिन के समय तो अनेक भक्तों के आने-जाने से प्रभु का मन अनेक कथाओं में लगा रहता। किन्तु रात के समय उनकी विरह-वेदना अत्यन्त बढ़ जाती थी। उन्हें सुख देने के लिये रात में दो जने उनके साथ रहते और श्रीकृष्ण कथा—रसमय श्लोक व गीत प्रभु को सुनाकर उन्हें सान्त्वना देते रहते। ब्रजलीला में जैसे श्रीसुबल श्रीकृष्ण का सुख विधान करते थे, उसी प्रकार श्रीरामानन्द राय श्रीगौर-सुन्दर का सुख प्रदान किया करते और वहाँ जैसे श्रीललिता जी श्रीराधारानी की कृष्ण-विरह-वेदना में प्रधान सहायक होतीं, यहां उसी प्रकार श्रीस्वरूप गोस्वामी श्रीमहाप्रभु जी के कृष्ण-विरह वेदना में प्राणों की रक्षा करते। श्रीरामानन्द राय एवं श्रीस्वरूप दामोदर— इन दोनों के सौभाग्यों का वर्णन नहीं किया जा सकता। इन्हें सब लोग "श्रीमहाप्रभु जी के अन्तरङ्ग-भक्त" कहते हैं ॥६-१०॥

चै० च० चु० *टीका*—उपर्युक्त पयार में कहा गया है कि ब्रज लीला में जैसे श्रीसुबल श्रीकृष्ण को राधा-विरह व्याकुल दशा में सुख देते थे, श्रीरामानन्द राय भी उसी प्रकार श्रीगौरचन्द्र को सान्त्वना या सुख प्रदान करते थे। इससे दो बातों का इङ्गित मिलता है—एक तो श्री रामानन्द राय में श्रीसुबल की भावापन्नता, दूसरे श्रीगौर सुन्दर में श्रीकृष्ण-भावापन्नता।

श्रीराय रामानन्द जी के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है (मध्यलीला अष्टम परिच्छेद द्रष्टव्य) कि वे ब्रजलीला में विशाखा सखी थे। गौरगणोद्देशदीपिका में श्रीरामानन्द राय जी को ब्रज के

प्रियनर्मसखा अर्जुन, पाण्डुपुत्र अर्जुन, ललिता व अर्जुनीया गोपी का मिलित स्वरूप कह कर वर्णन किया गया है और श्री ध्यानचन्द्र गोस्वामी पाद ने इन्हें ब्रज की विशाखा-सखी बताया है। यहां इन्हें सुबल भावापन्न कहकर वर्णन किया गया है —ये सब मत मान्य एवं प्रामाणिक ही हैं इन विविध मतों को देख कर यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रजलीला के अनेक जनों के भाव गौरलीला में एक व्यक्ति में अवस्थान करते हैं और ब्रजलीला के एक जने का भाव गौरलीला में अनेक व्यक्तियों में अभिव्यक्त होता है। इसलिये श्रीरामानन्द जी में सुबल का भाव भी सङ्गत है।

इसी प्रकार श्रीगौरचन्द्र में नीलाचल में कृष्ण-भाव की भी अभिव्यक्ति होती थी, यह भी मान्य है। चाहे नीलाचल की गम्भीरा लीला में कविराज गोस्वामी पाद ने श्रीगौराङ्ग में श्रीकृष्ण-भाव का प्रकाश कहीं भी वर्णन नहीं किया है, तथापि नवद्वीप लीला में उन में श्रीकृष्ण भाव सर्वथा अप्रकट था— यह बात नहीं है। नवद्वीप लीला में श्रीगौराङ्ग सुन्दर ने दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर इन समस्त रसों का आस्वादन किया है। नीलाचल में श्रीगौराङ्ग में श्रीराधाभाव की प्रबल प्रधानता थी-- इसलिये कविराज ने उनके श्रीकृष्ण भाव के विषय में कुछ भी वर्णन नहीं किया। श्रीमन्महाप्रभु स्वरूपतः श्रीकृष्ण ही तो हैं, उनका कृष्ण-भाव स्वरूपगत है। वे एक स्वरूप में प्रेम के विषय एवं आश्रय दोनों ही हैं। इसलिये उनमें कृष्ण-भाव की अभिव्यक्ति अस्वाभाविक नहीं है।

सारांश यह है कि जब श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्ण-भाव में श्रीराधा जी के विरह में व्याकुल होते, तब श्रीरामानन्द जी सुबल-भाव में उनकी सान्त्वना करते और जब वे श्रीराधा-भाव में श्रीकृष्ण के विरह में अधीर हो उठते तब श्रीरामानन्द जी विशाखा-भाव में उनको धीर बन्धाते थे। उक्त पयार की इसी अभिप्राय में ही सङ्गति है।

ब्रजलीला में जब श्रीराधा जी श्रीकृष्ण-विरह में व्याकुल हो उठती थीं तो श्रीललिता जी उन्हें सान्त्वना दिया करती थीं, उसी प्रकार श्रीमहाप्रभु जी जब राधा-भाव में श्रीकृष्ण–विरह-वेदना में कातर हो उठते तब श्रीस्वरूप दामोदर जो ब्रजलीला की श्रीललिता सखी हैं, उन्हें सान्त्वना दिया करते। गौरगुणोद्देशदीपिका में श्रीस्वरूप दामोदर जी को श्रीविशाखा–सखी कह कर वर्णन किया है। अतः ज्ञात होता है श्रीस्वरूप दामोदर जी में श्रीललिता व श्रीविशाखा–इन दोनों के भावों की अभिव्यक्ति थी।

श्रीललिता जी, श्रीविशाखा जी अथवा श्रीसुबल आदि श्रीकृष्ण के अन्तरङ्ग पार्षद हैं, इसलिये श्रीरामानन्द जी तथा श्रीस्वरूप-दामोदर जी को, जो श्रीललिता–विशाखादि--भावापन्न थे, प्रभु का अन्तरङ्ग पार्षद कह कर वर्णन किया गया है।

एइ मत बिहरे गौर लञा भक्तगण। एबे शुन भक्तगण! रघुनाथ मिलन ॥११॥

पूर्वे शान्तिपुरे रघुनाथ यबे आइला। महाप्रभु कृपा करि तारे शिक्षाइला ॥१२॥

प्रभुर शिक्षाते तेंहो निज घरे याय। मर्कट वैराग्य छाड़ि हैला बिषयीरप्राय ॥१३॥

भितरे वैराग्य, बाहिरे करे सर्व कर्म। देखिया त माता-पितार आनन्दित मन ॥१४॥

इस प्रकार श्रीगौर सुन्दर अपने भक्तों के साथ विहार करते हैं। कविराज गोस्वामी कहते हैं— "हे भक्तगण! अब श्रीमहाप्रभु जी के साथ श्रीरघुनाथदास जी का मिलन प्रसङ्ग सुनिये। पहले श्रीरघुनाथ दास जब शान्तिपुर में श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन करने आए थे, तब श्रीमहाप्रभु जी ने उन्हें शिक्षा दी थी। (मध्यलीला १६-२३५, २३७ पयार द्रष्टव्य) प्रभु की शिक्षा पाकर वे अपने घर को वापस लौट

गये थे। गृहासक्त व्यक्ति की भान्ति घर में निवास करने लगे थे। भीतर से उन्हें सब विषयों से पूर्ण वैराग्य था, किन्तु बाहर से वे सब काम–काज करते थे। उन्हें देख कर उनके माता–पिता का मन अति प्रसन्न हो गया था (कि रघुनाथ अब स्थिर हो गया है—घर बार छोड़ कर भागने की अब चेष्टा नहीं करेगा।) ।।११-१४।।

'मथुरा हइते प्रभु आइला' वार्त्ता यबे पाइल । प्रभु पाशे चलिवारे उद्योग करिल ।।१५।।
हेनकाले मुलुकेर एक म्लेच्छ अधिकारी । सप्तग्राम-मुलुकेर से हय चौधुरी ।।१६।।
हिरण्यदास मुलुक निल मोकता करिया । तार अधिकार गेल, मरे से देखिया ।।१७।।
बार लक्ष देन राजाय, साधेन विशलक्ष । सेइ तुड़ुक किछु ना पाञा हैल प्रतिपक्ष ।।१८।।
राज घरे कैफिति दिया उजीर आनिल । हिरण्यमजुमदार पलाइल,रघुनाथेरे बान्धिल।।१९।।

"श्रीमहाप्रभु मथुरा-यात्रा करके वापस नीलाचल लौट आए हैं"—यह समाचार जब श्रीरघुनाथदास जी को मिला, तब उन्होंने नीलाचल चलने के लिये यत्न किया। उस समय सप्तग्राम रियासत का चौधरी या अधिकारी एक मुसलमान था (वह मुगल सम्राट की अधीनता अवश्य स्वीकार करता था, किन्तु राजस्व या कर कुछ भी अदा न किया करता था।) श्रीहिरण्यदास जी ने सम्राट को बारह लाख रुपया राजस्व के रूप में अदा करने का बचन देकर उस सप्तग्राम के अधिकार की लिखा–पढ़ी कर ली थी। वह मुसलमान चौधरी हाथ में से सप्तग्राम के अधिकार निकल जाने से श्रीहिरण्यदास जी का शत्रु बन गया था और ईर्ष्यावश जला–मरा करता था। श्रीहिरण्यदास जी को कुल आय बीस लाख रुपये की उस रियासत से होती थी किन्तु वे बारह लाख रुपया राजस्व के रूप में जमा कराते थे (आठ लाख रुपये की उन्हें प्रति वर्ष बचत होती थी।) उस मुसलमान चौधरी को वे उस लाभ में से कुछ भी न देते थे। इसलिये उसने सम्राट के पास श्रीहिरण्यदास की रिपोर्ट कर दी एवं सम्राट के मुख्य मन्त्री को साथ ले आया। श्रीहिरण्यदास (एवं श्रीगोवर्धनदास) उस मन्त्री को आया जान कर वहाँ से भाग निकले। उसने श्रीरघुनाथदास जी को बन्धन में डाल दिया (एवं भूतपूर्व मुसलमान चौधरी के अधिकार में उन्हें दे दिया।) ।।१५-१९।।

प्रतिदिन रघुनाथे करये भर्त्सना । बाप-ज्येठा आनह, नहे पाइबि यातना ।।२०।।
मारिते आनये यदि देखे रघुनाथे । मन फिरि याय, ताते ना पारे मारिते ।।२१।।
विशेषे कायस्थवृत्ति अन्तरे करे डर । मुखे तर्ज्ज-गर्ज्ज करे, मारिते सभय अन्तर ।।२२।।

वह चौधरी प्रतिदिन श्रीरघुनाथदास जी को फटकारता कि तुम अपने पिता (श्रीगोवर्धनदास) एवं ज्येठा (श्रीहिरण्यदास) को हमारे हवाले करो, नहीं तो तुम्हें दण्ड दिया जाएगा। श्रीरघुनाथदास को मार–पीट करने के लिये जब वह बुलवाता, तो उनको देखते ही उसका मन बदल जाता। उन पर उसका हाथ न उठ सकता—उन्हें मार न सकता था। विशेषत: वह चौधरी कायस्थ जाति से बहुत भय मानता था (श्रीरघुनाथदास जी कायस्थ जाति थे उनके पिता एवं ज्येठा अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि थे और प्रतिष्ठावान तथा लोक प्रिय थे—उनसे वह चौधरी डरता था।) इसलिये मुँह–जबानी वह श्रीरघुनाथदास जी को धमकाता रहता था किन्तु आन्तरिक भय से उन्हें मार–पीट न कर सकता था ।।२०-२२।।

तबे रघुनाथ किछु चिन्तिल उपाय। विनति करिया बोले सेइ म्लेच्छ पाय ॥२३॥
आमार पिता-ज्येठा हय तोमार दुइभाइ। भाइ-भाइ कलह करह सर्वथाइ ॥२४॥
कभु कलह कभु प्रीत, इहार निश्चय नाञि। कालि पुन तिनभाइ हवे एकठाञि ॥२५॥
आमि यैछे पितार, तैछे तोमार बालक। आमि तोमार पाल्य, तुमि आमार पालक ॥२६॥
पालक हञा पाल्येरे ताड़िते ना जुयाय। तुमि सर्वशास्त्र जान जिन्दापीर प्राय ॥२७॥

तब श्रीरघुनाथदास जी ने एक उपाय सोचा और विनीत होकर उस यवन–चौधरी से कहने लगे—"चौधरी ! मेरे पिता, मेरे ज्येठा तुम्हारे भाई हैं, भाई-भाई आपस में सदा लड़ा ही करते हैं। कभी लड़ते हैं, कभी प्रेम करते हैं, एक बात निश्चित नहीं रहती। आज आप लड़ रहे हो, कल तुम तीनों भाई फिर एक–मन हो जावोगे। जैसे मैं अपने पिता के आगे बालक हूँ, उसी प्रकार आपके आगे भी बालक हूँ। मैं आपकी सन्तान हूँ और आप मेरे माता-पिता तुल्य हैं। पालक होकर सन्तान को ताड़ना शोभा नहीं देता है, आप तो जिन्दा पीर (जीवन मुक्त सिद्ध) की भान्ति सर्व शास्त्रों की जानते ही हैं ॥२३-२७॥

एत शुनि सेइ म्लेच्छेर मन आर्द्र हैल। दाड़ि वाहि अश्रु पड़े कान्दिते लागिल ॥२८॥
म्लेच्छ कहे,आजि हैते तुमि मोर पुत्र। आजि छाड़ाइमु तोमा करि एक सूत्र ॥२९॥
उजीरे कहिया रघुनाथे छोड़ाइल। प्रीत करि रघुनाथे कहिते लागिल ॥३०॥
तोमार ज्येठा निर्बुद्धि, अष्ट लक्ष खाय। आमिहो भागी,आमारे किछु दिवारे जुयाय॥३१॥
याह तुमि, तोमार ज्येठा मिलाह आमारे। येइ भाल हय करुन, भार दिल तारे ॥३२॥
रघुनाथ आसि तबे ज्येठा मिलाइल। म्लेच्छ सहित अन्वरस सब शान्त हैल ॥३३॥

श्रीरघुनाथदास जी के वचन सुन कर चौधरी का मन पसीज गया और नेत्रों से जल बहा कर इतना रोया कि उसकी दाढ़ी भीज गई। वह कहने लगा—"रघुनाथ ! आज से तुम मेरे पुत्र हो। मैं आज एक चतुराई से तुम्हें छुड़वा दूंगा।" तब उसने मुख्य. मन्त्री से कुछ कह कर श्रीरघुनाथदास जी को मुक्त करा दिया और प्रीति-पूर्वक श्रीरघुनाथदास जी से कहने लगा—देखो, तुम्हारे ज्येठा निर्बुद्धि हैं, आठ लाख रुपये की उन्हें प्रतिवर्ष बचत होती है। मैं भी उनका भागीदार हूं, उस आय में से कुछ भाग उन्हें मुझे भी देना उचित है। तुम जाओ और मुझे अपने ज्येठा से मिलाओ। जो तुम्हें उचित दीखे वही करो अर्थात् कुछ भाग मुझे भी दिलवाओ—यह सब भार मैं तुम्हें सौंपता हूँ। फिर श्रीरघुनाथदास जी ने उसे अपने ज्येठा से मेल करा दिया। इस प्रकार मुसलमान चौधरी से जो झगड़ा था, वह सब शान्त हो गया ॥२८-३३॥

एइमत रघुनाथेर वत्सरेक गेल। द्वितीय वत्सरे पलाइते मन कैल ॥३४॥
रात्र्ये उठि एकला चलिल पालाइया। दूरे हैते पिता तारे आनिल धरिया ॥३५॥
एइमत बार बार पालाय, धरि आने। तबे तार माता कहे तार पितार स्थाने ॥३६॥
पुत्र वातुल हैल,इहाय राखह बान्धिया। तार पिता कहे तारे निर्विण्ण हइया ॥३७॥
इन्द्रसम ऐश्वर्य, स्त्री अप्सरा सम। ए-सब बान्धिते यार नारिलेक मन ॥३८॥

दड़ीर वन्धने तारे राखिवे केमते ? जन्मदाता पिता नारे प्रारब्ध घुचाइते ॥३६॥
चैतन्यचन्द्रे'र कृपा हैयाछे इहारे । चैतन्यचन्द्रे'र बातुल के राखिते पारे ? ॥४०॥

इस प्रकार श्रीरघुनाथदास जी को एक वर्ष घर में रहते हुए बीत गया, दूसरे वर्ष लगते ही उनका मन घर छोड़ कर भागने को चञ्चल हो उठा। एक दिन रात को उठ कर वहाँ से अकेले भाग निकले। पिता जी ने बहुत दूर से इन्हें पकड़ कर वापस घर में लौटाया। इस प्रकार श्रीरघुनाथ जी बार-बार घर से भाग निकलते और हर बार उनके पिता जी उन्हें फिर पकड़ लाते। तब एक दिन श्रीरघुनाथ जी की माता ने उनके पिता जी से कहा—"रघुनाथ पागल हो गया है, आप इसे बान्ध कर रखो"। उनके पिता जी ने दुखित होकर कहा—"इन्द्र के समान ऐश्वर्य (धन-सम्पत्ति) और अप्सरा के समान परम सुन्दरी स्त्री जिसके मन को नहीं बान्ध सके—वश में नहीं कर सके, उसे कोई रस्सी से वांध कर अपने बन्धन में रख सकता है ? पिता पुत्र का जन्मदाता तो होता है किन्तु पुत्र की प्रारब्ध को (पूर्वजन्म के फलोन्मुख कर्मों को) नहीं मेट सकता। यह पागल नहीं हो गया है, इस पर श्रीचैतन्यचन्द्र की कृपा हो चुकी है (जिस से इसे संसार से वैराग्य हो गया है) उस श्रीचैतन्यचन्द्र के पागल व्यक्ति को कोई अपने बन्धन में रख सकता है क्या ? ॥३४-४०॥

तबे रघुनाथ किछु विचारिला मने । नित्यानन्द गोसाञि पाश चलिला आर दिने॥४१॥
पानिहाटि ग्रामे पाइल प्रभुर दर्शन । कीर्त्तनीया सेवकगण सङ्गे बहुजन ॥४२॥
गङ्गातीरे वृक्षमूले पिण्डिर उपरे । वसि आछेन येन कोटिसूर्य्योदय करे ॥४३॥
तले उपरे बहुभक्त हञाछे वेष्टित । देखिया प्रभुर प्रभाव रघुनाथ विस्मित ॥४४॥
दण्डवत हञा सेइ पड़िला कथोदूरे । सेवक कहे, रघुनाथ दण्डवत करे ॥४५॥

(श्रीरघुनाथदास जी बार-बार घर से श्रीमन्महाप्रभु जी के मिलने के लिये भाग निकलते थे, किन्तु पिता उन्हें पकड़ लाते और वे प्रभु की प्राप्ति न कर सकते। उन्होंने फिर मन में विचार किया कि स्वतन्त्र रूप से प्रभु की प्राप्ति असम्भव है, यदि श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु की कृपा हो जाये, तब ही श्रीमहा-प्रभु जी के चरण प्राप्त हो सकेंगे,) ऐसा विचार कर श्रीरघुनाथदास जी श्रीनित्यानन्द प्रभु जी के दर्शनों को घर से चल पड़े। पानिहाटी गाँव में आकर उन्होंने उनके दर्शन प्राप्त किये। श्रीनित्यानन्द प्रभु अनेक कीर्त्तनीयों एवं भक्तों के साथ गङ्गा के किनारे एक वट-वृक्ष के नीचे वेदी पर विराजमान थे, मानो कोटि-कोटि सूर्यों का प्रकाश हो रहा था। वेदी (चबूतरे) के ऊपर नीचे प्रभुपाद अनेक भक्तों से वेष्टित हो रहे थे। उनके इस प्रभाव को देख कर श्रीरघुनाथदास जी विस्मित हो उठे। श्रीप्रभुपाद को देखते ही उन्होंने दूर से दण्डवत् प्रणाम किया। सेवक ने श्रीप्रभुपाद से कहा कि "रघुनाथदास आपको प्रणाम कर रहे हैं"।

शुनि प्रभु कहे, चोरा ! दिलि दरशन । आय आय आजि तोर करिमु दण्डन ॥४६॥
प्रभु बोलाय, तेंहो निकट ना करे गमन । आकर्षिया तार माथे प्रभु धरिल चरण ॥४७॥
कौतुकी नित्यानन्द सहजे दयामय । रघुनाथे कहे किछु हइया सदय ॥४८॥
निकट ना आइस मोर, भाग दूरे दूरे । आजि लागि पाइयाछों, दण्डिमु तोमारे ॥४६॥
दधि चिड़ा भक्षण कराह मोर गणे । शुनि आनन्दित हैल रघुनाथ मने ॥५०॥

सेवक के वचन सुन कर श्रीप्रभुपाद ने कहा—"अरे चोर ! आज तूने दर्शन दिये हैं, आ ! आ !! आज मैं तुझे दण्ड दूंगा।" श्रीप्रभुपाद इस प्रकार उन्हें अपने निकट बुला रहे थे, किन्तु वह उनके पास न जाते थे। तब श्रीप्रभुपाद ने स्वयं उठ कर श्रीरघुनाथदास को अपने हाथ से खेंचा और उनके माथे पर अपने चरण धर दिये। श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु कौतुकी हैं एवं सहज-दयामय हैं अर्थात् दया उनका सहज-स्वभाव ही है। श्रीप्रभुपाद कृपा पूर्वक श्रीरघुनाथदास से कहने लगे—"रघुनाथ ! तू मेरे निकट नहीं आता था, दूर-दूर भाग रहा था, आज तू मेरे हाथ आया है, मैं तुझे दण्ड दूंगा। मेरे भक्तों को तुझे दधि-चिड़ा (चिउड़ा) का भोजन कराना होगा।" प्रभु के यह वचन सुन कर श्रीरघुनाथदास का मन अति आनन्दित हुआ ॥ ४६-५० ॥

चै० च० चु० *टीका*:—श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु जी ने श्रीरघुनाथदास जी को 'चोर' कह कर पुकारा है—यह उनकी अत्यन्त स्नेहपूर्ण उक्ति है। श्रीगौरसुन्दर के चरणों की प्राप्ति की अभिलाषा करने वाला व्यक्ति श्रीनित्यानन्द प्रभु जी का परम स्नेहपात्र होता ही है, कारण कि श्रीनित्यानन्द प्रभु श्रीचैतन्यदेव की कृपा का मूर्त्त-विग्रह हैं। चोर कहने का रहस्य यह है कि श्रीनित्यानन्दप्रभु जी का सर्वस्वधन हैं—प्राण-धन हैं—श्रीश्रीगौरसुन्दर ! श्रीरघुनाथदास जी अब तक श्रीनित्यानन्द प्रभु से बिना मिले, बिना पूछे, बिना उनकी कृपा प्राप्त किये उनके सर्वस्व-धन—श्रीगौरचरण की प्राप्ति करना चाहते थे। वे श्रीप्रभुपाद का आनुगत्य स्वीकार किये बिना श्रीगौर-चरण को पाने की चेष्टा कर रहे थे, अतः उन्हें श्रीनित्यानन्द प्रभुपाद ने स्नेहपूर्ण शब्दों में चोर कह कर पुकारा।

उनकी श्रीगौरचरण-प्राप्ति की तीव्र उत्कण्ठा देखकर श्रीप्रभुपाद ने उन्हें अपने हाथों से खेंचा और अपने चरणों को उनके शिर पर धारण कर दिया—यह है उनकी असीम दया।

सेइ क्षणे निजलोक पाठाइल ग्रामे। भक्ष्य द्रव्य लोक सब ग्राम हैते आने ॥५१॥
चिड़ा दधि दुग्ध सन्देश आर चिनि कला। सब आनि प्रभु आगे चौदिगे धरिला ॥५२॥
'महोत्सव' नाम शुनि ब्राह्मण-सज्जन। आसिते लागिल लोक असंख्य गणन ॥५३॥
आर आर ग्राम हैते सामग्री मागाइल। शत दुइ चारि होलना ताहां आनाइल ॥५४॥

श्रीरघुनाथदास जी ने उसी समय अपने सेवकों को गाँव में भेजा। खाने की सामग्री एवं अनेक धन वे गाँव से ले आए। उन्होंने चिड़ा-दधि, दूध, चीनी केला और सन्देश सब व्यञ्जन लाकर श्रीप्रभुपाद के पास रख दिये। महोत्सव का नाम सुन कर असंख्य लोग वहां जमा होने लगे एवं और-और गाँवों से भी सामग्री मँगाई गई। दो-चार सौ सकोरे (मिट्टी के पात्र दधि-चिड़ा खाने के लिये) मँगाये गये।

बड़ बड़ मृत्कुण्डिका आनाइल पाँच-साते। एक विप्र प्रभु लागि चिड़ा भिजाय ताते ॥५५॥
एक ठाञि तप्तदुग्धे चिड़ा भिजाइया। अर्द्धेक सानिल दधि चिनि कला दिया ॥५६॥
आर अर्द्धेक घनावर्त्त-दुग्धे त सानिल। चांपाकला चिनि घृत कर्पूर ताते दिल ॥५७॥
धूति परि प्रभु यदि पिंड़िते वसिला। सातकुण्डी विप्र तांर आगेते धरिला ॥५८॥
चौतरा उपरे यत प्रभुर निज गण। बड़ बड़ लोक वसिला मण्डलीबन्धन ॥५९॥

पाँच-सात बड़ी-बड़ी मृतिका की कुण्डी मंगाई गईं और एक ब्राह्मण ने प्रभु के लिये उनमें चिड़ा भिगो दिया। एक जगह तो गरम दूध में चिड़ा भिगोया और बाकी के आधे चिउड़े में दधि, चीनी एवं

केला मिला दिया और बाकी आधे को अधरोटा में भिगोया। उस में चाँपाकेला (एक उत्तम प्रकार का केला) चीनी, घी एवं कपूर मिला दिया। श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु नवीन धोती धारण कर वेदी पर विराजमान हो गये और ब्राह्मण ने सात कुण्डियाँ प्रभु के आगे लाकर रख दीं। प्रभुपाद के जो निज-भक्त थे एवं और भी जो बड़े-बड़े लोग थे, वे वेदी पर मण्डली बान्ध कर बैठ गये ।।५५-५६।।

रामदास ठाकुर सुन्दरानन्ददास गङ्गाधर। मुरारि कमलाकर सदाशिव पुरन्दर ।।६०।।
धनञ्जय जगदीश परमेश्वर दास । महेश गौरीदास आर होड़ कृष्णदास ।।६१।।
उद्धारणदत्त आदि यत निजगण। उपरे वसिला सब, के करे गणन ? ।।६२।।
शुनि पण्डित भट्टाचार्य यत विप्र आइला। मान्य करि प्रभु सभाय उपरे वसाइला ।।६३।।
दुइ-दुइ मृत्कुण्डिका सभार आगे दिल। एके दुग्धचिड़ा आरे दधिचिड़ा कैल ।।६४।।

श्रीरामदास ठाकुर, श्रीसुन्दरानन्ददास, श्रीगङ्गाधर, श्रीमुरारि, श्रीकमलाकर, श्रीसदाशिव, श्रीपुरन्दर, श्रीधनञ्जय, श्रीजगदीश, श्रीपरमेश्वरदास, श्रीमहेश, श्रीगौरीदास, श्रीकृष्णदास होड़ और उद्धारणदत्त आदि जो प्रभुपाद के निज पार्षद थे और भी असंख्य भक्तों को प्रभु ने वेदी के ऊपर बैठाया। पण्डित, भट्टाचार्यगण एवं ब्राह्मण जो वहाँ महोत्सव सुन कर आए थे उन सब को भी प्रभु ने सम्मान पूर्वक ऊपर बैठाया। दो-दो कुण्डिका सब के आगे धर दी गईं। एक में दुग्ध-चिड़ा–और दूसरी में दधि–चिड़ा परोस दिया गया ।।६०-६४।।

आर यत लोक सब चौतरा तलाने। मण्डली बन्धने वैसे नाहिक गणने ।।६५।।
एकेक जनेरे दुइ-दुइ होलना दिल। दधिचिड़ा दुग्धचिड़ा दुइते भिजाइल ।।६६।।
कोन कोन विप्र उपरे ठाञि ना पाइया। दुइ होलनाय चिड़ा भिजाय गङ्गातीरे याञा।।६७।।
तीरे स्थान न पाइया आर कथोजन। जले नाम्बि करे दधि-चिपिटक भक्षण ।।६८।।
केहो उपरे, केहो तले, केहो गङ्गातीरे। विशजना तिन ठाञि परिवेशन करे ।।६९।।

और जितने लोग थे, वे सब चौतड़ा के नीचे मण्डली बांध कर बैठ गये, उनकी गणना नहीं हो सकती। एक-एक व्यक्ति के आगे दो-दो सकोरे रखे गये, उन्होंने एक में दधिचिड़ा और एक में दुग्ध-चिड़ा भिजो लिया। किसी-किसी ब्राह्मण को चौंतड़े पर स्थान न मिला, तो वह अपने सकोरे लेकर गङ्गा के किनारे चला गया और वहाँ ही जाकर उसने अपने चिड़ा भिजो लिये। जिसको किनारे पर स्थान न मिला, वह पानी में ही उतर गया और वहाँ ही दधि चिपिटक (चिड़ा) खाने लगा। कोई ऊपर, कोई नीचे, कोई गङ्गा किनारे सब लोग बैठ गये, तब बीस व्यक्ति तीनों जगह परिवेशन करने लगे ।।६५-६९।।

हेन काले आइला ताहां राघव पण्डित। हासिते लागिला देखि हइया विस्मित ।।७०।।
निशक्ड़ि नानामत प्रसाद आनिल। प्रभुरे आगे दिया भक्तगणे बांटि दिल ।।७१।।
प्रभुरे कहे—'तोमा लागि बहु भोग लगाइल। इहां उतसव कर, घरे प्रसाद रहिल ।।७२।।
प्रभु कहे, ए द्रव्य दिने करिये भोजन। रात्र्ये तोमार घरे प्रसाद करिव भोजन ।।७३।।
गोपजाति आमि, बहु गोपगण सङ्गे। आमि सुख पाइ ए पुलिन भोजन-रङ्गे ।।७४।।

इसी समय वहाँ श्रीराघव पण्डित आ पहुंचे और यह सब देखकर वह विस्मित हो गये। उन्होंने अनेक प्रकार के फल मूलादि प्रसाद लाकर प्रभु पाद के आगे परोसा और सब भक्तों में भी बांट दिया। श्रीराघव पण्डित ने कहा—"प्रभु! यहां तो आप बड़ा भारी भोग लगा रहे हैं और उत्सव कर रहे हैं, वहाँ मेरे घर आप के लिये प्रसाद रखा है",। प्रभु पाद ने कहा—"इन सब पदार्थों का भोजन अब दिन में कर लूंगा और रात को तुम्हारे घर में जो प्रसाद रखा है, उसे पा लूंगा। मैं गोप जाति हूं, इस प्रकार अनेक गोपगणों के साथ एक स्थान पर बैठ कर पुलिन-भोजन-उत्सव में मुझे बहुत सुख मिलता है"॥७०-७४॥

राघवेरे वसाइ दुइ कुण्डी देयाइल। राघव द्विविध चिड़ा ताते भिजाइल॥७५॥
सकल लोकेर चिड़ा सम्पूर्ण यवे हैल। ध्याने तबे प्रभु महाप्रभुरे आनिल॥७६॥
महाप्रभु आइला देखि निताइ उठिला। तांरे लञा सभार चिड़ा देखिते लागिला॥७७॥
सकल कुण्डो-होलनार चिड़ा एकेक ग्रास। महाप्रभुर मुखे देन करि परिहास॥७८॥
हासि महाप्रभु आर एकग्रास लञा। तार मुखे दिया खाओयाय हासिया-हासिया॥७९॥
एइमत नित्यानन्द वेड़ाय सकल मण्डले। दाण्डाइया रङ्ग देखे वैष्णव सकले॥८०॥

श्रीप्रभु पाद ने श्रीराघव पण्डित को भी वहाँ बैठाया और दो कुण्डी उनके आगेभी रखवादीं। श्रीराघव ने दोनों प्रकार का चिड़ा उनमें भिजो दिया। जब सब लोगों के सामने चिड़ा सम्पूर्ण भाव से परोस दिया गया, तब प्रभु पाद ने ध्यान करके श्रीमहाप्रभु जी का वहां आह्वान किया (वे वहाँ आविर्भूत होगये) श्रीमहाप्रभु जी को आया देख कर श्रीनित्यानन्द प्रभु उठ खड़े हुए, उनको साथ लेकर प्रभु पाद सब का चिड़ा देखने लगे। श्रीनित्यानन्द प्रभु सब की कुण्डी एवं सकोरे में से एक-एक ग्रास लेकर परिहास करते हुए श्रीमहाप्रभु जी के मुख में देने लगे। श्रीमहाप्रभु जी भी एक और ग्रास लेकर हास्यपूर्वक श्रीनित्यानन्द जी के मुख में देने लगे। इस प्रकार प्रभु पाद सब मण्डलियों में भ्रमण करने लगे और सब वैष्णव खड़े होकर प्रभु पाद की लीला का दर्शन करने लगे॥७५-८०॥

कि करिया बेड़ाय, इहा केहो नाहि जाने। महाप्रभुर दर्शन पाय कोन भाग्यवाने॥८१॥
तब आसि नित्यानन्द आसने वसिला। चारि कुण्डी आरोया चिड़ा डाहिने राखिला॥८२॥
आसन दिया महाप्रभुरे ताहां बसाइला। दुइभाइ तबे चिड़ा खाइते लागिला॥८३॥
देखि नित्यानन्द प्रभु आनन्दित हैला। कत कत भावावेश प्रकाश करिला॥८४॥
आज्ञा दिल, 'हरि' बलि करह भोजन। 'हरि'-'हरि'-ध्वनि उठि भरिल भुवन॥८५॥

श्रीनित्यानन्द प्रभु क्या करते हुए घूम रहे हैं, यह बात कोई भी नहीं जानता था। (वे श्रीमहाप्रभु जो के साथ घूम रहे हैं—इसे कोई भी न जान सका,) किसी भाग्यवान् व्यक्ति को ही श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन मिलते हैं। इधर-उधर भ्रमण करके श्रीप्रभु पाद अपने आसन पर आकर बैठ गये। अमनिया चिड़ा की चार कुण्डी उन्होंने अपनी दाहिनी ओर रखी और आसन देकर श्रीमहाप्रभु जी को वहाँ विराजमान कर दिया। दोनों भाई चिड़ा का भोजन करने लगे। श्रीप्रभु पाद श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन कर बहुत आनन्दित हुए, और अनेक भावों का आवेश उनमें प्रकाशित होने लगा। उन्हों ने सब को आज्ञा दी कि 'हरि'—बोल कर भोजन करिये, सब ने 'हरि-हरि' बोला जिससे आकाश गूंज उठा॥८१-८५॥

'हरि-हरि' बलि वैष्णव करये भोजन । पुलिन-भोजन सभार हइल स्मरण ।।८६।।
नित्यानन्द प्रभु महा कृपालु उदार । रघुनाथेर भाग्ये एत कैल अङ्गीकार ।।८७।।
नित्यानन्द प्रभाव कृपा जानिवे कोन जन? । महाप्रभु आनि कराय पुलिन भोजन ।।८८।।
श्रीरामदासादि गोप प्रेमाविष्ट हैला । गङ्गातीरे 'यमुना-पुलिन' ज्ञान कैला ।।८९।।
'महोत्सव'शुनि पसारि ग्राम ग्राम हैते । चिड़ादधि सन्देश कला आनिल बेचिते ।।९०।।

सब वैष्णव 'हरि-हरि' बोल कर भोजन करने लगे । सब को पुलित-भोजन की स्मृति हो आई (श्रीकृष्ण अपने सखाओं के साथ यमुना किनारे जैसे मण्डलाकार बैठ कर भोजन किया करते थे उसी दृश्य की सब को याद आने लगी ।) श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु महान् कृपालु एवं उदार हैं, श्रीरघुनाथदास जी के परम भाग्य हैं कि उनकी इतनी सेवा प्रभु पाद ने अङ्गीकार की है, श्रीनित्यानन्द प्रभु पाद की महिमा के प्रभाव को भला कौन जान सकता है, जिन्होंने ध्यान-ध्यान में श्रीमहाप्रभु जी को नीलाचल से बुलाकर पुलिन-भोजन करा दिया । श्रीरामदासादि वैष्णवों को तो गोप-प्रेम (सख्य-प्रेम) का आवेश हो उठा और वे गङ्गा किनारे बैठे हुए भी अपने को यमुना-पुलिन में बैठा जानने लगे । महोत्सव की बात सुन कर दुकानदार लोग गाँव-गाँव से वहाँ आकर एकत्रित हो गये और चिड़ा, दधि, सन्देश, केला-आदि पदार्थों को लाकर वेचने लगे ।।८६-९०।।

यत द्रव्य लञा आइसे, सब मूल्ये लय । तारि द्रव्य मूल्ये लञा ताहारे खाओयाय ।।९१।।
कौतुक देखिते आइल यत यत जन । सेहो चिड़ा दधि कला करिल भक्षण ।।९२।।
भोजन करि नित्यानन्द आचमन कैल । चारि कुण्डी अवशेष रघुनाथे दिल ।।९३।।
आर तिन कुण्डिकाय अवशेष छिल । ग्रास ग्रास करि विप्र सब भक्ते दिल ।।९४।।
पुष्प माला विप्र आनि प्रभु आगे दिल । चन्दन आनिञा प्रभुर सर्वाङ्गे लेपिल ।।९५।।
सेवके ताम्बूल लञा करे समर्पण । हासिया हासिया प्रभु करये चर्वण ।।९६।।
माला चन्दन ताम्बूल शेष ये आछिला । श्रीहस्ते प्रभु ताहा सभारे बांटि दिला ।।९७।।
आनन्दित रघुनाथ प्रभुर शेष पाञा । आपनार गण सहित खाइल बांटिया ।।९८।।

जितने पदार्थ दुकानदार ले आए,उन्हें वैष्णवों ने खरीद लिया और वह द्रव्य मूल्य देकर उन्हीं दुकानदारों को फिर खिला दिया । महोत्सव का दर्शन करने के लिये जो भी लोग वहाँ आए थे, उन को भी दधि चिड़ा का भोजन मिला । भोजन कर लेने के पश्चात श्रीप्रभु पाद ने आचमन किया एवं चार कुण्डियों में जो कुछ शेष बचा था, उसे श्रीरघुनाथ दास को दे दिया । अन्य तीन कुण्डियों में जो कुछ बाकी था, उसे एक-एक ग्रास करके विप्र ने सब भक्तों में बाँट दिया । विप्र ने पुष्पमाला लाकर श्रीप्रभुपाद के गले में डाली और उनके सर्वाङ्ग पर चन्दन का लेप किया । सेवक ने श्रीप्रभु पाद को ताम्बूल अर्पण किया जिसे वे मुस्कराते हुए आनन्दपूर्वक चर्व्वन करने लगे । माला-चन्दन, ताम्बूलादि जो शेष बचे उन्हें श्रीप्रभु पाद ने अपने श्रीहस्त से सब में बाँट दिया । श्रीरघुनाथ दास श्रीप्रभु पाद के उच्छिष्ट प्रसाद को प्राप्त कर बहुत प्रसन्न हुए एवं अपने सेवकों में उसे बाँट कर उन्होंने ने भी भोजन किया ।।९१-९८।।

एइ त कहिल नित्यानन्देर विहार । 'चिड़ा-दधि-महोत्सव' ख्याति हैल यार ॥६६॥
प्रभु विश्राम कैल, यदि दिन शेष हैल । राघब मन्दिरे प्रभु कीर्त्तन आरम्भिल ॥१००॥
भक्त सब नाचाइया नित्यानन्दराय । शेषे नृत्य करे, प्रेमे जगत् भासाय ॥१०१॥
महाप्रभु तांर नृत्य करेन दर्शन । सबे नित्यानन्द देखे, ना देखे अन्य जन ॥१०२॥
नित्यानन्देर नृत्य येन तांहारि नर्त्तन । उपमा दिवारे नाहि ए तिन भुवन ॥१०३॥
नृत्येर माधुरी केवा वर्णिवारे पारे । महाप्रभु आइसे येइ नृत्य देखिवारे ॥१०४॥

श्रीकविराज कहते हैं—"इस प्रकार मैंने श्रीनित्यानन्द प्रभु की लीला का वर्णन किया है, जिस की 'चिड़ा-दधि-महोत्सव' नाम से प्रसिद्ध है। तदनन्तर श्रीप्रभुपाद ने विश्राम किया। जब सन्ध्या का समय हुआ, तब श्रीप्रभु पाद ने श्रीराघव पण्डित के घर कीर्त्तन का आरम्भ किया। सब भक्तों को नचाकर श्रीप्रभुपाद ने अन्त में स्वयं भी नृत्य किया। सब को प्रेम में सराबोर कर दिया। श्रीमहाप्रभु जी भी आकर उनके नृत्य का दर्शन कर रहे थे, उन्हें केवल श्रीनित्यानन्दप्रभु ही देख रहे थे, और किसी को उनका दर्शन न हो रहा था। श्रीनित्यानन्द प्रभुपाद का नृत्य तो उन्हीं के समान ही था, उसकी उपमा तीनों लोकों में और कोई भी नहीं दी जा सकती। उस नृत्य की माधुरी भला कैसे वर्णन की जा सकती है, जिसे देखने के लिये स्वयं श्रीमहाप्रभु जी पधारा करते हैं ॥६६-१०४॥

नृत्य करि प्रभु यबे विश्राम करिल । भोजनेर काले पण्डित निवेदन कैल ॥१०५॥
भोजने वसिला प्रभु निजगण लञा । महाप्रभुर आसन दिल डाहिने पातिया ॥१०६॥
महाप्रभु आसि सेइ आसने वसिला । देखि राघवेर मने आनन्द वाढ़िला ॥१०७॥
दुइ भाइ-आगे प्रसाद आनिया धरिला । सकल वैष्णवेरे पाछे परिवेशन कैला ॥१०८॥
नाना प्रकार पिठा पायस दिव्य शाल्यन्न । अमृत निन्दये ऐछे विविध व्यञ्जन ॥१०६॥
राघवेर ठाकुरेर प्रसाद—अमृतेर सार । महाप्रभु याहा खाइते आइसे वार-बार ॥११०॥

श्रीप्रभुपाद ने नृत्य के पश्चात् कुछ विश्राम किया। जब भोजन का समय हुआ, तब श्रीराघव पण्डित ने उनसे आकर भोजन के लिये प्रार्थना की। प्रभु पाद अपने भक्तों को साथ लेकर भोजन के लिये बैठे और अपनी दाहिनी ओर श्रीमहाप्रभु जी के लिये भी आसन बिछा दिया! श्रीमहाप्रभु जी आकर उस आसन पर विराजमान् हो गये। उनके दर्शन कर श्रीराघव पण्डित का मन अति आनन्दित हुआ। उन्हों ने दोनों भाईयों के आगे प्रसाद लाकर परोसा। फिर सब भक्तों के आगे पदार्थों का परिवेशन किया। अनेक प्रकार के पिठा, पायस, दिव्य शाल्यन्न आदि ऐसे विविध व्यञ्जन थे जो अमृत के स्वाद को भी निन्दित करते थे। श्रीराघव जी के ठाकुर का प्रसाद तो मानो अमृत का सार होता था, जिसे पाने के लिये श्रीमहाप्रभु जी उनके घर बार-बार आया करते थे। १०५-११०॥

पाक करि राघव यबे भोग लागाय । महाप्रभु लागि भोग पृथक् बाढ़ाय ॥१११॥
प्रतिदिन महाप्रभु करेन भोजन । मध्ये मध्ये प्रभु तांरे देन दरशन ॥११२॥
दुइ भाइके आनिया राघव परिवेशे । यत्न करि सब खाओयाय ना रहे अवशेषे ॥११३॥

कत उपहार आने, हेन नाहि जानि । राघवेर घरे रान्धे राधाठाकुराणी ॥११४॥
दुर्वासार ठाञि तेंहो पाइयाछेन वरे । अमृत हइते तांर पाक अधिक मधुरे ॥११५॥
सुगन्धि सुन्दर प्रसाद, माधुर्येर सार । दुइ भाइ ताहा खाञा आनन्द अपार ॥११६॥

रसोई बनाकर श्रीराघव जब भोग लगाया करते तो वे श्रीमहा प्रभु जी के लिये पृथक् भोग सजाया करते थे । श्रीमहाप्रभु जी प्रतिदिन उसे पाया करते थे । बीच-बीच में श्रीमहाप्रभु जी श्रीराघव को दर्शन भी दिया करते थे । श्रीराघव ने दोनों भाईयों को व्यञ्जन परोसे और वह यह यत्न करते थे कि प्रभुपाद सब पदार्थों का भोजन करलें, शेष न बचावें । न जाने वह कितने पदार्थ लाकर परोस रहे थे । वास्तव में श्रीराघव पण्डित के घर श्रीराधा जी स्वयं आकर रसोई किया करती थीं । श्रीराधारानी जी ने दुर्बासा मुनि से वर प्राप्त किया था कि उनके हाथों की जो रसोई होगी वह अमृत से भी अधिक मधुर होगी । इसलिये वे सब पदार्थ दिव्य सुगन्धिमुक्त एवं सुस्वादु थे, मानो माधुर्य का सार ही थे । उन को आरोग कर दोनों भाईयों को अपार आनन्द हो रहा था ॥१११-११६॥

चै० च० चु० *टीका:*—अथर्ववेदान्तर्गत श्रीगोपाल तापनी में प्रसंङ्ग आया है कि श्रीराधादि ब्रजसुन्दरियों ने जब श्री श्यामसुन्दर के साथ रासविलास का आस्वादन कर अपने अभीष्ट को प्राप्त किया, तब श्रीश्यामसुन्दर ने कहा—"ब्रजसुन्दरियो ! तुमने अपने अभीष्ट फल को प्राप्त किया है, अतः तुम्हें इस उपलक्ष्य में ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिये । यमुना के पार श्रीदुर्वासा मुनि निवास करते हैं, तुम उन्हें जाकर भोजन कराओ । ब्रजसुन्दरियों ने श्रीकृष्ण की आज्ञा पालन करते हुए अनेक प्रकार के सुस्वादु पकवान व्यञ्जन तैयार किये एवं यमुना पार जाने के लिये श्रीकृष्ण से पूछने लगीं—"इस यमुना को हम कैसे पार करें" । श्रीकृष्ण बोले—"तुम यमुना से कहो यदि कृष्ण वाल ब्रह्मचारी हैं, तो हमें मार्ग दे दो, वह तुम्हें मार्ग दे देगी" । ब्रजसुन्दरियों ने ऐसा किया । यमुनाने मार्ग दे दिया एवं उन्होंने जाकर श्रीदुर्वासा मुनि के लिये समस्त व्यञ्जन अर्पण किये । श्रीदुर्वासा जी को वह व्यञ्जन अत्यन्त अच्छे लगे और उन्होंने सब का ही भोजन कर लिया । श्रीराधा जी द्वारा अर्पित पदार्थों को पाकर तो श्रीदुर्वासा जी चमत्कृत हो उठे । बहुत प्रसन्न चित्त होकर उन्होंने श्रीराधा जी को वरदान दिया—**"तुष्टः स त्वाभुक्त्वा हित्वाशिषं प्रयोज्यान्वाज्ञां त्वदात्"** (उत्तर विभाग-६) **'आशिषं प्रयोज्य त्वदीयहस्त पक्वमन्नं भुञ्जानो दीर्घायुर्बलारोग्यवान् भवतु, त्वममृतहस्ता भवेति वरं दत्त्वा अन्वाज्ञां गृहं गन्तुं आज्ञां अनु पश्चाद ददात् ।** (श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्तिपाद) अर्थात्-हे राधे ! जो तुम्हारे हाथों से पका हुआ अन्न खायेगा, वह दीर्घायु, बलवान् एवं निरोग होगा, तुम अमृत-हस्त होवोगी-तुम्हारे द्वारा बनाये हुए पदार्थ अमृत तुल्य मधुर, गुणकारी एवं सुस्वादु होंगे । ऐसा आशीर्बाद देकर श्रीदुर्वासा जी ने ब्रजगोपियों को विदा करदिया । गोपियों ने जब यमुना पार करने का उपाय पूछा तो दुर्वासा मुनि बोले—"तुम यमुना से जाकर कहो कि दुर्वासा ने आज पर्यन्त यदि दूबों के आहार बिना और कुछ नहीं खाया है तो हमें मार्ग देदो ' । ब्रजगोपियों ने मन में कहा— जैसे गुरु वैसे चेला । वैसे कह कर गोपीगण यमुना के पार आगईं ।

यह बात सब ब्रजमण्डल में फैलगई, श्रीनन्दराज जी ने श्रीभृषभानु जी से जाकर निवेदन किया कि अपनी पुत्री राधा को मेरे गृह में नित्य भेजने की कृपा करो कि वह अपने हाथ से रसोई कर मेरे लाला-कृष्ण को खिला आया करे" । श्रीवृषभानु जी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करली । प्रकट लीला में श्रीराधा जी नित्य नन्दभवन में आकर रसोई बनाती हैं एवं श्रीकृष्ण उसे प्रसन्नचित्त होकर भोजन करते हैं ।

इस लिये रसिक-उपासक गण अपने प्राण कोटि प्रिय श्रीकृष्ण को जो पदार्थ निवेदित करते हैं, उन्हें बनाने से पहले श्रीराधारानी जी से प्रार्थना करते हैं कि वे अपने प्राणवल्लभ के भोग बनाने में उनकी अध्यक्षता स्वीकार करें। वे ऐसी भावना करते हैं कि श्रीराधाजी ही उस भोग को बना रही हैं। श्रीराघव पण्डित भी ऐसी भावना कर भोग तैयार किया करते थे, श्रीराधा जी भी कृपापूर्वक उस में अपनी शक्ति सञ्चार करती थीं। इसलिये कहा गया है कि राघव पण्डित के घर श्रीराधा जी रसोई करती थीं एवं वे पदार्थ अमृत तुल्य माधुर्य का सार होते थे।

भोजने वसिते रघुनाथे कहे सर्वजन। पण्डित कहे पाछे इंह करिवे भोजन ॥११७॥
भक्तगण आकण्ठ भरि करिल भोजन। हरिध्वनि करि उठि कैल आचमन ॥११८॥
भोजन करि दुइ भाइ कैल आचमन। राघव आनि पराइल माल्य-चन्दन ॥११९॥
विड़ा खाओयाइया कैल चरण वन्दन। भक्तगणे बिड़ा दिल माल्य-चन्दन ॥१२०॥
राघवेर महाकृपा रघुनाथेर उपरे। दुइ भाइयेर अवशिष्ट-पात्र दिल तारे ॥१२१॥
कहिल,चैतन्यगोसाञि करियाछेन भोजन। तांर शेष,पाइले,तोमार खण्डिल वन्धन॥१२२॥

सब भक्तों ने श्रीरघुनाथदास जी को भी भोजन करने के लिये कहा, किन्तु श्रीराघव ने कहा— नहीं, यह पीछे बैठेंगे।" सब भक्तों ने भरपेट भोजन किया और फिर हरिध्वनि करते हुए उठ खड़े हुए। सब ने आचमन किया। श्रीमन्महाप्रभु जी एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु जी इन दोनों भाईयों ने भी भोजन करने के वाद आचमन किया। श्रीराघव पण्डित ने आकर माला-एवं चन्दन धारण कराए एवं पान अर्पण कर दोनों के चरणों में वन्दना की। फिर उन्होंने सब भक्तों को पान एवं माला-चन्दन अर्पण किये। श्रीराघव पण्डित श्रीरघुनाथदास जी पर बहुत कृपा रखते थे। दोनों प्रभुपादों का अविशिष्ट-पात्र श्रीराघव ने श्रीरघुनाथदास जी को दे दिया और कहा कि श्रीचैतन्यदेव जी ने भोजन किया है, यह उनका प्रसाद है। इसे पाने से तुम्हारे सब वन्धन नष्ट हो जाएँगे ॥११७-१२२॥

भक्तचित्ते भक्तगृहे सदा अवस्थान। कभु गुप्त, कभु व्यक्त स्वतन्त्र भगवान् ॥१२३॥
सर्वत्र व्यापक प्रभु सदा सर्वत्र वास। इहाते संशय यार सेइ याय नाश ॥१२४॥
प्राते नित्यानन्दप्रभु गङ्गा स्नान करिया। सेइ वृक्षमूले वसिला निजगण लञा ॥१२५॥
रघुनाथ आसि कैल चरण वन्दन। राघव पंडित द्वारे कैल निवेदन ॥१२६॥

श्रीकविराज कहते हैं—श्रीचैतन्यदेव भक्तों के चित्त में, भक्तों के घर में कभी गुप्त रूप से, कभी प्रत्यक्ष रूप से सदा अवस्थान करते हैं, कारण कि वे स्वतन्त्र भगवान् हैं। वे सर्वत्र व्यापक हैं, वे सदा सर्वत्र वास करते हैं—इस बात में जिसे कुछ संशय है, उसका सर्वनाश हो जाता है। दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीनित्यानन्द प्रभुपाद ने गङ्गा स्नान किया एवं फिर उसी वट-वृक्ष के नीचे आकर अपने भक्तों के साथ विराजमान हुए, उसी समय श्रीरघुनाथदास जी ने आकर उनके चरणों में वन्दना की एवं श्रीराघव पण्डित के द्वारा निवेदन करने लगे ॥१२३-१२६॥

अधम पामर मुञि हीन जीवाधम। मोर इच्छाहय—पाङ चैतन्यचरण ॥१२७॥
वामन हञा येन चान्द धरिवारे चाय। अनेक यत्न कैनु याइते, कभु सिद्ध नय ॥१२८॥

यतवार पालाङ आमि गृहादि छाड़िया । पिता-माता दुइजना राखये बान्धिया ॥१२९॥
तोमार कृपा बिने केहो चैतन्य ना पाय। तुमि कृपा कैले तांरे अधमेहो पाय ॥१३०॥
अयोग्य मुञि, निवेदन करिते करों भय। मोरे चैतन्य देह गोसाञि ! हइया सदय॥१३१॥
मोर शिरे पद धरि करह प्रसाद । 'निर्विघ्न चैतन्य पाङ' कर आशीर्वाद ॥१३२॥

(श्रीरघुनाथदास जी ने कहा—)"प्रभु ! मैं अधम पामर हूँ एवं एक हीन जीवाधम हूँ, किन्तु मेरी इच्छा है कि मुझे श्रीचैतन्यदेव के चरणों की प्राप्ति हो। जैसे कोई वामन (बौना) आकाश के चाँद को पकड़ना चाहता है, वैसे मैंने भी अनेक यत्न किये हैं, किन्तु कभी भी अपने अभीष्ट की प्राप्ति नहीं कर सका हूँ। जितनी बार भी मैं गृहादि को त्याग कर भाग निकला हूँ, तभी-तभी मुझे माता-पिता ने बन्धन में डाल लिया है। प्रभु ! अब मैं जान चुका हूँ कि आप की कृपा के बिना कोई भी (अनेक यत्न करने पर भी) श्रीचैतन्यप्रभु की प्राप्ति नहीं कर सकता। हाँ, यदि आपकी कृपा हो जाए तो एक अधम व्यक्ति भी उनको प्राप्त कर लेता है। मैं अयोग्य हूँ, निवेदन करते हुए भी मैं भयभीत होता हूँ; हे गोस्वामि पाद ! आप कृपा कर मुझे श्रीचैतन्य-चरण-सेवा प्रदान कीजिये। मेरे सिर पर अपने चरणों को स्थापन कर मुझ पर कृपा कीजिए एवं ऐसा आशीर्वाद कीजिए कि जिससे मैं निर्विघ्नता से चैतन्यचन्द्र की प्राप्ति कर सकूं" ॥१२७-१३२॥

शुनि हासि कहे प्रभु सब भक्तगणे । इंहार विषय सुख इन्द्र सुखसमे ॥१३३॥
चैतन्य कृपा ते सेहो नाहि भाय मने । सभे आशीष देह, पाय चैतन्य-चरणे ॥१३४॥
कृष्णपादपद्मगन्ध येइजन पाय । ब्रह्मलोक–आदि सुख तारे नाहि भाय ॥१३५॥

श्रीराघव पण्डित के मुख से श्रीरघुनाथदास जी की प्रार्थना सुनकर श्रीप्रभुपाद ने आनन्द पूर्वक सब भक्तों को कहा—"देखिए, इनको इन्द्र–सुख के समान घर में समस्त विषयों का सुख प्राप्त है, किन्तु श्रीचैतन्य–कृपा से इन्हें वह जरा भी नहीं सुहाता है आप सब भक्त लोग इन्हें आशीर्वाद दीजिये कि इनको श्रीचैतन्यचरणों की प्राप्ति हो। जिनको श्रीकृष्ण–चरण कमलों की सुगन्धि भी प्राप्त होती है, उन्हें फिर ब्रह्मलोक आदि के सुख भी नहीं सुहाते हैं ॥ १३३-१३५ ॥ जैसा कि श्रीभागवत् जी में कहा गया है—

तथाहि (भा: ५-१४-४३)—

यो दुस्त्यजान् दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः ।
जहौ युवैव मलवदुत्तमःश्लोकलालसः ॥२॥

श्रीशुकदेव जी ने महाराज परीक्षित जी से कहा है—"भरत महाराज ऐसे विरक्त थे कि उन्होंने उत्तम श्लोक श्रीकृष्ण के लिये लालसान्वित होकर जीवन-काल से ही दुस्त्यज्य एवं मनोहर–प्रिय स्त्री–पुत्रों को, हृदय जनों को तथा राज्य-पाट को मलवत् (विष्ठा के समान) जान कर त्याग कर दिया था ॥२॥

तबे रघुनाथे प्रभु निकटे बोलाइला । तार माथे पद धरि कहिते लागिला ॥१३६॥
तुमि ये कराइले एइ पुलिन भोजन । तोमाय कृपा करि चैतन्य कैला आगमन ॥१३७॥

कृपा करि कैल दुग्ध-चिपीट भक्षण। नृत्य देखि रात्र्ये कैल प्रसाद भोजन ॥१३८॥
तोमा उद्धारिते गौर आइल आपने। छुटिल तोमार यत विघ्नादि बन्धने ॥१३९॥
स्वरूपेर स्थाने तोमा करिवे समर्पणे। 'अन्तरङ्ग भृत्य' करि राखिवेन चरणे ॥१४०॥
निश्चिन्त हइया याह आपन भवने। अचिरे निर्विघ्ने पावे चैतन्य-चरणे ॥१४१॥

तब श्रीनित्यानन्द प्रभुपाद ने श्रीरघुनाथदास जी को अपने पास बुलाया और उनके माथे से अपने चरणों का स्पर्श कर कहने लगे—"रघुनाथ! तुम ने जो यहाँ पुलिन भोजन कराया है, तुम पर कृपा कर श्रीचैतन्यदेव ने भी यहाँ आगमन किया था। उन्होंने कृपा कर दूध-चिड़ा का भी भोजन किया एवं नृत्य देख कर रात्रि को राघव पण्डित के घर प्रसाद भी पाया है। तुम्हारा उद्धार करने के लिये ही श्रीगौरचन्द्र यहाँ पधारे थे। अब तुम्हारे जितने भी विघ्न-बाधाएँ थीं, सब निवृत्त हो चुकी हैं। श्रीगौराङ्ग तुम्हें श्रीस्वरूप दामोदर के हाथ सौंप देंगे और तुम्हें अपना अन्तरङ्ग-दास कर अपने चरणों में रखेंगे। रघुनाथ! अब तुम निश्चिन्त होकर अपने घर को लौट जाओ, अति शीघ्र विघ्न-बाधा रहित होकर तुम श्रीचैतन्य-चरणों को प्राप्त करोगे" ॥ १३६-१४१ ॥

सब भक्तगणे तांरे आशीर्वाद कराइल। तां सभार चरण रघुनाथ वन्दिल ॥१४२॥
प्रभुर आज्ञा लैया वैष्णवेर आज्ञा लैल। राघव सहिते निभृते युक्ति करिल ॥१४३॥
युक्ति करि शतमुद्रा सोना तोला-सात। निभृते दिल प्रभुर भाण्डारीर हाथ ॥१४४॥
तारे निषेधिल, प्रभुके एबे ना कहिवा। निजघरे यावे यबे, तबे निवेदिवा ॥१४५॥
तबे राघव पण्डित तांरे घरे लञा गेला। ठाकुर दर्शन कराइया माला-चन्दन दिला॥१४६॥
अनेक प्रसाद दिल पथे खाइवारे। तबे पुनः रघुनाथ कहे पण्डितेरे ॥१४७॥

तदनन्तर श्रीप्रभुपाद ने सब भक्त-गणों से श्रीरघुनाथदास को आशीर्वाद कराया, श्रीरघुनाथदास जी ने सब के चरणों में वन्दना की। उन्होंने प्रभुपाद से आज्ञा लेकर फिर सब वैष्णवों से आज्ञा ली और श्रीराघव पण्डित जी से एकान्त में कुछ विचार-परामर्श किया। विचार कर फिर उन्होंने एक सौ मुद्रा एवं सात तोले सोना एकान्त में श्रीप्रभुपाद के भण्डारी के हाथ में दिया और उसे कहा (कि इसे प्रभु-सेवा में लगा देना) और प्रभु को इस सम्बन्ध में अभी कुछ न कहना, जब मैं घर चला जाऊँ तब प्रभु को भले ही निवेदन कर देना। तब श्रीराघव पण्डित श्रीरघुनाथदास जी को अपने घर ले आए और अपने इष्टदेव श्रीराधारमण जी के उन्हें दर्शन कराकर उन्हें माला-चन्दन धारण कराए। मार्ग में खाने के लिये उन्हें बहुत मात्रा में प्रसाद दिया। तब श्रीरघुनाथदास जी एक बार फिर श्रीराघव पण्डित जी से कहने लगे ॥१४२-१४७॥

प्रभुर सङ्गे यत प्रभुर भृत्याश्रित जन। पूजिते चाहिये आमि सभार चरण ॥१४८॥
विश पञ्चदश बार दश पञ्च हय। मुद्रा देह विचारि यार यत योग्य हय ॥१४९॥
सब लेखा करिया राघव-पाश दिला। यार नामे यत राघव चिठि लेखाइला ॥१५०॥
एकशत मुद्रा आर सोना तोलाद्वय। पण्डितेर आगे दिल करिया विनय ॥१५१॥
तांर पदधूलि लञा स्वगृहे आइला। नित्यानन्द कृपाय आपनाके'कृतार्थ'मानिला॥१५२॥

श्रीरघुनाथदास जी ने कहा—"पण्डित महाशय ! श्रीप्रभुपाद के साथ जितने भृत्य एवं आश्रित जन हैं, मैं उन सब के चरणों की कुछ सेवा करना चाहता हूँ। बीस, पन्द्रह, बारह, दस एवं पाँच जो भक्त जितनी मुद्रा के योग्य हो, उसे उतनी मुद्रा दिला दीजिये। श्रीराघव पण्डित ने जिसके नाम जितनी मुद्राएँ विचार की, उन्होंने उनकी एक सूची तैयार कर श्रीरघुनाथदास जी को देदी और उन्होंने उसी के अनुसार एक सौ मुद्रा एवं दो तोले सोना श्रीराघव पण्डित जी को विनय पूर्वक बाँटने को दे दिया। श्रीरघुनाथदास जी ने श्रीराघव पण्डित जी के चरणों की रज ग्रहण की और अपने घर लौट आए। श्रीरघुनाथदास जी ने श्रीमन्नित्यानन्द प्रभुपाद की कृपा प्राप्त कर अपने को कृतार्थ मान लिया ॥१४८-१५२॥

सेइ हैते अभ्यन्तर ना करे गमन। बाहिरे दुर्गामण्डपे याञा करेन शयन ॥१५३॥
ताहां जागि रहे सब रक्षकेरगण। पलाइते करे नाना उपाय चिन्तन ॥१५४॥
हेनकाले गौड़ेर सब गौर भक्तगण। प्रभुरे देखिते नीलाचले करिल गमन ॥१५५॥
तां सभार सङ्गे रघुनाथ याइते ना पारे। प्रसिद्ध प्रकट सङ्गे तबहिं धरा पड़े ॥१५६॥
एइमत चिन्तितेइ दैवे एक दिने। बाहिरे देवी मण्डपे करि आछेन शयने ॥१५७॥
दण्डचारि रात्रि यबे आछे अवशेष। यदुनन्दन आचार्य तबे करिला प्रवेश ॥१५८॥

श्रीरघुनाथदास जी घर लौट कर फिर उसी दिन से महल में भीतर नहीं जाते थे, बाहर दुर्गा पूजा-मन्दिर में ही सो जाया करते। वहाँ चौकीदार लोग जागते रहते थे। श्रीदास गोस्वामी भी वहाँ से भाग निकलने के अनेक उपाय सोचा करते थे। उन्हीं दिनों में गौड़देश के सब गौर भक्त श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन के लिये नीलाचल चल दिये। उन सब के साथ श्रीरघुनाथदास न जा सकते थे, कारण कि उनकी यात्रा प्रसिद्ध थी और वे जिस मार्ग से जाते थे, वह भी सब कोई जानता था। यदि श्रीदास गोस्वामी उन के साथ जाते तो झट पकड़े जाते। श्रीदास गोस्वामी भी वहाँ से जाने का उपाय चिन्ता कर ही रहे थे कि दैवयोग से एक दिन जब रात को दुर्गामण्डप में शयन कर रहे थे, चार घड़ी रात बाकी थी, वहाँ श्रीयदुनन्दन-आचार्य आ पहुँचे ॥१५३-१५८॥

वासुदेवदत्तेर तेंहो हय अनुगृहीत। रघुनाथेर गुरु तेंहो हय पुरोहित ॥१५९॥
अद्वैत-आचार्येर तेंहो शिष्य अन्तरङ्ग। आचार्य आज्ञाते माने-चैतन्य प्राणधन ॥१६०॥
अङ्गने आसिया तेंहो यबे दाण्डाइला। रघुनाथ आसि तबे दण्डवत् कैला ॥१६१॥
तांर एक शिष्य तांर ठाकुरेर सेवा करे। सेवा छाड़ियाछे, तारे साधिवार तरे ॥१६२॥
रघुनाथे कहे, तारे करह साधन। सेवा येन करे, आर नाहिक ब्राह्मण ॥१६३॥
एत कहि—रघुनाथे लइया चलिला। रक्षक सब शेष रात्र्ये निद्राय पड़िला ॥१६४॥

श्रीयदुनन्दनाचार्य श्रीवासुदेवदत्त के कृपा पात्र थे एवं श्रीरघुनाथदास जी के दीक्षा गुरु तथा पुरोहित थे और श्रीअद्वैताचार्य के अन्तरङ्ग शिष्य थे। वे श्रीआचार्य की कृपा से श्रीचैतन्यचन्द्र को अपना प्राण-धन मानते थे। जब वे वहाँ आङ्गन में आकर खड़े हुए, श्रीरघुनाथदास जी ने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया, श्रीयदुनन्दनाचार्य का एक शिष्य था जो उनके ठाकुर जी की सेवा-पूजा किया करता था, वह सेवा-पूजा छोड़ कर भाग गया था। उसको समझाने-बुझाने के लिये श्रीयदुनन्दनाचार्य ने श्रीदास

गोस्वामी जी से कहा—"रघुनाथ ! तुम उसे चल कर समझाओ-बुझाओ, . जिससे कि वे ठाकुर जी की पूजा करे, क्योंकि और कोई ब्राह्मण मेरे पास नहीं है।" इतना कह कर आचार्यपाद श्रीरघुनाथदास जी को अपने साथ लेकर चल दिये। उस समय पिछली रात थी, चौकीदार सब गहरी नींद में पड़े हुए थे।

आचार्येर घर इहार पूर्व दिशाते। कहिते शुनिते दोंहे चले सेइ पथे ॥१६५॥
अर्द्धपथे रघुनाथ कहे गुरुर चरणे। आमि सेइ विप्रे साधि पाठाइव तोमास्थाने॥१६६॥
तुमि सुखे घर याह, मोरे आज्ञा हय। एइ छले आज्ञा मागि करिल निश्चय ॥१६७॥
सेवक रक्षक आर केहो नाहि सङ्गे। पलाइते आमार भाल एइ त प्रसङ्गे ॥१६८॥
एत चिन्ति पूर्वमुखे करिल गमन। उलटिया चाहे पाछे, नाहि कोन जन ॥१६९॥
श्रीचैतन्य-नित्यानन्द चरण चिन्तिया। पथ छाड़ि उपपथे यायेन धाइया ॥१७०॥

श्रीयदुनन्दनाचार्य का घर वहाँ से पूर्व दिशा में था। परस्पर बात-चीत करते हुए दोनों उधर जा रहे थे। आधा मार्ग जब चल आए तब श्रीरघुनाथदास जी गुरुदेव से बोले—"आचार्यपाद ! मैं उस ब्राह्मण-शिष्य को अभी समझा-बुझा कर आपके पास भेज देता हूँ, आप घर जाकर विश्राम कीजिये, मुझे आज्ञा दीजिये।" इस छल से श्रीगुरुदेव से आज्ञा माँग कर वह सोचने लगे कि "इस समय कोई भी रक्षक एवं सेवक मेरे साथ नहीं है, इस समय भाग निकलने का अच्छा अवसर है।" ऐसा निश्चय कर श्रीदास गोस्वामी पूर्व दिशा में चले और पीछे देखा, कोई भी नहीं आ रहा था। उन्होंने श्रीचैतन्य-नित्यानन्द के चरणों का स्मरण किया और मार्ग को छोड़ कर उप-पथ से दौड़ पड़े ॥१६९-१७०॥

ग्रामे ग्रामे पथ छाड़ि याय वने बने। कायमनो वाक्ये चिन्ते चैतन्य-चरणे ॥१७१॥
पञ्चदश क्रोश चलि गेल एक दिने। सन्ध्याकाले रहिला एक गोपेर बाथाने ॥१७२॥
उपवासी देखि गोप दुग्ध आनि दिला। सेइ दुग्ध पान करि पड़िया रहिला ॥१७३॥
एथा तांर सेवक रक्षक तांरे ना देखिया। तांर गुरु पाशे वार्त्ता पुछिलेन गिया ॥१७४॥
तेंहो कहे—आज्ञा मागि गेल निजघर। 'पलाइल रघुनाथ', उठिल कोलाहल ॥१७५॥

श्रीदास गोस्वामी काया-मन एवं वचन से श्रीचैतन्य-चरणों का ध्यान करते हुए गाँव-गाँव का सीधा मार्ग छोड़ कर बन-बन के मार्ग से भागे चले जा रहे थे। एक दिन में ही पन्द्रह कोश चलने के बाद सन्ध्या के समय वे एक गोप की (खेतियर की) गोशाला में आकर रहे। उन्हें भूखा-प्यासा जान कर उस गोप ने उन्हें दूध लाकर दिया, जिसे पान कर श्रीदास गोस्वामी ने वहीं पड़े रह कर रात बिताई इधर उनके रक्षकों एवं सेवकों ने जग कर देखा कि श्रीरघुनाथ लापता हैं। उनके गुरु-श्रीयदुनन्दनाचार्य जी से जाकर उनके सम्बन्ध में पूछा। उन्होंने बताया कि रघुनाथ तो मुझ से आज्ञा मांग कर अपने घर चला गया था। अब तो यह कोलाहल मच गया कि "रघुनाथ भाग गया है।" ॥१७१-१७५॥

तांर पिता कहे, गौड़ेर सब भक्तगण। प्रभुस्थाने नीलाचले करियाछे गमन ॥१७६॥
सेइ सङ्गे रघुनाथ गेला पालाइया। दशजन याह, तारे आनह धरिया ॥१७७॥
शिवानन्दे पत्री दिल विनय करिया। आमार पुत्रेरे तुमि दिबे बाहुड़िया ॥१७८॥

झांकरा पर्यन्त गेल सेइ दशजन । झाँकराते पाइल गिया वैष्णवेर गण ॥१७६॥
पत्री दिया शिवानन्दे वार्ता पुछिल । शिवानन्द कहे, तेंहों इहां ना आइल ॥१८०॥
बाहुड़िया सेइ दशजन आइला घर । तार माता-पिता हैल चिन्तित-अन्तर ॥१८१॥

श्रीदास गोस्वामी जी के पिताजी ने कहा—"गौड़ीय सब भक्त-गण श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन करने नीलाचल गये हैं, उन्हीं के साथ ही रघुनाथ भाग गया होगा, इसलिये दस व्यक्ति वहाँ चले जाओ और उसे यहाँ पकड़ लाओ।" उन्होंने एक पत्री भी विनय पूर्वक श्रीशिवानन्द के नाम लिख दी कि "मेरे पुत्र–रघुनाथ को आप अवश्य वापस भेज दीजिये" वे दस जने नीलाचल के प्रसिद्ध मार्ग से झांकरा तक जब गये तो वहाँ उन्हें सब गौड़ीय भक्त मिले। उन्होंने पत्री देकर श्रीशिवानन्द जी से श्रीरघुनाथदास के सम्बन्ध में पूछा। श्रीशिवानन्द जी ने कहा कि "वह तो यहाँ नहीं आया।" वे दस-जने उनका कुछ पता न पाकर अपने घर वापस लौट आए। श्रीरघुनाथदास के पिता-माता बहुत चिन्तित हुए ॥१७६-१८१॥

एथा रघुनाथदास प्रभाते उठिया । पूर्वमुख छाड़ि चले दक्षिण मुख हञा ॥१८२॥
छत्रभोग पार हञा छाड़िया सरान । कुग्राम दिया-दिया करिल प्रयाण ॥१८३॥
भक्षणापेक्षा नाहि,समस्त दिवस गमन। क्षुधा नाहि बाधे चैतन्य-चरण-प्राप्त्ये मन॥१८४॥
कभु चर्व्वण,कभु रन्धन, कभु दुग्ध पान । यवे येइ मिले, ताते राखे निज प्राण ॥१८५॥
बारो दिने चलि गेला श्रीपुरुषोत्तम । पथे तिनदिन मात्र करिला भोजन ॥१८६॥

इधर श्रीरघुनाथदास प्रभात में उठे और पूर्व दिशा को छोड़ कर दक्षिण दिशा में चलने लगे। छत्रभोग (वर्त्तमान सुन्दर वन के अन्तर्गत एक स्थान विशेष का नाम है) को पार कर प्रसिद्ध सड़क को छोड़ कर वे अप्रसिद्ध गांवों में होकर चले जा रहे थे। खाने-पीने का उन्हें कुछ भी सन्धान नहीं था, सारा दिन केवल चले ही चले जा रहे थे। श्रीचैतन्यचरणों की प्राप्ति को लालसा में उन्हें भूख–प्यास भी कुछ बाधा नहीं कर रही थी। कभी चने चबा लेते, कभी कुछ पक्की रसोई, कभी केवल दूध—जो भी जब मिल जाता, उस से वह अपने प्राणों की रक्षा कर लेते। इस प्रकार निरन्तर बारह दिन चल कर श्रीरघुनाथदास जी श्रीजगन्नाथ पुरी में आ पहुँचे। मार्ग में उन्होंने केवल तीन दिन चना–दूध आदि का भोजन किया ॥१८२-१८६॥

स्वरूपादि सह गोसाञि आछेन वसिया । हेनकाले रघुनाथ मिलिला आसिया ॥१८७॥
अङ्गने दूरे रहि करेन प्रणिपात । मुकुन्ददत्त कहे, एइ आइला रघुनाथ ॥१८८॥
प्रभु कहे—'आइस', तेंहो धरिल चरण । उठि प्रभु कृपाय तांरे कैल आलिङ्गन ॥१८९॥
स्वरूपादि सब भक्तेर चरण वन्दिल । प्रभु कृपा देखि सबे आलिङ्गन कैल ॥१९०॥
प्रभु कहे, कृष्ण कृपा बलिष्ठ सभा हैते । तोमाके काढ़िल विषय-विष्ठागर्त्त हैते ॥१९१॥
रघुनाथ मने कहे, कृष्ण नाहि जानि । तोमार कृपाय काढ़िल आमा,एइ आमि मानि॥१९२॥

जिस समय श्रीमन्महाप्रभु जी श्रीस्वरूप दामोदर आदि भक्तों के साथ विराजमान थे, उसी समय श्रीरघुनाथदास जी वहाँ पहुँचे। आङ्गन में दूर रह कर उन्होंने प्रभु को दण्डवत् प्रणाम की। श्रीमुकुन्ददत्त ने देख कर कहा—"यह तो रघुनाथ आए हैं"। श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"आओ रघुनाथ

आश्रो"। श्रीरघुनाथदास जी ने प्रभु के चरण पकड़ लिये। प्रभु ने श्रीस्वरूपादि सब भक्तों के चरणों में वन्दना की, प्रभु की उन पर अपार कृपा देख कर सब ने श्रीदास गोस्वामी जी को आलिङ्गन किया। श्रीमहाप्रभु जी बोले—"रघुनाथ! श्रीकृष्ण की कृपा सब से बलबान है, उसने तुम्हें विषय रूपी विष्ठा के गर्त्त से निकाल लिया है।" श्रीरघुनाथदास जी मन में कह रहे थे—"मैं तो श्रीकृष्ण को नहीं जानता हूँ, आपकी कृपा से उसने मुझे निकाला है—मैं तो यही जानता हूँ।।१८७-१९२।।

प्रभु कहेन, तोमार पिता-ज्येठा दुइजने। चक्रवर्त्ति सम्बन्धे हाम 'आजा' करि माने।।१९३।।
चक्रवर्त्तीर दोंहे हय भ्रातृरूप दास। अतएव तांरे आमि करि परिहास।।१९४।।
इंहार बाप-ज्येठा विषय-विष्ठागर्त्तेर कीड़ा। सुख करि माने-विषय-विषेर महापीड़ा।।१९५।।
यद्यपि ब्रह्मण्य करे ब्राह्मणेर सहाय। शुद्ध वैष्णव नहे, हये वैष्णवेर प्राय।।१९६।।
तथापि विषयेर स्वभाव, करे महा अन्ध। सेइ कर्म कराय, याते हय भवबन्ध।।१९७।।
हेन विषय हैते कृष्ण उद्धारिलेन तोमा। कहने ना याय कृष्ण कृपार महिमा।।१९८।।

श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा—"रघुनाथ! तुम्हारे पिता श्रीगोवर्द्धन दास और तुम्हारे ज्येठा—श्रीहरिण्य दास इन दोनों को मैं अपने नाना श्रीनीलाम्बर चक्रवर्त्ती के सम्बन्ध से अपना नाना ही मानता हूं, क्यों कि ये दोनों चक्रवर्त्ती पाद को अपना बड़ा भाई मानते थे (चक्रवर्त्ती पाद भी इन दोनों को अपना भाई कहते थे) इस लिये मैं तुम्हारे पिता जी व ज्येठा को नाना जी कह कर परिहास किया करता था। वे तुम्हारे पिता व ज्येठा विषय रूपी विष्ठागर्त्त के कीड़ा हैं। विषयों की विष जो महान् पीड़ा देने वाली है, वे उसमें ही सुख मानते हैं, यद्यपि वे ब्रह्मण्य हैं, ब्राह्मणों की सहायता किया करते हैं, किन्तु वे शुद्ध वैष्णव नहीं हैं, वैष्णवों जैसे लगते अवश्य हैं। विषयों का ऐसा स्वभाव है कि वे सङ्गी को महा अन्धा कर देते हैं, वही कर्म विषयी पुरुष से कराते हैं, जिस से वह भव बन्धन में बन्धता ही चला जाता है। रघुनाथ ऐसे विषयों से आज श्रीकृष्ण ने तुम्हें उद्धार लिया है। श्रीकृष्ण-कृपा की महिमा का वर्णन नहीं हो सकता है।।१९२-१९८।।

चै० च० चु० *टीका*:—श्रीमन्महाप्रभु जी ने श्रीगोवर्द्धन दास एवं श्रीहिरण्य दास को लक्ष्य करते हुए कहा है कि क्योंकि वे विषयी थे, अतः वे शुद्ध वैष्णव नहीं थे, वैष्णवों जैसे लगते थे। शुद्ध-वैष्णव किसे कहते हैं?—जिस का आचरण, अनुष्ठान एवं चिन्ता सदा वैष्णव लक्ष्य के सदा अनुकूल रहता है—उसे शुद्ध वैष्णव कहा जाता है। वैष्णव लक्ष्य एकमात्र है—भावानुकूल सिद्ध देह द्वारा श्रीव्रजेन्द्रनन्दन-वृषभानुनन्दिनी युगल सरकार की प्रेम-सेवा-प्राप्ति, जिस में अपने सुख की गन्धमात्र भी न हो, जो केवल श्रीकृष्ण सुख-तात्पर्यमयी हो—ऐसी सेवा-प्राप्ति ही वैष्णव-लक्ष्य है। अतः जिन के चित्त में श्रीकृष्ण-कामना एवं श्रीकृष्ण भक्ति-कामना के अतिरिक्त और कोई कामना रहती है—उन्हें शुद्ध वैष्णव नहीं कहा जा सकता। जिन में विषयासक्ति है, स्वसुखमयी कामना है, वे अशुद्ध वैष्णव हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठता है—इस रूप में तो वैष्णवों के पक्ष में संसार करना असम्भव ही है अथवा गृहस्थी वैष्णवों में कोई भी शुद्ध-वैष्णव नहीं हो सकता? किन्तु यह बात नहीं है। वैष्णव संसार भी कर सकता है एवं गृहस्थी वैष्णव भी शुद्ध वैष्णव हो सकता है। गृहस्थी वैष्णवों के सम्बन्ध में श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा है—(चै० च० २-१६-२३६)

"यथायुक्त विषय भुञ्ज अनासक्त हञा"।

अर्थात् अनासक्त होकर विषयों का भोग करने में कोई दोष नहीं है। गृहस्थी वैष्णव के पास यदि अनेक विषय-सम्पत्ति है, वह उन समस्त को श्रीकृष्ण की सम्पत्ति जान कर उनकी रक्षा व देख-भाल कर सकता है। श्रीकृष्ण-सेवा के अनुकूल कार्यों में उन समस्त को नियोजित कर सकता है। श्रीकृष्ण का प्रसाद जान कर सब का भोग करते हुए अपने को कृतार्थ कर सकता है। उन समस्त विषयों में अनासक्त चित्त रह कर अपने लक्ष्य श्रीकृष्ण-सेवा-प्राप्ति को लाभ कर सकता है। इसलिये गृहस्थ में रह कर भजन-साधन करना विषयों के विरुद्ध एक किले की लड़ाई लड़ना कहागया है। महाराज अम्बरीष राजा थे, गृहस्थी थे, किन्तु वे शुद्ध वैष्णवों में अग्रगण्य थे। पुण्डरीक विद्यानिधि, रायरामानन्द जी, श्रीशिवानन्द सैन, श्रीअद्वैताचार्यादि सब गृहस्थ भक्त थे जो श्रीमन्महाप्रभु जी के परिकर हैं एवं परम शुद्ध वैष्णव हैं अतः गृहस्थी व्यक्ति भी सब संसार करने वाला भी शुद्ध वैष्णव हो सकता है। विषय-भोग दूषित नहीं है, विषयों की आसक्ति ही दूषित है। अतः श्रीकृष्ण-सेवा-प्राप्ति के लक्ष्य की हरक्षण रक्षा करते हुए अनासक्त चित्त साधक किसी भी आश्रम में रहकर शुद्ध वैष्णव हो सकता है।

विषयों का स्वभाव है कि वे विषयी जन को महा अन्धा कर देते हैं। विषयी पुरुष को परमार्थ-अपना हित कुछ भी नहीं सूझता। वह केवल अपने देह-गेह के सुख में ऐसा आसक्त हो जाता है कि उसे जीव के स्वरूप धर्म— श्रीकृष्ण सेवा की स्मृति ही नहीं रहती। इसलिये विषयी जन को महा-अन्ध कहा गया है। हाँ, जिन पर भगवत्-कृपा है, अवश्य वे भाग्यवान् संख्या में बहुत थोड़े होते हैं, वे समस्त विषयों में रहते हुए भी पानी में कमल की भान्ति उन से अछूते रहते हैं।

श्रीरघुनाथ दास जी के पिता एवं ज्येठा विषयों में परमासक्त थे, एवं श्रीरघुनाथ दास जी के भजन-पथ में बाधक थे, इसलिये श्रीमहाप्रभु जी ने उन्हें अशुद्ध वैष्णव कहा। वे ब्राह्मणों की सेवा-सहाय करते थे। जाति कुलाभिमान रहित वैष्णवों के प्रति भी वे पूर्णतः श्रद्धावान थे। श्रीहरिदास जी ठाकुर के लिये उन्होंने बड़ा सम्मान किया था, श्रीहरिदास जी को भावुक मानने वाले अपने एक कर्मचारी को श्रीहिरण्यदास ने निकाल दिया था। अतः इन में वैष्णवोचित आचरण था। ब्राह्मण-सेवा भी चौंसठ अङ्ग साधक भक्ति का एक अङ्ग है। अतः उन्हें वैष्णवों में भी श्रीमहाप्रभु जी ने गिनाया। विषयों में अनासक्ति, विषयों का सर्वथा त्याग जीव की सामर्थ्य से परे है। केवल श्रीकृष्ण कृपा प्राप्ति से ही ऐसा सम्भव हो सकता है। अतः श्रीमहाप्रभु जी ने अन्त में यही कहा कि "रघुनाथ ! श्रीकृष्ण कृपा से तुम विषयों से मुक्त हुए हो। श्रीकृष्ण-कृपा की महिमा अपार है।

रघुनाथेर क्षीणता मालिन्य देखिया। स्वरूपेरे कहे कृपा आर्द्र-चित्त हञा ॥१९९॥
एइ रघुनाथे आमि सोंपिल तोमारे। पुत्र-भृत्यरूपे तुमि कर अङ्गीकारे ॥२००॥
तिन 'रघुनाथ' नाम हय आमार गणे। 'स्वरूपेर रघुनाथ' आजि हैते इहार नामे ॥२०१॥
एत कहि रघुनाथेर हस्त धरिल। स्वरूपेर हस्ते तांरे समर्पण कैल ॥२०२॥
स्वरूप कहे, महाप्रभुर ये आज्ञा हइल। एत कहि रघुनाथे पुन आलिङ्गिल ॥२०३॥

श्रीरघुनाथदास की कृशता एवं मलीनता देख कर श्रीमहाप्रभु जी का मन कृपा से द्रवीभूत होगया और वे श्रीस्वरूप गोस्वामी जी से कहने लगे—"स्वरूप ! इस रघुनाथ को मैं तुम्हें सौंपता हूँ, तुम इसे पुत्रवत् व सेवकवत् अङ्गीकार करो। मेरे तीन भक्तों का नाम 'रघुनाथ' है (श्रीतपन मिश्र के पुत्र

का नाम रघुनाथ है, रघुनाथ वैद्य दूसरा रघुनाथ है और यह रघुनाथ दास तीसरा रघुनाथ है) आज से इसका नाम 'स्वरूप का रघुनाथ' होगा।" इतना कह कर श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीरघुनाथदास का हाथ पकड़ा और श्रीस्वरूप गोस्वामी जी के हाथ में समर्पण कर दिया। श्रीस्वरूप बोले—"प्रभु आपकी जो आज्ञा, मुझे वही स्वीकार है"। इतना कह कर श्रीस्वरूप गोस्वामी ने श्रीरघुनाथदास जी को पुनः आलिङ्गन किया ॥१६६-२०३॥

चैतन्येर भक्त-वात्सल्य कहिते ना पारि। गोविन्देरे कहे रघुनाथे दया करि ॥२०४॥

पथे इहों करियाछे बहुत लङ्घन। कथोदिन कर इहार भाल सन्तर्पण ॥२०५॥

रघुनाथे कहे, याइ कर सिन्धु स्नान। जगन्नाथ देखि आसि करह भोजन ॥२०६॥

एत बलि प्रभु मध्याह्न करिते उठिला। रघुनाथदास सब भक्तेरे मिलिला ॥२०७॥

रघुनाथे प्रभुर कृपा देखि भक्तगण। विस्मित हञा करे तांर भाग्य-प्रशंसन ॥२०८॥

श्रीचैतन्यचन्द्र का अपने भक्तों पर कितना स्नेह है, उसका कथन नहीं हो सकता। श्रीमहाप्रभु जी श्रीरघुनाथ दास पर कृपा करते हुए अपने सेवक गोविन्द से बोले—"इन्होंने रास्ते में बहुत लङ्घन किये हैं, इसलिये कुछ दिनों तक इन को अच्छा आहारादि देकर इन्हें तृप्त करो (इनकी कृशता दूर हो जाए।)" श्रीरघुनाथदास जी से प्रभु ने कहा—"तुम जाकर सिन्धु पर स्नान करो एवं श्रीजगन्नाथ जी का दर्शन कर आओ, फिर यहाँ आकर भोजन करो।" इतना कह कर श्रीमहाप्रभु जी अपना मध्याह्नकृत करने के लिये चले गये। श्रीरघुनाथदास जी फिर सब भक्तों से मिले। उन पर श्रीमहाप्रभु जी की अपार कृपा देख कर सब भक्तगण विस्मित रह गये और उनके भाग्यों की बहुत प्रशंसा करने लगे ॥२४०-२०८॥

रघुनाथ समुद्रे याइ स्नान करिला। जगन्नाथ देखि पुन गोविन्दपाश आइला ॥२०६॥

प्रभुर अवशिष्टपात्र गोविन्द तांरे दिल। आनन्दित हञा रघुनाथ प्रसाद पाइल ॥२१०॥

एइमत रहे तेंहो स्वरूप-चरणे। गोविन्द प्रसाद तांरे दिल पञ्चदिने ॥२११॥

आरदिन हैते पुष्प-अञ्जलि देखिया। सिंहद्वारे खाड़ा रहे भिक्षार लागिया ॥२१२॥

जगन्नाथेर सेवक, यत विषयीर गण। सेवा सारि रात्र्ये करे गृहेरे गमन ॥२१३॥

सिंहद्वारे अन्नार्थी वैष्णव देखिया। पसारिर ठाञि अन्न देयाय कृपा त करिया ॥२१४॥

श्रीरघुनाथदास जी ने जाकर समुद्र स्नान किया एवं श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन कर श्रीगोविन्द के पास आ गये। श्रीगोविन्द ने उन्हें श्रीमहाप्रभु जी का अवशिष्ट-भोजन-पात्र दिया। श्रीरघुनाथदास जी ने आनन्दित होकर प्रसाद पाया। इस प्रकार वे अब श्रीस्वरूप गोस्वामी के चरणों में रहने लगे। पाँच दिन पर्यन्त उन्होंने श्रीगोविन्द से लेकर श्रीमहाप्रभु जी का प्रसाद भोजन किया। छठे दिन से श्रीरघुनाथदास श्रीजगन्नाथ जी की पुष्प-अञ्जलि के दर्शन करके (जो रात्रि में सब से पीछे शयन से पहले होते हैं) सिंहद्वार पर आकर भिक्षा करने के लिये खड़े हो जाते। श्रीजगन्नाथ जी के सेवक तथा अन्यान्य गृहस्थी लोग ठाकुर की सेवा शेष कर जब रात में अपने घरों को जाते तो वे देखते कि एक वैष्णव सिंह-द्वार पर अन्न-भिक्षा के लिये खड़ा है, तो वे कृपा कर उन्हें पंसारी (दुकानदार) से भोजन दिलवा देते।

एइमते सर्वकाल आछे व्यवहारे। निष्किञ्चन भक्त खाड़ा हय सिंह द्वारे ॥२१५॥

सर्वदिन करे वैष्णव नाम-सङ्कीर्त्तन। स्वच्छन्दे करेन जगन्नाथ-दरशन ॥२१६॥

केहो छत्रे मागि खाय येवा किछु पाय । केहा रात्र्ये भिक्षा-लागि सिंहद्वारे रय ॥२१७॥
महाप्रभुर भक्तगणेर वैराग्य प्रधान । याहा देखि प्रीत हय गौर भगवान् ॥२१८॥

सदैव जगन्नाथपुरी में यही व्यवहार चलता रहता है कि अनेक निष्किञ्चन वैष्णव सिंह-द्वार पर जाकर खड़े हो जाते हैं, दिन भर वे समस्त वैष्णव नाम-सङ्कीर्त्तन करते हैं एवं स्वच्छन्द होकर श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करते हैं। कोई-कोई वैष्णव क्षेत्र में जाते हैं, जो कुछ वहाँ से मिलता है, उसे वे पा लेते हैं और कोई-कोई रात में भिक्षा के लिये सिंह-द्वार पर जा खड़े होते हैं। श्रीमहाप्रभु जी के भक्तों में वैराग्य तो प्रधान है, उसे देख कर भगवान् श्री गौरचन्द्र उन पर स्नेह करते हैं ॥२१५-२१८॥

गोविन्द प्रभुके कहे, रघुनाथ प्रसाद ना लय । रात्र्ये सिंहद्वारे खाड़ा हैया मागि खाय॥२१९॥
शुनि तुष्ट हञा प्रभु कहिते लागिला । भाल हैल वैरागीर धर्म आचरिला ॥२२०॥
वैरागी करिव सदा नाम सङ्कीर्त्तन । मागिया खाइया करे जीवन-रक्षण ॥२२१॥
वैरागी हइया येवा करे परापेक्षा । कार्यसिद्धि नहे, कृष्ण करेन उपेक्षा ॥२२२॥
वैरागी हइया करे जिह्वार लालस । परमार्थ याय तार, हय रसेर वश ॥२२३॥
वैरागीर कृत्य, सदा नाम-सङ्कीर्त्तन । शाक–पत्र–फल–मूले उदर–भरण ॥२२४॥
जिह्वार लालसे येइ इति–उति धाय । शिश्नोदर परायण कृष्ण नाहि पाय ॥२२५॥

श्रीरघुनाथदास जी जब श्रीगोविन्द के पास आकर प्रसाद नहीं लेने लगे, तो श्रीगोविन्द ने श्रीमहाप्रभु जी से कहा—"प्रभु ! श्रीरघुनाथदास यहाँ प्रसाद नहीं ले रहे हैं। वे सिंह द्वार पर जाकर रात को भिक्षा कर लेते हैं।" यह बात सुन कर प्रभु सन्तुष्ट हुए और कहने लगे—"गोविन्द ! उसने अच्छा किया है कि वैरागी के धर्म का आचरण करने लगा है। वैरागी को सदा नाम-सङ्कीर्त्तन करना चाहिये और अपने जीवन की रक्षा भिक्षा मांग कर करनी चाहिये। वैरागी होकर जो व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा रखता है, उसका कार्य सिद्ध नहीं होता, श्रीकृष्ण भी उसकी उपेक्षा कर देते हैं। वैरागी होकर जो जिह्वा रस लेने के लालची होते हैं, उनका परमार्थ नष्ट हो जाता है, वे केवल विषयों के वशीभूत रहते हैं। वैरागी का तो यही कर्त्तव्य है कि वह सदा नाम-सङ्कीर्त्तन करता रहे और शाक, पत्र–फल–फूल खाकर उदर पूर्त्ति कर ले। जो जिह्वा के लालच में इधर–उधर भटकता है। वह तो शिश्नोदर (पेट एवं कामेन्द्रिय) की पूर्त्ति करने वाला है, उसे श्रीकृष्ण की प्राप्ति नहीं होती ॥२१९-२२५॥

आर दिन रघुनाथ स्वरूप–चरणे । आपनार कृत्य लागि कैल निवेदने ॥२२६॥
कि-लागि छाड़ाइले घर, ना जानों उद्देश्य । कि मोर कर्त्तव्य प्रभु ! कर उपदेश ॥२२७॥
प्रभु आगे कथा मात्र ना करे रघुनाथ । स्वरूप-गोविन्द द्वारा कहाय निज बात ॥२२८॥
प्रभु–आगे स्वरूप निवेदिल आर-दिने । रघुनाथ निवेदये प्रभुर चरणे ॥२२९॥
कि मोर कर्त्तव्य, मुञि ना जानों उद्देश्य । आपनि श्रीमुखे मोर कर उपदेश ॥२३०॥
हासि महाप्रभु रघुनाथेरे कहिल । तोमा उपदेष्टा करि स्वरूपेरे दिल ॥२३१॥

फिर एक दिन श्रीरघुनाथदास जी ने श्रीस्वरूप गोस्वामी जी के चरणों में अपने कृत्य के लिये जिज्ञासा की। उन्होंने कहा –"श्रीमहाप्रभु ने मुझ से घर-बार क्यों छुड़ाया है, मैं उस लक्ष्य को नहीं जानता हूँ। प्रभु ! मुझे अब क्या करना है, मेरा क्या कर्त्तव्य है, उसका उपदेश दीजिये। "श्रीरघुनाथ-दास जी श्रीमहाप्रभु जी के सामने तो बात तक भी न कर सकते थे। अपने मन की बात श्रीस्वरूप गोस्वामी तथा श्रीगोविन्द के द्वारा ही श्रीमहाप्रभु जी को जताते थे। दूसरे दिन श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने श्रीमहाप्रभु जी को जनाया कि रघुनाथ आपके चरणों में कुछ निवेदन कर रहा है। उसने कहा है— "कि मेरा क्या कर्त्तव्य है ? मैं उसे नहीं जानता हूँ। आप अपने श्रीमुख से मुझे उपदेश कीजिये।" श्रीस्वरूप के वचन सुन कर श्रीमहाप्रभु जी हँस कर कहने लगे—"रघुनाथ ! मैंने तो उपदेश लेने के लिये तुम्हें स्वरूप को सौंप दिया है। वही तुम्हारा उपदेष्टा है ॥२२६-२३१॥

साध्य साधन-तत्त्व शिख इंहास्थाने। आमि तत नाहि जानि इंहो यत जाने ॥२३२॥
तथापि आमार आज्ञाय श्रद्धा यदि हय। आमार एइ वाक्य तबे करिह निश्चय ॥२३३॥
ग्राम्य कथा ना शुनिवे,ग्राम्यवार्त्ता ना कहिवे। भाल ना खाइवे,आर भाल ना परिवे॥२३४॥
अमानी मानद कृष्णनाम सदा लवे। व्रजे राधाकृष्ण सेवा मानसे करिवे ॥२३५॥
एइ त संक्षेपे आमि कैल उपदेश। स्वरूपेर ठाञि इहार पाइवे विशेष ॥२३६॥

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"रघुनाथ ! साध्य-साधन तत्त्व की शिक्षा तुम इन से सीखना, क्योंकि इस सम्बन्ध में श्रीस्वरूप जितना जानते हैं, मैं उतना नहीं जानता हूं। हां ! फिर भी यदि मेरी आज्ञा या मुझ से उपदेश लेने में तुम्हारी श्रद्धा है, तो तुम मेरे इन वाक्यों का निश्चय पूर्वक पालन करो। "जिस बात का भगवत् से कुछ सम्बन्ध नहीं—ऐसी ग्राम्य कथा को कभी नहीं सुनना और कभी नहीं कहना। रघुनाथ ! अच्छी वस्तु कभी नहीं खाना और अच्छा वस्त्र कभी नहीं धारण करना। सदा निर्भिमानी होकर रहना किन्तु सदा दूसरों को मान देना। सदैव श्रीकृष्ण नाम ग्रहण करना और फिर श्रीवृन्दाबन विहारी श्रीराधाकृष्ण की मानसी सेवा चिन्तन करते रहना। रघुनाथ ! यही मेरा तुम्हें संक्षेप में उपदेश है। विशेष रूप से सब उपदेश तुम श्रीस्वरूप से ग्रहण कर लेना।" ॥२३२-२३६॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमन्महाप्रभु जी ने पयार २२१ से २२५ तक वैरागी व्यक्ति के आचरण को इशारे से वर्णन किया ही था, उपर्युक्त पयारों में तो प्रभु ने वैरागी वैष्णव के आदर्शाचरण की बहुत ही संक्षेप में व्याख्या की है, किन्तु सागर को मानो गागर में भर दिया है। थोड़े शब्दों में ऐसा उत्तम उपदेश प्रभु ने केवल वैरागी के लिये ही नहीं समस्त साधक समाज के लिये श्रीमुख से किया है कि उस से बढ़ कर तो क्या, उसके समान और कोई उपदेश नहीं हो सकता।

सर्व प्रथम प्रभु ने कहा—"रघुनाथ ! **ग्राम्य-कथा को कभी नहीं सुनना और न ही कभी कहना।** ग्राम्य-कथा से साधारणतः स्त्री सम्बन्धीय या स्त्री सङ्ग सम्बन्धीय कथा -वार्त्ता से तात्पर्य है, किन्तु यहाँ उन समस्त-कथा वार्त्ता से अभिप्राय है, जिस का श्रीभगवान् के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे समाचार पत्रों के लूट-चोरी,दुर्घटना, इत्यादि के ऐसे अनेक समाचार—इत्यादि। इन सब कथाओं को सुनने एवं कहने से प्रभु ने मना किया है। कारण कि ऐसी बातों को सुनने एवं कहने से मन उसी प्रकार के विषयोंमें धावित होता है, उससे भगवद् बहिर्मुखता ही जन्मती है। ऐसी कथा-वार्त्ता से परमार्थ तो क्या स्वार्थ की भी कुछ सिद्धि नहीं होती।

फिर प्रभु ने कहा कि—"**रघुनाथ ! अच्छे-अच्छे पदार्थ मत खाओ और अच्छे-अच्छे वस्त्र भी नहीं पहनो**—यहाँ अच्छे-अच्छे पदार्थों से उन खाद्य पदार्थों से तात्पर्य है जो स्वादिष्ट हों, चटपटे एवं रजोगुण-तमोगुण उत्पन्न करने वाले हों। तथा अच्छे-अच्छे वस्त्रों से अभिप्राय है, जो विलासता एवं शारीरिक सुन्दरता के द्योतक हैं। ऐसे पदार्थों के सेवन करते रहने से यथा लाभ संतुष्ट रहने का जो सिद्धान्त है, वह दूर जाता रहता है। क्रमश: एक ऐसा अभ्यास बन जाता है कि फिर साधारण पदार्थ खाने एवं साधारण वस्त्र पहनने को मन ही नहीं करता है। ऐसे पदार्थों के आवेश में दैहिक सुख की ओर मन धावित होता है। इनसे इन्द्रियों में उत्तेजना बढ़ती है जो श्रीकृष्ण भजन से दूर फैंकने वाली है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है—साधक भक्त तो सदा श्रीकृष्ण-प्रसाद ग्रहण करते हैं। श्रीकृष्ण के लिये भक्त उत्तम-उत्तम पदार्थ ही अर्पण करता है। उत प्रसादी उत्तम पदार्थों को पाने से तो किसी प्रत्यवाय की सम्भावना नहीं हो सकती। महा प्रसाद के खाने से इन्द्रियों की उत्तेजना कैसे बढ़ सकती है ? महाप्रसाद तो चिन्मय-वस्तु है न ?

इसके उत्तर में श्रीमहाप्रभुजी की एक उक्ति का उल्लेख मिलता है। संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् श्रीमहाप्रभु जी जब श्री अद्वैताचार्य जी के घर शान्तिपुर में पधारे, तो आचार्य पाद ने अनेक प्रकार के उपकरण प्रभु के आगे प्रस्तुत किये। श्रीमहाप्रभु जी जानते थे कि वे समस्त पदार्थ श्रीकृष्ण अर्पित—महा प्रसाद हैं, किन्तु प्रभु ने कहा—"(२-३-८७)

संन्यासीर भक्ष्य नहे उपकरण। इहा खाइले कैसे हय इन्द्रिय वारण ?

ये वचन अवश्य प्रभु ने जीवों की शिक्षा के लिये कहे थे, तो भी इससे ज्ञात होता है कि उत्तम भोज्य पदार्थ महाप्रसाद होते हुए भी साधक के इन्द्रिय दमन में सहायक नहीं हैं। श्रीपाद माधवेन्द्र पुरी गोस्वामी जी ने भी जब गोवर्द्धनधारी श्रीगोपाल जी के आगे अनेक उत्तम-उत्तम पदार्थों का भोग लगाया था, तब उन्हों ने भी उन पदार्थों को ग्रहण नहीं किया—(२-५-९०)

रात्रि काले ठाकुरेर कराइया शयन। पुरी गोसाञि कैल किछु गव्य भोजन॥

अर्थात् श्रीमाधवेन्द्र पाद ने रात को श्रीगोपाल जी को शयन कराने के बाद कुछ दूधादि का पान कर लिया। उन का भी आचरण चाहे जीव शिक्षा के लिये था, तथापि श्रीरघुनाथदास जी के लिये जो केवल महा प्रसाद ही ग्रहण किया करते थे, उत्तम पदार्थों का भोजन करना इसलिये निषेध किया कि वे उपादेय पदार्थ महाप्रसाद होकर भी साधक जीव में प्रत्यवाय उत्पन्न कर सकते हैं।

जिन साधकों में इन्द्रिय सुख की वासना सम्यक् रूप से तिरोहित नहीं हुई है, उन में महाप्रसाद भी इन्द्रिय-उतेजना का कारण हो सकता है। इस बात से महाप्रसाद की महिमा में कुछ दोष नहीं आता है। भक्ति में मायादि के प्रभाव या इन्द्रिय चाञ्चल्यादि को दूर करने की पूर्ण शक्ति है। साधक के चित्त में कृपाकर भक्ति जब प्रवेश करती है,प्रवेश करते ही साधक के चित्तकी समस्त मलीनता एक दम दूर नहीं हो जाती, क्रमश: समय पाकर ही दूर होती है। जब तक कुछ मायिक गुण चित्त में रहते हैं तब तक देह-सुख की वासना के जाग्रत होने की सम्भावना रहती है। देह सुख-वासना से अनर्थों का उद्गम होता है। जातरति भक्त में भी वैष्णव-अपराध, मुमुक्षता, रत्याभास व अहं ग्रहोपासना आदि दोषों की जब सम्भावना रहती है, पूर्णा अनर्थ निवृत्ति के बाद भी जब अनर्थों के उद्गम की सम्भावना रहती है,जब भक्ति अङ्गों–श्रवण-कीर्त्तन आदि का अनुष्ठान करते हुए भी लाभ-प्रतिष्ठा आदि दुर्वासनाओं के उद्गम की सम्भावना रहती है, तब महाप्रसाद भी अवस्था विशेष में साधक के चित्त में इन्द्रियों की उत्तेजना बढ़ा सकता है।

महाप्रसाद के ग्रहण की वैष्णव या भक्त के लिये सदा व्यवस्था है, महाप्रसाद चिन्मय वस्तु है, उससे किसी अनिष्ट की सम्भावना नहीं हो सकती—इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साधक भक्त नाना प्रकार के उत्तम-उत्तम प्रसाद का भक्षण करे, प्रति दिन लड्डू कचौरी के पीछे ही भागता रहे। वैष्णव के लिये–मितभुक कहा गया है। अर्थात् वैष्णव परिमित आहार को ग्रहण करने वाला होता है। वैष्णव महाप्रसाद का कणिका लेकर भी उसका आदर विधान कर सकता है, किञ्चित् महाप्रसाद को ग्रहण कर उसकी मर्यादा की रक्षा की जा सकती है।

तदनन्तर श्रीमहाप्रभु जी ने रागानुगीय भजन के बाह्य एवं अन्तरङ्ग अंङ्ग का उपदेश दिया है। सदा श्रीकृष्ण नाम का ग्रहण करना रागानुगीय भजन का बहिरङ्ग साधन है और व्रज में श्री राधा कृष्ण की मानसिक सेवा करना रागानुगीय भजन का अन्तरङ्ग साधन है।

श्रीकृष्ण नाम से श्रीमन्महाप्रभु जी का अभिप्राय सोलह नाम बतीस अक्षर महामन्त्र अर्थात्—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

इस मन्त्र के ग्रहण करने से है, क्यों कि कलि का तारक-ब्रह्म नाम यही है। (अन्त्य-लीला पृष्ठ १०७ द्रष्टव्य।)

श्रीकृष्ण नाम किस रूप से ग्रहण करना चाहिये, इस बात का भी श्रीमहाप्रभु जी ने उपदेश दिया है–स्वयं अमानी होकर एवं दूसरे को सदा मान देते हुए श्रीकृष्ण नाम ग्रहण करना चाहिये। किसी से भी मान पाने की प्रत्याशा नहीं रखनी चाहिये। कारण कि उससे भक्ति में विघ्न उत्पन्न होता है। और अत्यन्त हीन-दीन घृणित व्यक्ति की तो बात दूर है, प्रभु ने कहा है कि शूकर–कुत्तादि तक को सम्मान देना चाहिये। कारण कि सब के भीतर अन्तर्यामीरूप से श्रीभगवान् विराजमान हैं –(३-२०-२०)

"जीवे सम्मान दिवे जानि कृष्णेर अधिष्ठान" ॥

अमानी एवं मानद होने पर ही साधक को अपने विषय में दीन-भाव का ज्ञान होता है। उसी दीनता से दम्भ-मात्सर्यादि भक्ति के प्रतिकूल भावों का नाश होता है, तभी निष्कपट भजन हो सकता है और तभी श्रीकृष्ण-चरण में आत्म समर्पण किया जा सकता है।

श्रीचैतन्य चरितामृत (१-८-२२ से २४) में कहा गया है —

एक कृष्ण नामे करे सर्वपाप नाश।
प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश॥
प्रेमेर उदये हय प्रेमेर विकार।
स्वेद कम्प-पुलकादि गद्गदाश्रुधार॥
अनायासे भव क्षय,कृष्णेर सेवन।
एक कृष्णनामेर फले पाइ एत धन॥

अर्थात् एक बार श्रीकृष्ण नाम ग्रहण करने से सर्व पापों का नाश होता है और प्रेम के जन्माने वाली भक्ति का हृदय में प्रकाश होता है। क्रमशः प्रेम के उदय होने पर प्रेम के विकार-स्वेद, कम्प, पुलक, गद्गद् कण्ठ, अश्रुधारा आदि सात्विक विकार शरीर में होने लगते हैं। इस प्रकार अनायास में संसार बन्धन टूट जाता है और श्रीकृष्ण की सेवा प्राप्त हो जाती है—एक बार श्रीकृष्ण नाम ग्रहण करने से इतनी सम्पत्ति की प्राप्ति होती है।

इस पर भी यह कहा गया है—"सकृदपि परिगीतं—श्रद्धयाहेलया व" अर्थात् श्रद्धा सेवा जिस किसी रूप से भी एक बार श्रीकृष्ण नाम ग्रहण किया जाये तो उपर्युक्त फल की प्राप्ति होती है, तब अमानी एवं मानद होकर श्रीकृष्ण नाम ग्रहण करने की क्या जरूरत है ?—इसका उत्तर यह है कि एक बार श्रीकृष्ण नाम ग्रहण करने से निश्चित रूप से उपर्युक्त फल—श्रीकृष्ण सेवा की प्राप्ति होती है, किन्तु केवल उस भाग्यवान् पुरुष को जो निरपराध है। जो व्यक्ति नामापराध, वैष्णवापराध एवं सेवापराध—इन तीन प्रकार के अपराधों से रहित है; उसी के पक्ष में ही एक वार श्रीकृष्ण इतने फल को प्रदान करने वाला है। जिस के चित्त में पूर्व सञ्चित अपराध रहते हैं—

"कृष्ण नाम-बीज ताहे ना हय अंकुर।" (१-८-२६)

उस व्यक्ति के हृदय में कृष्ण नाम रूप बीज अंकुरित नहीं होता है उसे श्रीकृष्ण नाम का उपर्युक्त फल प्राप्त नहीं होता है। इसलिये ही श्रीमहाप्रभु जी ने केवल अपराध रहित होने के लिये ही 'अमानी-मानद' एवं 'तृणादपि सुनीच' होकर नाम ग्रहण करने का उपदेश दिया है।

यहाँ यह भी स्मरण रहे कि श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीनामकीर्त्तन के उपलक्षण में नवविधा साधन-भक्ति का ही उपदेश दिया है। नव विधा-भक्ति में नाम सङ्कीर्त्तन ही सर्व श्रेष्ठ है। नाम सङ्कीर्त्तन नव-विधा भक्ति का अङ्गी है और अन्यान्य साधन उसके अङ्ग हैं। इसलिये नाम सङ्कीर्त्तन—अङ्गी का उल्लेख कर प्रभु ने उसके अन्यान्य अङ्गों का अनुष्ठान करने का भी उपदेश दिया है—ऐसा जानना चाहिये।

रागानुगीय भजन के अन्तरङ्ग अङ्ग का उल्लेख करते हुए श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा है—व्रज में श्रीराधाकृष्ण की मानसी सेवा करनी चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि साधक को सिद्ध देह से—अन्तश्चिन्तित देह से दास्य-वात्सल्य-सख्य एवं मधुर इन भावों में से किसी एक भावानुकूल भगवत् परिकर के आनुगत्य में श्रीवृन्दावन विहारी श्रीश्रीराधाकृष्ण की अष्टयाम उपासना मन से सदा चिन्तन करनी चाहिये। गौड़ीय सम्प्रदाय में श्रीराधा-मञ्जरी रूप से श्रीश्रीराधाकृष्ण की मधुर भावात्मिक मानसिक उपासना ही सर्व श्रेष्ठतम मानी गई है। (भूमिका पृष्ठ १७७ द्रष्टव्य है)

इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु जी ने अपने नित्य सिद्ध परिकर श्रीरघुनाथदास जी को लक्ष्य कर जीव-साधारण के लिये सर्वोत्कृष्ट उपदेश देते हुए आगे कहा—

तथाहि पद्यावल्याम् (३२)—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः ॥३॥

तृण से भी सुनीच होकर, वृक्ष की भान्ति सहन शील होकर, स्वयं मान रहित होकर एवं दूसरों को सदा मान देने वाला होकर श्रीहरि का सदा कीर्त्तन करना चाहिये ॥ ३ ॥ (भूमिका पृष्ठ २८९ द्रष्टव्य।)

एत शुनि रघुनाथ वन्दिल चरण। महाप्रभु कैल तांरे कृपा-आलिङ्गन ॥२३७॥
पुन सर्मपिल तांरे स्वरूपेर स्थाने। अन्तरङ्ग सेवा करे स्वरूपेर सने ॥२३८॥
हेनकाले आइला सब गौड़ेर भक्तगण। पूर्ववत् प्रभु सभाय करिल मिलन ॥२३९॥
सभा लञा कैल प्रभु गुण्डिचा मार्ज्जन। सभा लञा कैल प्रभु बन्य भोजन ॥२४०॥

रथयात्राय सभा लञा करिल नर्त्तन । देखि रघुनाथेर चमत्कार हैल मन ।।२४१।।

श्रीमहाप्रभु जी के उपदेश को सुन कर श्रीरघुनाथदास जी ने उनके चरणों में बन्दना की एवं प्रभु ने भी उन्हें कृपा पूर्वक आलिङ्गन किया। श्रीमहाप्रभु ने फिर एक बार श्रीरघुनाथदास को श्रीस्वरूप गोस्वामी जी को सौंपा। वे श्रीरूप गोस्वामी जी के साथ उनकी अन्तरङ्ग सेवा करते हुए रहने लगे। इसी समय सब गौड़ीय भक्त नीलाचल आ पहुँचे। पूर्ववत् श्रीमहाप्रभु जी सब से मिले। सब के साथ मिलकर प्रभु ने गुण्डिचा मन्दिर का मार्जन प्रक्षालन किया, सब के साथ प्रभु ने, वन्य भोजन किया एवं रथ-यात्रा के दिन सब को साथ लेकर श्रीजगन्नाथ जी के आगे नृत्य-गान किया। यह सब उत्सव देख कर श्रीरघुनाथदास जी का मन अतीव आनन्दित हुआ ।।२३७-२४१।।

रघुनाथदास यबे सभारे मिलिला । अद्वैत-आचार्य तांरे बहु कृपा कैला ।।२४२।।
शिवानन्द सेन तांरे कहे विवरण— । तोमा लैते तोमार पिता पाठाइल दशजन ।।२४३।।
तोमाके पाठाइते पत्री पाठाइल मोरे । झांकरा हैते तोमा ना पाइया गेल घरे ।।२४४।।

जब श्रीरघुनाथ दास जी सब गौड़ीय भक्तों से मिले, तब श्रीअद्वैताचार्य प्रभु ने उन पर बहुत कृपा की। श्रीशिवानन्द सेन ने दास गोस्वामी जी को सब हाल सुनाया कि तुम्हें लौटने के लिये तुम्हारे पिता जी ने दस व्यक्ति भेजे थे और तुम्हें वापस लौटा देने के लिये मुझे भी एक पत्री लिख भेजी थी। तुम्हें हमारे साथ न देखकर वे सब लोग झांकरा-गांव से वापस अपने घर लौट गये थे ।।२४२-२४४।।

चारि मास वहि भक्तगण गौड़े गेला । शुनि रघुनाथेर पिता मनुष्य पाठाइला ।।२४५।।
सेइ मनुष्य शिवानन्द सेनेरे पुछिला । महाप्रभुर स्थाने एक वैरागी देखिला ? ।।२४६।।
गोवर्द्धनेर पुत्र तेंहो--नाम रघुनाथ । तार परिचय नीलाचले आछे तोमार साथ? ।।२४७।।
शिवानन्द कहे, तेंहो हय प्रभुर स्थाने । परम विख्यात तेंहो, केवा नाहि जाने ? ।।२४८।।
स्वरूपेर स्थाने तांरे करियाछेन समर्पण । प्रभुर भक्तगणेर तेंहो हय प्राणसम ।।२४९।।
रात्रिदिने करे तेंहो नाम सङ्कीर्त्तन । क्षणमात्र नाहि छाड़े प्रभुर चरण ।।२५०।।
परम वैराग्य, नाहि भक्ष्य परिधान । यैछे तैछे आहार करि राखये पराण ।।२५१।।
दशदण्ड रात्रि गेले पुष्पाञ्जलि देखिया । सिंहद्वारे ठाड़ा हय आहार लागिया ।।२५२।।
केहों यदि देय, तबे करये भक्षण । कभु उपवास, कभु करेन चर्व्वण ।।२५३।।

गौड़ीय भक्त चार मास नीलाचल रहकर वापस अपने घरों में लौट गये। गौड़ीय भक्तों का वापिस आया जान कर श्रीरघुनाथ दास जी के पिता जी ने श्रीशिवानन्द सेन के पास अपना एक आदमी भेजा। उसने आकर श्रीशिवानन्द जी से पूछा—"महाप्रभु जी के पास आपने क्या किसी एक वैरागी को देखा था ? वह गोवर्द्धन दास का पुत्र है और उसका नाम 'रघुनाथ' है। नीलाचल में क्या उससे आपका कुछ परिचय हुआ था ? श्रीशिवानन्द जी ने कहा—"हां, हाँ, वह श्रीमहाप्रभ जी के साथ रहता है, उसे कौन नहीं जानता ? प्रभु ने उसे श्रीस्वरूप के हाथों सौंप दिया है। वह तो महाप्रभु जी के सब भक्तों को प्राण तुल्य प्रिय है। वह रात दिन निरन्तर श्रीकृष्ण नाम सङ्कीर्त्तन करता रहता है, एक क्षण के लिये

भी प्रभु-चरणों के चिन्तन को नहीं छोड़ता है। वह परम वैरागी है, उसे खान-पान एवं वस्त्रों का भी कुछ ध्यान नहीं है, जैसे तैसे वह अपने प्राणों को धारण कर रहा है। दशघड़ी रात बीतने पर श्रीजगन्नाथ जी की शयन-आरती, पुष्पाञ्जलि दर्शन करने के बाद वह भिक्षा के लिये सिंह द्वार पर आकर खड़ा हो जाता है, कोई दया कर यदि उसे कुछ दे देता है तो वह कुछ खा लेता है, नहीं तो वह उपवास कर लेता है। कभी-कभी तो वह चने चाव कर ही रह जाता है ॥२४५-२५३॥

एत शुनि सेइ मनुष्य गोवर्द्धन स्थाने। कहिलगिया सब रघुनाथ-विवरणे ॥२५४॥
शुनि तार माता-पिता दुखित हइला। पुत्र ठाञि द्रव्य मनुष्य पाठाइते मन कैला ॥२५५॥
चारिशत मुद्रा, दुइ भृत्य, एक ब्राह्मण। शिवानन्देर ठाञि पाठाइल ततक्षण ॥२५६॥
शिवानन्द कहे, तुमि सब याइते नारिबा। आमि यबे याइ तबे सङ्गे चलिबा ॥२५७॥
एबे घर याह, यबे आमि सब चलिब। तबे तोमा सभाकारे सङ्गे लञा याब ॥२५८॥

यह सब समाचार पाकर वह आदमी श्रीगोवर्द्धन दास के पास लौट आया एवं उसने श्रीरघुनाथ दास जी का सब हाल कह सुनाया। उसे सुनकर श्रीरघुनाथ दास जी के माता-पिता को बहुत दुख हुआ। उन्होंने पुत्र के पास कुछ सेवक एवं धनिराशि भेजने का विचार किया। चारसौ मुद्रा, दो सेवक एवं एक ब्राह्मण को उन्होंने उसी समय श्रीशिवानन्द के पास भेज दिया। श्रीशिवानन्द ने उनसे कहा—"आप लोग अकेले नीलाचल नहीं जा सकोगे। मैं जब जाऊँगा तब आप भी मेरे साथ चलना। इस समय आप घर लौट जाइये, जब हम सब गौड़ीय भक्त नीलाचल जाएँगे, तब आप सब को भी साथ ले चलेंगे।

एइ त प्रस्तावे श्रीकविकर्णपूर।
रघुनाथेर महिमा ग्रन्थे लिखियाछे प्रचुर ॥२५९॥

श्रीकविराज गोस्वामी कहते हैं—"इसी प्रसङ्ग में श्रीकवि-कर्णपूर ने अपने ग्रन्थ—श्रीचैतन्य चन्द्रोदय नाटक में श्रीरघुनाथदास जी की महिमा का प्रचुर गान किया है ॥२५९॥

तथाहि चैतन्य चन्द्रोदय नाटके (१०-३)

आचार्यो यदुनन्दनः लुमधुरः श्रीवासदेवप्रिय-
स्तच्छिष्यो रघुनाथ इत्यधिगुणः प्राणाधिको माद्दशम्।
श्रीचैतन्य कृपातिरेक सततस्निग्धः स्वरूपानुगो
वैराग्यैक निधिर्नकस्य विदितो नीलाचले तिष्ठताम् ॥४॥

मधुर-स्वभाव श्रीयदुनन्दनाचार्य श्रीवासुदेवदत्त के प्रिय पात्र हैं, उन के शिष्य अनेक गुणों के आकर श्रीरघुनाथदास हमें प्राण से अधिक प्रिय हैं। जो श्रीकृष्णचैतन्य देव को अत्यधिक कृपा प्राप्ति के कारण सतत स्निग्ध (उद्वेगशून्य) हैं, जो श्रीस्वरूप दामोदर के अति प्रिय हैं एवं जो वैराग्य के सागर हैं, उस श्रीरघुनाथदास को नहीं जाने—नीलाचल में ऐसा कौन व्यक्ति है ? ॥४॥

तथाहि चैतन्य चन्द्रोदय नाटके (१०-४)—

यः सर्वलोकैकमनोभिरुच्या सौभाग्यभूः काचिदकृष्टपच्या।
यत्रायमारोपण-तुल्यकालं-तत्प्रेमशाखी फलवान तुल्यम् ॥५॥

जो श्रीरघुनाथदास समस्त लोगों के एक मन की साधारण प्रीति का विषय होने से किसी एक अनिर्वचनीय अकृष्टपच्या सौभाग्यभूमि के तुल्य हुए हैं, जिस सौभाग्य भूमि में कृष्ण-प्रेम-तरु ने रोपण करते समय ही अनुपम फल को धारण किया है।

चै० च० चु० *टीका:*—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि श्रीरघुनाथदास जी समस्त लोगों की प्रीति के पात्र थे, समस्त लोग उन पर एक मन से प्रीति करते थे। वे फिर एक अनिर्वचनीय अकृष्टपच्या सौभाग्यभूमि के समान थे। अकृष्टपच्या वह भूमि होती है जिस में हल-आदि चलाने की भी आवश्यकता नहीं होती, उस में केवल बीज पड़ने से ही वृक्ष उत्पन्न हो आता है और फल देने लगता है। श्रीरघुनाथ दास जी मानो ऐसी सौभाग्यभूमि के समान थे। सौभाग्य अर्थ श्रीकृष्ण प्रेम का है, वे ऐसी भूमि थे कि जिस में श्रीकृष्ण-प्रेम का बीज विना किसी यत्न के अर्थात् साधन के फली भूत हो उठा और वह श्रीकृष्ण प्रेम सम्बन्धी कल्पतरु रूप फलित हो उठा। प्रेम बीज रोपण करते ही वह वृक्ष रूप में हो गया और उसमें फल भी उसी समय लग गया। अर्थात् महत्-कृपा जो कृष्ण-प्रेम का बीज है, वह उन्हें श्रीस्वरूप दामोदर जी से प्राप्त हुई और उसके साथ-साथ श्रीमहाप्रभु—श्रीकृष्ण-प्राप्ति जो अनुपम फल है उसकी भी प्राप्ति हो गई। महत्-कृपा एवं श्रीकृष्ण प्राप्ति दोनों ही सम काल में प्राप्त हो गये—यही एक अनिर्वचनीयता—परम आश्चर्य जनक बात है जो श्रीरघुनाथदास रूपी सौभाग्यभूमि में देखी गई है।

इस प्रकार श्रीकवि कर्णपूर जी ने श्रीरघुनाथदास जी की महिमा का वर्णन किया है।

शिवानन्द यैछे सेई मनुष्ये कहिल। कर्णपूर सेइ रूप श्लोक वर्णिल ॥२६०॥
वर्षान्तरे शिवानन्द चलिला नीलाचले। रघुनाथेर सेवक विप्र तांर सङ्गे चले ॥२६१॥
सेइ विप्र भृत्य चारिशत मुद्रा लञा। नीलाचले रघुनाथे मिलिला आसिया ॥२६२॥
रघुनाथ दास अङ्गीकार ना करिला। द्रव्य लञा तिन ताहांइ रहिला ॥२६३॥
तवे रघुनाथ करि अनेक यतन। मासे दुइदिन कैल प्रभुर निमन्त्रण ॥२६४॥
दुइ निमन्त्रणे लागे कौड़ी अष्टपण। ब्राह्मण भृत्य ठाञि करे एतेक ग्रहण ॥२६५॥

श्रीशिवानन्द जी ने श्रीरघुनाथदास जी के सम्बन्ध में जो वात श्रीगोवर्द्धनदास के सेवक से कही थी, वही वात ही श्रीकवि कर्णपूर जी ने श्लोक में वर्णन की है, वर्ष वीतने पर श्रीशिवानन्द जी जब नीलाचल गये तो श्रीरघुनाथदास के दो सेवकों को और एक ब्राह्मण को साथ ले गये। वे सेवक व ब्राह्मण अपने साथ चार सौ मुद्रा भी ले गये। नीलाचल में वे सब रघुनाथदास जी से आकर मिले। श्रीरघुनाथदास जी ने सेवक, ब्राह्मण एवं मुद्रा, किसी को भी अङ्गीकार न किया। वे तीनों मुद्राओं को लेकर वहीं धरना देकर रहे आए। (श्रीरघुनाथदास जी ने पिता द्वारा प्रेषित धन को प्रभु सेवा में लगाने के लिये एक युक्ति सोची) वे एक मास में दो दिन श्रीमहाप्रभु जी को अनेक यत्न-पूर्वक निमन्त्रण देने लगे। दो दिन के निमन्त्रण में उन्हें केवल ६४० कौड़ी (लगभग आठ आने) खर्च पड़ता था। बस उतना ही धन वे ब्राह्मण एवं सेवकों से लेते। (उस खर्च में केवल श्रीमहाप्रभु जी को निमन्त्रण कराते, आप उसमें से कुछ भी ग्रहण न करते।) ॥२६०-२६५॥

एइमत निमन्त्रण वर्ष दुइं कैल। पाछे निमन्त्रण रघुनाथ छाड़ि दिल ॥२६६॥
मास-दुइ रघुनाथ ना करे निमन्त्रण। स्वरूपे पुछिल तवे शचीर नन्दन ॥२६७॥

रघु केने आमार निमन्त्रण छाड़ि दिल ? । स्वरूप कहे,मने किछु विचार करिल ।।२६८।।
विषयीर द्रव्य लञा करि निमन्त्रण । प्रसन्न ना हय इहाय जानि प्रभुर मन ।।२६९।।
मोर चित्त द्रव्य लैते ना हय निर्मल । एइ निमन्त्रणे देखि प्रतिष्ठामात्र फल ।।२७०।।
उपरोधे प्रभु मोर माने निमन्त्रण । ना मानिले दुखी हैवे एइ मूढ़ जन ।।२७१।।
एत विचारिया निमन्त्रण छाड़ि दिल । शुनि महाप्रभु हासि बलिते लागिल ।।२७२।।

इस प्रकार श्रीरघुनाथदास जो ने दो वर्ष तक श्रीमहाप्रभु जी को निमन्त्रण कराया, फिर उन्होंने ऐसा करना छोड़ दिया । बिना निमन्त्रण जब दो मास निकल गये, तब श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीस्वरूप से पूछा—"स्वरूप ! रघुनाथ ने मुझे निमन्त्रण देना क्यों छोड़ दिया है ? श्रीस्वरूप दामोदर ने कहा—" प्रभु ! उसने मन में कुछ ऐसा विचार किया है कि विषयी पुरुष का द्रव्य लेकर मैं निमन्त्रण करता हूँ, इससे महाप्रभु जी का मन प्रसन्न नहीं होता है, कारण कि मेरा चित्त ही जब इस द्रव्य को लेकर प्रसन्न नहीं होता है, (तो प्रभु का मन कैसे प्रसन्न होता होगा ।) ऐसे निमन्त्रण का फल केवल प्रतिष्ठा ही मुझे दीखता है । श्रीमहाप्रभु जी भी मेरे अनुरोधवश मेरा निमन्त्रण स्वीकार कर लेते हैं क्यों कि वह जानते हैं कि मैं मूर्ख हूं और यदि वे मेरा निमन्त्रण स्वीकार नहीं करेंगे तो मैं दुख पाऊँगा । यही विचार कर, प्रभु ! उसने निमन्त्रण देना छोड़ दिया है । श्रीस्वरूप के वचन सुनकर श्रीमहाप्रभु जी हंस पड़े और कहने लगे ।।२६६–२७२।।

विषयीर अन्न खाइले मलिन हय मन । मलिन मन हैले नहे कृष्णेर स्मरण ।।२७३।।
विषयीर अन्ने हय राजस-निमन्त्रण । दाता भोक्ता दोंहार मलिन हय मन ।।२७४।।
इंहार सङ्कोचे आमि एत दिन निल । भाल हैल,जानिया आपनि छाड़ि दिल ।।२७५।।
कथोदिने रघुनाथ सिंहद्वार छाड़िल । छत्रे याइ मागि खाइते आरम्भ करिल ।।२७६।।
गोविन्द पाश शुनि प्रभु पुछे स्वरूपेरे । रघु भिक्षा लागि ठाड़ा ना हय सिंहद्वारे? ।।२७७।।

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"स्वरूप ! विषयी पुरुष का अन्न खाने से मन मलीन होता है और मलीन मन में श्रीकृष्ण की स्मृति नहीं होती । विषयी के अन्न से दिया हुआ निमन्त्रण राजसी-निमन्त्रण होता है, उससे दाता एवं भोक्ता दोनों का मन मलीन होता है । स्वरूप ! मैं भी रघुनाथ के सङ्कोचवश उसके निमन्त्रण को स्वीकार करता रहता हूं, अच्छा हुआ, उसे यह विचार आ गया और उसने अपने आप निमन्त्रण करना छोड़ दिया " । श्रीरघुनाथ दास जी ने कुछ दिन पीछे सिंह द्वार पर जाकर भिक्षा करना भी छोड़ दिया और क्षेत्रों (सत्रों) पर (जहां दाता लोग गरीबों को अन्न बांटते हैं) जाकर भिक्षा करके भोजन करना आरम्भ कर दिया । जब श्रीगोविन्द से महाप्रभु जी ने यह बात सुनी तो उन्होंने स्वरूप दामोदर से पूछा —"स्वरूप ! रघुनाथ अब सिंह द्वार पर जाकर क्या भिक्षा नहीं करता है ? ।।२७३–२७७।।

स्वरूप कहे, सिंहद्वारे दुखानुभविया । छत्रे याइ मागि खाय मध्याह्न काले याञा ।।२७८।।
प्रभु कहे, भाल कैल छाड़िल सिंहद्वार । सिंहद्वारे भिक्षावृत्ति वेश्यार आचार ।।२७९।।

श्रीस्वरूप जी ने कहा—"सिंह द्वार पर (खड़े रहकर चित्त की चञ्चलता एवं उससे भजन में विघ्न होने के) दुख का अनुभव कर रघुनाथ ने वहां भिक्षा करना छोड़ दिया है, अब वह मध्याह्न में

क्षेत्र पर जाकर माँग कर कुछ खा लेता है" । श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"यह उसने अच्छा किया है कि सिंह द्वार पर भिक्षा करना छोड़ दिया है । कारण कि सिंह द्वार पर खड़े होकर जो भिक्षावृत्ति है, वह वेश्यावृत्ति के समान मन की चञ्चलता विधान करने वाली है" । जैसा कि कहा गया है—

तथाहि—

किमर्थं ?—अयमागच्छति, अयं दास्यति,
अनेन न दत्तम्, अयमपरः समेत्ययं दास्यति,
अनेनापि न दत्तमन्यः समेष्यति दास्यति ॥६॥ इत्यादि ॥

एक वेश्या दरवाजे पर खड़ी-खड़ी सोचती रहती है—"यह व्यक्ति आ रहा है, यह मुझे (अङ्गीकार कर, मुझे) धन देगा" । जब वह वहाँ से निकल जाता है तो वह सोचती है—"इसने तो कुछ भी न दिया, अच्छा यह दूसरा व्यक्ति आरहा है, यह मुझे धन देगा" । जब वह भी उसे कुछ नहीं देता, तो फिर वह कहती है—"इसने भी मुझे कुछ न दिया, अच्छा यह एक और व्यक्ति आरहा है, यह मुझे धन देगा" । [तात्पर्य यह है कि जैसे वेश्या एक के बाद दूसरे व्यक्ति की आशा में चञ्चलता को प्राप्त होती है, श्रीमन्महा प्रभु जी ने कहा कि सिंह द्वार पर भिक्षा वृत्ति भी उसी प्रकार मन की चञ्चलता उत्पन्न करने वाली थी—अच्छा हुआ, रघुनाथ ने उसे छोड़ दिया है ।]

छत्रे याइ यथालाभ उदर-भरण । मनः कथा नाहि, सुखे कृष्ण सङ्कीर्त्तन ॥२८०॥
एत बलि पुन तांरे प्रसाद करिल । गोवर्द्धनेर शिला गुञ्जामाला तांरे दिल ॥२८१॥
शङ्करारण्य सरस्वती वृन्दावन हैते आइला । ताहां हैते सेइ शिला-माला लञा गेला॥२८२॥
पार्श्वे गांथा गुञ्जामाला,गोवर्द्धनेर शिला । दुइ वस्तु महाप्रभुर आगे आनि दिला॥२८३॥
दुइ अपूर्व वस्तु पाञा प्रभु तुष्ट हैला । स्मरणेर काले गले परे गुञ्जामाला ॥२८४॥
गोवर्द्धनेरशिला कभु हृदये नेत्रे धरे । कभु नासाय घ्राण लय कभु लय शिरे ॥२८५॥
नेत्रजले सेइ शिला भिजे निरन्तर । शिलाके कहेन प्रभु—"कृष्ण-कलेवर" ॥२८६॥
एइमत तिन वत्सर शिला-माला धरिल । तुष्ट हञा शिला-माला रघुनाथे दिल ॥२८७॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने आगे कहा—"छेत्र में जाकर भिक्षा करने से जो भी मिल जाय उससे उदर-भरण हो जाता है। इससे मन की चञ्चलता वाली कोई बात नहीं होती और स्थिरता से सुखपूर्वक श्रीकृष्ण संङ्कीर्त्तन भी हो सकता है" । इतना कह कर श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीरघुनाथदास पर फिर एक कृपा की । वह यह कि प्रभु ने उन्हें एक श्रीगिराज की शिला तथा एक गुञ्जामाला प्रदान की । (वह दोनों वस्तुएं कहां से प्रभु के पास आईं एवं प्रभु उन्हें क्या करते थे, इस के सम्बन्ध में ग्रन्थकार कविराज कहते हैं—) श्रीशङ्करारण्य सरस्वती पाद जब श्रीवृन्दावन आये थे तब वे इस शिला एवं माला को अपने साथ लाये थे । पास-पास गुथी हुई गुञ्जाओं की माला,तथा श्रीगिरराज की शिला—ये दोनों वस्तुएँ उन्होंने श्रीमहाप्रभु जी को लाकर अर्पण की थीं । श्रीमहाप्रभु जी इन दोनों अपूर्व वस्तुओं को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए । श्रीमहाप्रभु जी व्रजलीला को स्मरण करते समय (जीव शिक्षा के लिये भजन चिन्तन करते समय) इस गुञ्जामाला को तो अपने गले में धारण कर लेते और श्रीगिरधारी शिला को कभी हृदय से,

कभी नेत्रों से लगाते, कभी उसकी घ्राण (गन्ध) को लेते और कभी उसे सिर पर धारण करते थे। यह शिला निरन्तर प्रभु के नेत्र जल से भीजी हुई रहती थी। इस शिला को श्रीमहाप्रभु जी 'कृष्ण कलेवर' कह कर पुकारा करते थे। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी ने इस शिला एवं गुञ्जामाला को अपने पास तीन वर्ष रखा। अब सन्तुष्ट होकर इन दोनों वस्तुओं को प्रभु ने श्रीरघुनाथदास जी को दे दिया ॥२८०-२८७॥

प्रभु कहे, सेइ शिला 'कृष्णेर-विग्रह'। इहार सेवा कर तुमि करिया आग्रह ॥२८८॥
एइ शिलार कर तुमि सात्त्विक-पूजन। अचिराते पावे तुमि कृष्ण प्रेमधन ॥२८९॥
एक कुजा जल आर तुलसी मञ्जरी। सात्त्विक सेवा एइ शुद्ध-भावे करि ॥२९०॥
दुइ दिके दुइ पत्र मध्ये कोमल मञ्जरी। एइ मत अष्टमञ्जरी दिबे श्रद्धा करि ॥२९१॥
श्रीहस्ते शिला दिया एइ आज्ञा दिला। आनन्दे रघुनाथ सेवा करिते लागिला ॥२९२॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा—"रघुनाथ! यह शिला श्रीकृष्ण-विग्रह तुल्य है, तुम श्रद्धापूर्वक इसकी नित्य पूजा किया करो। (लम्बे-चौड़े पूजा के उपकरणों की तुम्हें आवश्यकता नहीं है) इस का तुम सात्त्विक पूजन करो। इससे तुम्हें शीघ्र ही श्रीकृष्ण प्रेमधन की प्राप्ति हो जायगी, एक कूजा जल से एवं तुलसी मञ्जरी से शुद्ध भाव पूर्वक इसकी सात्त्विक पूजा करो। दो तुलसी दल एवं बीच में कोमल मञ्जरी—ऐसी आठ मञ्जरियों को श्रद्धा से अर्पण करना" इतना कह कर श्रीमहाप्रभु जी ने अपने श्रीहस्त से वह शिला श्रीरघुनाथ दास जी को दे दी, एवं वे उसे प्राप्त कर बहुत आनन्दित हुए एवं उसकी सेवा-पूजा करने लगे ॥२८८-२९२॥

एक वितस्ति दुइ वस्त्र, पिंड़ि एकखानि। स्वरूपगोसाञि दिलेन कुजा आनिवारे पानी॥२९३॥
एइमत रघुनाथ करेन पूजन। पूजाकाले देखे शिलाय 'ब्रजेन्द्रनन्दन' ॥२९४॥
'प्रभुर स्वहस्तदत्त गोवर्द्धन शिला'। एइ चिन्ति रघुनाथ प्रेमे भासि गेला ॥२९५॥
जल तुलसीर सेवाय तांर यत सुखोदय। षोड़शोपचार-पूजाय तत सुख नय ॥२९६॥
एइमत कथोदिन करेन पूजन। तबे स्वरूप गोसाञि तांरे कहिल वचन ॥२९७॥
अष्टकौड़िर खाजा सन्देश कर समर्पण। श्रद्धा करि दिले सेइ अमृतेर सम ॥२९८॥

(श्रीरघुनाथदास जी के पास क्या था ?) श्रीस्वरूप दामोदर जी ने एक-एक वितस्ति प्रमाण के दो वस्त्र, श्रीगिरराज शिला के विराजमान करने के लिये एक पीढ़ी (आसन) और पानी लाने के लिए एक मिट्टी का कूजा उन्हें दिया। श्रीमहाप्रभु जी के आदेशानुसार श्रीरघुनाथदास जी पूजन करने लगे। पूजा करते समय वह शिला के साक्षात् श्रीब्रजेन्द्रनन्दन रूप में दर्शन करते थे। "श्रीमहाप्रभु जी ने अपने श्रीहस्त से मुझे यह श्रीगिरधारी शिला दी है"—इस बात की चिन्ता करते ही श्रीरघुनाथदास जी प्रेम में निमग्न हो जाते। जल एवं तुलसी द्वारा सेवा में जो उन्हें सुख मिलता था, वह सुख षोड़शोपचारों द्वारा पूजन में भी नहीं मिलता होगा, (षोड़शोपचार मध्यलीला २४-२४६ पयार की टीका में द्रष्टव्य) इस प्रकार कुछ दिन वे आनन्द पूर्वक सेवा-पूजा करते रहे। तब एक दिन श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने उनसे कहा—"रघुनाथ! श्रीगिरिधारी जी को खाजा-सन्देश, जो केवल आठ कौड़ी में मिलता है, समर्पण करो श्रद्धापूर्वक उसका भोग श्रीगिरधारी जी को अमृत के समान सुखदाता है" ॥२९३-२९८॥

तबे अष्ट कौड़िर खाजा करे समर्पण । स्वरूप आज्ञाय गोविन्द ताहा करे समाधान।।२९९।।
रघुनाथ सेइ शिला माला यबे पाइल । गोसाञ्िर अभिप्राय एइ भावना करिल-।।३००।।
शिला दिया गोसाञ्ि मोरे समपिला गोवर्द्धने । गुञ्जमाला दिया दिला राधिका-चरणे।।३०१।।
आनन्दे रघुनाथेर बाह्यविस्मरण । कायमने सेविलेन गौराङ्ग—चरण ।।३०२।।
अनन्त गुण रघुनाथेर के करिवे लेखा ? । रघुनाथेर नियम येन पाषाणेर रेखा ।।३०३।।

तब से श्रीरघुनाथ दास जी अष्ट कौड़ीका खाजा-सन्देश श्रीगिरधारी को अर्पण करने लगे। उसका प्रवन्ध श्रीस्वरूप जी की आज्ञा से श्रीगोविन्द किया करते, अर्थात् प्रतिदिन वह आठ कौड़ी भोग के लिये श्रीरघुनाथ दास जी को दिया करते। श्रीरघुनाथदास जी को जब श्रीमहाप्रभु जी ने शिला एवं माला प्रदान की, श्रीरघुनाथदास जी ने प्रभु का अभिप्राय यही समझा कि प्रभु ने मुझे गिरिराज शिला देकर मानो मुझे श्रीगोवर्द्धन-श्रीगिरराज के चरणों में अर्पण कर दिया है और गुञ्जमाला देकर मुझे श्रीराधा-जी के चरणों में सौप दिया है। (श्रीरघुनाथदास जी ने व्रज में आकर श्रीगोवर्द्धन के चरणों में श्रीराधा कुण्ड पर ही निवास किया एवं वहां श्रीयुगल किशोर की चरण सेवा साक्षात् रूप से प्राप्त की। उनकी समाधि अब भी श्रीराधाकुण्ड पर वर्तमान है) श्रीरघुनाथ दास जी ने काय मन से वाह्यस्मृति को त्याग कर आनन्दपूर्वक श्रीगौराङ्ग देव की चरण सेवा की। उनके अनन्त गुण हैं,उनका कौन वर्णन कर सकता है ? श्रीरघुनाथदास जी का भजन-नियम पत्थर की लकीर के समान दृढ़ था ।।२९९-३०३।। (कैसा नियम था, उसका उल्लेख करते हैं—)

साढ़े सात प्रहर याय यांहार स्मरणे । आहार-निद्रा चारिदण्ड,सेहो नहे कोनदिने ।।३०४।।
वैराग्येर कथा तांर अद्भुत कथन । आजन्म ना दिल जिह्वाय रसेर स्पर्शन ।।३०५।।
छिण्डा कानि कांथा बिनु ना परे वसन । सावधाने प्रभुर कैल आज्ञार पालन ।।३०६।।
प्राण रक्षा लागि येवा करेन भक्षण । ताहा खाञा आपनाके कहे निर्वेद वचन ।।३०७।।

साढ़े सात प्रहर (लगभग साढ़े बाईस घंटे) उनके प्रभु-स्मरण में चले जाते, भोजन एवं निद्रा के लिये उन्हें केवल चार दण्ड (९६ मिनट) का समय मिलता, वह भी कभी मिलता कभी वह भी नहीं। उनके वैराग्य की वात तो एक अद्भुत कथन है। उन्होंने वराग्य लेने के बाद जिह्वाको रस का स्पर्श कराया ही नहीं, (जो मिल गया, जैसा मिल गया उसे उदर पूर्ति के लिये खा लिया) फटे पुराने कन्थाकों को छोड़ कर उन्हों ने कोई वस्त्र धारण ही नहीं किया। श्रीमहाप्रभु जी ने जो (भाल ना खाइवे आर भाल ना परिवे) आज्ञा की थी, उसका सावधानी से पालन किया। प्राणरक्षा के लिये भी वे जो खाते थे, उसे खाकर भी अपने को वे कोसा करते थे, भले-बुरे वचन कहा करते थे।।३०४-३०७।। जैसा कि श्रीभागवत् जी में कहा है—

तथाहि (भाः ७-१५-४०)-

आत्मानं चेद्विजानीयात् परं ज्ञान धूताशयः ।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः ।।७।।

जिसने अपने को शरीर से परे— भिन्न जान लिया है एवं ज्ञान द्वारा जिस की वासनाएँ विनष्ट हो चुकी हैं, वह फिर किसी अभिलाषा में, किस लिए देहादि में आसक्त होकर शरीर का पोषण करेगा ? अर्थात् वह देहादि के पालन-पोषण में आसक्त नहीं होता है ।।७।।

प्रसाद भात पसारिर यत ना विकाय । दुइ तिन दिन हैले भात सड़ि याय ।।३०८।।
सिंहद्वारे गावी–आगे सेइ भात डारे । सड़ा-गन्धे तैलङ्गा गाइ खाइते ना पारे ।।३०९।।
सेइ भात रघुनाथ रात्र्ये घरे आनि । भात पाखालिया पेले दिया बहु पानी ।।३१०।।
भितरेर दृढ़ येइ माजिभात पाय । लोण दिया माखि सेइ सब भात खाय ।।३११।।
एक दिन स्वरूप ताहा करिते देखिल । हासिया ताहार किछु मागिया खाइल ।।३१२।।
स्वरूप कहे,ऐछे अमृत खाओ निति निति । आमासभाय नाहि देओ,कि तोमारप्रकृति।।३१३।।

श्रीजगन्नाथ पुरी में प्रसाद बेचने वाले दूकानदारों का जो चावलों का प्रसाद विकने से बच जाता और दो-तीन दिन रखा रह जाने से सड़ जाता—दुर्गन्धि देने लगता, उसे वे सिंह द्वार पर गैयाओं के आगे डाल दिया करते थे । किन्तु खट्टी बास के मारे उन चावलों को गैयाएं न खाती थीं । कभी-कभी उन्हीं चावलों को ही श्रीरघुनाथ दास रात के समय जाकर उठा लाते एवं उन्हें बहुत से पानी से धोलेते । उन चावलों का जो भीतरी अंश जो कुछ कड़ा-कड़ा शेष में बच जाता उसमें थोड़ा नमक मिलाकर उसे वे खालेते । एक दिन श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने उन्हें ऐसा करते देख लिया और हंसी करते हुए उन से कुछ मांग कर खाया और कहने लगे—"रघुनाथ! ऐसा अमृत तुल्य प्रसाद तुम रोज़-रोज़ खाते हो, हम सब को कभी नहीं देते हो, ऐसी क्या बात है ? ।।३०८–३१३।।

गोविन्देरमुखे प्रभु से वार्त्ता शुनिला । आरदिन प्रभु आसि ताहां कहिते लागिला।।३१४।।
काहां वस्तु खाओ सभे,आमाय ना देओ केने । एत बलि एक ग्रास करिल भक्षणे ।।३१५।।
आर ग्रास लैते स्वरूप हाथे त धरिला । तोमार योग्य नहे,बलि बले काढ़ि निला।।३१६।।
प्रभु कहे, निति निति नाना प्रसाद खाइ । ऐछे स्वादु आर कोन प्रसादे ना पाइ ।।३१७।।
एइमत रघुनाथे बार बार कृपा करे । रघुनाथेर वैराग्य देखि सन्तोष अन्तरे ।।३१८।।
आपन उद्धार एइ रघुनाथदास । गौराङ्गस्तव कल्पवृक्षे करियाछेन प्रकाश ।।३१९।।

यह बात श्रीगोविन्द के मुख से जब श्रीमहाप्रभु जी ने सुनी, तो दूसरे दिन रात को भोजन के समय श्रीमहाप्रभु जी भी वहाँ आ पहुँचे और कहने लगे—"रघुनाथ ! स्वरूप ! आप सब क्या खा रहे हैं ? मुझे क्यों नही देते हो ? इतना कह कर प्रभु ने झट एक ग्रास उठा कर खा लिया । दूसरा ग्रास मुख में देना ही चाहते थे कि श्रीस्वरूप ने प्रभु का हाथ पकड़ लिया और कहा—"प्रभु ! यह आप के योग्य नहीं है" । इतना कह कर उन्हों ने बल पूर्वक प्रभु के हाथ से भात को छुड़ा लिया । श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"मैं नित्य प्रति अनेक प्रकार का प्रसाद पाता हूं किन्तु जैसा स्वाद इस प्रसाद में मुझे मिला, आज तक और किसी प्रसाद में नहीं मिला" । इस प्रकार बार-बार श्री महाप्रभु जी श्रीरघुनाथदास जी पर कृपा करते हैं और उनके वैराग्य को देख कर प्रभु मन में बहुत प्रसन्न होते हैं । श्रीमहाप्रभु जी की कृपा एवं अपने उद्धार की कथा का श्रीरघुनाथ जी ने अपने ग्रन्थ—श्रीगौराङ्ग स्तवकल्पतरु में इस प्रकार उल्लेख किया है:—।।३१४–३१९।।

तथाहि स्तवावल्यां गौराङ्गस्तव कल्पतरोः (११)—

महासम्पद्दावादपि पतितमुद्‌धृत्य कृपया
स्वरूपे यः स्वीये कुजनमपि मां न्यस्य मुदितः ।
उरो गुञ्जाहारं प्रियमपि च गोवर्द्धन शिलां
ददौ मे गौराङ्गो हृदय उदयन् मां मदयति ॥८॥

जिन (श्रीमहाप्रभु जी) ने मुझ पतित एवं घृणित व्यक्ति को भी महासम्मत्तिरूप दावाग्नी से कृपावशतः उद्धार किया है और अपने अन्तरङ्ग पार्षद श्रीस्वरूप गोस्वामीजी के हाथ मुझे अर्पण कर जो प्रसन्न हुए हैं, एवं जिन्होंने अपने वक्षस्थल की प्रिय गुञ्जामाला और श्रीगोवर्द्धन शिला मुझे प्रदान की है, वे श्रीगौराङ्ग देव मेरे हृदय में उदित होकर मुझे आनन्दित कर रहे हैं ॥८॥

एइ त कहिल रघुनाथेर मिलन । येइ इहा शुने पाय चैतन्य चरण ॥३२०॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश । चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥३२१॥

श्रीकविराज कहते हैं—"मैंने इस प्रकार श्रीरघुनाथदास जी के श्रीमहाप्रभु जी के साथ मिलन के प्रसङ्ग को वर्णन किया है, जो इसे सुनेगा—पढ़ेगा, उसे श्रीचैतन्यदेव के चरणों की प्राप्ति होगी"। श्रीरूप गोस्वामी एवं श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥३२०–३२१॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां
श्रीरघुनाथदास मिलनं नाम
षष्ठ परिच्छेदः ॥६॥

जयगौर

अन्त्य-लीला

सप्तम परिच्छेद

*

चैतन्यचरणाम्भोजमकरन्दलिहः सतः।
भजे येषां प्रसादेन पामरोऽप्यमरो भवेत् ॥१॥

जिन की कृपा से अत्यन्त पामर व्यक्ति भी देवता के समान पूज्य बन जाता है, उन श्रीचतन्य देव के चरण कमलों का मकरन्द पान करने वाले महत् पुरुषों की मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

[इस सप्तम परिच्छेद में श्रीमन्महाप्रभु जी ने भक्तों के गुणों का गान किया है एवं श्रीवल्लभ-भट्टाचार्य के पाण्डित्य के गर्व का नाश किया है और जैसे उन पर श्रीमहाप्रभु जी ने कृपा की है--वह सब प्रसङ्ग वर्णन किया गया है।]

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द। जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्त वृन्द ॥१॥
आर वत्सर यदि गौड़ेर भक्तगण आइला। पूर्ववत् महाप्रभु सभारे मिलिला ॥२॥
एइमत विलसे प्रभु भक्तगण लञा। हेनकाले वल्लभ-भट्ट मिलिल आसिया॥३॥
आसिया वन्दिल भट्ट प्रभुर चरण। प्रभु भागवतबुद्धये कैल आलिङ्गन ॥४॥

श्री श्री चैतन्य देव की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु जी की जय हो। श्रीअद्वैताचार्य प्रभु की जय हो, श्रीगौर भक्त वृन्द की जय हो। अगले वर्ष रथयात्रा के अवसर पर फिर सब गौड़ीय भक्त श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन करने नीलाचल आए। पूर्ववत् श्रीमहाप्रभु जी सब से मिले। अपने भक्त गणों के साथ जब श्रीमहाप्रभु विराजमान थे, उसी समय श्रीवल्लभ-भट्टाचार्य (वल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक) श्रीमहाप्रभु जी को मिलने आए। उन्होंने आकर श्रीमहाप्रभु जी के चरणों में वन्दना की एवं श्रीमहाप्रभु जी ने उन्हें भगवद्भक्त जान कर आलिङ्गन किया ॥१-४॥

मान्य करि प्रभु तांरे निकटे वसाइला। विनय करिया भट्ट कहिते लागिला ॥५॥
बहु दिन मनोरथ तोमा देखिवारे। जगन्नाथ पूर्ण कैल, देखिल तोमारे ॥६॥
तोमारे देखिये येन् साक्षात् भगवान्। ब्रजेन्द्रनन्दन तुमि, इथे नाहि आन ॥७॥
तोमारे स्मरण करे, से हय पवित्र। दर्शने पवित्र हय इथे कि विचित्र? ॥८॥

श्रीमहाप्रभु जी ने आदर पूर्वक श्रीवल्लभाचार्य जी को अपने पास बैठाया। (श्रीवल्लभाचार्य जी ने श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन काशी में किये थे और इन्हें अपने आड़ाइल गाँव में लेजाकर भोजन कराया था—उस दिन के बाद आज फिर इन दोनों का परस्पर मिलन हुआ) श्रीवल्लभाचार्यजी विनय पूर्वक कहने लगे—"प्रभु ! बहुत दिन से आपके दर्शनों की मन में अभिलाषा थी,श्रीजगन्नाथ जी की कृपा से वह अभिलाषा आज पूर्ण हुई है कि आपके दर्शन प्राप्त हुए हैं। आप तो साक्षात् श्रीव्रजेन्द्रनन्दन भगवान् श्रीकृष्णहो—इसमें कुछ संशय नहीं है। आप का स्मरण मात्र करने से ही व्यक्ति पवित्र हो जाता है, आपके दर्शन अरने से मैं पवित्र होगया हूँ—इसमें कहना ही क्या है ? ॥ ५-८ ॥ श्रीमद्भागवत जी में जसा कि कहा गया है—

तथाहि (भा: १-१९-३३)—

येषां संस्मरणात् पुंसां सद्यः शुद्धचन्ति वै गृहाः ।
किं पुनर्द्दर्शनस्पर्श—पाद शौचासनादिभिः ॥२॥

श्रीकृष्ण भगवान् को लक्ष्य करते हुए राजा परीक्षित ने कहा है—"जिन का स्मरण-मात्र करने से पुरुषों के गृहादि तत्क्षणात् पवित्र हो जाते हैं (अर्थात् स्मरण करने वाला, उसके कुटुम्बी एवं उनके गृहादि जिन के स्मरण-मात्र से पवित्र हो जाते हैं) उन भगवान् के दर्शन, स्पर्शन, पाद प्रक्षालन एवं उपवेशनादि के द्वारा पवित्रता होती है, इसमें और आश्चर्य क्या है ? ॥२॥

कलिकाले धर्म—कृष्णनाम सङ्कीर्त्तन । कृष्णशक्ति बिने नहे तार प्रवर्त्तन ॥९॥
ताहा प्रवर्त्ताइले तुमि, एइ त प्रमाण । कृष्णशक्ति धर तुमि, इथे नाहि आन ॥१०॥
जगते करिले कृष्णनाम प्रकाशे । येइ तोमा देखे,से-इ-कृष्णप्रेमे भासे ॥११॥
प्रेम-परकाश नहे कृष्ण शक्ति विने । कृष्ण एक प्रेमदाता, शास्त्रेर प्रमाणे ॥१२॥

श्रीवल्लभभट्ट जी ने कहा—"प्रभु ! कलिकाल का धर्म है—श्रीकृष्ण नाम-सङ्कीर्त्तन। कृष्ण शक्ति के बिना उसका प्रवर्त्तन नहीं हो सकता। उसे आपने ही प्रचारित किया है, अतः यह इस बात का प्रमाण है कि आप श्रीकृष्ण की शक्ति धारण करने वाले हैं—इसमें सन्देह नहीं है। जगत् में आपने श्रीकृष्ण नाम को प्रकाशित किया है, जो आपके दर्शन करता है, वही श्रीकृष्ण प्रेम में सराबोर होजाता है, श्रीकृष्ण शक्ति के बिना प्रेम का प्रकाश नहीं होता। श्रीकृष्ण ही एक मात्र प्रेम दाता हैं (अन्यान्य भगवत् स्वरूप अधिक से अधिक मुक्ति प्रदान कर सकते हैं) इस बात को शास्त्र प्रमाणित करता है:—

तथाहि लघुभागवतामृते पूर्व खण्डे (५-३७) विल्वमङ्गल वचनम्—

सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतोभद्राः ।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति ॥३॥

कमलनाभ श्रीकृष्ण के अनेक अवतार हैं। वे सब ही मङ्गल करने वाले हैं, किन्तु श्रीकृष्ण के बिना और किसी की सामर्थ्य है जो लताओं तक को भी प्रेम दान करदे ? अर्थात् और कोई भी भगवत् स्वरूप इस प्रकार का प्रेम प्रदान नहीं कर सकता ॥३॥

महाप्रभु कहे शुन भट्ट महामति । मायावादी संन्यासी आमि,ना जानि विष्णुभक्ति ॥१३॥
अद्वैत आचार्य-गोसाञि साक्षात् ईश्वर । तांर सङ्गे आमार मन हइल निर्मल ॥१४॥

सर्वशास्त्रे कृष्णभक्त्ये नाहि यांर समान । अतएव 'अद्वैत आचार्य' तांर नाम ॥१५॥
यांहार कृपाते म्लेच्छेर हय कृष्ण भक्ति । के कहिते पारे तांर वैष्णवता-शक्ति?॥१६॥

श्रीमहाप्रभु जी बोले—"महामति वल्लभभट्ट ! सुनिये, मैं तो मायावादी संन्यासी हूं, मैं तो विष्णु-भक्ति को नहीं जानता हूँ । श्रीअद्वैताचार्य गोस्वामी ही साक्षात् ईश्वर हैं उनका सङ्ग करने से मेरा मन शुद्ध हुआ है । सर्व शास्त्रों में श्रीकृष्ण-भक्ति में उनके समान और कोई नहीं है । इसलिये उन्हें अद्वैत (अनुपम) आचार्य कहते हैं । उनकी कृपा से म्लेच्छों में भी श्रीकृष्ण-भक्ति का सञ्चार हो जाता है, उनकी वैष्णवता-शक्ति की महिमा को कौन वर्णन कर सकता है ? ॥१३-१६॥

नित्यानन्द अवधूत साक्षात् ईश्वर । भावोन्मादे मत्त कृष्ण-प्रेमेर सागर ॥१७॥
षड़्दर्शन वेत्ता भट्टाचार्य-सार्वभौम । षड़्दर्शने जगद्गुरु भागवतोत्तम ॥१८॥
तेंहो देखाइल मोरे भक्तियोगेर पार । तांर प्रसादे जानिल कृष्णभक्तियोग सार ॥१९॥
रामानन्द राय महाभागवत-प्रधान । तेंहो जानाइल—कृष्ण स्वयं भगवान् ॥२०॥
ताते प्रेमभक्ति पुरुषार्थ शिरोमणि । रागमार्गे प्रेमभक्ति सर्वाधिक जानि ॥२१॥
दास्य, सख्य, वात्सल्य मधुरभाव आर । दास सखा गुरु कान्ता आश्रय याहार ॥२२॥
ऐश्वर्य ज्ञानयुक्त, केवलाभाव आर । ऐश्वर्यज्ञाने ना पाइ ब्रजेन्द्रकुमार ॥२३॥

श्रीमहाप्रभु जी ने आगे कहा—"अवधूत श्रीनित्यानन्द जी साक्षात् ईश्वर हैं, जो श्रीकृष्ण-भावोन्माद में मत्त रहते हैं एवं श्रीकृष्ण-प्रेम के सागर हैं । और श्रीसार्वभौम-भट्टाचार्य षड़्दर्शनों के वेत्ता हैं । षड़्दर्शनों के लिये तो वे जगद् गुरु हैं और वे परम भक्त हैं । उन्होंने मुझे भक्तियोग की सीमा का दर्शन कराया है, उनकी कृपा से ही मैंने श्रीकृष्ण भक्ति योग के रहस्य को जाना है । और फिर श्रीरामानन्दराय महाभागवतों में प्रधान हैं, उन्हों ने मुझे यह बताया कि श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं एवं श्रीकृष्ण में प्रेम-भक्ति की प्राप्ति ही पुरुषार्थ-शिरोमणि है । राग मार्गीय भजन में दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर—ये चार भाव हैं, इन चारों भावों के दास, सखा, माता-पिता एवं कान्तागण आश्रय हैं । इनमें मधुर-भावात्मिका प्रेम भक्ति ही सर्व श्रेष्ठ है— यह उन्होंने ही मुझे बताया । उस प्रेम भक्ति के साधन दो प्रकार के हैं-ऐश्वर्य ज्ञान युक्त एवं केवला भाव युक्त । किन्तु ऐश्वर्य ज्ञान युक्त भाव से श्रीब्रजेन्द्रनन्दन की प्राप्ति नहीं होती । (अर्थात् श्रीकृष्ण अनन्त अचिन्त्यशक्ति सम्पन्न हैं, वे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के अधीश्वर हैं, वे आत्माराम हैं—इत्यादि इस प्रकार के ऐश्वर्यात्मक भाव जिसके हृदय में हैं, वह श्रीकृष्ण को प्राप्त नहीं कर सकता उसे उसके ऐश्वर्यात्मक स्वरूप श्री नारायण की प्राप्ति होती है ।) केवला भाव से ही उनकी प्राप्ति होती है" ॥१७-२३॥ जैसा कि श्रीभागवत् जी में कहा है—

तथाहि (भाः १०-९-२१)

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः ।
ज्ञानिनाञ्चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥४॥

श्रीशुकदेव जी ने महाराज परीक्षित जी से कहा है—"यह गोपिकासुत (श्रीयशोदानन्दन) भगवान् श्रीकृष्ण भक्तिमान् पुरुषों के लिये जैसा सुलभ हैं या बिना किसी प्रयास के प्राप्त होते हैं, देहा-

भिमानी पुरुषों के लिये, देहाभिमान-शून्य ज्ञानी पुरुषों के लिये, और तो क्या जो भगवान् के स्वरूप भूत ब्रह्मा-शिव-लक्ष्मी आदि हैं— उन आत्मभूतों के लिये भी वे उसी प्रकार सुलभ या अनायास प्राप्त होने वाले नहीं हैं ॥४॥

'आत्मभूत'-शब्दे कहे पारिषदगण ।
ऐश्वर्यज्ञाने लक्ष्मी ना पाइल ब्रजेन्द्रनन्दन ॥२४॥

(उपर्युक्त श्लोक में कहा गया है कि श्रीयशोदानन्दन आत्मभूत स्वरूपों के लिये भी सुलभ नहीं हैं ।) 'आत्मभूत'-शब्द का अभिप्राय है श्रीभगवान् के पार्षद गण, (जैसे लक्ष्मी जी, ब्रह्मा जी, शिवजी इत्यादि । इन सब को श्रीभगवान् में ऐश्वर्यात्मक ज्ञान बना रहता है ।) श्रीलक्ष्मी जी ऐश्वर्यज्ञान होने के कारण भगवान् श्रीब्रजेन्द्रनन्दन को प्राप्त न कर सकीं ॥२४॥ जैसा कि भागवत् जी में कहा गया है—

तथाहि (भाः १०-४७-६०)—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीत कण्ठ-लब्धाशिषां य उदगाद् ब्रजसुन्दरीणाम् ॥५॥

श्रीशुकदेव जी ने कहा है—"रासोत्सव में भगवान् श्रीकृष्ण की भुजलताओं द्वारा आलिङ्गित कण्ठ होकर अपने मनोरथों को पूर्ण करतीं हुई ब्रजसुन्दरियों ने जिस कृपा को प्राप्त किया है, उस कृपा को श्रीकृष्ण के वक्षस्थल में निरन्तर निवास करने वाली परम प्रेमवती श्रीलक्ष्मी देवी भी प्राप्त न कर सकीं और कमलों की भान्ति सुगंधि और कान्तिवाली स्वर्ग की अप्सराएं भी जब उस कृपा को प्राप्त न कर सकीं तो फिर अन्यान्य कान्ताओं की तो बात ही क्या ? ॥५॥ (मध्यलीला अष्टम परिच्छेद श्लोक ३४ पृष्ठ २२० द्रष्टव्य ।)

शुद्ध भावे सखा करे स्कन्धे आरोहण । शुद्धभावे ब्रजेश्वरी करिल बन्धन ॥२५॥
'मोर सखा' 'मोर पुत्र' एइ शुद्ध मन । अतएव शुक व्यास करे प्रशंसन ॥२६॥

शुद्ध—(ऐश्वर्य ज्ञान हीन) भाव से सखा श्रीकृष्ण के स्कन्धों पर चढ़ते हैं और उसी शुद्ध (वात्सल्य) भाव से माता यशोदा श्रीकृष्ण को बान्ध देती है । केवल वे यही जानते हैं कि "श्रीकृष्ण मेरा सखा है", "श्रीकृष्ण मेरा पुत्र है" । इसलिये ब्रज के सखाओं की, माता पिता—आदि परिकरों की श्रीशुकदेव मुनि एवं श्रीव्यास जी प्रशंसा करते हैं ॥२५-२६॥ जैसा कि कहा गया है—

तथाहि (भाः १०-१२-११)

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन ।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्य पुञ्जाः ॥६॥

श्रीशुकदेव जी ने कहा है—"ज्ञानियों के लिये जो ब्रह्मसुखानुभव स्वरूप हैं, दास्यभाव से भजन करने वाले भक्तों के लिये जो परम आराध्य देवता स्वरूप हैं, मायाबद्ध लोगों के लिये जो साधारण नर-बालक रूप में प्रतीत होते हैं, उन श्रीकृष्ण भगवान् के साथ अतिशय सौभाग्यशाली समस्त गोप बालकों ने इस प्रकार विहार किया" ॥६॥ (विशेष टीका—चै० च० २-८-१४ पृष्ठ १६४ पर द्रष्टव्य है ।)

तथाहि (भा: १०-८-४६)—

नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम् ।
यशोदा वा महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः ।।७।।

श्रीपरीक्षित जी ने श्रीशुकदेव जी से पूछा है—"हे मुने ! श्रीनन्दमहाराज ने महापुण्य जनक ऐसा कौन सा मङ्गल कार्य किया था ? (जिसके फल से उन्होंने श्रीकृष्ण को अपने पुत्ररूप में प्राप्त किया) और महाभागा माता यशोदा ने ही ऐसा कौन सा पुण्य किया था कि जिसके फलस्वरूप श्रीकृष्ण ने उसका स्तन पान किया ?" ।।७।। (विशेष टीका चै० च० २-८-१५, १६ श्लोक पृष्ठ १९६-१९७ पर द्रष्टव्य है ।)

ऐश्वर्य देखिलेहो शुद्धेर नहे ऐश्वर्य ज्ञान ।
अतएव ऐश्वर्य हैते केवलाभाव प्रधान ।।२७।।

श्रीमहाप्रभु जी ने आगे कहा—"भट्ट ! श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य को देख कर भी शुद्ध भाव के परिकर-गणों को ऐश्वर्य का ज्ञान नहीं होता है, इस लिये ऐश्वर्ययुक्त भाव से केवला-(शुद्ध) भाव की प्रधानता कही गई है" ।।२७।। जैसा कि श्रीभागवत् जी से पता लगता है:—

तथाहि (भा: १०-८-४५)

त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः ।
उपगीय माहात्म्यं हरिं सामान्यतात्मजम् ।।८।।

ऋक, यजु, साम, इन तीनों वेदों में (संहिताश और कर्मकाण्ड में आदि-देवतारूप से), उपनिषदों में (वेदों के ज्ञानकाण्ड में ब्रह्मरूप से), सेश्वर साँख्य दर्शन में (पुरुषरूप से), योग शास्त्र में (परमात्मा रूप से) एवं (नारद पञ्चरात्रादि) सात्वत शास्त्रों में (भगवानूरूप से) जिन की महिमा वर्णन की गई है, माता यशोदा उन श्रीहरि को अपना गर्भजात पुत्र ही मानती है ।।८।। (टीका चै० च० २-१९-३१ पृष्ठ ५४४ पर द्रष्टव्य है ।)

ए सब शिक्षाइल मोरे राय रामानन्द । अनर्गल रसवेत्ता प्रेमसुखानन्द ।।२८।।
दामोदर स्वरूप प्रेमरस मूर्त्तिमान् । यांर सङ्गे हैल ब्रजेर मधुर-रसज्ञान ।।२९।।
शुद्धप्रेम ब्रजदेवीर कामगन्धहीन । कृष्णसुख-तात्पर्य-एइ तार चिह्न ।।३०।।

राय रामानन्द जी की महिमा वर्णन करते हुए श्रीमहाप्रभु जी ने कहा--यह सब शिक्षा मुझे राय रामानन्द जी ने दी है । वे अनर्गल रसवेत्ता हैं (अर्गल कहते हैं—हुड़का या विलैया को, जो दरवाजों पर लगी रहती है, जिस कपाट पर वेली न लगी हो, उसे अनर्गल-कपाट कहते हैं । अनर्गल रस-वेत्ता का तात्पर्य है, रसतत्त्व में निर्बाध (बाधाशून्य) अभिज्ञता सम्पन्न व्यक्ति । रायरामानन्द जी ऐसे गुणवान थे कि रसतत्त्व के सम्बन्ध में कोई भी ऐसा प्रश्न न था जिसका वे तत्क्षण समाधान न कर सकें अथवा कोई भी सन्देह रूप बाधा-विघ्न उनके हृदय में नहीं रहता था-इसलिये उन्हें अनर्गल-रसवेत्ता कहागया है और वे प्रेमसुखानन्द हैं, (उन का आनन्द प्रेमसुख में है, श्रीकृष्ण का सुख ही प्रेमसुख है, अर्थात् वे कृष्णसुख में ही आनन्दित रहने वाले हैं ।)" अब प्रभु ने श्रीस्वरूप दामोदर के सम्बन्ध में कहा—"श्रीस्वरूप दामोदर

तो मूर्त्तिमान प्रेमरस हैं (उनके देह, मन एवं प्राण समस्त प्रेमरस से ही गठित हैं) उन के सङ्गसे मुझे ब्रज के मधुर रस का ज्ञान हुआ है । (क्या ज्ञान हुआ है, उसे कहते हैं—) ब्रज गोपियों का शुद्ध प्रेम है, उसमें काम (स्वसुखवासना) की गन्ध मात्र भी नहीं है । उनका प्रेम कृष्ण-सुख में ही पर्य्यवसित है— यही उसका लक्षण है " ।।२८-३०।। श्रीमद्भागवत् जी के निम्नलिखित श्लोक से ब्रजसुन्दरियों के कृष्ण-सुखैक-तात्पर्य-आचरण को प्रमाणित करते हैं—

तथाहि (भा: १०-३१-१९)—

यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
तेनाटवीमटसि यद्व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ।।६।।

(महारास की रात्रि में श्रीकृष्ण जब रासस्थली से अन्तर्धान हो गये, तब उनको ढूँढ़ते समय वन में तीक्ष्ण कण्टकादिकों को देख कर रोते-रोते ब्रजगोपियां कहती हैं—) "हे प्यारे कृष्ण ! तुम्हारे जिन परम कोमल चरण कमलों को हम अपने कठिन स्तन मण्डल पर डरते हुए धीरे धीरे धारण करती थीं (कि कहीं आपको उनके चुभने से कष्ट न हो) तुम उन्हीं चरण कमलों से (रात्रि के समय) बन-बन में भ्रमण कर रहे हो ? वे तीक्ष्ण कण्टकों एवं सूक्ष्म कंकरों से व्यथित नहीं हो रहे हैं क्या ? (वे अवश्य दूख रहे होंगे ।) हमारा चित्त इसलिये अत्यन्त व्याकुल होरहा है, क्योंकि तुम ही हमारे जीवन धन हो" ।।६।।

चै० च० चु० टीका—ब्रजसुन्दरीगण अपने स्तन युगल को इतना कठिन समझती थीं कि उनके स्पर्श से श्रीकृष्ण के कोमल चरण कमलों में व्यथा होने की शंका उन्हें होती थी, अतः वे ऐसा करने से डरती थीं । अन्यान्य किशोरावस्थायुक्त रमणियों की भान्ति यदि अपने स्तनों में प्राणवल्लभ के स्पर्श को पाकर वे आनन्दित होतीं अर्थात् उन्हें कुछ अपना सुख प्राप्त होता, तो वे फिर ऐसा करने में डरतीं कभी नहीं, बल्कि वे करने में श्रीकृष्ण से बार-बार आग्रह ही करतीं । वे भयभीत होकर धीरे-धीरे श्रीकृष्ण के कोमल चरण-कमल अपने वक्षस्थल पर धारण करती थीं, केवल इसलिये कि श्रीकृष्ण की ऐसी इच्छा है, उनके सुख के लिये, अपने सुख के लिये नहीं । यदि उनको अपने सुख की तनिक भी इच्छा रहती तो वह ऐसा करने में डरतीं कभी नहीं । इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनका जो कुछ भी आचरण था— वह केवल श्रीकृष्ण के सुख के लिये ही था ।

गोपीगणेर शुद्ध प्रेम ऐश्वर्य ज्ञानहीन ।
प्रेमेते भर्त्सना करे, एइ तार चिह्न ।।३१।।

ब्रज गोपियों का प्रेम शुद्ध एवं ऐश्वर्य ज्ञान रहित है, इसका प्रमाण यह है कि वे प्रेम से श्रीकृष्ण की भर्त्सना (तिरस्कार) करती थीं ।।३१।। इसके प्रमाण में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं—

तथाहि (भा: १०-३१-१६)

पतिसुतान्वय भ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ।
गतिविदस्त वोद्गीत मोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ।।१०।।

ब्रजसुन्दरियों ने कहा है—"हे अच्युत ! आप हमारे इस वन में आने का कारण जानते हो क्या ? हम आपके वेणुगीत में ही मोहित होकर अपने पति, पुत्र, ज्ञाति, भ्राता तथा बान्धव —इन सब

का त्याग या अनादर करके आपके पास आई हैं, हे शठ ! स्त्रियों को रात्रिकाल में भी कोई त्याग करता है ? ।।१०।। (टीका—चै० च० २-१६-३५, पृष्ठ ५४५ पर द्रष्टव्य है ।)

व्रज गोपी गरण श्रीकृष्ण को "शठ"—कह कर तिरस्कृत करती हैं। यदि उनमें श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य का ज्ञान होता तो वे इस प्रकार के वचन न कहतीं। इस से प्रमाणित होता है कि उनका प्रेम ऐश्वर्य ज्ञान रहित है।

सर्वोत्तम भजन इहार सर्वभक्ति जिनि ।
अतएव कृष्ण कहे, आमि तोमार ऋणी ।।३२।।

व्रज गोपियों का इस प्रकार का जो मधुर-भाव का भजन है, वह (दास्य, सख्य, वात्सल्यादि) समस्त भावों के भजन से उत्तम—सर्वश्रेष्ठ है। इसने सब भावों के भजन को पराजित कर दिया है। इसलिये श्रीकृष्ण भी व्रज गोपियों के प्रति कहते हैं कि "मैं तुम्हारा ऋणी हूँ।" ।। ३२ ।। जैसा कि श्रीभागवत जी में कहा गया है—

तथाहि (भा: १०-३२-२२)

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माऽभजन् दुर्ज्जरगेह शृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ।।११।।

श्रीकृष्ण ने कहा है—"हे व्रजसुन्दरि-गण ! कठिनता से तोड़ी जाने वाली घर-गृहस्थ की बेडियों को सम्यक् प्रकार से तोड़ कर तुमने मेरा भजन किया है, मेरे साथ तुम्हारा यह मिलन अनिन्दनीय है (क्योंकि इसमें किसी प्रकार की स्वसुख वासना नहीं है) तुमने मेरे प्रति जो सुशील स्वभाव एवं साधुत्व प्रदर्शित किया है, देवताओं के समान दीर्घ आयु पाकर भी मैं उसका प्रत्युपकार करने में असमर्थ हूँ (क्योंकि जिस प्रकार तुमने आत्मीयजनों का त्याग कर एक मात्र मेरे सुख के लिये मुझे आत्म निवेदन किया है, मेरे लिये तुम्हारे प्रति इस प्रकार का आत्म-नियोग करना असम्भव है) अतएव तुम्हारा साधुत्व ही तुम्हारे साधुत्व का प्रत्युपकार हो अर्थात् यदि तुम अपने शीलस्वभाव तथा साधुत्व से मुझे क्षमा करो तो कर दो, मैं आपका सदा ऋणी हूँ" ।।११।।

ऐश्वर्यज्ञान हैते केवलाभाव परमप्रधान । पृथिवीते भक्तनाहि उद्धव समान ।।३३।।
तेंहों यार पदधुलि करेन प्रार्थन । स्वरूपेर सङ्गे पाइल ए सब शिक्षण ।।३४।।

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"वल्लभ ! ऐश्वर्यज्ञान से केवलाभाव शुद्धप्रेम की परम प्रधानता है। श्रीउद्धव जी के समान पृथ्वीतल पर और कोई भक्त नहीं है। उन्होंने भी उन शुद्ध भावमती व्रज गोपियों की चरण रज के लिये प्रार्थना की है, यह सब शिक्षा मुझे श्रीस्वरूप दामोदरजी से प्राप्त हुई है" ।।३३-३४।। श्रीउद्धव जी की प्रार्थना का निम्नलिखित श्लोक में उल्लेख करते हैं—

तथाहि (भा: १०-४७-६१)

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्म लतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजन मार्यपथञ्च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ।।१२।।

श्रीउद्धव जी ने कहा है—"अहो ! जिन व्रज गोपियों ने दुस्त्यज पति-पुत्रादि रूप स्वजन एवं आर्य-पथ (वेद-धर्म, लोक-धर्म, देह-धर्म आदि सदाचार-पथ) का परित्याग करके श्रुतिगणों द्वारा

अन्वेषणीय अति दुर्लभ श्रीकृष्ण में प्रेमभक्ति मार्गीय भजन का आश्रय किया है, उनकी चरणरेणु को सेवन या प्राप्त करने वाले श्रीवृन्दावन के गुल्म, लता व औषधियों में से किसी एक का रूप मैं प्राप्त कर सकूं—यही मेरी प्रार्थना है" ॥१२॥

श्रीउद्धव जी ने श्रीवृन्दावन में गुल्म, लता, औषधि का रूप (जन्म) पाने की प्रार्थना इसलिये की है कि व्रज गोपियों के आते-जाते समय उनके चरणों की रज उड़-उड़ कर उन पर पड़ती रहेगी। जिस से वे कृत्य-कृत्य हो जाएंगे। इस श्लोक से श्रीमहाप्रभु जी ने व्रज सुन्दरियों की शुद्ध भावमयी प्रीति की महिमा का गान किया है।

हरिदास ठाकुर महाभागवत-प्रधान। दिनप्रति लय तेंहो तिन लक्ष नाम ॥३५॥
नामेर महिमा आमि तांर ठाञि शिखिल। तांहार प्रसादे नामेर महिमा जानिल॥३६॥
आचार्यरत्न आचार्यनिधि पण्डित-गदाधर। जगदानन्द दामोदर शङ्कर वक्रेश्वर॥३७॥
काशीश्वर मुकुन्द वासुदेव मुरारि। आर यत भक्तगण गौड़े अवतरि ॥३८॥
कृष्णनाम प्रेम कैल जगते प्रचार। इहांसभार सङ्गे कृष्णभक्ति आमार ॥३९॥

श्रीमहाप्रभु जी फिर बोले—"श्रीहरिदास ठाकुर महाभागवतों में प्रधान हैं, वे प्रति-दिन तीन लाख श्रीहरिनाम ग्रहण करते हैं। नाम की महिमा तो मैंने उन्हीं से सीखी है और उनकी कृपा से नाम की महिमा का अनुभव भी किया है। श्रीआचार्यरत्न, श्रीआचार्यनिधि, श्रीपण्डित गदाधर, श्रीजगदानन्द, श्रीदामोदर, श्रीशङ्कर, श्रीवक्रेश्वर, श्रीकाशीश्वर, श्रीमुकुन्द, श्रीवासुदेव एवं श्रीमुरारी गुप्त—और भी जिन भक्तगणों ने गौड़ देश में अवतार लिया है, उन सब ने जगत् में श्रीहरिनाम का प्रचार किया है। वल्लभ भट्ट ! इन सब का सङ्ग करने से मुझे कृष्णभक्ति की प्राप्ति हुई है ॥३५-३९॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमन्महाप्रभु जी ने उपर्युक्त अनेक पयारों में भक्तगणों की महिमा का गान किया है, किन्तु उसमें भी हम देखते हैं कि साधन मार्ग की एक सुन्दर शृङ्खलाबद्ध प्रणाली वर्णित है। साधारण जीव के भाव को लेकर प्रभु ने कहा कि "मेरा चित्त मलिन था, अर्थात् मैं मायावादी संन्यासी था। मायावाद में सेव्य-सेवक भाव नहीं रहता है, मायावादी स्वयं ब्रह्म बनना चाहते हैं—इस से बढ़ कर चित्त की मलिनता और क्या हो सकती है? सर्व प्रथम श्रीअद्वैताचार्य द्वारा—महत्-पुरुष के सङ्ग से मेरी मलिनता दूर हुई। फिर प्रेमोन्मत्त श्रीनिताईचन्द्र की कृपा से श्रीकृष्ण प्रेम का कुछ आभास प्राप्त हुआ। फिर सार्वभौम भट्टाचार्य जो षड़दर्शनाचार्य हैं, उनसे यह शिक्षा मिली कि अनेक साधन प्रणालियों में भक्ति-साधन ही सर्व श्रेष्ठ है। फिर राय रामानन्द जी की कृपा से यह ज्ञान हुआ कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं और प्रेमभक्ति द्वारा ही पुरुषार्थ शिरोमणि श्रीकृष्ण सेवा की प्राप्ति होती है। उसमें भी रागमार्गीय केवला-भाव अर्थात् ऐश्वर्य-ज्ञान रहित शुद्ध प्रेम से मधुर-भाव की उपासना ही सर्व-श्रेष्ठ एवं साध्य शिरोमणि है। उसके बाद श्रीहरिदास ठाकुर जी से यह शिक्षा मिली कि श्रीकृष्ण सेवा की प्राप्ति का सर्व श्रेष्ठ साधन श्रीनामसङ्कीर्त्तन है। वह नाम वैष्णव भक्त-गणों के सङ्ग एवं उनकी कृपा से मुझे प्राप्त हुआ है। श्रीनाम सङ्कीर्त्तन करते-करते श्रीकृष्ण-प्रेमाभक्ति की मुझे प्राप्ति हुई है।" इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी ने एक साधन प्रणाली का वर्णन किया है। श्रीवल्लभाचार्य जी के सामने इस प्रकार भक्त महिमा एवं साधन प्रणाली वर्णन करने में श्रीमहाप्रभु जी का क्या उद्देश्य था—उसे अगले पयारों में कहते हैं—

भट्ट र हृदये दृढ़ अभिमान जानि । भङ्गी करि महाप्रभु कहे एत वाणी ।।४०।।
"आमि से वैष्णव सिद्धान्त सब जानि । आमि से भागवत-अर्थ उत्तम वाखानि" ।।४१।।
भट्टेर मनेते छिल एइ दीर्घ गर्व्व । प्रभुर वचन शुनि हैल सेइ खर्व्व ।।४२।।
प्रभुर मुखे वैष्णवता शुनिया सभार । भट्टेर इच्छा हैल तां-सभार देखिवार ।।४३।।
भट्ट कहे, ए सब वैष्णव रहे कोन् स्थाने? प्रभु कहे, इहांइ सभार पाइवे दर्शने।।४४।।
तबे भट्ट कहे बहु विनय वचन । बहु दैन्य करि प्रभुर कैल निमन्त्रण ।।४५।।

श्रीवल्लभ भट्ट जी के हृदय में भारी अभिमान को जान कर श्रीमहाप्रभु जी ने एक बहाने से इतनी बात कही । श्रीवल्लभ जी के हृदय में यह अभिमान था कि "मैं सब वैष्णव सिद्धान्तों को जानता हूँ एवं श्रीमद्भागवत जी की व्याख्या सब से उत्तम बखान कर सकता हूं" । भट्ट जी के मन में यह अभिमान बहुत काल से व्याप रहा था, किन्तु श्रीमहाप्रभु जी के वचन सुनते ही वह गर्व चूर-चूर होगया । श्रीमहाप्रभु जी से सब की वैष्णवता सुन कर श्रीभट्ट जी के हृदय में उन सब भक्तों के दर्शन करने की इच्छा हुई । श्रीभट्ट जी ने पूछा —"प्रभु ! ये सब वैष्णव कहाँ रहते हैं ? " श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"इन सब के दर्शन आप को यहाँ ही मिल सकते हैं" तब श्रीवल्लभभट्ट जी ने बहुत दीनता के वचन सुनाए और दीनता पूर्वक श्रीमहाप्रभु जी को निमन्त्रण दिया ।।४०-४५।।

आर दिन सब वैष्णव प्रभु-स्थाने आइला । सभासने महाप्रभु भट्टे मिलाइला ।।४६।।
वैष्णवेर तेज देखि भट्टेर चमत्कार । तां-सभार आगे भट्ट खद्योत-आकार ।।४७।।
तबे भट्ट बहु महाप्रसाद आनाइल । गण-सह महाप्रभु भोजन कराइल ।।४८।।
परमानन्द पुरी सङ्गे संन्यासीर गण । एकदिगे वैसे सबे करिते भोजन ।।४९।।
अद्वैत नित्यानन्द दुइ पार्श्वे दुइ जन । मध्ये प्रभु वसिला, आगे पाछे भक्तगण ।।५०।।
गौड़ेर भक्तगण यत गणिते ना पारि । अङ्गने वसिया सब हञा सारि सारि ।।५१।।

दूसरे दिन जब सब वैष्णव गण श्रीमहाप्रभु जी के पास आए तब उन्होंने सब के साथ श्रीवल्लभाचार्य जी को मिलाया । वैष्णवों के तेज को देख कर श्रीवल्लभभट्ट चमत्कृत हो उठे। श्रीभट्ट जी की कान्ति उन सब के सामने खद्योत के समान होगई अर्थात् वे निस्तेज होगये । तब श्रीभट्टाचार्य जीने श्रीजगन्नाथ जी का बहुत सा महाप्रसाद मँगवाया और पार्षदों सहित श्रीमहाप्रभुजी को भोजन कराया । श्रीपरमानन्द पुरी के साथ सब संन्यासी एक तरफ भोजन करने के लिये बैठे । एक तरफ श्रीअद्वैताचार्य और दूसरी तरफ श्रीनित्यानन्दप्रभु एवं बीच में श्रीमन्महाप्रभु जी भोजन करने बैठे। उनके आगे पीछे अन्यान्य सब भक्त गण बैठ गये । श्रीमहाप्रभु जी के असंख्य भक्त, जिनकी गिनती नहीं हो सकती, सब पंक्तियाँ लगाकर बैठ गये ।।४६-५१।।

प्रभुर भक्त गण देखि भट्टेर चमत्कार । प्रत्येके सभार पदे कैल नमस्कार ।।५२।।
स्वरूप जगदानन्द काशीश्वर शङ्कर । परिवेशन करे आर राघव दामोदर ।।५३।।
महाप्रसाद वल्लभभट्ट बहु आनाइल । प्रभु सह संन्यासिगणे आपनि परिशिल ।।५४।।

प्रसाद पाय वैष्णवगण बले "हरि-हरि"। हरिध्वनि उठे सब ब्रह्माण्ड भरि ।।५५।।
माला चन्दन गुवाक पान अनेक आनिल। सभार पूजा करि भट्ट आनन्दित हैल ।।५६।।

श्रीमन्महाप्रभु जी के असंख्य भक्तों के दर्शन कर श्रीवल्लभभट्ट जी बहुत आनन्दित हुए, प्रत्येक भक्त के चरणों में उन्होंने वन्दना की। श्रीस्वरूप दामोदर, श्रीजगदानन्द, श्रीकाशीश्वर मिश्र एवं श्रीशङ्कर और श्रीराघव व श्रीदामोदर—ये छः जने परिवेशन करने लगे। श्रीवल्लभाचार्य जी ने बहुत मात्रा में महाप्रसाद मँगाया और संन्यासियों के साथ -साथ श्रीमहाप्रभु जी को वे स्वयं अपने हाथ से परिवेशन करने लगे। भोजन कर लेने के बाद समस्त वैष्णव 'हरि–हरि' बोलने लगे। 'हरिध्वनि' से सब ब्रह्माण्ड गूंज उठा। श्रीवल्लभाचार्य जी ने सब को माला, चन्दन, सुपारी एवं पान देकर आदर पूर्वक पूजा की एवं बहुत प्रसन्न हुए ।।५२–५६।।

रथयात्रा दिने प्रभु कीर्त्तन आरम्भिल। पूर्ववत् सात सम्प्रदाय पृथक् करिल ।।५७।।
अद्वैत नित्यानन्द हरिदास वक्रेश्वर। श्रीनिवास राघव पण्डित–गदाधर ।।५८।।
सातजन सात ठाञि करेन नर्त्तन। 'हरि बोल' बलि प्रभु करेन भ्रमण ।।५९।।
चौद्द मादल बाजे उच्च सङ्कीर्त्तन। एकेक नर्त्त केर प्रेमे–भासिल भुवन ।।६०।।
देखि वल्लभभट्ट मने हैल चमत्कार। आनन्दे विह्वल, नाहि आपना सम्भाल ।।६१।।
तबे महाप्रभु सभार नृत्य राखिला। पूर्ववत् आपने नृत्य करिते लागिला ।।६२।।

रथ यात्रा के दिन श्रीमहाप्रभु जी ने सङ्कीर्त्तन प्रारम्भ किया और हर वर्ष की भांति पृथक्-पृथक् सात मण्डलियाँ करलीं। श्रीअद्वैताचार्य, श्रीनित्यानन्दप्रभु, श्रीहरिदास ठाकुर, श्रीवक्रेश्वर, श्री-निवास, श्रीराघव एवं श्रीगदाधर पण्डित ये सातों जने एक-एक मण्डली में सात जगह नृत्य करने लगे। इन सब के बीच 'हरिबोल'-हरिबोल' कहकर श्रीमहाप्रभुजी भ्रमण कर रहे थे। चौदह मृदंग बज रहे थे एवं महा उच्चध्वनि में सङ्कीर्त्तन होने लगा। एक–एक नृत्य गान करने वाले को देख कर जगत प्रेम में डूबा जा रहा था। यह सब देख कर श्रीवल्लभभट्ट जी तो चमत्कृत हो उठे, आनन्द में विह्वल होकर अपनी सुधि–बुद्धि भूल गये। तदनन्तर श्रीमहाप्रभु जी ने और सब को नृत्य करने से रोक दिया एवं पहले वर्ष की भाँति आप नृत्य करने लगे ।।५७–६२।।

प्रभुर सौन्दर्य देखि आर प्रेमोदय। 'एइ त साक्षात् कृष्ण'–भट्टेर हइल निश्चय ।।६३।।
एइमत रथयात्रा सकले देखिल। प्रभुर चरित्रे भट्टेर चमत्कार हैल ।।६४।।
यात्रा अनन्तरे भट्ट याइ प्रभुर स्थाने। प्रभुर चरणे किछु कैल निवेदने— ।।६५।।
भागवतेर टीका किछु करियाछों लिखन। आपने महाप्रभु ! यदि करेन श्रवण ।।६६।।
प्रभु कहे, भागवतार्थ बूझिते ना पारि। भागवतार्थ शुनिते आमि नहि अधिकारी ।।६७।।
'कृष्ण-नाम' बसि मात्र करिये ग्रहणे। संख्यानाम पूर्ण मोर नहे रात्रि दिने ।।६८।।

श्रीमन्महाप्रभु जी के सौन्दर्य एवं प्रेमोदय को देख कर श्रीवल्लभाचार्य भट्ट को यह निश्चय होगया कि "यह तो साक्षात् श्रीकृष्ण हैं"। इस प्रकार सब ने रथयात्रा के दर्शन किये। श्रीमहाप्रभु जी के चरित्र

को देखकर श्रीवल्लभाचार्य जी के आश्चर्य की सीमा न रही। यात्रादर्शन के बाद श्रीभट्ट जी श्रीमहाप्रभु जी के स्थान पर गये और उनके चरणों में इस प्रकार निवेदन करने लगे—"प्रभु ! मैंने श्रीमद्भागवतजी की टीका का कुछ उल्लेख किया है, आप यदि उसे कुछ श्रवण करें तो बड़ी कृपा हो"। श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"भट्ट ! मैं श्रीभागवत जी के अर्थ नहीं समझ सकता हूँ और न ही मैं श्रीभागवत् जी के अर्थ सुनने का अधिकारी ही हूँ। मैं तो केवल श्रीकृष्णनाम को ही ग्रहण करता रहता हूं, मेरी निर्दिष्ट नाम-संख्या ही रात्रि-दिन में पूरी नहीं हो पाती है ॥६३-६८॥

भट्ट कहे—कृष्ण नामेर अर्थ व्याख्याने। विस्तार करिया ताहा करह श्रवणे ॥६९॥
प्रभु कहे-कृष्ण नामेर बहु अर्थ ना मानि। 'श्यामसुन्दर यशोदानन्दन'एइमात्रजानि॥७०॥

(श्रीमहाप्रभु जी ने जब श्रीवल्लभाचार्य जी की भागवत-टीका सुनने की उपेक्षा करदी तब) भट्ट जी कहने लगे—"प्रभु ! मैंने अपनी टीका में श्रीकृष्णनाम के अनेक अर्थ विस्तार पूर्वक लिखे हैं, उन्हें आप सुनने की कृपा कीजिये।" तब श्रीमहाप्रभु जी बोले—" श्रीकृष्णनाम के मैं अनेक अर्थ नहीं मानता हूँ। श्रीकृष्णनाम का अर्थ मैं श्याम-सुन्दर यशोदानन्दन—इतना मात्र ही जानता हूँ" ॥६९-७०॥ जैसा कि श्रीनाम कौमुदी में कहा गया है—

तथाहि नाम कौमुद्याम्—

तमाल श्यामलत्विषि श्रीयशोदास्तनन्धये ।
कृष्णनाम्नो रूढ़िरिति सर्वशास्त्र विनिर्णयः ॥१३॥

जो तमाल पत्र की भाँति श्यामवर्ण हैं एवं जिन्होंने श्रीयशोदा का स्तन पान किया है, उन्हीं में ही कृष्णनाम का रूढ़ि अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ पर्य्यवसित है (अर्थात् वही श्रीकृष्णनाम के वाच्य हैं, सब शास्त्रों का यही निर्णय है ॥१३॥

एइ अर्थ मात्र आमि जानिये निर्द्धार। आर सब अर्थे मोर नाहि अधिकार ॥७१॥
'फल्गु-वलगन प्राय भट्टेर सब व्याख्या'। सर्वज्ञ प्रभु जानि करेन उपेक्षा ॥७२॥
विमना हइया भट्ट गेला निज घर। प्रभु विषय भक्ति किछु हइल अन्तर ॥७३॥
तवे भट्ट याइ पण्डित गोसाञिर ठांइ। नाना मत प्रीति करि करे आसा याइ ॥७४॥
प्रभुर उपेक्षाय सब नीलाचलेर जन। भट्टेर व्याख्यान किछु ना करे श्रवण ॥७५॥
लज्जित हइला भट्ट हैल अपमान। दुःखित हइया गेला पण्डितेर स्थान ॥७६॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"मैं श्रीकृष्णनाम का बस यही अर्थ ही निश्चित करता हूँ और अनेक अर्थों में मेरा अधिकार नहीं है। (बार-बार प्रभु जो यह कहते थे कि मेरा इसमें अधिकार नहीं है यह उनकी एक कौशलपूर्ण उक्ति थी, वास्तव में वह श्रीवल्लभ भट्ट की कोई बात सुनना ही नहीं चाहते थे—ऐसा वे क्यों करते थे ?)—श्रीवल्लभ भट्ट जी की समस्त व्याख्या फल्गु—नदी के प्रवाहवत् थी अर्थात् सूखी नदी जिसमें जल नहीं है, केवल बालू ही बालू है, उस नदी की भाँति असार या निरर्थक थी, उनकी व्याख्या में कुछ सार न था, इस बात को श्रीमहाप्रभु जी जानते थे, क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं, इसलिये वे श्रीभट्ट जी की उपेक्षा कर रहे थे। श्रीवल्लभ भट्ट बेमन होकर अपने घर लौट आए, किन्तु हृदय में उनकी श्रीमहाप्रभु जी में भक्ति श्रद्धा बढ़ गई। (श्रीमहाप्रभु जी की दीनता, कृष्ण नाम में उनकी प्रीति, कृष्ण-

नाम मुख्य अर्थ में प्रभु की एकान्तिकी निष्ठा एवं कृष्ण-नाम में अनन्य रुचि देख कर श्रीभट्ट जी की प्रभु में श्रद्धा-भक्ति बढ़ती ही थी। अथवा श्रीभट्ट जी की जो श्रद्धा-भक्ति श्रीमहाप्रभु जी के प्रति थी, महाप्रभु द्वारा उपेक्षा देख कर उस में अन्तर (भेद) आ गया। अभिमान के कारण ऐसा होना भी अस्वाभाविक न था। फिर श्रीवल्लभाचार्य जी श्रीगदाधर पण्डित-गोस्वामी जी के पास आने-जाने लगे और नानाविध उन से प्रीति करने लगे। किन्तु, श्रीमहाप्रभु जी ने उनकी उपेक्षा कर दी थी, इसलिये नीलाचल वासी कोई भी व्यक्ति इनकी व्याख्या को नहीं सुनता था। श्रीभट्ट जी मन में बहुत लज्जित एवं अपमानित हुए। मन में दुखी होकर एक दिन श्रीगदाधर जी के पास पहुँचे ॥७१-७६॥

दैन्य करि कहे, लैल तोमार शरण। तुमि कृपा करि राख आमार जीवन ॥७७॥

कृष्णनाम व्याख्या यदि करह श्रवण। तबे मोर लज्जा-पङ्क हय प्रक्षालन ॥७८॥

सङ्कटे पड़िल पण्डित, करये संशय। 'कि करिव' एको करिते ना पारि निश्चय ॥७९॥

यद्यपि पण्डित आर ना करिल अङ्गीकार। भट्ट याइ तभु पड़े करि बलात्कार ॥८०॥

आभिजात्ये पण्डित नारे करिते निषेधन। 'ए सङ्कटे राख कृष्ण! लइलुं शरण' ॥८१॥

श्रीवल्लभाचार्य जी ने दीनता पूर्वक श्रीगदाधर पण्डित जी से कहा—"गोस्वामी! मैंने आप की शरण ली है। आप कृपा कर मेरे जीवन की रक्षा कीजिये। क्योंकि मेरी व्याख्या को कोई सुनता नहीं है। इस लज्जा एवं दुःख के कारण मैं मरा जा रहा हूँ।) आप यदि मेरी श्रीकृष्ण नाम की व्याख्या सुन लें तब मेरी लज्जा-कीच धुल जाएगी।" श्रीभट्ट जी की बात सुन कर पण्डित गदाधर जी तो शङ्का में पड़ गये। संशय करने लगे—"मैं क्या करूं? इनकी व्याख्या सुनूं कि न सुनूं" मैं तो एक बात निश्चय ही नहीं कर सकता हूँ।" (श्रीगदाधर जी इस दुविधा में पड़ गये।) यद्यपि पण्डित गदाधर जी ने उनकी बात को अङ्गीकार नहीं किया, तो भी भट्ट जी उनके पास जाकर ज़बरदस्ती अपनी व्याख्या सुनाने लगे—"श्रीवल्लभ भट्ट जी की विद्या एवं कुल की ओर देख कर एवं अपनी लज्जा के कारण श्रीगदाधरजी श्रीभट्ट को ऐसा करने से रोक न सके। अपने मन में कहने लगे—"हे कृष्ण! इस विपदा से मेरी रक्षा कीजिये। मैं आपकी शरण हूँ" ॥७९-८१॥

अन्तर्यामी प्रभु अवश्य जानिवेन मोर मन। तांरे भय नाहि किछु, विषम तांर गण ॥८२॥

यद्यपि विचारे पण्डितेर नाहि किछु दोष। तथापि प्रभुर गण तांरे करे प्रणय-रोष ॥८३॥

तथापि वल्लभभट्ट आइसे प्रभुर स्थाने। उद्ग्राहादि प्राय करे आचार्यादि सने ॥८४॥

येइ किछु कहे भट्ट सिद्धान्त स्थापन। शुनितेइ आचार्य ताहा करेन खण्डन ॥८५॥

आचार्यादि-आगे भट्ट यबे-यबे याय। राजहंस मध्ये येन रहे बक प्राय ॥८६॥

श्रीगदाधर जी सोचने लगे—"श्रीमहाप्रभु जी अन्तर्यामी हैं, वे अवश्य मेरे मन की अवस्था को जान लेंगे (कि मेरी इच्छा भट्ट जी की व्याख्या को सुनने की बिल्कुल नहीं है, वह जबरदस्ती सुनाते जा रहे हैं) इसलिये महाप्रभु जी से तो मुझे कोई भय नहीं है, (वे हैं भी परम कृपालु वे मुझे क्षमा कर देंगे।) किन्तु श्रीमहाप्रभु जी के पार्षदों से मुझे बहुत डर लगता है।" यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो पण्डित गदाधर जी का इस में कुछ दोष न था, फिर भी श्रीगौर-भक्त श्रीगदाधर जी के इस व्यवहार को देख कर उन पर प्रीति भरा क्रोध करने लगे (और परस्पर कहने लगे—"गदाधर जी को भट्ट जी की

व्याख्या नहीं सुननी चाहिये। भट्ट जी को स्पष्ट भाव से इन्हें रोक देना चाहिये, अथवा जब वह व्याख्या पढ़ें, इन्हें वहाँ से उठ जाना चाहिये। श्रीमहाप्रभु जी ने जब उनकी उपेक्षा कर दी है, तब ये ऐसा क्यों कर रहे हैं? इस प्रकार सब भक्त सोच कर श्रीगदाधर जी के प्रति क्रोध प्रदर्शित करने लगे—वह क्रोध द्वेषवश नहीं था, प्रीतिवश था।) फिर भी श्रीवल्लभभट्ट जी श्रीमहाप्रभु स्थान पर आते-जाते और प्रायः श्रीअद्वैताचार्य जी के साथ उद्ग्राहादि करते अर्थात् अपनी विद्या और शास्त्र ज्ञान को जानने के लिये कोई न कोई शङ्का समाधान करते रहते। श्रीभट्ट जी जो भी सिद्धान्त स्थापन करते, उसे सुनते ही श्रीअद्वैताचार्य जी खण्डन कर देते। श्रीआचार्यपाद के सामने जब-जब भी श्रीवल्लभाचार्य जी जाते, राजहंस के सामने जैसे बगुला नगण्य होता है, वैसी ही इन की दशा होती ॥८२-८६॥

एकदिन भट्ट पुछिल आचार्येरे। जीव-प्रकृति 'पति' करि मानये कृष्णेरे ॥८७॥
पतिव्रता येइ, पतिर नाम नाहि लय। तोमरा कृष्णनाम लग्रो, कोन् धर्म हय? ॥८८॥
आचार्य कहे-आगे तोमार धर्म मूर्त्तिमान्। इंहारे पुछ,इहों करिवेन इहार समाधान्॥८९॥
शुनि प्रभु कहे, तुमि ना जान धर्ममर्म। स्वामि आज्ञा पाले, एइ पतिव्रताधर्म ॥९०॥
पतिर आज्ञा—निरन्तर तांर नाम लैते। पतिर आज्ञा पतिव्रता ना पारे खण्डितें ॥९१॥
अतएव नाम लय, नामेर फल पाय। नामेर फल कृष्णकृपाय प्रेम उपजाय ॥९२॥

एक दिन श्रीवल्लभाचार्य जी श्रीअद्वैताचार्य जी से पूछने लगे—"आचार्य पाद! जीव और प्रकृति तो श्रीकृष्ण को अपना पति मानते हैं और जो पतिव्रता नारी होती है, वह पति का नाम नहीं लिया करती, आप जीव होकर अपने पति का नाम—श्रीकृष्ण नाम उच्चारण करते हैं—यह आप का कैसा धर्म है? श्रीअद्वैताचार्य जी ने कहा—"भट्ट! तुम्हारे सामने साक्षात् मूर्तिमान् धर्म बैठे हैं, इन (श्रीमहाप्रभुजी) से यह बात पूछिये, ये आपकी शङ्का का समाधान करेंगे—यह बात सुन कर श्रीमहाप्रभुजी बोले—"भट्ट! अभी तुम धर्म का कुछ भी मर्म नहीं जानते हो। पतिव्रता स्त्री का धर्म है—अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करना"। जीव के पति श्रीभगवान् की आज्ञा है कि "निरन्तर मेरा नाम ग्रहण करो"। जो पतिव्रता स्त्री है वह अपने पति की आज्ञा का कभी उल्लङ्घन नहीं करती। इसलिये हम श्रीकृष्णनाम का उच्चारण करते हैं एवं नाग के फल को प्राप्त होंगे। भट्ट! तुम नाम का फल जानते हो? — श्रीकृष्ण-कृपा से उन के नाम से जीव के हृदय में प्रेम उदय होता है ॥८७-९२॥

शुनिया बल्लभभट्ट हैल निर्वचन। घरे याइ दुखमने करेन चिन्तन ॥९३॥
नित्य आमार एइ सभाय हय कक्षापात। एकदिन यदि उपरि पड़े आमार बात ॥९४॥
तबे सुख हय, आर सब लज्जा याय। स्ववचन स्थापिते आमि कि करि उपाय?॥९५॥
आर दिन वसिला आसि प्रभु नमस्करि। सभाते कहेन किछु मने गर्व करि ॥९६॥
भागवते स्वामीर व्याख्या करियाछि खण्डन। लइते ना पारि तांर व्याख्यार वचन॥९७॥
सेइ व्याख्या करे याहां येइ पड़े आनि। एकवाक्यता नाहि,ताते स्वामी नाहि मानि॥९८॥
प्रभु हासि कहे, स्वामी ना माने येइ जन। वेश्यार भितरे तारे करिये गणन ॥९९॥
एत कहि महाप्रभु मौन करिला। शुनिया सभार मने सन्तोष हइला ॥१००॥

श्रीमहाप्रभु जी के वचन सुनकर श्रीवल्लभभट्ट जी अवाक रह गये और घर जाकर दुखपूर्वक चिन्तन करने लगे, कि नित्य श्रीमहाप्रभु जी की सभा में मेरी पराजय होती है, एक दिन भी मेरी कोई बात ऊपर आ जाए, मैं अपना मत स्थापना कर सकूं तो मुझे सुख मिले और तब मेरी लज्जा निवृत्त हो। अपने वचनों को स्थापन करने के लिये मैं क्या उपाय करूं—ऐसा श्रीवल्लभ जी मन में सोचने लगे। दूसरे दिन श्रीवल्लभाचार्य जी सभा में आए और श्रीमहाप्रभु जी को नमस्कार कर बैठ गये और मन में गर्व करते हुए ऐसा कहने लगे— 'मैंने श्रीश्रीधर स्वामी की भागवत-टीका का खण्डन किया है, उन्हों ने जो टीका लिखी है, उसे मैं नहीं मानता हूँ। कारण कि श्रीधर ने जो जहाँ जैसा श्लोक व अर्थ ठीक समझा है वही श्लोक अर्थ उन्हों ने वहाँ लिख दिया है पूर्वापर का विचार नहीं किया है। उन्हों ने सामञ्जस्य का ध्यान नहीं किया है, उनकी व्याख्या में एकवाक्यता नहीं है, इसलिये मैं स्वामी को नहीं मानता हूँ। श्रीभट्ट जी के वचन सुन कर श्रीमहाप्रभु जी ने उपहास करते हुए कहा—"जो स्वामी को नहीं मानता है उसकी वेश्याओं में गिनती है। अर्थात् जैसे अपने स्वामी को न मानने वाली स्त्री वेश्या हुआ करती है, उसी प्रकार जो श्रीश्रीधर स्वामी जी के वचनों को नहीं मानता है—वह पुरुष भी व्यभिचारी है"। इतना कह कर श्रीमहाप्रभु जी चुप होगये और सभासद सन्तुष्ट होगये कि श्रीमहाप्रभु जी ने ठीक उत्तर दिया है ।।९३-१००।।

जगतेर हित-लागि गौर-अवतार । अन्तरे अभिमान जानेन आछये तांहार ।।१०१।।

नाना अवजाने भट्टे शोधे भगवान । कृष्ण यैछे खण्डिलेन इन्द्रेर अभिमान ।।१०२।।

अज्ञ जीव निज हिते'अहित'करि माने । गर्व्व चूर्ण हैले, पाछे उघाड़े नयने ।।१०३।।

घरे आसि रात्र्ये भट्ट चिन्तिते लागिला । पूर्वे प्रयागे मोरे महाकृपा कैला ।।१०४।।

स्वगण सहित मोर मानिल निमन्त्रण । एवे केने प्रभुर मोते फिरि गेल मन ? ।।१०५।।

'आमिजिति'एइ गर्वशून्य हऔक इहांरचित । ईश्वरस्वभाव एइ,करे सभाकार हित।।१०६।।

आपना जानाइते आमि करि अभिमान । से गर्व खण्डाइते आमार करे अपमान।। १०७।।

आमार हित करेन इहों,आमि मानि दुःख । कृष्णेर उपरे कैल येन इन्द्र महामूर्ख ।।१०८।।

श्रीकविराज कहते हैं—"जगत् का मङ्गल करने के लिये ही श्रीगौर-अवतार हुआ है, वे जानते थे कि श्रीवल्लभाचार्य के भीतर अभिमान है। इसलिये प्रभु ने उनका शोधन करने के लिये नाना प्रकार से उनकी उपेक्षा की जैसे इन्द्र का अभिमान नाश करने के लिये श्रीभगवान् ने किया था। अज्ञानी जीव अभिमान वश अपने हित को भी अहित मान लेता है। किन्तु जब अभिमान दूर होता है। तब उसके हृदय के नेत्र खुलते हैं। (इस प्रकार जब श्रीभट्ट जी का अभिमान नष्ट हो गया) तब वे अपने घर पर रात को सोचने लगे—"श्रीमहाप्रभु जी ने मुझ पर प्रयाग में बहुत कृपा की थी और अपने भक्तों के साथ मेरे घर निमन्त्रण स्वीकार किया था। अब न जाने श्रीमहाप्रभु जी का मन क्यों बद गया है ? मैं समझता हूं मेरे चित्त में जो यह अभिमान था कि मैं सभा में जीतूं, अपना मत स्थापन करू, इसी अभिमान को चूर्ण करने के लिये ही प्रभु ने मेरी अब उपेक्षा की है। ईश्वर का स्वभाव है कि वे सबका सदा हित करते हैं। मैं अपनी विद्यादि को जनाने के अभिमान कर रहा था, उस अभिमान को नष्ट करने के लिए प्रभु ने मेरा अपमान किया है। वे तो मेरा हित कर रहे हैं और मैं उसे अपना अहित मान रहा हूँ जैसे महामूर्ख इन्द्र ने श्रीकृष्ण द्वारा अहित मान लिया था ।।१०१-१०८।।

एत चिन्ति प्राते आसि प्रभुर चरणे । दैन्य करि-स्तुति करि लइल शरणे ।।१०६।।
आमि अज्ञ जीव, अज्ञोचित कर्म कैल । तोमार आगे मूर्ख हजा पाण्डित्य प्रकटिल।।११०।।
तुमि ईश्वर निजोचित कृपा ये करिला। अपमान करि सर्वगर्व खण्डाइला ।।१११।।
आमि अज्ञ, हित स्थाने मानि 'अपमान'। इन्द्र येन कृष्ण निन्दा करिल अज्ञान ।।११२।।
तोमार कृपाञ्जने एबे गर्व्व-अन्धा गेल। तुमि एत कृपा कैले, एबे ज्ञान हैल ।।११३।।
अपराध कैलुं, क्षम, लइलुं शरण । कृपा करि मोर माथे धरह चरण ।।११४।।

ऐसा विचार कर श्रीवल्लभाचार्य जी दूसरे दिन सवेरे उठ कर श्रीमहाप्रभु जी के पास आए और अति दीनता पूर्वक प्रभु की स्तुति करने लगे एवं उनकी शरण ग्रहण की । श्रीभट्ट जी ने कहा—"मैं अज्ञानी जीव हूँ, इसलिये मैंने अज्ञानियों जैसा काम किया है कि मूर्ख होकर भी आपके आगे अपनी पण्डिताई दिखाने आया था, किन्तु आप ईश्वर हैं आपने अपने स्वभाव से मुझ पर यह कृपा की है कि मेरे सब अभिमान को आपने नष्ट किया है । मैं अज्ञ हूँ, आपने मेरा हित ही किया है और मैं उसे अपना अपमान कर अहित जान रहा था, जैसे इन्द्र ने भी अपनी अज्ञता के कारण भगवान् श्रीकृष्ण की निन्दा की थी । आप की कृपा के अञ्जन को प्राप्त करके अब मेरा अभिमान रूप अन्धेरा नष्ट हो गया है । आपने मुझ पर इतनी कृपा की है—यह मैं अब जान पाया हूँ । आप मेरे अपराधों को क्षमा कीजिये, मैं आप की शरण हूँ । आप कृपा कर अपने चरण मेरे सिर पर धारण कीजिये" ।।१०६-११४।।

प्रभु कहे, तुमि पण्डित महाभागवत । दुइ गुण याहां ताहां नाहि गर्व-पर्वत ।।११५।।
श्रीधरस्वामी निन्दि निजे टीका कर। 'श्रीधरस्वामी नाहि मानि', एत गर्व्व धर।।११६।।
श्रीधरस्वामी-प्रसादेते भागवत जानि । जगद्गुरु श्रीधरस्वामी, 'गुरु' करि मानि ।।११७।।
श्रीधर-उपरे गर्व ये किछु करिबे । अस्तव्यस्त लिखन सेइ, लोके ना मानिबे ।।११८।।
श्रीधरेर अनुगत ये करे लिखन । सब लोक मान्य करि करये ग्रहण ।।११६।।
श्रीधरानुगत कर भागवत व्याख्यान । अभिमान छाड़ि भज कृष्ण-भगवान् ।।१२०।।
अपराध छाड़ि कर कृष्णसङ्कीर्त्तन । अचिराते पावे तवे कृष्णेर चरण ।।१२१।।

श्रीवल्लभाचार्य जी के वचन सुन कर श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"भट्ट ! तुम पण्डित हो एवं महा-भक्त भी हो, ये दो गुण जहाँ रहते हैं, वहाँ अभिमानरूप पर्वत नहीं रहता है । तुमने श्रीधर स्वामी का तिरस्कार करके अपनी टीका की है । 'मैं श्रीधर स्वामी को नहीं मानता हूं'–इतना तुम में अभिमान था ? बल्लभ ! श्रीधर स्वामी की कृपा से ही श्रीभागवत का कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। श्रीधर स्वामी जी तो जगद्गुरु हैं, उन्हें गुरु ही मानना चाहिये । श्रीधर स्वामी जी को न मानकर जो कोई अपने अभिमान पूर्वक श्रीभागवत जी पर कुछ लिखेगा, वह शास्त्र सम्मत नहीं होगा और न ही उसका जगत् में कुछ आदर होगा और जो श्रीधर जी का आनुगत्य स्वीकार करके जो कुछ लिखेगा, उसको सब लोग आदर सहित मानेंगे । इसलिये भट्ट ! श्रीधर स्वामी का आनुगत्य लेकर श्रीभागवत जी की व्याख्या करो और अभिमान को त्याग कर भगवान् श्रीकृष्ण का भजन करो । अपराधों को छोड़ कर श्रीकृष्ण नाम का सङ्कीर्त्तन करो तभी तुम्हें शीघ्र ही श्रीकृष्ण-चरणों की प्राप्ति हो सकेगी ।" ।।११५-१२१।।

भट्ट कहे, यदि मोरे हइले प्रसन्न । एकदिन पुन मोर मान निमन्त्रण ॥१२२॥
प्रभु अवतीर्ण हय जगत तारिते । मानिलेन निमन्त्रण, तांरे सुख दिते ॥१२३॥
'जगतेर हित हओंक', एइ प्रभुर मन । दण्ड करि करे तांर हृदय शोधन ॥१२४॥
स्वगण सह महाप्रभुर निमन्त्रण कैला । महाप्रभु तांरे तबे प्रसन्न हइला ॥१२५॥

श्रीमहाप्रभु जी के वचन सुन कर श्रीवल्लभ भट्ट जी बोले—"प्रभु ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो एक दिन के लिये फिर आप मेरे निमन्त्रण को स्वीकार कीजिये।" श्रीमहाप्रभु जी तो जगत् का उद्धार करने के लिये अवतीर्ण हुए हैं। उन्होंने भट्ट जी को प्रसन्न करने के लिये उनका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। श्रीमहाप्रभु जी सदा यही इच्छा करते हैं कि समस्त जगत् का मङ्गल हो। आपने शासित कर श्रीवल्लभाचार्य जी का शोधन किया। श्रीभट्ट जी ने श्रीमहाप्रभु जी का उनके सब भक्तों के साथ निमन्त्रण किया। तब श्रीमहाप्रभु जी ने उन पर प्रसन्न होकर कृपा की ॥१२२-१२५॥

जगदानन्द पण्डितेर शुद्ध गाढ़भाव । सत्यभामा प्राय प्रेमेर वाम्यस्वभाव ॥१२६॥
बार-बार प्रणय—कलह करे प्रभु सने । अन्योन्ये खटमटी चले दुइजने ॥१२७॥
गदाधर पण्डितेर शुद्ध गाढ़भाव । रुक्मिणीदेवीर येन दक्षिण—स्वभाव ॥१२८॥
तांर प्रणयरोष देखिते प्रभुर इच्छा हय । ऐश्वर्यज्ञाने तांर रोष ना उपजय ॥१२९॥
एइ लक्ष्य पाञा प्रभु कैला रोषाभास । शुनि पण्डितेर मने उपजिल त्रास ॥१३०॥
पूर्वे येन कृष्ण यदि परिहास कैल । शुनि रुक्मिणीर मने त्रास उपजिल ॥१३१॥

[भीतर कृपा भाव रखते हुए बाहर शासन करना—यह बात श्रीमहाप्रभु जी ने केवल श्रीवल्लभाचार्य जी के प्रति ही नहीं दिखाई है, वे श्रीजगदानन्द, श्रीगदाधर पण्डित आदि अपने अन्तरङ्ग पार्षदों के प्रति भी ऐसा व्यवहार करते थे, परम रसिक श्रीमहाप्रभु जी को यह एक अपूर्व लीलाभङ्गी है। अब श्रीजगदानन्द का प्रसङ्ग कहते हैं] श्रीजगदानन्द पण्डित जी का शुद्ध गाढ़ प्रेम था, श्रीसत्यभामा की तरह उनके प्रेम का भी वाम्य स्वभाव था। वे श्रीमहाप्रभु जी के साथ बार-बार प्रणय-कलह किया करते थे। दोनों के बीच कुछ न कुछ खटपट चलती ही रहती थी। श्रीगदाधर पण्डित जी का शुद्ध गाढ़भाव था श्रीरुक्मिणीदेवी जी की तरह उनका दक्षिण-स्वभाव था अर्थात् उनका सरल स्वभाव था। श्रीगदाधर जी के प्रणय-कलह को देखने के लिये श्रीमहाप्रभु जी की कभी-कभी इच्छा होती, किन्तु श्रीगदाधर जी में श्रीमहाप्रभु जी का ऐश्वर्य ज्ञान रहता था इसलिये उनमें रोष न उत्पन्न होता था। श्रीगदाधर जी ने श्रीवल्लभ जी की भागवत टीका सुनी थी—इसी बहाने को पाकर श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीगदाधर जी के प्रति रोषाभास प्रगट किया कि किसी तरह प्रेम-कलह का रसास्वादन हो। श्रीमहाप्रभु जी के रोषाभास को देख कर श्रीगदाधर जी मन में बड़े भयभीत हो उठे। ब्रजलीला में (द्वारका लीला में) जैसे भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीरुक्मिणी जी से परिहास किया था और वह भयभीत हो गई थीं, उसी प्रकार श्रीगदाधर जी भी भयभीत हो उठे ॥१२६-१३१॥

वल्लभभट्टेर हय बाल्य-उपासना । बाल गोपाल मन्त्रे तेंहो करेन सेवना ॥१३२॥
पण्डितेर सने तांर मन फिरि गेल । किशोर-गोपाल उपासनाय मन हैल ॥१३३॥

पण्डितेर ठाञि चाहे मन्त्रादि शिखिते । पण्डित कहे, एइ कर्म नहे आमा हैते ।।१३४।।
आमि परतन्त्र, आमार प्रभु 'गौरचन्द्र' । तांर आज्ञा बिनु आमि ना हइ स्वतन्त्र ।।१३५।।
तुमि ये आमार ठाञि कर आगमन । ताहातेइ प्रभु मोरे देन ओलाहन ।।१३६।।

श्रीवल्लभ भट्ट जी की उपासना वात्य-भाव की थी और वह बाल-गोपाल मन्त्र (षड़क्षर गोपाल मन्त्र) से सेवा पूजा किया करते थे । श्रीगदाधर पण्डित जी के सङ्ग से उनका मन बदल गया और किशोर गोपाल की उपासना अर्थात् मधुररसमयी उपासना के लिये वह लालायित हो उठे । उन्होंने श्रीगदाधर जी को प्रार्थना की कि "मुझे किशोर गोपाल के मन्त्र एवं उपासना की शिक्षा-दीक्षा दीजिये" । श्रीगदाधर जी ने कहा—"वल्लभ ! यह काम मुझसे नहीं होगा । मैं परतन्त्र हूँ, मेरे सिर पर मेरे प्रभु श्रीगौरचन्द्र विराजमान हैं, उनकी आज्ञा लिये बिना मैं यह काम स्वतन्त्र रूप में नहीं कर सकता । तुम जो पहले मेरे पास आकर अपनी भागवत्-टीका सुनाते रहे हो, उसका अभी तक उलाहना प्रभु मुझे देते हैं।।१३२-१३६।।

एइमत भट्टेर कथोदिन गेल । शेषे यदि प्रभु तांरे सुप्रसन्न हैल ।।१३७।।
निमन्त्रणेर दिने पण्डिते बोलाइला । स्वरूपगोसाञि जगदानन्द गोविन्द पाठाइला।।१३८।।
पथे पण्डितेरे स्वरूप कहेन वचन । परीक्षिते प्रभु तोमाय कैल उपेक्षण ।।१३९।।
तुमि केने आसि तांरे ना दिले ओलाहन? । भीतप्राय हञा कांहे करिल सहन ? ।।१४०।।
पंडित कहे, प्रभु स्वतन्त्र सर्वज्ञशिरोमणि । तांर सने हठ करिव, भाल नाहि मानि ।।१४१।।
येइ कहेन सेइ सहि निजशिरे धरि । आपने करिवे कृपा दोषादि विचारि ।।१४२।।

इस प्रकार श्रीभट्ट जी को वहाँ कुछ दिन और बीत गये, तब एक दिन श्रीमहाप्रभु जी ने प्रसन्न होकर श्रीभट्ट जी का निमन्त्रण स्वीकार किया और श्रीस्वरूप गोस्वामी, श्रीजगदानन्द तथा श्रीगोविन्द को भेजकर श्रीगदाधर पण्डित जी को अपने पास बुला भेजा । रास्ते में श्रीस्वरूप दामोदर जी ने श्रीगदाधर जी को कहा कि श्रीमहाप्रभु जी ने तुम्हारी परीक्षा लेने के लिये तुम्हारी उपेक्षा कर दी थी—तुम पर रोषाभास प्रगट किया था । तुम महाप्रभु जी के पास क्यों न चले आए ? उनसे आकर कुछ मन की बात कहते, भयभीत होकर तुम सहन क्यों करते रहे ? श्रीगदाधर जी ने कहा—"प्रभु स्वतन्त्र हैं और सर्वज्ञ शिरोमणि हैं, मैं उनसे आकर क्या कहता ? उनके सामने हठ करना या प्रति उत्तर करना मैं अच्छा नहीं समझता हूं , जो वे कहते हैं, उसे सिर पर धारण कर सहन करता हूँ । आप मेरे दोषादि का विचार कर मुझ पर कृपा करना, अर्थात् प्रभु यदि मुझ पर विशेष क्रोध करें तो आप मेरे पक्ष को उन के सामने रखना ।।१३७-१४२।।

एत बलि पंडित प्रभुर द्वारे आइला । रोदन करिया प्रभुर चरणे पड़िला ।।१४३।।
ईषत् हासिया प्रभु कैल आलिङ्गन । सभा शुनाइया कहे मधुर वचन ।।१४४।।
आमि चालाइल तोमा, तुमि ना चलिला । क्रोधे किछु ना कहिला, सकलि सहिला।।१४५।।
आमार भङ्गीते तोमार मन ना चलिला । सुदृढ़ सरल भावे आमारे किनिला ।।१४६।।

इस प्रकार बात-चीत करते हुए श्रीगदाधर जी श्रीमहाप्रभु जी के वासस्थान पर आ पहुँचे । प्रभु को देखते ही वे रोते-रोते प्रभु के चरणों पर गिर पड़े । प्रभु ने मुस्करा कर उन्हें आलिङ्गन कर लिया और सब को सुनाते हुए कहने लगे—"गदाधर ! मैंने तुम्हें छेड़ा था, किन्तु तुम ज़रा भी उत्तेजित न हुए । क्रोधित न हुए और न कुछ कहा, तुमने सब सहन ही कर लिया । मेरे छेड़ने से तुम्हारा मन विचलित न हुआ—इसी सुदृढ़ सरल स्वभाव से तुम ने मुझे मोल ले लिया है—मैं तुम्हारे हाथों बिक चुका हूँ ।

पंडितेर भावमुद्रा कहन ना याय। 'गदाधर-प्राणनाथ' नाम हैल याय ॥१४७॥
पंडिते प्रभुर प्रसाद कहन ना याय। 'गदाइर गौराङ्ग'बलि यारे लोके गाय ॥१४८॥
चैतन्य प्रभुर लीला के बुझिते पारे ?। एक लीलाय बहे गङ्गार शतशत धारे ॥१४९॥
पण्डितेर सौजन्य ब्रह्मण्यता गुण। दृढ़ प्रेममुद्रा लोके करिल ख्यापन ॥१५०॥
अभिमान-पङ्क धुञा भट्टेरे शोधिल। सेइ द्वाराय आर सब लोके शिक्षाइल ॥१५१॥
अन्तरे अनुग्रह बाह्ये उपेक्षार प्राय। बाह्य अर्थ येइ लय, से-इ नाश याय ॥१५२॥

श्रीगदाधर पण्डित जी के मन के भाव एवं शारीरिक आचरण अकथनीय हैं। इन्हीं के कारण श्रीमहाप्रभु जी का नाम "गदाधर-प्राणनाथ" है। श्रीमहाप्रभु जी की श्रीगदाधर जी पर कृपा का वर्णन नहीं हो सकता। श्रीमहाप्रभु जी श्रीगदाधर में इतनी आत्मीयता रखते हैं कि श्रीगौराङ्ग प्रभु को 'श्रीगदाधर का गौराङ्ग'—कहते हैं। श्रीचैतन्य देव की लीलाओं को कौन समझ सकता है, उनकी एक-एक लीला में गङ्गा जी की तरह शत-शत धाराएं प्रवाहित होती हैं। श्रीगदाधर जी की सज्जनता एवं ब्राह्मणों में श्रद्धा तथा श्रीमहाप्रभु जी में भाव एवं आचरण—इन सब गुणों ने श्रीगदाधर जी को जगत् में परम विख्यात कर दिया। इन्होंने श्रीबल्लभाचार्य जी की अभिमानरूपी धूलि को धोकर उन्हें शुद्ध-श्रीमहाप्रभु का कृपापात्र बना दिया। इसलीला के द्वारा औरों को भी निरभिमान होकर भगवत् भजन की शिक्षा दी। श्रीमहाप्रभु जी के हृदय में सब के प्रति अनुग्रह रहता है, भले बाहर में वे किसी की उपेक्षा या शासना करते दीखते हैं। जो व्यक्ति उनके बाहरी आचरण को मान बैठता है, उसे अपराध होता है एवं उसका नाश हो जाता है। ॥१४७-१५२॥

निगूढ़ चैतन्यलीला बुझिते कार शक्ति ?। सेइ बुझे गौरचन्द्रे दृढ़ यार भक्ति ॥१५३॥
दिनान्तरे पण्डित कैल प्रभुर निमन्त्रण। प्रभु ताहां भिक्षा कैल लञा निज-गण ॥१५४॥
ताहांइ वल्लभभट्ट प्रभुर आज्ञा लैला। पण्डित ठाञि पूर्वप्रार्थित सर्व सिद्ध कैला ॥१५५॥
एइ त कहिल बल्लभ भट्टेर मिलन। याहार श्रवणे पाय गौर प्रेमधन ॥१५६॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥१५७॥

श्रीचैतन्यदेव की लीलाएँ बहुत निगूढ़ हैं, उन्हें कोई भी नहीं समझ सकता है। केवल वही समझ सकता है, जिस की श्रीगौरचन्द्र के चरणों में दृढ़ प्रीति-भक्ति है। दूसरे दिन श्रीगदाधर जी ने श्रीमहाप्रभु जी का अपने स्थान पर निमन्त्रण किया। श्रीमहाप्रभु जी ने अपने पार्षदों सहित उनके यहाँ भिक्षा ग्रहण की। वहाँ ही श्रीवल्लभ भट्ट जी ने श्रीमहाप्रभु जी से आज्ञा लेकर श्रीगदाधर जी से अपनी पूर्व प्रार्थित अभिलाषा की पूर्त्ति की अर्थात् उनसे किशोर गोपाल मन्त्र की दीक्षा ग्रहण की। श्रीकविराज कहते हैं—"इस प्रकार मैंने श्रीवल्लभाचार्य जी का प्रभु के साथ मिलन-प्रसङ्ग वर्णन किया है, जिसके सुनने से श्रीगौरचन्द्र के प्रेम-धन की प्राप्ति होती है।" श्रीरूप गोस्वामी व श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥१५३-१५७॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां
वल्लभभट्ट मिलनं नाम सप्तम परिच्छेदः ॥७॥

जयगौर

अन्त्य-लीला

अष्टम परिच्छेद

तं वन्दे कृष्णचैतन्यं रामचन्द्रपुरी भयात् ।
लौकिकाहारतः स्वं यो भिक्षान्नं समकोचयत् ।।१।।

जिन्होंने श्रीरामचन्द्रपुरी के भय से लौकिक-आहार से (नर-लीला प्रयोजन से, साधारण जीव की भांति आहार करने से) अपने भिक्षा के अन्न को संकुचित (कम) कर दिया था, उन्हीं श्रीकृष्ण चैतन्यदेव की मैं वन्दना करता हूँ ।।१।।

[इस अष्टम परिच्छेद में श्रीरामचन्द्रपुरी जी का चरित्र वर्णन किया गया है एवं जिस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी ने अपने भोजन को घटाने की लीला की है—उसका वर्णन किया गया है ।]

जय जय श्रीचैतन्य करुणासिन्धु अवतार । ब्रह्माशिवादिक भजे चरण यांहार ।।१।।
जय जय अवधूतचन्द्र नित्यानन्द । जगत बान्धिल येंहो दिया प्रेम फान्द ।।२।।
जय जय अद्वैत ईश्वर–अवतार । कृष्ण अवतारि कैल जगत निस्तार ।।३।।
जय जय श्रीवासादि प्रभुर भक्तगण । श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्र यार प्राणधन ।।४।।

श्रीचैतन्यदेव जो करुणासिन्धु के अवतार हैं एवं जिनके चरणों का भजन श्रीब्रह्मा-शिवादिक करते हैं, उनकी जय हो, जय हो । श्रीमन्नित्यानन्द अवधूतचन्द्र की जय हो, जय हो । जिन्होंने प्रेम डोरी में सब जगत् को बान्ध लिया है । श्रीविष्णु-अवतार श्रीअद्वैतचन्द्र प्रभु की जय हो, जय हो । जिन्होंने श्रीकृष्ण को (श्रीचैतन्य रूप में) अवतार धारण कराकर समस्त जगत् का निस्तार किया है । श्रीमहाप्रभु जी के श्रीवासादि सब भक्तों की जय हो, जय हो, जिन के प्राण धन श्रीकृष्णचैतन्यदेव हैं ।

एइ मत गौरचन्द्र निज भक्त सङ्गे । नीलाचले क्रीड़ा करे कृष्ण प्रेम रङ्गे ।।५।।
हेन काले रामचन्द्रपुरी गोसाञि आइला । परमानन्दपुरी आसि प्रभुरे मिलिला ।।६।।
परमानन्दपुरी कैल चरणवन्दन । पुरी गोसाञि कैल तारे दृढ़ आलिङ्गन ।।७।।
महाप्रभु कैल तांहे दण्डवत् नति । आलिङ्गन करि तेंहो कैला कृष्णस्मृति ।।८।।
तिन जने इष्ट गोष्ठी कैल कथोक्षण । जगदानन्द पण्डित तांरे कैल निमन्त्रण ।।९।।

इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु जी जब अपने भक्तों के साथ श्रीकृष्ण प्रेम रङ्ग में नीलाचल वास कर रहे थे, उस समय वहाँ श्रीरामचन्द्र पुरी गोस्वामी आए। श्रीपरमानन्द पुरी (जो पहले से ही नीलाचल वास कर रहे थे,) श्रीरामचन्द्र गोस्वामी को आया देख कर वह भी उसी समय श्रीमहाप्रभु जी के स्थान पर आए। श्रीपरमानन्द पुरी जी ने श्रीरामचन्द्रपुरी जी की चरणवन्दना की। (श्रीरामचन्द्र पुरी इनके बड़े गुरु-भाई थे।) श्रीरामचन्द्रपुरी जी ने उनको दृढ़ आलिङ्गन किया। श्रीमहाप्रभु जी ने भी श्रीरामचन्द्रपुरी जी को दण्डवत् प्रणाम की। (क्योंकि श्रीमहाप्रभु जी के गुरु श्रीईश्वर पुरी पाद के ये गुरु-भाई थे—श्रीमहाप्रभु जी इन्हें गुरु स्थानीय जानते थे) श्रीरामचन्द्र पुरी पाद ने श्रीमहाप्रभु जी को "कृष्ण-कृष्ण" स्मरण करते हुए आलिङ्गन किया। श्रीरामचन्द्र पुरी, श्रीपरमानन्द पुरी तथा श्रीमहाप्रभु जी—इन तीनों जनों ने कुछ काल तक श्रीकृष्ण-लीला गुण का कथोपकथन किया—श्रीजगदानन्द पण्डित जी ने आकर श्रीरामचन्द्र पुरी पाद को निमन्त्रण दिया ॥५-६॥

जगन्नाथेर प्रसाद आनिल भिक्षार लागिया। यथेष्ट भिक्षा कैल तेंहो निन्दार लागिया ॥१०॥
भिक्षा करि कहे पुरी, जगदानन्द ! शुन। अवशेष प्रसाद तुमि करह भक्षण ॥११॥
आग्रह करिया तांरे खाओयाइते बसाइला। आपने आग्रह करि परिवेशन कैला ॥१२॥
आग्रह करिया पुनः पुनः खाओयाइला। आचमन कैले निन्दा करिते लागिला ॥१३॥

श्रीजगदानन्द जी ने बहु मात्रा में श्रीजगन्नाथ जी का प्रसाद मँगाया और श्रीरामचन्द्र पुरी जी ने (महाप्रभु एवं उनके भक्तों की) निन्दा करने के लिये बहुत मात्रा में प्रसाद भोजन किया। (श्रीरामचन्द्र पुरी जी का ऐसा स्वभाव था कि वह सब की विना बात निन्दा ही किया करते थे) जब वे भोजन कर चुके तब श्रीजगदानन्द जी से कहने लगे—"सुनो, जगदानन्द ! जो प्रसाद बच रहा है, उसे तुम भोजन कर लो। (श्रीजगदानन्द जी ने पीछे खाने के लिये कहा, परन्तु) पुरी गोस्वामी जी ने उन्हें बार-बार आग्रह करके खाने को बैठा ही दिया और आप ही हठ करके उन्हें परिवेशन करने लगे। श्रीरामचन्द्र पुरी जी ने बार-बार आग्रह करके श्रीजगदानन्द जी को बहुत मात्रा में प्रसाद खिला दिया। जब श्रीजगदानन्द जी आचमन कर चुके, तो श्रीपुरी गोस्वामी अब उनकी निन्दा करने लगे ॥१०-१३॥

शुनि चैतन्य-गण करे बहुत भक्षण। सत्य सेइ वाक्य, साक्षात् देखिल एखन ॥१४॥
संन्यासी के एत खाओयाइया करे धर्मनाश। वैरागी हैया एत खाय,वैराग्येर नाहिभास॥१५॥
एइ त स्वभाव तांर, आग्रह करिया। पिछे निन्दा करे, आगे बहु खाओयाइया ॥१६॥

श्रीरामचन्द्र पुरी कहने लगे—"जगदानन्द ! मैंने यह बात सुन रखी थी कि चैतन्य के भक्त बहुत भोजन करते हैं, आज वह बात मैंने अपनी आँखों से देख ली है। स्वयं भी बहुत खाते हैं और संन्यासियों को भी बहुत खिला कर उनका धर्म नाश करते हैं। वैरागी होकर इतना भोजन करते हो ? वैराग्य तो क्या, वैराग्य का आभास भी तुम लोगों में नहीं है।" श्रीकविराज कहते हैं—"ऐसा श्रीरामचन्द्र पुरी जी का स्वभाव था। पहले स्वयं भी अपने आप बहुत भोजन कर गये और फिर आग्रह करके श्रीजगदानन्द जी को भी बहुत खिला दिया और अब निन्दा करने लगे ॥१४-१६॥

पूर्वे माधवेन्द्रपुरी यबे करे अन्तर्धान। रामचन्द्र पुरी तबे आइला तांर स्थान ॥१७॥
पुरी गोसाञि करे कृष्णनाम-सङ्कीर्त्तन। 'मथुरा ना पाइलु'-बलि करेन क्रन्दन ॥१८॥

रामचन्द्रपुरी तबे उपदेशे तांरे । शिष्य हञा गुरुके कहे भय नाहि करे ॥१६॥
'तुमि पूर्ण ब्रह्मानन्द करह स्मरण । चिद्‌ब्रह्म हञा केने करह क्रन्दन ?' ॥२०॥

पूर्वकाल में जब श्रीरामचन्द्र पुरी गोस्वामी के श्रीगुरुदेव श्रीमाधवेन्द्र पुरी जी का अन्तर्धान हुआ तब यह भी उस समय उनके स्थान पर मौजूद थे । श्रीमाधवेन्द्र पुरी अन्तिम समय में श्रीकृष्ण नाम का संकीर्त्तन कर रहे थे और "हा कृष्ण ! मुझे श्रीवृन्दावन प्राप्त न हुआ " ऐसा बार-बार प्रेम विह्वल होकर पुकार रहे थे और रो रहे थे । श्रीरामचन्द्र पुरी यह देख कर उन्हें उपदेश देने लग गये थे । शिष्य होकर अपने श्रीगुरुदेव से कहने लगे—"भय मत करो, आप पूर्ण ब्रह्मानन्द का स्मरण कीजिये । आप चिद्‌ब्रह्म होकर रो क्यों रहे हो ?" ॥१७—२० ॥

शुनि माधवेन्द्र मने क्रोध उपजिल । 'दूर दूर पापिष्ठ' बलि भर्त्सन करिल ॥२१॥
'कृष्ण ना पाइलुं मुञि ना पाइलुं मथुरा । आपन दुःखे मरों,'एइ दिते आइल ज्वाला॥२२॥
मोरे मुख ना देखाबि तुञि, याओ यथितथ । तोरे देखि मैले मोर हबे असद्‌गति ॥२३॥
'कृष्ण ना पाइलुं मुञि मरों आपन दुःखे । मोरे ब्रह्म उपदेशे' एइ छार मूर्खे ॥२४॥

श्रीरामचन्द्र पुरी के वचन सुन कर श्रीमाधवेन्द्र पुरी जी को बड़ा क्रोध आया और इन का तिरस्कार करते हुए वे कहने लगे—"ओ पापिष्ठ ! दूर हो जा, यहाँ से दूर चला जा । मुझे श्रीकृष्ण न मले, मुझे मथुरा—श्रीवृन्दावन की रज प्राप्त न हो सकी—मैं तो अपने इस दुःख में मर रहा हूँ—रो रहा हूँ, तू मुझे और जलाने—दुःख देने आया है । मुझे तुम अपना मुँह मत दिखाओ—यहाँ से चले जाओ । तुम्हारा मुँह देख कर मृत्यु होने से मेरी दुर्गति होगी । मुझे श्रीकृष्ण चरण प्राप्त न हुए—मैं तो अपने इस दुख को रो रहा हूँ—मर रहा हूँ और यह तुच्छ मूर्ख मुझे ब्रह्म का उपदेश देने आया है ॥२१-२४॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीरामचन्द्र पुरी के वचन सुन कर श्रीमाधवेन्द्र पुरो जी को बहुत क्रोध आया । वे परम भागवत एवं सुशील स्वभाव के थे । उन में क्रोध आने का कारण यह था कि उनका मन्तव्य था—' जीव श्रीकृष्ण का नित्य दास है, अतः वे भी श्रीकृष्ण के नित्य दास हैं । जीव व ब्रह्म का अभेद-ज्ञान कभी भी भक्तों के मन में स्थान नहीं पाता है, ऐसी बात सुनने में भी वे अत्यन्त दुखी होते हैं, कारण कि यह श्रीकृष्ण के प्रति महान् अपराध है । किन्तु श्रीरामचन्द्र पुरी उनको ब्रह्म के साथ जीव के अभेद-ज्ञान का उपदेश देने लगे थे, इसलिये उन्हें बहुत क्रोध आया, विशेषतः शिष्य होकर गुरुदेव को वह उपदेश कर रहे थे ।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देव महेश्वरः ।
गुरुर्साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥ल॥

इस श्लोक में जैसे कहा गया है कि—गुरु ब्रह्मा हैं, गुरु विष्णु हैं, गुरु सर्व देवता एवं महेश्वर हैं, गुरु ही साक्षात् परं ब्रह्म हैं—ऐसे श्रीगुरुदेव को मैं नमस्कार करता हूँ । इस भावना में श्रीरामचन्द्र पुरी ने अपने गुरुदेव को ब्रह्म मान कर ऐसे वचन कह दिये हों—ऐसी भी कोई शङ्का उठा सकता है । इसका उत्तर यह है कि ज्ञान-मार्ग के अनुयायी ही जीव एवं ब्रह्म का अभेद मानते हैं, उन्हीं के मत में ही गुरु भी ब्रह्म है और तो क्या, शिष्य भी ब्रह्म है, वही उपर्युक्त श्लोक को रटा करते हैं, किन्तु भक्ति शास्त्रों का यह मत नहीं है । वे श्रीगुरुदेव को ब्रह्म कह कर कभी वर्णन नहीं करते हैं, न ही उपर्युक्त श्लोक भक्ति-शास्त्र से अनुमोदित है । भक्ति-शास्त्र श्रीगुरुदेव को श्रीभगवान् का प्रियतम भक्त ही प्रतिपादन करते हैं ।

श्रीजीव गोस्वामीपाद ने भक्ति सन्दर्भ में लिखा है कि श्रीगुरुदेव-कृपा श्रीभगवत् कृपा का हेतु है। गुरु कृपा कारण है और भगवत् कृपा कार्य है। यदि श्रीगुरुदेव एवं भगवान् अभिन्न होते तो इनमें कार्य-कारण भेद प्रतिपादन न किया जाता। शास्त्रों में जहाँ श्रीगुरुदेव को श्रीभगवान् के समान कह कर वर्णन किया गया है, वहाँ श्रीगुरु देव की श्रीभगवान् से अभेदता का उद्देश्य नहीं है, श्रीगुरुदेव श्रीभगवान् के समान पूज्यनीय हैं—केवल यही तात्पर्य है।

श्रीरामचन्द्र पुरी जी ने जो वचन कहे थे, वह भक्ति-शास्त्र के प्रतिकूल थे, श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी की भावना-उपासना के प्रतिकूल थे, इसलिये उन्हें क्रोध भी आया और उन्होंने उसे महा मूर्ख कह कर अपनी आँखों से भी दूर हट जाने का आदेश दिया।

एइ ये माधवेन्द्र श्रीपाद उपेक्षा करिल। सेइ अपराधे इहार वासना जन्मिल ॥२५॥
शुष्क ब्रह्मज्ञानी, नाहि कृष्णेर सम्बन्ध। सर्वलोक निन्दा करे, निन्दाते निर्बन्ध ॥२६॥
ईश्वरपुरी गोसाञि करे श्रीपाद सेवन। स्वहस्ते करेन मल मूत्रादि मार्ज्जन ॥२७॥
निरन्तर कृष्णनाम कराय स्मरण। कृष्णलीला कृष्ण श्लोक शुनान अनुक्षण ॥२८॥
तुष्ट हञा पुरी तांरे कैल आलिङ्गन। वर दिल,'कृष्णे तोमार हउक प्रेमधन' ॥२९॥
सेइ हैते ईश्वरपुरी प्रेमेर सागर। रामचन्द्र पुरी हैला सर्व निन्दा कर ॥३०॥

श्रीमाधवेन्द्र पुरी जी ने जब से इनका तिरस्कार किया, उसी अपराध से इन में हर एक की निन्दा करने की दुर्वासना उत्पन्न हो आई। यह शुष्क ब्रह्म-ज्ञानी थे, इनका श्रीकृष्ण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। यह सब की ही निन्दा किया करते थे और निन्दा करने में बड़े निपुण थे। (श्रीगुरुदेव के प्रति अपराध होने का इन्हें यह फल मिला।) किन्तु श्रीईश्वर पुरी जी श्रीमाधवेन्द्र पुरी जी की पूजा-सेवा किया करते थे, अपने हाथों से उनकी अस्वस्थता में उनका मल मूत्रादि भी मार्ज्जन करते थे। वे अपने गुरुदेव जी को निरन्तर श्रीकृष्ण नाम स्मरण कराते रहते थे, श्रीकृष्ण लीला, श्रीकृष्णलीला सम्बन्धीय श्लोक हर क्षण उन्हें सुनाते रहते थे। उनके इस व्यवहार से श्रीमाधवेन्द्र पुरी जी ने प्रसन्न होकर उन्हें आलिङ्गन करते हुए यह वर दिया कि "ईश्वर पुरी ! तुम्हें श्रीकृष्ण-प्रेमधन की प्राप्ति होगी।" तभी से श्रीईश्वरपुरी प्रेम के सागर हो गये। (श्रीगुरु कृपा एवं प्रसन्नता का उन्हें यह फल मिला।) किन्तु श्रीरामचन्द्रपुरी ऐसे हुए कि वे सब की निन्दा ही किया करते ॥२५-३०॥

महदनुग्रह-निग्रहेर साक्षी दुइ जन। एइ दुइ द्वारे शिक्षाइल जगजन ॥३१॥
जगद्गुरु माधवेन्द्र करि प्रेमदान। एइ श्लोक पढ़ि तेंहों कैल अन्तर्धान ॥३२॥

महत्-कृपा (गुरु-कृपा) एवं महत्-अपराध (गुरु-अपराध) के साक्षी ये दोनों जने हैं। इन दोनों के द्वारा जगत् जीवों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। श्रीमाधवेन्द्र पुरी जी जगद्गुरु थे, वे श्रीईश्वर पुरी पाद को प्रेम दान करके एवं निम्नलिखित श्लोक को उच्चारण करते हुए अन्तर्धान हो गये।

तथाहि पद्यावल्याम् (३३४)—माधवेन्द्रपुरी वाक्यम्—

अयि दीनदयार्द्र नाथ हे मथुरानाथ कदावलोक्यसे।
हृदयं त्वदलोककातरं दयित भ्राम्यति किं करोम्यहम् ॥२॥

हे दीन जनों के प्रति परमदयालु हृदय ! हे नाथ ! हे मथुरानाथ ! मुझे कब आपके दर्शन होंगे ? हे प्राण नाथ ! तुम्हारे दर्शनों के बिना मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है। कहो, अब मैं क्या करूँ ? ॥ २ ॥

एइ श्लोके कृष्णप्रेम कैल उपदेश। कृष्णेर विरह भक्तेर भावविशेष ॥३३॥
पृथिवीते रोपण करि गेला प्रेमांकुर। सेइ प्रेमांकुर वृक्ष—चैतन्य ठाकुर ॥३४॥
प्रस्तावे कहिल पुरी गोसाञिर निर्याण। येइ इहा शुने, सेइ बड़ भाग्यवान् ॥३५॥
रामचन्द्रपुरी ऐछे रहिला नीलाचले। विरक्त स्वभाव, कभु रहे कोनस्थले ॥३६॥
अनिमन्त्रण भिक्षा करे, नाहिक निर्णय। अन्येर भिक्षार स्थितिर लयेन निश्चय ॥३७॥
प्रभुर निमन्त्रणे लागे कौड़ि चारिपण। प्रभु काशीश्वर गोविन्द खान तिनजन ॥३८॥

इस श्लोक में श्रीमाधवेन्द्र पुरी जी ने श्रीकृष्ण प्रेम का उपदेश दिया है, (इस श्लोक में श्रीकृष्ण-विरह-व्याकुलता-पूर्ण प्रार्थना की गई है।) श्रीकृष्ण की विरहावस्था में ही भक्तों के चित्त में भावों का विशेष उत्पादन होता है। वे पृथ्वी पर प्रेमांकुर को रोपण कर गये हैं और वह प्रेमांकुर श्रीकृष्णचैतन्य देव में वृक्ष रूप में अभिव्यक्त हुआ। (श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी ने प्रेमांकुर का रोपण किया था श्रीईश्वर पुरी जी में, उन्हों ने श्रीमन्महाप्रभु जी को वही प्रेम प्रदान किया। वह कृष्ण-प्रेम पूर्ण रूप में श्रीमहाप्रभु जी में ही व्यक्त हुआ। लौकिक लीलानुसार ऐसा कहा जाता है—वैसे तो श्रीमहाप्रभु स्वयं प्रेमावतार ही हैं।) श्रीकविराज गोस्वामी कहते हैं—"मैंने यहाँ प्रसङ्गवश श्रीमाधवेन्द्र पुरी जी की अन्तर्धान-लीला का वर्णन किया है, जो इसे सुनेगा, वही बड़ा भाग्यवान है।" श्रीरामचन्द्र पुरी इस तरह नीलाचल रहे कि विरक्त स्वभाव (किसी से भी उनका मेल नहीं), किसी एक स्थान पर निवास नहीं, बिना निमन्त्रण ही दूसरे के घरों पर जाकर भोजन कर लेते,कहाँ कब वे रहेंगे,कहाँ कब वे भोजन करेंगे—इसकी कुछ स्थिरता उनमें न थी। हाँ, यह बात उनमें अवश्य थी कि वे दूसरे की पूरी खोज रखते थे कि किस का कहाँ भोजन-निमन्त्रण है, वह क्या आहार करता है, वह कहाँ रहता है। जो कोई श्रीमहाप्रभु जी को उस समय भोजन कराता, उनके निमन्त्रण करने में चार पण कौड़ी (३२० कौड़ी) खर्च आता था उसमें भी श्रीमहाप्रभु, श्रीकाशीश्वर एवं श्रीगोबिन्द—ये तीन जने तृप्त होते थे अथवा खाते थे ॥३३-३८॥

प्रत्यह प्रभुर भिक्षा इति उति हय। केहो यदि मूल्य आने, चारिपण निर्णय ॥३९॥
प्रभुर स्थिति रीति भिक्षा शयन प्रयाण। रामचन्द्रपुरी करे सर्वानुसन्धान ॥४०॥
प्रभुर यतेक गुण स्पर्शिते नारिल। छिद्र चाहि बुले, काहों छिद्र ना पाइल ॥४१॥
संन्यासी हइया करे मिष्टान्न भक्षण। एइ भोके कैछे हय इन्द्रियवारण ? ॥४२॥
एइ निन्दा करि कहे सर्व लोक स्थाने। प्रभुके देखिते अवश्य आइसे प्रतिदिने ॥४३॥

श्रीमन्महाप्रभु जी का निमन्त्रण प्रति दिन कहीं न कहीं होता ही था। यदि कोई श्रीजगन्नाथ जी का प्रसाद खरीद कर लाता तो उसमें केवल चार पण ही खर्च होते। श्रीमहाप्रभु कहां रहे, उनकी क्या रीति है, उन्होंने आज क्या खाया, वे कब कहाँ सोये, वे कहाँ आ जा रहे हैं, इन सब बातों का अनुसन्धान श्रीरामचन्द्र पुरी खूब रखते थे। श्रीमहाप्रभु जी के जितने गुण थे, उन में से कोई भी

उन्हें छूता नहीं था अर्थात् वे कुछ भी प्रभु का गुण ग्रहण नहीं करते थे। हर समय उनके दोष को ढूंढा करते थे, किन्तु उन्हें कोई भी छिद्र या दोष न मिलता था। केवल यह बात वे हर जगह लोगों में कहते फिरते कि "संन्यासी होकर मिष्टान्न भक्षण करते हैं, उसे खाकर कैसे इन्द्रियों का दमन हो सकता है ?" इस प्रकार की निन्दा वे हर जगह करते थे। फिर भी उनका यह नियम था कि वे प्रतिदिन श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन करने अवश्य आया करते थे ।।३९-४३।।

प्रभु गुरुबुद्धये करे सम्भ्रम—सम्मान। तेंहो छिद्र चाहि बुले, एइ तांर काम ।।४४।।
यत निन्दा करे, ताहा प्रभु सब जाने। तथापि आदर करे बड़इ सम्भ्रमे ।।४५।।
एकदिन प्रातःकाले आइला प्रभुर घर। पिपीलिका देखि किछु कहेन उत्तर ।।४६।।

जब भी श्रीरामचन्द्र पुरी श्रीमहाप्रभु जी के निवास स्थान पर जाते, श्रीमहाप्रभु उनको गुरु तुल्य जान कर उनका यथेष्ट सम्मान करते। किन्तु वे प्रभु के छिद्रों को ही देखते फिरते—यही उनका काम था, वे प्रभु के पास आते ही केवल इसलिये थे। वे प्रभु की जितनी निन्दा करते थे, वह सब प्रभु जानते भी थे, तो भी उन्हें बड़ा जान कर प्रभु उनका आदर किया करते। एक दिन वे प्रातःकाल ही श्रीमहाप्रभु जी के स्थान पर गये और वहाँ चींटियों को देख कर प्रभु के सामने कहने लगे ।।४४-४६।।

तथाहि रामचन्द्रपुरी वाक्यम्—

रात्रावत्र ऐक्षवमासीत्, तेन पिपीलिकाः सञ्चरन्ति।
अहो विरक्तानां 'संन्यासिनामिय मिन्द्रियलालसे'ति ब्रुवन्नुत्थायगतः ।।३।।

रात को यहाँ मिठाई थी, इसलिये पिपीलिकाएँ यहाँ विचरण कर रही हैं, कैसा आश्चर्य है ? विरक्त संन्यासियों में ऐसी इन्द्रिय-लालसा ? इतना कह कर वे वहाँ से चल दिये ।।३।।

प्रभु परम्पराय निन्दा करियाछेन श्रवण। एबे साक्षात् शुनिलेन कल्पित निन्दन ।।४७।।
सहजेइ पिपीलिका सर्वत्र बेड़ाय। ताहाते तर्क उठाइया दोष लागाय ।।४८।।
शुनितेइ महाप्रभुर सङ्कोच हय मन। गोविन्दे बोलाञा किछु कहेन वचन— ।।४९।।
आज हैते भिक्षा मोर एइ त नियम। पिण्डाभोगेर एकचौठि,पांचगण्डार व्यञ्जन ।।५०।।
इहा बहि आर अधिक कभु ना आनिबा। अधिक आनिले आमा एथा ना देखिबा ।।५१।।

श्रीमहाप्रभु जी अब तक लोगों के मुख से यह सुना करते थे कि रामचन्द्र पुरी उनकी निन्दा करता रहता है किन्तु आज उन्होंने अपने कानों से अपनी झूंठी निन्दा सुनी, क्योंकि पिपीलिकाएँ तो सहज में ही सब जगह घूमती-फिरती रहती हैं, उन्हें देख कर ही एक तर्क उठा कर उन्होंने प्रभु पर दोष लगा दिया। उनके वचन सुन कर श्रीमहाप्रभु जी का मन सङ्कोच में पड़ गया और उसी समय अपने सेवक—श्रीगोविन्द को बुला कर कहने लगे—'गोविन्द ! आज से मेरी भिक्षा का यह नियम रहेगा, एक चौथाई प्रसादी भात और पाञ्चगण्डा का साग। (पुराना एक पैसा का साग)—बस इससे अधिक कुछ भी नहीं। इस से अधिक या अतिरिक्त कुछ भी लाओगे या और कोई लाएगा तो तुम मुझे यहाँ नहीं देखोगे—मैं नीलाचल छोड़ कर अन्यत्र चला जाऊँगा' ।।४७-५१।।

सकल वैष्णवे गोविन्द कहे एइ बात। शुनि सभार माथे येन हैल वज्राघात ॥५२॥
रामचन्द्रपुरी के सभाइ करे तिरस्कार। एइ पाप आसि प्राण लइल सभार ॥५३॥
सेइ दिने एक विप्र कैल निमन्त्रण। एक चौठी भात, पाञ्चगण्डार व्यञ्जन ॥५४॥
एतन्मात्र गोविन्द सबे कैल अङ्गीकार। माथाय घा मारे विप्र करे हा हा कार ॥५५॥
सेइ भात व्यञ्जन प्रभु अर्द्धेक खाइल। ये किछु रहिल, ताहा गोविन्द पाइल ॥५६॥
अर्द्धाशन करे प्रभु, गोविन्द अर्द्धाशन। सब भक्तगण तबे छाड़िल भोजन ॥५७॥
गोविन्द काशीश्वरे प्रभु कैल आज्ञापन। दुंहे अन्यत्र मागि कर उदर भरण ॥५८॥

श्रीगोविन्द ने प्रभु का आदेश सब वैष्णवों को सुना दिया, सुनते ही मानो सब के सिर पर वज्राघात हुआ हो—वे सब बहुत दुखी हुए। सब ही रामचन्द्र पुरी का तिरस्कार करने लगे और कहने लगे कि—"यह मूर्तिमान पाप यहाँ हमारे प्राण लेने आया है।" उसी दिन एक ब्राह्मण ने आकर प्रभु को निमन्त्रण दिया। श्रीगोविन्द ने केवल एक चौथाई भात और पाञ्चगण्डा व्यञ्जन-इतना मात्र उस से प्रभु के लिये ले लिया। यह देख-सुन कर वह ब्राह्मण अपने माथे को पीटता हुआ हाहाकार करने लगा। उस भात और व्यञ्जन में से प्रभु ने आधा भाग खाया और जो आधा भाग बचा, उसे श्रीगोविन्द ने खा लिया। श्रीमहाप्रभु जी का आधा पेट भरा और श्रीगोविन्द ने भी आधा भोजन किया। सब भक्तों ने भी उस दिन से भर पेट भोजन करना छोड़ दिया। श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीगोविन्द और काशीश्वर को आज्ञा दी कि तुम दोनों कहीं अन्यत्र जाकर भिक्षा माँग कर पेट भर लिया करो।

एइ मत महा दुःखे दिन कथो गेल। शुनि रामचन्द्र पुरी प्रभुपाश आइल ॥५९॥
प्रणाम करि कैल प्रभु चरण वन्दन। प्रभु के कहये किछु हासिया वचन ॥६०॥
संन्यासीर धर्म नहे इन्द्रिय-तर्पण। येछे—तैछे करे मात्र उदर भरण ॥६१॥
तोमाके क्षीण देखि, बुझि कर अर्द्धाशन। एहो शुष्कवैराग्य, नहे संन्यासीर धर्म ॥६२॥
यथायोग्य उदर भरे, ना करे विषयभोग। संन्यासीर तबे सिद्ध हय ज्ञान योग ॥६३॥

इस प्रकार कुछ दिन सब के महादुःख में बीते, यह बात श्रीरामचन्द्र पुरी को पता लगी। वह श्रीमहाप्रभु जी के पास आए। श्रीमहाप्रभु जी ने उन्हें प्रणाम कर उनकी चरण वन्दना की। वे हँस कर प्रभु से कहने लगे—"इन्द्रियों को तृप्त करना—संन्यासी का धर्म नहीं है, उसे तो जैसे-तैसे पेट भर लेना चाहिये। आप बहुत दुर्बल दीख रहे हो, ज्ञात होता है आप अधूरा भोजन कर रहे हो, यह तो तुम्हारा शुष्क वैराग्य है, संन्यासी का यह धर्म नहीं है। संन्यासी को तो इतना भोजन करना चाहिये कि जिस से पेट पूरा भर जाए, किन्तु विषय भोग नहीं करना चाहिये, तभी संन्यासी का ज्ञान योग सिद्ध होता है" ॥ ५९-६३॥ श्रीगीता जी में कहा गया है--

तथाहि श्रीमद्भगवद्गीतायाम् (६-१६ व १७)—

नात्यश्नतोऽपि योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्ज्जुन ॥४॥

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुखहा ॥५॥

हे अर्जुन ! अत्यन्त भोजन करनें वाले व्यक्ति का (आलस्यवशतः), अत्यन्त भोजन-विहीन व्यक्ति का (भूख से मन की चञ्चलता के कारण), अतिशय निद्राशील व्यक्ति का (चित्त की लयता के कारण) एवं अतिशय जागरण-शील व्यक्ति का (मन-चञ्चलता के कारण) योगानुष्ठान नहीं होता है । जिस व्यक्ति का आहार, विहार कर्म चेष्टा, निद्रा एवं जागरण नियमित है, उसी का ही दुःख नाशक योग सिद्ध होता है ॥४-५॥

प्रभु कहे, अज्ञ बालक मुञि शिष्य तोमार । मोरे शिक्षा देह, एइ भाग्य आमार ॥६४॥
एत शुनि रामचन्द्र पुरी उठि गेला । भक्तगण अर्द्धाशन करे पुरी गोसाञि शुनिला ॥६५॥
आर दिन भक्तगण सवे परमानन्द पुरी । प्रभु-पाशे निवेदिल दैन्य, विनय करि ॥६६॥
रामचन्द्र पुरी हय निन्दुक-स्वभाव । तार बोले अन्न छाड़,किवा हैवे लाभ ? ॥६७॥
पुरीर स्वभाव-यथेष्ठ आहार कराइया । येइ खाय, तारे खाओयाय यतन करिया ॥६८॥
खाओयाइया पुन तारे करेन निन्दन । एत अन्न खाओ,तोमार कत आछे धन ? ॥६९॥
संन्यासीके एत खाओयाओ,कर धर्मनाश । अतएव जानिल,तोमाय नाहि किछु भास॥७०॥
के कैछे व्यवहार करे, केवा कैछे खाय । एइ अनुसन्धान तेंहो करेन सदाय ॥७१॥
शास्त्रे येइ दुई कर्म करियाछे वर्ज्जन । सेइ कर्म निरन्तर इंहार करण ॥७२॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"मैं अज्ञ बालक हूँ और आपका शिष्य हूँ, मुझे आप शिक्षा देते हैं, यह मेरा सौभाग्य है ।" इतना सुन कर श्रीरामचन्द्र पुरी उठ कर चले गये । श्रीपरमानन्द पुरी गोसाईं जी ने भी सुना कि सब भक्तगण अधूरा भोजन कर रहे हैं । दूसरे दिन श्रीपरमानन्द पुरी भक्तों को साथ लेकर श्रीमहाप्रभु जी के पास आए और दीनता पूर्वक निवेदन करने लगे—"प्रभु ! रामचन्द्र पुरी का तो निन्दक स्वभाव है, उसके कहने पर आपने अन्न छोड़ दिया है, इस से क्या लाभ होगा ? । रामचन्द्र पुरी का यह स्वभाव है—कि वह दूसरे को खूब भोजन करा देते हैं, जो खाता है, उसे वह आग्रह करके बहुत खिला देते हैं । खिला कर फिर उसकी निन्दा करने लगते हैं—"अरे ! तुम इतना अन्न खा जाते हो ? तुम्हारे पास कितना धन है ? तुम संन्यासियों को इतना भोजन कराते हो ? उनका धर्म नाश करते हो ।" मैं तो यह जानता हूँ, किन्तु आपको रामचन्द्र पुरी की करतूतों का पता नहीं है । कोई कैसा व्यवहार करता है, कोई क्या भोजन करता है, 'वह सदा यही पड़ताल करते रहते हैं । शास्त्र में जिन दो कर्मों को निषेध किया गया है, वही कर्म वे निरन्तर करते हैं ॥६४-७२॥ जैसा कि श्रीभागवत जी में कहा गया है—

तथाहि (भाः ११-२८-१)—

परस्वभाव कर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् ।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च ॥६॥

प्रकृति व पुरुष के साथ विश्व को एकात्मक जान कर दूसरे के स्वभाव व कर्मों की प्रशंसा व निन्दा नहीं करनी चाहिये ॥६॥

तार मध्ये पूर्व विधि 'प्रशंसा' छाड़िया।
परविधि 'निन्दा' करे बलिष्ठ जानिया ॥७३॥

श्रीपरमानन्द पुरी जी ने कहा—"प्रभु ! शास्त्र ने दो बातें कही हैं किसी की प्रशंसा न करना एवं किसी की निन्दा न करना। इन में पहली बात मान कर रामचन्द्र पुरी ने प्रशंसा करना तो छोड़ दिया है। (परिहास करते हुए श्रीपुरी जी ने कहा—) वह दूसरी बात को अर्थात् निन्दा को बलिष्ठ जान कर खूब पालन करते हैं। (शास्त्र में कहा गया है जहाँ एक विषय में दो बातें कही गई हों, वहाँ पहली बात से दूसरी बात बलिष्ठ होती है। यहाँ यह दोनों बातें एक विषयक नहीं हैं, परिहास करते हुए श्रीपरमानन्द पुरी ने ऐसा कहा है—)

तथाहि न्यायः—

पूर्वापरयोर्मध्ये परविधिर्बलवान् ॥७॥

पूर्वविधि व परविधि में परविधि ही बलवान होती है—ऐसा न्याय शास्त्र कहता है ॥७॥

याहां गुण शत आछे ना करे ग्रहण। गुण मध्ये छले करे दोषारोपण ॥७४॥
इंहार स्वभाव इहा कहिते ना जुयाय। तथापि कहिये किछु मर्म दुख पाय ॥७५॥
इंहार वचने केने अन्न त्याग कर। पूर्ववत् निमन्त्रण मान, सभार बोल धर ॥७६॥
प्रभु कहे,सभे केने पुरी गोसाञिरे कर रोष ?। सहज धर्म कहे तेंहो,तांर किवा दोष?॥७७॥
यति हञा जिह्वा लम्पट-प्रत्यन्त अन्याय। यति धर्म प्राण राखिते आहार मात्र खाय॥७८॥

श्रीपुरीजी ने कहा—"प्रभु ! किसी में शत-शत गुण क्यों न हों, वह उसका एक गुण भी ग्रहण नहीं करता है, बल्कि गुणों में भी वह तर्क करके दोषारोपण कर देता है। यह उसका स्वभाव है, यह कहने की बातें नहीं हैं, तथापि हम सब को अत्यन्त दुःख हो रहा है, इसलिये कहना पड़ रहा है। उसके वचनों पर आपने अन्न क्यों त्याग कर दिया है ? आप हम सब की विनय को स्वीकार कीजिये और पहले की भांति पूरा भोजन अङ्गीकार कीजिये।" श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"आप सब पुरी गोसाईं (श्रीरामचन्द्र पुरी) पर रोष क्यों करते हैं ? उन्होंने तो सहज धर्म कहा है, उनका क्या दोष है ? संन्यासी होकर जिह्वा लम्पट होना अत्यन्त अन्याय है. यती का धर्म यही है कि वह अपने प्राणों की रक्षा के लिये ही आहार मात्र करे।" ॥७४-७८॥

तबे सभे मिलि प्रभुरे बहु यत्न कैल। सभार आग्रहे प्रभु अर्द्धेक राखिल ॥७९॥
दुइ पण कौड़ि लागे प्रभुर निमन्त्रणे। कभु दुइ जन भोक्ता कभु तिन जने ॥८०॥
अभोज्यान्न विप्र यदि करे निमन्त्रण। प्रसाद मूल्य लइते लागे कौड़ी दुइपण ॥८१॥
भोज्यान्न विप्र यदि निमन्त्रण करे। किछु प्रसाद आने, किछु पाक करे घरे ॥८२॥
पण्डित गोसाञि भगवानाचार्य सार्वभौम। निमन्त्रणेर दिने यदि करे निमन्त्रण ॥८३॥
तां-सभार इच्छाय प्रभु करेन भोजन। ताहां प्रभुर स्वातन्त्र्य नाइ,यैछे तांर मन ॥८४॥

तब सब भक्तों ने मिल कर बहुत यत्न पूर्वक जब प्रार्थना की, तब प्रभु ने एक चौथाई की जगह आधा भाग अन्न लेना अङ्गीकार कर लिया। श्रीमहाप्रभु जी के निमन्त्रण में केवल दो पण कौड़ी खर्च पड़ता था, उस प्रसादान्न को कभी दो जने और कभा तीन जने भोजन किया करते थे। अभोज्यान्न-विप्र (अर्थात् जिस विप्र के हाथ का भोजन करना मर्यादा में नहीं था—अनाचारी ब्राह्मण) का यदि प्रभु निमन्त्रण स्वीकार करते तो प्रसादान्न बाजारसे खरीदता उसका उस में केवल दो पण कौड़ी खर्च लगता। शुद्धाचरण युक्त विप्र यदि प्रभु का निमन्त्रण करता तो वह कुछ प्रसाद बाजार से खरीद लाता और कुछ वह अपने घर में पाक कर लेता। श्रीगदाधर पण्डित, श्रीभगवानाचार्य, श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य, आदि अन्तरङ्ग भक्त जब श्रीमहाप्रभु जी को निमन्त्रण देते, तब तो प्रभु को उनकी इच्छानुसार भोजन करना पड़ता, उनके वशीभूत होकर प्रभु को भोजन करना पड़ता—जैसे उन भक्तों की अभिलाषा होती।

भक्त गणे सुख दिते प्रभुर अवतार। याहां यैछे योग्य ताहा करेन व्यवहार ॥८५॥
कभु त लौकिक रीति, येन इतर जन। कभु स्वतन्त्र करेन ऐश्वर्य्य प्रकटन ॥८६॥
कभु रामचन्द्रपुरी हय भृत्य प्राय। कभु तांरे नाहि माने; देखे तृणप्राय ॥८७॥
ईश्वर-चरित्र प्रभुर, बुद्धि अगोचर। यबे येइ करे, सेइ सब मनोहर ॥८८॥

श्रीमन्महाप्रभु जी का अवतार भक्त-गणों को सुख देने के लिये ही हुआ है। जो जिस योग्य होता, वहाँ उस से वैसा ही प्रभु व्यवहार करते थे। कभी तो वे साधारण लोगों की तरह लौकिक व्यवहार करने लगते, कभी किसी की उपेक्षा न करके परम स्वतन्त्र होकर अपनी भगवत्ता का प्रकाश करते। कभी तो प्रभु श्रीरामचन्द्र पुरी के सेवक तुल्य बन जाते और कभी उनकी कुछ भी न मानते, उन्हें तृणवत् तुच्छ समझते। श्रीचैतन्य देव ईश्वर हैं, उनके चरित्र बुद्धि के अगोचर हैं, जब भी वे जैसा चरित्र करते हैं, वह सब हीं सुन्दर होता है ॥८५-८८॥

एइमत रामचन्द्र पुरी नीलाचले। दिन कथो रहि गेला तीर्थ करिवारे ॥८९॥
तेंहो गेले प्रभुर गण हैला हरषित। शिरेर पाथर येन पड़िल भूमिते ॥९०॥
स्वच्छन्दे निमन्त्रण प्रभुर कीर्त्तन-नर्त्तन। स्वच्छन्दे करेन सभे प्रसाद भोजन ॥९१॥
गुरु उपेक्षा कैले ऐछे फल हय। क्रमे ईश्वरपर्यन्त अपराधे--ठेकय ॥९२॥
यद्यपि गुरुबुद्ध्ये प्रभु तांर दोष ना लइल। तांर फलद्वारे लोके शिक्षा कराइल ॥९३॥
चैतन्य चरित्र येन अमृतेर पुर। शुनिते श्रवणे मने लागये मधुर ॥९४॥
चैतन्य चरित्र लिखि शुन एक मने। अनायासे पाइवे प्रेम श्रीकृष्ण चरणे ॥९५॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥९६॥

इस प्रकार नीलाचल में रामचन्द्र पुरी कुछ दिन रह कर फिर तीर्थ यात्रा करने के लिये चले गये। उनके चले जाने पर सब गौर-भक्त प्रसन्न हुए, मानो उनके सिर पर जो पत्थर रखा हुआ था वह पृथ्वी पर गिर पड़ा—उनका बोझ हलका हो गया। फिर श्रीमहाप्रभु जी का कीर्त्तन-नृत्य एवं निमन्त्रण स्वच्छन्दता से होने लगा और सब वैष्णव भक्त भी स्वच्छन्द होकर प्रसाद-भोजन करने लगे। श्रीगुरुदेव की उपेक्षा करने का यही फल हुआ करता है, यहाँ तक कि गुरु अपराधी व्यक्ति श्रीभगवान् में भी अप-

राधों का आरोप करने लगता है। यद्यपि श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीरामचन्द्र पुरी को गुरु-बुद्धि से दोष नहीं दिया, किन्तु गुरु विमुखता का जो फल पुरी गोस्वामी को मिला, उस से सब लोगों को शिक्षा दिला दी। (गौरगुणोद्देश दीपिका के मत से श्रीरामचन्द्रपुरी पूर्व लीला में श्रीराम-भक्त विभीषण थे, कार्यवशतः श्रीराधा जी की सास जटिला का भी इन में प्रवेश था। इसलिये यह श्रीमहाप्रभु जी का भिक्षा सङ्कोचनादि करते थे।) श्रीचैतन्य-लीलाएँ अमृत से भरपूर हैं, सुनने में कान-मन इन्द्रियों को अति मधुर लगती हैं। श्रीकविराज कहते हैं—"मैं श्रीचैतन्य-चरित को लिख रहा हूँ, आप एक मन होकर इसे सुनिये एवं पढ़िये; इस से अनायास ही आपको श्रीकृष्ण चरणों में प्रेम की प्राप्ति होगी।" श्रीरूप-गोस्वामी, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी—इन के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं।" ॥८९—९६॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां

भिक्षासङ्कोचनं-नाम

अष्टम परिच्छेदः ॥८॥

जयगौर

अन्त्य-लीला

नवम परिच्छेद

★

अगण्यधन्य चैतन्य-गणानां प्रेम—वन्यया ।
निन्येऽधन्यजन-स्वान्त-मरुं शश्वदनूपताम् ॥१॥

(जिन) श्रीचैतन्यदेव के असंख्य धन्य (पतित पावन) भक्त-गणों की प्रेम वन्या ने अधन्य (पतित) जन-गणों की अन्तःकरण रूपी मरुभूमि को निरन्तर आप्लावित किया है, (उनकी मैं वन्दना करता हूँ)॥ १ ॥

[इस नवम परिच्छेद में श्रीगोपीनाथ-पट्टनायक के उद्धार की लीला वर्णन की गई है ।]

जय जय श्रीकृष्णचैतन्य दयामय । जय जय नित्यानन्द करुण हृदय ॥१॥
जयाद्वैताचार्य जय जय दयामय । जय गौर भक्तगण सर्वरस—मय ॥२॥
एइमत महाप्रभु भक्तगण सङ्गे । नीलाचले वास करे कृष्ण—प्रेम रङ्गे ॥३॥
अन्तरे–बाहिरे कृष्ण विरह–तरङ्ग । नाना भावे व्याकुल प्रभुर मन आर अङ्ग ॥४॥

दयामय श्रीकृष्ण चैतन्य की जय हो, जय हो । करुण हृदय श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, जय हो । दयामय श्रीअद्वैताचार्य प्रभु की जय हो, जय हो । सर्व रस–रसिक श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो । इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु जी अपने भक्तों के साथ श्रीकृष्ण प्रेम–लीला रस में विभोर होकर नीलाचल में वास कर रहे थे । उनके भीतर–बाहर श्रीकृष्ण विरह की तरङ्गें उठा करतीं और उनके मन एवं देह अनेक भावों में व्याकुल रहते ॥१–४॥

दिने नृत्य कीर्त्तन जगन्नाथ–दरशन । रात्र्ये रायस्वरूप-सने रस–आस्वादन ॥५॥
त्रिजगतेर लोक आसि करे दरशन । येइ देखे से-इ पाय कृष्ण प्रेम धन ॥६॥
मनुष्येर वेशे देव गन्धर्व किन्नर । सप्त पातालेर यत दैत्य-विषधर ॥७॥
सप्त द्वीपे नवखण्डे वैसे यतजन । नानावेशे आसि करे प्रभुर दर्शन ॥८॥
प्रह्लाद, बलि, व्यास-शुक आदि मुनिगण । प्रभु आसि देखे, प्रेमे हय अचेतन ॥९॥

बाहिरे फुकारे लोक दर्शन ना पाञा । 'कृष्ण कह'बोले प्रभु बाहिर हइया ॥१०॥
प्रभुर दर्शने सब लोके प्रेमे भासे । एइमत याय प्रभुर रात्रि-दिवसे ॥११॥

श्रीमहाप्रभु जी दिन में तो नृत्य-कीर्त्तन एवं श्रीजगन्नाथ जी का दर्शन करते और रात में श्रीराय रामानन्द, श्रीस्वरूप दामोदर के साथ श्रीकृष्ण लीला-रस का आस्वादन करते थे। त्रिभुवन के लोग आकर श्रीमहाप्रभु जी का दर्शन करते और इन के दर्शन जो भी करता उसे श्रीकृष्ण प्रेम धन की प्राप्ति हो जाती। देव, गन्धर्व, किन्नर, सप्त पातालों के दैत्य, नाग—सब मनुष्य का रूप धारण करके प्रभु के दर्शन करने आते। सप्त द्वीप एवं नव खण्डों के जितने लोग हैं वे सब नाना वेश धारण कर श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन करने आते। श्रीप्रह्लाद, श्रीवलि, श्रीव्यास जी, श्रीशुकदेव जी और अनेक मुनि-गण आकर प्रभु के दर्शन करते एवं इनके प्रेम में वेसुधि हो जाते। श्रीमहाप्रभु जी के घर के बाहर जब दर्शनियों की भीड़ लगी रहती और बाहर से ही कोलाहल किया करते, तब श्रीमहाप्रभु जी घर से बाहर निकल कर सब को 'श्रीकृष्ण कहो'—ऐसा उपदेश देते। उनके दर्शन कर सब लोग प्रेम में सराबोर हो जाते। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी के दिन-रात वीतते थे ॥५-११॥

एक दिन लोक आसि प्रभुरे निवेदिल- । गोपीनाथके बड़जाना चाङ्गे चढ़ाइल ॥१२॥
तले खड़ग पाति तार उपरे डारि दिवे । प्रभु रक्षा करेन यबे,तबे निस्तारिवे ॥१३॥
सवंश तोमार सेवक-भवानन्द राय । तार पुत्र तोमार सेवक, राखिते जुयाय ॥१४॥
प्रभु कहे, राजा केने करये ताड़न ? । तबे सेइ लोक कहे सब विवरण ॥१५॥

एक दिन कुछ लोगों ने आकर श्रीमहाप्रभु जी से निवेदन किया कि—"प्रभु! गोपीनाथ (जो राय रामानन्द जी का भाई है और श्रीभवानन्द जी का पुत्र है, उस) को राजा प्रताप रुद्र का बड़ा लड़का मञ्च पर चढ़ा रहा है और नीचे तलवार पर उसे धक्का देकर मौत के घाट उतारना चाहता है, आप यदि उसकी रक्षा करें, तब उसका जीवन बच सकता है। श्रीभवानन्द राय तो अपने वंश सहित आपके सेवक हैं, इसलिये उसका पुत्र गोपीनाथ भी आपका एक सेवक ही है, अतः आपको उसकी रक्षा करना उचित ही है।" श्रीमहाप्रभु जी ने पूछा—"राजा उसे क्यों मारना चाहता है?" तब वे लोग सब वृत्तांत प्रभु को सुनाने लगे ॥१२-१५॥

सर्व्व काल हय तेंहो राज-विषयी । गोपीनाथ पट्ट नायक, रामरायेर भाइ ॥१६॥
मालजाठ्यादण्डपाटे तांर अधिकार । साधि पाड़ि आनि द्रव्य दिल राजद्वार ॥१७॥
दुइ लक्ष काहण तांर ठांइ बाकी हैल । दुइ लक्ष काहण तांरे राजा त मागिल ॥१८॥
तेंहो कहे,स्थूलद्रव्य नाहि, ये गणिया दिव । क्रमे क्रमे विकि-किन द्रव्य भरिव ॥१९॥
घोड़ा दश बार हय, लेह मूल्य करि । एत बलि घोड़ा आनि राज द्वारे धरि ॥२०॥
एक राजपुत्र घोड़ार मूल्य भाल जाने । तारे पाठाइल राजा पात्रमित्र सने ॥२१॥
सेइ राजपुत्र मूल्य करे घाटाइया । गोपीनाथरे क्रोध हैल मूल्य शुनिया ॥२२॥

उन्होंने कहा—"प्रभु! गोपीनाथ पट्टनायक राय रामानन्द जी का भाई है। वह सदा का राज कर्मचारी चला आता है। मालजाठ्यादण्डपाट नामक देश पर उसका अधिकार है, वह वहाँ से

(८० कौड़ी = १ पण, १६ पण = १ काहण, १ काहण = १६ पण, १ पण = ८० कौड़ी, २० कौड़ी = ६ न० पै०) राज कर आदि वसूल करके राजा प्रताप रुद्र को अदा करता है। उस पर राजा का दो लाख काहण बाकी बचता है। राजा ने अब गोपीनाथ से दो लाख काहण मांगे हैं। गोपीनाथ ने राजा से कहा है कि मेरे पास नकद काहण तो हैं नहीं, जो तुम्हें अभी गिन कर देदूं। धीरे-धीरे मैं अपनी सम्पत्ति आदि बेच-बिचाकर आपका सब द्रव्य चुका दूंगा। गोपीनाथ ने राजा से यह भी कहा है कि मेरे पास दस बारह घोड़े हैं, उनका मूल्य करके आप जमा कर लीजिये। इतना कह कर गोपीनाथ ने वे घोड़े भी लाकर राज द्वार पर बांध दिये हैं। राजा का पुत्र ही घोड़ों का अच्छी प्रकार मूल्य करना जानता है, इसलिये प्रतापरुद्र राजा ने अपने उच्च कर्मचारी के साथ अपने पुत्र को घोड़ों का मूल्य करने के लिये भेजा है। उस राजकुमार ने बहुत कम मूल्य उन घोड़ों का डाला है, जिसे सुन कर गोपीनाथ को बहुत क्रोध हुआ है।

सेइ राज पुत्रेर स्वभाव, ग्रीवा फिराय। उच्चमुखे बार-बार इति-उति चाय ॥२३॥
तारे निन्दा करि कहे सगर्व वचने। राजा कृपा करे, ताते भय नाहि माने ॥२४॥
आमार घोड़ा ग्रीवा ना फिराय खर्द्ध्वे नाहि चाय।
ताते घोड़ार घाटि मूल्य करिते ना जुयाय ॥२५॥
शुनि राजपुत्र–मने क्रोध उपजिल। राजार ठांइ याइ बहु लागानि करिल ॥२६॥
कौड़ि नाहि दिवे एइ बेड़ाय छद्म करि। आज्ञा देह यदि, चाङ्गे चढ़ाइ लइ कौड़ि॥२७॥
राजा बोले येइ भाल, सेइ कर याय। ये उपाय कौड़ि पाइ कर से उपाय ॥२८॥
राजपुत्र आसि तबे चाङ्गे चढ़ाइल। खड़ग उपर पेलाइते तले खड़ग पातिल ॥२९॥

राजकुमार का स्वभाव था कि वह बात करते हुए ग्रीवा को फिराता था और बार-बार ऊपर देखने लग जाता था। गोपीनाथ पर राजा प्रतापरुद्र बड़ी कृपा रखते थे, इसलिये गोपीनाथ को उस राजकुमार से भय नहीं व्यापा और उसे व्यंग वचन सुनाते हुए गोपीनाथ ने राजकुमार से कह दिया—कि "मेरे घोड़े ग्रीवा नहीं फिराते हैं और न बार-बार ऊँचा देखने लगते हैं, (अर्थात् जैसे तुम ग्रीवा घुमा कर ऊँचा देखने लगते हो, तुम्हारे में दोष है, ऐसा दोष मेरे घोड़ों में नहीं है) इसलिये आपको इनका मूल्य घटाना नहीं चाहिये।" राजपुत्र को उसके व्यंग वचन सुन कर बहुत क्रोध आ गया एवं उसने अपने पिता राजा प्रताप रुद्र से आकर गोपीनाथ के विरुद्ध बहुत कुछ बढ़ा-चढ़ा कर कहा है—उसने कह दिया कि "यह गोपीनाथ हमें एक कौड़ी भी नहीं देने लगा है, यह रूप बदल कर यहाँ से भाग जावेगा। यदि आप की आज्ञा हो तो इसे सूली पर चढ़ा कर इस से पैसा वसूल कर लूं।" राजा ने कह दिया है कि "जैसे अच्छा दीखे, वैसे करो। जैसे उस से पैसा वसूल हो, वही उपाय करो।" (सब लोगों ने कहा—) "राजपुत्र ने आकर उसे (मञ्च पर) (सूली पर) चढ़ा दिया है और नीचे गर्त्त में खड़्ग गाढ़ दी है और ऊपर भी उसे खड़्ग से डरा कर उस गर्त्त में गिरा कर उसके प्राण लेना चाहता है। (प्रभु! अब आप किसी न किसी प्रकार उसकी रक्षा कीजिये।) ॥२३–२९॥

शुनि प्रभु कहे किछु करि प्रणय रोष। राजकौड़ि दिवार नहे राजार कि दोष ?॥३०॥
राजार विलात साधि खाय, नाहि राजभय। दारी-नाटुयाके दिया करे नाना व्यय ॥३१॥
येइ चतुर से-इ करुक राजविषय। राजद्रव्य शोधि पाय, ताहा करे व्यय ॥३२॥

हेन काले आर लोक आइल धाइया । 'वाणीनाथादि सवंशे लैगेल बान्धिया ।।३३।।
प्रभु कहे—राजा आपन लेखाय द्रव्य लैब । आमि विरक्त संन्यासी, ताहे कि करिब?।।३४।।

यह सब वृत्तान्त सुन कर श्रीमहाप्रभु जी ने कुछ प्रणयरोष प्रगट करते हुए कहा—"गोपीनाथ राज-धन देना नहीं चाहता है, फिर इस में राजा का क्या दोष है ? उसने राज कर आदि प्रजा से वसूल कर लिया और उस धन को स्वयं खा गया, उसे राजा का भय कुछ भी न रहा, वेश्याओं एवं नर्त्तकियों में उसने सब धन लुटा दिया है—(इस प्रकार क्या राज कर्म किये जाते हैं ?) राज-कार्य तो वही कर सकता है जो अपनी चतुरता से राज-धन को हाथ न लगाए। उसने राज-धन को वसूल कर लिया है और उसे खर्च कर दिया है ? " इतना अभी श्रीमहाप्रभु जी कह रहे थे कि वहाँ और कुछ लोग भागते हुए आए और कहने लगे—"प्रभु ! (गोपीनाथ को तो मञ्च पर चढ़ा ही रखा है) अब उसके भाई वाणीनाथ को भी परिवार सहित राज कर्मचारी बान्ध कर ले गये हैं।" श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"भाई ! राजा तो अपने हिसाब का सब धन वसूल करेगा ही, मैं एक विरक्त संन्यासी हूँ, मैं इसमें क्या कर सकता हूँ।" ।।३०-३४।।

तबे स्वरूपादि यत प्रभुर भक्तगण । प्रभुर चरणे सबे कैल निवेदन ।।३५।।
रामानन्द रायेर गोष्ठी, तोमार सब दास । तोमाके उचित नहे ऐछन उदास ।।३६।।
शुनि महाप्रभु कहे, सक्रोध वचने । मोरे आज्ञा देह सभे, याङ राजस्थाने ।।३७।।
तोमासभार एइ मत, राजार ठाञि याञा । कौड़ि मागि लङ मुञि आंचल पातिया।।३८।।
पांच गण्डार पात्र हय संन्यासी—ब्राह्मण । मागिले वा केने दिबे दुइलक्ष काहण ।।३९।।

तब श्रीस्वरूपादि प्रभु के जो भक्त थे, उन सब ने प्रभु के चरणों में निवेदन किया—"प्रभु ! राय रामानन्द का परिवार तो सब का सब आप का दास है। उसकी रक्षा के लिये आप को इस प्रकार उदासीनता नहीं दिखानी चाहिये।" यह सुन कर श्रीमहाप्रभु क्रोध से कहने लगे—"तो मुझे आप आज्ञा दीजिये कि मैं राजा के पास चला जाऊँ। आपका क्या यही मत है कि मैं राजा के पास जाकर आँचल पसार कर उस से धन-पैसा माँग लाऊँ ? संन्यासी और ब्राह्मण तो केवल पांच गण्डा (=२० कौड़ी= ६ न० पै०) के पात्र हैं, माँगने पर इन्हें कैसे कोई दो लाख काहण दे देगा ?" ।।३५-३९।।

हेन काले आर लोक आइल धाइया । "खड़गोपरि गोपीनाथे दितेछे डारिया"।।४०।।
शुनि प्रभुरगण प्रभुके करे अनुनय । प्रभु कहे, आमि भिक्षुक, आमा हैते किछु नय।।४१।।
तारे रक्षा करिते यदि हय सभार मने । सभे मिलि जानाह जगन्नाथेर चरणे ।।४२।।
ईश्वर जगन्नाथ, यांर हाते सर्व अर्थ । कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा करिते समर्थ ।।४३।।
इहां यदि महाप्रभु एतेक कहिल— । हरिचन्दन पात्र याइ राजारे कहिल ।।४४।।

इतने में और लोग वहां भागते हुए आ पहुँचे और कहने लगे—"प्रभु ! गोपीनाथ को राज कर्मचारी तो खड़्ग पर डाल रहे हैं।" यह बात सुन कर फिर प्रभु भक्तों ने प्रभु को उसकी रक्षा के लिये प्रार्थना की। श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"मैं विरक्त हूँ, मुझ से कुछ न होगा।" यदि आप सब लोग उसकी रक्षा करना चाहते हैं तो सब मिल कर यही प्रार्थना श्रीजगन्नाथ जी के चरणों में जाकर कीजिये।

श्रीजगन्नाथ जी ईश्वर हैं, उनके हाथों में सब सिद्धियाँ हैं, वे सम्भव एवं असम्भव—सब कुछ करने में समर्थ हैं, वे सम्भव को असम्भव और असम्भव को सम्भव कर सकते हैं।" यहाँ जसे ही प्रभु ने ये वचन कहे—उसी क्षण उधर हरिचन्दन जो राजा का मुख्य मन्त्री था, राजा प्रताप रुद्र से कहने लगा—

गोपीनाथ पट्टनायक, सेवक तोमार। सवेकेर प्राणदण्ड नहे व्यवहार ॥४५॥
विशेषे ताहार ठाञि कौड़ि बाकी हय। प्राण लैले किवा लाभ, निज धन क्षय ॥४६॥
यथार्थ मूल्ये घोड़ा लेह, येवा बाकी हय। क्रमे क्रमे दिवे, व्यर्थ प्राण केने लय? ॥४७॥
राजा कहे, एइ बात आमि नाहि जानि। प्राण केने निव तार द्रव्य चाहि आमि ॥४८॥
तुमि याइ कर येइ सर्व समाधान। द्रव्य यैछे आइसे, आर रहे तार प्राण ॥४९॥

हरिचन्दन ने राजा से कहा—"राजन्! गोपीनाथ पट्ट नायक तो तुम्हारा सेवक है। सेवक के लिये प्राण दण्ड देना तो उचित नहीं है। विशेषत: उस पर तो आपको बहुत धन लेना बाकी है, उसके प्राण लेने से क्या लाभ होगा? अपना धन ही नाश हो जाएगा। उचित दामों में उसके घोड़े ले लीजिए और बाकी पैसा वह धीरे-धीरे अदा कर देगा, व्यर्थ में उसके प्राण क्यों ले रहे हैं?" राजा ने विस्मित होकर कहा—"मुझे तो इस बात का कुछ पता नहीं है, प्राण क्यों लिये जा रहे हैं? हमें तो उस से पैसा लेना है। हरिचन्दन! तुम जाकर शीघ्र सब समाधान करो, जैसे धन की वसूली हो और उसके प्राण भी रहें ॥ ४५–४९ ॥

तवे हरिचन्दन आसि जानारे कहिल। चाङ्गे हइते गोपीनाथे शीघ्र नाम्वाइल ॥५०॥
द्रव्य देह राजा मागे, उपाय पुछिल। 'यथार्थ मूल्ये घोड़ा लेह' तेंहों त कहिल ॥५१॥
क्रमे क्रमे दिव सब आर यत पारि। अविचारे प्राण लह कि वलिते पारि? ॥५२॥
यथार्थ मूल्य करि तबे सब घोड़ा लैल। आर द्रव्येर मुद्दति करि घरे पाठाइल ॥५३॥

तव श्रीहरिचन्दन ने आकर राजा का आदेश राजकुमार को सुनाया और श्रीगोपीनाथ को मञ्च (सूली) पर से शीघ्र नीचे उतार लिया। श्रीहरिचन्दन ने श्रीगोपीनाथ से पूछा कि राजा का धन पैसा तुम पर चाहिये, उसे कैसे देना चाहते हो? श्रीगोपीनाथ ने कहा—"उचित दामों में मेरे सव घोड़े ले लीजिये और वाकी धन जितना मैं दे सकूंगा, धीरे-धीरे सब चुकता कर दूंगा। राजपुत्र तो अविचार से मेरे प्राण लेना चाहते हैं, उसमें मैं क्या कह सकता हूँ?" श्रीहरिचन्दन ने यथार्थ मूल्यों में सब घोड़े ले लिये और शेष धन वे चुकाने की मियाद स्थिर करके श्रीगोपीनाथ को उसके घर भेज दिया ॥५०-५३॥

एथा प्रभु सेइ मनुष्येरे प्रश्न कैल। वाणीनाथ कि करे, यबे बान्धिया आनिल ॥५४॥
से कवे, वाणीनाथ निर्भये लय कृष्णनाम। "हरेकृष्ण हरेकृष्ण" कहे अविश्राम ॥५५॥
संख्या लागि दुइहाते अंगुलिते लेखा। सहस्रादि पूर्ण हैले अङ्गे काटे रेखा ॥५६॥
शुनि महाप्रभुर हैल परम आनन्द। के बूझिते पारे गौरेर कृपाछन्द बन्द ॥५७॥

इस ओर श्रीप्रभु ने उन लोगों से पूछा कि —"वाणीनाथ को जब राज–कर्मचारी लोग बान्ध कर ले गये, तब वे क्या कर रहा था?" उन्होंने कहा—"प्रभु! वाणीनाथ तो निर्भय होकर श्रीकृष्णनाम का उच्चारण कर रहा था।" "हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम

राम राम हरे हरे—"वह इस महामन्त्र का निरन्तर जप करता हुआ जा रहा था। संख्या के लिये वह अपनी अंगुलियों पर गिनता जाता था, सहस्रादि पूर्ण होने पर वह अपने शरीर पर रेखा खींच देता था।" यह बात सुन कर श्रीमहाप्रभु जी को परम आनन्द हुआ। भला, उनकी कृपा की भङ्गियों को कौन जान सकता है ? (बाहर में प्रभु ने गोपीनाथ की विपदा में उदासीनता दिखाई है, किन्तु भीतर-भीतर प्रभु ने करुणा कर प्रेरणा द्वारा हरिचन्दन को राजा के पास भेज कर गोपीनाथादि को मुक्त करा दिया है और महा विपद में भी श्रीवाणीनाथ की भजन निष्ठा एवं स्थिरता को प्रकटित कर दिया है।) ॥५४-५७॥

हेन काले काशी मिश्र आइला प्रभु स्थाने। प्रभु तारे कहे किछु सोद्वेग वचने ॥५८॥
इहां रहिते नारि आमि, याव आलालनाथ। नाना उपद्रव इहां ना पाइ सोयाथ ॥५९॥
भवानन्द रायेर गोष्ठी करे राज विषय। नाना प्रकारे करे राज द्रव्य व्यय ॥६०॥
राजार कि दोष, राजा निज द्रव्य चाय। दिते नारे द्रव्य, दण्ड आमारे जानाय ॥६१॥

इसी समय श्रीकाशी मिश्र श्रीमहाप्रभु के स्थान पर आए, तब प्रभु कुछ उद्विग्न चित्त होकर उन से कहने लगे—"मिश्र ! मैं अब यहाँ नहीं रह सकता हूँ, मैं तो आलालनाथ चला जाऊँगा। यहाँ तो अनेक उपद्रव होने लगे हैं। मुझे यहाँ शान्ति नहीं मिलती है। भवानन्द का परिवार राज कर्म करता है और राज-द्रव्य को खर्च कर लेता है। इस में राजा का फिर क्या दोष है, वह तो अपना द्रव्य चाहेगा ही, जब वह राज-धन नहीं अदा करता, और राजा उन्हें दण्डित करता है तब वे सब मुझे दण्ड की बात कहला भेजता है—इस से मुझे अशान्ति होती है" ॥५८-६१॥

राजा गोपीनाथे यदि चाङ्गे चड़ाइल। चारि बार लोक आसि आमा जानाइल ॥६२॥
भिक्षुक संन्यासी आमि निर्जनेते बसि। आमाके दुख देन, निज दुख कहि आसि ॥६३॥
आजि तारे जगन्नाथ करिल रक्षण। कालि के राखिबे, यदि ना दिबे राजधन ॥६४॥
विषयीर वार्त्ता शुनि क्षुब्ध हय मन। ताहे इहां रहि आमार नाहि प्रयोजन ॥६५॥

श्रीमहाप्रभु जी ने आगे कहा—"गोपीनाथ को राजा ने जब सूली पर चढ़ाया था, तब मेरे पास एक बार नहीं, दो बार नहीं, चार बार लोगों ने आकर मुझे यह बात जनाई। मैं भिक्षुक संन्यासी हूँ और एकाग्र रहता हूँ, अपने दुःखों के समाचार आकर मुझे सुनाते हैं और इस प्रकार मुझे दुख देते हैं। आज तो उसकी रक्षा श्रीजगन्नाथ जी ने कर ली है, कल फिर उसकी रक्षा कौन करेगा ? यदि इस प्रकार फिर वह राज-धन नहीं देगा ? विषयी लोगों की बातें सुन कर मेरा मन क्षुब्ध-चञ्चल हो जाता है, इस लिये अब यहाँ रहने का मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है" ॥६२-६५॥

काशी मिश्र कहे प्रभुर धरिया चरणे। तुमि केन एइ बाते क्षोभ कर मने ॥६६॥
संन्यासी विरक्त तोमार कार सने सम्बन्ध ? व्यवहार लागि तोमा भजे सेइ ज्ञान-अन्ध॥६७॥
तोमार भजन फल, तोमाते प्रेम-धन। विषय लागि तोमाय भजे से-इ मूर्ख जन ॥६८॥
तोमा लागि रामानन्द राज्य त्याग कैल। तोमा लागि सनातन विषय छाड़िल ॥६९॥
तोमा लागि रघुनाथ सकल छाड़ि आइल। एथाहो ताहार पिता विषय पाठाइल ॥७०॥
तोमार चरणकृपा हञाछे ताहारे। छत्रे मागि खाय,विषय स्पर्श नाहि करे ॥७१॥

प्रभु के वचन सुन कर श्रीकाशी मिश्र ने प्रभु के चरण पकड़ लिये और कहने लगे—"प्रभु ! आप इन बातों में अपने मन को क्यों अशान्त करते हैं ? आप विरक्त संन्यासी हो, आप का किसी के साथ क्या सम्बन्ध ? जो लोग विषयों के लिये आप का भजन करते हैं, वे अज्ञानी हैं। आपके भजन का फल तो आपके चरणों का प्रेम-धन है। जो विषयों के निमित्त आप का भजन करते हैं, वे महा मूर्ख हैं। आपके चरण-प्रेम-धन के लिये राय रामानन्द ने राज पाट का त्याग कर दिया है। आपके लिये श्री-सनातन ने राज विषयों को छोड़ा है। आपके पीछे श्रीरघुनाथ दास समस्त को छोड़-छाड़ यहाँ आया है, उसके पिता जी ने उसके लिये यहाँ भी धन-सम्पत्ति भेजी थी, किन्तु उस पर आप की चरण कृपा होगई है, वे क्षेत्रों में मांग खाते हैं किन्तु विषयों धनादि का स्पर्श नहीं करते हैं ॥६६-७१॥

रामानन्देर भाइ, गोपीनाथ महाशय। तोमा हैते विषय वाञ्छा तार इच्छा नय ॥७२॥
तार दुःख देखि तार सेवकादि गण। तोमाके जानाइल, याते अनन्य-शरण ॥७३॥
से-इ शुद्ध भक्त, तोमा भजे तोमा लागि। आपनार सुख दुःखे हय भोगभागी ॥७४॥
तोमार अनुकम्पा चाहे, भजे अनुक्षण। अचिराते मिले तारे तोमार चरण ॥७५॥

श्रीकाशीनाथ ने आगे कहा—"प्रभु ! गोपीनाथ महाशय भी श्रीरामानन्द राय का भाई है और उस की इच्छा भी आप से विषयों के लिये नही हैं। उसके दुःख को देख कर उसके सेवक और मिलने वाले ही आप के पास दौड़े आये हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि गोपीनाथ की एक मात्र आप ही शरण हैं—आप ही उसका एक मात्र अवलम्बन हैं। (उसने उन लोगों को आप के पास नहीं भेजा था।) वह आपका शुद्ध भक्त है, वह आपके चरणों के प्रेम-धन की प्राप्ति के लिये ही आप का भजन करता है। अपने दुःख-सुख को वह अपने आप भोगा करता है। केवल आप की कृपा की वाट देखता हुआ आपका निरन्तर भजन किया करता है। मैं समझता हूँ—उसे आपके चरणों की प्राप्ति शीघ्र हो जाएगी ॥७२-७५॥ जैसा कि श्रीभागवत जी में कहा गया है—

तथाहि (भाः १०-१४-८)—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो भक्तिपदे स दायभाक् ॥२॥

ब्रह्मा जी ने कहा है—"हे श्यामसुन्दर ! (आप की महिमा को भक्ति के बिना कोई भी नहीं जान सकता है,) इसलिये जो व्यक्ति "भगवान् कब मुझ पर कृपा करेंगे ?"—इस प्रकार बाट तकता हुआ अपने किये कर्मों के फल को भोग करता रहता है और काया, मन एवं वाणी से आप की वन्दना करते हुए जीवन को व्यतीत करता है, वह भी भक्ति पद का दाय भागी या उत्तराधिकारी होता है ॥२॥ (विशेष टीका—चै० च० २-६-२२ पृष्ठ १४४ द्रष्टव्य।)

एथा तुमि बसि रह केने यावे आलालनाथ ?। केहो तोमा ना शुनावे विषतेर बात ॥७६॥
यदि वा तोमार तारे राखिते हय मन। आजि ये राखिल, से-इ करिवे रक्षण ॥७७॥
एत बलि काशी मिश्र गेला स्वमन्दिरे। मध्याह्ने प्रतापरुद्र आइल तांर घरे ॥७८॥
प्रतापरुद्रेर एक आछये नियम। यत दिन रहे तेंहो श्रीपुरुषोत्तम ॥७९॥

नित्य आसि करे मिश्रेर पाद सेवाहन । जगन्नाथेर करे सेवार अभिनय श्रवण ।।८०।।
राजा मिश्रेर चरण यत्ने चापिते लागिला । तबे मिश्र तांरे किछु भङ्गीते कहिला ।।८१।।

श्रीकाशी मिश्र ने कहा—"प्रभु ! आप यहाँ ही वास कीजिये, आपको आलालनाथ जाने की जरूरत नहीं है, आज के बाद फिर कोई भी आपको विषय की बात—अपने सुख-दुःख की बात आकर नहीं सुनाएगा। यदि भगवान् के पुत्रों की रक्षा करने की आपकी इच्छा होगी, तो आज उनकी जिन्होंने रक्षा की है, फिर भी वही उनकी रक्षा करेंगे।" इतना कहकर श्रीकाशी मिश्र अपने घर चले गये। मध्याह्न के समय राजा प्रतापरुद्र उनके घर आए। राजा प्रतापरुद्र का यह नियम था कि जितने दिन वे श्रीजगन्नाथपुरी में रहते, तब तक वे नित्य श्रीकाशी मिश्र के घर आकर उनकी चरण सेवा करते एवं उन से श्रीजगन्नाथ जी के सेवा के सम्बन्ध में सब बात पूछा करते। उस दिन राजा जब श्रीकाशी मिश्र के चरण दबाने लगे, तब उन्होंने कुछ बहाना बनाते हुए राजा से कहा ।।७६-८१।।

देव ! शुन आर एक अपरूप बात । महाप्रभु क्षेत्र छाड़ि यान आलालनाथ ।।८२।।
शुनि राजा दुःखी हैला, पुछिल कारण । तबे मिश्र कहे तांर सब विवरण ।।८३।।
गोपीनाथ पट्ट नायके यवे चाङ्गे चढ़ाइला । तांर सेवक सब आसि प्रभुके कहिला ।।८४।।
शुनिया क्षोभित हैल महा प्रभुर मन । क्रोधे गोपीनाथे कैल बहुत भर्त्सन ।।८५।।
अजितेन्द्रिय हञा करे राज विषय । नाना असत्पथे करे राज द्रव्य व्यय ।।८६।।
ब्रह्मस्व-अधिक एइ हय राज धन । ताहां हरि भोग करे महा पापी जन ।।८७।।

श्रीकाशी मिश्र ने कहा—"राजन् ! आज एक और बुरी बात सुनिये कि श्रीमहाप्रभु जी नीलाचल छोड़ कर आलालनाथ जाना चाहते हैं। यह बात सुनते ही राजा प्रतापरुद्र बहुत दुःखी हुए और उन से प्रभु के आलालनाथ जाने का कारण पूछा, तब मिश्र जी ने सब वृत्तान्त कह सुनाया कि—"आपने गोपीनाथ पट्ट नायक को जब सूली पर चढ़ाया था, तब उसके सेवकों ने यह बात आकर श्री-महाप्रभु जी को सुनाई थी। श्रीमहाप्रभु जी का मन इस बात को सुन कर बहुत क्षोभित हुआ और उन्होंने गोपीनाथ की क्रोध में आकर बहुत भर्त्सना की। प्रभु ने कहा है कि—गोपीनाथ अजितेन्द्रिय होकर—लोलुप होकर राज-कार्य को करता है और उस राज-धन का खोटे कामों में अपव्यय करता है। राज-धन ब्राह्मण के धन से भी अधिक होता है, उसे जो चुरा कर भोग करता है, वह महा पापी होता है।"

राजार वर्त्तन खाय, आर चुरि करे । राजदण्डी हय सेइ शास्त्रेर विचारे ।।८८।।
निज कौड़ी मागे राजा, नाहि करे दण्ड । राजा महा धार्मिक, एइ पापी प्रचण्ड ।।८९।।
रोजोचित कौढ़ि ना देय, आमाके फुकारे । एइ महादुःख, इहा कि सहिते पारे ।।९०।।
आलालनाथ याइ ताहां निश्चिन्त रहिव । विषयीर भाल-मन्द वार्त्ता ना शुनिव ।।९१।।

श्रीकाशी मिश्र ने आगे कहा—"प्रभु ने यह भी कहा है कि जो राजा से वेतन भी लेता है और फिर भी रिशवत या चोरी करता है, वह राजा द्वारा दण्ड पाने योग्य होता है—ऐसा शास्त्र का मत है। राजा गोपीनाथ से अपना धन मांगता है, गोपीनाथ नहीं देता है तो राजा उसे दण्ड देगा ही। राजा तो महा धार्मिक है, गोपीनाथ ही प्रचण्ड पापी है। वह राजा को उसका धन देता नहीं है और दण्ड पाने

पर मुझे पुकारता है—प्रभु ने कहा है कि इस महा दुःख को भला कौन सहन कर सकता है ? अर्थात् मुझ से यह दुःख सहन नहीं होता है, इसलिये मैं आलालनाथ जाकर निश्चिन्त होकर रहूंगा और ऐसे विषयी लोगों की अच्छी-बुरी बातें नहीं सुन पाऊँगा ॥८८-९१॥

एत शुनि कहे राजा पाञा मने व्यथा । सब द्रव्य छाड़ों, यदि प्रभु रहे एथा ॥९२॥
एक क्षण प्रभुर यदि पाइये दर्शन । कोटि चिन्तामणि लाभ नहे तांर सम ॥९३॥
कोन् छार पदार्थ एइ दुइ लक्ष काहण । प्राण राज्य करों प्रभुपदे निर्मञ्छन ॥९४॥
मिश्र कहे, कौड़ि छाड़ा नहे प्रभुर मन । तारा दुःख पाय, एइ ना याय सहन ॥९५॥
राजा कहे तारे आमि दुःख नाहि दिबे । चाङ्गे चढ़ा खड़गे डारा आमि ना जानिबे॥९६॥
पुरुषोत्तम जानारे तेंहो कैल परिहास । सेइ जाना तारे देखाइला मिथ्या त्रास ॥९७॥
तुमि याइ प्रभुरे राखह यत्न करि । एइ मुञि तांहारे छाड़िनु सब कौड़ि ॥९८॥

श्रीकाशी मिश्र जी से सब बात सुन कर राजा प्रतापरुद्र को मन में बहुत दुःख हुआ और वह कहने लगा—"मिश्र ! मैं गोपीनाथ को सब धन माफ कर दूंगा, श्रीमहाप्रभु जी यहाँ ही रहे आवें। कारण कि एक क्षण के लिये भी जब मैं श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन कर लेता हूँ, उस समय मुझे कोटि-कोटि चिन्तमणियों की प्राप्ति से भी अधिक लाभ होता है । यह दो लक्ष काहण तुच्छ पदार्थ किस गिनती में हैं ? मैं तो श्रीप्रभु चरणों पर अपने प्राण और समस्त राजपाट को न्यौछावर कर देने को तैयार हूँ । " तब मिश्र जी ने कहा—"राजन् ! महाप्रभु जी यह नहीं चाहते हैं कि तुम गोपीनाथ को धन माफ कर दो। वह दुःख पाता है—यही उन से सहन नहीं हो सकता । " राजा ने कहा—"मैं उसे कुछ भी दुःख नहीं दूंगा । सूली पर चढ़ा कर उसे खड़ग पर गिराने की बात भी मैं नहीं जानता था । मेरे लड़के पुरुषोत्तम से गोपीनाथ ने परिहास किया था, उसने ही उसे झूठा भय दिखाया है । आप जाकर यत्न पूर्वक श्रीमहाप्रभु जी को यहाँ रहने का अनुरोध कीजिये, मैं गोपीनाथ के सब धन को छोड़ दे रहा हूँ ॥९२-९८॥

मिश्र कहे—कौड़ी छाड़ा नहे प्रभुर मने ।
कौड़ि छाड़िले कदाचित् प्रभु दुख मने ॥९९॥
राजा कहे—तांर लागि कौड़ि छाड़ि, इहा ना कहिबा ।
सहजे मोर प्रिय तारा, इहा जानाइबा ॥१००॥

भवानन्दराय आमार पूज्य गर्वित । तांर पुत्र गणे आमार सहजेइ प्रीत ॥१०१॥
एत बलि मिश्रे नमस्करि राजा घरे गेला । गोपीनाथ-बड़ जानाय डाकिया आनिला॥१०२॥
राजा कहे सब कौड़ि तोमारे छाड़िल । से माल जाठ्यादण्ड पाट तोमारे त दिल ॥१०३॥
आर बार ऐछे ना खाइह राजधन । आजि हैते दिल तोमाय द्विगुण वर्त्तन ॥१०४॥

श्रीकाशी मिश्र ने कहा—"राजन् ! गोपीनाथ को धन माफ कर देना प्रभु की इच्छा नहीं है । उसे धन छोड़ देने में कदाचित् प्रभु दुःख माने बैठें । " राजा ने कहा—"मैंने प्रभु के पीछे गोपीनाथ का द्रव्य छोड़ दिया—यह बात आप प्रभु जी से मत कहिये । आप तो उन्हें यह जना देना कि गोपीनाथ से तो मुझे सहज ही में प्रीति है । कारण कि श्रीभवानन्द राय मेरे बड़े एवं पूज्य हैं, इसलिये उनके पुत्रों

में मेरी प्रीति का होना एक सहज बात है।" इतना कह कर राजा श्रीकाशी मिश्र को नमस्कार करके अपने घर चला गया। घर आकर राजा ने अपने बड़े लड़के को एवं गोपीनाथ को बुलवा भेजा। राजा ने कहा—"गोपीनाथ! मैंने तुम्हें अपना सब धन माफ कर दिया है और मालजाठ्यादण्डपाट गाँव का अधिकार फिर तुम्हें दे रहा हूँ। फिर तुम इस प्रकार राज-धन का गबन नहीं करना। आज से तुम्हारा वेतन भी दुगना कर देता हूँ।" ॥१०१-१०४॥

एत बलि नेतधड़ी तांरे पराइल। प्रभु आज्ञा लञा याह, विदाय तांरे दिल ॥१०५॥
परमार्थे प्रभुर कृपा, सेहो बहु दूरे। अनन्त ताहार फल, के बलिते पारे? ॥१०६॥
राज्य विषय फल एइ, कृपार आभासे। ताहार गणना कारो मने नाहि आइसे ॥१०७॥
काहां चाङ्गे चढ़ाइया लय धन प्राण। काहां सब छाड़ि सेइ राज्य दिल दान ॥१०८॥
काहां सर्वस्व बेचि लय, देया ना याय कौड़ि। काहां द्विगुण वर्त्तन, पराय नेतधड़ी ॥१०९॥

इतना कह कर राजा ने गोपीनाथ जी को नेतधड़ी (एक प्रकार की पगड़ी—शिरोपा) पहराई और कहा कि "श्रीमहाप्रभु जी की आज्ञा लेकर अपने कार्य को जाकर सम्भालो।" इतना कह कर राजा ने गोपीनाथ जी को विदा कर दिया। कविराज गोस्वामी कहते हैं—भजन सम्बन्ध से—परमार्थ विषय में श्रीमहाप्रभु जी की कृपा-प्राप्ति, बहुत दूर की वस्तु है। उसका अनन्त फल है, उसका कौन वर्णन कर सकता है? राज्य-पाट मिल जाना—इस बात की गणना उनकी कृपा के आभास मात्र फल में भी नहीं की जा सकती, गणना करना तो दूर, उसकी गणना का मन में सोचना भी नहीं बनता। कहां तो राजा गोपीनाथ जी को सूली पर चढ़ा कर उनके प्राण एवं धन को ले रहा था और कहाँ अब उन्हें अपना सब पिछला धन छोड़ कर फिर उसी राज्य का सर्व अधिकार प्रदान कर रहा है। कहाँ तो राजा गोपी-नाथ जी की सब सम्पत्ति आदि को बेच कर धन ले रहा था तब भी वह द्रव्य न चुक रहा था और कहाँ अब राजा ने उनकी दुगनी वेतन कर दी और उन्हें अपने हाथों से राज-पाग पहरा दी ॥१०५-१०९॥

प्रभुर इच्छा नाहि, तांरे कौड़ि छाड़ाइब। द्विगुण वर्त्तन करि पुन विषय तारे दिब॥११०॥
तथापि तांर सेवक आसि कैल निवेदन। ताते क्षुब्ध हैल यबे महाप्रभुर मन ॥१११॥
विषय सुख दिते प्रभुर नाहि मनोबल। निवेदनेर प्रभावे तभु फले एत फल ॥११२॥
के कहिते पारे गौरेर आश्चर्य स्वभाव। ब्रह्मा-शिव आदि यार ना पाय अन्तर्भाव ॥११३॥

श्रीमहाप्रभु जी की इच्छा यह नहीं थी कि राजा श्रीगोपीनाथ को अपना धन-पैसा माफ कर दे, उनका दुगना वेतन कर दे और उन्हें फिर राज-कार्य सौंप दे, किन्तु श्रीगोपीनाथ के सेवकों ने जो प्रभु को आकर गोपीनाथ की दुखावस्था का निवेदन किया और उस से श्रीमहाप्रभु जी का मन क्षुभित हुआ, विषय सुख देने की प्रभु-इच्छा के न होते हुए भी प्रभु चरणों में सेवकों के केवल निवेदन का यह फल हुआ कि -श्रीगोपीनाथ को वह सब कुछ पुनः प्राप्त हो गया। श्रीमहाप्रभु जी के इस प्रकार अद्भुत करुणामय स्वभाव का कौन वर्णन कर सकता है। श्रीब्रह्मा-शिवादि भी उनके हृदय के भावों को नहीं जान सकते हैं ॥११० ११३॥

हेथा काशी मिश्र आसि प्रभुर चरणे। राजार चरित्र सब कैल निवेदने ॥११४॥
प्रभु कहे, काशी मिश्र! कि तुमि करिला? राज प्रतिग्रह तुमि आमारे कराइला?॥११५॥

मिश्र कहे, शुन प्रभु ! राजार वचन । अकपटे राजा एइ कैल निवेदन ॥११६॥
प्रभु मति जाने राजा आमार लागिया । दुइलक्ष काहण कौड़ि दिलेन छाड़िया ॥११७॥
भवानन्देर पुत्र सब मोर प्रियतम । इहा सभाकारे मुञि देखों आत्मसम ॥११८॥
अतएव याहां-याहां देङ अधिकार । खाय पिये लुटे विलाय, ना करों विचार ॥११९॥

इधर श्रीकाशी मिश्र ने आकर श्रीमहाप्रभु जी के चरणों में राजा का वृत्तान्त सब निवेदन किया । श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"श्रीकाशी मिश्र ! यह आप ने क्या किया ? मुझे आप ने राजा से दान दिलवा दिया ?" मिश्र ने कहा—"प्रभु ! सुनिये, राजा ने मुझ से कपट रहित इस प्रकार वचन कहे हैं—श्रीमहाप्रभु जो यह न जान लें कि मैंने उनके पीछे श्रीगोपीनाथ को दो लाख काहण माफ कर दिये हैं। श्रीभवानन्द के सब पुत्र मुझे बहुत प्रिय हैं, उन सब को मैं अपने समान जानता हूं । इसलिये उन्हें जिस-जिस देश के कर लेने का अधिकार मैंने दे रखा है, वे उस धन में से जो खा-पी जाएँ, लूट लें अथवा नाश करें, मैं इस बात का विचार नहीं किया करता हूँ" ॥११४-११९॥

राज महिन्दार राजा कैलु रामानन्द राय । ये खाइल, येवा दिल, नाहि लेखादाय ॥१२०॥
गोपीनाथ एइमत विषय करिया । दुइ चारि लक्ष काहण रहे त खाइया ॥१२१॥
किछु देय,किछु ना देय,ना करि विचार । जाना सहित अप्रीते दुख पाइल एइबार॥१२२॥
जाना एत कैल, इहा मुञि नाहि जानो । भवानन्देर पुत्र सब आत्म करि मानो ॥१२३॥
तांर लागि द्रव्य छाड़ों, इहा मति जाने । सहजेइ मोर प्रीत हय तांर सने ॥१२४॥

श्रीकाशी मिश्र ने आगे कहा—"प्रभु ! राजा ने यह भी बताया है कि मैंने राज महेन्द्री—गांव का राजा श्रीरामानन्द राय को कर रखा था, उसने उस राजधन में से क्या खाया-पिया, क्या मुझे दिया, यह मैंने कभी उस से हिसाव नहीं किया है । श्रीगोपीनाथ ने भी इसी प्रकार राजाधिकार में दो चार लाख काहण खा लिया होगा, कुछ दिया है, कुछ नहीं दिया है, इन सब बातों का विचार मैं नहीं करता हूँ । यह तो इस बार उसने मेरे लड़के के साथ क्रोध करने के कारण दुख पाया है और मेरे लड़के ने उसे चङ्ग पर चढ़ाया है—इतना दुखी किया है, यह सब मैं नहीं जानता था, वरना उसे यह दुख कभी नहीं दिया जाता । मैं तो श्रीभवानन्द के पुत्रों को अपने समान मानता हूँ । मैंने श्रीमहाप्रभु जी के लिये उसे धन पैसा छोड़ दिया हो—ऐसा प्रभु न समझ लें, मेरी तो उस पर सहज प्रीति है" ॥१२०-१२४॥

शुनिया राजार विनय प्रभुर आनन्द । हेन काले आइल ताहां राय भवानन्द ॥१२५॥
पञ्च पुत्र सह आसि पड़िला चरणे । उठाइया प्रभु तांरे कैल आलिङ्गने ॥१२६॥
रामानन्द राय-आसि सभाइ मिलिला । भवानन्द राय तबे बलिते लागिला—॥१२७॥
तोमार किङ्कर एइ सब मोर कुल । ए विपत्त्ये राखि प्रभु! पुन निले मूल ॥१२८॥
भक्तवात्सल्य एवे प्रकट करिला । पूर्वे येन पञ्चपाण्डव विपदे तारिला ॥१२९॥

श्रीकाशी मिश्र जी के द्वारा राजा की विनय सुन कर श्रीमहाप्रभु जी को आनन्द हुआ । इसी समय श्रीभवानन्द राय वहां आ पहुँचे । वे अपने पाँचों पुत्रों के सहित आकर श्रीमहाप्रभ जी के

चरणों में गिर पड़े। श्रीमहाप्रभु जी ने उन्हें उठा कर आलिङ्गन किया, फिर राय रामानन्द आदि उनके सब पुत्रों से प्रभु मिले। श्रीभवानन्द राय तब कहने लगे—"प्रभु! यह सब मेरा परिवार आपके चरणों का दास है। हे प्रभु! आपने हमारी इस विपत्ति में रक्षा की है, आपने हमें एक बार फिर मोल ले लिया है अर्थात् हम पहले से ही आपके दास थे, अब आपने ही हमें अङ्गीकार कर लिया है। आपने अपनी भक्तवत्सलता को प्रकाशित किया है, पहले जैसे आपने पञ्च पाण्डवों की विपत्ति में रक्षा की थी उसी प्रकार आपने हमारी अब रक्षा की है ॥१२५-१२९॥

नेतधड़ी माथाय गोपीनाथ चरणे पड़िला। राजार वृत्तान्त कृपा सकलि कहिला ॥१३०॥
बाकी कौड़ि बाद द्विगुण वर्त्तन करिल। पुन विषय दिया नेतधड़ी पराइल ॥१३१॥
काहां चाङ्गेर उपर सेइ मरण—प्रमाद। काहां नेतधड़ी एइ, ए सब प्रसाद ॥१३२॥
चाङ्गेर उपर तोमार चरण ध्यान कैल। चरण स्मरण—प्रभावे एइ फल पाइल ॥१३३॥
लोके चमत्कार मोर ए सब देखिया। प्रशंसे तोमार कृपा—महिमा गाइया ॥१३४॥

फिर श्रीगोपीनाथ भी सिर पर उसी राज पगड़ी को धारण किये हुए प्रभु के चरणों पर आकर गिरे और राजा का वृत्तान्त एवं फिर उसकी प्रसन्नता को सब बात कह सुनाई कि पिछला सब धन राजा ने माफ कर दिया है, दुगना मेरा वेतन कर दिया है एवं पुनः राजाधिकार देकर मुझे अपने हाथों से यह राज पगड़ी पहराई है। प्रभु! कहाँ तो राजा मुझे प्राण दण्ड देने के प्रमाद में था कहाँ अब यह राज पगड़ी मुझे दे कर इतनी मुझ पर कृपा कर दी है। प्रभु! सूली पर मैंने आपके चरणों का ध्यान किया था, उस आपके चरण-स्मरण का यह सब फल मुझे प्राप्त हुआ है। मेरी इस घटना को देख कर सब लोग चमत्कृत हो उठे हैं और प्रभु! आपकी कृपा के गुण गान कर रहे हैं" ॥१३०-१३४॥

किन्तु तोमारस्मरणेर एइ नहे मुख्य फल। फलाभास एइ याते विषय चञ्चल ॥१३५॥
रामराये वाणीनाथे कैले निर्विषय। सेइ कृपा मोते नाहि, याते ऐछे हय ॥१३६॥
शुद्ध कृपा कर गोसाञि! घुचाह विषय। निर्विण्ण हइलुं, मोरे विषय ना हय ॥१३७॥
प्रभु कहे, संन्यासी यबे हवे पञ्चजन। कुटुम्ब बाहुल्य तोमार, के करे भरण ?॥१३८॥
महा विषय कर, किबा विरक्त उदास। जन्मे-जन्मे तुमि पञ्च मोर निज दास ॥१३९॥

श्रीगोपीनाथ जी ने आगे कहा—"प्रभु! किन्तु आपकी कृपा का यह मुख्य फल नहीं है, वे विषय सुख चञ्चलता विधान करने वाला है और आपकी कृपा के फल का आभास मात्र है। आपने जैसी कृपा राय रामानन्द पर की है, वाणीनाथ पर की है कि वे विषयों से परे हो गये हैं, वैसी कृपा आपने मुझ पर नहीं की है, तभी तो मुझे यह विषय प्राप्त हुए हैं। "हे गोस्वामि! आप मुझ पर अपनी शुद्ध कृपा कीजिये (कि जिस से आप के चरणों की प्रीति प्राप्त हुआ करती है) मेरे इन विषयों को छुड़ाइये। प्रभु! मैं तो विरक्त होना चाहता हूँ, मुझे विषय नहीं चाहियें।" प्रभु ने कहा—"तुम पाञ्चों भाई यदि विरक्त संन्यासी ही बनना चाहते हो, तब यह जो तुम्हारा कितना बड़ा कुटुम्ब है, इसका पालन कौन करेगा ? तुम लोग चाहे महा सुख सम्पत्ति का भोग करो, चाहे विरक्त--उदासीन होकर रहो, तुम पाचों जन्म-जन्म के मेरे निजी दास हो ॥१३५-१३९॥

किन्तु एक करिह मोर आज्ञा पालन । व्यय ना करिह किछु राजार मूलधन ॥१४०॥
राजार मूलधन दिया, ये किछु लभ्य हय । सेइ धन करिह नाना धर्म कर्मे व्यय ॥१४१॥
असद्व्यय ना करिह,याते दुइ लोक याय । एतबलि सभारे प्रभु दिलेन विदाय॥१४२॥
रायेर घरे प्रभुर कृपाविवर्त्त कहिल । भक्तवात्सल्यगुण याते व्यक्त हैल ॥१४३॥
सभाय आलिङ्गिया प्रभु विदाय यबे दिला । हरिध्वनि करि सब भक्त उठि गेला ॥१४४॥
प्रभुर कृपा देखि सभार हैल चमत्कार । ताहारा बुझिते नारे प्रभुर व्यवहार ॥१४५॥
तारा सब यदि कृपा करिते साधिल । "आमा हैते किछु नहे,"तबे प्रभु कैल ॥१४६॥
गोपीनाथेर निन्दा आर आपन निर्वेद । एइ मात्र कैल, इहार ना बुझिबे भेद ॥१४७॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"गोपीनाथ ! किन्तु एक मेरी आज्ञा का सदा पालन करना । वह यह है कि राजा के मूल-धन को कभी खर्च नहीं करना । राजा का मूल-धन चुका कर, जो धन बाकी बचे उस धन को अनेक धर्म–कर्मों में ही लगाना । ऐसे असद्कर्म नहीं करने चाहियें कि जिन से इह लोक और परलोक दोनों बिगड़ते हैं ।" इतना कह कर प्रभु ने सब को विदा किया । राय भवानन्द के परिवार पर श्रीमहाप्रभु की कृपा–वैचित्री का वर्णन हुआ है, जिस से प्रभु के भक्तवात्सल्य गुण का प्रकाश होता है । सब को आलिङ्गन करके प्रभु ने जब सब को विदा किया, सब भक्त हरिध्वनि करते हुए खड़े हुए । प्रभु की इस प्रकार की कृपा–वैचित्री को देख कर सब विस्मित हो उठे, कोई भी प्रभु की इस लीला को समझ न सका, क्योंकि जब इन सबों ने आकर प्रभु को श्रीगोपीनाथ की रक्षा के लिये प्रार्थना की थी, तब तो प्रभु ने यह कह दिया था कि 'मुझ से कुछ नहीं हो सकेगा' । प्रभु ने श्रीगोपीनाथ के काम एवं आचरण की निन्दा कर दी थी और अपने को विरक्त संन्यासी कह कर अपनी उदासीनता जताई थी, किन्तु अब इस प्रकार उन पर कृपा कर दी—यही कृपा—विवर्त्त है और आश्चर्य का विषय है । इस भेद को कोई भी समझ न सका ॥१४०-१४७॥

काशी मिश्र ना साधिल,राजारे ना साधिल । उद्योग बिना महाप्रभु एत फल दिल॥१४८॥
चैतन्य चरित्र एइ परम गम्भीर । से-बुझे, तांर पदे यार मन धीर ॥१४९॥
येइ इहा शुने प्रभुर भक्तवत्सल्य प्रकाश । प्रेम भक्ति पाय, तार विपद याय नाश ॥१५०॥
श्रीरूप–रघुनाथ–पदे यार आश । चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥१५१॥

श्रीकविराज कहते हैं—श्रीगोपीनाथ की बिगड़ी को न तो श्रीकाशी मिश्र ने संवारा था और न ही राजा का इस में कुछ हाथ है, यह सब कुछ बिना किसी यत्न के श्रीमहाप्रभु जी की कृपा का फल ही उन्हें प्राप्त हुआ है । श्रीचैतन्य की लीलाएँ परम गम्भीर हैं, उनको केवल वही जान सकता है, जिसका मन श्रीमहाप्रभु जी के चरणों में स्थिर हो चुका है । श्रीमहाप्रभु जी के भक्त-वात्सल्य की इस लीला को जो सुनेगा, उसे प्रभु की प्रेम–भक्ति प्राप्त होगी और उसकी सब विपत्ति नष्ट हो जाएगी । श्रीरूप गोस्वामी एवं श्री रघुनाथदास गोस्वामी जी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृत का गान करते हैं ॥१४८-१५१॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां
गोपीनाथ–पट्टनायकोद्धारो नाम नवम परिच्छेदः ॥९॥

जयगौर

अन्त्य-लीला

दशम परिच्छेद

वन्दे श्रीकृष्णचैतन्यं भक्तानुग्रहकातरम् ।
येन केनापि सन्तुष्टं भक्तदत्तेन श्रद्धया ॥१॥

भक्त-वृन्दों पर अनुग्रह करने के लिये जो सर्वदा व्याकुल रहते हैं, श्रद्धा पूर्वक दी हुई जिस किसी वस्तु द्वारा जो परम सन्तुष्ट हो जाते हैं, उन्हीं भक्तवत्सल श्रीकृष्णचैतन्य देव की मैं वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

[श्रीकृष्णचैतन्य देव अत्यन्त भक्तवत्सल हैं, वे अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये सदा व्याकुल ही रहते हैं। इसलिये उन्हें भक्त-गण श्रद्धा सहित जो भी वस्तु प्रदान करें, प्रभु उसे ग्रहण कर परम सन्तुष्ट होते हैं। वस्तु से वे सन्तुष्ट नहीं होते, प्रेम व श्रद्धा ही एक मात्र उनकी तृप्ति का कारण है। वह प्रीति व श्रद्धा जिस किस वस्तु के व्यपदेश से प्रकाशित हो, प्रभु उस से सन्तुष्ट होते हैं, वस्तु-द्रव्यादि तो उपलक्ष्य मात्र हैं। बहु मूल्य वस्तुएँ देने पर भी वे तृप्ति लाभ नहीं करते, कारण कि उन्हें किसी वस्तु का अभाव नहीं है, वे अनन्त ऐश्वर्य के अधीश्वर हैं। अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये, उन के प्रेम रस निर्यास का आस्वादन करने के लिये वे ऐसा करते हैं। यह उनकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति है। उन्होंने भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त भक्तों की वस्तुओं को ग्रहण किया है, यही बात इस परिच्छेद में कही जाएगी—इस बात का इङ्गित इस श्लोक में दिया गया है।

इस दशम परिच्छेद में श्रीराघव की झालि का वर्णन, नरेन्द्रसरोवर पर भक्त-वृन्दों के साथ प्रभु की जल-केलि, बेढ़ा-सङ्कीर्त्तन, प्रभुर के सेवक श्रीगोविन्द की सेवा बासना की अपूर्व विशेषता, प्रभु द्वारा भक्तप्रदत्त वस्तुओं का भोजन करना, भक्तों का प्रभु को निमन्त्रण—आदि आदि ये सब प्रसङ्ग वर्णन किये गये हैं।]

जय जय गौर चन्द्र जय नित्यानन्द। जयाद्वैतचन्द्र जय गौर भक्तवृन्द ॥१॥
वर्षान्तरे सब भक्त प्रभुरे देखिते। परम आनन्द सब नीलाचले याइते ॥२॥

अद्वैत-आचार्य गोसाञि सर्व-अग्रगण्य। आचार्यरत्न,आचार्यनिधि,श्रीवासादि धन्य।।३।।
यद्यपि प्रभुर आज्ञा गौड़े रहिते। तथापि नित्यानन्द-प्रेमे चलिला देखिते।।४।।
अनुरागेर लक्षण एइ, विधि नाहि माने। तांर आज्ञा भाङ्गे तांर सङ्गेर कारणे।।५।।
रासे यैछे घर याइते गोपीके आज्ञा दिला। तांर आज्ञा भाङ्गि तांर सङ्गे से रहिला।।६।।
आज्ञा पालने कृष्णेर यतेक परितोष। प्रेमे आज्ञा भाङ्गिले हय कोटिगुण सुखपोष।।७।।

श्री श्रीगौरचन्द्र देव की जय हो, जय हो, श्रीनित्यानन्द प्रभु पाद की जय हो, श्रीअद्वैतचन्द्र प्रभु की जय हो तथा श्रीगौर भक्त वृन्द की जय हो। वर्ष पीछे गौड़ीय भक्तों के मन में श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन की उत्कण्ठा बलवती हो उठी और आनन्द पूर्वक नीलाचल चलने की तैयारी करने लगे। उन में श्रीअद्वैताचार्यप्रभु सब में अग्रगण्य थे, भाग्यवान् श्रीआचार्यरत्न, श्रीआचार्य निधि एवं श्रीवासादि सब भक्त भी साथ थे। यद्यपि श्रीनित्यानन्द प्रभु जी के लिये गौड़देश में रहने की आज्ञा थी, तथापि प्रभु दर्शन करने के लिये वे भी साथ चल दिये। अनुराग का यह लक्षण या स्वरूप धर्म है कि वह अपने लिये हिताहित के विधान को नहीं मानता है। अपने प्रियतम के मिलने के लिये अनुरागी व्यक्ति अपने प्रियतम की आज्ञा का उल्लङ्घन कर देता है। जैसे रास के समय (वंशी ध्वनि सुन कर यमुना तट पर आई हुई) गोपियों को श्रीभगवान् ने घर लौट जाने की आज्ञा दी थी, किन्तु उन्होंने श्रीभगवान् की आज्ञा को नहीं माना एवं उनके पास ही रही आईं। आज्ञा के पालन करने में श्रीभगवान् को जितना सुख मिलता है, उस से कोटिगुणाधिक सुख उन्हें उनके अनुराग में उनकी आज्ञा के उल्लङ्घन करने में मिलता है।।१-७।।

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमहाप्रभु जी ने प्रथम वर्ष ही श्रीनित्यानन्दप्रभु जी को आज्ञा दी थी कि "आप गौड़ देश में ही रह कर भक्ति प्रचार करते रहना, प्रति वर्ष मेरे मिलने के लिये नीलाचल नहीं आना"—किन्तु श्रीनित्यानन्दप्रभु का जो अनुराग प्रभु के प्रति था, वे उस अनुराग के स्वभाववश प्रभु के दर्शन विना रह ही नहीं सकते थे। वे प्रभु के दर्शनों के लिये इतने व्याकुल हो उठते कि प्रभु की उस आज्ञा का उल्लङ्घन करके भी वे नीलाचल चले जाते। केवल उनका अनुराग ही उनको आज्ञा-भङ्ग का हेतु था।

प्रणय की उत्कर्षता से जहाँ अत्यन्त दुख को भी प्रेमी अत्यन्त सुखकर मानता है, उस प्रणयोत्कर्ष को 'राग' कहते हैं। यह राग वृद्धि को प्राप्त कर जब एक ऐसी अवस्था उत्पन्न कर देता है कि जहाँ अपने प्रियतम का सदा अनुभव कर लेने पर भी ऐसा जान पड़ता है कि उसका पहले कभी अनुभव हुआ ही न हो। उस अवस्था में प्रेमी को अपना प्रियतम प्रति क्षण नवीन नवीन लगता है राग की इस उत्कृष्ट अवस्था को **'अनुराग'** कहा जाता है।

अनुराग के लक्षण अथवा धर्म के कारण श्रीनित्यानन्दप्रभु, चाहे अनेक समय तक श्रीमहाप्रभु के सङ्ग रह चुके थे। फिर भी प्रभु-सङ्ग के लिये, उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन कर नीलाचल चले जाते थे। कारण कि अनुरागी व्यक्ति अपने प्रियतम के दर्शन करने की उत्कण्ठा में अपने हित-अहित की बात को कभी सोचता ही नहीं है, किसी विधि-विधान को मानता ही नहीं है। इस बात का दृष्टान्त रास लीला में मिलता है। श्रीब्रजसुन्दरियों ने अनुराग वश श्रीभगवान की घर लौट जाने की आज्ञा को तनिक भी नहीं माना, लोक धर्म, वेद धर्म, आदि के कुछ भी विधि-विधान का उन्होंने आदर नहीं किया।

अनुराग की अधिकता के कारण श्रीभगवान् की आज्ञा का लल्ङ्घन करने से ही श्रीभगवान् सुखी होते हैं—यह बात उपर्युक्त पयारों में कही गई है। श्रीभगवान् की आज्ञा पालन करने से श्रीभगवान् सुखी होते हैं एवं उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन करने से वे रुष्ट होते हैं—यह परम सत्य है, किन्तु श्रीभगवान् की प्रीति की अधिकता के कारण यदि उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन हो जाता है, तो उससे वे रुष्ट नहीं होते। कारण कि श्रीभगवान् तो केवल प्रीति के भूखे हैं, प्रीति मूलक व्यवहार से वे सुखी होते हैं, प्रेम के ही वे वशीभूत हैं। इसलिये प्रेमवशत: यदि उनको आज्ञा का उल्लङ्घन होता है, तो वे सुख ही लाभ करते हैं। किन्तु साधकों को यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि इस प्रकार का भगवत् आज्ञा का उल्लङ्घन करना केवल अनुराग-प्राप्त अवस्था में कहा गया है। ऐसा आचरण साधक-जीव के पक्ष में हितकर नहीं है और सम्भव भी नहीं है, कारण कि साधन की परम परिपक्वावस्था में साधक प्रेम तक ही पहुँच सकता है, उस के लिये अनुराग की प्राप्ति सम्भव नहीं है। भगवत् प्रीति की प्रथम स्तर ही प्रेम है, उसके बाद स्नेह, फिर प्रणय, फिर राग और राग के बाद ही अनुराग का प्राप्ति होती है। सिद्ध देह की प्राप्ति से पहले स्नेहादि यह सब स्तर किसी साधक को प्राप्त नहीं हो सकते।

यहाँ जो श्रीनित्यानन्दप्रभु एवं श्रीव्रजगोपियों के लिये श्रीकृष्ण आज्ञा का उल्लङ्घन वर्णन किया गया है—वे हैं सब नित्य-सिद्ध भगवत् पार्षद। वे साधक-जीव कोटि में नहीं हैं। साधक-जीव यदि भक्ति शास्त्र विधि का उल्लङ्घन करता है तो वह व्यभिचार गिना जाएगा, उस अवस्था में कभी भी श्रीकृष्ण-भक्ति या प्रीति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

वासुदेवदत्त मुरारिगुप्त गङ्गादास। श्रीमान् सेन श्रीमान्-पण्डित अकिञ्चन कृष्णदास ॥८॥
मुरारि पण्डित गरुड़ पण्डित बुद्धिमन्तखान्। सञ्जय पुरुषोत्तम पण्डित भगवान् ॥९॥
शुक्लाम्बर नृसिंहानन्द आर यत जन। सभाइ चलिला नाम ना याय गणन ॥१०॥
कुलीनग्रामी खण्डवासी मिलिला आसिया। शिवानन्द सेन चलिला सभारे लइया ॥११॥
राघव पण्डित चलिला झालि साजाइया। दमयन्ती यत द्रव्य दियाछे करिया ॥१२॥

श्रीवासुदेवदत्त, श्रीमुरारिगुप्त, श्रीगङ्गादास, श्रीशिवानन्दसेन, श्रीमान पण्डित, अकिञ्चन-श्रीकृष्णदास, श्रीमुरारिपण्डित, श्रीगरुड़ पण्डित, श्रीबुद्धिमन्त खान, श्रीसञ्जय, श्रीपुरुषोत्तम, श्रीभगवान् पण्डित, श्रीशुक्लाम्बर, श्रीनृसिंहानन्द आदि-आदि और भी जितने गौड़ीय भक्त थे, जिन के नामों का वर्णन नहीं किया जा सकता, वे सब प्रभु दर्शन के लिये नीलाचल के लिये तैयार हो गये। कुलीन ग्राम वासी एवं श्रीखण्डवासी भी इनके साथ आ मिले। इन सब को श्रीशिवानन्द सेन अपने साथ लेकर नीलाचल को चल दिये। श्रीराघव पण्डित भी श्रीमहाप्रभुजी के लिये उन सब द्रव्यों को एक पेटिका में सजा कर साथ ले चले, जो दमयन्ती (श्रीराघव पण्डित की बहन) ने उन्हें दिये थे ॥८-१२॥

चै० च० चु० *टीका*:—श्रीराघव पण्डित पानिहाटी गाँव के रहने वाले थे, इनकी एक बहन थी, जिसका नाम दमयन्ती था। दमयन्ती प्रति वर्ष श्रीमहाप्रभु जी के लिये अनेक खाद्य पदार्थ तैयार कर देती थी, उन्हें एक पेटिका में सजा कर श्रीराघव पण्डित प्रति वर्ष प्रभु के लिये नीलाचल ले जाते थे। वह पेटिका—"राघव की झालि" के नाम से प्रसिद्ध थी।

ब्रजलीला में श्रीराघव पण्डित 'धनिष्ठा' सखी थे, जो श्रीकृष्ण को अपरिमित खाद्य पदार्थ प्रदान किया करती थीं एवं दमयन्ती ब्रजलीला में गुणमाला थीं। ये दोनों नित्य सिद्ध भागवत्-पार्षद हैं।

नाना अपूर्व भक्ष्यद्रव्य प्रभुर योग्य भोग। वत्सरेक महाप्रभु करिवेन उपयोग ॥१३॥
आम्रकासुन्दी आदाकासुन्दी झालकासुन्दी नाम। नेम्बु आदा आम्र-कालि विविध विधान॥१४॥
आमसी आम्रखण्ड तैलाम्र आमता। यत्न करि गुण्डि करि पुराण सुकुता ॥१५॥
सुकुता बलिया अवज्ञा ना करिह चिते। सुकुताय ये सुख प्रभुर,ताहा नहे पञ्चामृते॥१६॥

[उस झालि में क्या-क्या पदार्थ श्रीराघव पण्डित ले जाते थे, उनका वर्णन करते हैं—] अनेकविध खाद्यपदार्थ श्रीमहाप्रभु जी के खाने योग्य उस झालि में होते थे, जिनको प्रभु वर्ष पर्यन्त उपयोग करते रहते थे। वे थे—आम्रकासुन्दी (सरिषा चूर्ण से कासुन्दी तैयार की जाती है, उसमें आम डाल कर आम्रकासुन्दी बनती है जिसे छिले हुए आम का अचार कहते हैं।) आदाकासुन्दी (अद्रक कासुन्दी में पड़ी हुई) झाल कासुन्दी (मिरच कासुन्दी में पड़ी हुई) अनेक प्रकार के नीबू, अद्रक, आम तथा बेर, आमसो (आम का पापड़) आम्रखण्ड (आम का मीठा अचार) तैलाम्र (तैल में बना हुआ आम का अचार) आमता (आम्र का एक प्रकार का अचार) और बड़े यत्न से पुरानु सुकुता (पटसन-सन) के पत्तों का चूर्ण—ये सब पदार्थ झालि में होते थे। सुकुता चूर्ण जान कर मन में कोई अवज्ञा का भाव नहीं लाना चाहिये। क्योंकि उसमें जो सुख प्रभु को होता था, वैसा सुख प्रभु को पञ्चामृत में भी नहीं मिलता था ॥१३-१६॥

भावग्राही महाप्रभु स्नेहमात्र लय। सुकुतापाता कासुन्दीते महासुख पाय ॥१७॥
मनुष्य बुद्धि दमयन्ती करे प्रभुर पाय। 'गुरुभोजने उदरे कभु आम हञा याय ॥१८॥
सुकुता खाइले सेइ आम हइवेक नाश'। एइ स्नेह मने भावि प्रभुर उल्लास ॥१९॥

श्रीमन्महाप्रभु जी भावग्राही हैं, वे केवल प्रेम को ही ग्रहण करते हैं। सुकुता के पत्तों एवं कासुन्दी में ही वे महासुख अनुभव करते हैं। दमयन्ती (शुद्ध प्रेमाभक्ति के कारण) श्रीमहाप्रभु जी में मनुष्य-बुद्धि रखती थी और सोचती थी--गरिष्ठ (भारी) भोजन करने से प्रभु के उदर में यदि आंव पैदा होगा, तो सुकुताचूर्ण खाने से उदर का आंव नष्ट हो जाएगा—दमयन्ती के बस इसी शुद्ध प्रेम के कारण श्रीमहाप्रभु बहुत आनन्दित होते थे ॥१७-१९॥

तथाहि भारवौ (८-२०)—

प्रियेण संग्रथ्य विपक्ष सन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तनी।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥२॥

प्रियतम अपने हाथों से माला गूँथ कर जब सपत्नी (दो पत्नियों में से एक पत्नी) के पीनस्तनयुक्त वक्षस्थल में स्वयं पहराता है। तब यदि उसके जल विहार करने से वह माला मर्दित हो जाए, तो भी वह कामिनी उस विमर्दिता माला का त्याग नहीं करती है, क्योंकि गुण प्रेम में रहता है, वस्तु में नहीं, (अर्थात् जिस प्रेम के साथ प्रियतम व्यक्ति ने वह माला दी थी, उस प्रेम को ही स्मरण कर विमर्दिता माला का भी वह त्याग नहीं करती है) ॥२॥

[इसी प्रकार प्रेम ग्राही श्रीमहाप्रभुजी भी भक्तों के प्रेम को देख कर उनकी हर प्रकार की वस्तु को प्रेम पूर्वक ग्रहण करते हैं। दमयन्ती क्या-क्या पदार्थ प्रभुजी के पास भेजती थी, उनका वर्णन निम्नलिखित पयारों में करते हैं—]

धनिया–महुरी–तण्डुल चूर्ण करिया। लाड़ु बान्धियाछे चिनि पाक करिया ॥२०॥
शुण्ठि खण्डनाड़ु आर आम पित्तहर। पृथक् पृथक् बान्धि वस्त्रेर कोथलीभितर ॥२१॥
कोलि शुण्ठी कोलिचूर्ण कोलिखण्ड आर। कत नाम लैव, शत प्रकार आचार ॥२२॥
नारिकेल खण्डनाड़ु आर नाड़ु गङ्गाजल। चिरस्थायी खण्ड विकार करिल सकल ॥२३॥
चिरस्थायी क्षीर सार मण्डादि विकार। अमृतकर्पूर–आदि अनेक प्रकार ॥२४॥
शालिकांचुटि-धान्येर आतव–चिड़ा करि। नूतन वस्त्रेर बड़ थली सब भरि ॥२५॥
कथोक चिड़ा हुड़ुम करि घृतेते भाजिया। चिनिपाके नाड़ु कैल कर्पूरादि दिया ॥२६॥
शालितण्डुल भाजा चूर्ण करिया। घृतसिक्त चूर्ण कैल चिनि पाक दिया ॥२७॥
कर्पूर मरिच एलाचि लवङ्ग रसवास। चूर्ण दिया नाड़ु कैल परम सुवास ॥२८॥
शालिधान्येर खै पुन घृतेते भाजिया। चिनिपाके उखड़ा कैल कर्पूरादि दिया ॥२९॥
फुटकलाइ चूर्ण करि घृते भाजाइल। चिनि पाके कर्पूरादि दिया नाड़ु कैल ॥३०॥
कहिते ना जानि नाम ए जन्मे याहार। ऐछे नाना भक्ष्य द्रव्य सहस्र प्रकार ॥३१॥

धनिया, सौंफ एवं चावलों के चूर्ण के चीनी में बने हुए लड्डू, आम-पित्त के नाशक सोंठ व गुड़ के बने लड्डू, इन दोनों को पृथक्-पृथक् एक वस्त्र की गुथली में बान्ध दिया था, सूखे वेर, वेरों का चूर्ण, गुड़ के बने वेर, सैंकड़ों प्रकार के अचार जिनके नामों की संख्या नहीं की जा सकती, गोला एवं गुड़ के लड्डू, गङ्गाजल से बनाये हुए चिरस्थायी गुड़ के लड्डू, खोया एवं चावलों के माण्ड से वनी हुई टिकाऊ मिठाई, अमृत केलि आदि अनेक व्यञ्जन, कच्चे धान को भिजोकर बनाया हुआ चिड़वा, ये सब पदार्थं नये वस्त्रों की बड़ी बड़ी गुथलियों में भर दिये थे, कथक (कथ का फूल) चिड़वा भिजो कर घी में भूना हुआ, कर्पूरादि मिलाकर चीनी के लड्डू, शाली धान के चावल भून कर उनका चूर्ण करके घी से सिक्त करके चीनी के पाक में जमाई हुई वर्फी सी, कर्पूर-मरिच-इलायची-लौंग एवं कबाब चीनी का चूर्ण करके उससे बने हुऐ अति सुवासित लड्डू, शालीधान्य के आटे की घी में भून कर कर्पूरादि मिला कर चीनी के पाक में बनी हुई मुड़कि (खोल की गजक), मटरों को पीस कर घी में भून कर कर्पूरादि मिला कर चीनीं के पाक में बने हुए लड्डू, सहस्र-सहस्र प्रकार के खाद्य व पेय पदार्थ जिनके नाम, श्रीकविराज कहते हैं, मैं इस जन्म में न जान सकता हूँ और न गिना सकता हूँ, उस झालि में थे ॥२०–३१॥

राघवेर आज्ञा, आर करे दमयन्ती। दोंहार प्रभुते स्नेह परम–शकति ॥३२॥
गङ्गा मृत्तिका आनि वस्त्रेते छानिया। पांपड़ि करिया लैल गन्ध द्रव्य दिया ॥३३॥
पातल–सूतपात्रे सन्धानादि निल भरि। आर सब वस्तु भरे वस्त्रेर कोथलि ॥३४॥
सामान्य झालि हैते द्विगुण झालि कराइल। परिपाटी करि सब झालि भराइल ॥३५॥
झालि बान्धि मोहर दिल आग्रह करिया। तिन बोझारि झालि वहे क्रमश करिया ॥३६॥

संक्षेपे कहिल एइ झालिर विचार। 'राघवेर झालि' बलि विख्याति याहार॥३७॥
झालिर उपर मौसिन मकरध्वजकर। प्राणरूपे झालि राखे हइया तत्पर॥३८॥

श्रीराघवपण्डित जी तो आज्ञा देते थे और दमयन्ती इन पदार्थों को तैयार कर देती थी, दोनों में प्रभु के प्रति परम स्नेह था और उनमें परम शक्ति थी। गङ्गा जी की रज कपड़े में छान कर उसमें सुगन्धित द्रव्य मिला कर उसकी पर्पटी बना ली थी (श्रीमहाप्रभु जी उसके साथ मंजन किया करते थे) मिट्टी के प्यालों में तो अनेक प्रकार के अचार व चटनी भर ली थी और सब पदार्थ कपड़े की गुथलियों में भरे हुए थे। इस बार साधारण झालि से दुगनी झालि श्रीराघवपण्डित जी ने तैयार कराई थी एवं अच्छी प्रकार उसे भरा लिया, फिर उन्होंने उस झालि (पेटिका) को ताला लगा कर उस पर मोहर (सील) लगा दी। वारी धारी से तीन बोझा उठाने वाले व्यक्ति उस पेटिका को उठाते हुए चल रहे थे। श्रीकृष्णदास जी कहते हैं—मैंने यहाँ संक्षेप से झालि का वर्णन किया है जो 'राघव की झालि' इस नाम से विख्यात है। मुनसब (चौकीदार) श्रीमकरध्वजकर प्राणों के समान उस झालि की देख-भाल करते हुए चल रहे थे॥३२-३८॥

एइ मते वैष्णव सब नीलाचले आइला। दैवे जगन्नाथेर से दिन जल लीला॥३९॥
नरेन्द्रेर जले गोविन्द नौकाते चढ़िया। जल क्रीड़ा करे सब भक्त भृत्य लञा॥४०॥
सेइ काले महाप्रभु भक्तगण सङ्गे। नरेन्द्रे आइला देखिते जलकेलि रङ्गे॥४१॥
सेइ काले आइला सब गौड़ेर भक्तगण। नरेन्द्रेते प्रभु सङ्गे हइल मिलन॥४२॥
भक्तगण पड़े सभे प्रभुर चरणे। उठाइया प्रभु सभारे कैल आलिङ्गने॥४३॥
गौड़िया सम्प्रदाय सब करये कीर्त्तन। प्रभुर मिलने उठे प्रेमेर क्रन्दन॥४४॥

इस प्रकार सब गौड़ीय वैष्णव नीलाचल में आ पहुँचे। उस दिन श्रीजगन्नाथ जी का जल क्रीड़ा उत्सव था। नरेन्द्र नामक सरोवर में (श्रीजगन्नाथ जी के प्रतिनिधि रूप विग्रह) श्रीगोविन्द जी नौका में बैठ कर अपने भक्तों एवं सेवकों के साथ जल-क्रीड़ा कर रहे थे। उसी समय श्रीमहाप्रभु जी अपने भक्तों को साथ लेकर श्रीगोविन्द को जल-क्रीड़ा-लीला देखने के लिये नरेन्द्र सरोवर पर आए। तभी गौड़ीय भक्त भी वहाँ आपहुँचे और नरेन्द्र पर ही उनका प्रभु के साथ मिलन हुआ। सब भक्तों ने श्रीमहाप्रभु की चरण-वन्दना की, प्रभु ने भी सब को उठा कर आलिङ्गन किया। गौड़ीय भक्त कीर्त्तन कर रहे थे और प्रभु के साथ मिलन समय सब प्रेमावेश में क्रन्दन करने लगे॥३९-४४॥

जल क्रीड़ाय वाद्य गीत नर्त्तन कीर्त्तन। महा कोलाहल तीरे, सलिले खेलन॥४५॥
गौड़ीया सङ्कीर्त्तन आर रोदन मिलिला। महा कोलाहल हैल ब्रह्माण्ड भरिया॥४६॥
सब भक्त लञा प्रभु नाम्बिल सेइजले। सभा लञा जल-क्रीड़ा करे कुतूहले॥४७॥
प्रभुर एइ जलक्रीड़ा दास वृन्दावन। चैतन्य मङ्गले विस्तारि करियाछेन वर्णन॥४८॥
पुन इहाँ वर्णिले पुनरुक्ति हय। व्यर्थ लिखन हय, आर ग्रन्थ बाढ़य॥४९॥

जल-क्रीड़ा के उपलक्ष में वहाँ अनेक गाना-बजाना होरहा था, कोई नृत्य कर रहा था तो कोई कीर्त्तन कर रहा था, जल-क्रीड़ा हो रही थी—इस प्रकार सरोवर के किनारे पर महा कोलाहल हो रहा था। गौड़ीया-

सङ्कीर्त्तन एवं क्रन्दन की उच्च ध्वनि से जो महा कोलाहल हो रहा था, उससे ब्रह्माण्ड गूँज रहा था। तब सब भक्तों को साथ लेकर श्रीमहाप्रभु जी भी सरोवर में उतर पड़े और उन्होंने आनन्द पूर्वक जल-क्रीड़ा की। इस जल-केलि का विस्तार पूर्वक वर्णन श्रीवृन्दावनदास जी ने अपने श्रीचैतन्य भागवत ग्रन्थ (अन्त्य खण्ड पञ्चम अध्याय) में किया है। पुनः उसका वर्णन करने से एक तो पुनरुक्ति होगी, दूसरे लिखने का व्यर्थ श्रम एवं ग्रन्थ बहुत बढ़ जाएगा ॥४५-४६॥

जल लीला करि गोविन्द चलिला आलय। निजगण लञा प्रभु चलिला देवालय ॥५०॥

जगन्नाथ देखि पुन निज घर आइला। प्रसाद आनाइया भक्तगणे खाओयाइला ॥५१॥

इष्ट गोष्ठी सभा लञा कथोक्षण कैल। निजनिज पूर्ववासाय सभाय पाठाइल ॥५२॥

गोविन्देर ठाञि राघव झालि समर्पिला। भोजनगृहेर कोणे झालि गोविन्द राखिला॥५३॥

पूर्व वत्सरेर झालि आजाड़ करिया। द्रव्य धरिवारे राखे अन्यगृहे लञा ॥५४॥

जल क्रीड़ा करने के बाद श्रीगोविन्द अपने मन्दिर में चले गये एवं श्रीमहाप्रभु जी अपने सब भक्तों के साथ श्रीजगन्नाथ मन्दिर में आए। श्रीजगन्नाथ जी का दर्शन कर प्रभु अपने वास स्थान पर आए एवं बहुत मात्रा में प्रसाद मँगा कर प्रभु ने भक्तों को भोजन कराया। कुछ समय सब ने वहाँ बैठ कर इष्ट गोष्ठी की, फिर प्रभु ने सब को अपने-अपने पूर्वले वास स्थान पर भेज दिया। श्रीराघव ने वह झालि श्रीगोविन्द के हाथ में दी और उसने उस झालि को भोजन गृह के एक कोने में सम्भाल कर रख दिया। पहले वत्सर वाली पेटी को खाली करके अन्य वस्तु आदि उस में रखने के लिये उसे दूसरे कमरे में रख दिया ॥ ५०-५४ ॥

आर दिन महाप्रभु निज गण लञा। जगन्नाथ देखिलेन शय्योत्थाने याञा ॥५५॥

वेढ़ा कीर्त्तनेर ताहां आरम्भ करिल। सात सम्प्रदाय तबे गाइते लागिल ॥५६॥

सात सम्प्रदाये नृत्य करे सात जन। अद्वैत आचार्य, आर प्रभु नित्यानन्द ॥५७॥

वक्रेश्वर, अच्युतानन्द, पण्डित श्रीनिवास। सत्यराज खान, आर नरहरिदास ॥५८॥

सात सम्प्रदाये प्रभु करेन भ्रमण। 'मोर सम्प्रदाये प्रभु,' एछे सभार मन ॥५९॥

सङ्कीर्त्तन-कोलाहले आकाश भेदिल। सब जगन्नाथ वासी देखिते आइल ॥६०॥

दूसरे दिन श्रीमहाप्रभु जी सब भक्तों को साथ लेकर श्रीजगन्नाथ जी के मङ्गला-दर्शन के समय मन्दिर में पधारे। वहाँ उन्होंने वेढ़ा कीर्त्तन (श्रीजगन्नाथ मन्दिर के चारों ओर घूमते हुए जो कीर्त्तन होता था) का आरम्भ किया। सात सम्प्रदाय (मण्डली) वहाँ गान करने लगीं। सात मण्डलियों में सात जने नृत्य कर रहे थे। श्रीअद्वैताचार्य, श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीवक्रेश्वर, श्रीअच्युतानन्द, श्रीनिवास पण्डित, श्रीसत्यराज खान् एवं श्रीनरहरिदास—ये सातों जने पृथक्-पृथक् मण्डली में नृत्य कर रहे थे। सातों मण्डलियों में श्रीमहाप्रभु जी भ्रमण कर रहे थे और सब मण्डली वाले यही जानते थे कि 'प्रभु हमारी मण्डली में उपस्थित हैं'। सङ्कीर्त्तन-कोलाहल से आकाश फटा जा रहा था, उस ध्वनि को सुन कर सब जगन्नाथपुरी के वासी वहाँ दर्शन के लिये पहुँच गये ॥५५-६०॥

राजा आसि दूरे देखे निजगण लञा। राजपत्नी सब देखे अट्टाली चढ़िया ॥६१॥

कीर्त्तन आटोपे पृथिवी करे टलमल। हरिध्वनि करे लोक, हैल कोलाहल ॥६२॥

एइमत कथोक्षण कराइल कीर्त्तन । आपने नाचिते तबे प्रभुर हैल मन ।।६३।।
सात दिगे सात सम्प्रदाय गाय बाजाय । मध्ये महाप्रेमावेशे नाचे गौर राय ।।६४।।
उड़िया-पद महाप्रभुर मने स्मृति हैल । स्वरूपेरे सेइ पद गाइते आज्ञा दिल ।।६५।।

राजा प्रतापरुद्र भी अपने राज कर्मचारियों के साथ दूर से प्रभु का दर्शन कर रहे थे एवं सब राजरानियाँ अट्टालिकाओं पर चढ़-चढ़ कर सङ्कीर्त्तन-उत्सव देख रही थीं। सङ्कीर्त्तन वेश में भक्त जो हुङ्कार, गर्ज्जना व नृत्य कर रहे थे, उस से पृथ्वी टलमल कर रही थी। सब लोग हरि ध्वनि कर रहे थे, वहाँ महान कोलाहल मच रहा था। इस प्रकार कुछ समय तक प्रभु ने कीर्त्तन नर्त्तन कराया फिर प्रभु की स्वयं नृत्य करने की इच्छा हो उठी। सात दिशाओं में सात मण्डलियाँ नृत्य-गान कर रही थीं, उनके बीच में महा प्रेमावेश में श्रीगौरचन्द्र नृत्य करने लगे। उस समय श्रीमहाप्रभु जी को एक उड़िया-पद की स्मृति हो आई, तब उन्होंने श्रीस्वरूप दामोदर जी को उसी पद के गान करने की आज्ञा दी ।।६१-६५।।

तथाहि पदम्—

जगमोहन परिमुण्डा याङ्" ।। ध्रु ।।३।।

वह पद था कि—"जगमोहन परिमुण्डा याङ्" अर्थात् समस्त जगत् को मोहित करने वाले—श्रीजगन्नाथ जी पर मैं वलिहारी जाऊँ ।।३।।

एइ पदे नृत्य करे परम-आवेशे । सब लोक चौदिगे प्रभुर प्रेमजले भासे ।।६६।।
'बोल' 'बोल' बोलेन प्रभु बाहु तुलिया । हरिध्वनि करे लोक आनन्दे भासिगा ।।६७।।
कभु पड़ि मूर्च्छा याय, श्वास नाहि आर । आचम्बिते उठे प्रभु करि हुङ्कार ।।६८।।
सघने पुलक येन शिमूलीर तरु । कभु प्रफुल्लित अङ्ग, कभु हय सरु ।।६९।।
प्रति रोम कूपे हय प्रस्वेद रक्तोद्गम । जज गग मम परि' गद्गद वचन ।।७०।।
एक एक दन्त येन पृथक् पृथक् नड़े । तैछे नड़े दन्त, येन भूमे खसि पड़े ।।७१।।

इसपद का गान श्रीमहाप्रभु परम आवेश में कर रहे थे, प्रभु की प्रेमाश्रुधाराओं से चारों ओर खड़े हुए लोग भीजे जा रहे थे, प्रभु दोनों भुजाएँ उठा कर 'बोलिये, बोलिये' ऐसा उच्चारण कर रहे थे एवं सब लोग आनन्द मग्न होकर 'हरि-हरि'—ध्वनि कर रहे थे। कभी तो श्रीमहाप्रभु मूर्च्छा खाकर पृथ्वी पर गिर जाते थे, ऐसा लगता था कि श्वासों का आना जाना बन्द हो गया है, थोड़ी देर में प्रभु अचानक हुङ्कार करते हुए फिर उठ खड़े होते। सारे शरीर पर शिमुली के वृक्ष की भान्ति पुलकावलि होने लगती। कभी तो प्रभु के अङ्ग प्रफुल्लित होकर विशाल दीर्घाकार हो जाते और कभी उनके अङ्ग पुलक रहित अति क्षीण हो जाते। प्रति रोम कूप से रक्त पूर्ण स्वेद प्रवाहित होने लगता। "जगन्नाथ"—नाम उच्चारण करते में गद्-गद् वाणी होने के कारण प्रभु जज-गग-मम कह कर ही रह जाते। ऐसा जान पड़ता था कि प्रभु का एक-एक दन्त पृथक्-पृथक् होकर हिल रहा है और अभी पृथ्वी पर गिर जाएगा—इस प्रकार अनेक सात्विक-विकार श्रीमहाप्रभु जी के विग्रह पर प्रकाशित हो रहे थे ।।६६-७१।।

क्षणे क्षणे बाढ़े प्रभुर आनन्द आवेश । तृतीय प्रहर हैल, नृत्य नहे अवशेष ।।७२।।
सब लोकेर उथलिल आनन्द सागर । सब लोक पासरिल देह-आत्मघर ।।७३।।

तबे नित्यानन्द प्रभु सृजिल उपाय। क्रमे क्रमे कीर्त्तनीया राखिल सभाय ॥७४॥
स्वरूपेर सङ्गे मात्र एक सम्प्रदाय। स्वरूपेर सङ्गे सेहो मन्दस्वरे गाय ॥७५॥
कोलाहल नाहि, प्रभुर किछु बाह्य हैल। तबे नित्यानन्द सभार श्रम जानाइल ॥७६॥
भक्त श्रम जानि कैल कीर्त्तन समापन। सभा लञा आसि कैल समुद्र स्नपन ॥७७॥

क्षण-क्षण में श्रीमहाप्रभु जी का आनन्दावेश बढ़ रहा था, इस प्रकार तीसरा प्रहर हो गया किन्तु प्रभु का नृत्य समाप्त न हुआ। सब लोग भी आनन्द सागर में सराबोर हो रहे थे, वे अपने देह एवं घर-बार की सुधि भूल चुके थे। तब श्रीनित्यानन्द प्रभु ने सङ्कीर्त्तन-नृत्य शेष करने का एक उपाय सोचा। उन्होंने सब कीर्त्तनीयाओं को एक-एक करके चुप करा दिया। केवल श्रीस्वरूप जी के साथ एक मण्डली रह गई, वह भी बहुत मन्द स्वर में गान कर रही थी, जब सब कोलाहल बन्द हो गया, तब श्री-महाप्रभु जी को कुछ बाहर की सुधि आई। तब श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीमहाप्रभु जी को सब भक्तों के श्रम की बात कही। भक्तों को थका हुआ जान कर प्रभु ने तब सङ्कीर्त्तन समाप्त कर दिया। सब भक्तों को साथ ले आकर प्रभु ने समुद्र पर स्नान किया ॥७२-७७॥

सभा लञा प्रभु कैल प्रसादभोजन। सभाके विदाय दिल करिते शयन ॥७८॥
गम्भीरार द्वारे कैल आपने शयन। गोविन्द आइला करिते पाद संवाहन ॥७९॥
सर्व्वकाल आछे एइ सुदृढ़ नियम। प्रभु यदि प्रसाद पाञा करेन शयन ॥८०॥
गोविन्द आसिया करे पाद संवाहन। तबे याइ प्रभुर शेष करेन भोजन ॥८१॥

सब भक्तों के साथ फिर प्रभु ने प्रसाद-भोजन किया और सब को विश्राम करने के लिये अपने-अपने स्थान पर जाने की आज्ञा दी। श्रीमहाप्रभु जी ने आकर अपने स्थान गम्भीरा के एक द्वार पर शयन की। श्रीगोविन्द प्रभु की चरण सेवा करने के लिये वहाँ आये। क्योंकि श्रीगोविन्द का यह सदा का सुदृढ़ नियम था कि जब श्रीमहाप्रभु जो भोजन के बाद शयन करते तो श्रीगोविन्द आकर प्रभु के पाद संवाहन किया करते थे और फिर जाकर प्रभु का प्रसादी भोजन पाया करते ॥७८-८१॥

सब द्वार जुड़ि प्रभु करियाछेन शयन। भितरे याइते नारे गोविन्द करे निवेदन ॥८२॥
एक पाश हओ, मोरे देह भितर याइते। प्रभु कहे—शक्ति नाहि अङ्ग चालाइते ॥८३॥
बार बार गोविन्द कहे एक दिग् हैते। प्रभु कहे, आमि अङ्ग नारि चालाइते ॥८४॥
गोविन्द कहे,करिते चाहि पाद संवाहन। प्रभु कहे,कर वा ना कर येइ लयतोमार मन॥८५॥
तबे गोविन्द बहिर्वास तांर उपरे दिया। भितर घर गेला महाप्रभु के लाङ्घिया ॥८६॥
पाद संवाहन कैल, कटि पृष्ठ चापिल। मधुर मर्द्दन प्रभुर परिश्रम गेल ॥८७॥

आज श्रीमहाप्रभु जी अपने कमरे (गम्भीरा) के और सब दरवाजे बन्द करके सो रहे थे। एक दरवाजा खुला था, उसके बीच में भी इस प्रकार सो रहे थे कि आपने अपना सिर तो दरवाजे की देहली पर रखा हुआ था और चरण कमरे के भीतर। श्रीगोविन्द ने देखा कि पाद संवाहन करने के लिये भीतर जाने का रास्ता ही नहीं है तब उसने प्रभु को निवेदन किया कि "प्रभु ! आप एक तरफ हो जाइये, मुझे अन्दर जाने का रास्ता दे दीजिये।" प्रभु ने कहा—"गोविन्द ! आज मुझ में अब हिलने की

शक्ति नहीं है।" बार-बार श्रीगोविन्द ने कहा—कि "प्रभु ! आप एक तरफ करवट ले लीजिये ताकि मैं भीतर निकल जाऊँ" किन्तु प्रभु ने भी हर बार यही उत्तर दिया कि—"मैं अपने अङ्गों को नहीं हिला सकता हूँ।" श्रीगोविन्द ने कहा—"प्रभु ! मैं आपके चरण संवाहन करना चाहता हूँ, जिस से आपका श्रम दूर हो जाएगा।" प्रभु ने कहा—"चरण संवाहन कर या न कर, जैसे तुम्हारी इच्छा हो, किन्तु मैं नहीं हिल सकता हूँ।" तब श्रीगोविन्द ने एक बहिर्वास लेकर प्रभु के ऊपर डाल दिया (कि प्रभु पर उसके पाँव की धूलि न पड़ जाए) और प्रभु को उल्लाङ्घ कर भीतर चला गया। श्रीगोविन्द ने प्रभु के पाद संवाहन किये एवं प्रभु की कमर को, पीठ को दबाया और ऐसा मधुर—धीरे-धीरे प्रभु के अङ्गों को मला कि प्रभु की सब थकावट दूर होगई ॥८२-८७॥

चै० च० चु० *टीका*:—जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि भक्त जन (नित्य सिद्ध परिकर) अनुराग वश श्रीभगवान् की आज्ञा उल्लङ्घन कर दिया करते हैं और अपने प्रियतम की सेवा के लिये सब प्रकार की विधि-विधान की उपेक्षा कर दिया करते हैं, यहाँ तक कि उन्हें अपने सुख-दुख, नरक-स्वर्ग की कुछ भी चिन्ता नहीं रहती। उन्हें अपराध जनक नरक यन्त्रणा का भी भय नहीं रहता। यही बात श्रीगोविन्द जी के आचरण में दीखती है। श्रीमहाप्रभु को लाङ्घना कितना भारी अपराध था, किन्तु श्रीगोविन्द प्रभु सेवा के लिये इतने उत्कण्ठित थे, प्रभु के श्रम दूर करने के लक्ष्य में उन्होंने इस बात की कुछ भी चिन्ता नहीं की। प्रभु को लाङ्घ कर भीतर चले गये और प्रभु की चरण सेवा करने लगे।

सुखे निद्रा हैल प्रभुर, गोविन्द चापे अङ्ग। दण्डदुइ-वहि प्रभुर निद्रा हैल भङ्ग ॥८८॥
गोविन्द देखिया प्रभु बोले क्रुद्ध हञा। अद्यापिह एतक्षण आछिस वसिया ? ॥८९॥
निद्रा हैले केने नाहि गेला प्रसाद खाइते ? गोबिन्द कहे,द्वारे शुइला,याइले नाहि पथे॥९०॥
प्रभु कहे, भितरे तबे आइला के मने ? तैछे केने प्रसाद लैते ना कैले गमने ॥९१॥

जब श्रीगोविन्द प्रभु के अङ्गों को चाप रहे थे, प्रभु की सुख पूर्वक आंख लग गई। दो घड़ियों के बाद श्रीमहाप्रभु जी की निद्रा भङ्ग हुई तो उन्होंने देखा कि गोविन्द अभी तक बैठा हुआ है। (प्रभु को नींद आ जाने पर पहले प्रति दिन जैसे श्रीगोविन्द प्रसाद पाने उठ जाया करते थे, आज वे नहीं गये।) श्रीगोविन्द को देख कर प्रभु क्रोधित होकर (प्रणय रोष से) कहने लगे—"गोविन्द ! तुम अभी तक यहाँ बैठे हो ? मुझे तो नींद आ गई थी, तुम प्रसाद खाने के लिये क्यों न चले गये ?" श्रीगोविन्द ने कहा—"प्रभु ! आप दरवाजे में सो रहे थे, निकलने का रास्ता ही न था।" प्रभु ने पूछा—"उस समय तुम भीतर ही कैसे आए थे ?—मुझे उलाङ्घ कर जैसे पहले भीतर आए थे उसी प्रकार अब बाहर भी जा सकते थे और जाकर भोजन कर लेते ॥८८-९१॥

गोविन्द कहे मने, आमार सेवा से नियम। अपराध हउक, किवा नरके गमन ॥९२॥
सेवा लागि कोटि अपराध नाहि गणि। स्वनिमित्त अपराधाभासे भय मानि ॥९३॥
एत सब मने करि गोविन्द रहिला। प्रभु ये पुछिला, तार उत्तर ना दिला ॥९४॥
प्रत्यह प्रभुर निद्रा आइले याय प्रसाद लैते। से दिवसेर श्रम जानि रहिला चापिते ॥९५॥
याइतेहो पथ नाहि, याइवे केमने। महा अपराध हय प्रभुर लङ्घने ॥९६॥
एइ सब हय भक्ति शास्त्रेर सूक्ष्म-धर्म। चैतन्य कृपाय जाने एइ धर्म-मर्म ॥९७॥

श्रीगोविन्द ने मन-मन में विचार किया कि—"वह तो मेरा चरण-सेवा का नियम था, (इसलिये प्रभु को लाङ्घ कर भीतर चला गया था) अपराव हो चाहे मुझे नरक में ही क्यों न जाना पड़े, आपको सेवा के लिये मैं अपराध आदि किसी की भी चिन्ता नहीं करता हूँ। किन्तु अपने लिये अपराध के आभास से भी भयभीत होता हूँ। (अपने भोजन के निमित्त आपको उलाङ्घ कर मैं कैसे चला जाता ?) यह सव विचार कर श्रीगोविन्द चुप ही रहे आए, श्रीमहाप्रभुजी के प्रश्न का कुछ भी उत्तर न दिया। प्रति दिन प्रभु के सो जाने पर श्रीगोविन्द प्रसाद पाने के लिये उठ जाया करते थे। किन्तु उस दिन प्रभु को भी थका जान कर वह प्रभु की सेवा करते हुए वहाँ ही बैठे रहे। बाहर जाने का रास्ता भी न था। प्रभु को लाङ्घ कर महापराध होता, बाहर कैसे जाते ? यह सव भक्ति शास्त्र के सूक्ष्म धर्म हैं। श्रीचैतन्यप्रभु की कृपा से ही इन धर्मों का रहस्य पता लगता है ॥९२-९७॥

भक्त गुण प्रकाशिते प्रभु बड़ रङ्गी। एइ सब प्रकाशिते कैल एत भङ्गी ॥९८॥
संक्षेपे कहिल एइ परिमुण्डा नृत्य। अद्यापिह गाय याहा चैतन्येर भृत्य ॥९९॥
एइ मत महाप्रभु लञा निज गण। गुण्डिचा गृहेर कैल क्षालन-मार्ज्जन ॥१००॥
पूर्ववत् कैल प्रभु कीर्त्तन-नर्त्तन। पूर्ववत् टोटाते कैल बन्य भोजन ॥१०१॥
पूर्ववत् रथ आगे करिल नर्त्तन। होरा पञ्चमी-यात्रा कैल दरशन ॥१०२॥
चारि मास वर्षा रहिला सब भक्त गण। जन्माष्टमी आदि यात्रा कैल दरशन ॥१०३॥

भक्तों के गुणों को प्रकाशित करने में श्रीमहाप्रभु जी बहुत उत्साहित रहते हैं, श्रीगोविन्द के गुणों को प्रकाशित करने के लिये ही यह सब लीला महाप्रभु जी ने की थी। श्रीकविराज कहते हैं— इस प्रकार मैंने श्रीमहाप्रभुजी के 'जगमोहन परिमुण्डा याउ' पद के साथ नृत्य का संक्षेप से वर्णन किया है, इस गान को आज पर्यन्त श्रीचैतन्य-भक्त गाया करते हैं। इस लीला के बाद श्रीमहाप्रभु जी ने गुण्डिचा मन्दिर का मार्जन-प्रक्षालन आदि किया और पूर्ववत् प्रभु ने नृत्य-गान किया। फिर बगीचा में जाकर प्रभु ने भक्तों के साथ बन्य भोजन किया। सदा की भान्ति प्रभु ने रथ के आगे नृत्य किया और होरा पञ्चमी उत्सव के दर्शन किये। इस प्रकार वर्षा के चार मास पर्यन्त सब गौड़िया भक्त नीलाचल में रहे एवं जन्माष्टमी आदि सब उत्सवों के दर्शन किये ॥९८-१०३॥

पूर्वे यदि गौड़ हइते भक्तगण आइला। प्रभुरे किछु खाओयाइते सभार इच्छा हैला ॥१०४॥
केहो कोन प्रसाद आनिदेन गोविन्देर ठाञि। इहा येन अवश्य भक्षण करेन गोसाञि॥१०५॥
केहो पैड़, केहो नाड़ु, केहो पिठा-पाना। बहु मूल्य उत्तम प्रसाद,प्रकार यार नाना॥१०६॥
'अमुक एइ दियाछेन'-गोविन्द करे निवेदन। 'धरि राख' बलि प्रभु ना करे भक्षण ॥१०७॥
धरिते धरिते घरेर भरिल एक कोण। शत जनेर भक्ष्य यत हैल सञ्चयन ॥१०८॥

जब गौड़ीय भक्त नीलाचल आए थे, तब उनकी यह इच्छा हुई थी कि वे प्रभु को भोग लगावें। तो किसी ने कुछ, किसी ने कुछ, प्रसाद लाकर श्रीगोविन्द को दिया था और सब यह कहते थे कि—हमारी वस्तु प्रभु को अवश्य खिला देना। कोई पेड़ा लाया था, कोई लड्डू लाया था, कोई पिठा-पाना आदि, अनेक बहु मूल्य पदार्थ लाकर सब ने श्रीगोविन्द को दिये थे। श्रीगोविन्द श्रीमहाप्रभु

को उस समय निवेदन किया करते कि— "अमुक भक्त यह पदार्थ लाया है—आप इसे पा लीजिये।" किन्तु प्रभु कुछ भी भक्षण न करते और कह देते—"गोविन्द ! अभी इसे अपने पास रख लो।" इस प्रकार जमा करते करते कमरे का एक कोना भर चुका था, सैंकड़ों भक्तों के दिये हुए सैंकड़ों पदार्थ वहाँ जमा हो गये थे ॥१०४-१०८॥

गोविन्देरे सभे पुछे करिया यतन । आमादत्त प्रसाद प्रभु के कराइले भक्षण?॥१०९॥
काहाके किछु कहि गोविन्द करेन वञ्चन। आरदिन प्रभु के कहे निर्वेद वचन—॥११०॥
आचार्यादि महाशय करिया यतने । तोमाके खाओयाइते वस्तु देन मोर स्थाने॥१११॥
तुमि से ना खाओ, तारा पुछे बार-बार । कत वञ्चना करिव,केमते आमार निस्तार?११२॥
प्रभु कहे आदिवश्या दुख काहे माने ? । के कि दियाछे, सब आनह एखाने ॥११३॥
एत बलि महाप्रभु वसिला भोजने । नाम धरि धरि गोविन्द करे निवेदने ॥११४॥

श्रीगोविन्द से सब भक्त उत्साहित होकर पूछा करते कि "हमारी दी हुई वस्तु क्या प्रभु ने खाली है ? " तब श्रीगोविन्द हर किसी को कुछ न कुछ कह कर टाल देते। एक दिन दुखी होकर श्रीगोविन्द ने प्रभु से कहा—"प्रभु ! आचार्यादि महापुरुष बड़ी उत्कण्ठा से आप के खिलाने के लिये मुझे वस्तुएं दिया करते हैं, किन्तु आप तो कुछ खाते नहीं हो और वे बार-बार मुझ से पूछा करते हैं। मैं कहाँ तक उनकी वञ्चना करूं ? मेरा निस्तार कैसे होगा ?" श्रीमहाप्रभु जी ने कहा "अरे आदिवश्या ! दुख क्यों मानता है ? (तामिल भाषा में अति प्रिय व्यक्ति को 'आदिवश्या' कहते हैं—एक प्रकार की मीठी गाली है) क्या क्या वस्तु तुम्हारे पास रखी है, सब यहाँ ले आ।" इतना कह कर श्रीमहाप्रभु भोजन करने के लिये बैठ गए। नाम ले ले कर श्रीगोविन्द सब वस्तुओं को आगे रखने लगे ॥१०९-११४॥

आचार्येर एइ पैड़ पाना सरपूपी । एइ अमृत गोटिका मण्डा एइ कर्पूरकूपी ॥११५॥
श्रीवास पण्डितेर एइ अनेक प्रकार । पिठा पाना अमृतगोटिका मण्डा पद्मचिनि आर ॥११६॥
आचार्यरत्नेर एइ सब उपहार । आचार्यनिधिर एइ अनेक प्रकार ॥११७॥
वासुदेव दत्तेर एइ, मुरारिगुप्तेर आर । बुद्धिमन्त खानेर एइ विविध प्रकार ॥११८॥
श्रीमान्‌सेन,श्रीमानपण्डित,आचार्य-नन्दन। ताहा सभार दत्त एइ करह भक्षण ॥११९॥
कुलीनग्रामीर एइ—आगे देख यत । खण्डवासि लोकेर एइ देख तत ॥१२०॥
ऐछे सभार नाम लञा प्रभुर आगे धरे । सन्तुष्ट हइया प्रभु सब भोजन करे ॥१२१॥

श्रीगोविन्द ने कहा—"यह पेड़ा, शरवत, सरपूपी श्रीअद्वैताचार्य ने दिये हैं, यह लीजिये, अमृत गोटिका, मण्डा तथा कर्पूरकूपी यह सब अनेक पदार्थ श्रीवास पण्डित लाए हैं। देखिये, यह पिठा-पाना, अमृतगोटिका, मण्डा और पद्मचिनी श्रीआचार्यरत्न का उपहार है। लीजिये प्रभु ! ये विविध व्यञ्जन श्रीआचार्यनिधि ने दिये हैं, ये श्रीवासुदेव दत्त के हैं, और ये सब श्रीमुरारिगुप्त लाए हैं। ये समस्त पदार्थ श्रीबुद्धिमन्त खान् ने दिये हैं, श्रीमानसेन्, श्रीमान पण्डित और श्रीआचार्यनन्दन—इन सबों ने ये सब पदार्थ आपके लिये दिये हैं, यह देखिये, ये सब पदार्थ कुलीनग्राम वासी भक्त लाए हैं

और ये सब पदार्थ खण्ड वासी लोगों ने दिये हैं, इस प्रकार सब के नाम ले ले कर श्रीगोविन्द ने सब पदार्थ प्रभु के आगे धर दिये और श्रीमहाप्रभु जी ने भी सन्तुष्ट होकर सब पदार्थ खा लिये ॥११५-१२१॥

यद्यपि मासेकेर बासि मुख करा नारिकेल । अमृतगोटिका आदि पानादि सकल ॥१२२॥
तथापि नूतन प्राय सब द्रव्येर स्वाद । बासि विस्वाद नहे, महाप्रभुर प्रसाद ॥१२३॥
शतजनेर भक्ष्य प्रभु दण्डेके खाइल । आर किछु आछे? बलि गोविन्द पुछिल॥१२४॥
गोविन्द कहे, राघवेर झालि मात्र आछे । प्रभु कहे, आजि रहु,ताहा देखिब पाछे ॥१२५॥
आर दिन प्रभु यदि निभृते भोजन कैल । राघवेर झालि खुलि सकल देखिल ॥१२६॥
सब द्रव्येर किछु किछु उपभोग कैल । स्वादु सुगन्ध देखि बहु प्रशंसिल ॥१२७॥
वत्सरेर तरे आर राखिल धरिया । भोजनेर काले स्वरूप परिवेश खसाइया॥१२८॥
कभु रात्रि काले किछु करेन उपयोग । भक्तेर श्रद्धार द्रव्य अवश्य करेन उपभोग ॥१२९॥

यद्यपि नारियल, जिन के मुख पर छिद्र कर दिया गया था और अमृतगुटिकादि पेय पदार्थ एक मास के वासी थे, तो भी उन सब पदार्थों का स्वाद ऐसा था, जैसे ताज़ा हों, कोई भी वस्तु बासी एवं वे स्वाद नहीं थी, कारण कि भगवत् प्रसादी है फिर श्रीमहाप्रभु जी के लिए आई है (भगवत् प्रसाद चिन्मय है, विकार हीन है ।) सैकड़ों भक्तों ने जो पदार्थ लाकर श्रीमहाप्रभु जी के लिये श्रीगोविन्द को दिये थे, उन सब को प्रभु ने एक घड़ी भर में खा लिया और श्रीगोविन्द से पूछने लगे—"और कुछ है ? तो ले आ ।" श्रीगोविन्द ने कहा—"प्रभु ! केवल राघव की झालि वची है ।" श्रीप्रभु ने कहा—"बस, उसे आज रहने दो, उसे फिर कभी देखूँगा ।" दूसरे दिन जब श्रीमहाप्रभु एकान्त में भोजन करने बैठे तो उन्हों ने राघव की झालि खोल कर सब पदार्थों को देखा । उसमें से सब पदार्थों को थोड़ा थोड़ा लेकर पाया । सुगन्धित एवं स्वाद देख कर प्रभु ने उन पदार्थों की बहुत प्रशंसा की । वर्ष पर्यन्त प्रति दिन थोड़ा-थोड़ा खाने के लिये प्रभु ने उन पदार्थों को रखवा दिया । भोजन के समय श्रीस्वरूप गोस्वामी उनमें से थोड़ी-थोड़ी वस्तु प्रभु को प्रतिदिन दिया करते । कभी-कभी रात के समय भी प्रभु उन पदार्थों में से कुछ-कुछ पाया करते थे । कारण कि भगवान् श्रद्धा पूर्वक दी हुई भक्तों की वस्तु को अवश्य ग्रहण किया ही करते हैं ॥१२२-१२९॥

एइमत महाप्रभु भक्तगण सङ्गे । चातुर्मास्य गोङाइल कृष्ण कथा रङ्गे ॥१३०॥
मध्ये मध्ये आचार्यादि करे निमन्त्रण । घरे भात रान्धे, आर विविध व्यञ्जन ॥१३१॥
शाक दुइ-चारि आर सुकुतार झोल । निम्बवर्त्ताकी आर भृष्टपटोल ॥१३२॥
भृष्टफुलवड़ी आर मुद्गदालि सूप । जानि व्यञ्जन रान्धे प्रभुर रुचिर अनुरूप॥१३३॥
मरिचेर झाल मधुराम्ल आर । आदा लवण लेम्बु दुग्ध दधि खण्ड सार ॥१३४॥
जगन्नाथेर प्रसाद आने करिते मिश्रित । काहां एका यायेन काहां गणेर सहित ॥१३५॥

इस प्रकार भक्तों के साथ श्रीकृष्ण-कथा प्रसङ्ग में श्रीमहाप्रभु जी ने चातुर्मास्य बिताया । बीच में श्रीअद्वैताचार्यादि भक्तगण भी श्रीमहाप्रभु का निमन्त्रण करते थे । वे घर में प्रभु के लिये

चावल रान्ध लेते और अनेक प्रकार के व्यञ्जन बना लेते। दो चार साग और सुकुता झोल, निम्ववार्त्ताकी (नीम के पत्तों के साथ बैगुन का साग) पटल (परवल) फुलवड़ी एवं मूंग की दाल का झोल—इस प्रकार के अनेक व्यञ्जन श्रीमहाप्रभुजी को रुचि अनुसार वे बनाते। काली मिरच का झोल, खट्टी-मिठी चटनी, अदरक, नमक, नीबू देकर वे बना लेते। दूध, दधि एवं चीनी इस प्रकार अनेक पदार्थ वे श्रीमहाप्रभु जी को भोग लगाते। कभी-कभी वे श्रीजगन्नाथ जी का प्रसाद भी लाकर इन पदार्थों के साथ प्रभु को खिलाते। श्रीमहाप्रभु जी कभी तो अकेले और कभी अपने भक्तों के साथ उनके स्थान पर भोजन करते ॥१३०-१३५॥

आचार्यरत्न आचार्यनिधि नन्दन राघव। श्रीवास-आदि यत भक्त विप्र सब ॥१३६॥
एइमत निमन्त्रण करे यतन करि। वासुदेव, गदाधरदास, गुप्तमुरारि ॥१३७॥
कुलीनग्रामी, खण्डवासी, आर यत जन। जगन्नाथेर प्रसाद आनि करे निमन्त्रण ॥१३८॥
शिवानन्दसेनेर शुन निमन्त्रणाख्यान। शिवानन्देर बड़ पुत्र, चैतन्यदास नाम ॥१३९॥
प्रभु के मिलाइते तारे सङ्गेइ आनिल। मिलाइले प्रभु तार नाम पुछिल ॥१४०॥
"चैतन्यदास" नाम शुनि कहे गौर राय। किवा नाम धरियाछ बूझन ना याय ॥१४१॥

श्रीआचार्य रत्न, श्रीआचार्य निधि, श्रीआचार्य नन्दन, श्रीराघव, श्रीवासादि जितने भक्त एवं विप्र थे, वे सब उत्कण्ठा पूर्वक इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी को निमन्त्रण करते। श्रीवासुदेव, श्रीगदाधरदास, श्रीमुरारि गुप्त, कुलीन ग्राम वासी भक्त, श्रीखण्ड वासी भक्त, और भी जितने भक्त थे, वे श्रीजगन्नाथ जी का प्रसाद ले आकर श्रीमहाप्रभु को भोजन कराते। श्रीकविराज कहते हैं—अब श्रीशिवानन्द सेन ने जिस प्रकार प्रभु को निमन्त्रण दिया, उस प्रसङ्ग को सुनिये। श्रीशिवानन्द सेन के बड़े पुत्र का नाम 'चैतन्य-दास' था। श्रीशिवानन्द उसे भी प्रभु के दर्शन कराने के लिये अपने साथ लाए थे। जब उसने आकर प्रभु के दर्शन किये, तब श्रीमहाप्रभु जी ने उसका नाम पूछा। श्रीशिवानन्द ने बताया कि "इसका नाम 'चैतन्यदास' है।" यह नाम सुन कर प्रभु ने कहा—"यह कैसा नाम रखा है? कुछ समझ में नहीं आया"।

सेन कहे, ये जानिल सेइ त धरिल। एत वलि महाप्रभुके निमन्त्रण कैल ॥१४२॥
जगन्नाथेर प्रसाद बहुमूल्य आनाइला। भक्तगण लञा प्रभु भोजने वसिला ॥१४३॥
शिवानन्देर गौरवे प्रभु करिल भोजन। अति गुरु भोजने प्रभुर प्रसन्न नहे मन ॥१४४॥
आर दिने चैतन्यदास कैल निमन्त्रण। प्रभुर अभीष्ट बुझि आनिल व्यञ्जन ॥१४५॥
दधि लेम्बु आदा आर करड़ीया लोण। सामग्री देखिया प्रभुर प्रसन्न हैल मन ॥१४६॥
प्रभु कहे, एइ बालक आमार मत जाने। सन्तुष्ट हैलाङ् आमि इहार निमन्त्रणे ॥१४७॥
एत वलि दधिभात करिल भोजन। चैतन्यदासेरे दिल उच्छिष्ट भाजन ॥१४८॥

श्रीशिवानन्द सेन ने कहा—"जो इस नाम का अर्थ जानता है, उसी ने यह नाम रखा है।" इतना कह कर श्रीशिवानन्द जी ने प्रभु को निमन्त्रण दिया। उन्होंने श्रीजगन्नाथ जी का बहु मूल्य प्रसाद मंगवाया और श्रीमहाप्रभु जी भक्तों के साथ भोजन करने लगे। श्रीशिवानन्द की प्रीतिवश या लिहाज से

प्रभु ने भोजन किया, किन्तु वह बहुत गरिष्ठ भोजन था। श्रीमहाप्रभु जी का मन गरिष्ठ भोजन में कभी प्रसन्न नहीं होता था। दूसरे दिन फिर श्रीचैतन्यदास ने श्रीमहाप्रभु जी को भोजन कराया उन्होंने श्री-महाप्रभु जी के मन की इच्छा जान कर बहुत हलके (सूक्ष्म) पदार्थ प्रस्तुत किये। दधि, निंबु, अदरक, एवं करड़ीया नामक भातादि ऐसे व्यञ्जन प्रभु के आगे रखे। उस सामग्री को देख कर प्रभु का मन बहुत प्रसन्न हुआ। श्रीप्रभु ने कहा—"यह है तो बालक, किन्तु मेरे मन के अभीष्ट को जानता है। मैं इसके निमन्त्रण से सन्तुष्ट हुआ हूँ।" इतना कह कर प्रभु ने दधि-भात का भोजन किया और अपना उच्छिष्ट प्रसाद-पात्र श्रीचैतन्यदास को दे दिया ॥१४२-१४८॥

चारि मास एइ मत निमन्त्रणे याय। कोन कोन वैष्णव दिवस नाहि पाय ॥१४९॥
गदाधर पण्डित भट्टाचार्य सार्वभौम। इंहा सभार आछे भिक्षा दिवस नियम ॥१५०॥
गोपीनाथाचार्य जगदानन्द काशीश्वर। भगवान् राम भद्राचार्य शङ्कर वक्रेश्वर ॥१५१॥
मध्ये-मध्ये घर भाते करे निमन्त्रण। अन्येर प्रसाद-निमन्त्रणे लागे कौड़ि दुइपण ॥१५२॥
प्रथमे आछिल निर्बन्ध कौड़ि चारि पण। रामचन्द्रपुरी भये घाटाइल निमन्त्रण ॥१५३॥
चारि मास वहि गौड़ेर भक्त विदाय दिला। नीलाचलेर सङ्गी भक्त सङ्गेइ रहिला॥१५४॥

चार मास पर्य्यन्त इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी का निमन्त्रण रहता था, किसी-किसी वैष्णव को तो प्रभु के निमन्त्रण के लिये कोई दिन खाली नहीं मिलता था। श्रीगदाधर पण्डित, श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य इन के दिन तो पहले से ही प्रभु-निमन्त्रण के लिये निश्चित थे। श्रीगोपीनाथाचार्य, श्रीजगदानन्द, श्रीकाशीश्वर, श्रीभगवानाचार्य, श्रीराम भद्राचार्य, श्रीशङ्कर एवं श्रीवक्रेश्वर—ये सब लोग बीच-बीच में अपने घर भात बनाकर श्रीमहाप्रभु जी को भोजन कराते रहते और लोग जो प्रभु को श्रीजगन्नाथ जी के प्रसाद से निमन्त्रण कराते उनका दो पण (१६०) कौड़ी खर्च होता था। पहले तो प्रभु के निमन्त्रण में चार पण (३२०) कौड़ी का प्रसाद आता था, किन्तु अब श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीरामचन्द्रपुरी के निन्दाभय से अपना आहार घटा दिया था। इस प्रकार चार मास बीतने पर प्रभु ने गौड़ीय-भक्तों को उनके देश जाने के लिये विदा दे दी और नीलाचल वासी भक्तों के साथ नीलाचल में सुख पूर्वक वास करने लगे ॥१४९-१५४॥

एइ त कहिल प्रभुर भिक्षा निमन्त्रण। भक्तदत्त वस्तु यैछे करे आस्वादन ॥१५५॥
तारि मध्ये राघवेर-झालि विवरण। तारि मध्ये परिमुण्डा-नृत्य-कथन ॥१५६॥
श्रद्धा करि शुने येइ चैतन्येर कथा। चैतन्य चरणे प्रेम पाइबे सर्वथा ॥१५७॥
शुनिते अमृतसम, जुड़ाय कर्ण मन। से-इ भाग्यवान्, येइ करे आस्वादन ॥१५८॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश। चैतन्य चरितामृत कहे कृष्णदास ॥१५९॥

श्रीकृष्ण कविराज गोस्वामी कहते हैं—"इस प्रकार मैंने श्रीमहाप्रभु के भिक्षा-निमन्त्रण का प्रसङ्ग वर्णन किया है और भक्तों द्वारा दी हुई वस्तु को प्रभु जैसे आस्वादन करते हैं, उसे भी कहा है। इस प्रसङ्ग के बीच श्रीराघव की झालि का तथा परिमुण्ड-नृत्य गान का विवरण भी कहा है।

श्रीचैतन्यदेव की इन कथाओं को जो श्रद्धा पूर्वक सुनेगा, उसे श्रीचैतन्यदेव के चरण कमलों की निश्चित रूप से प्राप्ति होगी। श्रीचैतन्य देव की समस्त लीलाएँ अमृत तुल्य हैं एवं उनके सुनते ही श्रवण एवं मन शीतल हो जाते हैं। वही व्यक्ति भाग्यवान् है, जो इन लीलाओं का नित्य आस्वादन करते हैं। "श्रीरूप गोस्वामी एवं श्रीरघुनाथ गोस्वामी जी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास जी श्री श्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥ १५५-१५६ ॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां

भक्तदत्तास्वादनं-नाम

दशम परिच्छेदः ॥१०॥

जयगौर

अन्त्य-लीला

एकादश परिच्छेद

नमामि हरिदासं तं चैतन्यं तञ्च तत्प्रभुम् ।
संस्थितामपि यन्मूर्त्तिं स्वाङ्के कृत्वा ननर्त्त यः ॥१॥

जिनके मृत-देह को भी अपने अङ्क में लेकर श्रीचैतन्यदेव ने नृत्य किया था; उन श्रीहरिदास ठाकुर जी की मैं वन्दना करता हूँ, एवं उनके प्रभु श्रीचैतन्य कृष्णदेव को भी मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

[इस एकादश परिच्छेद में श्रीहरिदास जी ठाकुर की निर्याण-लीला वर्णन की गई है, एवं भक्तवत्सल श्रीमहाप्रभु जी ने उनके मृत-देह को गोदी में लेकर जैसे नृत्य-गान किया है, वह प्रसङ्ग कहा गया है]

जय जय श्रीचैतन्य जय दयामय । जयाद्वैतप्रिय नित्यानन्दप्रिय जय ॥१॥
जय श्रीनिवासेश्वर हरिदासनाथ । जय गदाधरप्रिय स्वरूपप्राणनाथ ॥२॥
जय काशीप्रिय जगदानन्द प्राणेश्वर । जय रूप-सनातन-रघुनाथेश्वर ॥३॥
जय गौर-देह कृष्ण स्वयं भगवान् । कृपा करि देह प्रभु ! निजपद दान ॥४॥

श्रीचैतन्यदेव की जय हो, जय हो । हे दयामय ! आप की जय हो । श्रीअद्वैताचार्य प्रभु एवं श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु के प्रियतम ! आप की जय हो, जय हो । श्री श्रीनिवास के ईश्वर ! श्रीहरिदास के स्वामी ! आप की जय हो । श्रीगदाधर के प्यारे ! श्रीस्वरूप-दामोदर के प्राणनाथ ! आप की जय हो । श्रीकाशीश्वर के प्रिय ! श्रीजगदानन्द के प्राणेश्वर ! आप की जय हो । श्रीरूप-सनातन-रघुनाथदास गोस्वामी के इष्टदेव ! आप की जय हो । हे गौर देह धारी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ! आप की जय हो, हे प्रभु ! कृपा करके मुझे अपने चरणों की भक्ति प्रदान कीजिये ॥१-४॥

जय नित्यानन्द जय चैतन्येर प्राण । तोमार चरणारविन्दे भक्ति देह दान ॥५॥
जय जयाद्वैत चन्द्र चैतन्येर आर्य्य । स्वचरणे भक्ति देह जयाद्वैताचार्य्य ॥६॥
जय गौर भक्तगण, गौर यार प्राण । सब भक्त मिलि मोरे भक्ति देह दान ॥७॥

जय रूप, सनातन, जीव, रघुनाथ । रघुनाथ, गोपाल, जय छय मोर नाथ ।।८।।
ए सब प्रसादे लिखि चैतन्य-लीलागुण । यैछे तैछे लिखि करि आपन पावन ।।९।।

श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु की जय हो, हे चैतन्य के प्राण ! आप की जय हो, मुझे अपने चरणारविन्द की भक्ति का दान दीजिये । हे श्रीअद्वैताचार्य प्रभु ! आप श्रीचैतन्य के गुरु तुल्य हो, आप एकान्तिकी भक्ति के आचार्य हो, आप की जय हो, आप अपने चरणों की भक्ति मुझे प्रदान कीजिये, (जिससे कि मुझे श्रीकृष्णचैतन्य देव के चरणों की भक्ति सहज में प्राप्त हो सके ।) हे गौरभक्त-गण ! आप की जय हो, श्रीगौराङ्ग तो आप के प्राण हैं, आप सब मिल कर मुझे भक्ति का दान दीजिये । हे श्रीरूप ! हे श्रीसनातन ! हे श्रीजीव ! हे श्रीरघुनाथदास ! हे श्रीरघुनाथ भट्ट ! हे श्रीगोपालभट्ट ! आप की जय हो, जय हो । आप मेरे स्वामी हैं । मैं आपकी कृपा से ही श्रीचैतन्य के लीला-गुणों का उल्लेख कर रहा हूँ, (किन्तु उनके लीला गुणों को कौन वर्णन कर सकता है ?) उनका यत्किञ्चित उल्लेख कर मैं तो अपने को पवित्र कर रहा हूँ" ।।५-९।।

एइ मत महाप्रभुर नीलाचले वास । सङ्गेर भक्तगण लैया कीर्त्तन-विलास ।।१०।।
दिने नृत्य-कीर्त्तन ईश्वर दरशन । रात्र्ये राय-स्वरूप-सने रस-आस्वादन ।।११।।
एइ मत महाप्रभुर सुखे काल याय । कृष्णेर विरह-विकार अङ्गे ना आमाय ।।१२।।
दिने दिने बाढ़े विकार रात्र्ये अतिशय । चिन्ता,उद्वेग, प्रलापादि यत शास्त्रे हय ।।१३।।
स्वरूप गोसाञि आर रामानन्द राय । रात्र्ये दिने करे दुंहे प्रभुर सहाय ।।१४।।

इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु जी नीलाचल पर निवास कर रहे थे, सब भक्तों के साथ वे कीर्त्तन-विलास करते थे । दिन-काल में नृत्य-कीर्त्तन एवं श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन और रात्रि काल में वे श्रीराय रामानन्द एवं श्रीस्वरूप दामोदर जी के साथ श्रीकृष्ण प्रेम रस का आस्वादन किया करते थे । इस प्रकार प्रभु का समय सुख पूर्वक व्यतीत होता था । श्रीकृष्ण विरह-जनित दिव्योन्मादादि भाव तथा अष्ट सात्विक विकार प्रभु के अङ्गों में समाते न थे, दिन प्रति दिन वे बढ़ते ही जाते थे, रात में तो वे दिन की अपेक्षा बहुत ही प्रबल हो उठते । चिन्ता, उद्वेग एवं प्रलापादि श्रीकृष्ण विरह के जितने चित्त-विकार शास्त्रों में वर्णित हैं, वे सब श्रीमहाप्रभु के विग्रह में प्रकाशित होते । श्रीरूप गोस्वामी तथा श्रीराय रामानन्द जी दिन-रात श्रीमहाप्रभु जी को प्रभु के भावानुकूल श्लोक-कीर्त्तन पदादि सुना कर उनकी भाव पुष्टि रूप सहायता किया करते अथवा श्रीकृष्ण विरह में जब महाप्रभु जी अत्यन्त अस्थिर हो उठते, तब वे दोनों प्रभु को सान्त्वना दिया करते ।।१०-१४।।

एक दिन गोविन्द महाप्रसाद लइया । हरिदासे दिते गेल आनन्दित हैया ।।१५।।
देखे, हरिदास ठाकुर करि आछे शयन । मन्द मन्द करितेछे संख्या सङ्कीर्त्तन ।।१६।।
गोविन्द कहे,उठि आसि करह भोजन । हरिदास कहे, आजि करिब लङ्घन ।।१७।।
संख्या सङ्कीर्त्तन नाहि पुरे केमते खाइब । महाप्रसाद आनियाछ, केमने उपेक्षिब ।।१८।।
एत बलि महाप्रसाद करिल वन्दन । एक रञ्च लञा तार करिल भक्षण ।।१९।।

एक दिन श्रीगोविन्द प्रति दिन की भाँति महाप्रसाद देने के लिए श्रीहरिदास जी के पास आनन्द पूर्वक गये। वहाँ जाकर क्या देखते हैं कि श्रीहरिदास जी सो रहे हैं और धीरे धीरे अपनी नाम-सङ्कीर्त्तन संख्या पूरी कर रहे हैं। श्रीगोविन्द ने कहा—"आप उठिये, भोजन कर लीजिये।" श्रीहरिदासजी ने कहा—"गोविन्द ! आज मैं उपवास करूँगा। क्योंकि अभी तक मेरी सङ्कीर्त्तन संख्या पूरी नहीं हुई है। मैं कैसे प्रसाद पालूँगा ? तुम भी महाप्रसाद ले आए हो, इसकी भी उपेक्षा नहीं कर सकता हूँ।" इतना कह कर श्रीहरिदास जी ने उठ कर महाप्रसाद को नमस्कार किया एवं एक कणिका मात्र उसमें से लेकर पा लिया ॥१५-१९॥

चौ० च० च० टीका:—श्रीहरिदासजी ने अपने इस आचरण से साधक समाज को एक विशेष शिक्षा दी है—**प्रथमत:** जब तक उनकी नाम-संख्या पूर्ण नहीं होती थी, वे महाप्रसाद को भी ग्रहण नहीं करते थे। इससे यह शिक्षा मिलती है कि साधक को अपना भजनाङ्ग पहले समाप्त कर लेना चाहिये, फिर ही उसे कुछ खाना-पीना चाहिये। यहाँ तक कि भजन से पहले महाप्रसाद भी ग्रहण नहीं करना चाहिये। भजनाङ्ग किये बिना केवल पेट-भरने एवं इन्द्रियों को पुष्ट करने में साधक-जीवन की सार्थकता नहीं है। **द्वितीयत:**— महाप्रसाद—श्रीभगवान् का अथवा वैष्णवों का प्रसाद मिलने पर यदि ग्रहण न किया जाए, तो महाप्रसाद के प्रति अपराध होता है, इसलिये श्रीहरिदास जी ने उठ कर उस महाप्रसाद की स्तुति-वन्दना की एवं उसमें से कणिका मात्र लेकर मुख में डाल दिया। इससे उन्होंने श्रीमहाप्रसाद के अपराध से भी अपनी रक्षा करली। साधकों को उन्होंने बतलाया कि श्रीमहाप्रसाद का आदर करने के लिये एवं उसके प्रति अपराध से बचने का उपाय श्रीमहाप्रसाद की वन्दना-स्तुति करके उसका आदर करना है। यदि व्रत के दिन—एकादशी-जन्माष्टमी आदि उपवास के दिन महाप्रसाद भी आकर प्राप्त हो तो भी अपने भजनाङ्ग की रक्षा करते हुए महाप्रसाद को ग्रहण नहीं करना चाहिये, उसे ग्रहण कर उसकी वन्दना कर उसे रख लेना चाहिये एवं दूसरे दिन ही खाना चाहिये, व्रत के दिन कणिका मात्र भी नहीं खाना चाहिये। एक कणिका महाप्रसाद खा लेने पर भी व्रत-भङ्ग हो जाता है। यही भक्ति-शास्त्र की विधि है। श्रीहरिदास जी ने जो कणिका मात्र प्रसाद ग्रहण किया है, उनका वह व्रत का दिन या उपवास का दिन न था। उन्होंने संख्या-पूर्ति के होने से पहले ऐसा आचरण किया एवं साधकों को इस प्रकार की शिक्षा दी।

आर दिन महाप्रभु तांर ठाञि आइला। 'सुस्थ हओ हरिदास?' तांहारे पुछिला ॥२०॥
नमस्कार करि तेंहो कैल निवेदन।'शरीर सुस्थ हय मोर, असुस्थ बुद्धि-मन ॥२१॥
प्रभु कहे, कोन् व्याधि कह त निर्णय ?। तें हो कहे, संख्या-सङ्कीर्त्तन ना पूरय ॥२२॥
प्रभु कहे, वृद्ध हैला संख्या अल्प कर। सिद्ध देह तुमि साधने आग्रह केने धर ? ॥२३॥
लोक निस्तारिते एइ तोमार अवतार। नामेर महिमा लोके करिला प्रचार ॥२४॥
एबे अल्प संख्या करि कर सङ्कीर्त्तन। हरिदास कहे, शुन मोर सत्य निवेदन ॥२५॥

उसके दूसरे दिन श्रीमहाप्रभु जी श्रीहरिदास जी के स्थान पर आए और आकर पूछा—"हरिदास ! तुम स्वस्थ तो हो न ?" श्रीहरिदास जी ने प्रभु को नमस्कार किया एवं कहने लगे—"प्रभु ! मेरा शरीर तो स्वस्थ है, किन्तु मेरे मन और बुद्धि अस्वस्थ हैं ?" प्रभु ने पूछा—"रोग क्या है ? मन-बुद्धि की क्या अस्वस्थता है ?" उन्होंने उत्तर दिया—"मेरी नाम-सङ्कीर्त्तन संख्या पूरी नहीं हो पाती है—

यही सबसे बड़ा रोग है।" श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"हरिदास ! अब तुम वृद्ध हो गये हो, अब अपनी नाम संख्या को घटा दीजिये। तुम्हारा तो सिद्ध देह है, साधन में हठ क्यों करते हो ? तुम तो लोगों के निस्तार के लिये अवतीर्ण हुए थे, सो तुमने जगत् में श्रीभगवन्नाम की महिमा का यथेष्ठ प्रचार कर दिया है, इसलिये अब तुम्हें अल्प संख्या में नाम सङ्कीर्त्तन करना चाहिये।" प्रभु के ये वचन सुन कर श्री-हरिदासजी ने कहा—"प्रभु ! आप मेरा एक सत्य निवेदन सुनिये।" ॥२०-२५॥

हीन जातिते जन्म मोर, निन्द्य कलेवर। हीन कर्मे रत मुञि अधम पामर ॥२६॥
अस्पृश्य अदृश्य मोरे अङ्गीकार कैला। रौरव हैते काढ़ि मोरे वैकुण्ठे चड़ाइला ॥२७॥
स्वतन्त्र ईश्वर तुमि, हश्रो स्वेच्छामय। जगत् नाचाह यैछे यारे इच्छा हय ॥२८॥
अनेक नाचाइले मोरे प्रसाद करिया। विप्रेर श्राद्ध पात्र खाइलूं म्लेच्छ हइया ॥२९॥
एक वाञ्छा हय मोर बहु दिन हैते। 'लीला सम्वरिबे तुमि'-मोर हय चिते ॥३०॥

श्रीहरिदास जी ने कहा—"हे करुणामय ! मेरा हीन जाति में जन्म हुआ है, मेरा शरीर इसलिये निन्दनीय है। मैं अधम हूँ, पामर हूँ, इस लिये मेरी नीच कर्मों में लगन है। मैं तो अस्पृश्य था, मेरा तो मुँह देखना भी पाप था—प्रभु ! करुणा कर आपने मुझे अङ्गीकार कर लिया, रौरव नरक से मेरा उद्धार कर आपने मुझे तो वैकुण्ठ तक चढ़ा दिया है। आप स्वतन्त्र ईश्वर हो न ! आप स्वतन्त्र-इच्छामय हो। आप जैसा जिस को नाच नचाना चाहो, वैसा ही उसको नचाते हो। आपने मुझे भी अपनी कृपा से बहुत नचाया है, यहाँ तक कि मैंने म्लेच्छ होकर—यवन होकर भी ब्राह्मण का श्राद्ध पात्र खाया है (श्रीअद्वैताचार्य जी ने अपने पितृ-श्राद्ध का भोजन श्रीहरिदास जी को कराया था।) प्रभु ! एक वाञ्छा मेरे मन में बहुत दिनों से है, वह यह है, कि मैं जानता हूँ कि आप अपनी लीला को अब शीघ्र ही संवरण करने वाले हो—अर्थात् आप अब शीघ्र जगत् की दृष्टि से अप्रगट हो जाओगे—ऐसा मुझे जान पड़ता है" ॥२६-३०॥

सेइ लीला प्रभु मोरे कभु ना देखाइवा। आपनार आगे मोर शरीर पाड़िवा ॥३१॥
हृदये धरिमु तोमार कमल चरण। नयाने देखिमु तोमार चान्द वदन ॥३२॥
जिह्वाय उच्चारिमु तोमार कृष्णचैतन्य-नाम। एइ मत मोर इच्छा छाड़िमु परान ॥३३॥
मोर एइ इच्छा, यदि तोमार कृपा हय। एइ निवेदन मोर कर दयामय ॥३४॥
एइ नीचदेह मोर पड़े तोमार आगे। एइ वाञ्छासिद्धि मोर तोमातेइ लागे ॥३५॥

श्रीहरिदास जी ने कहा—"प्रभु ! वह आप अपनी लीला-सम्वरण रूप लीला (अर्थात् अपनी अप्राकट्य या तिरोभाव लीला) मुझे न दिखावें, इसलिये आपके आगे ही यह मेरा शरीर पात हो जाए। आपके कोमल चरण कमलों को हृदय में धारण करके, आप के चन्द्र बदन को अपने नेत्रों से देखते हुए और जिह्वा से आपका "श्रीकृष्णचैतन्य' नाम उच्चारण करते हुए मैं अपने प्राणों का त्याग करूँ—यह मेरी एकान्त इच्छा है। मेरी यह इच्छा तभी पूर्ण हो सकती है, जब आप की कृपा प्राप्त हो और आप करुणा करके मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार करें। मेरा यह नीच देह आपके सामने ही छूट जाए। बस प्रभो ! यह मेरी एक इच्छा-सिद्धि आप के ही हाथ है" ॥३१-३५॥

प्रभु कहे, हरिदास ! ये तुमि मागिवे । कृष्ण कृपामय ताहा अवश्य करिवे ॥३६॥
किन्तु आमार ये किछु सुख,सब तोमा लञा ।तोमार योग्य नहे,याओ आमारे छाड़िया॥३७॥
चरणे धरि कहे हरिदास, ना करिह माया । अवश्य मो-अधमे प्रभु ! करिवे एइ दया॥३८॥
मोर शिरोमणि येइ महा महाशय । तोमार लीलार सहाय कोटि कोटि हय ॥३९॥
आमाहेन एक कीट यदि मरि गेल । एक पिपीलिका मैले पृथ्वीर काहां हानि हैल ॥४०॥
भक्तवत्सल प्रभु ! तुमि, मुञि भक्ताभास । अवश्य पूरावे प्रभु ! मोर एइ आश ॥४१॥
मध्याह्न करिते प्रभु चलुन आपने । ईश्वर देखि आसि कालि दिवे दरशने ॥४२॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"हरिदास ! जो तुम्हारी इच्छा है, उसे श्रीकृष्ण कृपामय अवश्य पूरा करेंगे, किन्तु मेरे समस्त सुख को लेकर तुम मुझे यहाँ छोड़ कर जाना चाहते हो, यह बात तुम्हें उचित नहीं है।" श्रीहरिदास जी ने प्रभु के चरण पकड़ कर कहा—"प्रभु ! अब आप मेरे आगे अपनी माया को मत फैलाइये, प्रभु ! आप ऐसी दया मुझ पर अवश्य करना। मेरे शिरोमणि तुल्य अन्यान्य जो महान् महत्–पुरुष आपके परिकर स्वरूप हैं, उन से आप की लीला में कोटि-कोटि सहायता होती है। मुझ जैसा एक तुच्छ कीट यदि मर जाएगा, तो आपके लीला-सुख में क्या हानि आ जाएगी ? एक चींटी के मर जाने से पृथ्वी की क्या हानि हो जाती है ? हे प्रभु ! आप भक्तवत्सल हैं और मैं तो आपका भक्ता-भास हूँ, (वास्तव भक्त नहीं हूँ, आप की भक्ति का आभास मात्र ही मुझ में है।) हे प्रभु ! आप मेरी इस इच्छा को अवश्य पूर्ण करना। अब मध्याह्न का समय हो गया है, अतः अब आप अपने कृत्य के लिये अपने स्थान पर पधारें, कल श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करने के बाद मुझे आप दर्शन देने की अवश्य कृपा करना" ॥३६-४२॥

तबे महाप्रभु तांरे करि आलिङ्गन । मध्याह्न करिते समुद्रे करिला गमन ॥४३॥
प्रातःकाले ईश्वर देखि सब भक्त लञा । हरिदासे देखिते आइला विलम्ब तेजिया॥४४॥
हरिदासेर आगे आसि दिल दरशन । हरिदास वन्दिल प्रभु आर वैष्णवगण ॥४५॥
प्रभु कहे, हरिदास ! कह समाचार । हरिदास कहे, प्रभु ! ये कृपा तोमार ॥४६॥
अङ्गने आरम्भिल प्रभु महा सङ्कीर्त्तन । वक्रेश्वर पण्डित ताहां करेन नर्त्तन ॥४७॥
स्वरूप गोसाञि-आदि यत प्रभुरगण । हरिदासे बेढ़ि करे नाम सङ्कीर्त्तन ॥४८॥
रामानन्द सार्वभौम ए-सभार अग्रेते । हरिदासेर गुण प्रभु लागिला कहिते ॥४९॥

श्रीहरिदास जी के वचन सुन कर श्रीमहाप्रभु जी ने उनको आलिङ्गन किया और मध्याह्न करने के लिये समुद्र पर चले गये। दूसरे दिन श्रीमहाप्रभु जी ने प्रातःकाल सब भक्तों को साथ लेकर श्रीजगन्नाथजी के दर्शन किये और अति शीघ्र श्रीहरिदास जी को मिलने चले आए। प्रभु श्रीहरिदास जी के सामने आकर खड़े हुए, श्रीहरिदास जी ने प्रभु की एवं समस्त वैष्णवों की वन्दना की। श्रीमहाप्रभु जी ने पूछा— "हरिदास ! तुम्हारा क्या हाल है ?" उन्होंने कहा—"प्रभु आपकी सब कृपा है।" तदनन्तर आङ्गन में वहाँ श्रीमहाप्रभु जी ने महा सङ्कीर्तन आरम्भ कर दिया। श्रीवक्रेश्वर तब नृत्य करने लगे और श्रीस्वरूप गोस्वामी आदि जितने प्रभु-भक्त थे, श्रीहरिदास जी के चारों ओर नाम-

सङ्कीर्त्तन करने लगे। श्रीरामानन्द राय, श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य— इन सब के आगे प्रभु श्रीहरिदास जी के गुण वर्णन करने लगे ।।४३-४९।।

हरिदासेर गुण कहिते प्रभु हैला पञ्चमुख। कहिते कहिते प्रभुर बाढ़े महासुख ।।५०।।
हरिदासेर गुणे सभार विस्मित हैल मन। सब भक्त वन्दे हरिदासेर चरण ।।५१।।
हरिदास निजाग्रेते प्रभुरे वसाइल। निज नेत्र दुइ भृङ्ग मुखपद्मे दिल ।।५२।।
स्वहृदये आनि धरिल प्रभुर चरण। सब भक्तेर पदरेणु मस्तके भूषण ।।५३।।
'श्रीकृष्णचैतन्य'-शब्द बोले बार-बार। प्रभु-मुख-माधुरी पिये नेत्रे जलधार ।।५४।।
'श्रीकृष्णचैतन्य'—शब्द करिते उच्चारण। नामेर सहित प्राण कैल उत्क्रमण ।।५५।।

श्रीहरिदासजी के गुण-गान करते समय श्रीमहाप्रभु जी मानो पञ्चमुख हो गये अर्थात् एक मुख से वे इतनी जल्दी और इतने गुण वर्णन कर रहे थे मानो कोई पाँच मुखों से कह रहा हो। गुण वर्णन करते हुए प्रभु का आनन्द बढ़ता ही जा रहा था। श्रीहरिदास जी के गुण सुनकर श्रीरामानन्दादि सब वैष्णव भक्त विस्मित हो उठे और सब ने उनके चरणों में वन्दना की। श्रीहरिदास जी ने श्री-महाप्रभु जी को अपने सामने बैठा लिया और अपने नेत्र रूपी मधुकरों को प्रभु के मुख-कमल पर लगा दिया। प्रभु के चरणों को अपने हृदय में विराजमान कर लिया। उन्होंने फिर सब भक्तों की चरण रज लेकर अपने मस्तक पर भूषणवत् धारण की। श्रीहरिदास जी बार-बार—'श्रीकृष्णचैतन्य' नाम का उच्चारण कर रहे थे और श्रीमहाप्रभु जी के मुख-कमल की माधुरी का पान करते करते नेत्रों से प्रेमाश्रु की धारा प्रवाहित कर रहे थे। उसी समय उन्होंने 'श्रीकृष्णचैतन्य' नाम का उच्चारण करते हुए अपने प्राण विसर्जन कर दिये ।।५०-५५।।

महायोगेश्वर प्राय देखि स्वच्छन्दे मरण। भीष्मेर निर्याण सभार हइल स्मरण ।।५६।।
'हरि-कृष्ण'-शब्दे सभे करे कोलाहल। प्रेमानन्दे महाप्रभु हइल विह्वल ।।५७।।
हरिदासेर तनु (प्रभु) कोले लैल उठाइया। अङ्गने नाचेन प्रभु प्रेमाविष्ट हञा ।।५८।।
प्रभुर आवेशे आवेश सर्व भक्त गणे। प्रेमावेशे सभे नाचे करेन कीर्त्तने ।।५९।।
एइ मत नृत्य प्रभु कैल कथोक्षण। स्वरूप गोसाञि प्रभुके कराइल सावधान। ६०।।
हरिदास ठाकुरे तबे विमाने चढ़ाइया। समुद्रे लइया गेला तबे कीर्त्तन करिया ।।६१।।
अग्रे महाप्रभु चलिला नृत्य करिते करिते। पाछे नृत्य करे वक्रेश्वर भक्तगण साथे ।।६२।।

इस प्रकार महायोगेश्वर की भाँति श्रीहरिदासजी का स्वच्छन्द प्राण विसर्जन देख कर सब को श्रीभीष्मपितामह के निर्याण की स्मृति हो आई। सब 'हरि-कृष्ण' 'हरि-कृष्ण' कह कर कोलाहल करने लगे। श्रीमहाप्रभु जी प्रेमानन्द में विह्वल हो उठे। श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीहरिदास जी के शरीर को गोदी में उठा लिया और प्रेमाविष्ट होकर आङ्गन में नृत्य करने लगे। श्रीमहाप्रभु के आवेश को देख कर और भी सब भक्त प्रेमाविष्ट हो उठे एवं सब ही कीर्त्तन करते हुए नृत्य करने लगे। इस प्रकार कुछ समय तक प्रभु को नृत्य करने के बाद श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने सावधान किया फिर श्रीहरिदासजी को विमान पर चढ़ा कर सब वैष्णव कीर्त्तन करते हुए उन्हें समुद्र पर ले गये। आगे आगे श्रीमहाप्रभु जी नृत्य करते हुए चल रहे थे एवं पीछे श्रीवक्रेश्वर नृत्य करते हुए सब भक्तगणों के साथ चल रहे थे ।।६२।।

हरिदासे समुद्र जले स्नान कराइल । प्रभु कहे, समुद्र एइ महातीर्थ हैल ॥६३॥
हरिदासेर पादोदक पिये भक्तगण । हरिदासेर अङ्गे दिल प्रसाद चन्दन ॥६४॥
डोर कड़ार प्रसाद वस्त्र अङ्गे दिल । वालुकाय गर्त्त करि ताहां शोयाइल ॥६५॥
चारिदिगे भक्तगण करेन कीर्त्तन । वक्रेश्वर पण्डित करेन आनन्दे नर्त्तन ॥६६॥
'हरिबोल हरिबोल' बोले गौर राय । आपन श्रीहस्ते बालु दिल तार गाय ॥६७॥
तारे बालु दिया उपरे पिण्डा वान्धाइल । चौदिगे पिण्डार महा आवरण कैल ॥६८॥
तांहा बेढ़ि प्रभु करे कीर्त्तन नर्त्तन । हरिध्वनि-कोलाहले भरिल भुवन ॥६९॥
तबे महाप्रभु सब भक्तगण-सङ्गे । समुद्रे करिला स्नान जलकेलि रङ्गे ॥७०॥

समुद्र पर पहुँच कर सब ने श्रीहरिदास जी को समुद्र स्नान कराया, श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"आज से यह समुद्र महातीर्थ हो गया है।" श्रीहरिदास जी के चरण जल को लेकर सब भक्त-गणों ने पान किया और उनके शरीर पर सब ने प्रसादी चन्दन चढ़ाया। श्रीजगन्नाथ जी की प्रसादी पट डोरी, प्रसादी चन्दन, प्रसादी वस्त्र उनके अङ्गों पर चढ़ाया। फिर वहाँ बालू में गड्ढा करके उन्हें वहाँ सुला दिया। उनके चारों ओर भक्तगण कीर्त्तन करने लगे एवं श्रीवक्रेश्वर पण्डित आनन्दपूर्वक नृत्य करने लगे। श्रीमहाप्रभु जी 'हरिबोल-हरिबोल' कहने लगे और सर्व प्रथम उन्होंने अपने श्रीहस्त-कमल से श्रीहरिदासजी के देह पर रज डाली, फिर सब भक्तों ने उन पर रज डाल दी और उनकी समाधि के ऊपर वेदी का निर्माण करा दिया। उस समाधि के चारों ओर एक ऊँची दीवार खड़ी कर दी। उस समाधि के चारों ओर परिक्रमा करते हुए श्रीमहाप्रभु जी नृत्य-कीर्त्तन करने लगे। श्रीहरिध्वनि-कोलाहल से आकाश-पाताल गूँज उठा। तब श्रीमहाप्रभु जी ने जब भक्तगणों को साथ लेकर जलकेलि पूर्वक समुद्र स्नान किया ॥६३-७०॥

हरिदासे प्रदक्षिण करि आइला सिंह द्वारे । 'हरिकीर्त्तन कोलाहल' सकल नगरे ॥७१॥
सिंह द्वारे आसि प्रभु पसारिर ठाञि । आंचल पातिया प्रसाद मागिल तथाइ ॥७२॥
"हरिदास ठाकुरेर महोत्सव-तरे । 'प्रसाद मागिये' भिक्षा देह त आमारे" ॥७३॥
शुनिया पसारि सब चाङ्गड़ा उठाइया । प्रसाद दिल प्रभुके आनन्दित हैयां ॥७४॥
स्वरूप गोसाञि पसारिरे निषेधिल । चाङ्गड़ा लइया पसारि पसारे वसिल ॥७५॥
स्वरूप गोसाञि प्रभुके घरे पाठाइल । चारि वैष्णव चारि पिछोड़ा सङ्गे राखिल ॥७६॥
स्वरूप गोसाञि कहिलेन सब पसारिरे । एकेक द्रव्येर एकेक पुञ्जा आनि देह मोरे ॥७७॥

श्रीहरिदास जी की प्रदक्षिणा करने के बाद सब सिंह द्वार पर आ पहुँचे, उनके हरि सङ्कीर्त्तन का कोलाहल सारे नगर में छा गया। सिंह द्वार पर आकर श्रीमहाप्रभु जी ने अपना आँचल पसार दिया और प्रसाद बेचने वाले दुकानदारों से प्रसाद माँगने लगे। प्रभु ने कहा—"मैं आप से श्रीहरिदास ठाकुर के महोत्सव के लिये प्रसाद माँग रहा हूं, आप मुझे भिक्षा दीजिये।" श्रीमहाप्रभु जी के वचन सुन कर दुकानदार लोग प्रसाद की सब की सब डलिया या पात्र उठा-उठा कर आनन्द पूर्वक प्रभु को देने लगे। श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने उन को महाप्रभु जी के हाथ में डलिया देने से रोक दिया और स्वयं

लेकर उनकी दुकानों पर बैठ गये (श्रीमहाप्रभु स्वयं बोझा उठावें और श्रीस्वरूप गोस्वामी सब वैष्णव पास खड़े रह कर देखते रहें—यह बात भला श्रीस्वरूद गोस्वामी जी कैसे सहन कर सकते थे ?—इसलिये उन्होंने प्रभु को प्रसाद न लेने देकर अपने हाथों में ले लिया ।) श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने प्रभु को तो उनके स्थान पर भेज दिया और अपने साथ चार वैष्णवों को रख लिया और चार जने प्रसाद उठाने के लिये ले लिये । फिर श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने दुकानदारों से कहा—"भाई ! अब मुझे आप अपने पात्रों में से एक-एक द्रव्य थोड़ा-थोड़ा देते जाइये" ।।७१-७७।।

एइ मते नाना प्रसाद बोझा बान्धाइया । लञा आइल चारि जनेर मस्तके चढ़ाइया ।।७८।।
वाणीनाथ पट्टनायक प्रसाद आनिला । काशीमिश्र अनेक प्रसाद पाठाइला ।।७९।।
सब वैष्णवेरे प्रभु वसाइला सारि सारि । आपनि परिवेशे प्रभु लैया जन चारि ।।८०।।
महाप्रभुर श्रीहस्ते अल्प नाहि आइसे । एकेक पाते पञ्च जनार भक्ष्य परिवेशे ।।८१।।
स्वरूप कहे, प्रभु ! वसि कर दरशन । आमि इंहा सभा लञा करि परिवेशन ।।८२।।
स्वरूप जगदानन्द काशीश्वर शङ्कर । चारिजन परिवेशन करे निरन्तर ।।८३।।
प्रभु ना खाइले केह ना करे भोजन । प्रभुके से दिन काशीमिश्रेर निमन्त्रण ।।८४।।

इस प्रकार बहुत मात्रा में प्रसाद लेकर श्रीस्वरूप जी ने बोझा बन्धवा लिया और चार जनों के सिर पर उठवा कर प्रभु के स्थान पर ले आए । श्रीवाणीनाथ पट्टनायक भी बहुत सा प्रसाद ले आए और इधर श्रीकाशी मिश्र जी ने भी श्रीजगन्नाथ जी का बहुत प्रसाद भिजवा दिया । फिर श्रीमहाप्रभु जी ने सब वैष्णवों को पंक्तिवार वैठाया, और चार व्यक्तियों को साथ लेकर आप ही सब को परिवेशन करने लगे । श्रीमहाप्रभु जी के श्रीहस्त में थोड़ी मात्रा में प्रसाद नहीं आता था, वे एक-एक पत्ता पर पाँच जनों का भोजन परिवेशन कर देते । श्रीस्वरूप जी ने कहा—"प्रभु ! आप तो बैठ जाइये, आप सब को देखते रहिये, मैं इन चारों जनों को साथ लेकर सब को परिवेशन किये देता हूँ ।" श्रीस्वरूप, श्रीजगदानन्द, श्रीकाशीश्वर एवं श्रीशङ्कर—ये चारों जने निरन्तर परिवेशन करने लगे । श्रीमहाप्रभु जी जब तक भोजन न करें, तब तक और कोई भी भोजन करने को तैयार न हुआ । दैवयोग से उस दिन श्रीमहाप्रभु जी का निमन्त्रण श्रीकाशी मिश्र के घर था ।।७८-८४।।

आपने काशी मिश्र आइला प्रसाद लइया । प्रभुके भिक्षा कराइल आग्रह करिया ।।८५।।
पुरी-भारतीर सङ्गे प्रभु भिक्षा कैल । सकल वैष्णव तबे भोजन करिल ।।८६।।
आकण्ठ पूरिया सभाय कराइल भोजन । 'देह देह' बलि प्रभु बोलेन वचन ।।८७।।
भोजन करिया सभे कैल आचमन । सभारे पराइल प्रभु माल्य-चन्दन ।।८८।।
प्रेमाविष्ट हञा प्रभु करे वरदान । शुनि भक्त गणेर जुड़ाय मन-काण ।।८९।।

उसी समय श्रीकाशी मिश्र स्वयं प्रसाद लेकर आए एवं आग्रह करके प्रभु को वहाँ भोजन कराया । श्रीपरमानन्द पुरी एवं श्रीब्रह्मानन्द भारती को साथ लेकर श्रीमहाप्रभु जी ने तब भोजन किया । फिर सब वैष्णवों ने भी भोजन किया । जब सब वैष्णव भोजन कर रहे थे, तब श्रीमहाप्रभु जी परिवेशन करने वालों को बार-बार कह रहे थे—"दो, दो, इसे और प्रसाद दो" इस प्रकार प्रभु ने सब

को पेट भरा कर भोजन कराया। भोजन कर चुकने के बाद सब ने आचमन किया और प्रभु ने सब वैष्णवों को अपने हाथ से माला-चन्दन धारण कराए। श्रीमहाप्रभु प्रेमाविष्ट हो उठे और वरदान देने लगे, जिसे सुन कर सब भक्तों के मन एवं श्रवण शीतल हो गये ॥८५-८६॥

"हरिदासेर विजयोत्सव ये कैल दर्शन। येइ ताहां नृत्य कैल, ये कैल कीर्त्तन ॥९०॥

ये तारे बालुका दिते करिल गमन। ताँर महोत्सवे येइ करिल भोजन ॥९१॥

अचिरे हइबे ता सभार कृष्ण-प्राप्ति। हरिदास-दरशने ऐछे हय शक्ति" ॥९२॥

कृपा करि कृष्ण मोरे दियाछिल सङ्ग। स्वतन्त्र कृष्णेर इच्छा कैल सङ्ग भङ्ग ॥९३॥

हरिदासेर इच्छा यबे हैल चलिते। आमार शकति तारे नारिल राखिते ॥९४॥

इच्छामात्रे कैल निज प्राण निष्क्रामण। पूर्वे येन शुनियाछि भीष्मेर मरण ॥९५॥

हरिदास आछिला पृथिवीर शिरोमणि। तांहा बिनु रत्नशून्य हइला मेदिनी ॥९६॥

"जय हरिदास" बलि कर जय ध्वनि। एतबलि महाप्रभु नाचेन आपनि ॥९७॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"श्रीहरिदास जी के इस विजयोत्सव के जिन पुरुषों ने दर्शन किये हैं; जिन्होंने इस उत्सव में नृत्य किया है एवं जिन्होंने गान किया है; जिन्होंने श्रीहरिदास जी को रज अर्पण करने के लिये समुद्र पर गमन किया है, उनके इस महोत्सव में जिन्होंने भी प्रसाद पाया है—उन सब को अति शीघ्र ही श्रीकृष्ण-चरणों की सेवा प्राप्त होगी—श्रीहरिदास जी के दर्शनों में ही यह शक्ति थी"। ऐसे वरदान का उच्चारण करते हुए फिर प्रभु ने कहा—"श्रीकृष्ण ने कृपा करके मुझे श्रीहरिदास जी का सङ्ग प्राप्त कराया था, वे स्वतन्त्र ईश्वर हैं, उन्होंने अपनी इच्छा से मेरा उन से वियोग करा दिया है। श्रीहरिदास जी की जब भगवत् धाम को जाने की इच्छा हुई मेरी यह शक्ति न थी कि मैं उन्हें रोक सकता या रख सकता। उन्होंने अपनी इच्छा-मात्र से अपने प्राणों को विसर्जन किया, जैसे सुना करते थे कि श्रीभीष्मपितामह ने अपनी इच्छा से देह त्याग किया था। श्रीहरिदास जी पृथ्वीतल पर सर्व शिरोमणि थे, अब उनके बिना यह पृथ्वी रत्न शून्य हो गई है।" अब आप सब मिल कर "श्रीहरिदास जी की जय"—ऐसी उच्चध्वनि करिये।" इतना कह कर श्रीमहाप्रभु "जय हरिदास" कहते-कहते नृत्य करने लगे ॥९०-९७॥

सभे गाय, जय जय जय हरिदास। नामेर महिमा येइ करिल प्रकाश ॥९८॥

तबे महाप्रभु सब भक्ते विदाय दिल। हर्ष-विषादे प्रभु विश्राम करिल ॥९९॥

एइ त कहिल हरिदासेर विजय। याहार श्रवणे कृष्णे प्रेम भक्ति हय ॥१००॥

चैतन्येर भक्तवात्सल्य इहातेइ जानि। भक्तवाञ्छा पूर्ण कैल न्यासि शिरोमणि ॥१०१॥

शेष काले दिल तांरे दर्शन-स्पर्शन। तारे कोले करि कैल आपने नर्त्तन ॥१०२॥

आपने श्रीहस्ते तारे कृपाय वालु दिल। आपने प्रसाद मागि महोत्सव कैल ॥१०३॥

महाभागवत हरिदास परम विद्वान्। ए-सौभाग्य-लागि आगे करिल पयाण ॥१०४॥

श्रीमहाप्रभु जी के वचन सुन कर सब वैष्णव "जय जय जय श्रीहरिदास"—कह कर उच्च ध्वनि करने लगे और कहने लगे—"यह वह श्रीहरिदास हैं जिन्होंने भगवन्नाम की अपूर्व महिमा जगत्

में प्रकाशित की है।" तब श्रीमहाप्रभु जी ने सब भक्तों को विदा किया और स्वयं भी प्रभु ने हर्ष एवं विषाद के साथ विश्राम किया। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी पाद कहते हैं कि मैंने इस प्रकार यह श्रीहरिदास जो के विजयोत्सव का वर्णन किया है, इस लीला के सुनने से श्रीकृष्ण में प्रेमाभक्ति की प्राप्ति होती है। श्रीचैतन्यकृष्ण के भक्तवात्सल्य की अपूर्व महिमा का ज्ञान इस लीला से होता है, संन्यासी शिरोमणि श्रीगौराङ्ग ने अपने भक्त की वाञ्छा को पूर्ण किया है। (जो संन्यासी शिरोमणि है, उसे क्या आवश्यकता कि वह किसी के देहान्त के समय उसके पास रहे, किसी मृत देह का स्पर्श करे, अथवा किसी की समाधि बनाए, या उसके महोत्सव के लिये किसी से भीख मांगे—किन्तु भक्तवत्सल परम करुणामय) प्रभु ने अन्तकाल के समय पर जाकर श्रीहरिदास जी को दर्शन दिये एवं उनका केवल स्पर्श ही नहीं किया, उनके मृत-देह को अपनी गोदी में उठा कर उन्होंने नृत्य किया। श्रीकरुणावतार श्रीगौराङ्ग प्रभु ने अपनी अपार कृपा पूर्वक श्रीहरिदास जी पर रज चढ़ाई और उन्होंने दुकानदारों से प्रसाद की भिक्षा स्वयं मांग कर उनका महोत्सव किया। (है ऐसी भक्तवत्सलता किसी अन्य अवतार में ? है ऐसी अद्भुत करुणा किसी अन्य भगवत् स्वरूप में ?—वास्तव में ऐसी भक्तवात्सलता एवं करुणा अन्य किसी भी भगवत्-स्वरूप में नहीं है।) श्रीहरिदास जो महाभागवत थे, वे परम विद्वान् थे, (उन्होंने करुणामय श्रीमहाप्रभु के दर्शन-स्पर्श, प्रभु की गोद को प्राप्त करने एवं उनके द्वारा रज प्राप्त करने आदि—) सौभाग्य को प्राप्त करने के लिये ही श्रीमहाप्रभु जी के साक्षात् में अपना अन्तर्धान किया था" ॥९८-१०४॥

चैतन्य-चरित्र एइ अमृतेर सिन्धु। कर्ण-मन तृप्त करे यार एक बिन्दु ॥१०५॥
भव सिन्धु तरिवारे आछे यार चित्त। श्रद्धा करि शुन तबे चैतन्य चरित ॥१०६॥
श्रीरूप-रघुनाथ पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥१०७॥

श्रीकविराज गोस्वामी कहते हैं—"श्रीचैतन्य चरित्र तो अमृत का समुद्र हैं, इसका एक विन्दु भी कर्ण एवं हृदय को तृप्त कर देने वाला है। जिस व्यक्ति की भव सिन्धु से उद्धार पाने की इच्छा हो, वह श्रद्धा पूर्वक श्रीचैतन्य चरित्रों को सुने।" श्रीरूप गोस्वामी एवं श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥१०७॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां
श्रीहरिदास निर्याण वर्णनं नाम
एकादश परिच्छेदः ॥११॥

जयगौर

अन्त्य-लीला

द्वादश परिच्छेद

*

श्रुयतां श्रुयतां नित्यं गीयतां गीयतां मुदा ।
चिन्त्यतां चिन्त्यतां भक्ताश्चैतन्यचरितामृतम् ॥१॥

हे भक्त गण ! आनन्द पूर्वक आप सदा ही श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का श्रवण कीजिये, श्रवण कीजिये, उसका गान कीजिये, गान कीजिये एवं उसका चिन्तन कीजिये, चिन्तन कीजिये ॥१॥

(इस द्वादश परिच्छेद में गौड़ीय भक्तों का स्त्रियों के सहित नीलाचल गमन, श्रीजगदानन्द का तैल भाण्ड भञ्जन, श्रीजगदानन्द का प्रेमाभिमान एवं प्रभु द्वारा उस अभिमान का खण्डन–आदि प्रसङ्ग वर्णन किये गये हैं ।)

जय जय श्रीचैतन्य जय कृपामय । जय जय नित्यानन्द कृपासिन्धु जय ॥१॥
जयाद्वैतचन्द्र जय कृपार सागर । जय गौर भक्तगण कृपा पूर्णान्तर ॥२॥
अतःपर महाप्रभुर विषण्ण अन्तर । कृष्णेर वियोगदशा स्फुरे निरन्तर ॥३॥
हा हा कृष्ण प्राणनाथ ब्रजेन्द्रनन्दन । काहां याङ् काहां पाङ् मुरलीवदन ॥४॥
रात्रि दिने एइ दशा स्वास्थ्य नाहि मने । कष्टे रात्रि गोङाय स्वरूप-रामानन्द सने ॥५॥

श्रीचैतन्यदेव की जय हो, जय हो, कृपामय श्रीगौराङ्गदेव की जय हो । श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु कृपासिन्धु की जय हो, जय हो । श्रीअद्वैतचन्द्र प्रभु कृपा के सागर ! आप की जय हो, कृपा पूर्ण-हृदय गौर भक्त वृन्द की जय हो, जय हो । तदनन्तर श्रीमहाप्रभु जी अत्यन्त दुखित हृदय होकर रहने लगे एवं निरन्तर उन्हें श्रीकृष्ण की वियोग दशा की स्फूर्त्ति होती रहती—'हा कृष्ण, हा कृष्ण ! हे प्राणनाथ ब्रजेन्द्रनन्दन ! मैं कहाँ जाऊँ, मैं आपको कहाँ पाऊँ, हे मुरलिवदन ! आप कहाँ हो'— बस यह धुन उन्हें लगी रहती । रात दिन उनकी यही दशा होती, उन्हें अपने स्वास्थ्य की भी कोई चिन्ता न रहती । रात्रि काल तो विशेष कृष्ण विरह-वेदना में श्रीस्वरूप गोस्वामी एवं श्रीरामानन्द राय के साथ उनका बीतता था ॥१-५॥

एथा गौड़ देशे प्रभुर यत भक्त गण । प्रभु देखिवारे सभे करिला गमन ॥६॥
शिवानन्द सेन आर आचार्य गोसाञि । नवद्वीप सब भक्त हैला एक ठाञि ॥७॥
कुलीनग्राम वासी आर यत खण्डवासी । एकत्र मिलिला सभे नवद्वीपे आसि ॥८॥
नित्यानन्द प्रभुरे यदि प्रभुर आज्ञा नाइ । तथापि देखिते चलिला चैतन्य गोसाञि ॥९॥
श्रीनिवास चारि भाइ सङ्गेते मालिनी । आचार्य्य रत्नेर सङ्गे तांहार गृहिणी ॥१०॥
शिवानन्द पत्नी चले तिन पुत्र लञा । राघव पण्डित चले झालि साजाइया ॥११॥
दत्त गुप्त विद्यानिधि आर यत जन । दुइ तिन शत भक्त, के करे गणन ? ॥१२॥

इधर एक वर्ष बीत चुका था, गौड़ीय भक्तों ने फिर श्रीमहाप्रभु जी के दर्शनों के लिये नीलाचल चलने की तैयारी की । श्रीशिवानन्द सेन एवं श्रीअद्वैताचार्य जी और भी जितने नवद्वीप में भक्त थे, सब एक स्थान पर इकट्ठे हुए । कुलीन ग्राम वासी एवं श्रीखण्डवासी भी सब इकट्ठे होकर नवद्वीप में आकर मिले । श्रीनित्यानन्द प्रभु जी के लिये यद्यपि बार-बार नीलाचल आने के लिये श्रीमहाप्रभु जी ने निषेध कर रखा था, तथापि वे भी श्रीचैतन्य गोस्वामी जी के दर्शन के लिये चल दिये (चैतन्य प्रेम मूर्त्ति श्री-नित्यानन्द प्रभु क्या अपने प्राण-जीवन श्रीगौराङ्ग सुन्दर के देखे बिना रह सकते थे ?) श्रीनिवास जी अपने चारों भाइयों के साथ अपनी स्त्री मालिनी देवी को भी सङ्ग लेकर चले । श्रीआचार्य रत्न के साथ भी उनकी पत्नी थी । श्रीशिवानन्द जी भी अपनी पत्नी एवं अपने तीन पुत्रों को साथ लेकर चलने लगे । श्रीराघव पण्डितजी झालि सजाकर साथ चल रहे थे । श्रीवासुदेव दत्त तथा श्रीमुरारि गुप्त एवं श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि आदि आदि जो दो तीन सौ भक्त थे, जिनकी गिनती नहीं हो सकती, वे सब नीलाचल चलने लगे ॥६-१२॥

शचीमाता देखि सभे तांर आज्ञा लञा । आनन्दे चलिला कृष्ण-कीर्त्तन करिया ॥१३॥
शिवानन्द सेन करे घाटि-समाधान । सभाके पालन करि सुखे लञा यान ॥१४॥
सभार सब कार्य करेन, देन वासास्थान । शिवानन्द जाने उड़िया-पथेर सन्धान ॥१५॥
एक दिन सब लोक घाटियाले राखिला । सभा छाड़ाइया शिवानन्द एकला रहिला ॥१६॥
सभे गिया रहिला ग्रामेर भितर वृक्षतले । शिवानन्द विने वासस्थान नाहि मिले ॥१७॥
नित्यानन्द प्रभु भोखे व्याकुल हइया । शिवानन्दे गालि पाड़े वासा ना पाइया ॥१८॥
तिन पुत्र मरुक शिवार,एभो ना आइल । भोखे मरि गेलों,मोरे वासा ना देओयाइल॥१९॥

सब गौड़ीय भक्तों ने श्रीशचीमाता के दर्शन किये एवं उनकी आज्ञा लेकर सब श्रीकृष्ण-कीर्त्तन करते हुए नीलाचल की ओर चल दिये । श्रीशिवानन्द सेन रास्ते में चौकियों पर राज कर को चुकाते हुए चल रहे थे, सब भक्तों की देख भाल करते हुए वे सब को सुख पूर्वक ले जा रहे थे । सब भक्तों का वे सब प्रकार का काम करते एवं रास्ते में उनके निवास स्थान की भी व्यवस्था करते जाते थे, कारण कि श्रीशिवानन्द जी उड़िया देश के रास्तों को भली प्रकार जानते थे । एक दिन चौकी के कर्म-चारी ने सब भक्तों को कर चुकाने के लिये रोक दिया, श्रीशिवानन्द जी ने सब को छुड़ा लिया और आप सब का कर चुकाने के लिये वहाँ अकेले रुक गए । सब भक्त आगे चल कर एक गाँव में आए एवं एक वृक्ष

के नीचे पड़े रहे, श्रीशिवानन्द जी साथ न थे, इसलिये उनको कोई भी वास स्थान न मिला। श्रीनित्यानन्द प्रभु (सङ्गीय भक्तों को भूखा प्यासा देख कर, बहाना करते हुए स्वयं) भूख से व्याकुल हो उठे एवं किसी को कोई रहने का स्थान भी न मिला था, इसलिये (प्रणय रोष में) श्रीशिवानन्द जी को गालियाँ देने लगे। श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"इस शिवा के तीनों पुत्र मर जाएँ, अभी भी नहीं आया है, मैं तो भूख से मरा जा रहा हूँ, न ही कोई रहने का स्थान ही हमें दिलवाया है" ॥१३-१६॥

शुनि शिवानन्देर पत्नी कान्दिते लागिला। हेन काले शिवानन्द घाटि हैते आइला ॥२०॥
शिवानन्देर पत्नी तांरे कहेन कान्दिया। पुत्रे शाप दिछे गोसाञि वासा ना पाइया ॥२१॥
तेंहो कहे, वाउलि ! केने मरिस् कान्दिया। मरुक् मोर तिन पुत्र तांर बालाइ लञा॥२२॥
एत बलि प्रभु पाशे गेला शिवानन्द। उठि तारे लाथि माइल प्रभु नित्यानन्द ॥२३॥
आनन्दित हैल शिवाइ पद प्रहार पाञा। शीघ्र वासाघर कैल गौड़घर गिया ॥२४॥

श्रीनित्यानन्द प्रभु के वचन सुन कर श्रीशिवानन्द जी की पत्नी तो रोने लगी। उसी समय श्रीशिवानन्द जी भी कर चुका कर आ पहुँचे। उनकी पत्नी रोते हुए उनसे कहने लगी—"वास स्थान न मिलने के कारण नित्यानन्द गोस्वामी ने हमारे पुत्रों को शाप दे दिया है।" श्रीशिवानन्द जी ने कहा—"बावरि ! तू रोते-रोते मरी क्यों जा रही है ? (तू क्या समझे उनकी गाली के मर्म को ?) प्रभु नित्यानन्द के दुख-कष्ट पर मेरे तीनों पुत्र मर जाएँ, कोई चिन्ता नहीं।" इतना कह कर श्रीशिवानन्द भी प्रभु के पास आए, प्रभु नित्यानन्द जी ने उठ कर शिवानन्द जी को एक लात दे मारी। श्रीशिवानन्द जी प्रभु के चरण प्रहार को पाकर बड़े आनन्दित हुए। फिर वे वहाँ से जाकर एक गौड़ व्यक्ति के घर में सब के निवास करने का प्रबन्ध करके शीघ्र आ गये ॥२०-२४॥

चरणे धरि प्रभु के वासाय लञा गेला। वासा दिया हृष्ट हञा कहिते लागिला ॥२५॥
आजि मोरे 'भृत्य' करि अङ्गीकार कैला। येन अपराध भृत्येर, तेन फल दिया॥२६॥
शास्ति-च्छले कृपा कर, ए तोमार करुणा। त्रिजगते तोमार चरित्र बुझे कोन् जना ? ॥२७॥
ब्रह्मार दुर्लभ तोमार श्रीचरणरेणु। हेन चरण स्पर्श पाइल मोर अधम तनु ॥२८॥
आजि मोर सफल हैल जन्म-कुल-कर्म। आजि पाइलुं कृष्णभक्ति-अर्थ-काम-धर्म ॥२९॥

श्रीशिवानन्दजी शीघ्र प्रभु नित्यानन्दजी के पास आए और उनके चरणों में वन्दना कर उन्हें उस निवास स्थान पर ले गये। जब प्रभुपाद वहाँ बैठ गये, तब श्रीशिवानन्द सेन अति आनन्दित होकर कहने लगे—"प्रभु ! आज आपने मुझे अपना सेवक मान कर ग्रहण किया है, जैसे अपराधी सेवक को स्वामी दण्ड देता है, वैसे आपने भी मुझे दण्ड दिया है। दण्ड देकर आप कृपा करते हैं—यही बस आपकी अद्भुत करुणा है। आपके चरित्र को त्रिभुवन में कोई भी नहीं जान सकता है। आपके श्रीचरणों की रज तो श्रीब्रह्माजी को भी दुर्लभ है' उस पावन रज को आज मेरे इस अधम तन ने प्राप्त कर लिया है, आज आपके श्रीचरण का स्पर्श पाकर मैं कृतार्थ हो गया हूँ, आज मेरा जन्म, मेरा कुल एवं आज मेरे सब कर्म सफल हो गये हैं। आज मैंने कृष्ण-भक्ति के साथ साथ धर्म-अर्थ-काम सब पुरुषार्थों को प्राप्त कर लिया है" ॥२५-२९॥

शुनि नित्यानन्द प्रभु आनन्दित-मन। उठि शिवानन्दे कैल प्रेम-आलिङ्गन ।।३०।।
आनन्दित शिवानन्द करे समाधान। आचार्यादि वैष्णवेर दिल वासा स्थान ।।३१।।
नित्यानन्द प्रभुर चरित्र सब विपरीत। क्रुद्ध हञा लाथि मारे, करे तार हित ।।३२।।
शिवानन्देर भागिना, श्रीकान्त सेन नाम। मामार अगोचरे कहे करि अभिमान ।।३३।।
चैतन्य पारिषद, मोर मातुलेर ख्याति। ठाकुराली करेन गोसाञि, तारे मारे लाथि ।।३४।।
एत बलि श्रीकान्त बालक आगे चलि यान। सङ्ग छाड़ि आगे गेला महाप्रभुर स्थान ।।३५।।

श्रीशिवानन्दजी के वचन सुन कर श्रीनित्यानन्द प्रभु आनन्दित हो उठे और श्रीशिवानन्दजी को प्रेम पूर्वक आलिङ्गन कर लिया। श्रीशिवानन्दजी आनन्दित होकर फिर सब भक्तों का समाधान करने लगे और आचार्यादि सब वैष्णवों को वास स्थान दिया। परम दयालु-मूर्ति श्रीनित्यानन्द प्रभु के सब चरित्र विपरीत प्रतीत होते हैं। क्रुद्ध होकर मारते तो लात हैं, किन्तु करते हैं उसका हित। श्रीशिवानन्दजी का एक भांजा भी साथ था, जिसका नाम श्रीकान्त सेन था। श्रीनित्यानन्द प्रभु की लीला का रहस्य कुछ न जान कर वह अपने मामा--श्रीशिवानन्दजी से छिप कर अभिमान पूर्वक कहने लगे-- "देखो जी, मेरे मामा श्रीचैतन्य प्रभु के पार्षद हैं—यह बात सब कोई जानता है। यह नित्यानन्द-गोसाईं उन्हें लात मारते हैं और अपना ठाकुरपना जमाते हैं—मुझ से यह बात सहन नहीं होती है"—इतना कहकर वह बालक-श्रीकान्त नीलाचल की ओर अकेला चल दिया—उन सब का सङ्ग छोड़ दिया और श्रीमहाप्रभुजी के स्थान पर आ पहुँचा ।।३०--३५।।

पेटाङ्गि गाय करे दण्डवत् नमस्कार। गोविन्द कहे, श्रीकान्त! आगे पेटाङ्गि उतार ।।३६।।
प्रभु कहे, श्रीकान्त आसियाछे पाञा मनो दुःख। किछु ना बलिह, करुक याते उहार सुख।३७।
'वैष्णवेर समाचार' गोसाञि पुछिल। एके एके सभार नाम श्रीकान्त जानाइल ।।३८।।
'दुःख पाञा आसियाछे' एइ प्रभुर वाक्य शुनि। 'जानिल, सर्वज्ञ प्रभु'—एत अनुमानि ।।३९।।
'शिवानन्दे लाथि माइला' इहा ना कहिला। एथा सब वैष्णवगण आसिया मिलिला।।४०।।

श्रीमहाप्रभुजी को देखते ही श्रीकान्त जामा (कुर्त्ता) आदि पहरे पहरे श्रीमहाप्रभु जी को दण्डवत् प्रणाम करने लगा। श्रीगोविन्द ने कहा—"श्रीकान्त! जामा-कुर्त्तादि वस्त्र तो पहले उतार दो, फिर दण्डवत् प्रणाम करो।" श्रीमहाप्रभुजी ने कहा —"गोविन्द! श्रीकान्त दुखी मन से यहाँ आरहा है, इसे कुछ मत कहो, जैसे इसे सुख मिले, इसको वैसे करने दो।" श्रीमहाप्रभुजी ने फिर श्रीकान्त से सब वैष्णवों का कुशल समाचार पूछा। श्रीकान्त ने भी एक एक वैष्णव का नाम लेकर सब का कुशल समाचार सुनाया। "दुखी मन होकर श्रीकान्त आया है"—यह बात श्रीमहाप्रभुजी के मुख से सुनकर श्रीकान्त जान गया कि प्रभु सर्वज्ञ हैं। इसलिए इन्होंने "श्रीनित्यानन्द गोस्वामी ने जो श्रीशिवानन्द को लाठी मारी है"—यह बात भी जान ली होगी— यह अनुमान लगा कर श्रीकान्त ने इसलिये यह बात श्रीमहाप्रभुजी को न सुनाई। इतने में सब वैष्णव गण भी श्रीमहाप्रभुजी के स्थान पर आ पहुँचे ।।३६-४०

चै० च० चु० *टीका:*—ऊपर कहा गया है कि श्रीकान्त वस्त्र धारण करके जब श्रीमहाप्रभुजी को दण्डवत् प्रणाम करने लगा, तो श्रीमहाप्रभुजी के सेवक—श्रीगोविन्द ने उससे कहा कि "जामा

वस्त्र पहले उतार दो फिर दण्डवत् प्रणाम करो"—शास्त्र में श्रीभगवान् को अनेक प्रकार से प्रणाम करने की विधियों का उल्लेख है। जहाँ साष्टांग प्रणाम अर्थात् दण्डवत्, पृथ्वी पर पड़कर श्रीभगवान् को प्रणाम करने की विधि का उल्लेख है, वहाँ तन्त्र शास्त्र में कहा गया है कि—

वस्त्रेणावृतदेहस्तु यो नरः प्रणमेद्धरिम्।
शित्री भवति मूढ़ात्मा सप्त जन्मनि भाविनी ।।व॥

अर्थात् "जो व्यक्ति वस्त्र (जामा-कुर्त्ता-कमीज़, कोट-स्वीटर-वनियान) आदि पहने हुए श्रीहरि को (दण्डवत् या साष्टाङ्ग) प्रणाम करता है, उस मूर्ख आत्मा को सात जन्म तक श्वेत कुष्ठ भोगना पड़ता है।" इससे प्रमाणित होता है कि वस्त्र पहर कर श्रीभगवान् को दण्डवत् प्रणाम करना सेवापराध है। इसलिए श्रीगोविन्द ने श्रीकान्त को वस्त्र पहर कर प्रभु को दंडवत् प्रणाम करने से निषेध किया। वस्त्र पहर कर पञ्चांग प्रणाम करने की आज्ञा शास्त्र में दी गई है। साधक इस ओर ध्यान दें।

पूर्ववत् प्रभु कैल सभार मिलन। स्त्री सब दूरे हैते कैल प्रभु-दरशन ॥४१॥
वासाघर पूर्ववत् सभारे देखाइल। महाप्रसाद भोजने सभारे बोलाइल ॥४२॥
शिवानन्द तिन पुत्र गोसाञिके मिलाइल। शिवानन्द सम्बन्धे सभाय बहु कृपा कैल॥४३॥
छोट पुत्र देखि प्रभु नाम पुछिल। 'परमानन्ददास' नाम सेन जानाइल ॥४४॥

श्रीमहाप्रभुजी सब वैष्णवों से पहले की भांति मिले एवं सब स्त्रियों ने दूर से ही श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन किये। प्रभु ने सब को रहने के लिये निवास स्थान दिखाये और महाप्रसाद भोजन करने के लिये सब वैष्णवों को बुलाया। श्रीशिवानन्द जी ने अपने तीनों पुत्रों को लाकर प्रभ के दर्शन कराये। श्रीशिवानन्द के सम्बन्ध से प्रभु ने उन सब पर बहुत कृपा की। सब से छोटे लड़के को देखकर श्रीमहाप्रभु जी ने उसका नाम पूछा, श्रीसेन ने बताया कि इस का नाम 'परमानन्ददास' है ॥४१-४४॥

पूर्वे यबे शिवानन्द प्रभु स्थाने आइला। तबे महाप्रभु तांरे कहिते लागिला ॥४५॥
एबार तोमार येइ हइबे कुमार। 'पुरीदास' बलि नाम धरिह ताहार ॥४६॥
तबे मायेर गर्भे हय सेइ त कुमार। शिवानन्द घरे गेले जन्म हैल तार ॥४७॥
प्रभुर आज्ञाय धरिल नाम 'परमानन्ददास'। 'पुरीदास' करि प्रभु करे उपहास ॥४८॥
शिवानन्द सेइ बालक यबे मिलाइल। महाप्रभु पदाङ्गुष्ठ तार मुखे दिल ॥४९॥
शिवानन्देर भाग्य सिन्धुर के पाइबे पार। यार सब गोष्ठी के प्रभु कहे 'आपनार' ॥५०॥

पहले किसी एक वर्ष जब श्रीशिवानन्दजी प्रभु दर्शन करने नीलाचल में आए थे, तब श्रीमहाप्रभुजी ने इनसे कहा था कि "शिवानन्द!" अब के जो तुम्हें लड़का पैदा हो, उसका नाम तुम (परमानन्द) रखना। तब यही बालक मां के गर्भ में आया था और जब श्रीशिवानन्द सेन अपने देश को लौट कर गये, तब इसका जन्म हुआ था। श्रीशिवानन्दजी ने प्रभु की आज्ञानुसार इसका नाम 'परमानन्ददास' (परमानन्ददास पुरी) रख दिया था। अब इस लड़के का नाम सुन कर श्रीमहाप्रभुजी ने इसे 'पुरीदास' नाम से पुकार कर उपहास किया। श्रीशिवानन्द जी ने जब इसे श्रीमहाप्रभुजी के चरणों

में डाला, तो श्रीमहाप्रभुजी ने अपने श्री चरण का अङ्गूठा इसके मुँह में दे दिया। श्रीकविराज कहते हैं—"श्रीशिवानन्दजी के भाग्यसागर का कौन पार पा सकता है? इनके असीम सौभाग्य हैं, क्योंकि इनके सब परिवार को श्रीमहाप्रभुजी "अपना" परिवार कहकर मानते थे ॥४५-५०॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमन्महाप्रभुजी ने लगभग आठ वर्ष पहले यही बात श्रीशिवानन्दजी से कही थी कि अब जो लड़का तुम्हें पैदा हो, उसका नाम 'परमानन्ददास' रखना। वास्तव में उस समय श्रीशिवानन्द की गृहिणी गर्भवती भी न थी। प्रभु ने अपनी सर्वज्ञता से यह बता दिया कि "शिवानन्द! तुम्हारे घर एक लड़का पैदा होगा, तुम उसका नाम पुरीदास रखना।" प्रभु यह भी जानते थे कि यह गर्भ यहाँ पुरी में (श्रीजगन्नाथपुरी में) सञ्चार होगा। अतः उन्होंने उस लड़के का नाम 'पुरीदास' रखने की आज्ञा की। प्रभु ने उपहास करते हुए उसका नाम 'पुरीदास' कहा था। पूरा नाम उसका प्रभु ने 'परमानन्ददास' ही बताया था।

अब वही लड़का जब सात वर्ष का होगया था, श्रीशिवानन्दजी श्रीमहाप्रभु के पास नीलाचल लाए हैं। यही श्रीपुरीदास ही कवि कर्णपूर हैं, जिन्होंने चैतन्य चन्द्रोदय नाटक, आनन्द वृन्दाबन चम्पू, गौरगुणोद्देश दीपिका, कृष्णगुणोद्देश दीपिका, अलंकार कौस्तुभ, चैतन्य चरितामृत महाकाव्य, कृष्णाह्निक कौमुदी, कृष्णचैतन्य सहस्रनाम, (Catalogus Catalogorum नामक गजट में कविकर्णपूर कृत दो ग्रन्थ और भी पाये गये हैं—पारशीक पद प्रकाश एवं वर्ण प्रकाश) आदि ग्रन्थों की रचना कर जगत् को अपूर्व मधुर रस का आस्वादन कराया है।

यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये, श्रीशिवानन्द जी व्रजलीला की 'वीरादती' हैं और इनकी पत्नी व्रजलीला में 'विन्दुमती' थी (गौरगुणोद्देश दीपिका १४६) अर्थात् श्रीशिवानन्द एवं उनकी पत्नी श्रीभगवान् के नित्य सिद्ध परिकर हैं। उनके घर नर-लीला आचरण द्वारा जो पुत्र रूप में आविर्भूत होगा, वह भी भगवत्-परिकर ही होगा। अतः जब पुरीदास-लड़के को श्रीशिवानन्दजी ने प्रभु के चरणों में डाला तो प्रभु ने अपने श्रीचरण का अंगूठा उसके मुंह में देकर उसमें एक अद्भुत शक्ति का सञ्चार कर दिया था। उस शक्ति के प्रभाव से तत्क्षणात् ही "श्रवसोः कुवलयमित्यादि' श्रीकृष्णवन्दनात्मक एक नवीन श्लोक (आर्या शतक का) पुरीदास जी के मुख से स्फुरित हो उठा था। इस लीला का वर्णन परवर्ती सोलहवें परिच्छेद में किया गया है।

श्रीपुरीदास (श्रीकर्णपूर कवि) जैसे पुत्र जिनके घर में आविर्भूत हुए, उन श्रीशिवानन्दजी के सौभाग्यों का कौन वर्णन कर सकता है?

तबे सब भक्त लञा करिल भोजन। गोविन्देरे आज्ञा दिल करि आचमन ॥५१॥
शिवानन्देर प्रकृति-पुत्र यावत एथाय। आमार अवशेषपात्र तारा येन पाय ॥५२॥
नदियावासी मोदक तार नाम 'परमेश्वर'। मोदक बेचे, प्रभुर वाटीर निकटे तार घर।
बालक-काले (प्रभु) तार घरे बारबार यान। दुग्धखण्ड मोदक देय, प्रभु ताहा खान ॥५४॥
प्रभु विषय स्नेह तार बालक काल हैते। से वत्सर सेहो आइल प्रभु के देखिते ॥५५॥
'परमेश्वरा मुञि' बलि दण्डवत् कैल। तारे देखि प्रीते प्रभु ताहारे पुछिल ॥५६॥

तब सब भक्तों के साथ श्रीमहाप्रभु जी ने भोजन किया और आचमनकरके प्रभु ने श्रीगोविन्द को आज्ञा दी कि—"गोविन्द ! श्रीशिवानन्द एवं उसके स्त्री-पुत्र जब तक यहाँ रहें, मेरा भुक्तावशेषपात्र (उच्छिष्ट-भोजन पात्र) उनको ही देते रहना।" नदिया में एक मोदक (हलवाई) रहता था, जिसका नाम 'परमेश्वर' था। वह मोदक लड्डू बेचा करता था। उसका घर श्रीमहाप्रभु जी के घर के पास था। बालक काल में प्रभु बारबार उसके घर जाया करते। वह उन्हें खोये के लड्डू दिया करता था और प्रभु बहुत प्रसन्न होकर उन्हें खाया करते थे। उसका प्रभु में बाल्य काल से ही स्नेह था। वह परमेश्वर भी इस वर्ष प्रभु दर्शन करने नीलाचल आया था। उसने आकर "मैं परमेश्वरा हूँ"—ऐसा कहकर प्रभु को प्रणाम की। उसे देखकर प्रीति पूर्वक श्रीमहाप्रभु जी पूछने लगे ॥५१-५६॥

परमेश्वर ! कुशले हओ ? भाल हैल आइला। 'मुकुन्दार माता आसियाछे, सेहो प्रभु के कहिला
मुकुन्दार मातार नाम शुनि प्रभु सङ्कोच हैल। तथापि ताहार प्रीते किछु ना बलिल ॥५८॥
प्रश्रय पागल, शुद्ध वैदग्धी ना जाने। अन्तरे सुखी हैला प्रभु तार सेइगुणे॥५९॥

श्रीमहाप्रभुजी ने पूछा—"परमेश्वर ! तुम कुशलपूर्वक हो ? अच्छा हुआ, तम यहाँ चले आए। "परमेश्वर ने कहा —"मुकुन्द की माता (मेरी स्त्री) भी साथ आई है।" मुकुन्द को माता का नाम सुनते ही प्रभु सङ्कुचित हो गये किन्तु उसकी प्रीतिवश प्रभु चुप होगये और कुछ नहीं बोले। परमेश्वर प्रश्रय पागल था। वह बड़ा सरल प्रकृति का था, उसमें चतुरता न थी। श्रीमहाप्रभु जी मन में उसके गुण से बहुत सुखी हुए ॥५७-५९॥

चै० च० च० *टीका*:—परमेश्वर ने जब अपनी स्त्री के आने की बात कही, तो श्रीमहाप्रभुजी सङ्कुचित होगये—सङ्कोच का क्या कारण था ? संन्यासियों को स्त्रियों के प्रसङ्ग की कोई बात भी सुनना वाञ्छनीय नहीं होती—ऐसा उनका धर्म है। प्रभु ने तो परमेश्वर से कुशल प्रश्न किया और वह अपनी सरलतावश अपनी स्त्री के आने की बात बोल उठा। वह नहीं जानता था कि संन्यासी शिरोमणि महाप्रभु जी के सामने इस बात को नहीं कहना चाहिये, इस बात का कुछ प्रयोजन भी न था। इसलिये प्रभु उस अवाञ्छनीय विषय को सुन कर सङ्कुचित होगये, और फिर कुछ न बोले। किन्तु [आज के संन्यासियों में यही गुण विशेष है कि किसी अपने अनुयायी से मिलते ही उससे पहला प्रश्न ही यही करते हैं—"क्यों जी तुम्हारी स्त्री बाल-बच्चे नहीं आये, वे ठीक तो हैं ना ?" ऐसा आचरण संन्यास धर्म के सर्वथा विरुद्ध है।

जो व्यक्ति अपने मन के भावों को प्रश्रय दे अर्थात् अपने मन के भावों को यथेच्छ भाव में चलने देता है, जो मन में आया कह दिया —ऐसा मन-वाक्य के संयम रहित जो व्यक्ति है, उसे प्रश्रय-पागल कहते हैं। परमेश्वर की सरलता को लक्ष्य करके ही उसे पागल कह दिया गया है। वास्तव में वह पागल न था। प्रभु उसकी सरलता से बहुत सुखी थे।

पूर्ववत् सभा लञा गुण्डिचा-मार्ज्जन। रथ-आगे पूर्ववत् करिल नर्तन ॥६०॥
चातुर्मास्या सब यात्रा कैल दरशन। मालिनी प्रभृति प्रभुके कैल निमन्त्रण ॥६१॥
प्रभुर प्रिय नाना द्रव्य आनियाछे देश हैते। सेइ व्यञ्जन करि भिक्षा देन घर भाते॥६२॥
दिने नाना क्रीड़ा करे लञा भक्तगण। रात्र्ये कृष्ण विच्छेदे प्रभु करेन क्रन्दन ॥६३॥
एइ मत नाना लीलाय चातुर्मास्या गेल। गौड़ देश याइते तबे भक्ते आज्ञा दिल ॥६४॥

पहले वर्षों की भान्ति प्रभु ने सब भक्तों को साथ लेकर गुण्डिचा मन्दिर का मार्ज्जन और रथ के आगे नृत्य गान किया। चातुर्मास के समस्त उत्सवों के सब भक्तों ने दर्शन किये। श्रीवास-पण्डित की स्त्री मालिनी देवी एवं और अन्यान्य स्त्रियाँ जो अपने देश से श्रीमहाप्रभुजी के लिये अनेक प्रकार की सामग्री लाईं थीं, वे उससे सुन्दर सुन्दर व्यञ्जन तैयार करके एवं घर में भात बना कर प्रभु को भोजन के लिए भेजती थीं। दिन काल में प्रभु अपने भक्तों के साथ अनेक लीलाएं करते थे और रात में श्रीकृष्ण विरह में अश्रु बहाते रहते थे। इस प्रकार अनेक लीलाओं में चार मास बीत गए, फिर प्रभु ने सब को गौड़ देश में लौट जाने की आज्ञा दी ॥६०-६४॥

सब भक्त करेन प्रभुर निमन्त्रण। सर्व भक्ते कहे प्रभु मधुर वचन ॥६५॥
प्रति वत्सर सभे आइस आमारे देखिते, आसिते - याइते दुःख पाओ भाल मते ॥६६॥
तोमा सभार दुःख जानि नारि निषेधिते। तोमा सभार सङ्ग सुख लोभ बाढ़े चित्ते ॥६७॥
नित्यानन्दे आज्ञा दिल गौड़े रहिते। आज्ञा लङ्घि आइसेन, कि पारि बलिते ॥६८॥
आचार्य गोसाञि आइसेन, मोरे कृपा करि। प्रेम-ऋणे बद्ध आमि शुधिते ना पारि॥६९॥
मोर लागि स्त्री-पुत्र गृहादि छाड़िया। नाना दुर्गम पथ लङ्घि आइसेन धाइया ॥७०॥

सब भक्त प्रभु को भिक्षा के लिए अपने घर बुलाते थे। श्रीमहाप्रभु जी सब को इस प्रकार मधुर वचन कहते—"प्रतिवर्ष आप सब लोग मुझे मिलने के लिये यहां आते हो, आने जाने में आप सब को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। मैं आपके इस दुःख को जानकर भी आप को यहां आने-जाने से रोक नहीं सकता हूँ। कारण कि आप सब भक्तों के सङ्ग-सुख के लिये मेरा मन लालायित रहता है। मैंने श्रीनित्यानन्द जी को गौड़ देश में रहने की आज्ञा दी थी और नीलाचल आने से रोका था, किन्तु वे जब मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन करके यहाँ चले आते हैं, तब आपको यहाँ आने से कैसे रोक सकता हूं। श्रीअद्वैता-चार्यपाद भी मुझ पर कृपा करने के लिये यहाँ आने का कष्ट उठाते हैं—मैं आपके प्रेम का ऋणी हूँ, मैं इस ऋण को कभी चुका नहीं सकता। मेरे लिये आप अपने स्त्री-पुत्र-गृहादिकों को छोड़कर अनेक दुर्गम पथ को लाङ्घकर यहाँ भगे आते हैं—मैं आपका ऋणीया हूँ ॥६५-७०॥

आमि एइ नीलाचले रहिये वसिया। परिश्रम नाहि मोर तोमा सभार लागिया ॥७१॥
सन्न्यासी मानुष मोर नाहि कोन धन। कि दिया तो-सभार ऋण करिव शोधन ॥७२॥
देहमात्र धन आमार कैल समर्पण। ताहां बिकाइ याहांइ बेचिते तोमार मन ॥७३॥
प्रभुर बचने सभार द्रवीभूत मन। अझर-नयने सभे करेन क्रन्दन ॥७४॥
प्रभु सभार गला धरि करेन रोदन। कांदिते कांदिते सभाय कैल आलिङ्गन ॥७५॥
सभाइ रहिल, केहो चलिते नारिल। आर दिन-पांच-सात एइ मते गेल ॥७६॥

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"मैं तो यहां नीलाचल में ही रहा आता हूँ, मुझे आप लोगों के लिये कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता है, (किन्तु आप सब को मेरे लिये वहुत कष्ट उठाना पड़ता है।) मैं संन्यासी व्यक्ति हूँ, मेरे पास कोई धन तो है नहीं, मैं आपको क्या देकर इस ऋण को उतारूंगा। मेरे पास मेरा यह शरीर एक धन है जो आपको समर्पण करता हूं, इसे जहां चाहो आप वेच सकते हो।"

श्रीमहाप्रभुजी के वचन सुनकर सब का मन द्रवीभूत हो गया और अजस्रधारा में अश्रु बहाकर रोने लगे। श्रीमहाप्रभु जी भी कण्ठ पकड़ कर जोर-जोर से रोने लगे और एक एक करके सबको आलिङ्गन करने लगे। सब वैष्णव वहीं रह गये, वहाँ से विदा न ले सके, इस प्रकार उन्हें पाँच-सात दिन और नीलाचल में बीत गये ॥७१–७६॥

अद्वैत अवधूत किछु कहे प्रभुर पाय। सहजे तोमार गुणे जगत् विकाय ॥७७॥
आर ताते बान्ध ऐछे कृपा-वाक्य-डोरे। तोमा छाड़ि केवा कोथा याइवारे पारे ?॥७८॥
तबे महाप्रभु सभाकारे प्रबोधिया। सभारे बिदाय दिल सुस्थिर हइया ॥७९॥
नित्यानन्दे कहेन, तुमि ना आइस बारबार। तथाइ आमार सङ्ग हइब तोमार ॥८०॥
चलिला सब भक्तगण रोदन करिया। महाप्रभु रहिला घरे विषण्ण हइया ॥८१॥

श्रीअद्वैताचार्य एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु जी ने श्रीमहाप्रभु जी को कहा—"हे करुणामय! आपके गुणों में समस्त जगत् सहज में पहले ही बिका हुआ है, अब आप इस प्रकार के कृपामय वाक्यों की रस्सी में हमें और भी बांधना चाहते हैं, फिर आपको छोड़कर भला कौन कहाँ जा सकता है ?" फिर श्रीमहाप्रभु जी ने सबको आश्वासन दिया और स्वयं भी स्थिर चित्त होकर सब को बिदा दी। श्रीमहाप्रभु जी ने फिर श्रीनित्यानन्द प्रभु जी से कहा—"भैया! आप बार-बार नीलाचल मत आया करो। मैं तुम्हें वहीं आकर मिल आया करूंगा।" (श्रीमहाप्रभु आविर्भूत रूप से ही श्रीनित्यानन्द जी को दर्शन देंगे—उनकी उक्ति का यही मर्म था।) तदनन्तर सब भक्त प्रभु-प्रेम में रोते हुए वहाँ से विदा हुए। एवं श्रीमहाप्रभु जी दुखित मन से वहाँ रहे आए ॥७७–८१॥

निजकृपागुणे प्रभु बान्धिल सभारे। महाप्रभुर कृपा-ऋण के शुधिते पारे ॥८२॥
यारे यैछे नाचाय प्रभु स्वतन्त्र ईश्वर। ताते तांहा छाड़ि लोक याय देशान्तर ॥८३॥
काष्ठेर पुतली येन कुहके नाचाय। ईश्वर-चरित्र किछु बुझन ना याय ॥८४॥

श्रीकृष्णदास गोस्वामीपाद कहते हैं—श्रीमन्महाप्रभु जी ने अपनी कृपा की रज्जु से सब गौड़ीय वैष्णवों को बांध रखा था और वे श्रीमहाप्रभु जी के कृपा-ऋण को कभी चुकाने में समर्थ न थे, किन्तु वे स्वतन्त्र ईश्वर हैं, जिसको जैसा नाच नचाना चाहते हैं वह उसी प्रकार ही नाचता है—इसी बात के अनुसार वे वैष्णव प्रभु को छोड़ कर अपने देश को लौटे जा रहे थे, (वरना ऐसे करुणामय प्रभु को साक्षात् पाकर उसे कौन छोड़ कर अपने घर-बार को जाने की इच्छा कर सकता है ?) जैसे मदारी काष्ठ की पुतली को नचाता है, वैसे ही सब को प्रभु अपनी इच्छा से नचाते हैं, श्रीभगवान् की लीलाओं का रहस्य कोई भी तो नहीं जान सकता है ॥८२–८४॥

पूर्ववर्ष जगदानन्द आइ देखिवारे। प्रभु आज्ञा लञा आइल नदीयानगरे ॥८५॥
आइर चरण याइ करिला वन्दन। जगन्नाथेर प्रसाद वस्त्र कैल निवेदन ॥८६॥
प्रभुर नाम करि माता के दण्डवत् कैला। प्रभुर विनीत-स्तुति माताके कहिला॥८७॥
जगदानन्द पाञा माता आनन्दित मने। तेंहो प्रभुर कथा कहे, शुने रात्रिदिने॥८८॥

पूर्व वर्ष श्रीजगदानन्द जी जब नीलाचल से लौटे तो माता शचीदेवी को नदिया में मिलने गए थे, प्रभु ने उन्हें ऐसी आज्ञा दी थी। उन्होंने आकर माता शची की वन्दना की और श्रीजगन्नाथ जी का प्रसाद एवं प्रसादी वस्त्र जो प्रभु ने दिया था, माता के आगे निवेदित किया। श्रीजगदानन्द जी ने प्रभु का नाम लेकर माता को दण्डवत् प्रणाम की और प्रभु ने जो विनीत होकर स्तुति की थी, उसे माता शची को सुनाया। शची माता श्रीजगदानन्द को देखकर बहुत आनन्दित हुई। वह रातदिन प्रभु के चरित्रों को श्रीजगदानन्द से सुनने लगीं ॥८५—८८॥

जगदानन्द कहे, माता ! कोन कोन दिने। तोमार एथा आसि प्रभु करेन भोजने ॥८९॥
भोजन करिया कहे आनन्दित हञा। माता आजि खाओयाइलेक आकण्ठ पूरिया॥९०॥
आमि याइ भोजन करि, माता नाहि जाने। साक्षात आसि खाइ तेंहो स्वप्न करि माने ९१
माता कहे, कभु रान्धों उत्तम व्यञ्जन। 'निमाञि इहा खाय' इच्छा हय मोर मन ॥९२॥
पाछे ज्ञान हय, मुञि देखिनु स्वपन। पुन ना देखिया मोर झरये नयन ॥९३॥

श्रीजगदानन्द जी ने कहा—"माता ! श्रीमहाप्रभु कभी कभी तुम्हारे पास यहाँ नदिया में आकर भोजन किया करते हैं और फिर वे आनन्दित होकर कहा करते हैं कि 'माता जी ने मुझे आज कण्ठ पर्यन्त भोजन करा दिया है।' मैं तो उसके घर जाकर भोजन कर आता हूँ, किन्तु माता यह नहीं जानती हैं। मैं तो वहाँ साक्षात् जाकर भोजन किया करता हूँ, किन्तु माता उसे स्वप्न ही जान लेती हैं।" शची माता ने कहा—"जगदानन्द ! यह बात ठीक है, कभी-कभी जब मैं भगवान् के लिए उत्तम पदार्थ बनाती हूँ तो मेरा मन चाहता है कि निमाई यहाँ होता तो वह इन प्रसादी पदार्थों को खाता।" पीछे मैं तो यही जानती हूँ कि ऐसा मैं स्वप्न देख रही थी, मुझे वह फिर कहीं नहीं दीखता है, मैं आँखों से अश्रु ही बहाती रह जाती हूँ" ॥८९–९३॥

एइ मत जगदानन्द शचीमाता सने। चैतन्येर सुखकथा कहे रात्रिदिने ॥९४॥
नदीयार भक्तगण सबारे मिलिला। जगदानन्दे पाञा सबे आनन्द हइला ॥९५॥
आचार्य मिलिते तबे गेला जगदानन्द। जगदानन्द पाइया आचार्य हइल आनन्द॥९६॥
वासुदेव, मुरारिगुप्त जगदानन्द पाञा। आनन्दे राखिलेन घरे, न देन छाड़िया ॥९७॥
चैतन्येर मर्मकथा शुने तांर मुखे। आपना पासरे सबे चैतन्य कथा सुखे ॥९८॥
जगदानन्द मिलिते याय येइ भक्तघरे। सेइ सेइ भक्त सुखे आपना पासरे ॥९९॥

इस प्रकार श्रीजगदानन्द जी रात-दिन श्रीशचीमाता को श्रीचैतन्यदेव की सुखभरी कथाएँ सुनाया करते थे। फिर श्री जगदानन्द जी नदियावासी सब भक्तों से जाकर मिले थे, उनको मिलकर सभी आनन्दित होते थे। जब वे श्रीअद्वैताचार्य जी से मिलने गए, तो श्रीआचार्यपाद भी आनन्दित हो उठे। श्रीवासुदेव, श्रीमुरारिगुप्त श्रीजगदानन्द को देखकर आनन्द से फूले न समाते थे और उन्हें बहुत दिन तक अपने घर पर रखा, जाने न देते थे। वे दोनों उनके मुख से श्रीमहाप्रभु की मर्म कथाओं को सुना करते और उनके लीला-सुख में वे अपने आप को भूल जाते थे, श्रीजगदानन्द जिस भक्त के घर भी मिलने जाते वही उन्हें देखकर आनन्दमग्न हो जाता था ॥९४–९९॥

चैतन्येर प्रेमपात्र जगदानन्द धन्य । यारे मिले, सेइ माने 'पाइल चैतन्य' ॥१००॥
शिवानन्द-सेनगृहे याइया रहिला । चन्दनादितैल ताहां एकमात्रा कैला ॥१०१॥
सुगन्धि करिया तैल गागरी भरिया । नीलाचले लञा आइला यतन करिया ॥१०२॥
गोविन्देर ठाञि तैल धरिया राखिल । 'प्रभुर अङ्गे दिह तैल'—गोविन्दे कहिल॥१०३

श्रीजगदानन्द जी श्रीचैतन्यदेव के परम प्रेम-पात्र थे, इसलिए वे बड़े भागी थे। जिसका मिलन उनसे होता, वह ऐसे समझता कि उसे श्रीचैतन्य ही मिल गए हैं। कुछ दिन श्रीजगदानन्द जी श्रीशिवानन्द जी के घर जाकर रहे थे, वहाँ उन्होंने कुछ मात्रा में चन्दनादि तैल (एक आयुर्वेदिक तैल विशेष जो ठण्डा एवं पित्त नाशक होता है एवं मस्तिष्क को बलवान बनाता है) तैयार किया। उसमें सुगन्धि आदि देकर उन्होंने एक कलश भर लिया। जब वे नीलाचल गये तो इस तैल के कलश को भी बड़े यत्न से अपने साथ ले गये। श्रीगोविन्द को आकर वह कलश सम्भाल दिया और कहा कि "श्रीमहाप्रभु जी के सिर पर इस तैल की मालिश किया करना" ॥१००—१०३॥

तबे प्रभु ठाञि गोविन्द कैल निवेदन । जगदानन्द चन्दनादि तैल आनियाछेन ॥१०४॥
तांर इच्छा, प्रभु अल्प मस्तके लागाय । पित्तवायुव्याधि प्रकोप शान्ति हञा याय॥१०५॥
एक कलस सुगन्धितैल गौड़ेते करिया । इहां आनियाछे बहु यत्न करिया ॥१०६॥
प्रभु कहे, सन्न्यासीर नाहि तैले अधिकार । ताहाते सुगन्धितैल,परम धिक्कार ॥१०७॥
जगन्नाथे देह तैल, दीप येन ज्वले । तांर परिश्रम हइव परम सफले ॥१०८॥

तब श्रीगोविन्द ने श्रीमहाप्रभु जी से कहा—"प्रभु! श्रीजगदानन्द जी ने चन्दनादि तैल लाकर भेंट किया है, उनकी इच्छा है कि आप उसे थोड़ा थोड़ा सा मस्तक पर लगाया करें, उससे पित्त-वायु का व्याधिप्रकोप शान्त हो जाया करता है। बड़े यत्नपूर्वक गौड़देश से एक कलसा भरकर उस तैल को लाये हैं।" श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"गोविन्द! संन्यासी के लिये कोई भी तैल लगाने का अधिकार नहीं है, उसमें भी सुगन्धित तैल का जो संन्यासी प्रयोग करता है, उसे परम धिक्कार है। उस तैल को तुम श्रीजगन्नाथ जी के मन्दिर में दे देना, उससे मन्दिर का दीपक जला करेगा। इससे जगदानन्द का परिश्रम भी परम सफल हो जाएगा" ॥१०४—१०८॥

एइ कथा गोविन्द जगदानन्देर कहिल । मौन करि रहिल पण्डित, किछु ना कहिल ॥१०९॥
दिन दश गेले गोविन्द जानाइल आरवार । पण्डितेर इच्छा तैल प्रभु करे अङ्गीकार ॥११०
शुनि प्रभु कहे किछु सक्रोध वचने । मर्द्दनिया एक राख करिते मर्द्दने ॥१११॥
एइ सुख-लागि आमि करियाछि संन्यास । आमार सर्वनाश, तोमा सभार परिहास ॥११२
पथे याइते तैलगन्ध मोर ये पाइबे । 'दारी संन्यासी' करि आमारे कहिबे ॥११३॥

दूसरे दिन श्रीगोविन्द ने सब बात श्रीजगदानन्द जी से कही, वे सब बात सुनकर चुप ही रह गये। पांच दश दिनों के बाद श्रीगोविन्द ने एक बार फिर श्रीमहाप्रभु से निवेदन किया कि "पण्डित जगदानन्द की तो प्रभु! यही इच्छा थी कि आप उस तैल को अङ्गीकार कर लेते।" यह सुनकर श्रीमहाप्रभु जी ने कुछ क्रोधित होकर कहा—"गोविन्द! एक मालिश करने वाला भी मेरे लिये ले आ जो मुझे

उसकी मालिश किया करे, इसी सुख (विलासता) के लिये तो मैंने संन्यास धारण किया था। मेरा भी इससे सर्वनाश होगा और तुम लोगों का भी अच्छा परिहास होगा जब रास्ते में चलते हुए मुझ में से लोगों को तैल की सुगन्धि आएगी और वे कहेंगे कि "यह कोई दारी संन्यासी है अर्थात् स्त्री-सङ्गी संन्यासी है।

शुनि प्रभुर वाक्य गोविन्द मौन करिला। प्रातःकाले जगदानन्द प्रभुठाञि आइला ॥११४॥
प्रभु कहे, पण्डित! तैल आनिले गौड़हैते। आमि त सन्न्यासी तैल न पारि लइते ॥११५॥
जगन्नाथे देह लञा, दीप येन ज्वले। तोमार सकल श्रम हइल सफले ॥११६॥
पण्डित कहे, के तोमाके कहे मिथ्यावाणी। आमि गौड़ हैते तैल कभु नाहि आनि ॥११७॥
एत बलि घरे हैते तैल-कलस लञा। प्रभु आगे आङ्गिनाते फेलिल भाङ्गिया ॥११८॥
तैल भाङ्गि सेइ पथे निज घरे गिया। सुतिया रहिला घरे कपाट मारिया ॥११९॥

श्रीमहाप्रभु जी के वचन सुनकर श्रीगोविन्द मौन हो गये। दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीजगदानन्द जी दर्शन करने के लिये श्रीमहाप्रभु जी के पास जब आए, तो प्रभु ने कहा—"पण्डित तुम गौड़देश से तैल लाए हो, मैं तो संन्यासी हूँ, मैं तो उसे प्रयोग कर नहीं सकता हूँ, इसलिये तुम उसे गोविन्द से लेकर श्रीजगन्नाथ मन्दिर में दे दो, दीपक में जलने के काम आएगा। इस तरह तुम्हारा भी सब परिश्रम सफल हो जाएगा।" (श्रीजगदानन्द ने तैल को ले आना मन में निष्फल ही जान लिया और प्रणय रोष में भरकर कहने लगे।) श्रीजगदानन्द ने कहा—"आपको किसने यह झूठी बात कह दी है, मैं तो गौड़देश से कभी तैल नहीं लाया हूँ।" इतना कहकर श्रीजगदानन्द जी ने कमरे में से वह तैल का घड़ा निकाला और प्रभु के सामने आँगन में दे मारा। घड़ा टूट गया और तैल फैल गया। श्रीजगदानन्द जी वहाँ से चुपचाप अपने घर चले आए। घर आकर अपने कमरे का दरवाजा बन्द करके भीतर सो गये ॥११४-११९

तृतीय दिवसे प्रभु तांर द्वारे याञा। "उठह पण्डित!" करि कहेन डाकिया ॥१२०॥
'आजि भिक्षा दिबे मोरे करिया रन्धने। मध्याह्ने आसिब, एबे याइ दरशने' ॥१२१॥
एत बलि प्रभु गेला, पण्डित उठिला। स्नान करि नानाव्यञ्जन रन्धन करिला ॥१२२॥
मध्याह्न करिया प्रभु आइला भोजने। पाद प्रक्षालन करि दिलेन आसने ॥१२३॥
सघृत शाल्यन्न कलापाते स्तूप कैल। कलार डोङ्गा करि व्यञ्जन चौदिके धरिल ॥१२४॥
अन्न व्यञ्जन उपरे दिल तुलसी मञ्जरी। जगन्नाथेर प्रसाद पिठा पाना आनि आगे धरि॥

(तीन दिन तक श्रीजगदानन्द जी उसी प्रकार पड़े रहे, न उठे और न कुछ खाया पिया।) तीसरे दिन श्रीमहाप्रभु जी उनके घर पर आये और बोले—"जगदानन्द! उठो, आज तुम रसोई बनाकर मुझे भोजन कराओ, अब तो मैं दर्शन करने जा रहा हूँ, मध्याह्न में मैं तुम्हारे पास आजाऊंगा।" इतना कह कर श्रीमहाप्रभु जी वहाँ से चल दिये, अब श्रीजगदानन्द जी से न रहा गया, झट उठ खड़े हुए एवं स्नानादि कर अनेक प्रकार के व्यञ्जन बनाने लगे। मध्याह्न का कृत्य करने के बाद श्रीमहाप्रभु जी भोजन करने के लिये उनके घर आए। उन्होंने प्रभु के चरण धोये एवं उन्हें आसन पर विराजमान किया। केला के पत्तो पर उन्होंने घी सहित चावलों को परोसा और उसके चारों ओर केला के पत्तों के दोने अनेक पदार्थों से भर कर सजा दिये। सब पदार्थों पर उन्होंने तुलसी मञ्जरी डाली और साथ ही उन्होंने श्रीजगन्नाथ जी का पिठा पानादि प्रसाद भी लाकर रखा" ॥१२०-१२५।

प्रभु कहे, द्वितीय पाते बाढ़ अन्नव्यञ्जन। तोमाय आमाय आज एकत्र करिव भोजन॥१२६
हस्त तुलि रहिला प्रभु, ना करे भोजन। तबे पण्डित कहे किछु सप्रेम वचन॥१२७॥
आपने प्रसाद लयेन, पाछे मुञि लइमु। तोमार आग्रह आमि केमने खण्डिमु ? ॥१२८॥
तबे महाप्रभु सुखे भोजने वसिला। व्यञ्जनेर स्वादु पात्रा कहिते लागिला॥१२९॥
क्रोधावेशे पाकेर ऐछे एत स्वाद ? एइ त जानिये तोमाय कृष्णेर प्रसाद॥१३०॥
आपने खाइव कृष्ण, ताहार लागिया। तोमार हस्ते पाक कराय उत्तम करिया॥१३१॥
ऐछे अमृत अन्न कृष्णे कर समर्पण। तोमार भाग्येर सीमा के करु वर्णन॥१३२॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—'पण्डित ! एक दूसरे पत्ते पर भी सब वस्तुएँ परोस दो, आज तुम और मैं एक साथ भोजन करेंगे।" श्रीमहाप्रभु जी दोनों हाथ उठाये हुए चुपचाप बैठे रहे और भोजन नहीं करते थे, तब श्री जगदानन्द जी प्रेमपूर्वक बोले—"प्रभु ! आप प्रसाद पाइये, मैं पीछे पालूंगा। आपका जब इतना आग्रह मेरे भोजन के लिये है, तब ऐसा हो सकता है कि मैं आपकी बात न मानूं।" तब श्रीमहाप्रभु जी सुखपूर्वक भोजन करने लगे। प्रसाद के स्वाद को पाकर प्रभु कहने लगे—"जगदानन्द! तुमने आज क्रोधावेश में रसोई बनाई है, तो भी इतना स्वाद ? इससे पता लगता है कि तुम पर श्रीकृष्ण की कृपा है। श्रीकृष्ण ने स्वयं भोजन करना होता है, इसलिये वे तुम्हारे हाथों से उत्तम रसोई तैयार कराते हैं। ऐसे-ऐसे अमृत मय पदार्थ तुम श्रीकृष्ण को समर्पण करते हो, जगदानन्द ! तुम्हारे भाग्यों की सीमा का कौन वर्णन कर सकता है" ॥१२६-१३२॥

पण्डित कहे, ये खाइवे, सेइ पाककर्त्ता। आमि सब केवलमात्र सामग्री-आहर्त्ता॥१३३॥
पुनः पुनः पण्डित नानाव्यञ्जन परिवेशे। भये किछु ना बोलेन, प्रभु खायेन हरिषे॥१३४॥
आग्रह करिया पण्डित कराइल भोजन। आर दिन हैते भोजन हैल दशगुण॥१३५॥
बारबार प्रभुर हय उठिवारे मन। पुन सेइ काले पण्डित परिवेशे व्यञ्जन॥१३६॥
किछु वलिते नारेन प्रभु, खायेन सब त्रासे। ना खाइले जगदानन्द करिवे उपवासे॥१३७॥

श्रीजगदानन्द जी ने कहा—"प्रभो ! यही बात है, जो खाने वाले हैं वही ही रसोई बनाने वाले हैं, मैं तो केवल सब सामग्री को संग्रहमात्र कर देने वाला हूँ।" श्रीजगदानन्द बार-बार अनेक पदार्थ प्रभु को परोसते हैं और प्रभु भी भय के कारण कुछ बोलते नही हैं, जो वे परोसते हैं, प्रभु भी खाए जाते हैं। वे बहुत आग्रह करके प्रभु को भोजन करा रहे थे, प्रति दिन से दशगुना भोजन प्रभु कर चुके थे। प्रभु बार-बार उठने का विचार करते, किन्तु उसी समय श्रीजगदानन्द जी और प्रसाद परोस देते। प्रभु आज कुछ बोल न सकते थे, भयवश खाते जा रहे थे, उनको भय था कि कहीं जगदानन्द फिर मुझ पर क्रोधित न हो उठे और कुछ न खाकर उपवासी ही रहे आवें। (प्रभु आज रूठा हुआ भक्त मना रहे थे, इसलिये चुपचाप थे।) ॥१३३-१३७॥

तबे प्रभु कहे करि विनय सम्मान। दशगुण खाओयाइले, एबे कर समाधान॥१३८॥
तबे महाप्रभु उठि कैल आचमन। पण्डित आनि दिल मुखवास मल्य-चन्दन॥१३९॥

चन्दनादि लञा प्रभु वसिला सेइ स्थाने । 'आमार आगे आजि तुमि करह भोजने'।।१४०।।
पण्डित कहे, प्रभु ! याइ करेन विश्राम । मुञि एवे लइव प्रसाद करि समाधान ।।१४१।।
रसुइर कार्य करियाछे रामाइ–रघुनाथ । इंहा सभाय दिते चाहि किछु व्यञ्जन भात।।१४२
प्रभु कहे, गोविन्द ! तुम इहांइ रहिवे । पण्डित भोजन कैले आमारे कहिवे ।।१४३।।
एत कहि महाप्रभु करिला गमन । गोविन्देरे पण्डित किछु कहेन वचन ।।१४४।।

तब श्रीमहाप्रभु ने विनय पूर्वक कहा—"जगदानन्द ! दशगुणा भोजन तुमने करा दिया है, अब तो बस करो ।" इतना कहकर श्रीमहाप्रभु जी उठ खड़े हुए एवं आचमन करने लगे । श्रीजगदानन्द जी ने पान, माला एवं चन्दन प्रभु को अर्पण किए । चन्दनादि को लेकर प्रभु फिर भी वहाँ बैठ गये और कहने लगे—"जगदानन्द ! आज तुम्हें मेरे सामने भोजन करना होगा ।" श्रीजगदानन्द जी ने कहा—प्रभु आप विश्राम कीजिए, मैं सब कार्य का समाधान करके फिर भोजन कर लूंगा । रसोई का सब काय रामाइ एवं रघुनाथ ने किया है, उन सब को भी कुछ प्रसाद भोजन देना चाहता हूँ । फिर मैं भोजन करूंगा ।" श्रीमहाप्रभु ने अपने सेवक को बुलाकर कहा—"गोविन्द ! तुम यहीं रहो, श्रीजगदानन्द जब भोजन कर चुकें, तब तुम आकर मुझे सूचित करना ।" इतना कहकर श्रीमहाप्रभु जी अपने स्थान पर चले गये । तब श्रीजगदानन्द श्रीगोविन्द से इस प्रकार कहने लगे—।।१३८–१४४।।

तुमि शीघ्र याइ कर पाद संवाहने । कहिय, 'पण्डित एबे वसिला भोजने' ।।१४५।।
तोमारे प्रभुर शेष राखिव धरिया । प्रभु निद्रा गेले तुमि खाइह आसिया ।।१४६।।
रामाइ नन्दाइ आर गोविन्द रघुनाथ । सभारे वांटिया दिल प्रभुर व्यञ्जन भात ।।१४७।।
आपने प्रभुर प्रसाद करिल भोजन । तबे गोविन्देरे प्रभु पाठाइल पुन ।।१४८।।
"जगदानन्द प्रसाद पाय किना पाय । शीघ्र समाचार तुमि कहिवे आमाय"।।१४९।।
गोविन्द आसि देखि कहिल पण्डितेर भोजन । तबे महाप्रभु स्वस्त्ये करिल शयन ।।१५०।।

तब श्रीजगदानन्द जी ने कहा—"गोविन्द ! तुम शीघ्र चले जाओ और जाकर प्रभु की चरण सेवा करो और कह देना कि, "जगदानन्द भोजन करने बैठ गया है," तुम्हारे लिए मैं प्रभु का प्रसाद रखे देता हूँ, जब प्रभु को नींद आ जाए, तब तुम लौट कर आ जाना और आकर भोजन कर लेना ।" (श्रीगोविन्द श्रीजगदानन्द जी के वचन सुन कर वहाँ से चले गये ।) तब श्रीजगदानन्द जी ने रामाई, नन्दाई, श्रीगोविन्द और श्रीरघुनाथदास जी के लिये श्रीमहाप्रभु जी का प्रसाद चार भागों में बाँट दिया । फिर उन्होंने भी प्रभु का प्रसाद पा लिया । श्रीगोविन्द जब वहां श्रीमहाप्रभु के पास पहुँचे, तो श्रीमहाप्रभु जी ने उसे फिर भेजा कि "जाकर देखो, जगदानन्द ने भोजन किया भी है कि नहीं, फिर आकर मुझे पूरा समाचार दो ।" श्रीगोविन्द ने आकर जब देख लिया कि श्रीजगदानन्द जी ने भोजन कर लिया है, तब उन्होंने श्रीमहाप्रभु जी को जाकर सूचित किया । फिर श्रीमहाप्रभु जी निस्सङ्कल्प हुए और सुखपूर्वक शयन करने लगे ।।१४५–१५०।।

जगदानन्दे प्रभुर प्रेमा चले एइ मते । 'सत्यभामा कृष्णेर येन' शुनि भागवते ।।१५१।।
जगदानन्देर सौभाग्येर के करिव सीमा । जगदानन्देर सौभाग्येर तेंहइ उपमा ।।१५२।।

जगदानन्देर प्रेमविवर्त्त शुने येइ्जन । प्रेमेर स्वरूप जाने, पाय प्रेमधन ॥१५३॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश । चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥१५४॥

श्रीकृष्णदास गोस्वामी पाद कहते हैं—श्रीजगदानन्द जी के साथ श्रीमहाप्रभु जी का प्रेम उसी प्रकार चलता था, जैसे श्रीकृष्ण और श्रीसत्यभामा जी का श्रीभागवत जी में सुना जाता है। श्रीजगदानन्द के सौभाग्यों की सीमा का कौन पार पा सकता है ? उनके सौभाग्यों की उपमा वे आप ही हैं। इनके प्रेम की वैचित्री की कथा को जो व्यक्ति सुनेगा, वह प्रेम के स्वरूप को जान सकेगा और उसे प्रेम की प्राप्ति होगी।" श्रीरूपगोस्वामी एवं श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जो के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास जी कविराज श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥१५१-१५४॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां
जगदानन्द-तैलभञ्जनं-नाम
द्वादश परिच्छेदः ॥१२॥

जयगौर

अन्त्य-लीला

त्रयोदश परिच्छेद

कृष्णविच्छेदजातार्त्या क्षीणे चापि मनस्तनु ।
दधाते फुल्लतां भावैर्यस्य तं गौरमाश्रये ।।१।।

श्रीकृष्ण-विरह जनित पीड़ा में क्षीण होकर भी जिनका देह एवं मन श्रीकृष्ण-सम्बन्धी भाव समूह द्वारा प्रफुल्लता को धारण करता है, मैं उन्हीं श्रीगौरचन्द्र की शरण ग्रहण करता हूँ ।।१।।

(इस त्रयोदश परिच्छेद में प्रभु का कृष्ण विरह-दुख, श्रीजगदानन्द का वृन्दावनगमन, श्रीवृन्दावन में श्रीसनातन गोस्वामी द्वारा श्रीजगदानन्द की गौर-प्रीति-परीक्षा, श्रीमहाप्रभु द्वारा देवदासी गीत-गान-श्रवन, श्रीरघुनाथ-भट्ट के प्रति श्रीमहाप्रभु जी कृपा—आदि प्रसङ्ग वर्णन किये गये हैं ।)

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ।।१।।
हेन मते महाप्रभु जगदानन्द सङ्गे । नाना मते आस्वादये प्रेमेर तरङ्गे ।।२।।
कृष्णेर विच्छेददुःखे क्षीण मन काय । भावावेशे तभु कभु प्रफुल्लित हय ।।३।।
कलार शरलाते शयन, क्षीण अति काय । शरलाते हाड़ लागे व्यथा लागे गाय ।।४।।
देखि सब भक्तगणेर महादुख हैल । सहिते तारे जगदानन्द उपाय सृजिल ।।५।।

श्रीचैतन्यदेव की जय हो, जय हो, श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो । श्रीअद्वैताचार्य जी की जय हो, श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो । इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी श्रीजगदानन्द जी के साथ अनेक भावों से प्रेमरस का आस्वादन करते थे । श्रीकृष्ण-विरह-दुख में प्रभु का मन एवं शरीर क्षीण होता जारहा था किन्तु भावावेश में उनके मन-शरीर प्रफुल्लित ही दीखते थे । (संन्यासी होने के कारण श्रीमहाप्रभुजी केला के पत्तों के डण्ठल की बनी हुई शय्या पर सोते थे ।) केले के डण्ठलों की शय्या पर सोना, उधर प्रभु का अतिक्षीण शरीर, प्रभु की शरीर-अस्थियों में वे डण्ठल चुभते थे एवं उन्हें वेदना होती थी । यह देखकर सब भक्तों को महादुख होता था, प्रभु का यह दुख वे सहन न कर सकते थे, एक दिन श्रीजगदानन्दजी ने एक उपाय सोचा ।।१—५।।

सूक्ष्म वस्त्र आनि गैरिक दिया राङ्गाइल । शिमुलीर तूला दिया ताहा भराइल ।।६।।
एकतुली-गाण्डु गोविन्देर हाथे दिल । प्रभु के शोयाइह इहाय, ताहाके कहिल ।।७।।
स्वरूपगोसाञि के कहे जगदानन्द । आज आपनि याञा प्रभु के कराइह शयन ।।८।।

शयनेर काते स्वरूप ताहांइ रहिला । तुलीगाण्डु देखि प्रभु क्रोधाविष्ट हैला ॥९॥
गोविन्देरे पुछे, इहा कराइल कोन जन ? । जगदानन्देर नाम शुनि सङ्कोच हैल मन ॥१०॥
गोविन्देरे कहि सेइ तुली दूर कैल । कलार शरलार उपर शयन करिल ॥११॥

श्रीजगदानन्दजी ने एक पतला कपड़ा मंगाया और उसे गेरुवे रंग में रंगा लिया । उस कपड़े में रेशम की रुई भरवा कर उन्होंने एक गद्दा और एक बालिश (सिराहना) वनवा लिया । तव उन दोनों चीजों को श्रीगोविन्द के हाथ में देकर श्रीजगदानन्द ने उससे कहा—"गोविन्द ! आज प्रभु को इस गद्दा और सिराहना पर शयन कराना ।" श्रीजगदानन्दजी ने श्रीस्वरूप गोस्वामीजी से कहा—"आज आप भी प्रभु के पास जाकर उन्हें इस गद्दा पर शयन कराना ।" श्रीमहाप्रभु जी की शयन के समय श्रीस्वरूप दामोदर वहाँ ही उपस्थित रहे । उस रेशमी गद्दा बालिश को देखकर श्रीमहाप्रभुजी क्रोध में आ गये और श्रीगोविन्द से पूछने लगे—"अरे क्यों रे गोविन्द ! यह काम किसने कराया है ?" श्रीगोविन्द ने जब श्रीजगदानन्दजी का नाम लिया तो सुन कर श्रीमहाप्रभुजी का मन सङ्कुचित हो गया । प्रभु ने श्रीगोविन्द को कहकर उस गद्दा-बालिश को दूर हटवाया और उसी केला-पत्ता-आदि की शय्या पर सो गये ॥९—११॥

स्वरूप कहे तोमार इच्छा, कि कहिते पारि । शय्या उपेक्षिले पण्डित दुःख पावे भारी ॥१२॥
प्रभु कहेन, खाट एक आनह पाड़िते । जगदानन्देर इच्छा आमाय विषय भुञ्जाइते ॥१३॥
संन्यासि-मानुष आमार भूमिते शयन । आमाके खाट तुली-गाण्डु मस्तक मुण्डन ? ॥१४॥
स्वरूप गोसाञि आसि पण्डिते कहिल । शुनि जगदानन्द मने महा दुःख पाइल ॥१५॥
स्वरूपगोसाञि तबे सृजिल प्रकार । कदलीर शुष्क पत्र आनिल अपार ॥१६॥
नखे चिरि चिरि ताहा अति सूक्ष्म कैल । प्रभुर वहिर्वास-दुइते से-सब भरिल ॥१७॥
एइमत दुइ कैल ओढ़न - पाड़ने । अङ्गीकार कैल प्रभु अनेक यतने ॥१८॥

श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने कहा—"प्रभु ! आपकी इच्छा है, कोई क्या कह सकता है ? आपने शय्या (गद्दा–बालिश) का त्याग कर दिया है, श्रीजगदानन्द महान् दुखी होंगे ।" श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"स्वरूप ! एक खाट यहाँ बिछाने को और ले आओ । जगदानन्द तो मुझे विषयों को भुगवाना चाहता है । मैं संन्यासी व्यक्ति हूँ, मेरे लिये तो पृथ्वी पर शयन करने का विधान है । मेरे लिये इधर खाट, गद्दा और बालिश ? उधर मुण्डा हुआ मस्तक ? (सुहाता है क्या ?) श्रीस्वरूपदामोदर प्रभु के वचन सुनकर चुप हो गये और सब बात आकर श्रीजगदानन्द जी को सुनाई । उनको यह सब जान कर बहुत दुख हुआ । तब श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने एक उपाय सोचा । उन्होंने केला के सूखे पत्ते बहुत मंगा लिए और उन्हें नखों से चीर-चीर कर बहुत सूक्ष्म बना लिया । फिर श्रीमहाप्रभुजी के बर्हिर्वास को लेकर एक बिछाने को गद्दा और एक ओढ़ने की रजाई सी उनमें भरवा कर तैयार करा लिये । फिर उन्होंने जब बहुत आग्रह किया तब श्रीमहाप्रभुजी ने उनको अङ्गीकार कर लिया ॥१२-१८॥

ताते शयन करे प्रभु, देखि सभे सुखी । जगदानन्देर भितरे क्रोध, वाहिरे महा दुखी ॥१९॥
पूर्वे जगदानन्देर इच्छा, वृन्दाबन याइते । प्रभु आज्ञा ना देन, ताते ना पारे चलिते ॥२०॥

भितरेर क्रोध दुःख प्रकाश ना कैल । मथुरा याइते प्रभु स्थाने आज्ञा मागिल ॥२१॥
प्रभु कहे, मथुरा यावे आमाय क्रोध करि ? आमाय दोष लागाइया तुमि हइवे भिखारी ?२२
जगदानन्द कहे - प्रभुर धरिया चरण । पूर्व हैते इच्छा मोर याइते वृन्दाबन ॥२३॥
प्रभुर आज्ञा नाहि ताते ना पारि याइते । एवे आज्ञा देह, अवश्य याइब निश्चिते ॥२४॥

श्रीमहाप्रभुजी उस केला के गद्दा पर शयन करने लगे, यह देखकर सब वैष्णवों को बहुत सुख हुआ, किन्तु श्रीजगदानन्द जी भीतर भीतर क्रोधित थे एवं बाहर में बहुत दुखी थे। श्रीजगदानन्द की पहले से श्रीवृन्दाबन जाने की इच्छा थी, किन्तु श्रीमहाप्रभुजी उन्हें जाने नहीं देते थे, इसलिये वह जा नहीं सकते थे। उन्होंने मन के क्रोध एवं दुख को प्रकाशित न किया और प्रभु से मथुरा-वृन्दावन जाने की आज्ञा माँगी। श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"जगदानन्द ! मुझ पर क्रोधित होकर मथुरा जा रहे हो ? (मेरा रेशमी गद्दा-बालिश प्रभु ने अङ्गीकार नहीं किया—यही) मुझे दोष लगाकर तुम श्रीवृन्दाबन में जाकर भिखारी-वैरागी बनना चाहते हो ?" श्रीजगदानन्दजी ने प्रभु के चरण पकड़ कर कहा—"प्रभु ! मेरी तो पहले से ही श्रीवृन्दावन जाने की इच्छा थी, आपने आज्ञा नहीं दी थी इसलिए मैं नहीं जा सका था, अब मुझे आप अवश्य आज्ञा दीजिए, मैं निश्चित रूप से श्रीवृन्दावन जाऊँगा ॥१९-२४॥

प्रभु प्रीते तांर गमन ना करे अङ्गीकार । तेंहो प्रभुर ठाञि आज्ञा मागे बार बार ॥२५॥
स्वरूपगोसाञिर ठाञि पण्डित कैल निवेदन । पूर्व हैते वृन्दावन याइते मोर मन ॥२६॥
प्रभु आज्ञा बिने ताहां याइते ना पारि । एबे आज्ञा ना देन मोरे 'क्रोधे याय' बलि ॥२७॥
सहजेइ मोर ताहां याइते मन हय । प्रभु आज्ञा लञा देह करिया विनय ॥२८॥
तवे स्वरूप गोसाञि कहे प्रभुर चरणे । जगदानन्देर इच्छा बड़ याइते वृन्दावने ॥२९॥
तोमार ठाञि आज्ञा एंहो मागे बार बार । आज्ञा देह मथुरा देखि आइसे एकबार ॥३०॥
आइ देखिते यैछे गौड़देशे याय । तैछे एकबार वृन्दावन देखि आय ॥३१॥
स्वरूप गोसाञिर बोले प्रभु आज्ञा दिल । जगदानन्दे बोलाइया तांरे शिक्षाइल ॥३२॥

श्रीमहाप्रभुजी प्रीतिवश उनको जाने नहीं देते थे, और वह भी बार-बार प्रभु से आज्ञा माँगते थे, श्रीजगदानन्दजी ने एक दिन श्रीस्वरूपगोस्वामी जी से प्रार्थना की कि "मेरी तो पहले से ही श्रीवृन्दावन जाने की इच्छा थी, किन्तु प्रभु की आज्ञा के बिना मैं नहीं जा सका। अब भी प्रभु मुझे आज्ञा नहीं दे रहे हैं, वह कहते हैं कि 'तू मुझ पर क्रोध करके जा रहा है।' मेरा मन सहज में श्रीवृन्दावन जाने को हो रहा है, इसलिये आप ही मुझे उनसे आज्ञा ले दीजिये।" तब श्रीस्वरूपगोस्वामीजी ने प्रभु के चरणों में प्रार्थना की—"प्रभु ! श्रीजगदानन्द जी की वृन्दावन जाने की तीव्र इच्छा है, वह आपसे अनेक बार आज्ञा माँग चुके हैं, आप उन्हें आज्ञा दे दीजिये ना, वह एकवार मथुरा-वृन्दाबन दर्शन कर आवें।" गौड़देश में जैसे माता शची को देखने जाया करते हैं, उसी प्रकार एक बार श्रीवृन्दाबन को भी देख आवेंगे।" जब श्रीस्वरूप जी ने यह प्रार्थना प्रभु से की, तब प्रभु ने उन्हें जाने की आज्ञा दे दी और श्रीजगदानन्द को बुलाकर उन्हें इस प्रकार शिक्षा देने लगे ॥२५-३२॥

वाराणसी पर्यन्त स्वच्छन्दे यावे पथे । आगे सावधान यावे क्षत्रियादि साथे ॥३३॥
केवल गौड़िया पाइले 'बाटपाड़' करि बान्धे । सब लुटि बान्धि राखे, याइवारे ना दे ॥३४॥

मथुरा गेले सनातन - सङ्गेइ रहिवा । मथुरार स्वामि - सभार चरण वन्दिवा ॥३५॥
दूरे रहि भक्ति करिह, सङ्गे ना रहिवा । तां सभार आचार चेष्टा तैते ना पारिवा ॥३६॥
सनातन सङ्गे करिह बन दरशन । सनातनेर सङ्ग ना छाड़िवे एक क्षण ॥३७॥
शीघ्र आसिह, ताहां न रहिय चिरकाल । गोवर्द्धने ना चढ़िह देखिते गोपाल ॥३८॥
'आमिह आसितेछि' कहिय सनातने । 'आमार तरे एक स्थान येन करे वृन्दाबने ॥३९॥
एत बलि जगदानन्दे कैल आलिङ्गन । जगदानन्द चलिला प्रभुर वन्दिया चरण ॥४०॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"जगदानन्द ! वाराणसी तक तो तुम स्वच्छन्दता से मार्ग में चले जाना, उसके आगे किसी क्षत्रिय-व्यक्ति अर्थात् शूरवीर-रक्षक को साथ लेकर सावधानता से जाना क्योंकि उस रास्ते में बहुत चोर डाकू रहते हैं, वह किसी गौड़देश वासी को रास्ते में अकेला जब देखते हैं तो उसे बान्ध देते हैं, उसका सब धन-पैसा लूट लेते हैं, उसे जाने नहीं देते हैं । व्रज में पहुँच कर तुम सनातन के साथ ही जाकर निवास करना एवं व्रजवासी लोगों के चरणों में सदा वन्दना करते रहना । व्रजवासियों से दूर दूर रहकर ही उनकी सेवा करना, उनके सङ्ग रहन-सहन नहीं करना, इससे उनके आचरण एवं व्यवहार की ओर तुम्हारा ध्यान नहीं जावेगा । जगदानन्द ! सनातन के साथ जाकर सब बनों के दर्शन करना एवं उसका सङ्ग कभी एक क्षण के लिये भी न छोड़ना । तुम फिर शीघ्र यहाँ लौट आना, वहाँ चिरकाल तक रह मत जाना । श्रीगोपाल जी के दर्शन करने के लिये श्रीगोवर्द्धन के ऊपर मत चढ़ना । जगदानन्द ! सनातन से कहना कि "मैं भी वहाँ आना चाहता हूँ, मेरे लिये भी कोई स्थान ठीक करके रखे ।" इतना कहकर प्रभुने श्रीजगदानन्द को आलिङ्गन किया और वह श्रीमहाप्रभु जी के चरणों में वन्दना करके वहाँ से चल पड़े ॥३३—४०॥

सब भक्तगण ठाञि आज्ञा मागिला । बन पथे चलि-चलि वाराणसी आइला ॥४१॥
तपनमिश्र चन्द्रशेखर दोंहारे मिलला । तांर ठाञि प्रभुर कथा सकलि शुनिला ॥४२॥
मथुरा आसिया शीघ्र मिलला सनातने । दुइजनेर सङ्गे दोंहे आनन्दित मने ॥४३॥
सनातन कराइल तांरे द्वादश बन । गोकुले रहिला दोंहे देखि महाबन ॥४४॥
सनातन गोफाते दोंहे रहे एक ठाञि । पण्डित पाक करेन देवालये याइ ॥४५॥
सनातन भिक्षा करे याइ महावने । कभु देवालये कभु ब्राह्मण सदने ॥४६॥
सनातन पण्डितेर करेन समाधान । महाबने देन आनि मागि अन्न—पान ॥४७॥

फिर श्रीजगदानन्दजी ने सब भक्तों से आज्ञा मांगी एवं वहाँ से वन के रास्ते चलते चलते वाराणसी आ पहुँचे । वहाँ आकर वे श्रीतपनमिश्र एवं श्रीचन्द्रशेखर जी से मिले और परस्पर उन्होंने श्रीमहाप्रभु जी को लीलाओं का कथोपकथन किया । फिर श्रीजगदानन्द जी व्रज में आए और श्रीसनातन जी से आ मिले । परस्पर मिल कर दोनों बहुत आनन्दित हुए । श्रीसनातन गोस्वामीजी ने उन्हें बारह बनों के दर्शन कराए । दोनों महावन को देखकर गोकुल में रहने लगे । श्रीसनातन गोस्वामी जी जिस गुफा में रहते थे, अब वहाँ दो जने रह रहे थे । गुफा में स्थान न होने के कारण श्रीजगदानन्द जी किसी मन्दिर में जाकर रसोई बनाते । श्रीसनातन गोस्वामीजी महावन जाकर कभी देवालय से कभी किसी

ब्राह्मण के घर से भिक्षा कर लाते। इस तरह श्रीसनातन जी श्रीजगदानन्द जी का सब समाधान कर देते, महाबन से अन्न-जल आदि सब पदार्थों को लाकर देते ॥४१—४७॥

एक दिन सनातने पण्डित निमन्त्रिल। नित्यकृत्य करि तेंहो पाक चढ़ाइल ॥४८॥
मुकन्द सरस्वती नाम संन्यासी महाजने। एक बहिर्वास तेंहो दिला सनातने ॥४९॥
सनातन सेइ वस्त्र मस्तक बान्धिया। जगदानन्देर वासाद्वारे वसिला आसिया ॥५०॥
रातुल वस्त्र देखि पण्डित प्रेमाविष्ट हैला। 'महाप्रभुर प्रसाद' जानि तांहारे पुछिला ॥५१॥
काहां पाइले एइ तुमि रातुल वसन ?। 'मुकुन्द सरस्वती दिल' कहे सनातन ॥५२॥
शुनि पण्डितेर मने दुःख उपजिल। भातेर हाण्डी लञा तांरे मारिते आइल ॥५३॥
सनातन तांरे जानि लज्जित हइया। बलिते लागिल (पण्डित) हाण्डी चुलाते धरिया ॥५४

एक दिन श्रीजगदानन्द जी ने श्रीसनातन जी को निमन्त्रण दिया और उन्होंने अपना नित्यकृत्य करने के बाद रसोई करना आरम्भ कर दिया। श्रीमुकन्द सरस्वती नाम के एक वहाँ संन्यासी रहते थे, उन्होंने एक बहिर्वास श्रीसनातन को पहले कभी दिया था, श्रीसनातनपाद उसी बहिर्वास को (जो गेरुवे रंग में रंगा हुआ था) शिर पर बान्ध कर श्रीजगदानन्द जी के निवास स्थान पर चले आए और रसोई के दरवाजे पर आकर बैठ गये। रंगे वस्त्र को देखकर एवं उसे श्रीमहाप्रभु जी का प्रसादी वस्त्र जान कर श्रीजगदानन्द जी प्रेमाविष्ट हो उठे और पूछने लगे—"सनातनपाद ! यह रंगा हुआ वस्त्र तुम्हें कैसे कहाँ से मिल गया है ?" श्रीसनातनपाद ने कहा—"यह मुझे मुकन्द सरस्वती ने दिया था।" यह बात सुनते ही श्रीजगदानन्द बहुत दुखी हुए और प्रणय रोष में चावल की हाण्डी लेकर उन्हें मारने को दौड़ पड़े। श्रीसनातन पाद श्रीजगदानन्द जी के मन के भावों को जान कर लज्जित हुए (क्यों कि श्रीसनातनपाद इनकी परीक्षा करने के लिये जान बूझ कर मुकन्द-सरस्वती प्रदत्त वस्त्र सिर पर बान्ध कर आए थे।) श्रीजगदानन्द जी ने हाण्डी फिर चूल्हे पर रख दी और कहने लगे ॥४८—५४॥

तुमि महाप्रभुर हओ पार्षद-प्रधान। तोमासम महाप्रभुर प्रिय नाहि आन ॥५५॥
अन्य सन्न्यासीर वस्त्र तुमि धर शिरे ? कोन ऐछे हय इहा पारे सहिबारे ? ॥५६॥
सनातन कहे, साधु ! पण्डित महाशय। चैतन्येर तोमा सम प्रिय केहो नय ॥५७॥
ऐछे चैतन्य-निष्ठा योग्य तोमाते। तुमि ना देखाइले, इहा शिखिब केमते ॥५८॥
याहा देखिवारे वस्त्र मस्तके बान्धिल। सेइ अपूर्व प्रेम प्रत्यक्षे देखिल ॥५९॥
रक्त वस्त्र वैष्णवेर परिते ना जुयाय। कोन परदेशी के दिब, कि काज इहाय ॥६०॥

श्रीजगदानन्द जी ने कहा—"सनातन ! तुम तो श्रीमहाप्रभु जी के प्रधान पार्षद हो और आपके समान श्रीमहाप्रभु जी का प्रिय और कोई नहीं है। ऐसे होकर तुम एक दूसरे संन्यासी का उत्तरीय वस्त्र सिर पर धारण करते हो ? ऐसा कौन वैष्णव होगा जो यह बात सहन कर सकेगा ?" श्रीसनातन ने कहा—"पण्डित महाशय ! आपकी बात ठीक है। आपके समान श्रीचैतन्यदेव का और कोई भक्त नहीं है, इस प्रकार की चैतन्य-निष्ठा तुम्हें ही सुहाती है, आप ऐसी बात नहीं कहोगे तो फिर और कौन ऐसी शिक्षा देगा ? जिसको देखने के लिये मैंने रंगा वस्त्र मस्तक पर बान्धा था, आपके उस अपूर्व प्रेम को

मैंने प्रत्यक्ष देख लिया है। वास्तव में वैष्णवों को रंगा कपड़ा शोभा नहीं देता है, मैं इसे किसी परदेशी को दे दूँगा, मेरे काम का नहीं है।" ॥५५–६०॥

चौ० च० चु० *टीका* :—श्री सनातन गोस्वामी पाद जिस रंगे वस्त्र को धारण कर रहे थे, उसे श्रीजगदानन्द ने प्रभु का वस्त्र जान लिया था और उसे देखकर प्रेमाविष्ट हो उठे थे, इससे ज्ञात होता है कि श्रीमहाप्रभु जी गैरिक वस्त्र धारण करते थे, श्रीकवि कर्णपूर जी ने भी श्रीचैतन्यचरितामृत महाकाव्य (११-६५) में श्रीमहाप्रभु जी के गैरिक वस्त्र का वर्णन किया है। इसी परिच्छेद में भी वर्णन कर चुके हैं कि श्रीजगदानन्द जी ने गैरिक वस्त्र में ही प्रभु के लिये रेशमी गद्दा-बालिश भरवाए थे। इसमें भी जान पड़ता है कि श्रीमहाप्रभु गैरिक वस्त्र धारण करते थे। जो चतुर्थाश्रमोचित संन्यास ग्रहण करते हैं, गैरिक वस्त्र वही लोग प्रयोग करते हैं।

किन्तु यहाँ कहा गया है कि गैरिक वस्त्र वैष्णवों के लिये व्यवहार करना सङ्गत नहीं है। इसका समाधान यहीं हो सकता है कि जो लोग चतुर्थाश्रमोचित संन्यास ग्रहण करें, वे तो आश्रमोचित गैरिक वस्त्र धारण कर सकते हैं, किन्तु जो आश्रमातीत निष्किञ्चन वैष्णव वेश लेना चाहते हैं उनके लिए गैरिक वस्त्र का व्यवहार करना निषिद्ध है। वैष्णव आश्रमातीत होते हैं, वे वर्णाश्रम धर्मों को त्याग करके अकिञ्चन होकर श्रीकृष्ण-शरण लिया करते हैं।

यह तो सब पाठक जानते ही हैं कि श्रीमहाप्रभु जी ने कपट-संन्यास धारण किया था, तत्कालीन प्रथानुसार श्रीमहाप्रभु जी ने संन्यास धारण कर गैरिक वस्त्र केवल इसीलिये स्वीकार किया था कि प्रभु के निन्दक व्यक्ति उनके संन्यासी वेश को देख कर किसी प्रकार उनको नमस्कार करें एवं निन्दा रहित होकर भगवत् अपराध से मुक्त हो सकें और श्रीमहाप्रभु जी के जीव-मात्र–उद्धार का प्रयोजन पूरा हो सके।

यह भी स्मरण रहे कि श्रीभगवान् के या भगवत्-अवतारों के आचरण अनुकरणीय नहीं होते हैं, उनकी लीला का क्या प्रयोजन है—इसे कोई भी नहीं जान सकता है। श्रीमहाप्रभु जी ने कलियुग में संन्यास ग्रहण को निषेध किया है एवं इस बात को शास्त्रवचनों से प्रमाणित किया है। (आदिलीला पृष्ठ २९२ द्रष्टव्य है।)

पाककरि जगदानन्द चैतन्ये समर्पिल। दुइ जन वसि तबे प्रसाद पाइल ॥६१॥
प्रसाद पाइ अन्योन्ये कैल आलिङ्गन। चैतन्य विरहे दोंहे करेन क्रन्दन ॥६२॥
एइ मत मास दुइ रहिला वृन्दावने। चैतन्य-विरह दुख ना याय सहने ॥६३॥
महाप्रभुर सन्देश कहिल सनातने। आमिह आसितेछि,रहिते करिह एक स्थाने॥६४॥
जगदानन्द पण्डित तबे आज्ञा मागिल। सनातन प्रभुके किछु भेटवस्तु दिला ॥६५॥
रासस्थलीर बालु, आर गोवर्द्धनेर शिला। शुष्क पक्व पीलुफल आर गुञ्जामाला॥६६॥
जगदानन्द पण्डित चलिला सब लञा। व्याकुल हैल सनातन तारे विदाय दिया॥६७॥

तब श्रीजगदानन्द जी ने रसोई तैयार करके श्रीचैतन्यचन्द्र को समर्पण की और दोनों जनों ने वहाँ बैठकर प्रसाद पाया। प्रसाद पाकर दोनों ने परस्पर आलिङ्गन किया एवं दोनों श्रीचैतन्य-विरह में रोने लगे। इस प्रकार जब श्रीजगदानन्द जी को श्रीवृन्दावन में रहते हुए दो मास बीत गए फिर

उनको श्रीचैतन्य का विरह सहन न हो सका। उन्होंने श्रीमहाप्रभु जी का सन्देशा श्रीसनातन जी को दिया कि श्रीमहाप्रभु जी ने कहा था मैं भी वृन्दावन आना चाहता हूँ, मेरे लिये भी कोई एक स्थान ठीक करके रखो।" तब श्रीजगदानन्द जी ने श्रीसनातन जी से विदा माँगी। श्रीसनातन गोस्वामी जी ने प्रभु के लिए कुछ भेंट में वस्तुएं दी। उन्होंने रासस्थली की रज, श्रीगोवर्द्धन की एक शिला, कुछ सूखे हुए पीलू एवं गुञ्जामाला—ये वस्तुएं प्रभु को भेंट में भेजीं। श्रीजगदानन्द जी सब कुछ लेकर नीलाचल की ओर चल दिये और श्रीसनातन उनके चले जाने के बाद व्याकुल हो उठे ॥६१-६७॥

प्रभुर निमित्त एक स्थान विचारिल। द्वादशादित्यटिलाय एक मठि पाइल ॥६८॥
सेइ स्थान राखिल गोसाञि संस्कार करिया। मठिर आगे रहिल एक छाओनि बान्धिया ॥
शीघ्र चलि नीलाचले गेला जगदानन्द। सब भक्त सह गोसाञि परम आनन्द ॥७०॥
प्रभुर चरण वन्दि सभारे मिला। महाप्रभुर तारे दृढ़ आलिङ्गन कैला ॥७१॥
सनातनेर नामे पण्डित दण्डवत् कैल। रासस्थलीर बालु आदि सब भेट दिल ॥७२॥
सब द्रव्य राखिल, पीलु दिलेन बांटिया। 'वृन्दाबनेर फल' बलि खाइल हृष्ट हैया ॥७३॥
ये केहो जाने से आंटि सहित गिलिल। ये ना जाने, गौड़िया पीलू चाबाइया खाइल ॥७४॥
मुखे तार छाल गेल, जिह्वाय पड़े लाला। वृन्दाबनेर पीलु खाइते एइ एक खेला ॥७५॥

श्रीसनातन गोस्वामी जी ने श्रीमहाप्रभु जी के लिए एक स्थान का विचार कर लिया। द्वादशादित्य टीला पर एक मठ उन्हें मिल गया। उस मठ को उन्होंने अच्छी प्रकार शुद्ध कर लिया एवं स्वयं उस मठ के सामने लता-पताओं की एक झोंपड़ी सी बनाकर प्रभु के आगमन की प्रतीक्षा में वहां वास करने लगे। इधर श्रीजगदानन्दजी नीलाचल में पहुँचे, वहाँ श्रीमहाप्रभु जी भक्तों के सहित परमानन्द-पूर्वक विराजमान थे। श्रीजगदानन्दजी ने प्रभु के चरणों में वन्दना की और सब भक्तों से यथायोग्य मिले। श्रीमहाप्रभु जी ने उन्हें दृढ़ आलिङ्गन किया। श्रीजगदानन्द जी ने श्रीसनातन जी का नाम लेकर प्रभु को दण्डवत् प्रणाम की और रासस्थली की रज आदिक सब वस्तुएं उनकी तरफ से भेंट की। श्रीमहाप्रभु जी ने और सब वस्तुएं तो रखलीं किन्तु उन्होंने पीलू सब भक्तों में बांट दिये और स्वयं भी श्रीवृन्दावन का यह फल है—'ऐसा कह कर प्रसन्न-चित्त से उन्हें पाने लगे। जो लोग पीलू खाना जानते थे, उन्होंने तो गुठली सहित उन्हें निगल लिया, और जो नहीं जानते थे, वे उन्हें चबाकर खाने लगे। उनके चबाते ही उन लोगों के मुखों में छाले पड़ गये और वे लार टपकाने लगे। श्रीबृन्दावन के पीलू फल खाने में यह एक तमाशा और बन गया ॥६८—७५॥

जगदानन्देर आगमने सभार उल्लास। एइ मते नीलाचले प्रभुर विलास ॥७६॥
एक दिन प्रभु यमेश्वर टोटा याइते। सेइ काले देवदासी लागिला गाइते ॥७७॥
गुर्जरी राग लञा सुमधुर स्वरे। गीतगविन्दपद गाय जग-मन हरे ॥७८॥
दूरे गान शुनि प्रभुर हइल आवेश। 'स्त्री पुरुष केवा गाय' ना जाने विशेष ॥७९॥
तारे मिलिबारे प्रभु आवेशे धाइला। पथे सिजेर वारि हय, छुटिया चलिला ॥८०॥
अङ्गे कांटा लागिल इहा किछु ना जानिला। आस्ते व्यस्ते गोविन्द तांर पाछेत धाइला॥८१॥

श्रीजगदानन्द जी के नीलाचल आने पर सब आनन्दित हुए, इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी नीलाचल में विलास करते थे। एक दिन श्रीमहाप्रभु जी यमेश्वर नाम के बगीचा में जा रहे थे (जहाँ श्रीगदाधर पण्डित जी निवास करते थे) उसी समय एक देवदासी (श्रीजगन्नाथ जी के आगे नृत्य गान करने वाली अविवाहिता कन्या) गान कर रही थी। वह गुर्जरी रागिनी को अति सुमधुर स्वर में श्रीगीत गोविन्द का पद गान कर रही थी, जिससे सब सुनने वालों का मन हरण हुआ जाता था। दूर से उस गान को सुन कर श्रीमहाप्रभु जी का मन भी प्रेमाविष्ट होगया। स्त्री गान कर रही है या कोई पुरुष यह तो उन्होंने कुछ नहीं जाना, वे आवेश में उसकी ओर उसे आलिङ्गन करने को दौड़े। प्रभु के आगे एक काँटों के वृक्ष की मेड़ थी, वे उसी में ही भागे चले गये। उनके अङ्गों में अनेक काँटे लग रहे हैं—यह भी वे कुछ न जानते थे। यह देख कर बहुत शीघ्र श्रीगोविन्द प्रभु के पीछे दौड़ कर आए ॥७६–८१॥

धाइया यायेन प्रभु,, स्त्री आछे अल्प दूरे। 'स्त्री गाय' बलि गोविन्द प्रभु कैल कोले ॥८२॥
स्त्रीर नाम शुनि प्रभुर बाह्य हइला। पुनरपि सेइ पथे बहुड़ि चलिला ॥८३॥
प्रभु कहे, गोविन्द ! आजि राखिले जीवन। स्त्री स्पर्श हइले आमर हइत मरण ॥८४॥
ए ऋण शोधिते आमि नारिब तोमार। गोविन्द कहे, जगन्नाथ राखे मुइ कोन् छार ॥८५॥
प्रभु कहे, तुमि मोर सङ्गेइ रहिवा। याहां ताहां मोर रक्षाय सावधान हैवा ॥८६॥
एत बलि नेउटि प्रभु गेला निज स्थाने। शुनि महाभय हैल स्वरूपादि–मने ॥८७॥

श्रीमहाप्रभु जी भागे हुए आगे जा रहे थे, वह देव कन्या पास ही थी कि श्रीगोविन्द ने कहा—"यह स्त्री गा रही है," ऐसा कह कर श्रीगोविन्द ने प्रभु को अङ्क में भर लिया। स्त्री का नाम सुनते ही प्रभु को बाह्य हुआ और शीघ्र ही उसी रास्ते पीछे लौट आए। श्रीप्रभु ने कहा—"गोविन्द ! आज तुमने मेरा जीवन बचा लिया है। स्त्री का स्पर्श हो जाने से तो मेरा मरण हो जाता।" मैं तुम्हारे इस ऋण से मुक्त नहीं हो सकूँगा।" श्रीगोविन्द ने कहा—"प्रभु ! श्रीजगन्नाथ जी ने आपको बचा लिया है, मैं तुच्छ क्या वस्तु हूँ।" प्रभु ने कहा—"गोविन्द ! तुम मेरे सङ्ग ही रहा करो एवं जहाँ तहाँ मेरी रक्षा के लिये सावधान रहा करो।" इतना कहकर प्रभु अपने स्थान पर लौट आए और इस वृत्तान्त को सुनकर श्रीस्वरूपादि मन में महाभयभीत हुए ॥८२–८७॥

एथा तपनमिश्रेर पुत्र रघुनाथ भट्टाचार्य। प्रभुके देखिते चलिला छाड़ि सर्व कार्य ॥८८॥
काशी हैते चलिला तेंहो गौड़पथ दिया। सङ्गे सेवक चले झालि वहिया ॥८९॥
पथे तांरे मिलिला विश्वास रामदास। विश्वासखानार कायस्थ तेंहो राजार विश्वास ॥९०॥
सर्वशास्त्रे प्रवीण काव्य प्रकाश अध्यापक। परम वैष्णव रघुनाथ – उपासक ॥९१॥
अष्टप्रहर रामचन्द्र जपे रात्रि दिने। सर्व त्यागि चलिला जगन्नाथ दरशने ॥९२॥
रघुनाथ भट्टेर सने पथेते मिलिला। भट्टेर झालि माथाय करि रहिया चलिला ॥९३॥

इधर श्रीतपनमिश्र के पुत्र, जिनका नाम श्रीरघुनाथ भट्टाचार्य था, श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन के लिए सब काम छोड़कर नीलाचल चल पड़े। वह काशी से गौड़ पथ के रास्ते से चले। उनके साथ एक सेवक भी झालि (एक पेटी) उठाकर साथ चल रहा था। श्रीरघुनाथ को रास्ते में श्रीरामदास

विश्वास मिले। श्रीरामदास विश्वास किसी राजा के विश्वासखाना में कर्मचारी थे। वे सर्व शास्त्रों के ज्ञाता और काव्य प्रकाश के अध्यापक थे। वे परम वैष्णव थे और श्रीराम उपासक थे। रात दिन वे श्रीराम जी की अष्टयाम उपासना किया करते थे। वे भी सब कुछ त्याग कर श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करने जा रहे थे। उनका रास्ते में श्रीरघुनाथ भट्ट के साथ मिलाप हुआ। वे श्रीरघुनाथ भट्ट की पेटी माथे पर उठाकर चलने लगे ॥८८-९३॥

नाना सेवा करि करे पाद संबाहन। ताते रघुनाथेर हय सङ्कोचित मन ॥९४॥
'तुमि बड़ लोक पण्डित महाभागवते। सेवा ना करिह, सुखे चल मोर साथे ॥९५॥
रामदास कहे, आमि शूद्र अधम। ब्राह्मणेर सेवा, एइ मोर निजधर्म ॥९६॥
सङ्कोच ना कर तुमि आमि तोमार दास। तोमार सेवा करिले हय हृदये उल्लास ॥९७॥
एत बलि झालि बहे, करेन सेवने। रघुनाथेर तारक मन्त्र जपे रात्रि दिने ॥९८॥

श्रीरामदास विश्वास अनेक प्रकार की सेवा करते और उनके पाद भी संवाहन करने लगते। श्रीरघुनाथ जी को मन में बहुत सङ्कोच होता और कहते—"रामदास! आप मुझसे बड़े हैं, परम पण्डित एवं महा भागवत हैं, आप मेरी सेवा न किया करें, मेरे साथ सुख पूर्वक चलिये।" श्रीरामदास जी ने कहा—"मैं एक अधम शूद्र हूँ, ब्राह्मणों की सेवा करना तो मेरा निजधर्म है। आप कुछ भी सङ्कोच ना करिये, मैं आपका दास हूँ। आपकी सेवा करने में मेरे हृदय में बहुत उल्लास होता है।" यह कहकर श्रीरामदास जी उनकी पेटी को भी उठाकर चला करते, उनकी सेवा भी किया करते एवं रात दिन श्रीराम जी का तारक मन्त्र भी जपा करते थे ॥९४-९८॥

एइमते रघुनाथ आइला नीलाचले। महाप्रभुर चरणे याइ मिलिला कुतुहले ॥९९॥
दण्ड प्रणाम करि भट्ट पड़िला चरणे। प्रभु 'रघुनाथ' जानि कैल आलिङ्गने ॥१००॥
मिश्र आर शेखरेर दण्डवत् जानाइला। महाप्रभु तांसभार वार्त्ता पुछिला ॥१०१॥
भाल हैल, आइला देख कमललोचन। आजि आमार एथा करिबे प्रसाद भोजन ॥१०२॥
गोविन्देरे कहि एक वासा देओयाइला। स्वरूपादि भक्तगणसने मिलाइला ॥१०३॥
एइमत प्रभुर सङ्गे रहिला अष्टमास। दिने दिने प्रभुर कृपाय बाढ़ाये उल्लास ॥१०४॥

इस प्रकार श्रीरघुनाथ भट्ट नीलाचल आ पहुँचे और आनन्द पूर्वक श्रीमहाप्रभु जी के साथ आ मिले। उन्होंने दण्डवत् प्रणाम कर प्रभु के चरण पकड़ लिये, प्रभु ने भी जान लिया कि वह श्रीतपनमिश्र के पुत्र हैं और उन्हें उठकर आलिङ्गन किया। उन्होंने अपने पिता जी श्रीतपनमिश्र की एवं श्रीचन्द्रशेखर की प्रभु को दण्डवत् प्रणाम जनाई। प्रभु ने भी उन दोनों का कुशल-समाचार पूछा। प्रभु ने कहा—"अच्छा हुआ, रघुनाथ! तुम यहाँ श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करने आए तो, आज तुम यहाँ प्रसाद भोजन करना।" प्रभु ने श्रीगोविन्द को कह कर श्रीरघुनाथ जी के लिये निवास - स्थान दिलाया। फिर उन्हें श्रीस्वरूपादि सब भक्तों के साथ परिचय कराया। इस प्रकार वह श्रीमहाप्रभु जी के साथ वहाँ आठ मास तक रहे। दिन प्रति दिन उनमें प्रभु की कृपा मे प्रेम की वृद्धि होती जाती थी ॥९९-१०४॥

मध्ये मध्ये महाप्रभुर करे निमन्त्रण। घर भात करे सार विविध व्यञ्जन ॥१०५॥
रघुनाथ भट्ट पाके अति सुनिपुण। येइ रान्धे, से इ हय अमृतेर सम ॥१०६॥
परम सन्तोषे प्रभु करेन भोजन। प्रभुर अवशेषपात्र भट्टेर भक्षण ॥१०७॥
रामदास प्रथम यवे प्रभुरे मिलिला। महाप्रभु अधिक तांरे कृपा ना करिला ॥१०८॥
अन्तरे मुमुक्षु तेंहो विद्यागर्ववान। सर्वचित्त ज्ञाता प्रभु सर्वज्ञ भगवान् ॥१०९॥
रामदास कैल तवे नीलाचले वास। पट्टनायकेर गोष्ठीके पढ़ाय काव्य प्रकाश ॥११०॥

बीच बीच में श्रीरघुनाथ जी श्रीमहाप्रभु जी को निमन्त्रण कराते एवं अपने हाथों से भात एवं विविध प्रकार के व्यञ्जन तैयार करते। वह रसोई में अति निपुण थे, जो चीज़ वह तैयार करते, वही अमृत तुल्य स्वादिष्ट होती थी। प्रभु भी परम सन्तुष्ट होकर उसके यहाँ भोजन करते। श्रीरघुनाथभट्ट श्रीमहाप्रभुजी का उच्छिष्ट भोजन करते। श्रीरामदास विश्वास जब आकर श्रीमहाप्रभु जी से मिले, तो श्रीमहाप्रभु जी की उन्हें विशेष कृपा प्राप्त न हुई। उनके मन में मुक्ति की कामना थी (भक्ति के इच्छुक वह न थे) और उनके मन में विद्या का भी अभिमान था। श्रीमहाप्रभु जी सर्व चित्त अन्तर्यामी एवं सर्वज्ञ भगवान् हैं वे सब इनके मन की भावना को जान गए। श्रीरामदास वहाँ नीलाचल में वास करने लगे और श्रीगोपीनाथ पट्टनायक के परिवार को काव्यप्रकाश पढ़ाया करते ॥१०५-११०॥

अष्ट मास रहि प्रभु भट्टे विदाय दिला। 'विभा ना करिह' बलि निषेध करिला ॥१११॥
वृद्ध माता - पिता याइ करह सेवन। वैष्णव पाश भागवत कर अध्ययन ॥११२॥
पुनरपि एकबार आसिह नीलाचले। एत वलि कण्ठ माला दिल तांर गले ॥११३॥
आलिङ्गन करि प्रभु विदाय तांरे दिला। प्रेमे गरगर भट्ट कांदिते लागिला ॥११४॥
स्वरूपादि भक्त ठाञि आज्ञा मागिया। वाराणसी आइला भट्ट प्रभु-आज्ञा पाञा ॥११५॥

आठ मास के बाद श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीरघुनाथभट्ट को विदा किया और इनसे कहा— "रघुनाथ ! तुम विवाह नहीं करना, तुम्हारे माता-पिता वृद्ध हैं, उनकी सेवा किया करना और किसी वैष्णव से श्रीमद्भागवत जी का अध्ययन करना। रघुनाथ ! एक बार फिर भी तुम नीलाचल आना"— इतना कहकर प्रभु ने अपने गले की माला उतार कर उनके गले में डाल दी। प्रभु ने उन्हें जब आलिङ्गन किया और विदा कर दिया तब श्रीरघुनाथ जी प्रेम में विभोर होकर रोने लगे। उन्होंने आकर श्रीस्वरूप आदि सब भक्तों से आज्ञा मांगी। इस प्रकार श्रीरघुनाथभट्टजी प्रभु आज्ञा पाकर काशी आ पहुँचे ॥११५

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमहाप्रभु जी ने किसी वैष्णव के निकट श्रीभागवत जी के पढ़ने का आदेश श्रीरघुनाथभट्ट जी को दिया। इसका कारण यह है कि भक्तिरस रसिक वैष्णव के बिना और कोई भी श्रीमद्भागवत जी के गूढ़ तत्वों को नहीं जान सकता है, चाहे कोई कैसा भी विद्वान् व शास्त्र का पण्डित क्यों न हो। विशेषतः वैष्णव-कृपा के बिना महान् पण्डित भी श्रीभागवतजी के गूढ़ तात्पर्य को नहीं समझ सकता है इसलिये कहा भी गया है—

"भक्त्या भागवतं ग्राह्यं न बुद्धया न च टीकया।"

श्रीमद्भागवत जी केवल भक्ति से ही ग्राह्य है, कोई भी उसके तात्पर्य को अपनी बुद्धि से या टीकाओं को पढ़कर नहीं समझ सकता।"

चारि वत्सर घरे पिता-माता सेवा कला। वैष्णव पण्डित ठाञि भागवत पढ़िला ॥११६॥
पिता-माता काशी पाइले उदासीन हञा। पुन प्रभुर ठाञि आइला गृहादि छाड़िया ॥११७॥
पूर्ववत् अष्टमास प्रभु पाश छिला। अष्टमास रहि पुन प्रभु आज्ञा दिला ॥११८॥
आमार आज्ञाय रघुनाथ! याहा वृन्दावने। ताहा याञा रह रूप-सनातन स्थाने ॥११९॥
भागवत पढ़ सदा लह कृष्णनाम। अचिरे करिवेने कृपा कृष्ण भगवान ॥१२०॥
एत बलि प्रभु तांरे आलिङ्गन कैला। प्रभुर कृपाते कृष्णप्रेमे मत्त हैला ॥१२१॥

श्रीरघुनाथभट्ट जी ने घर पर आकर चार वर्ष तक अपने माता-पिता की सेवा की और वैष्णव-पण्डित के पास श्रीमद्भागवत जी का अध्ययन किया। जब उनके माता-पिता काशी प्राप्त होगये, (उनका देहान्त होगया) वह विरक्त होकर सब कुछ छोड़कर प्रभु के पास नीलाचल चले आए। पहले की भाँति प्रभु के पास आठ मास तक रहे। फिर प्रभुने उन्हें इस प्रकार आज्ञा की—"रघुनाथ! मेरी आज्ञा से तुम श्रीवृन्दाबन चले जाओ। वहाँ श्रीरूप-सनातन के पास जाकर रहो। श्रीमद्भागवत का सदा अध्ययन करते रहना एवं निरन्तर श्रीकृष्णनाम का जप करना। इससे श्रीकृष्ण भगवान् की अति शीघ्र कृपा प्राप्ति कर लोगे।" इतना कह कर प्रभु ने उन्हें आलिङ्गन किया और वह प्रभु कृपा पाकर श्रीकृष्ण-प्रेम में उन्मत हो उठे ॥११६-१२१॥

चौद्दहाथ जगन्नाथेर तुलसीर माला। छुटा पान बिड़ा महोत्सवे पाञाछिला ॥१२२॥
से माला छुटापान प्रभु तांरे दिला। 'इष्टदेव' करि माला धरिया राखिला ॥१२३॥
प्रभु ठाञि आज्ञा लञा आइला वृन्दाबन। आश्रय करिल आसि रूप-सनातन ॥१२४॥
रूपगोसाञिर सभाते करे भागवत पठन। भागवत पढ़िते प्रेमे आओलाय तांर मन ॥१२५॥
अश्रु कम्प गद्गद् प्रभुर कृपाते। नेत्र कण्ठ रोधे वाष्प, न पारे पढ़िते ॥१२६॥
पिक स्वर कण्ठ, ताते रागेर विभाग। एक श्लोक पढ़िते फिराय तिन चारि राग ॥१२७॥

श्रीमहाप्रभु जी को श्रीजगन्नाथ जी की चौदह हाथ लम्बी एक तुलसी माला एवं छुटा-पान (एक प्रकार का पान) एक पुजारी ने दिये थे। वह माला एवं पान श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीरघुनाथभट्ट जी को दे दिये। उन्होंने उन्हें इष्टदेव का रूप जानकर अपने पास सुरक्षित रख लिया। वह प्रभु की आज्ञा लेकर श्रीवृन्दावन चले आए और यहाँ आकर श्रीरूप-सनातन गोस्वामीपाद का आश्रय ग्रहण किया। वह श्रीरूपगोस्वामी जी की सभा में श्रीभागवत जी का पाठ करते। पाठ करते समय उनका मन प्रेम में विभोर हो जाता। प्रभु कृपा से उन्हें अश्रु, कम्प, गद्गद स्वर आदि सात्विक विकार होने लगते। अश्रुओं से उनके नेत्र व कण्ठ अवरुद्ध हो जाते और पाठ न कर सकते। उनका कोकिला की भाँति मधुर स्वर था, उसमें भी वह अनेक प्रकार के रागों का आलाप करते थे। एक श्लोक को पढ़ने में वह तीन चार रागों को उच्चारण कर जाते ॥१२२—१२७॥

कृष्णेर सौन्दर्य माधुर्य यबे पढ़े शुने। प्रेमे विह्वल हय तबे, किछुइ ना जाने ॥१२८॥
गोविन्द चरणे कैल आतम समर्पण। गोविन्दचरणारविन्द यार प्राणधन ॥१२९॥

निज शिष्ये कहि गोविन्द मन्दिर कराइल । वंशी-मकरकुण्डलादि भूषण करि दिल॥१३०॥
ग्राम्य वार्त्ता नाहि शुने, न कहे जिह्वाय । कृष्ण कथा पूजा दिते अष्टप्रहर याय ॥१३१॥
वैष्णवेर निन्द्य कर्म नाहि पाड़े काणे । सबे कृष्ण भजन करे, एइमात्र जाने ॥१३२॥
महाप्रभुर दत्त माला मननेर काले । प्रसाद-कड़ार-सह वान्धिलेन गले ॥१३३॥

श्रीरघुनाथ भट्ट जी श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-माधुर्य की जब भी कथा पढ़ते, तभी वे प्रेम में विह्वल हो जाते एवं वेसुद्धि हो जाते। इन्होंने श्रीगोविन्द-चरणों में आत्म-समर्पण कर दिया था। उनका एक शिष्य (जयपुराधीश श्रीमानसिंह) था, जिसके प्राणधन श्रीगोविन्द-चरण - कमल ही थे। श्रीरघुनाथभट्ट जी ने उसे कहकर श्रीगोविन्दजी का मन्दिर वनवाया एवं वंशी, मकरकुण्डलादि श्रीगोविन्द जी के भूषण भी उससे तैयार कराए। वे कभी भी ग्राम्यवार्त्ता (स्त्री प्रसङ्ग) न सुनते थे और न कहते थे। श्रीकृष्ण कथा-पूजादि में ही उनके आठों प्रहर व्यतीत होते थे। वैष्णव निन्दा कान में नहीं पड़ने देते थे, एकमात्र श्रीकृष्ण-भजन में ही व्यस्त रहते। वे कृष्ण-लीला स्मरण करते समय श्रीमहाप्रभु जी की दी हुई माला को प्रसादी चन्दन के साथ अपने गले में धारण कर लेते थे ॥१२८-१३३॥

महाप्रभुर कृपाय कृष्णप्रेम अनर्गल । एइत कहिल ताते चैतन्येर कृपा फल ॥१३४॥
जगदानन्देर कहिल वृन्दावन आगमन । तार मध्ये देवदासीर गान-श्रवण ॥१३५॥
महाप्रभुर रघुनाथे कृपा-प्रेमफल । एक परिच्छेदे तिन कथा कहिल सकल ॥१३६॥
ये एइ सब कथा शुने श्रद्धा करि । तारे कृष्णप्रेमधन देन गौर हरि ॥१३७॥
श्रीरूप - रघुनाथ पदे यार आश । चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥१३८॥

श्रीकविराज कहते हैं—"श्रीमहाप्रभु जी की कृपा का यही फल है कि श्रीरघुनाथ जी को अनर्गल श्रीकृष्ण प्रेम की प्राप्ति होगई। इस प्रकार मैंने श्रीजगदानन्द जी के वृन्दाबन - आगमन का प्रसङ्ग कहा है, उसी प्रसङ्ग में देवदासी के गान श्रवण की कथा तथा श्रीमहाप्रभु जी की कृपा से श्रीरघुनाथ जी को प्रेमफल की प्राप्ति—यह तीनों प्रसङ्ग एक ही परि·छेद में वर्णन किए हैं। जो इन कथाओं को श्रद्धापूर्वक सुनेगा, उसे श्रीगौरहरि की कृपा से श्रीकृष्ण प्रेम की प्राप्ति होगी।" श्रीरूपगोस्वामी एवं श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदासगोस्वामी श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृत का गान करते हैं ॥१३४-१३८॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां

जगदानन्द-वृन्दाबनगमनं नाम

त्रयोदश परिच्छेदः ॥१३॥

अन्त्य-लीला

चतुर्दश परिच्छेद

*

कृष्णविच्छेदविभ्रान्त्या मनना वपुषा धिया ।
यद् यद् व्यधत्त गौराङ्गस्तल्लेशः कथ्यतेऽधुना ॥१॥

श्रीकृष्ण के विरह-विभ्रम के कारण मन, शरीर व बुद्धि द्वारा श्रीगौराङ्ग जो जो करते थे, अब उसका किञ्चन्मात्र कथन करते हैं ॥१॥

(इस चतुर्दश परिच्छेद में श्रीमन्महाप्रभु जी की दिव्योन्मादचेष्टा वर्णन की गई है ।)

जय जय श्रीचैतन्य स्वयं भगवान् । जय जय गौरचन्द्र भक्तगण - प्राण ॥१॥
जय जय नित्यानन्द चैतन्य जीवन । जयाद्वैताचार्य जय गौरप्रियतम ॥२॥
जय स्वरूप-श्रीवासादि प्रभुर भक्तगण । शक्ति देह करि येन चैतन्यवर्णन ॥३॥
प्रभुर विरहोन्मादभाव गम्भीर । बुझिते ना पारे केहो यद्यपि हय धीर ॥४॥
बुझिते ना पारे याहा, वर्णिते के पारे ? । से-इ बुझे वर्णे, चैतन्य शक्ति देन यारे ॥५॥

स्वयं भगवान् श्रीचैतन्यदेव की जय हो, जय हो, भक्तों के प्राण तुल्य श्रीगौरचन्द्र की जय हो, जय हो । श्रीचैतन्य के प्राण तुल्य श्रीनित्यानन्दप्रभु की जय हो, जय हो । श्रीगौराङ्गप्रभु के परम प्रिय श्रीअद्वैताचार्य जी की जय हो, जय हो । श्रीस्वरूप गोस्वामी एवं श्रीवासादि गौरभक्तों की जय हो आप सब मुझे ऐसी शक्ति प्रदान कीजिये कि मैं श्रीचैतन्यदेव की लीलाओं का वर्णन कर सकूं । श्रीमहाप्रभु जी का श्रीकृष्ण विरह में जो उन्माद भाव है, वह परम गम्भीर है, कोई कैसा भी धीर (स्थिरचित्त) क्यों न हो, वह भी उसे नहीं समझ सकता है । जो समझ ही नहीं सकता है, वह फिर वर्णन ही कैसे कर पायेगा ? केवल वही उसे समझ व वर्णन कर सकता है, जिसको श्रीचैतन्य अपनी शक्ति प्रदान करते हैं ॥१—५॥

स्वरूपगोसाञि आर रघुनाथदास । एइ-दुइ कड़चाते ए लीला प्रकाश ॥६॥
से काले एइ दुइ रहे महाप्रभुर पाशे । आर सब कड़चाकर्त्ता रहे दूर देशे ॥७॥

क्षणे क्षणे अनुभवि एइ दुइ जन। संक्षेपे बाहुल्ये करे कड़चाग्रन्थन ॥८॥
स्वरूप सूत्रकर्त्ता, रघुनाथ वृत्तिकार। तार बाहुल्य वर्णि पांजिटीका व्यवहार ॥९॥
ताते विश्वास करि शुन भावेर वर्णन। हइवे भावेते ज्ञान, पाइवे प्रेमधन ॥१०॥

श्रीस्वरूपगोस्वामी तथा श्रीरघुनाथ गोस्वामीजी ने अपनी अपनी कड़चाओं में प्रभु की लीला प्रकाशित की है। उस समय ये दोनों जने ही श्रीमहाप्रभुजी के पास निवास करते थे, किन्तु और और (श्रीमुरारीगुप्त, श्रीकवि कर्णपूर आदि) भक्त जिन्होंने कड़चा लिखी हैं, वे सब प्रभु से दूर देश में रहते थे। श्रीस्वरूप गोस्वामीजी तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामी—ये दोनों क्षण क्षण में जो कुछ अनुभव करते थे, उन अनेक समस्त लीलाओं को वे अपनी कड़चाओं में अति संक्षेप से लिखते जाते थे। श्रीस्वरूप-गोस्वामी जी ने उन लीलाओं को सूत्र रूप में लिखा है, और श्रीरघुनाथदास जी ने उन सूत्रों की विवृति लिखी है—उन्हें विस्तारपूर्वक प्रस्तावना-टीकादि सहित लिखा है। श्रीकविराज गोस्वामी कहते हैं—"हे भक्तगण! इन भावों के वर्णन को विश्वास करके सुनिये, तभी इन भावों का आपको ज्ञान प्राप्त होगा और फिर श्रीकृष्ण-प्रेमधन की प्राप्ति होगी ॥६-१०॥

कृष्ण मथुरा गेले गोपीर ये दशा हइल। कृष्णविच्छेदे प्रभुर से दशा उपजिल ॥११॥
उद्धवदर्शने यैछे राधार विलाप। क्रमे क्रमे हैल प्रभुर से उन्माद-विलाप ॥१२॥
राधिकार भावे प्रभुर सदा अभिमान। सेई भावे आपनाके हय 'राधा'-ज्ञान ॥१३॥
दिव्योन्मादे ऐछे हय, कि इहा विस्मय। अधिरूढ़ भावे दिव्योन्माद प्रलाप हय ॥१४॥

भगवान् श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर जो दशा श्रीराधाजी की हुई, श्रीकृष्ण के विरह में वही दशा श्रीमन्महाप्रभु जी की होती थी। श्रीउद्धव जी को देखने पर जैसे श्रीराधा जी विलाप करती थीं, वही उन्माद पूर्ण विलाप श्रीमहाप्रभु जी करते थे। श्रीमहाप्रभु जी का श्रीराधामय अभिमान था और वे अपने को श्रीराधा ही जानते थे। दिव्योन्माद में अधिरूढ़भावमय दिव्योन्माद-प्रलाप स्वाभाविक होता है—यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है ॥११-१४॥ (दिव्योन्माद के लक्षण इस प्रकार होते हैं—)

तथाहि उज्ज्वलनीलमणौ स्थायिभाव प्रकरणे (१३७)

एतस्य मोहनाख्यस्य गतिं कामप्युपेयुषः।
भ्रमाभा कापि वैचित्री दिव्योन्माद इतीर्य्यते
उद्घूर्णा चित्रजल्पाद्यास्तद्भेदा बहवो मताः ॥२॥

किसी एक अनिर्वचनीय वृत्ति-प्राप्त मोहन नामक भाव की भ्रमाभा अद्भुत वैचित्री को दिव्योन्माद कहते हैं। उसके उद्घूर्णा, चित्रजल्प आदि अनेक प्रकार के भेद हैं ॥२॥

(मोहनाख्य-महाभाव, दिव्योन्माद एवं चित्रजल्प उद्घूर्णादि के लक्षण मध्यलीला पृष्ठ ६८४ पर द्रष्टव्य हैं)।

एकदिन महाप्रभु करियाछेन शयन। कृष्ण रासलीला करे, देखेन स्वपन ॥१५॥
त्रिभङ्ग - सुन्दर देह मुरली वदन। पीताम्बर बनमाला मदन मोह. ॥१६॥

मण्डली वन्धे गोपीगण करेन नर्त्तन । मध्ये राधासह नाचे ब्रजेन्द्रनन्दन ॥१७॥
देखि प्रभु सेइ रसे ग्राविष्ट हइला । "बृन्दाबने कृष्ण पाइलु" एइ ज्ञान हैला ॥१८॥
प्रभुर विलम्ब देखि गोविन्द जागाइला । जागिले 'स्वप्न' ज्ञान हैल, प्रभु दुखी हैला ॥१६॥
देहाभ्यासे नित्यकृत्य करि समापन । काले याइ कैल जगन्नाथ दरशन ॥२०॥

एक दिन श्रीमहाप्रभु जी जब शयन कर रहे थे, उन्होंने स्वप्न में श्रीकृष्ण को रासलीला करते देखा। वे ललित त्रिभङ्ग मूर्त्ति होकर मुरली ग्रधर पर धारण कर रहे थे, पीताम्बर व बनमाला धारण किये हुए उनका मदनमोहन वेश सुशोभित होरहा था। ग्रसंख्य ब्रजगोपीगण मण्डलाकार में नृत्य कर रही थीं एवं उनके बीच में श्रीराधाजी के साथ श्रीब्रजेन्द्रनन्दन नृत्य कर रहे थे। यह सब स्वप्न में देख प्रभु उसी रस में ग्राविष्ट होगये ग्रौर ऐसा जानने लगे कि "श्रीवृन्दाबन में मैंने श्रीकृष्ण को पा लिया है।" बहुत देर हुई जानकर श्रीगोविन्द ने प्रभु को जगाया ग्रौर जाग कर प्रभु ने जाना कि वे तो स्वप्न देख रहे थे। उस रस से वञ्चित होकर प्रभु बहुत दुखी हुए। देह-ग्रभ्यास के कारण प्रभु ने नित्य कर्म समाप्त किया ग्रौर समय पर जाकर उन्होंने श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन किये ॥१५-२०॥

यावत् काल दर्शन करे गरुड़ेर पाछे । प्रभुर ग्रागे दर्शन करे लोक लाखे लाखे ॥२१॥
उड़िया एक स्त्री भिड़े दर्शन ना पाञा । गरुड़े चढ़ि देखे प्रभुर कान्धे पद दिया ॥२२॥
देखि गोविन्द ग्रस्तेव्यस्ते स्त्री के वर्जिला । तारे नाम्वाइते प्रभु गोविन्दे निषेधिला ॥२३॥
"ग्रादिवश्या ! एइ स्त्री के ना कर वर्जन । करुक यथेष्ट जगन्नाथ दरशन" ॥२४॥
ग्रस्तेव्यस्ते सेइ स्त्री भूमिते नाम्बिला । महाप्रभु के देखि चरण बन्दन करिला ॥२५॥

जब तक श्रीमहाप्रभु जी श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करते, तब तक वे गरुड़ स्तम्भ के पीछे खड़े रहते। (श्रीजगन्नाथ जी के सामने के जगमोहन में एक स्तम्भ है, जिसे गरुड़स्तम्भ कहते हैं। प्रभु सदा इसके पीछे खड़े होकर श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन किया करते थे।) ग्रसंख्य लोग श्रीमहाप्रभु जी के ग्रागे खड़े होकर श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन किया करते थे। उस दिन एक उड़िया देश की स्त्री बहुत भीड़-भाड़ के कारण श्रीजगन्नाथजी के दर्शन नहीं पा सक रही थी। वह श्रीमहाप्रभुजी के कन्धे पर पाँव रख कर गरुड़ स्तम्भ पर चढ़ कर श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करने लगी। यह देखकर श्रीगोविन्द ने झट उस स्त्री को ऐसा करने से रोका, किन्तु श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीगोविन्द को उसे नीचे उतारने से निषेध किया। ग्रौर कहने लगे—"मूर्ख ! इस स्त्री को मत रोक, इसे इच्छानुसार श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करने दो।" वह स्त्री प्रभु को देखकर झट नीचे उतर ग्राई ग्रौर उनके चरणों में वन्दना करने लगी ॥२१-२५॥

तार ग्रार्त्ति देखि प्रभु कहिते लागिला । एत ग्रार्त्ति जगन्नाथ मोरे नाहि दिला ॥२६॥
जगन्नाथे ग्राविष्ट इहार तनु-प्राण-मने । मोर कान्धे पद दियाछे, ताहो नाहि जाने ॥२७॥
ग्रहो भाग्यवती एइ, वन्दों इहार पाय । इहार प्रसादे ऐछे ग्रार्त्ति ग्रामारो वा हय ॥२८॥

उस स्त्री की श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा देखकर श्रीमहाप्रभु जी कहने लगे—"हाय ! मुझे तो ऐसी उत्कण्ठा श्रीजगन्नाथ जी ने नहीं दी है। इस के तन-मन एवं प्राण श्रीजगन्नाथ जी में ग्राविष्ट हो रहे हैं, इसने मेरे कन्धे पर पाँव धर दिया है, यह भी यह नहीं जानती है, ग्रहो ! इस भाग्यवती के चरणों में मैं वन्दना करता हूँ, इसकी कृपा से मुझे भी ऐसी दर्शनोत्कण्ठा प्राप्त हो।" ॥२६-२८॥

चै० च० चु० *टीका:*—त्रयोदश परिच्छेद में हमने देखा है कि एक देवदासी जब गीतगोविन्द का गान कर रही थी, तब श्रीमहाप्रभु जी बाह्यज्ञान हीन हो प्रेमावेश में उसको आलिङ्गन करने के लिये भाग पड़े थे एवं श्रीगोविन्द ने—"प्रभु ! यह स्त्री गान कर रही है"—ऐसा कहकर प्रभु को पकड़ लिया था। श्रीगोविन्द से स्त्री का नाम सुनते ही प्रभु को बाह्यज्ञान होगया था और उन्होंने श्रीगोविन्द से कहा था—"गोविन्द ! तुमने मेरी रक्षा करली है, स्त्री का स्पर्श पाकर मेरा मरण हो जाता ।"

किन्तु इस परिच्छेद के उपर्युक्त पयारों में हम देखते हैं कि एक स्त्री ने प्रभु के कन्धे पर पांव धर कर श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन किये हैं, प्रभु ने उस स्त्री को निषेध नहीं किया है, यहाँ तक कि जब श्रीगोविन्द ने उस स्त्री को ऐसा करने से रोका है तो प्रभु कह रहे हैं—"गोविन्द ! इसे मत रोको।" उसे नीचे उतारने में प्रभु श्रीगोविन्द को ही रोक रहे हैं--इसमें क्या रहस्य या तात्पर्य है ?

इसका तात्पर्य यह है कि जब प्रभु देवदासी के गान में आकृष्ट होकर भाग रहे थे, उस समय उन्हें बाह्य स्मृति न थी, न वे यह जानते थे कि वह स्त्री गान कर रही है और न उन्हें अपनी सुधि थी कि वे एक संन्यास वेष धारी हैं। यहाँ तक कि वे काँटों की मेंड़ में भी घुसे जारहे थे। श्रीगोविन्द ने जब उन्हें पकड़ा तब उन्हें झट बाह्यज्ञान हो गया और वे यह जान गये कि वह स्त्री है और मैं संन्यासी हूँ। स्त्री का स्पर्श करना मेरे लिये मरण-तुल्य है।

किन्तु आज जब एक स्त्री श्रीमहाप्रभु जी के कन्धे पर चढ़ रही थी, प्रभु की आज अवस्था और थी। उन्होंने रात को स्वप्न में रासलीला के दर्शन किये थे—वे जान रहे थे—"मैंने श्रीवृन्दाबन में श्रीकृष्ण को पा लिया है।" वे गोपीभाव में ही रासलीला का दर्शन कर रहे थे। श्रीगोविन्द ने जब प्रभु को जगाया, तब भी उन का वह आवेश छूटा नहीं था। उन्होंने अभ्यासवशत: नित्यकर्म अवश्य कर लिया था और वे श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन भी करने चले गये थे, किन्तु तब भी उनका आवेश छूटा नहीं था। वे दर्शन तो कर रहे थे—श्रीजगन्नाथ जी के, किन्तु उन्हें दीख रहे थे—श्रीब्रजेन्द्रनन्दन मुरलीधारी। अगले पयारों से यह बात बहुत ही स्पष्ट हो जाएगी। सारांश यह है कि ऐसी अवस्था में उस उड़िया स्त्री ने प्रभु के कन्धे पर पाँव रखा था। इसलिये प्रभु को उसके कन्धे पर चढ़ने का ज्ञान नहीं हुआ और इसी लिये न उन्होंने उस स्त्री को ऐसा करने से रोका और न ही स्वयं उससे बचने का कुछ यत्न किया। उसके बाद जब श्रीगोविन्द ने उस स्त्री को उतारने का यत्न किया, तब प्रभु को कुछ बाह्य हुआ और वे यह अवश्य जान गये कि यह एक स्त्री है। किन्तु फिर भी प्रभु को इतना बाह्य नहीं हुआ था कि उन्हें आत्म-स्मृति हो आई हो। तब तक प्रभु की चित्तवृत्ति रासलीला में इतनी केन्द्रीभूत थी कि वे अपने को गोपी हो मान रहे थे, उन्हें सुदृढ़ गोपीभावावेश था। वे अपने को तब तक श्रीकृष्णचैतन्य संन्यासी न जान सके थे।

यही कारण है कि उन्होंने स्त्री को कन्धे पर चढ़ते से नहीं रोका और न ही स्वयं उससे बचने की कोई चेष्टा की। श्रीगोविन्द के कहने पर आवेश में थोड़ी सी तरलता आई। उन्होंने जैसे स्त्री को जान लिया और उसके भाग्यों की सराहना करने लगे, उसी प्रकार उन्होंने श्रीब्रजेन्द्रनन्दन की जगह श्रीजगन्नाथ जी को सुभद्रा-बलराम जी के साथ भी देखा, किन्तु फिर भी वे अपने को न जान सके कि वे संन्यासी रूप में नीलाचल खड़े हैं, तब भी उन्होंने गोपीभावावेश में यह देखा कि वे कुरुक्षेत्र में खड़े हैं और वही श्रीकृष्ण को सुभद्रा-बलराम जी के साथ देख रहे हैं। क्योंकि सुभद्रा-बलराम जी के साथ श्रीकृष्ण का मिलन या दर्शन गोपियों को कुरुक्षेत्र में ही हुआ था। इस निबिड़तम गोपीभावावेश का परिचय अगले पयारों में स्पष्टरूप से हम देखते हैं—

पूर्वे यवे आसि कैल जगन्नाथ दरशन। जगन्नाथे देखे, साक्षात् व्रजेन्द्र–नन्दन ॥२९॥
स्वप्नेर दर्शनावेशे तद्रूप हैल मन। याहां ताहां देखे सर्वत्र मुरली वदन ॥३०॥
एबे यदि स्त्री देखि प्रभुर बाह्य हैल। जगन्नाथ–सुभद्रा वलरामेर स्वरूप देखिल ॥३१॥
'कुरुक्षेत्रे देखि कृष्ण' ऐछे हैल मन। 'काहां कुरुक्षेत्र आइलाङ, काहाँ वृन्दावन ॥
प्राप्तरत्न हाराइल–ऐछे व्यग्र हैला। विषण्ण हइया प्रभु निजवासा आइला ॥३३॥

श्रीमहाप्रभु जी जब श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करने आये थे, तब उन्हें रास का इतना दृढ़ आवेश था कि वे श्रीजगन्नाथ जी को साक्षात् श्रीव्रजेन्द्रनन्दन देख रहे थे। स्वप्न में देखी हुई रासलीला के दर्शनावेश में उनकी चित्तवृत्ति इतनी केन्द्रीभूत हो रही थी कि वे जहां तहां सर्वत्र मुरलीधारी श्रीव्रजेन्द्र-नन्दन को ही देख रहे थे, (उन्हें श्रीजगन्नाथ जी के सुभद्रा-बलराम सहित स्वरूप का, उड़िया स्त्री के स्वरूप का कुछ भी सन्धान न था—उन्हें सर्वत्र श्रीश्यामसुन्दर वंशीधारी दीख रहे थे) जब श्रीगोविन्द के कहने पर उनको तनिक वाह्य हुआ और उन्होंने स्त्री को स्त्रीरूप में देखा, तभी वे वंशीधारी श्रीश्यामसुन्दर की जगह पर सुभद्रा-बलरामजी के सहित श्रीजगन्नाथजी का वास्तविक स्वरूप भी देखमे लगे। वे ऐसा सोचने लगे कि मैं श्रीकृष्ण को कुरुक्षेत्र में देख रहा हूँ ," (क्योंकि जब श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र में गये थे, तब सुभद्रा एवं श्रीबलराम जी उनके साथ थे।) प्रभु सोचनें लगे "मैं कुरुक्षेत्र में कैसे आगया ? श्रीवृन्दावन कहाँ गया ?" मैंने श्रीकृष्ण-मणि को पाकर भी कहाँ खो दिया ?—इसी भाव में प्रभु अस्थिर होगये और अत्यन्त दुखी होकर अपने निवासस्थान पर चले आए। (वासस्थान पर भी केवल नित्य अभ्यासवश चले आए, किन्तु तब तक वे थे आत्मविस्मृत अवस्था में। गोपीभाव में पूर्णतः आविष्ट थे।)॥२९—३३॥

भूमिर उपर वसि निजनखे भूमि लेखे। अश्रुगङ्गा नेत्रे बहे, किछु नाहि देखे ॥३४॥
'पाइलु बृन्दावन नाथ, पुन हाराइलु। के मोर निलेक कृष्ण, कोथा मुञि आइलु ॥३५॥
स्वप्नावेशे प्रेमे प्रभुर गरग मन। बाह्य हैले हय येन, हाराइल धन ॥३६॥
उन्मत्तेर प्राय कभु करे गान नृत्य। देहेर स्वभावे करे स्नान भोजन कृत्य ॥३७॥
रात्रि हैले स्वरूप–रामानन्द लइया। आपन मनेर वार्त्ता कहे उघाड़िया ॥३८॥

अपने निवासस्थान पर आकर प्रभु भूमि पर बैठ गये एवं अपने नखों से भूमि पर लिखने लगे, नेत्रों से अश्रुओं की गङ्गावत् धारा बह निकली। उन्हें और कुछ भी नहीं सूझता था। बार बार प्रभु यही कहते—"मैंने श्रीवृन्दाबन-नाथ श्रीश्यामसुन्दर को पाया था किन्तु फिर खो दिया। मेरे प्राण-नाथ श्रीकृष्ण को कौन ले गया है ? और मैं कहां आगया हूं ? और ?" इस प्रकार स्वप्नावेश में प्रभु का मन प्रेम में व्याकुल हो रहा था। जब उन्हें थोड़ी वाहर की सुधि आती, तो वे ऐसा अनुभव करते जैसे उन्होंने अपनी सम्पत्ति खो दी हो। उन्मत्त होकर कभी तो वे नृत्य-गान करने लग जाते। देह के स्वभाव वश वे स्नान भोजन एवं नित्य कृत्य करते थे। रात के समय जब श्रीस्वरूप दामोदर एवं रायरामानन्द उनके साथ रहे, तब वे अपने मन की बात को खोल कर कहने लगे ॥३४—३८॥

तथाहि गोस्वामीपाद कृत श्लोक:—

प्राप्त प्रणष्टाच्युतवित्त आत्मा ययौ विषादोज्झितदेह गेहः।
गृहीतकापालिकधर्मको मे बृन्दाबनं सेन्द्रियशिष्यबृन्दः ॥३॥

मेरे मन ने श्रीकृष्णरूप-धन को प्राप्त किया था। किन्तु अब उसे खो बैठा है, इसलिये उस विषाद से देह रूप गृह को परित्याग करके कापालिक धर्म—योगियों का धर्म उसने ग्रहण कर लिया है और इन्द्रिय रूप अपने शिष्यों के साथ श्रीवृन्दावन चला गया है ॥३॥

चै० च० चु० *टीका:*—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण दर्शन से वञ्चित हो जाने के दुख से श्रीमन्महाप्रभु जी का मन एवं मन के आधीन रहने वाली इन्द्रियगण शरीर के अभ्यास को छोड़ चुके थे। और वे श्रीकृष्ण कहां चले गये हैं—इस अनुसन्धान में लगे हुए थे। उनके मन एवं इन्द्रियों को शरीर का अनुसन्धान न था। उनका मन निरन्तर श्रीवृन्दावन में ही रह रहा था। श्रीकृष्णलीला एवं श्रीकृष्ण की रूप माधुरी में ही उनका मन सरावोर हो रहा था। समस्त इन्द्रियों से जो कुछ भी वे देखते, सुनते, बोलते—इत्यादि वह समस्त उन्हें श्रीकृष्णलीला सम्बन्धीय विषय ही अनुभव होता। उनका मन श्रीकृष्णलीला चिन्तन में इतना केन्द्रीभूत होगया था कि उनकी समस्त इन्द्रियाँ भी उसी लीला में निविष्ट हो रही थीं। इस श्लोक के विस्तृत तात्पर्य को श्रीकविराज गोस्वामी निम्नलिखित त्रिपदी में वर्णन करते हैं—

यथा रागः—

प्राप्त कृष्ण हाराइया, तार गुण स्मरिया, महाप्रभु सन्तापे विह्वल।
राय—स्वरूप कण्ठ धरि, कहे हा हा हरिहरि, धैर्य्य गेल हइल चपल ॥३९॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने श्रीकृष्णरूपधन को पहले प्राप्त करके फिर खो दिया था, श्रीकृष्ण के गुणों को याद करके श्रीकृष्णविरह में व्याकुल हो रहे थे। श्रीरामानन्दराय एवं श्रीस्वरूपदामोदर जी के कण्ठ में भुजा डालकर अत्यन्त अधीर होकर कह रहे थे—'हा-हा, हरि हरि' ॥३९॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीस्वरूपदामोदर ब्रज में श्रीललिता जी थे एवं श्रीरामानन्दराय श्रीविशाखाजी थे। श्रीकृष्णविरह में कातर होकर जैसे श्रीराधा जी अपनी प्रिय ललिता-विशाखा सखियों के गले में अपनी भुजाओं को डालकर अपने मन की वेदना को प्रकाशित किया करती थीं, श्रीराधा-भावाविष्ट श्रीमन्महाप्रभु जी भी उसी प्रकार कृष्णविरह में अस्थिर होकर श्रीस्वरूप - रामानन्द जी के आगे अपने प्राणों की वेदना प्रकाश कर रहे थे। वे कहने लगे—"स्वरूप! हाय! हाय! मैं क्या करूँ? जिन्होंने मेरे लोकधर्म - वेदधर्म समस्त हरण कर लिये हैं, सौन्दर्य-माधुर्य द्वारा जिन्होंने मेरे मन - प्राण हरण कर लिये हैं, मेरे वे प्राणवल्लभ हरि कहाँ चले गये हैं? रामानन्द! मेरे देह से मेरे प्राणों को कौन पृथक् किये जा रहा है?" इतना कहते ही श्रीमहाप्रभु अधीर हो उठे एवं उनमें चञ्चलता-वाचालता आगई और वे इस प्रकार कहने लगे—

शुन बान्धव! कृष्णेर माधुरी।

यार लोभे मोर मन, छाड़ि लोक-वेद-धर्म, योगी हञा हइल भिखारी ॥ध्रु॥४०॥
कृष्णलीला मण्डल, शुद्ध शङ्ख कुण्डल, गढ़ियाछे शुक-कारिकर।
सेइ कुण्डल काने परि, तृष्णालाउथाली, धरि आशाझुलि कान्धेर उपर ॥४१॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—हे बान्धव राय! स्वरूप! श्रीकृष्णमाधुर्य की बात सुनो। उस श्रीकृष्ण - माधुरी के लोभ में मेरा मन लोक-धर्म (लज्जा-धैर्य्यादि) एवं वेदधर्मों (पारलौकिक मङ्गल जनक कर्मादि) को छोड़ कर योगी एवं भिखारी बन गया है। श्रीशुक कारीगर ने कृष्णलीला रूप जो

शुद्धा-शङ्ख-कुण्डलों की रचना को, उन्हीं कुण्डलों को मेरे मन-योगी ने कानों में धारण कर लिया है और तृष्णारूपी कमण्डल को हाथों में ले लिया है। उसने आशा की झोली कन्धे पर डाल रखी है ।।४०-४१।।

चौ० च० चु० *टीका:*—श्रीमन्महाप्रभु जी कहा—"प्राणबान्धव स्वरूप ! रामानन्द ! श्रीकृष्ण-माधुर्य-आस्वादन के लिये मेरे मन ने शरीररूपी घर का त्याग कर दिया है, निष्किञ्चन होकर उसने भिखारी योगी का वेश सजाया है।" योगी लोग कानों में सींग या शङ्ख के बने हुए बाले पहरा करते हैं- "श्रीमहाप्रभु जी ने कहा -"मेरे मन-योगी ने श्रीकृष्णलीला समूह रूप निर्मल शङ्ख के बाले कानों में डाल दिए हैं: उन बालों के बनाने बाले कारीगर हैं—श्रीशुकदेव मुनि ।" प्रभु का अभिप्राय यह था कि श्रीशुकदेव मुनि जी ने श्रीमद्भागवत जी में जो श्रीकृष्णलीएं वर्णन की हैं, वही एकमात्र उनके कानों को सुहाती हैं, और कथा-वार्त्ता कुछ भी उन्हें प्रिय नहीं लगती। योगी लोग भिक्षा के लिए कमण्डल हाथ में रखते हैं और कन्धे पर एक झोली रखा करते हैं—प्रभु ने कहा—"स्वरूप ! मेरे मन-योगी ने श्रीकृष्ण-माधुर्य आस्वादन की लालसा रूप कमण्डल हाथों में ले लिया है और श्रीकृष्ण प्राप्ति की आशारूपी झोली कन्धे पर धारण करली है।" अर्थात् श्रीकृष्ण-माधुर्य को आस्वादन करने की तीव्र लालसा पूर्वक—श्रीकृष्ण कब मिलेंगे ? कहाँ मिलेंगे—इसी आशा में श्रीमहाप्रभु जी का मन अस्थिर होरहा था। श्रीचक्र-वर्त्तीपाद ने आशा का लक्षण कहते हुए लिखा है—"आशा कदा कुत्र प्राप्स्यामीत्वाशंमा" अर्थात् कब पाऊंगा, कहाँ पाऊंगा—इस प्रकार के भाव का नाम आशा है। अगली त्रिपदी में प्रभु आपने मन-योगी की और भी वेश भूषा का वर्णन करते हैं —

चिन्ता—कान्था उड़ि गाय, धूलि-विभूति-मलिन काय, 'हा हा कृष्ण' प्रलाप उत्तर ।
उद्वेग-द्वादश हाथे, लोभेर झुलनि माथे, भिक्षा भावे क्षीण कलेवर ।।४२।।
व्यास — शुकादि योगिजन, कृष्ण आत्मा निरञ्जन, व्रजे तांर यत लीलागण ।
भागवतादि शास्त्र गणे, करियाछे वर्णने, सेइ तर्ज्जा पढ़े अनुक्षण ।।४३।।

श्रीमन्महाप्रभु जी ने (श्रीराधाभावावेश में) कहा—"रामानन्द ! मेरे मन-योगी ने चिन्ता रूप चादर शरीर पर ओढ़ ली है, मेरा शरीर जो तुम मलिन देख रहे हो, मेरे मन-योगी ने यह धूलि रूप विभूति रमा रखी है। (यदि मेरे मन-योगी से कोई पूछे कि, तुम कौन हो ? कहाँ जा रहे हो ? तो वह उसके उत्तर में) 'हा कृष्ण, हा कृष्ण' ऐसी तो वह प्रलाप मय वाणी बोलता है। हाथ में उसके उद्वेगरूपी द्वादश-नामक दण्ड है एवं उसने माथे पर लोभरूप पगड़ी बान्ध रखी है। (तुम जो पूछो कि मैं इतना दुर्बल क्यों होता जा रहा हूँ ?) मेरा मन-योगी भिक्षावृत्ति के कारण लटता जा रहा है। श्रीव्यासदेव एवं श्रीशुकदेवादि मुनिजनों ने निरञ्जन परमात्मा श्रीकृष्ण की व्रजधाम की जो लीलाएं श्रीमद्भागवतादि शास्त्रों में वर्णन की हैं, वही तर्ज्जा हैं, जिन्हें मेरा मन-योगी हर क्षण पढ़ा करता है ।।४३

चौ० च० चु० *टीका*—योगी लोग चादर ओढ़ते हैं, शरीर पर विभूति लगाए रहते हैं और किसी के प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर नहीं दिया करते। वे हाथ में द्वादश-नामक दण्ड धारण किये रहते हैं एवं माथे पर एक पगड़ी सी बान्धे रहते हैं। कभी उन्हें भ्रमण करते हुए खाने को कुछ मिल जाता है, कभी नहीं भी मिलता है, इसलिये उनका शरीर प्रायः दुर्बल या पतला-दुबला होता है। वे तर्ज्जाओं का उच्चारण किया करते हैं—इस प्रकार श्रीमद् महाप्रभु जी के मनरूप योगी की अवस्था थी।

उनके मन-योगी ने चिन्ता की चादर ओढ़ रखी थी। जिस वस्तु की इच्छा हो, उसके न मिलने पर और जिसकी इच्छा न हो, उसके प्राप्त होने पर मन में जिस भावना का उदय होता है, उसे **चिन्ता** कहते हैं। श्रीकृष्ण-विरह जनित चिन्ता के दश लक्षण इस प्रकार हैं—**दीर्घनिश्वास** (लम्बे लम्बे ठण्डे श्वास छोड़ना) **अधोवदन** (ग्रीवा नीचे झुकाये रहना) **भूमि-लेखन** (भूमि पर हाथ की अथवा पाँव की अंगुलियों के नखों द्वारा कुछ लिखना या लकीरें खींचना), **विवर्णता** (मुंह का अथवा शरीर रंग पीला-काला पड़ जाना), **निद्रा शून्यता** (नींद न आना) **विलाप** (प्रलाप करना), **उत्ताप** (अङ्गों का जलना), **कृशता** (दुबला-पतला होना), **नेत्रजल** (अश्रुबहाना-रोना), एवं **दैन्य** (अपने को दीन-हीन जानना) ये सब चिन्ता के लक्षण हैं। श्रीमन्महाप्रभु जी का मन श्रीकृष्णविरह जनित चिन्ता में आवृत्त हो रहा था इसलिये उनमें भूमिलेखन एवं अश्रुप्रवाहादि लक्षण प्रकाशित हो रहे थे। इसलिये श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"मेरे मन-योगी ने चिन्तारूपी चादर ओढ़ रखी है।" (यह चिन्ता-दशा है)।

श्रीकृष्ण-विरह में अस्थिर होकर श्रीमहाप्रभु जी पृथ्वी पर लोटने लगते थे, दीवारों पर माथा रगड़ने लगते थे, जिससे उनका शरीर धूलि-धूसरित रहता था। इसलिये प्रभु कह रहे थे—"मेरे मन-योगी ने विभूति रमा रखी है।" (यह विवरणता-दशा है)

श्रीमन्महाप्रभुजी के प्राणों में श्रीकृष्ण-अप्राप्ति का इतना गम्भीर आवेग था कि उनसे कुछ भी पूछो, वे, हा कृष्ण ! हा कृष्ण ! कहाँ हो ? कहाँ जाऊँ ?—यही उत्तर दिया करते। कुछ प्रश्न का कुछ उत्तर देना—एक प्रकार का प्रलाप ही कहा जाता है। योगीजन भी उनका ठिकाना—परिचय पूछने पर कुछ का कुछ उत्तर दिया करते हैं। इसलिये श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"मेरा मन-योगी हर प्रश्न का हा कृष्ण ! हा कृष्ण ! ऐसा प्रलापमय उत्तर देता हैं। (यह विलाप या प्रलाप दशा है।)

योगशास्त्र में एक प्रकार का दण्ड विशेष प्रसिद्ध है, जिसे 'द्वादश' कहते हैं। **द्वादशः यष्ठि विशेषः एव योगशास्त्रे प्रसिद्ध :**—इति विश्वनाथ चक्रवर्त्ती।" योगीजन इस द्वादश-नाम के दण्डविशेष को धारण करते हैं। श्रीमहाप्रभु जो का मन-योगी उद्वेगरूप द्वादशदण्ड को धारण कर रहा था। मन की अस्थिरता का नाम उद्वेग है। श्रीमहाप्रभुजी का मन श्रीकृष्णविरह में इतना चञ्चल होरहा था, इतना अस्थिर हो रहा था कि कभी वे पृथ्वी पर लोटने लगते, कभी चीत्कार करने लगते, हा कृष्ण ! तुम कहाँ हो ? हाय ! मैं कहाँ जाऊं—ऐसा कहकर कभी वे भागने लगते। कभी वेसुद्धि होकर गिर पड़ते। इसलिए श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"बान्धव स्वरूप ! मेरे मन-योगी ने उद्वेगरूप द्वादश दण्ड धारण कर रखा है।

योगियों की भन्ति प्रभु के मन ने भी लोभरूप पगड़ी माथे पर धारण कर रखी थी। **इष्ट द्रव्ये क्षोभः लोभः—इति विश्वनाथ चक्रवर्त्ती**" अभिलषित वस्तु अर्थात् श्रीकृष्ण प्राप्ति के लिये मन के क्षोभ या चञ्चलता को **'लोभ'** कहते हैं। पहली त्रिपदी (४१) में 'तृष्णा' और 'आशा' शब्दों का प्रयोग किया गया है, यहाँ 'लोभ' शब्द आया है। इन तीनों शब्दों का पार्थक्य इस प्रकार है—"इष्ट-वस्तु कहां पाऊंगा, कब पाऊंगा, मन के इस प्रकार के भाव को "**आशा**' कहते हैं। इष्ट वस्तु की प्राप्ति की जो इच्छा है उसे 'तृष्णा' कहते हैं और इष्टवस्तु की प्राप्ति के लिये जो मन की चञ्चलता है—उसका नाम **'लोभ'** है।

श्रीमहाप्रभुजी का मन श्रीकृष्ण प्राप्ति के निमित्त सदा ही चञ्चल हो रहा था। अतः प्रभु ने कहा—"मेरे मन-योगी ने माथे पर लोभ रूप पगड़ी बान्ध रखी है।

श्रीमन्महाप्रभु जी के मन-योगी का शरीर दिन प्रति दिन भिक्षावृत्ति के कारण क्षीण व कृश होता जा रहा था। उसकी भिक्षा या आहार था—श्रीकृष्ण गुण रूप-रस-गन्ध-शब्द एवं स्पर्श। उनके मन-योगी को श्रीकृष्णगुण रूप-रस आदि का आस्वादन न मिल रहा था, इसलिए वह कृश-क्षीण होता जा रहा था। (दश दशाओं में यह 'कृशता' दशा है।)

श्रीव्यासदेव एवं श्रीशुकदेव मुनि जी ने श्रीमद्भागवतजी में श्रीकृष्ण को आत्मा कहकर वर्णन किया है। आत्मा का अर्थ है—परमात्मा, सब का अन्तर्यामी व असंख्य भगवत् स्वरूपों का भी आत्मा। अथवा, समस्त का जो परम-आत्मीय है, वह आत्मा है। श्रीकृष्ण भगवान् ही परमात्मा, सर्वान्तर्यामी एवं सर्वेश्वर अर्थात् समस्त भगवत्-स्वरूपों के भी ईश्वर एवं अन्तर्यामी है एवं वे ही समस्त के परमात्मीय हैं। वे निरञ्जन हैं अर्थात् वे मायारूप अञ्जन से रहित हैं, प्राकृतगुण सत् रजः तमः से परे चिदानन्दघन विग्रह हैं। उन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की जो व्रजलीला श्रीव्यास-शुकादि मुनियों ने श्रीभागवत में वर्णन की है, उसे यहाँ तर्ज्जा कहा गया है।

सुनने में जो अर्थ समझ आये, उसकी अपेक्षा दूसरा अर्थ जनाने वाले वाक्य विशेष को 'तर्ज्जा' कहते हैं। योगीजन प्राय तर्ज्जा बोला करते हैं और तर्ज्जाओं के द्वारा लोगों को शिक्षा दिया करते हैं। दृष्टान्त के रूप में जैसे श्री कबीर ने कहा है—"राम की दुलनिया लूटा बाजार" यह वाक्य एक तर्ज्जा है। इसका यथाश्रुत अर्थ है कि, राम की दुलहिन ने बाजार को लूट लिया है।" किन्तु इस वाक्य का अभिप्राय यथाश्रुत अर्थ से भिन्न है। श्रीरामजी की माया ने समस्त विश्व को अपने वशीभूत कर रखा है—इस वाक्य का यह अभिप्राय है और देखिये एक कवि ने कहा है—"हे नाथ! मेरी नौका भार भरी। भवसागर में पापन लादी आ मंझधार अड़ी।" इस वाक्य का यथाश्रुत अर्थ होता है–"नाथ! मेरी नैया पापों के भार से लदी हुई है और वह भवसागर के मंझधार में आकर फंस गई है" किन्तु अभिप्राय यह है कि "प्रभु! मैं पापी हूँ एवं माया बन्धन में जकड़ा हुआ हूँ।" इत्यादि इस प्रकार के वाक्यों को 'तर्ज्जा' कहते हैं।

श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा—"रामानन्द! मेरा मन-योगी श्रीव्यास शुकदेव योगीजनों द्वारा श्रीभागवत वर्णित श्रीकृष्ण के व्रजलीला सम्बन्धीय श्लोकों को तर्ज्जा जानकर हर क्षण पढ़ा करता है।" अभिप्राय यह है—श्रीमहाप्रभु जी श्रीकृष्णविरह में कातर होकर श्रीकृष्ण की व्रजलीला सम्बन्धीय श्लोकमाला को सदा उच्चारण किया करते थे। और कहते हैं—

दशेन्द्रिय शिष्य करि, 'महावाउल' नाम धरि, शिष्य लञा करिल गमन।
मोर देह स्वसदन, विषय भोग महाधन, सब छाड़ि गेला बृन्दाबन ॥४४॥
बृन्दाबने प्रजागण, यत स्थावर जङ्गम, वृक्षलता – गृहस्थ – आश्रमे।
तार घरे भिक्षाटन, फल - मूल - पत्राशन, एइ वृत्ति करे शिष्यसने ॥४५॥

श्रीगौराङ्गदेव ने कहा—"स्वरूप! मेरा मन-योगी दश इन्द्रियरूप शिष्यों को साथ लेकर 'महावावला'—नाम धारण करके मेरे देहरूप अपने घर को एवं विषय भोग महाधन सम्पत्ति को परित्याग कर श्रीवृन्दावन में चला गया है। श्रीवृन्दावन में जितने स्थावर जङ्गम हैं वही श्रीवृन्दावन की प्रजा है और उनमें वृक्ष-लता गृहस्थाश्रमी नर-नारियाँ हैं, वह उनके घर जाकर भिक्षा करता है। उनके दिये हुए फल, फूल पत्तों का आहार करता है। इस प्रकार वह अपने शिष्यों सहित जीविका निर्वाह करता है ॥४४—४५॥

चौ० च० चु० टीका:—योगियों के जैसे शिष्य हुआ करते हैं, श्रीमहाप्रभु जी के मन-योगी के भी शिष्य हैं। पाँच कर्मेन्द्रिय एवं पाँच ज्ञानेन्द्रिय—ये दशों इन्द्रियगण ही प्रभु के मन-योगी के शिष्य कहकर वर्णन किये गये हैं। तात्पर्य यह है कि प्रभु की इन्द्रियगण मन के अधीन हैं। उनका मन इन्द्रियों के अधीन नहीं है। उनका मन श्रीकृष्णमाधुर्य आस्वादन करने के लिये सदा व्याकुल रहता था, अनुगत शिष्यों की भाँति उनकी दशों इन्द्रियाँ श्रीकृष्ण रूप-रसादि के आस्वादन की अनुकूलता विधान करती थीं।

प्रभु का मन श्रीकृष्णविरह में महा उन्मत्त होरहा था, इसलिए उन्होंने कहा—"मेरे मन-योगी का नाम है—महाबावला, महापागल।" (यह प्रभु की श्रीकृष्णविरह जनित 'उन्माद'-अवस्था थी)।

योगीजन घर एवं सम्पत्ति आदि सब को छोड़ कर बन में चले जाते हैं—उसी प्रकार प्रभु का मन-योगी भी घर सम्पत्ति आदि समस्त को परित्याग कर वन को चला गया था। मन-योगी का घर था—प्रभु का शरीर। प्रभु का मन उनके शरीर को छोड़ कर चला गया था। तात्पर्य यह है कि देह-दैहिक विषयों में प्रभु के मन का किञ्चित् भी अनुसन्धान नहीं था।

व्रजगोपियों के सम्बन्ध में भी यही कहा जाता है कि उन्हें भी अपने देह दैहिक विषय में कुछ अनुसन्धान न था, किन्तु वे तो अपने देह को मार्जन-भूषणादिकों द्वारा खूब सजाया करती थीं। श्रीमहाप्रभु जी भी अपने देह को इस अवस्था में वेष-भूषा आदि द्वारा तो सज्जित करते ही होंगे?—इसका समाधान यह है कि व्रजगोपीगण भी जो अपनी देह का शृङ्गार किया करती थीं—वह था केवल श्रीकृष्ण प्रीति के लिये; श्रीकृष्ण उनके सुन्दर शृंगारित वेष को देख कर सुखी होंगे—इसी भावना से वह अपना शृङ्गार किया करती थीं—उन्हें अपने देह का कुछ भी लक्ष्य न था। यह बात भी तब तक थी, जब तक श्रीकृष्ण श्रीवृन्दावन में विराजमान थे। उनके मथुरा चले जाने पर फिर व्रजगोपियों के शृङ्गार करने का कोई प्रश्न नहीं उठता। श्रीकृष्णविरहणी गोपियों की क्या वेष-भूषा थी, वह अकथनीय है। इसी प्रकार श्रीमन्महाप्रभु जी भी श्रीकृष्णविरहणी श्रीराधा जी के भाव में आविष्ट थे। इसलिये उन्हें अपने शरीर की वेषभूषा का कुछ भी अनुसन्धान न था। विषय भोग को यहां महाधन कहकर वर्णन किया है। वास्तव में मन के पक्ष में विषय-भोग अर्थात् इन्द्रियों की भोग्य वस्तुएं ही बहुमूल्य धन-सम्पत्ति तुल्य हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द—ये **पाँच विषय हैं**, इन पाँचों विषयों द्वारा यथायोग्य इन्द्रियों के तृप्ति साधन को **विषय भोग** कहते हैं। रूप के भोग से नेत्रों की तृप्ति होती है, रस के भोग से जिह्वा की, इत्यादि। इन समस्त विषयों द्वारा इन्द्रियों की तृप्ति करने में मन सदैव उन्मत्त रहता है। इसलिये विषय भोगों को ही मन का महाधन कहा गया है। श्रीमहाप्रभु जी की समस्त इन्द्रियाँ उनके मन के अधीन थीं। उनका मन श्रीकृष्ण-प्राप्ति के लिये ही उन्मत्त हो रहा था। अतः उनके मन में इन्द्रियों की तृप्ति के साधन विषय-भोगों का किञ्चित् भी अनुसन्धान न था। इसलिये प्रभु ने कहा—"मेरा मन-योगी विषयभोग रस महाधन-सम्पत्ति को छोड़कर वन में चला गया है।"

योगी घर-सम्पत्ति का परित्याग कर बन में चले जाते हैं, श्रीमहाप्रभु जी का मन-योगी समस्त परित्याग कर श्रीवृन्दावन में चला गया था—निविष्ट हो रहा था। योगीजन वनमें जाकर जैसे मूल-फल खाकर या गृहस्थ लोगों से मूल - फल की भिक्षा लेकर शिष्यों सहित जीवन - निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार श्रीमहाप्रभु जी का मन-योगी भी वृन्दावन के फल - मूल पत्रादि की भिक्षा पर निर्वाह कर

रहा था अथवा श्रीवृन्दावन-विलासिनी गोपसुन्दरियों के भुक्तावशे रूप में श्रीकृष्ण के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्दादि की भिक्षा प्राप्त कर प्रभु का मनोरूप योगी अपने शिष्यों (इन्द्रियगणों) सहित प्राण धारण कर रहा था। तात्पर्य यह है कि उस समय श्रीमन्महाप्रभु जी के मन-इन्द्रिय श्रीवृन्दावन-बिहारी श्रीकृष्ण के माधुर्यास्वादन में ही केन्द्रीभूत हो रहे थे।

कृष्ण - गुण - रूप - रस, गन्ध - शब्द - परश, से सुधा आस्वादे गोपीगण।
तासभार ग्रासशेषे, आने पञ्चेन्द्रिय – शिष्ये, सेइ भिक्षाय राखेन जीवन ॥४६॥
शून्य - कुञ्जमण्डप कोणे, योगाभ्यास कृष्णध्याने, ताहां रहे लञा शिष्यगण।
कृष्णआत्मा निरञ्जन, साक्षात् देखिते मन, ध्याने रात्रि करे जागरण ॥४७॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने आगे कहा—"स्वरूप! (मेरा मन-योगी श्रीवृन्दावन के स्थावर जङ्गम दोनों प्रकार के अधिवासियों से भिक्षा लेता है—स्थावर व्रजवासियों से अर्थात् वृक्ष-लताओं से तो फल-फूल-मूल आदि की भिक्षा ग्रहण करता है और जङ्गम व्रजवासियों से कैसी भिक्षा लेता है, उसे सुनो—) रूप, रस, गन्ध शब्द एवं स्पर्श—ये जो श्रीकृष्ण के गुण हैं, इन गुणों की सुधारस का ही आस्वादन गोपीगण करती हैं, उनके भुक्तावशेष अर्थात् सीथ प्रसाद को, मन-योगी के शिष्य जो पाँच इन्द्रियगण हैं, वे भिक्षा रूप में ले आते हैं, उसी भिक्षा से मेरा मन-योगी अपने जीवन की रक्षा करता है। (मन-योगी साधन क्या करता है ?—उसे भी सुनो।") मन-योगी अपने शिष्यों के साथ शून्य कुञ्जमण्डप के कोने में बैठकर श्रीकृष्णध्यानरूप योगाभ्यास करता है। श्रीकृष्ण, जो आत्मा एवं निरञ्जन - स्वरूप हैं, उन्हें वे साक्षात् रूप में देखना चाहता है, उन्हीं के ध्यान में वह रात भर जागरण करता रहता है ॥४६-४७॥

चै० च० चु० *टीका:*—पहली त्रिपदी में श्रीमहाप्रभु जी ने स्थावर व्रजवासियों—वृक्षलताओं से फल-फूल मूलादि की भिक्षा का वर्णन किया था। इस त्रिपदी में जङ्गम-व्रजवासियों से जो उनके मन-योगी को भिक्षा प्राप्त होती है, उसका वर्णन किया गया है। उन्होंने कहा—"श्रीकृष्ण का असमोर्द्ध माधुर्यमय जो तमाल-श्यामलरूप है, चर्वित ताम्बूलादि जो उनका अधररस है, मृगमद एवं नील कमलों की मिश्रित सुगन्धि के समान श्रीकृष्णाङ्ग की जो अपूर्व सुगन्धि है, श्रीकृष्ण बोलनि एवं उनकी बंशी-ध्वनि का जो सुमधुर शब्द है एवं कर्पूर-चन्दन तथा खसादि की शीतलता को निन्दन करने वाल श्रीकृष्ण चरणों का—गात्र का जो स्पर्श है, इन गुणों का जो सुधारस गोपीजन आस्वादन किया करती हैं, उस सुधारस का ही सीथ प्रसाद मेरा मन-योगी आहार करता है।"

श्रीकृष्ण के उपर्युक्त पाँच गुणों का सुधारस उनके चारों प्रकार के परिकर आस्वादन किया करते हैं। दास्यभाव के परिकर, सख्य भाव के परिकर, वात्सलय भाव के परिकर तथा मधुर भाव के परिकर—ये चार प्रकार के परिकर हैं जो श्रीकृष्ण के पंच गुणामृत का आस्वादन किया करते हैं। प्रभु ने कहा, उनका मन-योगी उस रससुधा प्रसाद का आस्वादन करता है, जो गोपीजन अर्थात् मधुर-भाव का परिकर आस्वादन किया करता है। अन्यान्य परिकरों के आस्वाद्य सुधारस का आस्वादन उनका मन-योगी नहीं करता है। कारण कि मधुर भाव द्वारा जो श्रीकृष्णपंचगुणामृत का आस्वादन है, वह सर्वोत्कृष्ट है। उसमें विशेषत: श्रीमन्महाप्रभुजी का मन गोपीभावाविष्ट है। इसलिये उन्होंने गोपीजन द्वारा आस्वाद्य सुधारस के प्रसाद की भिक्षा का ही वर्णन किया है।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये, प्रभु ने गोपीजन द्वारा आस्वाद्य सुधारस की भिक्षा को स्वीकार नहीं किया है, गोपीजन द्वारा आस्वाद्य सुधारस का 'ग्रासशेष' अर्थात् भुक्तावशेष या सीथप्रसाद ही भिक्षा में ग्रहण करना स्वीकार किया है। अभिप्राय यह हैं कि प्रभु यहाँ गोपीजन के आनुगत्यमय रसास्वादन का या सेवा रसास्वादन का इशारा दे रहे हैं। ज्ञात होता है प्रभु उस समय मञ्जरी भाव में आविष्ट थे' और मञ्जरी भाव से श्रीकृष्णगुणामृत या माधुर्यामृत का आस्वादन करना ही उनका अभिप्रेत था।

प्रभु का मन-योगी अपने पञ्चेन्द्रियगणों द्वारा अर्थात् नेत्र-जिह्वा-नासिका-श्रवण एवं त्वक् द्वारा श्रीकृष्ण के रूप-रसादि पाँचों गुणों के सुधारस को आस्वादन कर रहा था। इसलिये उन्होंने कहा—"स्वरूप ! पञ्चेन्द्रियरूप शिष्यों द्वारा लाई हुई उस गोपीजन द्वारा आस्वादित श्रीकृष्णपंचगुण अमृत की सीथप्रसादी को मेरा मन भिक्षारूप में ग्रहण करता है और उससे जीवन को धारण करता है।'

श्रीमहाप्रभुजी ने जब श्रीवृन्दावनीय फल-फूलादि की भिक्षा की बात कही थी, तब उन्होंने कहा था कि "मेरा मन-योगी फल-फूल-मूलादि का आहार करता है। आहार अवश्य करता है किन्तु वह भिक्षा उसके जीवन की रक्षा नहीं कर सकती उससे उसके प्राण रक्षित नहीं होते।" यहाँ प्रभु ने कहा है कि गोपीजन द्वारा आस्वादित श्रीकृष्ण-रूप रसादि सुधारस की सीथ प्रसादी भिक्षा से उनका मन - योगी अपने जीवन को धारण करता है, अर्थात् उससे वह अपने और अपने शिष्यों के प्राणों की रक्षा करता है।

अभिप्राय यह है कि मधुरभाव से आनुगत्यमय श्रीकृष्णमाधुर्यरस का आस्वादन ही श्रीमहाप्रभु जी के मन का परमतम अभिप्रेत था।

पहले प्रभु ने अपने मन-योगी की बाहरी वेशभूषा और बाहरी आचरण का वर्णन किया है, फिर उन्होंने मन-योगी के साधन के सम्बन्ध में कहा—योगीजन जैसे निर्जन स्थान पर जाकर योगाभ्यास एवं ध्यानादि करते हैं, उसी प्रकार श्रीमहाप्रभुजी का मन-योगी भी अपना साधन ध्यान करता है। उन्होंने कहा—"मेरा मन-योगी शून्यकुञ्जमण्डप के कोने में बैठकर कृष्णध्यान रूप योगाभ्यास करता है।" श्रीवृन्दाबन कुञ्जमण्डप में श्रीकृष्ण श्रीराधाजी के साथ विलास करते थे, किन्तु उनके मथुरा चले जाने से वह कुञ्जमण्डल सूने पड़े हैं—इसी भाव में श्रीमहाप्रभु अपने मन-योगी के ध्यानस्थान को शून्यकुञ्ज-मण्डप कह रहे हैं। योगी योगाभ्यास करते हैं, किन्तु प्रभु का मन-योगी सदा श्रीकृष्ण-ध्यान, श्रीकृष्ण-गुणलीला का चिन्तन करता रहता था। योगी तो श्रीकृष्ण के निरञ्जन परमात्मा स्वरूप का ध्यान करते हैं किन्तु प्रभु का मन-योगी श्रीकृष्ण के सविशेष श्यामघन सुन्दर द्विभुज मुरलीधारी स्वरूप को साक्षात्-रूप में देखना चाहता था। दिनकाल में तो प्रभु का मन-योगी जागता ही रहता था, किन्तु न जाने वे श्रीश्यामसुन्दर कब आजाएं, इसलिये वह रात में भी जागता रहता था। (यह श्रीकृष्णविरह की जागरण दशा थी)।

मन कृष्ण वियोगी, दुखे मन हैल योगी, से वियोगे दश दशा हय।
से दशाये व्याकुल हञा, मन गेला पलाइया, शून्य मोर शरीर आलय ॥४८॥
कृष्णेर वियोगे गोपीर दश दशा हय।
सेइ दश दशा हय प्रभुर उदय ॥४६॥

अन्त में श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा—'हे रामानन्द ! हे स्वरूप ! मेरा मन श्रीकृष्णविरह में अत्यन्त व्याकुल होकर योगी बन गया है, वियोग की दश दशाएं हुआ करती हैं। उन दश दशाओं में

व्याकुल होकर मेरा मन भाग गया है और अब मेरा यह शरीर, जहाँ मन निवास करता था, सूना पड़ा है, हाय अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊं ?" श्रीकविराज गोस्वामी जी कहते हैं—"श्रीकृष्ण के विरह में ब्रजगोपियों की जो दश दशाएं हुआ करती थीं, वही दशों दशाएं श्रीमन्महाप्रभु जी पर उदय हो रही थीं ॥४८—४६॥ श्रीकृष्ण-वियोग की दश दशाओं का वर्णन निम्नलिखित श्लोक में करते हैं—

तथाहि उज्ज्वलनीलमणौ शृङ्गार भेद प्रकरणे (६४)

चिन्तात्र जागरोद्वेगौ तानवं मलिनाङ्गता ।
प्रलापो व्याधिरुन्मादो मोहो मृत्युर्दशा दश ॥४॥

प्रवासाख्य-विप्रलम्भ में अर्थात् मथुरा प्रवास जनित श्रीकृष्णविरह में चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनाङ्गता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह एवं मृत्यु ये दश दशा होती हैं ॥४॥
(श्री चै० च० २—८ पृष्ठ २२४ द्रष्टव्य है ।)

एइ दश दशाय प्रभु व्याकुल रात्रि दिने । कभु कोन दशा उठे स्थिर नहे मने ॥५०॥
एत कहि महाप्रभु मौन करिला । रामानन्दराय श्लोक पढ़िते लागिला ॥५१॥
स्वरूप गोसाञि करे कृष्णलीला गान । दुइजने कैल किछु प्रभुर बाह्य ज्ञान ॥५२॥
एइमत अर्द्धरात्रि कैल निर्वाहण । भितर प्रकोष्ठे प्रभु के कराइल शयन ॥५३॥
रामानन्द राय तबे गेला निज घरे । स्वरूप गोविन्द दुइ शुइला दुयारे ॥५४॥

इन्हीं दश दशाओं में श्रीमहाप्रभुजी दिन रात व्याकुल रहते थे । यह पता नहीं लगता था, कब कौनसी दशा आजाए । इस प्रकार उस दिन रात को प्रभु अपने मन की दशा कहकर चुप होगये । तब रायरामानन्द जी ने भावानुकूल श्लोक पढ़ा एवं श्रीस्वरूपदामोदर जी ने श्रीकृष्ण-लीला गान किया । इन दोनों जनों ने फिर कुछ प्रभु को बाह्यज्ञान कराया । इस प्रकार आधीरात निकल गई, फिर दोनों ने श्रीमहाप्रभु जी को भीतर के प्रकोष्ठ में अर्थात् गम्भीरा-नामक कमरे में सुला दिया । श्रीरामानन्द जी तब अपने घर चले आए । और श्रीस्वरूपदामोदर जी तथा श्रीगोविन्द दोनों बाहर दरवाजे पर सो गये ॥५०—५४॥

सब रात्रि महाप्रभु करे जागरण । उच्च करि करे कृष्णनाम सङ्कीर्त्तन ॥५५॥
प्रभुर शब्द ना पाञा स्वरूप कपाट कैल दूरे । तिन द्वार देओयाआछे प्रभु नाहि घरे ॥५६॥
चिन्तित हइल सभे प्रभु ना देखिया । प्रभु चाहि बुले सभे दीयटि ज्वालिया ॥५७॥
सिंहद्वारेर उत्तर दिशाय आछे एक ठाञि । तार मध्ये पड़ि आछेन चैतन्य गोसाञि ॥५८॥
देखि स्वरूप गोसाञि आदि आनन्दित हैला । प्रभुर दशा देखि पुन चिन्तित हइला ॥५६॥

फिर भी श्रीमन्महाप्रभु जी सारी रात जागते रहे और उच्चस्वर से श्रीकृष्णनाम का सङ्कीर्त्तन करते रहे । थोड़ी देर पश्चात् प्रभु का शब्द सुनाई देना बन्द होगया । श्रीस्वरूप जी ने झट किवाड़ खोला । क्या देखते हैं कि उस गम्भीरा के तीनों दरवाजे तो बन्द ही पड़े हैं किन्तु श्रीमहाप्रभु जी भीतर हैं ही नहीं । प्रभु को न देखकर सब के सब चिन्ता में पड़ गये और दिया —मसाल आदि जला जलाकर प्रभु

को इधर-उधर ढूण्ढ़ने लगे। सिंहद्वार की उत्तर दिशा में एक स्थान था, सब ने देखा कि महाप्रभु वहाँ पड़े हैं। प्रभु को पाकर श्रीस्वरूप गोस्वामी आदि प्रसन्न हुए किन्तु प्रभु की दशा देखकर वे बहुत चिन्तित हो उठे। (श्रीमहाप्रभु जी की उस समय क्या दशा थी, उसका वर्णन करते हैं) ॥५५-५९॥

प्रभुर पड़ि आछे दीर्घ-हात पांच छय। अचेतन देह, नासाय श्वास नाहि बय ॥६०॥
एकेक हस्तपद--दीर्घ तिन तिन हात। अस्थि ग्रन्थि भिन्न, चर्म आछे मात्र ता त ॥६१॥
हस्त पद ग्रीवा कटि अस्थि सन्धि यत। एकेक वितस्ति भिन्न हइयाछे तत ॥६२॥
चर्ममात्र उपरे सन्धिर आछे दीर्घ हञा। दुखित हइला सभे प्रभुके देखिया ॥६३॥

यह दशा थी कि श्रीमहाप्रभु जी मिट्टी में पड़े हुए हैं और उनका शरीर पांच छः हाथ लम्बा होगया है। वे अचेतनावस्था में पड़े हैं एवं श्वास का आना जाना बन्द है। प्रभु के हाथ - पाँव तीन तीन हाथ लम्बे होगये हैं, उनकी अस्थि ग्रन्थियाँ भिन्न भिन्न होगई हैं, जोड़ों में केवल चमड़ा दीखता है। हाथ, पाँव, ग्रीवा, कटि—इन अङ्गों में जितने अस्थियों के जोड़ होते हैं, वे एक एक बालिश्त भर हट गये हैं। जोड़ों पर केवल चमड़ा ही चमड़ा लटक रहा है—ऐसी अवस्था में प्रभु को देखकर सब जने अत्यन्त दुखित हुए ॥६०-६३॥

चै० च० चु० *टीका* :—यहाँ एक प्रश्न उठता है कि श्रीमहाप्रभु के हाथ-पांवादि एवं उनका शरीर इस प्रकार अस्वाभाविक भाव से दीर्घ हो उठे, अस्थि ग्रन्थियां पृथक् पृथक् होगईं—इसका कारण क्या है? श्रीमहाप्रभु जी श्रीराधाभाव में आविष्ट थे। श्रीकृष्णविरह में श्रीराधाजी के देह की इस प्रकार की अस्वाभाविक दीर्घता या उनकी अस्थि-ग्रन्थियों का पृथक् पृथक् हो जाना कहीं भी नहीं सुना गया है, फिर प्रभु की ऐसी अवस्था क्यों हुई--

इसका समाधान यह है कि कर्त्ता की अपेक्षा करण की शक्ति अधिक हुआ करती है, आधार की अपेक्षा आधेय बड़ा हुआ करता है, इसलिए ऐसा हुआ। इसका अभिप्राय यह है कि अपने माधुर्य को आस्वादन करने के लिए श्रीराधा का भाव लेकर श्रीकृष्ण गौर हुए। किन्तु श्रीराधा भाव को सम्पूर्णरूप से आयत्ताधीन रखने की शक्ति एकमात्र श्रीराधाजी में ही है और किसी में भी नहीं है, यहाँ तक कि स्वयं भगवान् में भी नहीं है। कारण कि श्रीराधा ही पूर्ण शक्ति हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णशक्तिमान् होते हुए भी लीलारस आस्वादन के लिये श्रीराधाजी में ही उनकी पूर्णशक्ति अभिव्यक्त होती है। इसलिये श्रीराधाजी को छोड़कर और किसी के लिये भी श्रीराधाभाव को सम्पूर्णरूप से आयत्ताधीन रखना सम्भव नहीं है। श्रीकृष्णविरह सम्बन्धीय जो समस्त भावों का वेग उठता था, उसे सहन की शक्ति श्रीराधाजी में थी। इसलिये उनके अन्तरस्थित भावों के वेश से उनकी अस्थि-ग्रन्थि पृथक् पृथक् या शिथिल नहीं होती थी। श्रीकृष्ण में—श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु जी में उस प्रकार की शक्ति न थी। इसलिए उनका शरीर अस्वाभाविक दीर्घता को प्राप्त करता था और उनकी अस्थि-ग्रन्थि खुल जाती थीं।

श्रीमहाप्रभु जी को देह-इन्द्रियों की कुछ भी स्मृति न थी, उनके मन-इन्द्रियगण श्रीकृष्ण-माधुर्यास्वादन में इतने केन्द्रीभूत हो रहे थे कि, वे जहाँ भी देखते थे उनको वहाँ श्रीकृष्ण ही दीखते थे। इस प्रकार का भाव एवं उक्त प्रकार के सात्विक विकार केवल श्रीराधा—कृष्ण मिलन जनित मादनाख्य महाभाव में ही उदय होते हैं। श्रीकृष्ण ब्रजलीला में अन्यान्य सब भावों के आश्रय एवं विषय थे, किन्तु मादनाख्य भाव के वे केवल मात्र विषय ही थे, मादनाख्य महाभाव उनमें नहीं है। मादनाख्य महाभाव

का एकमात्र आश्रय हैं श्रीराधा जी। श्रीराधाजी मादनाख्य महाभाव के समस्त विक्रम को सहन कर सकती हैं। स्व-माधुर्य आस्वादन की वाञ्छा पूर्ति के लिए श्रीराधाजी ने अपने प्रीतम श्रीकृष्ण को इस मादनाख्य महाभाव को प्रदान किया। उस श्रीराधा जी के मादनाख्य महाभाव को ग्रहण कर श्रीकृष्ण नवद्वीप में श्रीकृष्णचैतन्य रूप में अवतीर्ण हुए। श्रीराधा कृष्णमिलित विग्रह स्वरूप हैं—श्रीश्रीगौराङ्ग-सुन्दर।

श्रीकृष्ण में मादनाख्य महाभाव की अभिव्यक्ति न होने से वे मादनाख्य महाभाव के वेग को सहन नहीं कर सकते। यह बात ठीक है किन्तु श्रीगौर सुन्दर जब श्रीराधा कृष्ण मिलित विग्रह थे, उनमें पूर्णत: श्रीराधाजी के मादनाख्य महाभाव की अभिव्यक्ति थी, तब वे उस भाव के वेग को क्यों न सहन कर सकें—व्रजलीला में श्रीराधाजी जब उस वेग को सहन कर लेती थीं, यहाँ श्रीराधा कृष्ण मिलित विग्रह श्रीगौराङ्ग स्वरूप में उन भावों का वेग क्यों न सह्य हो सका?—इसका कारण यह है कि व्रज-लीला में मादनाख्य महाभाव की उद्दामता थी, श्रीराधाजी में अनेक प्रकार के सात्विक विकार या महाभाव का वेग उठता था, वह समस्त सहन कर जाती थीं, महाभाव की इतनी उद्दामता न थी कि उनकी अस्थि-ग्रन्थियाँ खुलगई हों। किन्तु यहाँ महाभाव की इतनी दुर्दमनीय उद्दामता हो उठी कि श्रीगौराङ्ग-स्वरूप में श्रीराधाजी भी उस उद्दामता को सहन न कर सकीं। यहाँ मादनाख्य महाभाव की उद्दामता इतनी सर्वातिशायिनी थी, उसका प्रभाव यहाँ इतना दर्दमनीय था कि स्वयं श्रीराधा जी भी उसे सहन न कर सकीं और श्रीगौराङ्ग स्वरूप में अस्थि-ग्रन्थियाँ पृथक् पृथक् होगईं।

मादनाख्य महाभाव की इस दुर्दमनीय मद्दामता एवं सर्वातिशायी शक्ति की अभिव्यक्ति का भी एक कारण है। श्रीराधा-कृष्ण के मिलन में ही मादनाख्य महाभाव का आविर्भाव होता है, यह मिलन जितना ही निविड़ होगा, मादन की उद्दामता या वेग भी इतना ही प्रवल होगा। व्रजलीला से श्रीराधा-कृष्ण का मिलन कितना ही निविड़ क्यों न हो, वहाँ उनका पृथक् अस्तित्व रहता है। किन्तु नवद्वीप लीला में श्रीराधाकृष्ण मिलन इतना निविड़तम हुआ है कि दोनों का पृथक् अस्तित्व ही विलुप्त होगया है, श्रीराधा जी एवं श्रीकृष्ण दोनों मिलकर एक विग्रह होगये। 'रसराज महाभाव दुइये एक रूप" यहाँ श्रीराधाकृष्ण मिलन इतना निविड़तम हुआ और उसके फलस्वरूप मादनाख्य महाभाव की उद्दामता भी इतनी सर्वातिशायीरू१ से अभिव्यक्त हुई कि रसराज-महाभाव एकीभूतस्वरूप श्रीगौराङ्गसुन्दर में श्रीराधाजी भी उसके वेग को एवं आनन्द उन्मादता को संवरण न कर सकीं। यही कारण है कि श्रीराधा जी की ऐसी अवस्था नहीं सुनी जाती है और श्रीराधाकृष्ण मिलित अथवा श्रीराधाभावाविष्ट श्रीमन्महाप्रभुजी में अश्रुत पूर्व अवस्था दीखने में आती है।

श्रीमन्महाप्रभु जी की और क्या अवस्था थी, उसे अगले पयारों में वर्णन करते हैं—

मुखे लालाफेन प्रभुर उत्तान नयान। देखितेइ सब भक्तेर देह छाड़े प्राण ॥६४॥
स्वरूपगोसाञि तबे उच्च करिया। प्रभुर कार्णे 'कृष्णनाम' कहे भक्तगण लञा ॥६५॥
बहुक्षणे कृष्णनाम हृदये पशिला। 'हरिबोल' बलि प्रभु गर्जिया उठिला ॥६६॥
चेतन हइते अस्थि-सन्धि लागिल। पूर्व प्राय यथायोग्य शरीर हइल ॥६७॥
एइ लीला महाप्रभुर रघुनाथ दास। गौराङ्गस्तवकल्प वृक्षे करियाछे प्रकाश ॥६८॥

श्रीमहाप्रभु जी के मुख से फेन-मिश्रित लालास्राव होरहा था, और उनके नेत्र ऊपर को चढ़े हुए थे। श्रीमहाप्रभु जी की यह समस्त अदृष्टपूर्व, अश्रुतपूर्व अवस्था देखकर सब भक्तों के देह में से मानों

प्राण निकल गये। तब श्रीस्वरूपदामोदर जी ने कुछ भक्तों को साथ लेकर उच्चस्वर से श्रीमहाप्रभु जी के कान में 'हरे कृष्ण' बारबार कहा। कुछ देर तक जब श्रीकृष्णनाम प्रभु के हृदय में प्रविष्ट हुआ तब वे 'हरि बोल' की गर्जना करते हुए उठ बैठे। चेतना आते ही प्रभु की अस्थि-सन्धियाँ पूर्ववत् जुड़ गई एवं उनका शरीर प्रायः यथायोग्य आकार में होगया। (श्रीमहाप्रभु जी की इसी लीला को गोस्वामी रघुनाथदास जी ने श्रीगौराङ्ग-स्तवकल्पतरु में इस तरह वर्णन किया है—)

तथाहि स्तवावल्यां गौराङ्गस्तवकल्पतरौ (४)—

क्वचिन्मिश्रावासे व्रजपति सुतस्योरुविरहात् ,
श्लथ श्रीसन्धित्वाद्दधदधिकदैर्घ्यं भुजपदोः।
लुण्ठन् भूमौ काक्वा विकलविकलं गद्गद वचा ,
रुदन् श्रीगौराङ्गो हृदये उद्यन् मां मदयति ॥५॥

किसी एक दिन श्रीकाशीमिश्र के घर में श्रीव्रजेन्द्रनन्दन के उत्कट विरह में अङ्गों की शोभा व सब सन्धियों के शिथिल हो जाने से जिन के हाथ व पांव (स्वाभाविक अवस्था की अपेक्षा) अधिक दीर्घ होगये थे एवं उसी अवस्था में पृथ्वी पर लुण्ठन करते करते अत्यन्त कातर होकर जिन्होंने गद्गद् दैन्य वाक्यों से रोदन किया था, वही श्रीगौराङ्ग मेरे हृदय में उदित होकर मुझे उन्मत कर रहे हैं ॥५॥

चै० च० चु० *टीका*—पूर्वोक्त पयारों में जो लीला वर्णन की गई है, श्रीरघुनाथगोस्वामीपाद ने उसे साक्षात् देखा था, इसलिये उन्होंने उसे इस श्लोक में वर्णन किया है। इस लीला को स्मरण करके एवं इस लीला में महाभाव की जो वैचित्री अभिव्यक्त हुई है, उसे स्मरण करके तथा उन सर्वोत्कृष्ट भावाविष्ट श्रीमन्महाप्रभु जी को स्मरण करके श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी का हृदय आनन्द में उन्मत्त हो उठा था, यह श्लोक इस बात को व्यक्त करता है।

श्रीमहाप्रभु जी की इस लीला में श्रीराधा जी के प्रेम की शक्ति की महिमा प्रगटित होती है। श्रीराधाजी के तुल्य तो श्रीराधाजी ही हैं, और कोई नहीं हो सकता। श्रीराधाजी के प्रेम की अनिर्वचनीय महिमा जगत् में दिखाने के लिए ही राधा-प्रेम-ऋणि श्रीकृष्ण श्रीगौर सुन्दर स्वरूप में अवतीर्ण हुए हैं।

सिंहद्वारे देखि प्रभुर विस्मय हइल। 'काहां कर कि' एइ स्वरूपे पुछिल ॥६९॥
स्वरूप कहे--उठ प्रभु ? चल निज घर। तथाइ तोमारे सब करिब गोचर ॥७०॥
एत बलि प्रभु धरि घरे लञा गेला। तांहार अवस्था सब तांहारे कहिला ॥७१॥
शुनि महाप्रभुर बड़ हैल चमत्कार। प्रभु कहे—किछु स्मृति नाहिक आमार ॥७२॥
सबे देखि, हय मोर कृष्ण विद्यमान। विद्युत्प्राय देखा दिया करे अन्तर्द्धान ॥७३॥

श्रीमहाप्रभु जी को जब चेतना आई तब अपने को सिंहद्वार पर देखकर उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ और श्रीस्वरूप जी से पूछने लगे--"हम यहाँ कहाँ ? तुम क्या कर रहे हो ?" श्रीस्वरूप ने कहा— "उठिये प्रभु ! घर चलिये, वहाँ ही सब बात बताऊंगा।" इतना कहकर श्रीस्वरूप श्रीप्रभु को पकड़ कर उनके निवास स्थान पर ले आए और वहाँ प्रभु को प्रभु की सब अवस्था कह सुनाई। श्रीमहाप्रभु जी को अपनी अवस्था का वृत्तान्त सुन कर बहुत चमत्कार हुआ। श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"स्वरूप ! मुझे तो

कुछ पता नहीं है, केवल मुझे इतना याद है कि मैंने देखा श्रीकृष्ण मेरे सामने खड़े थे किन्तु जैसे विद्युत चमक कर लीन हो जाती है, उतनी ही देर तक मुझे उनके दर्शन हुए फिर वे अन्तर्धान होगये ।।६९-७३।।

हेन काले जगन्नाथेर पाणिशङ्ख बाजिला । स्नान करि महाप्रभु दरशने गेला ।।७४।।
एइ त कहिल प्रभुर अद्भुत विकार । याहार श्रवणे लोक लागे चमत्कार ।।७५।।
लोके नाहि देखि ऐछे शास्त्रे नाहि शुनि । हेन भाव व्यक्त करे न्यासि शिरोमणि ।।७६।।
शास्त्र लोकातीत येइ-येइ भाव हय । इतर लोकेर ताते ना हय निश्चय ।।७७।।
रघुनाथ दासेर सदा प्रभुसङ्गे स्थिति । तांर मुखे शुनि लिखि करिया प्रतीति ।।७८।।

यह सब बातें हो रही थीं कि इतने में श्रीजगन्नाथ जी की मङ्गला आरती का शङ्ख बजा और श्रीमहाप्रभुजी उठ खड़े हुए । उन्होंने स्नान किया और दर्शनों के लिए चल दिये । श्रीकविराज-गोस्वामीजी कहते हैं—"इस प्रकार मैंने श्रीमहाप्रभु जी के अद्भुत विकारों की कथा कही है जिसके सुनने से लोग चमत्कृत हो उठेंगे । ऐसे ऐसे भाव संन्यासी शिरोमणि श्रीगौराङ्ग प्रभु जी ने प्रकाशित किए, जो जगत् में कहीं भी नहीं देखे जाते हैं और नहीं उनका उल्लेख किसी शास्त्र में सुना जाता है । शास्त्र एवं लोकातीत जो-जो भाव होते हैं, उनका विश्वास भक्तिहीन व्यक्तियों को नहीं हो सकता अथवा जिनभक्तों ने उन्हें प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा है, उनको छोड़कर अन्यान्य लोगों को नहीं हो सकता । किन्तु श्रीरघुनाथदास जी तो सदा श्रीमहाप्रभु जी के पास रहते थे, उनके मुख से यह सब लीला मैंने सुनकर प्रतीति लिखी है ।।७४—७८।।

एक दिन महाप्रभु समुद्र याइते । चटक पर्वत देखिल आचम्बिते ।।७९।।
गोवर्द्धनशैल-ज्ञाने आविष्ट हइला । पर्वत दिशाते प्रभु धाइया चलिला ।।८०।।

एक दिन श्रीमहाप्रभु जी समुद्र पर स्नान करने जारहे थे, उनकी दृष्टि एकदम नीलाचलस्थित चटक-नामक पर्वत पर पड़ी । उसे श्रीगोवर्द्धन-गिरि जान कर प्रभु आवेशित हो उठे और पर्वत की ओर निम्नलिखित श्लोक उच्चारण करते हुए भाग पड़े—।।७९-८०।।

तथाहि (भा: १०—२१—१८)

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्य्यो यद्रामकृष्ण चरण स्पर्श प्रमोदः ।
मानं तनोति सह गोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसुज वसकन्दर कन्दमूलैः ।।६।।

एक गोपी दूसरी सखियों से कहती है—"हे अवलागण ! यह गोवर्द्धन-गिरि निश्चय ही हरिदासों में श्रेष्ठ है क्यों कि यह श्रीरामकृष्ण के चरणों के स्पर्श को पाकर प्रसन्न चित्त होकर पीने योग्य जल से, उत्तम तृणों से, कन्दराओं से, कन्द एवं मूल द्वारा गौओं तथा गोपालगणों के सहित श्रीरामकृष्ण की यथोचित पूजा करता है ।" ।।६।।

एइ श्लोक पड़ि प्रभु चले वायुवेगे । गोविन्द धाइल पाछे, नाहि पाय लागे ।।८१।।
फुकार पड़िल, महा कोलाहल हैल । येइ याहां छिल, सेइ उठिया धाइल ।।८२।।
स्वरूप जगदानन्द पण्डित गदाधर । रामाइ-नन्दाई नीलाई पण्डित शङ्कर ।।८३।।

पुरी भारती गोसाञि आइला सिन्धु तीरे । भगवानाचार्य खञ्ज चलिला धीरे धीरे ॥८४॥
प्रथमे चलिला प्रभु येन वायुगति । स्तम्भभाव पथे हैल, चलिते नाइ शक्ति ॥८५॥

इस श्लोक को पढ़ते हुए प्रभु वायु के वेग की भान्ति आगे जा रहे थे, श्रीगोविन्द भी प्रभु के पीछे पीछे भाग रहे थे, किन्तु प्रभु तक पहुँच नहीं पा रहे थे । सब लोगों में चीत्कार-शब्द एवं कोलाहल सा मच गया, जो जहाँ जैसे खड़ा था, वह वैसे ही प्रभु के पीछे भाग पड़ा । श्रीस्वरूप, श्रीजगदानन्द, श्रीगदाधर पण्डित, श्रीरामाई-नन्दाई श्रीनीलाई, श्रीशङ्कर पण्डित एवं श्रीपरमानन्दपुरी व श्रीब्रह्मानन्द भारती सबके सब सिन्धु तीर पर भागे आये । श्रीभगवान् आचार्य थोड़ा लंगड़ा कर चलने वाले थे, वह भी धीरे धीरे चल रहे थे । पहले तो श्रीमहाप्रभु वायु गति से भागे जा रहे थे, किन्तु फिर उनमें स्तब्धता आगई और उनमें चलने की शक्ति कम होगई ॥८१—८५॥

प्रतिरोमकूपे मांस व्रणेर आकार । तार उपरे रोमोद्गम कदम्ब प्रकार ॥८६॥
प्रतिरोमे प्रस्वेद पड़े रुधिरेर धार । कण्ठ घर्घर, नाहि वर्णेर उच्चार ॥८७॥
दुइ नेत्र भरि अश्रु बहये अपार । समुद्रे मिलिल येन गङ्गा-यमुना-धार ॥८८॥
वैवर्ण्ये शङ्ख प्राय श्वेत हइल अङ्ग । तबे कम्प उठे येन समुद्र-तरङ्ग ॥८९॥
कांपिते कांपिते प्रभु भूमिते पड़िला । तबे त गोविन्द प्रभुर निकटे आइला ॥९०॥

सबने देखा कि श्रीमहाप्रभु जी का प्रतिरोम कूप छाले की भान्ति फूल रहा था । उनके रोम छालों में से निकल कर खड़े हुए दिखाई दे रहे थे, जैसे कदम्ब के फूल खिल रहे हों । उनके प्रतिरोम से जो प्रस्वेद निकल रहा था, वह रक्त की धाराओं के रूप में था । उनका कण्ठ घर्घर कर रहा था । वे कोई शब्द उच्चारण न कर सकते थे । दोनों नेत्रों से उनके अश्रुओं की धाराएं वेगपूर्वक प्रवाहित हो रही थी, जैसे गङ्गा और यमुना की धाराएं वेग से प्रवाहित होकर समुद्र में आकर मिलती हैं । वैवर्ण्य सात्विक विकार से अङ्ग शङ्ख की भान्ति सफेद पड़ गये थे । समुद्र की तरङ्गों की भाँति प्रभु का शरीर कम्पायमान होरहा था । अन्ततः प्रभु कांपते काँपते भूमि पर गिर पड़े और श्रीगोविन्द दौड़ कर उनके निकट आ पहुँचा ॥८६-९०॥

करोयार जले करे सर्वाङ्ग सेचन । बहिर्वास लञा करे अङ्ग संवीजन ॥९१॥
स्वरूपादिगण ताहां आसिया मिलिला । प्रभुर अवस्था देखि कांदिते लागिला ॥९२॥
प्रभुर अङ्गे देखे अष्ट सात्विक-विकार । आश्चर्य सात्विक देखि हैल चमत्कार ॥९३॥
उच्चसङ्कीर्त्तन करे प्रभुर श्रवणे । शीतल जले करे प्रभुर अङ्ग सम्माज्जने ॥९४॥
एइमत बहु बेरि करिते करिते । 'हरिबोल' बलि प्रभु उठिला आचम्बिते ॥९५॥
आनन्दे सकल वैष्णव बोले 'हरिहरि' । उठिल मङ्गलध्वनि चौदिग् भरि ॥९६॥
उठि महाप्रभु विस्मित इति उति चाय । ये देखिते चाहे, ताहा देखिते ना पाय ॥९७॥

श्रीगोविन्द करुवा के जल से प्रभु के अङ्गों को सींचने लगे । एवं बहिर्वास लेकर उनको हवा करने लगा । इतने में श्रीस्वरूपादि सब वैष्णवगण भी वहाँ आ पहुँचे । श्रीमहाप्रभु जी की इस प्रकार

अवस्था देखकर सब रोने लगे। प्रभु के अङ्गों में आश्चर्यमय आठों सात्त्विक विकारों को देखकर सब को चमत्कार हुआ। सब मिलकर उच्चस्वर से श्रीकृष्णनाम का सङ्कीर्त्तन प्रभु के कर्णेन्द्रियों के पास करने लगे एवं शीतलजल से प्रभु के अङ्गों को धोने लगे। इस प्रकार जब बार बार उच्चध्वनि से श्रीकृष्णनाम प्रभु के कानों में सब ने सुनाया तब एकदम श्रीमहाप्रभु जी 'हरि बोल' कहते हुए उठ बैठे। सब वैष्णव भी आनन्दपूर्वक 'हरि हरि' बोलने लगे। चारों दिशाओं में श्रीकृष्णनाम की मङ्गलमय ध्वनि गूंजने लगी। उठ कर श्रीमहाप्रभु जी इधर उधर देखने लगे, किन्तु वे जिसे देखना चाह रहे थे, वह वस्तु उन्हें कहीं भी न दीख रही थी। (वे क्या देखना चाह रहे थे—उसे अगले पयारों में कहते हैं) ॥९१—९७॥

वैष्णव देखिया प्रभुर अर्द्धबाह्य हैल। स्वरूपगोसाञि के किछु पुछिते लागिल ॥९८॥
गोवर्द्धन हैते मोरे के इहां आनिल। पाइया कृष्णेर लीला, देखिते ना पाइल ॥९९॥
इहां हैते आजि मुञि गेलुं गोवर्द्धन। देखों यदि कृष्ण करे गोधन-चारण ॥१००॥
गोवर्द्धने चढ़ि कृष्ण बाजाइला वेणु। गोवर्द्धनेर चौदिके चरे सब धेनु ॥१०१॥
वेणुनाद शुनि आइला राधाठाकुराणी। तांर रूप भाव सखि ! वर्णिते ना जानि ॥१०२॥
राधा लञा कृष्ण प्रवेशिला कन्दराते। सखीगण कहे मोके फूल उठाइते ॥१०३॥
हेन काले तुमि सब कोलाहल कैला। ताहाँ हैते धरि मोरे इहां लञा आइला ॥१०४॥
केने वा आनिला मोरे वृथा दुख दिते ? । पाइया कृष्णेर लीला ना पाइलुं देखिते ॥१०५॥

सर्व वैष्णवों को वहां एकत्रित हुआ देखकर प्रभु को आधी चेतना हुई और वे श्रीस्वरूप गोस्वामी जी से गोपीभावावेश में पूछने लगे—"मुझे गोवर्द्धन से यहाँ कौन ले आया है ? श्रीकृष्ण की लीला को प्राप्त करके भी मैं उसे देख न सकी। मैं तो आज यहाँ से गोवर्द्धन गई थी, वहाँ जाकर मैंने देखा कि श्रीकृष्ण गौओं को चरा रहे हैं। फिर श्रीकृष्ण ने गोवर्द्धन गिरि पर चढ़कर अपनी वेणु को बजाया, और उनकी गौएं गोवर्द्धन के चारों ओर चरने लगीं। फिर मैंने देखा कि उनकी वेणुध्वनि को सुन कर श्रीराधारानी जी भी वहाँ आ पहुँची। सखि ! मैं श्रीराधारानी की रूप माधुरी एवं भाव-माधुरी को वर्णन नहीं कर सकती हूँ। श्रीराधा जी को श्रीकृष्ण साथ लेकर एक कन्दरा में चले गये और मुझे उनकी सखियों ने कहा कि तुम फूल चुन लाओ। इस काल में तुम सब ने कोलाहल मचा दिया और मुझे पकड़ कर वहाँ से यहाँ ले आई हो। मुझे तुम यहाँ क्यों वृथा दुख देने को ले आई हो ? हाय ! हाय ! मैं श्रीकृष्ण की लीला में पहुँचकर भी उन की लीला को न देख सकी" ॥९८-१०५॥

एतबलि महाप्रभु करेन क्रन्दन। तांर दशा देखि वैष्णव करेन रोदन ॥१०६॥
हेन काले आइला पुरी भारती दुइजन। दोंहा देखि महाप्रभुर हइल सम्भ्रम ॥१०७॥
निपट्ट-बाह्य हैल, प्रभु दोंहाके वन्दिला। महाप्रभुरके दुइजन प्रेमालिङ्गन कैला ॥१०८॥
प्रभु कहे, दोंहे केन आइला एतदूरे। पुरीगोसाञि कहे, तोमार नृत्य देखिबारे ॥१०९॥

इतना कहकर श्रीमहाप्रभु जी रोने लगे और उनकी दशा देखकर सब वैष्णव भी चिल्ला उठे। इतने में वहाँ श्रीपुरी गोसाईं तथा श्रीभारती जी आ पहुँचे। उन्हें देखते ही श्रीमहाप्रभु जी चौंक उठे और उनका प्रेमावेश सङ्कुचित होगया। श्रीमहाप्रभु को पूर्ण रीति से बाह्य हो आया। प्रभु ने उन

दोनों को वन्दना की और उन दोनों ने प्रभु को प्रेमपूर्वक आलिङ्गन किया। श्रीमहाप्रभु जी बोले—"आप दोनों इतनी दूर क्यों चले आये ?" श्रीपुरी गोस्वामी जी ने कहा—"चैतन्य ! तुम्हारा नृत्य देखने।"१०९॥

लज्जित हइला प्रभु पुरीर वचने। समुद्रेर आड़े आइला सब वैष्णव सने ॥११०॥

स्नान करि महाप्रभुर घरेरे आइला। सभा लञा महाप्रसाद भोजन करिला ॥१११॥

एइ त कहिल प्रभुर दिव्योन्माद-भाव। ब्रह्महो कहिते नारे याहार प्रभाव ॥११२॥

चटकगिरि गमन-लीला रघुनाथदास। गौराङ्गस्तव कल्पवृक्षे करियाछेन प्रकाश ॥११३॥

उनके वचन सुनकर श्रीमहाप्रभु जी लज्जित होगये। फिर सब वैष्णवों के साथ प्रभु समुद्र के किनारे पर आए एवं स्नान कर अपने निवासस्थान पर चले आये। प्रभु ने सब को साथ लेकर महाप्रसाद भोजन किया। श्रीकृष्णदास गोस्वामी जी कहते हैं कि इस प्रकार मैंने श्रीमहाप्रभु जी का कुछ दिव्योन्माद-भाव वर्णन किया है। दिव्योन्माद में प्रभु की क्या क्या अवस्था होती थी, उसे ब्रह्माजी भी वर्णन नहीं कर सकते हैं। श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी ने भी इस चटकगिरिगमन-लीला का वर्णन श्रीगौराङ्गस्वकल्पद्रुम में इसी प्रकार किया है ॥११०–११३॥

तथाहि स्तवावल्यां गौराङ्गस्तवकल्पतरौ (८)—

समीपे नीलाद्रेश्चटकगिरिराजस्य कलना—
दये गोष्ठे गोवर्द्धनगिरिपतिं लोकितुमितः।
व्रजन्नस्मीत्युक्त्वा प्रमाद इव धावन्नवधृतो
गणैः स्वैर्गौराङ्गो हृदये उदयन् मां मदयति ॥७॥

नीलाचल के निकट चटकनामक पर्वतराज को देखकर "हे बान्धवगण ! ब्रज में गिरिराज गोवर्द्धन के दर्शन करने के लिये मैं यहां से जा रहा हूँ"—इस प्रकार कहकर जिन्होंने प्रमत्त पुरुष की तरह दौड़ लगाई थी एवं अपने भक्तों द्वारा जो निवारित हुए थे, वही श्रीगौराङ्ग देव मेरे हृदय में उदित होकर मुझे उन्मत्त कर रहे हैं ॥७॥

एवे यत कैल प्रभुर अलौकिक लीला। के वर्णिते पारे ताहा महाप्रभुर खेला ॥११४॥

संक्षेपे कहिया करि दिग् दरशन। इहा येइ शुने पाय कृष्ण - प्रेमधन ॥११५॥

श्रीरूप - रघुनाथ पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥११६॥

श्रीमहाप्रभु जी ने जितनी अलौकिक लीलाएं की हैं, उनको भला कौन वर्णन कर सकता है। मैंने संक्षेप से यहाँ उनका दिग्दर्शन ही कराया है। जो व्यक्ति इन लीलाओं को पढ़ेंगे, सुनेंगे, उन्हें श्रीकृष्णप्रेम धन की प्राप्ति होगी। श्रीरूपगोस्वामी एवं श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी के चरणों की आशा करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥११४–११६॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां
चटकगिरिगमनरूप दिव्योन्माद वर्णन नाम
चतुर्दश परिच्छेदः ॥१४॥

जयगौर

अन्त्य-लीला

पञ्चदश परिच्छेद

*

दुर्गमे कृष्णभावाब्धौ निमग्नोन्मग्नचेतसा ।
गौरेण हरिणा प्रेम मर्य्यादा भुवि दर्शिता ॥१॥

(ब्रह्मादि पर्य्यन्त) दुर्वोध कृष्णप्रेम समुद्र में निमग्न-उन्मग्नचित्त (जो) श्रीगौरहरि पृथ्वी पर श्रीकृष्ण-प्रेम की सीमा दिखा गये हैं (मैं उनको नमस्कार करता हूँ ।) ॥१॥

[इस परिच्छेद में श्रीमन्महाप्रभु जी की दिव्योन्माद - अवस्था के कुछ भावों का वर्णन किया गया है]

चै० च० चु० *टीका*:—श्रीकृष्णप्रेम की जिस वैचित्री में दिव्योन्माद अभिव्यक्त होता है, उस वैचित्री के मर्म को और की तो क्या बात, श्रीब्रह्मादिक भी नहीं जान सकते । उसे केवल श्रीकृष्ण-मधुरभाव या कान्ताभाव का परिकर जान सकता है । इसलिये उक्त श्लोक में श्रीकृष्णप्रेम को दुर्गम कहा गया है । वह श्रीकृष्णप्रेम श्रीराधा जी एवं ब्रजगोपियों में ही समुद्रवत् अत्याधिक गम्भीर एवं विस्तृतभाव से अभिव्यक्त होता है । कान्ताभावोचित प्रेम में ही दिव्योन्माद संभव होता है । इस परिच्छेद में श्रीराधा-भाव भावित श्रीमन्महाप्रभु का दिव्योन्माद वर्णन किया गया है । प्रभु का मन श्रीराधाभाव रूपी समुद्र में निमग्न-उन्मग्न होजाता था, समुद्र में पड़ा हुआ व्यक्ति जैसे उसकी तरङ्गों से कभी जलमग्न—डूब जाता है, उसी प्रकार भावसमुद्र में प्रभु का मन भी कभी डूब जाता था, उन्हें कुछ भी बाह्यज्ञान नहीं रहता था और कभी उन्हें अर्द्ध बाह्यज्ञान होता तो वे अपने मन के किञ्चित् भावों को व्यक्त करते इसलिये प्रभु को निमग्नोन्मग्न-चित्त कहा गया है ।

श्रीकृष्णप्रेम-जनित दिव्योन्माद क्या वस्तु होती है ? इसे जगत् के जीव नहीं जानते थे, उसे प्रत्यक्ष करके किसी ने भी जगत् को नहीं दिखाया था । राधाभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी की दिव्योन्माद लीला में उनके प्रलापादि से एवं उनके अङ्गों में प्रकटित लक्षणादि से उनके नीलाचल-परिकरगण ने उस दिव्योन्माद का कुछ कुछ परिचय प्राप्त किया एवं फिर उनकी कृपा से जगत् के अन्यान्य लोग भी उसे कुछ जान सके ।

जय जय श्रीकृष्णचैतन्य अधीश्वर । जय नित्यानन्द पूर्णानन्द कलेवर ॥१॥
जयाद्वैताचार्य कृष्णचैतन्य प्रियतम । जय जय श्रीनिवास-आदि भक्तगण ॥२॥
एइमत महाप्रभु रात्रि दिवसे । आत्मस्फूर्त्ति नाहि रहे कृष्ण—प्रेमावेशे ॥३॥
कभु भावे मग्न, कभु अर्द्धबाह्य स्फूर्त्ति। कभु बाह्य स्फूर्त्ति, तिन-रीते प्रभुर स्थित॥४॥
स्नान-दर्शन-भोजन देह—स्वभावे हय। कुमारेर चाक येन सतत फिरय ॥५॥

स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यदेव की जय हो। जय हो। पूर्णानन्द-घनविग्रह श्रीनित्यानन्द प्रभुजी की जय हो। श्रीकृष्णचैतन्य के परम प्रिय श्रीअद्वैताचार्य प्रभु की जय हो। श्रीनिवासादि सब भक्तगणों की जय हो, जय हो। इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु जी दिन रात श्रीकृष्णप्रेमावेश में आविष्ट रहते थे, उन्हें आत्मस्मृत्ति नहीं थी। कभी तो वे भावसमुद्र में डूब ही जाते, कभी उन्हें कुछ कुछ बाहर की स्फूर्त्ति भी हो आती और कभी उन्हें थोड़े समय के लिये बाह्यज्ञान भी हो आता। इन तीनों अवस्थाओं में ही श्रीमहाप्रभु अवस्थान करते थे, कुम्भकार का चक्र जैसे (उसके हाथ हटा लेने पर भी) अपने आप चलता रहता है, उसी प्रकार प्रभु के स्नान, श्रीजगन्नाथ दर्शन, भोजनादि सब काम देह के स्वभाव या अभ्यासवश होते रहते थे ॥१—५॥

एकदिन करे प्रभु जगन्नाथ दरशन। जगन्नाथे देखे साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन ॥६॥
एकबारे स्फुरे प्रभुर कृष्णेर पञ्चगुण। पञ्चगुणे करे पञ्चेन्द्रिय आकर्षण ॥७॥
एक मन पञ्चदिके पञ्चगुणे टाने। टानाटानि प्रभुर मन हैल अगेयाने ॥८॥
हेनकाले ईश्वरेर उपलभोग सरिला। भक्तगण महाप्रभुके घरे लञा आइला ॥९॥
स्वरूप रामानन्द एइ दुइजने लञा। विलाप करेन दुंहार कण्ठेते धरिया ॥१०॥
कृष्णेर वियोगे राधार उत्कण्ठित मन। विशाखाके कहे आपन उत्कण्ठा कारण ॥११॥
सेइ श्लोक पढ़ि आपने करे मनस्ताप। श्लोकेर अर्थ शुनाय दोंहाके करिया विलाप ॥१२॥

एक दिन श्रीमहाप्रभु जी जब श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन कर रहे थे तो उन्हें श्रीजगन्नाथ जी साक्षात् श्रीव्रजेन्द्रनन्दन रूप में दीखने लगे। श्रीकृष्णचन्द्र के रूप-रसादि पाँचों गुण एक बार ही उन्हें स्फुरित हो उठे एवं वे उनकी पाँचों इन्द्रियों को अपनी ओर आकर्षित करने लगे। एक तो मन था, पाँचों गुण उसे पाँच दिशाओं में अपनी अपनी ओर खींचने लगे। इस खींचातानी में प्रभु का मन बेसुद्धि होगया। इतने में श्रीजगन्नाथ जी का उपलभोग सर गया। तब सब भक्त उसी अवस्था में श्रीप्रभु को उनके निवासस्थान पर ले आए। श्रीस्वरूप एवं श्रीरामानन्द के गले में हाथ डालकर श्रीमहाप्रभुजी विलाप करने लगे। श्रीराधाजी जैसे श्रीकृष्ण-वियोग में उत्कण्ठित-मन होकर श्रीविशाखाजी को अपने मन की अवस्था कहा करती थीं; उसी भाव के श्लोक को पढ़कर एवं उसकी व्याख्या करके प्रभु दोनों के आगे अपने मन के भावों को व्यक्त करके विलाप करने लगे ॥६—१२॥

तथाहि गोविन्दलीलामृते (८—३)—

सौन्दर्य्यामृतसिन्धुभङ्गललना – चित्ताद्रि संप्लावकः
कर्णानन्दिसनर्मरम्यवचनः कोटीन्दुशीताङ्गकः ।

सौरभ्यामृत संप्लवावृतजगत् पीयूषरम्याधरः
श्रीगोपेन्द्रसुतः स कर्षति बलात् पञ्चेन्द्रियाण्यालि मे ॥२॥

श्रीराधाजी कहती हैं—"हे सखि ! सौन्दर्य्यरूप अमृतसमुद्र की तरङ्गों द्वारा जो ललनागणों के चित्तरूप पर्वत को संप्लावित करते हैं, जिनके रम्य वचन परिहासमय एवं कानों को सुख देने वाले हैं, जिनके अङ्ग कोटि चन्द्रों से भी अधिक सुशीतल हैं, जो अपने सौरम्यामृत (गात सुगन्धि) के द्वारा समस्त जगत् को प्लावित करने वाले हैं, एवं जिनका अधर अमृत से भी अधिक रमणीय है, वे गोपेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्ण बलपूर्वक मेरी पञ्चेन्द्रियों को आकर्षण कर रहे हैं । (इस श्लोक की व्याख्या निम्नलिखित त्रिपदी में विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं) – ॥२॥

यथा रागः—

कृष्ण–रूप–शब्द–स्पर्श, सौरभ्य अधररस, यार माधुर्य कहन ना याय ।
देखि लोभि पञ्चजन, एक अश्व मोर मन, चढ़ि पञ्च पांचदिगे धाय ॥१३॥

श्रीराधाभाव में श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"सखि ! श्रीकृष्ण का रूप-माधुर्य्य, उनके अङ्गों के स्पर्श का माधुर्य, अधररस का माधुर्य्य, जैसा भी माधुर्य्य क्यों न हो, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । उनके माधुर्य को देखकर मेरी पाँचों इन्द्रियाँ उसका आस्वादन करने के लिये लालायित हो उठी हैं, मेरे मनरूपी घोड़े पर वे पाँचों सवार होकर प्रबलवेग से विभिन्न पांचों दिशाओं में भाग रही हैं" ॥१३॥

सखि हे ! शुन मोर दुखेर कारण ।
मोर पञ्चेन्द्रियगण, महा लम्पट दस्युगण, सबे हरे परधन ॥ध्रु० १४॥
एक अश्व एकक्षणे, पांच पांचदिगे टाने, एक मन कोन् दिगे याय ?
एक काले सभे ठाने, गेल घोड़ार पराणे, एइ दुख सहन ना याय ॥१५॥

"हे सखि ! मेरे दुख के कारण को सुन । मेरी पाँचों इन्द्रियां महा लम्पट हैं (अपने अपने विषय आस्वादन के लिये अत्यन्त लालयान्वित हो रही हैं) और जैसे लुटेरे पराया-धन हरने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेते हैं, इन्होंने भी परायाधन (—श्रीकृष्ण के रूप-रसादि माधुर्यामृत) को लूटने की दृढ़ प्रतिज्ञा करली है । जैसे एक घोड़े को पाँच जने विभिन्न पाँच दिशाओं में खींचे, वैसे ही मेरा मन तो एक है, उसे पाँचों इन्द्रियां अपनी अपनी ओर पाँच विभिन्न दिशाओं में आकर्षण कर रही हैं । बताओ, मेरा एक मन किधर जाये ? एक ही समय में सब अपनी अपनी ओर खींचते हैं, मेरे मनरूपी घोड़े के तो प्राण निकलने को आजाते हैं, सखि ! ऐसा दुख सहन किया जा सकता है क्या ?" ॥१४—१५॥

इन्द्रिये ना करि रोष, इहा सभार काहां दोष, कृष्णरूपादि महा आकर्षण ।
रूपादि पांच पांचे टाने, गेल पांचेर पराणे, मोर देहे ना रहे जीवन ॥१६॥
कृष्णरूपामृत सिन्धु, ताहार तरङ्ग विन्दु, एक विन्दु जगत् डुबाय ।
त्रिजगते यत नारी, तार चित्त उच्चगिरि, ताहा डुबाय आगे उठिधाय ॥१७॥

श्रीराधाभावाविष्ट प्रभु ने आगे कहा—"सखि ! मैं अपनी इन्द्रियों को क्या दोष दूँ ? उन पर क्या रोष करूँ ? श्रीकृष्ण के रूप-रसादि ही ऐसे शक्तिशाली हैं कि वे उन्हें बलपूर्वक आकर्षण कर

लेते हैं। श्रीकृष्ण के रूप-रसादि के पाँचो माधुर्यों ने मेरी पाँचों इन्द्रियों को इतनी प्रवलता से खींच लिया है कि उनमें प्राण ही नहीं रहे हैं, फिर मेरे शरीर में भला कैसे प्राण रह सकते हैं ? मैं कैसे जीवन धारण करूं ? श्रीकृष्ण का रूप अमृत का सागर है, उसकी एक तरङ्ग के एक विन्दु में ही समस्त जगत् डूब जाता है—(समस्त जगत् आत्म-विस्मृत हो जाता है।) सखि ! मेरी तो बात ही क्या है ? त्रिभुवन में जितनी नारियाँ हैं, उनके चित्त में रहने वाले कौलीन्य एवं पतिव्रत्यरूप उच्च पर्वत को श्रीकृष्णरूपामृत सिन्धु का एक विन्दु डुवा देता है, बल्कि उनकी ऊंचाई से भी ऊंचा उठ जाता है। (अर्थात् श्रीकृष्णरूप लावण्य को देखते ही त्रिभुवन की समस्त पतिव्रता एवं कुलीन सती नारियाँ उसके आस्वादन के लिये अत्यन्त लालायित हो उठती हैं और अपने समस्त देह-कुल धर्मों को त्यागकर उनकी ओर आकर्षित हो जाती हैं।") ॥१६—१७॥

कृष्णेर वचन - माधुरी, नानारस नर्म धारी, तार अन्याय कहन ना याय।
जगतेर नारीर काणे, माधुरी गुणे बान्धि टाने, टानाटानि काणेर प्राण याय ॥१८॥
कृष्ण अङ्ग सुशीतल, कि कहिब तार बल, छटाय जिने कोटीन्दु चन्दन।
सशैल नारीर वक्ष, ताहा आकर्षिते दक्ष, आकर्षये नारीगण मन ॥१९॥

"सखि ! पहले तो मैंने तुम्हें श्रीकृष्ण के रूपमाधुर्य की बात सुनाई, अब उसकी वचन माधुरी की बात सुन, जो नानाविध नर्म परिहासमय एवं शृङ्गाररस—परिपूर्ण है। उसका तो अन्याय मुझ से कहा ही नहीं जाता है। समस्त जगत् की नारियों के कानों को माधुर्य की रस्सी में बांधकर श्रीकृष्ण के वे मधुर वचन इतने ज़ोर से खींचते हैं कि उनके कानों के प्राण निकल जाते हैं (उनके मधुर वचन सुनने के पश्चात् फिर वे किसी अन्य वचनों को सुनने के योग्य ही नहीं रहते।) हाय ! हाय !! सखि ! श्रीकृष्ण के श्रीअङ्गों की सुशीतलता का क्या वर्णन करूं ? उनकी शक्ति तो अनिर्वचनीय है। वे अपनी रूप छटा में कोटि कोटि चन्द्राओं की प्रभा को हरने वाले हैं, चन्दन की शीतलता तो किस लेखे में है ? नारियों के समुन्नत स्तनयुक्त वक्षस्थलों को आकर्षण कर श्रीकृष्ण के अङ्ग उनके मन को तो वरवश अपने वश में कर लेते हैं।" ॥१८—१९॥

कृष्णाङ्ग—सौरभ्यभर, मृगमद-मदहर, नीलोत्पलेर हरे गर्व-धन।
जगत-नारीर नासा, तार भितर करे वासा, नारीगणेर करे आकर्षण ॥२०॥
कृष्णेर अधरामृत, ताते कर्पूर मन्दस्मित, स्वमाधुर्ये हरे नारीमन।
छाड़ाय अन्यत्र लोभ, ना पाइले मने क्षोभ, व्रजनारीगणेर मूलधन ॥२१॥
एत कहि गौरहरि, दुजनेर कण्ठे करि, कहे—शुन स्वरूप रामराय !।
काहां करों काहां याङ. काहां गेले कृष्ण पाङ. दोंहे मोरे कह से उपाय ॥२२॥

श्रीराधाभावाविष्ट प्रभु ने आगे कहा—"सखि ! श्रीकृष्ण के अङ्गों की अतिशय सुगन्ध कस्तूरी के मद को हरण करने वाली है एवं नीलकमल के गर्व को चूर्ण चूर्ण करने वाली है। त्रिभुवन की समस्त नारियों की नासिका में श्रीकृष्णाङ्ग की सुगन्ध प्रवेश करती हैं, तब वह अपने माधुर्य से उन सब के मन को आकर्षण कर लेती है। श्रीकृष्ण का अधर-रस तो अमृततुल्य है, उनकी जो मुस्कान है,

वही उस अधरामृत में कर्पूर मिला हुआ है, वह अपने माधुर्य से जगत् की समस्त नारियों के मन को हर लेता है। श्रीकृष्ण के उस अधरामृत रस को पाकर फिर अन्य किसी वस्तु का लोभ नहीं रहता है। उसे प्राप्त कर उन का मन क्षुभित हो जाता है, ब्रज सुन्दरियों का तो वह मूल धन है।" इस प्रकार राधा-भावाविष्ट श्रीगौरहरि दोनों के गले में अपनी भुजा डाल कर कह रहे थे—"स्वरूप ! रामानन्द !! आप बोलिए—मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? कहाँ जाने पर मुझे श्रीकृष्ण मिलेंगे ? आप दोनों मिल कर मुझे ऐसा कोई उपाय बताओ न" ॥२०-२२॥

एइ मत गौर प्रभु प्रति दिने दिने। विलाप करेन स्वरूप-रामानन्द-सने ॥२३॥
सेइ दुइजन प्रभुर करे आश्वासन। स्वरूप गाय, राय करे श्लोक पठन ॥२४॥
कर्णामृत विद्यापति श्रीगीतगोविन्द। इहार श्लोक-गीते प्रभुर कराय आनन्द ॥२५॥

श्रीकविराज गोस्वामी कहते हैं—इस प्रकार श्रीगौराङ्ग प्रभु प्रति दिन श्रीकृष्ण विरह में विलाप करते रहते एवं श्रीस्वरूप एवं श्रीरामानन्द राय दोनों जने उन्हें आश्वासन दिया करते। श्रीस्वरूप एवं श्रीरामानन्द उन्हें श्रीकृष्णकर्णामृत, श्रीविद्यापति के पदावली-ग्रन्थ एवं श्रीगीतगोविन्द—इन के श्लोक एवं गीत उस समय सुनाया करते, उन्हीं से ही प्रभु को कुछ आश्वासन और आनन्द मिलता था।

एक दिन महाप्रभु समुद्र तीरे याइते। पुष्पेर उद्यान ताहां देखि आचम्बिते ॥२६॥
बृन्दावन-भ्रमे ताहां पशिल धाइया। प्रेमावेशे बुले ताहां कृष्ण अन्वेषिया ॥२७॥
रासे राधा लञा कृष्ण अन्तर्धान कैला। पाछे सखीगण यैछे चाहि बेड़ाइला ॥२८॥
सेइ भावावेशे प्रभु प्रति तरुलता। श्लोक पढ़ि पढ़ि चाहि बुले यथा तथा ॥२९॥

एक दिन श्रीमहाप्रभु जी जब समुद्र के किनारे जा रहे थे, उनकी दृष्टि अचानक एक पुष्पोद्यान (फूलों के बागीचे) पर पड़ी। उसे देखते ही आप को श्रीवृन्दावन की स्फूर्त्ति हो उठी और उस की ओर भागने लगे। प्रभु प्रेमावेश में वहां श्रीकृष्ण को खोजते हुए भ्रमण करने लगे। श्रीकृष्ण रासोत्सव में श्रीराधा जी को साथ लेकर जब अन्तर्धान हो गये थे और जैसे उन्हें ब्रजगोपीगण ढूँढ़ती फिरी थीं, उसी भावावेश में प्रभु प्रति तरु-लता से श्लोक पढ़-पढ़ कर श्रीकृष्ण का पता पूछते हुए इधर-उधर भ्रमण कर रहे थे। (श्रीमहाप्रभु जी इस समय गोपी भावाविष्ट थे—उन्हें राधाभावावेश न था—इस लीला में "उद्घूर्णा" नामक दिव्योन्माद वर्णन किया गया है। प्रभु निम्नलिखित श्लोक पढ़ रहे थे—)

तथाहि (भा:—१०-३०-९, ७, ८)—

चूत-प्रियाल-पनसासन-कोविदार-जम्बर्कविल्व वकुलाम्र कदम्बनीपाः।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः शंसन्तु कृष्ण पदवीं रहितात्मनां नः ॥३॥

कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्द-चरण-प्रिये।
सह त्वालि कुलैर्विभ्रद्दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ॥४॥
मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जातियूथिके।
प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः ॥५॥

रास-रजनी में कृष्णविरह-कातरा व्रज-सुन्दरियों ने कहा—"हे आम्र-वृक्ष ! हे प्रियाल ! हे पनस ! हे असन ! हे कोविदार ! हे जम्बु ! हे अर्क ! हे बिल्व ! हे बकुल ! हे आम्र ! हे निम्ब ! हे कदम्ब ! हे यमुनातीर वासी अन्यान्य वृक्षगणो ! परोपकार के लिये ही आप सब का जन्म हुआ है, हम श्रीकृष्ण-विरह में हत-ज्ञान हो रही हैं, 'श्रीकृष्ण किधर गये हैं'—हमें वह रास्ता बता दो" ।।३।।

हे तुलसि ! हे कल्याणि (जगन्मङ्गलकारिणी) ! हे गोविन्द चरण प्रिये ! जिन्होंने अलिकुल (भ्रमरों) के सहित तुम्हें अपने कण्ठ में धारण किया था, तुम अपने उन अति प्रिय अच्युत श्रीकृष्ण को क्या हमें दिखा सकती हो ? ।।४।।

हे मालति ! हे मल्लिके ! हे जाति ! हे यूथिके ! श्रीमाधव अपने करों का स्पर्श कर तुम से प्रीति करते हुए इस मार्ग से गये हैं क्या ? तुम ने उन्हें कहीं देखा है ? ।।५।।

आम्र पनस पियाल जम्बु कोविदार । तीर्थवासी सभे कर पर-उपकार ।।३०।।
कृष्ण तोमार इहां आइला, पाइले दर्शन । कृष्णेर उद्देश्य कहि राखह जीवन ।।३१।।
उत्तर ना पाञा पुन करे अनुमान । ए सब पुरुष जाति,कृष्णेर सखार समान।।३२।।
ए केने कहिबे कृष्णेर उद्देश आमाय ? । ए स्त्रीजाति लता आमार सखीर प्राय ।।३३।।
अवश्य कहिबे 'कृष्णेर पाञाछे दर्शने' । एत अनुमानि पुछे तुलस्यादिगणे ।।३४।।

गोपीभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी श्रीकृष्ण विरह में कातर होकर कह रहे थे—"हे आम्र ! हे पनस ! हे पियाल ! हे जम्बु ! हे कोविदार ! तुम सब तीर्थ वासी (यमुना किनारे पर वास करने वाले) हो और सदा परोपकार करने वाले हो, श्रीकृष्ण तुम्हारे पास आए थे क्या ? तुमने उनके दर्शन किये हैं क्या ? तुम मुझे उनका पता बता कर मेरे प्राणों की रक्षा करो ।" किन्तु उन वृक्षों से जब कुछ भी उत्तर न मिला, तब प्रभु अनुमान करने लगे, ये सब पुरुष-जाति हैं, ये श्रीकृष्ण के ही सखाओं के समान हैं—ये मुझे श्रीकृष्ण का पता क्यों बताने लगे ? (ये तो श्रीकृष्ण का पक्ष लेने वाले हैं ।) हाँ लताएँ स्त्री जाति हैं और यह मेरी सखियों के समान हैं । यदि इन्होने श्रीकृष्ण को कहीं देखा होगा तो ये अवश्य मुझे उनका पता देंगी । ऐसा अनुमान कर प्रभु तुलसी आदि लतागणों के सामने आकर कहने लगे ।।३०-३४।।

तुलसि मालति यूथि माधवि मल्लिके । तोमार प्रिय कृष्ण आइला तोमार अन्तिके ?।।३५।।
तुमि सब हओ आमार सखीर समान। कृष्णोद्देश कहि सभे राखह पराण ।।३६।।
उत्तर ना पाइया पुन भावेन अन्तरे । 'ए त कृष्णदासी' भये ना कहे आमारे ।।३७।।
आगे मृगीगण देखि कृष्णाङ्ग गन्ध पाञा । तार मुख देखि पुछे निर्णय करिया ।।३८।।

उन्होंने कहा—"हे तुलसि ! हे मालति ! हे यूथिके ! हे माधवि ! हे मल्लिके ! तुम्हारे प्रिय श्रीकृष्ण तुम्हारे पास अवश्य आए होंगे । तुम तो सब मेरी सखी के समान हो, तुम मुझे उस श्रीकृष्ण से मिला कर मेरे जीवन की रक्षा करो ।" जब उन से भी कुछ उत्तर न मिला तो प्रभु जानने लगे कि—"यह तो श्रीकृष्ण की दासियाँ हैं । यह उनके भय से मुझे उनका पता न बताएँगी ।" जब प्रभु कुछ आगे चले तो उन्होंने हरिणीगणों को देखा । उनके शरीर से प्रभु को श्रीकृष्णाङ्ग की मृगमद सुगन्ध आने लगी । उनके मुँह को देख कर प्रभु उनसे पूछने लगे ।।३५-३८।।

तथाहि (भा: १०-३०-११)—

अप्येण पत्न्युपगतः प्रिय येह गात्रैस्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृ तिमच्युतो वः ।
कान्ताङ्गसङ्ग कुचकुंकुम रञ्जितायाः कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥६॥

हे सखि मृग-पत्नियो ! अपनी प्रिया, श्रीराधा के साथ अपने मनोहर अङ्गों द्वारा तुम्हारे नेत्रों को परमानन्द विधान करते हुए श्रीकृष्ण क्या इस बन में आए हैं ? मुझे यहाँ गोकुलपति श्रीकृष्ण के कान्ता-अङ्गसङ्ग-जनित कुच कुंकुम रञ्जित कुन्द माला की सुगन्धि आ रही है ॥६॥

कह मृगि ! राधा सह श्रीकृष्ण सर्वथा । तोमोय सुख दिते आइला, नाहिक अन्यथा ॥३९॥
राधार प्रियसखी आमरा, नहि बहिरङ्ग। दूरे हैते जानि तांर यैछे अङ्ग-सङ्ग ॥४०॥
राधा-अङ्ग-सङ्गे कुच कुंकुम भूषित । कृष्ण-कुन्दमाला-गन्धे वायु सुवासित ॥४१॥
'कृष्ण इहाँ छाड़ि गेला, इंहो विरहिणी । किवा उत्तर दिवे एइ ना शुने काहिनी ॥४२॥
आगे वृक्षगण देखे पुष्प.फल भरे । शाखा सब पड़ि आछे पृथिवी-उपरे ॥४३॥
'कृष्ण देखि एइ सब करे नमस्कार । कृष्णागमन पुछे तारे करिया निर्द्धार ॥४४॥

श्रीगोपीभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"कहो, मृगिगण । श्रीराधा जी के साथ श्रीकृष्ण तुम्हें सब प्रकार का सुख देने के लिये यहाँ आए थे कि नहीं ? हम बहिरङ्गा नहीं हैं, हम भी श्रीराधा जी की प्रिय सखियां हैं । हम तो दूर से ही उन दोनों के अङ्ग सङ्ग को जानती हैं । हमें श्रीराधा के अङ्गों में लगे हुए कुच कुंकुम की एवं श्रीकृष्ण की कुन्दमाला की मिलित सुगन्ध यहाँ अनुभव हो रही है । तुम चुप क्यों खड़ी हो, कुछ तो बोलो । (उत्तर न मिलने पर प्रभु अनुमान करते हैं) "श्रीकृष्ण इन्हें भी छोड़ गये हैं, यह भी तो विरहिणी हैं, यह क्यों मुझे उत्तर देंगी ? यह तो मेरी दर्द भरी कहानी भी नहीं सुनती हैं ।" (इतना कह कर प्रभु आगे चलते हैं) आगे चल कर प्रभु ने पुष्प-फल युक्त वृक्षों को देखा, उनकी शाखाएँ सब पृथ्वी पर झुक रही थीं । (प्रभु ने सोचा—) इन्होंने अवश्य श्रीकृष्ण को देखा है, ये तभी उनको झुक कर नमस्कार कर रहे हैं, यही बात मन में निश्चय कर प्रभु उन से श्रीकृष्णागमन की बात पूछने लगे ॥३९—४४॥

तथाहि (भा: १०-३०-१२)

बाहुँ प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो रामानुजस्तुलसिकालि कुलैर्मदान्धैः ।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं किंवाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ॥७॥

हे तरुगण ! तुलसी वन के मदान्ध भ्रमरगण जिनके पीछे-पीछे उड़े जा रहे थे, वे श्रीबलराम के अनुज श्रीकृष्ण जब अपना वाम हस्त प्रेयसी के—श्रीराधा के स्कन्ध पर धारण किये हुए एवं दक्षिण हस्त में पद्म धारण किए हुए इस वन में भ्रमण कर रहे थे, तब उन्होंने तुम्हारे प्रणाम को क्या कृपा-अवलोकन द्वारा अङ्गीकार किया था ? ॥७॥

प्रियामुखे भृङ्ग पड़े, ताहा निवारिते । लीलापद्म चालाइते हैला अन्यचित्ते ॥४५॥
तोमार प्रणामे कि करियाछे अवधान ? । किवा नाहि करे ?-कह वचन प्रमाण ॥४६॥

कृष्णेर वियोगे एइ सेवक दुखित। किवा उत्तर दिवे ? इहार नाहिक संवित ।।४७।।
एत बलि आगे चले यमुनार कूले। देखे—ताहां कृष्ण हय कदम्बेर तले ।।४८।।
कोटि मन्मथ मोहन मुरली वदन। अपार सौन्दर्य हरे जगन्नेत्र-मन ।।४९।।
सौन्दर्य देखिते भूमे पड़े मूर्च्छा हञा। हेनकाले स्वरूपादि मिलिला आसिया ।।५०।।

प्रभु ने कहा—"हे वृक्षगण ! श्रीकृष्ण जव श्रीराधा जी के साथ इस वन में विचरण कर रहे थे, तव प्रियाजी के मुख कमल पर बार-बार भ्रमर गुञ्जार करने आ रहे थे, वे उन्हें लोला कमल से निवारण कर रहे थे, इसलिये उनका मन किसी दूसरी ओर था—तुम्हारी ओर न था, इसलिये मैं तुम से पूछ रहा हूँ, तुमने जो झुक-झुक कर उन्हें प्रणाम किया, उन्होंने भी उस पर कुछ ध्यान दिया कि नहीं ? तुम सच-सच मुझे बता दो।" (जब कुछ भी उत्तर न मिला तव प्रभु बोले)—"यह सेवक भी (वृक्ष भी) श्रीकृष्ण वियोग में दुखित हो रहे हैं, यह क्या उत्तर देंगे ? इन्हें तो अपनी भी सुद्धि-बुद्धि नहीं है।" इतना कह कर प्रभु आगे यमुना के किनारे-किनारे चलने लगे। (वे चल तो रहे थे समुद्र के किनारे, किन्तु उद्घूर्णावश वे समुद्र को यमुना ही समझ रहे थे।) आगे चल कर प्रभु भावावेश में क्या देखते हैं कि श्रीकृष्ण कदम्ब के नीचे खड़े हैं, कोटि मन्मथों के मन को मोहन करने वाला उनका सौन्दर्य है। वे मुरली को अधरों पर धारण कर रहे हैं। उनका अपार सौन्दर्य-माधुर्य्य जगत् के नेत्रों एवं मन को हरने वाला है। उस सौन्दर्य को देखते ही प्रभु मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। इतने में श्रीस्वरूप दामोदर आदि भक्तगण भी वहाँ आ पहुँचे ।।४५-५०।।

पूर्ववत् सर्वाङ्गे प्रभुर सात्त्विक सकल। अन्तरे आनन्द-आस्वाद, बाहिरे विह्वल ।।५१।।
पूर्ववत् सभे मिलि कराइल चेतन। उठिया चौदिगे प्रभु करे दरशन ।।५२।।
काहां गेल कृष्ण, एखनि पाइलुं दर्शन। तांहार सौन्दर्ये मोर हरिल नेत्र-मन ।।५३।।
पुन केने ना देखिये मुरली वदन। तांहार दर्शनलोभे भ्रमये नयन ।।५४।।
विशाखाके राधा यैछे श्लोक कहिला। सेइ श्लोक महाप्रभु पढ़िते लागिला ।।५५।।

उस समय श्रीमहाप्रभु जी के शरीर में पूर्ववत् समस्त सात्त्विक विकार उदय हो रहे थे एवं भीतर-भीतर वे आनन्द का आस्वादन कर रहे थे, किन्तु बाहर में अत्यन्त व्याकुल दीख पड़ते थे। सब भक्तों ने मिल कर प्रभु को चेतनता कराई। प्रभु उठ कर चारों ओर देखने लगे और कहने लगे—"स्वरूप ! वे श्रीकृष्ण कहाँ चले गये हैं ? अभी तो मैं उनके दर्शन कर रहा था। उनका सौन्दर्य मेरे मन एवं नेत्रों को लुभा रहा था, वे वंशीधारी अव मुझे क्यों नहीं दीखते हैं ? हाय ! मैं क्या करूँ ? उनके दर्शनों के लिये मेरे नेत्र घूम रहे हैं।" श्रीराधा जी ने श्रीविशाखा जी के प्रति जो श्लोक कहा था, उसी श्लोक को श्रीमहाप्रभु जी उच्चारण करने लगे ।।५१—५५।।

तथाहि गोविन्दलीलामृते (८—४)—

नवाम्बुदल सद्द्युतिर्नवतड़िन्मनोज्ञाम्बेरः
सुचित्र मुरलो स्फुरच्छरद मन्द चन्द्राननः।
मयूरदल भूषितः सुभगतारहारप्रभः
स मे मदनमोहनः सखि तनोति नेत्रस्पृहाम् ।।८।।

श्रीराधा जी ने कहा—"हे विशाखे ! नव-जलधर की अपेक्षा भी सुन्दर जिनकी देह कान्ति है, नव-विद्युत् की अपेक्षा मनोहर जिनके वसन हैं, जिनका छबीली मुरली से सुशोभित श्रीवदन अकलङ्क शरद-चन्द्र की भान्ति प्रकाशित हो रहा है, जिनके केश कलाप मोर-पुच्छ से भूषित हैं एवं तारावली की भान्ति समुज्ज्वल जिनके मुक्ताहारों की कान्ति है, हे सखि ! वही मदनमोहन श्रीकृष्ण अपने सौन्दर्य द्वारा मेरे नेत्रों की स्पृहा को वर्द्धित कर रहे हैं ॥८॥

(इस श्लोक की व्याख्या निम्नलिखित त्रिपदी में वर्णन करते हैं)—

यथा राग:—

नव घन स्निग्ध वर्ण, दलिताञ्जन चिक्कण, इन्दीवर निन्दि सुकोमल ।
जिनि उपमानगण, हरे सभार नेत्र-मन, कृष्ण कान्ति परम प्रबल ॥५६॥

श्रीकृष्णाङ्ग की कान्ति परम प्रबल है, नवीन जलद की भान्ति स्निग्ध श्यामवर्ण है, मर्दित अञ्जन की भान्ति चिकनी है एवं नीलकमल की सुकोमलता को निन्दन करने वाली है । श्रीकृष्ण कान्ति की उपमा नवघन, अञ्जन एवं इन्दीवर से दी गई है किन्तु वह वास्तव में इन तीनों उपमानों को पराजित करने वाली है । वह सब के मन एवं नेत्रों को हरने वाली है ॥५६॥

कह सखि ! कि करि उपाय ?
कृष्णाद्भुत बलाहक, मोर नेत्र चातक, ना देखि पियासे मरि याय ॥ध्रु॥५७॥
सौदामिनी पीताम्बर, स्थिर रहे निरन्तर, मुक्ताहार बकपांति भाल ।
इन्द्रधेनु शिखि-पाखा, उपरे दियाछे देखा, आर धनु वैजयन्ती माल ॥५८॥

राधाभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी राय रामानन्द जी को कह रहे हैं—"सखि ! कह मैं क्या उपाय करूँ ? श्रीकृष्ण एक अद्भुत श्याम बादल हैं और मेरे नेत्र चातक के समान हैं, (चातक जैसे मेघ जल को छोड़ कर और जल पान नहीं करता है, उसके बिना प्यासा मर जाता है, उसी प्रकार) मेरे नेत्र रूप चातक श्रीकृष्ण घन के माधुर्यास्वादन के बिना प्यासे मरे जाते हैं । (मेघ में विद्युत् चमका करती है, और वार-वार चमकती है, लुप्त हो जाती है—अस्थिर रहती है) श्रीकृष्ण मेघ में उनका पीताम्बर ही विद्युत् तुल्य है, किन्तु वह निरन्तर स्थिरता से चमक रहा है । मुक्ताहार कृष्ण-घन पर बगुले की पंक्ति के समान सुशोभित हो रहे हैं । (आकाश में जब नव घन उदय होता है तब आकाश में अनेक बगुले माला के आकार में सुसज्जित होकर उड़ा करते हैं ।) उनके शिर पर जो मोरपुच्छ (अनेक वर्ण युक्त) दिखाई दे रहा है, वही इन्द्र धनुष है और एक इन्द्र धनु उनकी वैजयन्ती माला भी है । (इस प्रकार दो इन्द्र धनुष एक ऊपर और एक नीचे सुशोभित हो रहे हैं ।) ॥५७-५८॥

मुरलीर कलध्वनि, मधुर गर्ज्जन शुनि, वृन्दावने नाचे मोर चय ।
अकलङ्क पूर्णकल, लावण्य-ज्योत्स्ना झलमल, चित्रचन्द्रेर याहाते उदय॥५९॥
लीलामृत-वरिषणे, सिञ्चे चौद्द भुवने, हेन मेघ यबे देखा दिल ।
दुर्दैव-झञ्झा पवने, मेघ निल अन्य स्थाने, मरे चातक, पीते ना पाइल॥६०॥

पुन कहे, हाय हाय, पढ़ पढ़ रामराय, कहे प्रभु गद् गद् आख्याने ।
रामानन्द पढ़े श्लोक, शुनि प्रभुर हर्ष शोक, आपने प्रभु करेन व्याख्याने ॥६१॥

हे सखि ! श्रीकृष्ण की मुरली की जो सुन्दर ध्वनि है, वही मेघ की मन्द-मन्द गर्जना है, जिसे सुन कर श्रीवृन्दावन में मोर वृन्द नाचने लगते हैं । श्रीकृष्ण बदन चन्द्र उस में उदय हो रहा है जो अकलङ्क है एवं षोड़श कला पूर्ण है, सौन्दर्य-लावण्य रूपी ज्योत्स्ना छिटक रही है । श्रीकृष्ण मेघ लीलारूप अमृत की वर्षा कर चौदह लोकों को सींच रहा है—ऐसा अद्भुत मेघ जब उदय हुआ, तब दुर्भाग्य रूप झंझावात (तूफान) मेघ को उड़ा कर अन्य स्थान पर ले गया । मेरे नेत्र रूप चातक अपनी तृषा को न मिटा सके, अतः प्यासे मर रहे हैं । (अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्र को देखे बिना मेरा जीवन न रहेगा ।) " इतना कह कर प्रभु गद्-गद् कण्ठ से कहने लगे—"हाय ! हाय ! रामानन्द, तुम श्लोक पढ़ो न । " श्रीरामानन्द श्लोक पढ़ने लगे जिसे सुन कर प्रभु को (श्रीकृष्ण-माधुर्य का वर्णन सुन कर) हर्ष हुआ, एवं (श्रीकृष्ण के दर्शन न कर सकने से) शोक भी हुआ । श्रीरामानन्द जी ने निम्नलिखित श्लोक पढ़ा और परवर्त्ती त्रिपदी में मैं श्रीमहाप्रभु जी ने उस की व्याख्या की है ।

तथाहि (भाः १०-२९-३९)—

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रिगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ।
दत्ताभयञ्च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणञ्च भवाम दास्यः ॥६॥

ब्रज गोपियों ने श्रीकृष्ण से कहा है—हे सुन्दर ! आपके मुख-मण्डल में कुण्डलों की शोभा बढ़ाने वाला जो गण्डस्थल है, तथा सुधामय अधर एवं मन्दमुस्कान युक्त नेत्रों की जो अवलोकन है, आपके उस अलकावलियुक्त मुखकमल का दर्शन करके एवं आपके अभयप्रद भुजदण्डयुगल को तथा अपूर्ब शोभास्पद परम रमणीय आपके वक्षस्थल को देख कर हम आपकी दासियाँ बन गई हैं ॥६॥

यथा रागः—

कृष्ण जिति पद्मचान्द, पातियाछे मुख-फान्द, ताते अधर-मधुस्मित चार ।
ब्रजनारी आसि आसि, फान्दे पड़ि हय दासी, छाड़ि निज पति घर-द्वार ॥६२॥

व्याध लोग हरिण को फंसाने के लिये जैसे जाल बिछा देते हैं और उस में कुछ चारा (हरी हरी घास या कोई खाद्य पदार्थ) रख देते हैं—उसी प्रकार श्रीकृष्ण, जो कमलों को एवं चन्द्र को अपनी अङ्ग प्रभा से पराजित करने वाले हैं, उन्होंने अपना मुख रूपी जाल बिछा रखा है और उसमें जो अधरों पर मन्द मुस्कान है, वही उस में चारा रखा हुआ है । ब्रज गोपियाँ मृगीवत् हैं जो उस जाल में आ आकर फँस जाती हैं और अपने पति, गृहादि को त्याग कर श्रीकृष्ण के वशीभूत हो जाती हैं—उनकी दासियाँ बन जाती हैं ॥ ६२ ॥

बान्धव ! कृष्ण करे व्याधेर आचार ।
नाहि गणे धर्माधर्म, हरे नारी-मृगी मर्म, करे नाना उपाय ताहार ॥ध्रु॥६३॥
गण्डस्थल झलमल, नाचे मकर कुण्डल, सेइ नृत्ये हरे नारीचय ।
सस्मित—कटाक्ष बाणे, ता सभार हृदये हाने, नारीवधे नाहि किछु भय ॥६४॥

राधाभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"बान्धव ! श्रीकृष्ण व्याध का सा आचरण करते हैं। वे धर्म-अधर्म का कुछ विचार नहीं करते हैं, वे नारी रूपी मृगियों के मर्म स्थान को छेदन करते हैं। उन्हें फँसाने के अनेक उपाय रचते हैं। उनके गण्डस्थल पर झलमल-झलमल करते हुए मकर कुण्डल नृत्य करते हैं, उस नृत्य को दिखा कर वे नारी समूह का हरण करते हैं, फिर मन्द मुस्कान युक्त नेत्र-कटाक्ष रूप बाणों से उनके हृदय को निशाना बनाते हैं, उन्हें नारियों को वध करने में कुछ भय नहीं लगता है ।।६३—६४।।

अति उच्च सुविस्तार, लक्ष्मी श्रीवत्स-अलङ्कार, कृष्णेर ये डाकातिया वक्ष ।
ब्रजदेवी लक्ष लक्ष, ता सभार मनोवक्ष, हरिदासी करिबारे दक्ष ।।६५।।
सुवलित दीर्घार्गल, कृष्ण भुज-युगल, भुज नहे,—कृष्ण सर्प काय ।
दुइ शैल छिद्रे पैशे, नारीर हृदये दंशे, मरे नारी से विष ज्वालाय ।।६६।।

श्रीकृष्ण का जो डकैतों जैसा (विशाल एवं दयाहीन) वक्षस्थल है, वह अति उच्च एवं विशाल है, उसमें लक्ष्मी, श्रीवत्स एवं अनेक अलङ्कार वास करते हैं, लाख-लाख ब्रजदेवियों के मन एवं हृदय को श्रीकृष्ण दासी बनाने में बहुत ही चतुर हैं। श्रीकृष्ण की दोनों भुजाएँ अति सुन्दर गठित हैं, वह बड़ी विशाल हैं एवं अर्गल के (हुड़का या वेलि के) समान हैं या गोलाकार हैं, वे भुजाएँ नहीं हैं मानो काले सर्प के समान हैं, जो ब्रजगोपियों के नेत्र छिद्रों में प्रवेश कर उनके हृदय का दंशन करते हैं। उन को विष ज्वाला में सब नारी; मरणासन्न हो जाती हैं। (अर्थात् ब्रज गोपीगण जब श्रीकृष्ण की सुन्दर गोल विशाल भुजाओं को देखती हैं उनके हृदय में कन्दर्प की ज्वाला भड़क उठती है और वे व्याकुल हो पड़ती हैं।) ।।६५-६६।।

चै० च० च० टीका:—श्रीकृष्ण भगवान् के वक्षस्थल पर दक्षिण भाग में कुछ श्वेत रोमों का दक्षिणावर्त्त है अर्थात् दक्षिण की ओर घूमते हुए श्वेत रोमों का एक चक्र सा बना हुआ है, उसे **'श्रीवत्स'** कहते हैं। उनके वक्षस्थल के वाम भाग में एक स्वर्ण वर्ण की छोटी सी रेखा है, उसे **'लक्ष्मी-रेखा'** कहते हैं। मूल श्लोक की टीका में श्रीपाद जीव गोस्वामी जी ने लिखा है—"**श्रिया वाम भागस्थ-स्वर्ण वर्ण-लक्ष्मी रेखा-रूपया लक्ष्म्या ।**" श्रीकृष्ण का वक्षस्थल श्रीवत्स चिह्न, लक्ष्मी रेखा एवं अन्यान्य अलङ्कारों से विभूषित रहता है।

कृष्ण कर-पद-तल, कोटि चन्द्र सुशीतल, जिति कर्पूर वेणामूल चन्दन ।
एक बार यारे स्पर्शे, स्मरज्वाला विष नाशे, यार स्पर्शे लुब्ध नारीर मन ।।६७।।
एतेक प्रलाप करि, प्रेमावेशे गौरहरि, एइ अर्थे पढ़ि एक श्लोक ।
येइ श्लोक पढ़ि राधा, विशाखा के कहे बाधा, उघारिया हृदयेर शोक ।।६८।।

श्रीकृष्ण के करतल एवं पदतल तो कोटि-कोटि चन्द्राओं से भी सुशीतल हैं. जो कर्पूर, खस एवं चन्दन की शीतलता को भी पराजित करने वाले हैं, जिसको भी वे एक बार स्पर्श करते हैं, उस (गोपी) की कन्दर्प ज्वालाविष नष्ट हो जाती है। उनके कर-पद-तल के स्पर्श प्राप्त करने के लिये नारियों का मन लालायित रहता है। इस प्रकार श्रीगौर हरि प्रेमावेश में प्रलाप करते हुए इसी भाव का एक श्लोक पढ़ने लगे। यह श्लोक श्रीराधा जी अपने हृदय के शोक को प्रगट करते हुए श्रीविशाखा जी को सुनाया करती थीं ।।६७-६८।।

तथाहि गोविन्द लीलामृते (८—७)—

हरिन्मणि कवाटिका प्रततहारि वक्षस्थलः
स्मरार्त्ततरुणीमनः कलुषहन्तृदोरर्गलः ।
सुधांशुहरिचन्दनोत्पलसिताभ्र शीताङ्गकः
स मे मदनमोहन; सखि तनोति वक्षःस्पृहाम् ॥१०॥

श्रीराधा जी ने श्रीविशाखा जी को कहा—"हे सखि ! जिनका वक्षस्थल विस्तीर्ण इन्द्र-नीलमणि निर्मित कपाट की भान्ति मनोहर हैं, जिनकी अर्गल सदृश दोनों भुजाएँ कन्दर्प-पीड़ित युवती गणों के सन्ताप को विनाश करने वाली हैं एवं चन्द्र, चन्दन, नीलोत्पल एवं कर्पूर की अपेक्षा भी सुशीतल जिनके अङ्ग हैं, वे मदनमोहन श्रीकृष्ण मेरे वक्षस्थल की स्पृहा वर्द्धित कर रहे हैं ॥१०॥

प्रभु कहे—कृष्ण मुञि एखनि पाइलुं । आपनार दुर्दैवे पुन हाराइलुं ॥६९॥
चञ्चल स्वभाव कृष्णेर, ना रय एकस्थाने । देखा दिया मन हरि करे अन्तर्धाने ॥७०॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा—"रामानन्द ! मैंने अभी उसी श्रीकृष्ण को यहाँ पा लिया था किन्तु अपने दुर्भाग्य से मैंने उन्हें खो दिया है, श्रीकृष्ण का स्वभाव भी तो चञ्चल है, वह भी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते हैं, पहले तो दर्शन देते हैं और मन हरण कर लेते हैं फिर अन्तर्धान हो जाते हैं" जैसा कहा गया है:—

तथाहि (भाः १०-२९-४८)—

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्यमानञ्च केशवः ।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥११॥

श्रीकृष्ण उन गोपीगणों के सौभाग्य-गर्व एवं मान को देख कर उनके गर्व के प्रशमन एवं मान की प्रसन्नता विधान के लिए उसी स्थान से अन्तर्हित हो गये ॥११॥

चै० च० चु० *टीका*—शारदीय रासोत्सव के प्रारम्भ में भगवान् श्रीकृष्ण ने व्रजसुन्दरियों के साथ कुछ देर विलासादि किया, फिर उन्होंने देखा कि गोपियों के हृदय में उनके साथ विलासादि प्राप्त करने के सौभाग्य का गर्व एवं मान (प्रणय-मान) उदय हो आया है । इसलिये उनके गर्व को प्रशमन करने के लिये एवं उनके मान की प्रसन्नता रखने के लिये श्रीकृष्ण रासस्थली से अन्तर्हित हो गये ।

श्रीचक्रवर्त्ती पाद ने लिखा है कि श्रीराधा जी की अपेक्षा जिन गोपियों की प्रेम-परिपक्वता कम थी, श्रीकृष्ण के सङ्ग लाभ के सोभाग्य को पाकर उनके चित्त में तो गर्व का सञ्चार हुआ । उनमें से प्रत्येक ने यही समझा कि श्रीकृष्ण केवल मात्र उसके साथ ही विलासादि कर रहे हैं और किसी अन्य गोपी के साथ वे विलासादि नहीं कर रहे हैं—इसी भाव के कारण वह गर्वित हो उठीं । इन गोपियों का तो गर्व शमन करने के लिये श्रीकृष्ण वहाँ से अन्तर्धान हो गये ।

किन्तु श्रीराधा जी को श्रीकृष्ण सङ्ग-लाभ होने पर प्रणय-मान उदय हो आया, जो प्रेम का स्वभाव है । वह मानिनी हो उठीं । क्योंकि श्रीश्यामसुन्दर ने उस रात्रि में रास लीला करने का सङ्कल्प कर रखा था और रासरसेश्वरी श्रीराधा जी के बिना रासलीला होना असम्भव था, उनके मानिनी रहने पर रासलीला ही कैसे हो पाती, इसलिये उनके मान की प्रसन्नता के लिये, उन्हें मनाने के

के लिये श्रीकृष्ण उन्हें अपने साथ लेकर अन्तर्धान हो गये। इसलिये मान की प्रसन्नता-विधान करना श्रीराधा जी के पक्ष में ही कहा गया है। इस से श्रीराधा जी की विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है।

वैसे भी गर्व एवं मान रहते हुए स्वच्छन्दभाव से रासलीला के रस की स्फूर्त्ति नहीं हो सकती थी और फिर रास की तीव्र उत्कण्ठा की वृद्धि के निमित्त भी श्रीभगवान् अन्तर्हित हुए थे। वस्तुतः इस श्लोक का यहां यही अभिप्राय है कि श्रीभगवान् कृष्ण भक्तों को दर्शन देते हैं और उनके मनेन्द्रियों को अपनी ओर आकर्षण कर लेते हैं, फिर वहाँ से अन्तर्हित हो जाते हैं—इसके फल स्वरूप भक्त विह्वल हो उठता है, उसे हर क्षण हर जगह श्रीश्यामसुन्दर की लीला स्फूर्त्ति हुआ करती है, उसकी भगवत्प्राप्ति की उत्कण्ठा और भी तीव्रतम एवं प्रवलतम हो उठती है।

स्वरूप गोसाञि के कहे, गाओ एक गीत। याते आमार हृदये हये त संवित ॥७१॥

शुनि स्वरूप गोसाञि तबे मधुर करिया। गीतगोविन्देर पद गाय प्रभुके शुनाञा ॥७२॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने फिर श्रीस्वरूप गोस्वामी जी को कहा—'स्वरूप! कोई एक गीत सुनाओ, जिस से मेरे हृदय को कुछ शान्ति मिले.मेरे विरह दुःख का अवसान हो।" प्रभु के वचन सुन कर श्रीस्वरूप दामोदर जी श्रीगीतगोविन्द का एक श्लोक मधुर स्वर में प्रभु को सुनाने लगे ॥७१-७२॥

तथाहि गीतगोविन्दे (२-३)—

रासे हरिमिह विहित विलासम।
स्मरति मनो मम कृतपरिहासम ॥१२॥

श्रीराधा जी ने एक सखि से कहा—"इस महारास में जिन्होंने विविध रूप से विलास किया था, उन परिहास विशारद श्रीकृष्णचन्द्र को मेरा मन स्मरण करता है ॥१२॥

स्वरूप गोसाञि यबे एइ पद गाइला। उठि प्रेमावेशे प्रभु नाचिते लागिला ॥७३॥

अष्ट सात्त्विक अङ्गे प्रकट हइल। हर्षादि व्यभिचारी सब उथलिल ॥७४॥

भावोदय, भावसन्धि, भावशावल्य। भावे भावे महायुद्ध, सभार प्राबल्य ॥७५॥

एकेक पद पुनः पुन कराय गायन। पुनः पुन आस्वादये बाढ़ये नर्त्तन ॥७६॥

श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने जब यह पद सुनाया तो श्रीमहाप्रभु जी प्रेमावेश में उठ कर नाचने लगे। उनके शरीर पर अष्ट प्रकार के सात्त्विक विकार होने लगे, हर्षादि व्यभिचारी भाव सब उछल पड़े। भावोदय, भाव सन्धि, भावशावल्य अर्थात् भाव-भाव में युद्ध इन सब की श्रीमहाप्रभु जी में प्रवलता हो उठी. श्रीमहाप्रभु जी बार-बार श्रीस्वरूप जी को एक पद गान करने को कहते और फिर उसका अर्थ आस्वादन कर प्रभु और भी अधिक प्रेमावेश में नृत्य करने लगते ॥७३-७६॥

चै० च० चु० *टीका*—अष्ट सात्त्विक विकार एवं हर्षादि व्यभिचारी भावों का विवरण २-८-१३५ पयार की टीकान्तर्गत पृष्ठ २२४ पर दिया जा चुका है। सात्त्विक-विकारों के उदय का नाम 'भावोदय' है। समान किंवा विभिन्न दो भावों के मिलन को 'भाव-सन्धि' कहते हैं। भावसमूह के परस्पर सम्मर्दन को 'भावशावल्य' कहते हैं या 'भाव-युद्ध' भी कहते हैं।

एइमत नृत्य यदि हैल बहुक्षण। स्वरूप गोसाञि पद कैल समापन ॥७७॥

'बोल बोल' बलि प्रभु कहे बार बार। ना गाय स्वरूप गोसाञि श्रम देखि तार ॥७८॥

'बोल बोल' प्रभु कहे भक्तगण शुनि। चौदिगे सभे मिलि करे हरि ध्वनि ॥७९॥
रामानन्द राय तबे प्रभु के वसाइल। बीजनादि करि प्रभुर श्रम घुचाइल ॥८०॥

इस प्रकार जब बहुत देर तक श्रीमहाप्रभु जी नृत्य करते रहे, तब श्रीस्वरूप दामोदर जी ने पद गान करना बन्द कर दिया। प्रभु बार-बार उन्हें बोलने को कहते, किन्तु उन्होंने प्रभु को थका हुआ जान कर पुनः गान नहीं किया। जब भक्तों ने देखा कि प्रभु 'बोल-बोल'—इस प्रकार बार-बार कह रहे हैं तब वे मिल कर प्रभु के चारों ओर 'हरि-हरि' ध्वनि करने लगे। श्रीरामानन्द राय ने तब प्रभु को जबरदस्ती बिठा दिया और उन्हें बीजनादि कर उनका श्रम दूर किया ॥७९-८०॥

प्रभु लञा गेला सभे समुद्रेर तीरे। स्नान कराइया पुन लञा आइला घरे ॥८१॥
भोजन कराञा प्रभुके कराइल शयन। रामानन्द-आदि भक्त सभे गेला निजस्थान ॥८२॥
एइ त कहिल प्रभुर उद्यान विहार। वृन्दावन भ्रमे याहां प्रवेश ताहांर ॥८३॥
प्रलाप सहित एइ उन्माद वर्णन। श्रीरूप गोसाञि इहा करियाछे वर्णन ॥८४॥

तदनन्तर सब वैष्णव श्रीमन्महाप्रभु जी को समुद्र के किनारे ले आए एवं उन्हें स्नान कराकर उनके निवास स्थान पर ले आए, प्रभु को भोजन कराया एवं उन्हें शयन कराया। फिर श्रीरामानन्दादि सब भक्तगण अपने-अपने स्थानों पर चले गये। श्रीकविराज कहते हैं—इस तरह मैंने श्रीमहाप्रभु की उद्यान-विहार लीला का वर्णन किया है। जैसे श्रीवृन्दावन में, जहाँ उन का प्रवेश है, भ्रमण करते रहे हैं—वह सब लीला कही है। श्रीमहाप्रभु जी के इस प्रलापमय उन्माद वर्णन को श्रीरूप गोस्वामी जी ने भी निम्न श्लोक में वर्णन किया है ॥८१-८४॥

तथाहि स्तव मालायां, प्रथम चैतन्याष्टके (६)—

पयोराशेस्तारे स्फुरदुपवनालि कलनया
मुहुर्वृन्दारण्य स्मरण जनित प्रेम विवशः।
क्वचित् कृष्णावृत्ति प्रचलरसनो भक्ति रसिकः
स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्य्यास्यति पदम् ॥१३॥

किसी समय जिन्होंने समुद्र के किनारे उपवन श्रेणी को देख कर श्रीवृन्दावन की स्मृति प्राप्त की थी एवं उस स्मृति जनित प्रेम में बार-बार विवश हो गये थे, पुनः पुनः श्रीकृष्ण नाम के उच्चारण में जिनकी रसना चञ्चल हो उठी थी, वे भक्ति-रसिक श्रीचैतन्यदेव क्या फिर भी कभी मेरे नैन-गोचर होंगे ?

अनन्त चैतन्यलीला, ना याय लिखन। दिङ्मात्र देखाइया करिये सूचन ॥८५॥
श्रीरूप-रघुनाथ पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥८६॥

श्रीचैतन्यदेव की लीलाएं अनन्त हैं, उन सब का उल्लेख करना असम्भव है इसलिये यहाँ दिग्दर्शन मात्र या उनका परिचय कराया गया है। श्रीरूप गोस्वामी जी तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास गोस्वामी जी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं।

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां
उद्यान विहारो-नाम
पञ्चदश परिच्छेदः ॥१५॥

जयगौर

अन्त्य-लीला

षोड़श परिच्छेद

★

वन्दे श्रीकृष्णचैतन्यं कृष्णभावामृतं हि यः ।
आस्वाद्यास्वादयन् भक्तान् प्रेमदीक्षामशिक्षयत् ॥१॥

जिन्होंने श्रीकृष्णभावामृत का स्वयं आस्वादन करके, भक्तों को भी आस्वादन कराया एवं उनको प्रेमोपदेश की शिक्षा दी, उन्हीं श्रीकृष्णचैतन्यदेव की मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

[इस परिच्छेद में श्रीकालिदास के आचरण द्वारा वैष्णवों के उच्छिष्ट-भोजन की महिमा, सात वर्ष की आयु में पुरीदास जी के कृष्णवर्णनात्मक श्लोक की रचना, श्रीजगन्नाथ जी के महाप्रसाद का गुण वर्णन तथा श्रीमन्महाप्रभु जी का प्रलाप—आदि प्रसङ्ग वर्णन किये गये हैं]

जय जय गौरचन्द्र जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौर भक्तवृन्द ॥१॥
एइमत महाप्रभु रहे नीलाचले । भक्तगण सङ्गे सदा प्रणय-विह्वले ॥२॥
वर्षान्तरे आइला सब गौड़ेर भक्तगण । पूर्ववत् आसि कैल प्रभुर मिलन ॥३॥
तां सभार सङ्गे प्रभुर चित्त वाह्य हैल । पूर्ववत् रथयात्राय नृत्यादि करिल ॥४॥

श्री श्रीगौरचन्द्रदेव की जय हो, जयँ हो, श्रीनित्यानन्द प्रभु जी की जय हो, श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो, श्रीगौरभक्त वृन्दों की जय हो । इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु जी नीलाचल वास कर रहे थे, वे सदा भक्तों के साथ श्रीकृष्ण प्रेम में विह्वल रहते । एक वर्ष बीत गया था, सब गौड़ीय भक्तगण नीलाचल आए । पूर्ववत् सब प्रभु को आकर मिले । उन सब के सङ्ग से प्रभु के चित्त की दशा वाह्य हो गई । उन्हों ने उन भक्तों के साथ मिल कर रथयात्रा पर नृत्यादि किया ॥१-४॥

तां सभार सङ्गे आइल कालिदास नाम । कृष्ण नाम बिनु तेंहो नाहि कह आन ॥५॥
महा भागवत तेंहो सरल उदार । कृष्णनाम-सङ्केते चालाय व्यवहार ॥६॥
कौतुके तेंहो यदि पाशक खेलाय । 'हरे कृष्ण कृष्ण' कहि पाशक चालाय ॥७॥

रघुनाथदासेर तेंहो हय ज्ञाति खुड़ा । वैष्णवेर उच्छिष्ट खाइते तेंहो हैला बुढ़ा ॥८॥
गौड़देशे यत हय वैष्णवेर गण । सभार उच्छिष्ट तेंहो करियाछेन भोजन ॥९॥

इस बार गौड़ीय भक्तों के साथ श्रीकालिदास भी आए जो कृष्णनाम के विना और कुछ नहीं बोलते थे । वे महाभागवत थे एवं बड़े उदार थे । वे अपना सब काम काज कृष्ण नाम के सङ्केत से चलाते थे । कौतुकवश कभी वे यदि पासा (चौसर) भी खेलते तो पासा फेंकते हुए भी वे 'हरे कृष्ण-हरे कृष्ण' कहते थे । श्रीकालिदास जी श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी की जाति के थे उनके खुड़ा (ताऊ) लगते थे । श्रीकालिदास जी बालकपन से वैष्णवों का उच्छिष्ट प्रसाद पाते थे, ऐसा करते-करते अब वे वृद्धावस्था को प्राप्त हो गये थे । गौड़देश में जितने वैष्णव थे, उन सब का उन्होंने उच्छिष्ट प्रसाद पा लिया था ॥५—९॥

ब्राह्मण-वैष्णव यत छोट बड़ हय । उत्तम वस्तु भेट लञा तांर ठाञि याय ॥१०॥
तांर ठाञि शेष पात्र लयेन मागिया । काहांओ ना पाय यबे, रहे लुकाइया ॥११॥
भोजन करिया पात्र पेलाइया याय । लुकाइया सेइ पात्र आनि चाटि खाय ॥१२॥
शूद्र वैष्णवेर घर याय भेट लञा । एइ मत तांर उच्छिष्ट खाय लुकाइया ॥१३॥

ब्राह्मण एवं वैष्णव चाहे वह छोटा होता या बड़ा, श्रीकालिदास उसके पास उत्तम-उत्तम वस्तु भेंट ले जाते । जब वह उसे भोजन कर लेता तो वे उससे झूंठा पात्र मांग लेते । कभी कोई वैष्णव उन्हें झूंठा पात्र देने से इन्कार कर देता तो वे वहाँ छुप कर रहे आते, जब वह भोजन कर लेता तो उसके झूंठे पात्र को उठा कर भाग आते और छिप कर उस पात्र को चाट जाते । यहां तक कि श्री-कालिदास शूद्र जातीय वैष्णवों के घर भी भेंट लेकर जाते । और इसी प्रकार उनकी भी झूंठन छिप कर पाया करते ॥१०—१३॥

भूमिमालिजाति-वैष्णव झड़ु तांर नाम । आम्रफल लञा तेंहो गेला तांर स्थान ॥१४॥
आम्र भेट दिया तारे चरण वन्दिल । तांहार पत्नीके तबे नमस्कार कैल ॥१५॥
पत्नीर सहिते तेंहो आछेन वसिया । बहुत सम्मान कैल कालिदास देखिया ॥१६॥
इष्ट गोष्ठी कथोक्षण करि तांर सने । झड़ु ठाकुर कहे तांरे मधुर वचने ॥१७॥
आमि नीच जाति, तुमि अतिथि सर्वोत्तम । कोन् प्रकारे करिव आमि तोमार सेवन?॥१८॥
आज्ञा देह, ब्राह्मण घरे अन्न लञा दिये । ताहां तुमि प्रसाद पाओ, तबे आमि जीये॥१९॥

झड़ु ठाकुर नाम का एक वैष्णव था, जिसका जन्म भूमि-मालि जाति में हुआ था । एक दिन श्रीकालिदास आम लेकर उसके घर गये । उन्होंने उसे आम भेंट किये और उसके चरणों में वन्दना की, उसकी पत्नी को भी नमस्कार किया । वह अपनी पत्नी के साथ बैठा था, दोनों ने उठ कर श्रीकालिदास का बहुत आदर सत्कार किया । उन्होंने उसके साथ कुछ देर तक श्रीकृष्ण-कथा कही-सुनी । तब झड़ु ठाकुर उनसे इस प्रकार मधुर वचन कहने लगे—"कालिदास ! मैं नीच जाति हूं और आप सर्वोत्तम हो और फिर मेरे अतिथि हो । मैं आप की किस प्रकार सेवा करूं ? आप मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं कुछ अन्न

लेकर ब्राह्मण के घर देकर उसके द्वारा रसोई तैयार कराता हूँ, फिर वह प्रसाद आप खा लीजियेगा, जिससे मेरा जीवन सफल हो सके। " ॥१४-१६॥

कालिदास कहे, ठाकुर ! कृपा कर मोरे। तोमार दर्शने आइलुं मुञि पतित पामरे ॥२०॥
पवित्र हइलुं, मुञि पाइलुं दर्शन। कृतार्थ हइलुं, मोर सफल जीवन ॥२२१॥
एक वाञ्छा हय यदि कृपा करि कर। पादरज देह पाद मोर माथे धर ॥२२॥
ठाकुर कहे, ऐछे बात कहिते ना जुयाय। आमि नीच जाति, तुमि सुसज्जन राय ॥२३॥
तबे कालिदास श्लोक पढ़ि शुनाइल। शुनि झड़ू ठाकुरेर सुख बड़ हैल ॥२४॥

श्रीकालिदास ने कहा—"ठाकुर ! आप मुझ पर कृपा कीजिये, मैं तो पामर-पतित हूँ, मैं आपके दर्शनों को आया था। आपके दर्शन कर मैं आज पवित्र हो गया हूँ, आज कृतार्थ हुआ हूँ और मेरा जीवन सफल हो गया है। ठाकुर ! एक वाञ्छा मेरे मन में है, यदि आप कृपा कर उसे पूर्ण करें ? वह यह है कि आप अपने चरणों की रज मुझे दीजिये और अपने चरण मेरे शिर पर धारण कीजिये। "ठाकुर झंडू ने कहा—"कालिदास ! आपको ऐसा कहना नहीं बनता, मैं नीच जाति हूँ और आप श्रेष्ठ कुलोत्पन्न सज्जन पुरुष हैं।" तब श्रीकालिदास ने निम्नलिखित श्लोक पढ़ कर उन्हें सुनाये। श्रीझंडू ठाकुर उन्हें सुन कर बहुत सुखी हुए ॥२०—२४॥

तथाहि हरिभक्ति विलासे (१०—६१)—

न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम् ॥२॥

श्रीभगवान् ने कहा है—"चारों वेदों का ज्ञाता ब्राह्मण यदि मेरी भक्ति से रहित है, तो वह मुझे प्रिय नहीं हैं, यदि एक चाण्डाल मेरी भक्ति करता है, तो वह मेरा प्रिय हैं। अतएव ऐसे चाण्डाल भक्त को सत्पात्र जान कर दान देना उचित है, उस से कुछ ग्रहण करना भी उचित है। वह मेरी भान्ति पूजनीय है ॥ २ ॥

तथाहि (भा: ७-९-१०)—

विप्राद्द्विषड़ गुणयुतादरविन्द नाम पादारविन्द विमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पित मनो वचने हितार्थ प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥३॥

श्रीप्रह्लाद जी ने कहा—"कमल की भान्ति सुन्दर एवं सुगन्धित जिनकी नाभि है, ऐसे जो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उनके चरण कमलों की भक्ति से रहित जो द्वादश गुण युक्त ब्राह्मण है, (२-२०४ श्लोक पृष्ठ ५५६ द्रष्टव्य) उसकी अपेक्षा श्रीकृष्ण चरणों में जिसने अपने मन, वचन, चेष्टा, अर्थ एवं प्राण सब अर्पण कर दिये हैं, ऐसे श्वपच को भी मैं श्रेष्ठ मानता हूँ, कारण कि ऐसा श्वपच तो अपने कुल को पवित्र करने वाला होता है, किन्तु अतिशय गर्वयुक्त वह ब्राह्मण ऐसा करने में समर्थ नहीं हो सकता ॥३॥

तथाहि तत्रैव (३-३३-७)—

अहोवत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्य्या ब्रह्मानुचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥४॥

देवहूति जी ने श्रीकपिलदेव जी से कहा है—"जिसकी जिह्वा के अग्र भाग पर आपका नाम वर्त्तमान रहता है, वह व्यक्ति श्वपच होकर भी पूजनीय है। जो आपके नाम का सङ्कीर्तन करते रहते हैं, वही ही सदाचारी हैं, उन्होंने सब तपस्याएँ करली हैं, उन्होंने यज्ञ एवं सर्व तीर्थों का स्नान कर लिया है और उन्होंने चारों वेदों का अध्ययन भी कर लिया है। अर्थात् जो श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन सदा करते हैं, उन्हें फिर और तपस्या, यज्ञ-होम, तीर्थ यात्रादि आचरणों की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती ।।४।।

शुनि ठाकुर कहे, शास्त्र एइ सत्य कय। सेइ श्रेष्ठ, ऐछे याते कृष्ण भक्ति हय ।।२५।।
आमि नीच जाति,आमाय नाहि कृष्ण भक्ति। अन्य ऐछे हय,आमाय नाहि ऐछे शक्ति ।।२६।।
तांरे नमस्करि कालिदास विदाय मागिला। झड़ू ठाकुर तबे तांरे अनु व्रजि आइला।।२७।।
तांरे विदाय दिया ठाकुर यदि घरे आइला। तांहार चरणचिह्न येइ ठाञि पड़िला ।।२८।।
सेइ धूलि लञा कालिदास सर्वाङ्गे लेपिला। तार निकट एक स्थाने लुकाञा रहिला ।२९।।

इन सब श्लो।ों को सुन कर ठाकुर ने कहा—"कालिदास ! शास्त्र में यह सब बात ठीक कही गई है, जिसमें श्रीकृष्ण-भक्ति है, वही व्यक्ति ही सर्व श्रेष्ठ है, किन्तु मैं तो नीच जाति हूँ एवं मुझ में कृष्ण-भक्ति नहीं है। जिनकी महिमा शास्त्र में वर्णन की गई है, वे भक्त कोई और है, मेरे में ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है। तब श्रीकालिदास जी ने ठाकुर से विदा माँगी और उन्हें नमस्कार किया। श्रीझड़ू ठाकुर भी उन्हें पहुँचाने के लिये उनके पीछे-पीछे कुछ दूर तक गये। उनको विदा कर जब ठाकुर घर वापिस आये तब उनके चरण जहाँ जहाँ पड़े थे वहाँ की रज लेकर श्रीकालिदास ने अपने अङ्गों पर मली और वहाँ एक स्थान पर छिप कर बैठ गये ।।२५—२९।।

झड़ू ठाकुर घर याइ देखि आम्र फल। मानसेइ कृष्णचन्द्रे अर्पिला सकल ।।३०।।
कलार पातुयाखोला हैते आम्र निकाशिया। तांर पत्नी तांरे देन, खायेन चूषिया ।।३१।।
चूषि चूषि चोका आठि पेलेन पातुयाते। तांरे खाओञा तांर पत्नी खाएन पश्चाते ।।३२।।
आठि चोका सेइ पातुया खोलाते भरिया। बाहिरे उच्छिष्टगर्त्ते पेलाइल लञा ।।३३।।
सेइ खोला आठि चोका चुषे कालिदास। चुषिते-चुषिते हय प्रेमेर उल्लास ।।३४।।

श्रीझड़ू ठाकुर जब घह आए तो आमों को मन ही मन में श्रीकृष्णचन्द्र को अर्पण किया और केला के पत्तों से निर्मित बड़े बड़े दोने से आम निकाल कर उनकी पत्नी उन्हें देने लगी और ठाकुर उन्हें चूस चूस कर खाने लगे। आम के छिलकों एवं गुठलियों को ठाकुर फिर उसी दोने में डालते जा रहे थे। ठाकुर को आम खिला कर फिर उनकी पत्नी ने भी आम खाये एवं छिलका-गुठली उसी दोने में डाल दिये। फिर उसने छिलके-गुठलियों के उस दोने को बाहर कूड़ा डालने की जगह पर डाल दिया। श्रीकालिदास ने झट आकर उस दोने में से झूंठे गुठली-छिलके उठा लिये और उन्हें चूसने लगे। उन्हें चूसते ही प्रेमावेश हो उठा ।।३०—३ ।।

चौ० च० चु० टीका :—ऊपर के पयारों में कहा गया है कि श्री झड़ू ठाकुर ने, श्रीकालिदास जो आम लाये थे, उन्हें मन मन में ही श्रीकृष्ण के अर्पण कर दिया और फिर उसे प्रसाद समझ कर खाने लगे। उन्होंने यथाविधि तुलसी आदि देकर श्रीभगवान् को वे आम निवेदित नहीं किये। यहाँ एक

प्रश्न उठता है, क्या हर एक वैष्णव-साधक ऐसा आचरण कर सकता है ? — इसका उत्तर यह है कि श्रीझड़ू ठाकुर सिद्ध भक्त थे, उनका यह आचरण साधारण शास्त्र-विधि सम्मत न होकर भी उनके पक्ष में कुछ दोष का विषय नहीं है, सिद्ध भक्त अनेक समय भावाविष्ट रहते हैं, उनका प्रेम इतना प्रबल होता है कि उनका आचरण शास्त्र-विधि अनुकूल न होने पर भी श्रीकृष्ण उनके प्रेम के वशीभूत होकर उनके आचरण को अङ्गीकार करते हैं।

साधक वैष्णवों के लिए किसी भी सिद्ध-भक्त के सब आचरणों का अनुकरण विधेय नहीं है। साधक के लिए तो केवल मात्र भक्ति शास्त्रोक्त विधि का पालन करना ही श्रेयस्कर है। उसे श्रीभगवान् को कोई वस्तु निवेदन करनी होगी तो उसे यथा विधि बाह्यिक अनुष्ठान के अनुसार उसमें तुलसी आदि देनी ही होगा। भक्ति-आचरण में भक्ति शास्त्रों की विधि का पालन करना ही होगा।

आज कल ऐसे साधक अनेक देखने में आते हैं जो सिद्ध-भक्तों के आचरणों को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत कर उनके आचरणों का अनुकरण करते हैं एवं शास्त्र विधि की ओर उनका कुछ भी ध्यान नहीं है। उनका यदि इस ओर ध्यान दिलाया जाए तो वे बड़ी चतुराई से उत्तर देते हैं कि "हम राग मार्ग के अनुयायी हैं, वैधी भक्ति मार्ग हमारे लिए नहीं है। हमारा शास्त्र तो आचार्यों की वाणियाँ हैं। जैसे उन्होंने किया है और कहा है हम तो वैसे करते हैं अर्थात् वे सिद्ध भक्तों के भगवत्स्वरूप आचार्य वृन्द के आचरण का ही अनुकरण करते हैं, जो एक महान् भूल है। उन्होंने समझ रखा है कि शास्त्र का न मानना ही राग भक्ति है। किन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि श्रीभगवान् ने अपने श्रीमुख से कहा है— (श्रीगीता १६—२३)

> यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते काम चारतः।
> न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥श॥

जो शास्त्र विधि की उपेक्षा करके अपनी इच्छा-मत से आचरण करता है, वह न तो सिद्धि व सुख को प्राप्त करता है और न उसे परा-गति श्रेष्ठ गति अर्थात् मेरी चरण सेवा प्राप्त होती है। श॥

बल्कि भक्ति रसामृत सिन्धु (पू० २–४६–५५) यहाँ तक कहा गया है कि—

> स्मृति श्रुति पुराणादि पञ्चारात्रविधिं विना।
> ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पाता यैव कल्पते ॥ष॥

स्मृति-श्रुति-पुराणादि एवं पञ्चरात्र की विधि को छोड़ कर हरि भक्ति का जो आचरण करता हैं, वह भी केवल उत्पातों को ही उदय करने वाला होता है। ष॥

अभिप्राय यह है कि साधक को सदा भक्ति-शास्त्र की विधि के अनुसार ही भक्ति का आचरण करना चाहिए। सिद्ध भक्तों के आचरण का अनुकरण विशेषतः हर आचरण का अनुकरण करना साधक समाज के लिये कभी भी हितकर नहीं है।

श्रीकालिदास जी की वैष्णवों के उच्छिष्ट में कैसी अद्भुत निष्ठा थी ?—एक तो नीच जाति का उच्छिष्ट, उस पर फिर कूड़ा के स्थान पर पड़ा हुआ अपवित्र उच्छिष्ट। उसे भी श्रीकालिदासजी ने श्रद्धा के साथ खा लिया। प्रभु कृपा के बिना ऐसी निष्ठा होना अति कठिन है।

इस प्रसङ्ग से हमें दो शिक्षाएं मिलती हैं—प्रथमतः वैष्णव में जाति बुद्धि सङ्गत नहीं है। भक्ति संदर्भ (२४७) में कहा गया हैं कि—

शूद्रं वा भगवद्भक्तं निषादं स्वपचं तथा।
वीक्षते जाति सामान्यात् स याति नरकं ध्रुवम्॥स॥

भगवद्भक्त शूद्र व निषाद तथा श्वपच आदि में जो सामान्य जाति को देखता है, वह निश्चय ही नरक में जाताता है। अभिप्राय यह है कि वैष्णव भक्त जाति पांति से मुक्त होता है। उस में जाति भेद करना उचित नहीं है।

द्वितीयत:—वैष्णव का उच्छिष्ट, पदरज एवं पादादक साधक के लिये सदा ग्रहणीय है, जैसे कि कहा गया है—श्रीचैतन्यचरितामृत (३-१६-५५, ५६)—

भक्त पद धूलि आर भक्त पद जल।
भक्तभुक्त-अवशेष तिन महाबल॥
एइ तिन सेवा हैते कृष्णे प्रेमा हय।
पुनः पुनः सर्व शास्त्रे फुकारिया कय॥

अर्थात्—भक्त-पद रज, भक्त-पद जल एवं भक्त उच्छिष्ट इन तीनों में महान् शक्ति है, इन तीनों के सेवन करने से श्रीकृष्ण में प्रेम-भक्ति का उदय होता है—यह बात सर्वशास्त्र बार-बार पुकार कर कह रहे हैं।

किन्तु इन तीनों को किस भाव से ग्रहण करना चाहिये, इस बात की शिक्षा भी हमें श्री-कालिदास जी के आचरण से मिलती है। जो वैष्णव या महत् पुरुष अपना उच्छिष्टादि देना नहीं चाहते हैं, उन्हें दिखा कर या उनके सामने उनका उच्छिष्टादि लेना सङ्गत नहीं है। क्योंकि ऐसा करने से उनके मन में दुःख होता है। वैष्णव को दुख देकर उसका उच्छिष्टादि लेने में वैष्णवापराध की ही सम्भावना है। यदि किसी महत्पुरुष के उच्छिष्टादि लेने की बलवती इच्छा या श्रद्धा हो तो साधक को ऐसी कुशलता से या ऐसे गोपन भाव से उसे लेना चाहिये कि या तो वह जान न सकें अथवा प्रसन्नता पूर्वक वह उसे स्वयं ही प्रदान करें। श्रीगुरुदेव ही शिष्य को प्रकाश्यभाव में अपना उच्छिष्टादि दिया करते हैं, दूसरा कोई वैष्णव प्रायः नहीं दिया करता है।

एइमत यत वैष्णव वैसे गौड़देशे। कालिदास ऐछे सभार निल अवशेषे॥३५॥
सेइ कालिदास यबे नीलाचले आइला। महाप्रभु तारे उपर महाकृपा कैला॥३६॥
प्रतिदिन प्रभु यदि यान दरशने। जलकरङ्ग लञा गोविन्द याय प्रभु सने॥३७॥
सिंहद्वारेर उत्तरदिके कपाटेर आड़े। बाइशपशार तले आछे एक निम्न गाड़े॥३८॥
सेइ गाड़े करे प्रभु पाद प्रक्षालन। तबे करिवारे याय ईश्वर दर्शन॥३९॥

गौड़देश में जितने वैष्णव थे, श्रीकालिदास ने इस प्रकार सब का उच्छिष्ट प्राप्त किया था। वह श्रीकालिदास जब नीलाचल में आए तो श्रीमहाप्रभु जी ने उन पर बहुत भारी कृपा की। प्रति-दिन जब श्रीमहाप्रभु जी श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करने जाते, तो श्रीगोविन्द जल-पात्र लेकर प्रभु के साथ-साथ जाता था। सिंहद्वार की उत्तर दिशा में किवाड़ के पीछे बाईस सीढ़ियाँ थीं, उनके नीचे एक गड्ढा सा था, उसी गड्ढे में ही श्रीमहाप्रभु जी पहले अपने पाँव धो लेते थे, तब वे श्रीजगन्नाथ जी के दर्शनों के लिये प्राङ्गण में प्रवेश करते थे॥३५-३९॥

गोविन्देरे महाप्रभु करियाछे नियम। मोर पादजल येन ना लय कोन जन ॥४०॥
प्राणि मात्र लैते ना पाय सेइ पाद जल। अन्तरङ्ग–भक्त लय करि कोन छल ॥४१॥
एक दिन प्रभु ताहां पाद प्रक्षालिते। कालिदास आसि ताहां पातिलेन हाथे ॥४२॥
एकाञ्जलि दुइ-अञ्जलि तिनाञ्जलि पिल। तबे महाप्रभु तांरे निषेध करिल ॥४३॥
"अतः पर आर ना करिह बार बार। एतावता वाञ्छा पूर्ण करिल तोमार" ॥४४॥
सर्वज्ञ शिरोमणि चैतन्य ईश्वर। वैष्णवे तांहार विश्वास जानेन अन्तर ॥४५॥
सेइ गुण लञा प्रभु तांरे तुष्ट हैला। अन्येर दुर्लभ प्रसाद तांहारे करिला ॥४६॥

श्रीगोविन्द के लिये श्रीमहाप्रभु जी का आदेश था कि 'मेरा पाद-जल किसी प्रकार भी कोई न ले सके।' इसलिये प्राणीमात्र में से कोई भी प्रभु के चरणामृत को न ले सकता था। केवल उनके जो अन्तरङ्ग भक्त थे, वे किसी बहाने से कभी ऐसा सौभाग्य प्राप्त करते थे। एक दिन प्रभु जब वहाँ पाद प्रक्षालन कर रहे थे, श्रीकालिदास ने झट आकर वहाँ अपने हाथ लगा लिये। एक, दो, तीन अञ्जलियाँ भर-भर कर उन्होंने प्रभु के पाद-जल का पान कर लिया। तन प्रभु ने उन्हें निषेध करते हुए कहा—"कालिदास इसके बाद कभी फिर ऐसा नहीं करना। मैंने आज तुम्हारी इतनी वाञ्छा पूर्त्ति कर दी है।" श्रीमहाप्रभु जी सर्वज्ञ शिरोमणि हैं न। श्रीकालिदास के हृदय में वैष्णवों के प्रति कितनी निष्ठा है—उसे प्रभु जानते थे—केवल उनके इसी गुण पर ही श्रीमहाप्रभु जी प्रसन्न हो गये और जो कृपा किसी के लिये भी प्राप्त नहीं होती थी, उस महान् कृपा को श्रीकालिदास जी के लिये प्रदान कर दिया। ४०–४६॥

बाइशपशार उपर दक्षिण दिगे। एक नृसिंह मूर्ति आछे, उठिते वाम भागे ॥४७॥
प्रतिदिन प्रभु तांरे करे नमस्कार। नमस्करि एइ श्लोक पढ़े बार बार ॥४८॥

उन बाईस सीढ़ियों के ऊपर दक्षिण दिशा में और उस रास्ते से मन्दिर प्रवेश करते समय वाम दिशा में एक श्रीनृसिंह जी का मन्दिर है, प्रति-दिन की भान्ति श्रीमहाप्रभु जी ने आकर वहाँ नमस्कार किया और बार-बार निम्नलिखित श्लोक पढ़ने लगे ॥४७–४८॥

तथाहि नृसिंह पुराणे—

नमस्ते नरसिंहाय प्रह्लादाह्लाद दायिने।
हिरण्यकशिपोर्वक्षः शिलाटङ्कन खालये ॥५॥
इतो नृसिंहः परतो नृसिंहो यतो यतो यामि ततो नृसिंहः।
बहिर्नृसिंहो हृदये नृसिंहों नृसिंहमादि शरणं प्रपद्ये ॥६॥

जो श्रीप्रह्लाद जी को आनन्द देने वाले हैं, जिन की नख श्रेणी हिरण्यकश्यप की वक्षस्थल रूप शिला को विदारण करने के लिये टंक (टांकी) के समान है, मैं उन श्रीनृसिंह देव जी को प्रणाम करता हूँ ॥ ५ ॥ यहाँ श्रीनृसिंह हैं, वहाँ श्रीनृसिंह हैं, जहाँ-जहाँ जाता हूँ, वहाँ ही श्रीनृसिंह हैं, बाहर भी श्रीनृसिंह हैं और हृदय में भी श्रीनृसिंह हैं, ऐसे आदि पुरुष श्रीनृसिंह देव की मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥६॥

तबे प्रभु कैल जगन्नाथ दरशन । घरे आसि मध्याह्न करि करिल भोजन ॥४६॥
बहिर्द्वारे आछे कालिदास प्रत्याशा करिया । गोविन्देरे ठारे प्रभु कहने जानिया ॥५०॥
महाप्रभु इङ्गित गोविन्द सब जाने । कालिदासे दिल प्रभुर शेषपात्र दाने ॥५१॥
वैष्णवेर शेष भक्षणेर एतेक महिमा । कालिदास पाओयाइल प्रभुर कृपा सीमा ॥५२॥

तब श्रीमहाप्रभु जी ने जाकर श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन किये और निवास स्थान पर आकर अपना मध्याह्न कृत करने के पश्चात् भोजन किया । श्रीकालिदास जी दरवाजे पर प्रभु के उच्छिष्ट प्रसाद के लिये बाहर आकर खड़े हुए थे । प्रभु ने इशारे में श्रीगोविन्द को यह बात जना दी । श्रीमहाप्रभु जी के सब इशारों को श्रीगोविन्द जानते थे । तब श्रीगोविन्द ने आकर श्रीकालिदास जी को प्रभु का शेष पात्र दिया । श्रीकविराज कहते हैं, वैष्णवों के उच्छिष्ट भक्षण करने की इतनी महिमा है कि श्रीकालिदास जी ने प्रभु की कृपा-सीमा को प्राप्त कर लिया ॥४६–५२॥

ताते वैष्णवेर झूठा खाओ छाड़ि घृणा लाज । याहा हैते पावे निज वाञ्छित सब काज ॥५३॥
कृष्णेर उच्छिष्ट हय 'महाप्रसाद' नाम । भक्तशेष हैले 'महा महाप्रसाद' आख्यान ॥५४॥
भक्तपद धूलि आर भक्त पद जल । भक्तभुक्त अवशेष—तिन महाबल ॥५५॥
एइ तिन-सेवा हैते कृष्ण—प्रेमा हय । पुनः पुनः सर्वशास्त्रे फुकारिया कय ॥५६॥
ताते बार बार कहि शुन भक्त गण । विश्वास करिया कर ए तिन सेवन ॥५७॥
तिन हैते कृष्ण नाम प्रेमेर उल्लास । कृष्णेर प्रसाद ताते साक्षी कालिदास ॥५८॥

इसलिये घृणा एवं लज्जा छोड़ कर सदा वैष्णवों का उच्छिष्ट ग्रहण करना चाहिये उससे अपने सब अभीष्टों की पूर्त्ति होती है । श्रीकृष्ण के उच्छिष्ट का नाम 'महाप्रसाद' है । जब भक्त उस महा-प्रसाद को खालें तब उनके उच्छिष्ट को 'महा महा प्रसाद' कहते हैं । भक्त की पद-धूलि, भक्त के पद-जल एवं भक्त के उच्छिष्ट—इन तीनों में महान् बल है । इन तीनों के सेवन करने से श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति की प्राप्ति होती है—यह बात सर्व–शास्त्र पुकार–पुकार कर कह रहे हैं । (श्रीकृष्णदास जी कविराज कहते हैं)—इसलिये मैं बार-बार कहता हूँ, हे भक्तगण ! सुनो, विश्वास पूर्वक इन तीनों का सेवन करो । इन तीनों के सेवन करने से श्रीकृष्ण-नाम-प्रेम का उदय होगा और उस से श्रीकृष्ण कृपा की प्राप्ति होगी—इस बात का साक्षी श्रीकालिदास है ॥५३–५८॥

नीलाचले महाप्रभु रहे एइ मते । कालिदासे महा कृपा कैल अलक्षिते ॥५६॥
से वत्सर शिवानन्द पत्नी लञा आइला । पुरीदास छोट पुत्र सङ्गेते आनिला ॥६०॥
पुत्र सङ्गे लञा तेंहो आइला प्रभुर स्थाने । पुत्रेरे कराइल प्रभुर चरण वन्दने ॥६१॥
'कृष्ण कह' बलि प्रभु बोले बार बार । तभु कृष्णनाम बालक ना करे उच्चार ॥६२॥
शिवानन्द बालकेरे बहु यतन कैला । तभु से बालक कृष्णनाम ना कहिला ॥६३॥

इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी अनेक लीलाएँ करते हुए नीलाचल बास कर रहे थे । उन्होंने श्रीकालिदास जी पर अलक्षित भाव से महा कृपा कर दी । उस वर्ष श्रीशिवानन्द जी अपनी पत्नी एवं

अपने छोटे पुत्र श्रीपुरीदास को भी साथ लेकर आये थे। श्रीशिवानन्द जी अपने पुत्र को साथ लेकर श्रीमहाप्रभु जी के स्थान पर आए एवं उन्हें श्रीमहाप्रभु जी के चरणों में वन्दना कराई। श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीपुरीदास को बार-बार कहा कि 'कृष्ण कहो-कृष्ण कहो' किन्तु श्रीपुरीदास ने एक बार भी श्रीकृष्ण नाम उच्चारण न किया। श्रीशिवानन्द जी ने भी बहुत यत्न किया कि किसी तरह श्रीपुरीदास श्रीकृष्ण नाम का उच्चारण करे किन्तु उस बालक ने एक बार भी श्रीकृष्ण-नाम मुख से न कहा ।।५६—६३।।

प्रभु कहे, आमि नाम जगते लओयाइल। स्थावर पर्य्यन्त कृष्णनाम कहाइल ।।६४।।
इहारे नारिल कृष्ण नाम कहाइते। शुनिया स्वरूप गोसाञि कहेन हासिते ।।६५।।
तुमि कृष्ण नाम मन्त्र कैले उपदेशे। मन्त्र पात्रा कारो आगे ना करे प्रकाशे ।।६६।।
मने मने जपे, मुखे ना करे आख्यान। एइ इहार मनः कथा करि अनुमान ।।६७।।
आर दिन प्रभु कहे, पढ़ पुरीदास। एक श्लोक करि तेंहो करिल प्रकाश ।।६८।।

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"मैंने समस्त जगत् को 'कृष्ण' नाम उच्चारण कराया है, मनुष्यों को ही नहीं,वृक्ष-लतादि स्थावरों को भी नाम उच्चारणकराया है—इस बालक को कृष्ण-नाम नहीं कहलवा सका हूँ।" यह सुन कर श्रीस्वरूप गोस्वामी जी हँसते हँसते कहने लगे—"प्रभु! आपने इसे कृष्ण नाम का मन्त्र प्रदान किया है। यह उस मन्त्र को पाकर और किसी के सामने प्रकाश नहीं करना चाहता है। मन मन में यह जाप कर रहा है, बाहर मुख से प्रगट नहीं कहता है, मुझे यही बात इसके मन की दीखती है।" दूसरे दिन फिर श्रीपुरीदास प्रभु के पास जब आए तो श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"पुरी! श्लोक पढ़ो।" श्रीपुरीदास जी निम्नलिखित श्लोक रच कर पढ़ने लगे ।।६४—६८।।

तथाहि कर्णपूर कृत आर्य्याशतके (१)—

श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दाबन रमणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति ।।७।।

जो श्रीवृन्दावन की तरुणीगणों के श्रवणों के कुवलय (नील-पद्म), नेत्रों के कज्जल, एवं वक्षस्थल के नीलमणि हार की भांति भूषण स्वरूप हैं, उन श्रीहरि की जय हो ।।७।।

सात वत्सरेर बालक, नाहि अध्ययन। ऐछे श्लोक करे, लोकेर चमत्कार मन ।।६९।।
चैतन्य प्रभुर एइ कृपार महिमा। ब्रह्मा-आदि देव यार नाहि पाय सीमा ।।७०।।
भक्तगण प्रभु सङ्गे रहे चारि मासे। प्रभु आज्ञा दिल, सभे गेला गौड़देशे ।।७१।।
तां सभार सङ्गे प्रभुर छिल बाह्य ज्ञान। तांरा गेले पुन हैल उन्माद प्रधान ।।७२।।
रात्रि दिने स्फुरे कृष्णेर रूप गन्ध रस। साक्षादनुभवे येन कृष्ण-उपस्पर्श ।।७३।।

श्रीपुरीदास उस समय सात वर्ष के बालक थे, अभी अध्ययन भी उनका आरम्भ नहीं हुआ था—यह नवीन श्लोक रच कर उन्होंने जब पढ़ा, तो सब लोक चमत्कृत हो उठे। श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्य देव जी की ही कृपा की ही यह महिमा थी, जिसे ब्रह्मादि देव गण भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। गौड़ीय भक्तों को जब चार मास प्रभु के साथ बीत गए, तब प्रभु ने उन्हें आज्ञा दी और वे गौड़ देश को लौट

आए। उन सब भक्तों के साथ श्रीमहाप्रभु जी को बाह्य ज्ञान रहता था किन्तु उनके चले जाने पर फिर उनकी प्रायः उन्माद अवस्था रहने लगी। रात दिन उन्हें श्रीकृष्ण के रूप-रस गन्ध आदि की स्फूर्त्ति हुआ करती। उन्हें श्रीकृष्ण का स्पर्श साक्षाद् रूप से अनुभव होता था ॥६९—७३॥

एक दिन प्रभु गेला जगन्नाथ दर्शने। सिंहद्वारेर दलुइ आसि करिल वन्दने ॥७४॥
तारे कहे, काहां कृष्ण मोर प्राणनाथ। 'मोरे कृष्णदेखाओ' बलि धरे तार हाथ ॥७५॥
सेइ कहे, इहां हय व्रजेन्द्र नन्दन। आइस तुमि मोर सङ्गे, कराङ् दर्शन ॥७६॥
'तुमि मोर सखा, देखाओ काहां प्राणनाथ? एत बलि जगमोहन गेला धरि तार हाथ॥७७॥
सेइ बोले, एइ देख श्री पुरुषोत्तम। नेत्र भरिया तुमि करह दर्शन ॥७८॥
गुरुड़ेर पाछे रहि करे दरशन। देखेन, जगन्नाथ हय मुरली वदन ॥७९॥
एइ लीला निज ग्रन्थे रघुनाथदास। गौराङ्ग स्तव कल्पवृक्षे करियाछे प्रकाश ॥८०॥

एक दिन श्रीमहाप्रभुजी श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करने गए, सिंहद्वार पर जो द्वारपाल खड़ा था, उसे प्रभु ने वन्दना की और उससे कहने लगे—"मेरे प्राणनाथ श्रीकृष्ण कहां हैं?" उसका हाथ पकड़ लिया और फिर बोले—"मेरे श्रीकृष्ण को मुझे दिखाओ।" द्वारपाल ने कहा—"आइये, आपके श्रीव्रजेन्द्रनन्दन यहाँ हैं, मेरे साथ आओ, मैं आपको उनके दर्शन कराऊंगा।" श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"तुम तो मेरे सखा हो, दिखाओ! दिखाओ!! प्राणनाथ कहाँ हैं?" इतना कहकर श्रीमहाप्रभु उसका हाथ पकड़ कर मन्दिर के जगमोहन (बरामदे) में चले गये। उसने कहा—"यह रहे श्रीपुरुषोत्तम, आप नेत्र भरकर दर्शन करिये।" श्रीमहाप्रभु जी गरुड़स्तम्भ के पीछे खड़े होकर दर्शन करने लगे। प्रभु क्या देखते हैं? श्रीजगन्नाथजी मुरलीधारी श्रीकृष्ण हो रहे हैं। इस लीला का श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी ने भी अपने ग्रन्थ श्रीगौराङ्गस्तव-कल्पतरु में उल्लेख किया है ॥७४-८०॥

तथाहि स्तवावल्यां गोराङ्गस्तव-कल्पतरौ (७)—

क्व मे कान्तः कृष्णस्त्वरितमिह तं लोकय सखे
त्वमेवेति द्वाराधिप मभिदधन्नुन्मद इव ।
द्रुतं गच्छ द्रष्टुं प्रियमिति तदुक्तेन धृतत-
द्भुजान्तो गौराङ्गो हृदय उदयन् मां मदयति ॥८॥

"हे सखे! मेरा कान्त श्रीकृष्ण कहाँ है! यहां तुम मुझे शीघ्र उसके दर्शन कराओ" उन्मत्त की भांति जिन्होंने यह बात द्वारपाल के प्रति कही थी, एवं (यह सुन कर) द्वारपाल ने जिन्हें कहा था—"प्रिय! श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये आप शीघ्र चलो" और यह बात सुन कर जिन्होंने द्वारपाल का हाथ पकड़ लिया था, वे द्वारपाल का हाथ पकड़े हुए श्रीगौराङ्ग मेरे हृदय में उदित होकर मुझे आनन्दित कर रहे हैं ॥८॥

हेनकाले गोपालवल्लभ भोग लागाइल। शङ्ख-घण्टा-आदि सह आरति बाजिल ॥८१॥
भोग सरिले जगन्नाथेर सेवकगण। प्रसाद लञा प्रभुर ठांइ कैल आगमन ॥८२॥

माला पराइया प्रसाद दिल प्रभुर हाथे। आस्वाद दूरे रहु, यार गन्धे मन माते ॥८३॥
बहुमूल्य प्रसाद सेइ वस्तु सर्वोत्तम। तार अल्प खाओयाइते सेवक करिल यतन॥८४॥
तार अल्प महाप्रभु जिह्वाते यदि दिल। आर सब गोविन्देर आँचले बान्धिल ॥८५॥

इतने में श्रीजगन्नाथजी का गोपाल-वल्लभ नामक भोग लगने लगा और शंख-घण्टा आदि के साथ आरती होने लगी। भोग लग जाने पर श्रीजगन्नाथजी के पुजारियों ने प्रभु के पास आकर उन्हें प्रसाद दिया एवं उन के गले में माला पहराई। वह प्रसाद ऐसा था कि उसका आस्वादन तो दूर, उसकी गन्ध में भी मन उन्मत्त हो उठता था। वह गोपाल-वल्लभ प्रसाद बहुमूल्य एवं सर्वोत्तम पदार्थों का होता था। पुजारी ने उस प्रसाद में से थोड़ा सा प्रसाद खाने के लिये प्रभु से आग्रह किया। तब श्रीमहाप्रभु जी ने उसमें से थोड़ा सा प्रसाद मुंह में डाल दिया और बाकी का सब प्रसाद श्रीगोविन्द ने अपने आँचल में बाँध लिय ॥८१—८५॥

कोटि-अमृत-स्वादु पाञा प्रभुर चमत्कार। सर्वाङ्गे पुलक, नेत्रे वहे अश्रुधार ॥८६॥
'एइ द्रव्ये एत स्वादु काहाँ हैते आइल ?। कृष्णेर अधरामृत इहां सञ्चारिल ॥८७॥
एइ बुद्धये महाप्रभुर प्रेमावेश हैल । जगन्नाथेर सेवक देखि संवरण कैल ॥८८॥
'सुकृति लभ्य फेलालव' बोले वार वार। ईश्वर सेवक पुछे, प्रभु ? कि अर्थ इहार ? ॥८९॥

उस प्रसाद के कणिका में कोटि अमृत का स्वाद पाकर प्रभु चमत्कृत हो उठे, उनके सर्वाङ्गों में पुलकावलि होने लगी एवं नेत्रों से अश्रु की धारा प्रवाहित होने लगी। "इस द्रव्य में इतना स्वाद कहाँ से आगया ? श्रीकृष्ण ने इसमें अपना अधरामृत सञ्चार कर दिया है"—यही विचार कर श्रीमहाप्रभु को प्रेमावेश हो गया। किन्तु श्रीजगन्नाथ के पुजारी को देख प्रभु ने अपने प्रेमावेश को संवरण कर लिया। 'सुकृतिलभ्य फेलालव'—ऐसा बार-बार प्रभु कहते जा रहे थे। पुजारी ने पूछा—प्रभु ! इसका क्या अर्थ होता है ? ॥८६-८९)

प्रभु कहे—एइ ये दिले कृष्णाधरामृत। ब्रह्मादि दुर्लभ एइ--निन्दये अमृत ॥९०॥
कृष्णेर ये भुक्तशेष तार 'फेला' नाम। तार एक लव पाय से-इ भाग्यवान् ॥९१॥
सामान्य भाग्य हैते तार प्राप्ति नाहि हय । कृष्णेर याते पूर्ण कृपा सेइ ताहा पाय ॥९२॥
सुकृति-शब्दे कहे—कृष्ण कृपा हेतु पुण्य। सेई यार हय, फेला पाय सेइ धन्य ॥९३॥
एत बलि प्रभु तांसभारे विदाय दिला। उपलभोग देखिया प्रभु निजवासा आइला ॥९४॥

पुजारो के वचन सुन कर 'सुकृतिलभ्य फेलालव' का अर्थ प्रभु कहने लगे। प्रभु ने कहा—इस भोग में श्रीकृष्ण ने जो अधरामृत सञ्चार किया है, वह ब्रह्मादि देवताओं को भी दुर्लभ है एवं अमृत की निन्दा करने वाला है। श्रीकृष्ण का जो उच्छिष्ट है—उसे फेला कहते हैं, उसका जो लव अर्थात् कणिका प्राप्त करता है, वही भाग्यवान् है। सामान्य भाग्य होने से वह प्राप्त नहीं होता है, जिस पर श्रीकृष्ण की पूर्ण कृपा होती है, उसे ही वह प्राप्त होता है। सुकृति शब्द से, कृष्ण कृपा हेतु है जिस पुण्य का उससे अभिप्राय है। ऐसा कृष्ण कृपा हेतु पुण्य जिसका होता है, वही उस फेला-लब अर्थात् श्रीकृष्ण के उच्छिष्ट-प्रसाद का कणिका प्राप्त करता है एवं वही सुकृति या धन्य है ॥९०-९४॥

चै० च० चु० टीका:—ऊपर के पयारों में श्रीमहाप्रभुजी ने कहा है—जिसको श्रीकृष्ण उच्छिष्ट मिलता है, वही सुकृति है अथवा सुकृति वही है जिसका कृष्णकृपा-हेतु पुण्य होता है। कृष्ण-कृपा हेतु पुण्य से क्या अभिप्राय है ? साधारणतः स्वर्ग प्राप्ति कराने वाले शुभ कर्म को 'पुण्य' कहते है, किन्तु यहाँ पुण्य का यह साधारण अर्थ ग्राह्य नहीं है। कारण कि श्रीकृष्णकृपा अथवा उनके उच्छिष्ट प्रसाद का आस्वादन किसी शुभ कर्म से प्राप्त होना सर्वथा असम्भव है। प्रेम के बिना श्रीकृष्ण के माधुर्य का आस्वादन नहीं किया जा सकता। कर्म तो कैसा भी क्यों न हो, शुभ हो अथवा अशुभ-दोनों ही कृष्ण भक्ति के बाधक हैं। श्रीकृष्ण माधुर्य आस्वादन का एक मात्र हेतु है—श्रीकृष्ण-कृपा। और श्रीकृष्णकृपा का एक मात्र हेतु है—महत्कृपा। इसलिये महत्कृपा प्राप्ति रूप कार्य ही कृष्ण-कृपा-हेतु पुण्य है। अर्थात् जिसको महत्कृपा की प्राप्ति होती है, उस पर श्रीकृष्ण-कृपा होती है। उस श्रीकृष्ण-कृपा से श्रीकृष्ण के माधुर्य आस्वादन का सौभाग्य मिलता है जिसको ऐसा सौभाग्य मिलता है—वही सुकृति है।

अथवा कृष्ण-कृपा का जो हेतु-भूत पुण्य है, वह भी कृष्ण-कृपा-हेतु पुण्य कहा जा सकता है। सूर्य-किरणों की भान्ति श्रीकृष्ण-कृपा सब पर समान भाव से वर्षित हो रही है, तो भी सब उसका अनुभव नहीं कर पाते हैं। सब के चित्त में उसकी स्फूर्त्ति नहीं हो पाती। जिसके द्वारा कृष्ण-कृपा हृदय में स्फुरित हो, वह कृष्ण-कृपा हेतु-भूत पुण्य कहा जा सकता है। महत्कृपा के आश्रित होकर शुद्ध भक्ति के अनुष्ठान से चित्त में कृष्ण-कृपा के स्फुरण की योग्यता प्राप्त होती है। इसलिये महत्कृपा-पुष्ट जो शुद्ध भक्ति का अनुष्ठान है, उसे कृष्ण-कृपा हेतु-पुण्य कहा जा सकता है। सारांश यह है कि जिस को महत्कृपा की प्राप्ति हुई है, उसके आश्रित होकर शुद्ध भक्ति का अनुष्ठान करते करते जिसके हृदय में कृष्ण-कृपा का स्फुरण हुआ है, वही श्रीकृष्ण-माधुर्य का आस्वादन कर सकता है और वही सुकृति है।

मध्याह्न करिया कैल भिक्षा निर्वाहन। कृष्णाधरामृत सदा अन्तरे स्मरण ॥९५॥
बाह्ये कृत करे, प्रेमे गरगर मन। कष्टे संवरण करे आवेश सघन ॥९६॥
सन्ध्याकृत्य करि पुन निजगण सङ्ग। निभृते वसिल नानाकृष्ण कथा रङ्गे ॥९७॥
प्रभुर इङ्गिते गोविन्द प्रसाद आनिला। पुरी भारतीरे प्रभु किछु पाठाइला ॥९८॥
रामानन्द—सार्वभौम—स्वरूपादिगण। सभारे प्रसाद दिल करिया वण्टन ॥९९॥
प्रसादेर सौरभ्य-माधुर्य करि आस्वादन। अलौकिकास्वादे सभार विस्मित हैल मन॥१००॥

घर आकर प्रभु ने मध्याह्न कृत्य करके भोजन किया। श्रीकृष्ण अधरामृत की स्मृति सदा उनके हृदय में बनी रही, बाहर तो वे सब काम करते रहे किन्तु उनका मन प्रेम में विह्वल हो रहा था। प्रभु उस प्रेमावेश को बड़े यत्न से संवरण किये हुए थे। प्रभु ने सन्ध्या का कृत्य किया, फिर अपने भक्तों के साथ एक निभृत स्थान पर बैठ कर श्रीकृष्ण कथा-रस का आस्वादन करने लगे। प्रभु ने इशारा किया तब श्रीगोविन्द उस गोपाल-वल्लभ प्रसाद को ले आया। श्रीमहाप्रभु जी ने उसमें से कुछ प्रसाद श्रीपरमानन्द पुरी एवं श्रीब्रह्मानन्द भारतीजी को भिजवा दिया। फिर प्रभु ने उस महाप्रसाद को राय रामानन्द, श्रीसार्वभौम, श्रीस्वरूप दामोदर आदि सब भक्तों में बाँट दिया। उस प्रसाद के सौरभ्य एवं माधुर्य का आस्वादन सब ने किया। उसके अलौकिक स्वाद में सब का मन विस्मित हो उठा।

प्रभु कहे—एइ सब प्राकृत द्रव्य। ऐक्षव कर्पूर मरिच एलाचि लङ्ग गव्य ॥१०१॥
रसवास गुड़त्वक् आदि यत सब। प्राकृत वस्तुर स्वादु, सभार अनुभव ॥१०२॥
सेइ द्रव्येर एइ स्वादु, गन्ध लोकातीत। आस्वाद करिया देख सभार प्रतीत ॥१०३॥
आस्वाद दूरे रहु, यार गन्धे माते मन। आपना विनु अन्य माधुर्य कराय विस्मारण॥१०४॥
तातें एइ द्रव्ये कृष्णाधर स्पर्श हैल। अधरेर गुण सब इहाते सञ्चारिल ॥१०५॥
अलौकिक गन्ध स्वादु, अन्य विस्मारण। महामादक एइ कृष्णाधरेर गुण ॥१०६॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"इक्षु-जात गुड़, कर्पूर मरिच, एलायची, लवंग, घी, दूधादि, कवाव चीनो, दारु चीनी आदि ये सब वस्तुएं प्राकृत हैं, जिन से गोपाल-वल्लभ भोग तैयार किया गया है और फिर इन सब द्रव्यों के स्वाद को भी हम सब जानते हैं। किन्तु इन्हीं सभी वस्तुओं का ऐसा अलौकिक स्वाद एवं ऐसी अलौकिक गन्ध हैं, यह बात सब ने आस्वादन करके निश्चित की है। आस्वाद तो दूर की बात है, इसकी सुगन्ध में ही मन उन्मत्त हुआ जा रहा है। यह प्रसाद अपने व्यतीत अन्य सब पदार्थों के स्वाद को भुला दे रहा है—इसका क्या कारण है?" प्रभु ने आगे कहा, "इसलिये यह निश्चित बात है कि इन द्रव्यों को श्रीकृष्ण अधरों का स्पर्श प्राप्त हुआ है, अतः श्रीकृष्ण अधर के जितने गुण हैं, वे सब इस प्रसाद में संचारित हो गये हैं। इसलिये इसके अलौकिक गन्ध और स्वाद हैं जो और सब स्वादों को भुला देते हैं—इतनी महामादकता! यह श्रीकृष्णाधर ही का गुण है।

चै० च० चु० *टीका:*—भक्ति शास्त्रों का सिद्धान्त है कि प्रेम पूर्वक श्रीकृष्ण को निवेदित होने पर प्राकृत वस्तु भी अप्राकृत हो जाती है, गुणातीत वस्तु को ही श्रीभगवान् सदा ग्रहण करते हैं, गुणमय या प्राकृत वस्तु से उनकी तुष्टि होना सम्भव भी नहीं है। श्रीभगवान् को शुद्ध भक्ति सहित कोई वस्तु जब भी निवेदित की जाती है, उसी क्षण ही उसका प्राकृतत्व नष्ट हो जाता है। वह चिन्मय या गुणातीत हो जाती है, तब उसे श्रीभगवान् भक्त की इच्छा पूर्ति के लिये ग्रहण कर लेते हैं—वे भक्तवत्सल हैं न!

श्रीभगवान् दो प्रकार से भक्त द्वारा निवेदित वस्तु को ग्रहण करते हैं। एक तो उसे दृष्टि द्वारा अङ्गीकार करते हैं। जैसा कि श्रीब्रह्मपुराण में श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है—

नैवेद्यं पुरतो न्यस्तं दृष्ट्वैव स्वीकृतं मया।
भक्तस्य रसनाग्रेण रसमश्नामि पद्मज ॥ह॥

श्रीभगवान् ने कहा है—"हे ब्रह्माजो! मेरे सामने जो नैवेद्य उपस्थित किया जाता है, उसे मैं दृष्टि द्वारा अङ्गीकार कर लेता हूँ और फिर उसे जब भक्त भोजन करता है, उसकी जिह्वा के अग्र भाग पर मैं स्थित होकर उसका आस्वादन किया करता हूँ।

दूसरे—श्रीभगवान् उस नैवेद्य को भोजन करकेभी अङ्गीकार करते हैं,जैसा कि श्रीमद्भागवत (१०-८१-४) में कहा गया है:—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥क्ष॥

श्रीभगवान् कहते हैं—"भक्त भक्ति पूर्वक मुझे जो कुछ भी देता है, वह पत्र हो या पुष्प हो, फल हो या जल ही हो, जो कुछ भी क्यों न हो, उस संयतात्मा अर्थात् विशुद्ध चित्त भक्त की भक्ति के

सहित निवेदित उस समस्त वस्तु को मैं प्रीति पूर्वक (अश्नामि) भोजन करता हूँ।" (श्रीगीता जी में ९-२५) में भी यही बात कही गई है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है—श्रीमन्महाप्रभु जी तो प्रति-दिन ही श्रीजगन्नाथ जी का महाप्रसाद ग्रहण करते थे, किन्तु इस दिन महाप्रसाद का जो अपूर्व स्वाद एवं सुगन्ध प्रभु बखान कर रहे थे और तो कभी प्रभु ने ऐसा नहीं किया। इस से यह ज्ञात होता है सब दिन निवेदित वस्तु को श्रीभगवान् का अधर स्पर्श नहीं होता होगा—उसे वे नहीं खाते होंगे, किसी-किसी दिन उसे केवल दृष्टि से ही अङ्गीकार कर लेते होंगे ?

उत्तर—एक बात तो यह है कि जो वस्तु भक्ति सहित श्रीभगवान् को अर्पण की जाती है, केवल उसे ही वे अङ्गीकार करते हैं, जो भक्ति सहित अर्पित नहीं की गई है, उस वस्तु को श्रीभगवान् कभी अङ्गीकार नहीं करते हैं। दूसरी बात यह है कि जो लोग किसी अन्य देवता के भक्त हैं, वे यदि श्रीकृष्ण को कुछ अर्पण करते हैं तो उनकी निवेदित वस्तु को भी वे अङ्गीकार नहीं करते हैं, कारण कि भक्ति-प्रभाव से उनका चित्त विशुद्धता को लाभ नहीं करता, इसलिये कि अन्य देवताओं की भक्ति शुद्धा-भक्ति का अङ्ग नहीं है।

इन दोनों बातों को ध्यान में रख कर उपर्युक्त प्रश्न का एक तो उत्तर यह हो सकता है कि जिस दिन श्रीमहाप्रभु जी ने महाप्रसाद का गुण वर्णन किया है, उस दिन जिसने श्रीजगन्नाथ जी को भोग निवेदित किया था. उसने भक्ति-पूर्वक भोग निवेदन किया था और वह था भी विशुद्धाभक्ति-पूर्ण भक्त अर्थात् वह किसी अन्य देवता का भक्त नहीं था। इसलिये उस भोग को श्रीभगवान् ने अङ्गीकार किया था और उस में अपने अधरामृत का सञ्चार किया था।

किन्तु यह बात भी यहाँ स्वीकार नहीं की जा सकती कि अन्यान्य दिन निवेदित भोग को श्रीजगन्नाथ जी अङ्गीकार नहीं करते थे या उनके भक्त-पुजारी भक्ति-पूर्वक विशुद्ध भक्ति-पूर्ण चित्त से भोग नहीं लगाते थे। उस दिन जो श्रीमहाप्रभु 'फेलालव' 'फेलालव' कह रहे थे या प्रसाद का अपूर्व स्वाद एवं गन्ध अनुभव कर रहे थे, उसका विशेष कारण था—उनकी आवेश-वैचित्री। जिस दिन जैसा आवेश श्रीमहाप्रभु जी को होता, उसके अनुसार ही उन्हें उस दिन अनुभव हुआ करता था। प्रभु जिस दिन वंशीधारी श्रीकृष्ण के चिन्तन में आविष्ट रहते, उन्हें उस दिन श्रीजगन्नाथ जी वंशीधारी श्रीकृष्ण रूप में ही दीखते, जिस दिन उन्हें कुरुक्षेत्र मिलन-लीला का आवेश होता, उस दिन उन्हें श्रीजगन्नाथ व्रज-गोपियों के बीच खड़े हुए श्रीद्वारकानाथ ही दीखते। आवेश के पार्थक्यानुसार उनके अनुभव में भी पार्थक्य रहता था। उस दिन ज्ञात होता है, प्रभु श्रीकृष्णाधरामृत के स्वाद एवं सुगन्ध के भाव में आविष्ट थे, इसीलिये उन्हें उस दिन ऐसा अनुभव हुआ।

जैसा कि प्रसङ्ग से ज्ञात होता है, श्रीमहाप्रभु जी ने उस दिन गरुड़स्तम्भ के पीछे रह कर श्रीजगन्नाथ जी के वंशी अधरधारी श्रीकृष्ण रूप में दर्शन किये थे। उस दिन वंशी-अधरधारी श्रीकृष्ण का ही उन्हें आवेश था, उसी बीच गोपाल वल्लभ-नामक भोग लगा था। उसी आवेश में ही उन्हें पुजारी ने माला-प्रसाद लाकर दिये थे। इसलिये प्रभु का आवेश उस दिन श्रीकृष्ण अधरामृत विषय में ही प्रधान था, जिससे उन्हें उसके अलौकिक स्वाद एवं गन्ध अनुभव हुए एवं वे उसका गुण गान करने लगे।

अन्यान्य भक्तों को भी उस दिन जो अलौकिक स्वादादि अनुभव हुए, वह श्रीमहाप्रभु जी की कृपाशक्ति का प्रभाव था। श्रीमहाप्रभु जी की इच्छा हुई कि मेरे सब भक्त भी आज इस प्रसाद का

अलौकिक रूप में अनुभव करें—उसी के फल स्वरूप सब भक्तों को भी उस प्रसाद का अलौकिक स्वाद अनुभव हुआ।

एक बात और भी है, यह कहना भी सङ्गत नहीं दीखता कि श्रीमहाप्रभु जी को अन्यान्य दिन श्रीमहाप्रसाद का ऐसा अनुभव नहीं होता था जैसा उस दिन हुआ। श्रीमहाप्रभु जी को उस महाप्रसाद का नित्य ही ऐसा अनुभव होता था, किन्तु वे उस भाव को संवरण कर जाते हों, बाहर में उसका प्रकाश न करते हों, यह भी सम्भव है और यह भी सम्भव है कि अन्यान्य दिन प्रभु को ऐसा आवेश होता हो, किन्तु श्रीकविराज गोस्वामी जी ने उसी एक दिन के आवेश जनित भाव का दिग्दर्शन कराया हो।

सारांश यह है कि भक्ति-पूर्वक निवेदित किया हुआ पदार्थ श्रीभगवान् आस्वादन करते हैं एवं उसमें अपना अधरामृत सञ्चार करते हैं। जिन का मन महत्कृपा से विशुद्ध भक्ति को प्राप्त कर चुके हैं वही भाग्यवान् भक्त ही उस महाप्रसाद के अलौकिक माधुर्य का आस्वादन कर पाते हैं और उसका आस्वादन करने से उनका ही मन प्रेमोन्मत्त हो उठता है।

अनेक सुकृते इहार हञाछे सम्प्राप्ति। सभेइ आस्वाद कर करि महाभक्ति ॥१०७॥

हरि ध्वनि करि सभे कैल आस्वादन। आस्वादिते प्रेमे मत्त हैल सभार मन ॥१०८॥

प्रेमावेशे महाप्रभु यबे आज्ञा दिला। रामानन्द राय श्लोक पढ़िते लागिला ॥१०९॥

श्रीमहाप्रभु जी ने आगे कहा—"अनेकानेक पुण्यों से इस महाप्रसाद की प्राप्ति हुई है, आप लोग सब महान् श्रद्धा पूर्वक इसका आस्वादन कीजिये।" सब ने हरि-ध्वनि करते हुए उस प्रसाद का आस्वादन किया और आस्वादन करते ही सब का मन प्रेम में उन्मत्त हो उठा। तब प्रेमावेश में श्रीमहाप्रभु जी ने राय रामानन्द जी को श्लोक पढ़ने की आज्ञा दी। वे निम्नलिखित श्लोक पढ़ने लगे ॥१०७-१०९॥

तथाहि (भा: १०-३१-१४)—

सुरतवर्द्धनं शोकनाशनं स्वरित वेणुना सुष्ठुचुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥९॥

व्रज सुन्दरियों ने कहा है—"हे वीर! आप का जो अधरामृत सुरत वर्द्धनकारी है अर्थात् प्रेम विशेषमय मिलनेच्छा वर्द्धनकारी है एवं जो अधरामृत आपके विरह दुखानुभव को भी भुला देने वाला है और जिसे बजते समय आपकी वेणु सुन्दर रूप से चुम्बन करती है—आस्वादन करती है, तथा जो अन्यान्य वस्तुओं की आसक्ति को हटा देने वाला है, वही अपना अधरामृत आप हमें प्रदान कीजिए।

श्लोक शुनि महाप्रभु महातुष्ट हैला।
राधार उत्कण्ठा-श्लोक पढ़िते लागिला ॥११०॥

इस श्लोक को सुन कर श्रीमहाप्रभु जी बहुत ही प्रसन्न हुए एवं श्रीराधा जी की उत्कण्ठा का श्लोक पढ़ने लगे ॥११०॥

तथाहि गोविन्दलीलामृते (८-८)—

व्रजातुल कुलाङ्गने तररसालितृष्णाहरः
प्रदीव्य दधरामृतः सुकृतिलभ्यफेलालवः।

सुधाजिदहिवल्लि कासुद लवीटिका चर्वितः ।
स मे मदनमोहनः सखि तनोति जिह्वास्पृहाम् ॥१०॥

श्रीराधा जी ने श्रीविशाखा जी से कहा है—"हे सखि ! जो अपने अधरामृत द्वारा अतुलनीया व्रज कुलाङ्गनाओं की अन्य रस सम्बन्धीय तृष्णा को (अर्थात् श्रीकृष्ण सङ्ग व्यतीत अन्यान्य कामना को) हरण करने वाले हैं, जिनका अधरामृत प्रकृष्ट रूप से दीप्ति प्राप्त कर रहा है (अर्थात् जो सर्व चित्ताकर्षक है) जिसके अधरामृत का फेलालव सुकृतिलभ्य है (अर्थात् जिनका उच्छिष्ट-कणिका महत् कृपा या कृष्ण-कृपा प्राप्ति रूप सौभाग्य उदय होने पर प्राप्त हो सकता है) जिनका चर्वित ताम्बूल सुधा की अपेक्षा भी अधिक सुस्वादु—मधुर है, हे सखि ! वही श्रीमदनमोहन मेरी जिह्वा को स्पृहा को वर्द्धन कर रहे हैं ॥ १० ॥

एत कहि गौर प्रभु भावाविष्ट हञा ।
दुइ श्लोकेर अर्थ करे प्रलाप करिया ॥१११॥

इतना कहते-कहते श्रीगौराङ्ग भावाविष्ट हो उठे और पूर्ववर्त्ती दोनों श्लोकों के अर्थों को प्रलाप में वर्णन करने लगे ॥१११॥ यथारागः—

तनु–मन करे क्षोभ, बाढ़ाय सुरत–लोभ, हर्ष शोकादि-भाव विनाशय ।
पासराय अन्यरस, जगत् करे आत्मवश, लज्जा धर्म धैर्य्य करे क्षय ॥११२॥

श्रीकृष्ण का अधरामृत तन-मन में चञ्चलता उत्पन्न कर देता है, वह श्रीकृष्ण के साथ मिलनेच्छा को वर्द्धन कर देता है और हर्ष-शोकादि अन्यान्य सब भावों को नष्ट कर देता है। श्रीकृष्ण सङ्ग व्यतीत अन्यान्य कामनाओं को भुला देता है, वह इतना सुमधुर है कि समस्त जगत् को अपने वश में कर लेता है, और ऐसी उन्मत्तता उत्पादन करता है कि लोक लाज, कुल-धर्म, देह-धर्म, वेद-धर्म एवं धैर्य्यादि सब को परे फेंक देता है ॥११२॥

नागर ! शुन तोमार अधर–चरित ।
माताय नारीर मन, जिह्वा करे आकर्षण, विचारिते सब विपरीत ॥ध्रु॥११३॥
आछुक नारीर काज, कहिते वासिये लाज, तोमार अधर बड़ धृष्टराय ।
पुरुषे करे आकर्षण, आपना पियाइते मन, अन्य रस सब पासराये ॥११४॥

राधा-भावाविष्ट श्रीमन्महाप्रभु जी रसिक शेखर श्रीकृष्ण को ही सम्बोधन करते हुए कहते हैं—"हे नागर ! आप अपने अधर का चरित तो सुनिए। आपकी अधर-सुधा नारियों के मन को उन्मत्त कर देती है। (अन्यान्य मादक द्रव्य तो पीने से उन्मत्तता उत्पन्न करते हैं, किन्तु यह पान करने की लालसा के उठते ही मादकता प्रदान करता है।) पान कराने के निमित्त वह नारीगणों की जिह्वा को आकर्षण करता है। विचार से देखा जाए तो इसकी सब करनी विपरीत ही है। वह नारियों को अपनी ओर आकर्षण करता है—यह गुण तो उसमें है ही, किन्तु मुझे कहते हुए लज्जा आती है, कि वह ऐसा निर्लज्ज-चूड़ामणि है कि पुरुषों के मन को भी, अपना आस्वादन कराने के लिए अपनी ओर आकर्षण करता है। उनको भी अन्य कामनाएँ भुलवा देता है—यह है इस की विपरीत एवं विचित्र कथा।"

सचेतन रहु दूरे, अचेतन सचेतन करे, तोमार अधर बड़ बाजिकर।
तोमार वेणु शुष्केन्धन, तार जन्माय इन्द्रिय-मन, तारे आपना पियाय निरन्तर ॥११५॥
वेणु धृष्ट पुरुष हञा, पुरुषाधर पिञा पिञा, गोपीगणे जानाय निज पान।
अहो शुन गोपीगण!, वले पिङ तोमार धन, तोमार यदि थाके अभिमान ॥११६॥
तबे मोरे क्रोध करि, लज्जा भय धर्म छाड़ि, छाड़ि दिमु करसिञा पान।
नहे पिमु निरन्तर, तोमारे मोर नाहि डर, अन्ये देखों तृणेर सम्मान ॥११७॥

"नागर! तुम्हारा अधरामृत वड़ा बाजीगर—जादूगर है, सचेतन (चैतन्य-जीवादि) वस्तुओं की तो क्या बात, वह अचेतन (जड़) वस्तुओं को भी सचेतन कर देता है। तुम्हारा वेणु एक शुष्क लकड़ी ही तो है, उसमें भी यह इन्द्रिय और मन जन्मा देता है और उसे निरन्तर अपना आस्वादन कराता है। तुम्हारा वेणु एक धृष्ट पुरुष हे, (तुम पुरुष हो, हम नारियां हैं, तुम गोप हो हम गोपियाँ हैं, तुम्हारे अधरामृत का एक मात्र अधिकार हमें है—किन्तु वह वंश जातीय होकर फिर) पुरुष होकर पुरुष का (तुम्हारा) अधरामृत पान करता है। (कितनी धृष्टता की बात है? फिर यह बात भी नहीं कि वह अपनी इस धृष्टता को कुछ गोपन रखे, वह ऐसा निर्लज्ज है कि) पुरुष का अधरामृत पी-पी कर हम गोपियों को उसे जनाता है और पुकार पुकार कर हमें इस प्रकार कहता है—"अहो गोपिगण! सुनो (श्रीकृष्ण के अधर रस में तुम्हारा ही अधिकार है, किन्तु उसे तुम्हें न देकर) मैं ही उस अधर रस का बल पूर्वक पान कर रहा हूँ, तुम में यदि कुछ अभिमान है, या कुछ बल है तो आओ, मुझ पर क्रोध करलो, लज्जा, भय, धर्म—इन सब को छोड़ कर आजाओ। तुम यदि आजाओगी तो मैं उसे छोड़ दूंगा, तुम ही आकर पान करना, वरन् मैं तो निरन्तर उसका पान करता ही रहूँगा, मुझे तुम्हारा कुछ भय नहीं हैं, मैं तो और सब को तृण के समान तुच्छ समझता हूँ।" ऐसे कहता है तुम्हारा वेणु।

अधरामृत निज स्वरे, सञ्चारिया सेइ बले, आकर्षये त्रिजगतेर जन।
आमरा धर्मभय करि, रहि यदि धैर्य धरि, तबे आमार करे विडम्बन ॥११८॥
नीवि खसाय गुरु-आगे, लज्जा धर्म कराय त्यागे, केशे धरि येन लञा याय।
आनि करे तोमार दासी, शुनि लोके करे हासि, एइमत नारीरे नाचाय ॥११९॥

"हे कृष्ण! तुम्हारा वेणु अपने स्वर में तुम्हारे अधरामृत को सञ्चारित करके उसी बल पर त्रिभुवन के मन को आकर्षण करता है। हम यदि अपने कुल धर्म के भय वश धैर्य्य धारण कर घर में रही आती हैं, (तुम्हारे पास नहीं आती हैं,) तो तुम्हारा वेणु हमारी ऐसी विडम्बना—दुर्गति करता है कि (सास-ननद) गुरुजनों के सामने हमारे नीवि बन्धन को ढीला कर देता है। हमारा सब शर्म-धर्म त्याग करा देता है, यहाँ तक कि मानो हमारे केश पकड़ कर वह हमें तुम्हारे पास खींच लाता है और तुम्हारे चरणों में पटक कर हमें तुम्हारी दासी वना देता है। नागर! लोग जब यह बात सुनते हैं तो हमारी हंसी होती है। इस प्रकार तुम्हारे अधर-रस को पान करके तुम्हारा वेणु हमें नाच नचाता है" ॥११८—११९॥

शुष्कवांशेर काठिखान, एत करे अपमान, एइ दशा करिल गोसाञि।
ना सहि कि करिते पारि, ताहे रहि मौन धरि, चोरार माके डाकि यैछे कान्दिते नाइ ॥१२०॥

अधरेर एइ रीति, आर शुनह कुनीति, से-अधर सने यार मेला।
सेइ भक्ष्य भोज्य पान, हय अमृत समान, नाम तार हय 'कृष्ण-फेला' ॥१२१॥
से फेलार एक लव, ना पाय देवता सब, [ए दम्भे केवा पातियाय।
हु जन्म पुण्य करे, तबे सुकृति नाम धरे, से सुकृति तार लव पाय ॥१२२॥

राधाभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु आगे कहते है—"हे गोसाईं! तुम्हारा वेणु एक सूखे बांस का टुकड़ा ही तो है, हमारा इतना अपमान! (घर से हमें केश पकड़ कर तुम्हारे पास घसीट लाता है, समस्त धैर्य्य-लज्जा त्याग करा देता है?) हमारी यह दशा! यह हम सहन नहीं कर सकती हैं। किन्तु क्या करें? चुप ही रही आती हैं, जैसे चोर की माता उच्च स्वर से अपने पुत्र का नाम लेकर रो नहीं सकती। (अर्थात् यदि चोर की मां उच्च स्वर से रोने लगे तो सब जान जाते हैं कि निश्चय ही इस के पुत्र ने चोरी की है, अतः वह चुप रह कर सब दुःख सहा करती है। उसी प्रकार हम भी इस सूखे बांस के टुकड़े के किये हुए सब अपमानादि को चुप करके सहन किया करती हैं, कि कहीं लोग हमारा परिहास न करें कि कुलवती होकर, नारी होकर पर-पुरुष का अधरामृत पान करने के लिये समस्त त्याग कर भाग रही हैं।) हे नागर! यह सब तुम्हारे अधर का आचरण है। एक और कुनीति सुनो इस अधर का सङ्ग करने वाले की। जो कुछ भी तुम खाते-पीते हो वह समस्त तुम्हारे अधर का सङ्ग पाकर अमृत के समान हो जाता है, वह तुम्हारा उच्छिष्ट पदार्थ फिर 'कृष्ण-फेला' नाम धारण कर लेता है। उस 'कृष्ण-फेला' का एक कणिका मात्र भी देवताओं को प्राप्त नहीं होता है—इस के दम्भ का भला कौन विश्वास करेगा? (तुम्हारे अधर का सङ्ग पाकर वह पदार्थ अपने को 'कृष्णफेला' कहलवाता है और देवताओं को भी अपने प्राप्त करने योग्य नहीं समझता है—यह दम्भ नहीं है तो और क्या है?) वह इतना अभिमान करता है कि जो अनेक जन्म तक पुण्य करे (शुद्ध-प्रेम-भक्ति का अनुष्ठान का-रूप सत्कर्म करे) वह सुकृति व्यक्ति ही उस कृष्ण-फेला का कणिका प्राप्त करता है ॥१२०—१२२॥

कृष्ण ये खाय ताम्बूल, कहे तार नाहि मूल, ताहे आर दम्भ परिपाटी।
तार येवा उद्गार, तारे कय अमृत-सार, गोपीर मुख करे आलवाटी ॥१२३॥
ए सब तोमार कुटिनाटि, छाड़ एइ परिपाटी, वेणु द्वारे काहे हर प्राण।
आपनार हासि लागि, नह नारीर वध भागी, देह निजाधरामृत पान ॥१२४॥

"हे नागर कृष्ण! तुम जो पान खाते हो, वह तुम्हारे अधर का सङ्ग पाकर एक अनोखे दम्भ को धारण कर लेता है, वह कहने लगता है—"मैं अमूल्य वस्तु हूँ।" जिसे तुम चबा कर थूक देते हो या फैंक देते हो, वह अपने को अमृत का सार कहलवाने लगता है। (वह फिर पीकदानी में भी नहीं जाना चाहता) ऐसा दम्भ! गोपियों के (हमारे) मुख को ही वह पीकदानी बना लेता है। किन्तु यह सब तुम्हारी ही कुटिलता है, (तुमही अपने अधर द्वारा यह सब कराते हो) यह सब कुनीति तुम छोड़ दो। उस सूखे बांस के वेणु द्वारा हमारे प्राण क्यों हरण करते हो? अपने कौतुक-आनन्द के लिए हम नारियों के वध के भागी मत बनो।" (तुम्हारा तो कौतुक हो जाता है और हमारे प्राण जाते हैं।) ऐसा कहते कहते राधाभावाविष्ट प्रभु क्रोध छोड़ कर प्रेम से कहने लगते हैं—"नागर! प्राण प्रिये! तुम अपना अधरामृत मुझे पान कराओ न।" ॥१२३—१२४॥

कहिते कहिते प्रभुर भाव फिरि गेल। क्रोध-अंश शान्त हैल उत्कण्ठा बाढिल ॥१२५॥
परम दुर्लभ एइ कृष्णाधरामृत। ताहा येइ पाय, तार सफल जीवित ॥१२६॥
योग्य हञा ताहा केहो करिते ना पाय पान। तथापि निर्लज्ज सेइ वृथा धरे प्राण ॥१२७॥
अयोग्य हञा ताहा केहो सदा पान करे। योग्यजन नाहि पाय, लोभे मात्र मरे ॥१२८॥
ताहे जानि, कोन तपस्यार आछे वल। अयोग्येरे देयाय कृष्णाधरामृत-फल ॥१२९॥
कह रामराय! किछु शुनिते हय मन। भाव जानि पढ़े राय गोपिकार वचन ॥१३०॥

(श्रीमन्महाप्रभु जी इस प्रकार भ्रमाभा-वैचित्रीयुक्त दिव्योन्माद में प्रलाप कर रहे थे। प्रभु के मन में क्रोध एवं उत्कण्ठा—दोनों ही थे।) अधररस का माधुर्य वर्णन करते करते उनके मन से क्रोध भाव हट गया और उत्कण्ठा प्रवल हो उठी। उनके भावों में प्रवर्त्तन हो गया। श्रीमहाप्रभु जी कहने लगे—"श्रीकृष्ण का अधरामृत पान दुर्लभ है, जिनको वह प्राप्त होता है, जीवन उसी का सफल है। उसके योग्य होकर भी कोई कोई उसका पान नहीं कर सकता है, तथापि वह निर्लज्ज होकर वृथा प्राण धारण करता है। और कोई कोई अयोग्य होकर भी उस अधरामृत का सदा पान करता है। योग्यजन उसे न पाकर उसकी लालसा में ही मरा करता है। इससे ज्ञात होता है कि उस अयोग्य व्यक्ति की भी कोई तपस्या है, जिसके फल से उसे श्रीकृष्ण-अधरामृत की प्राप्ति हो रही है। रामानन्द! तुम कुछ कहो न, मेरा मन तुम से कुछ सुनना चाहता है।" प्रभु के भावों को जान कर श्रीरामानन्द राय गोपिकाओं के वचन सुनाने लगे ॥१२५—१३०॥

चै० च० चु० *टीका*:—श्रीमहाप्रभु जी ने ऊपर के पयारों में कहा है कि कोई योग्य होकर भी श्रीकृष्णाधरामृत का पान नहीं कर पाता है और कोई अयोग्य होकर भी उसका आस्वादन करता है—इस उक्ति से यह ध्वनित होता है कि प्रभु ने कहा—"श्रीकृष्ण गोप हैं और मैं (राधा) भी एक गोपी हूँ, इसलिये मैं उस अधरामृत पान करने की योग्य पात्री हूं, किन्तु इस वेणु के अत्याचार से उसे मैं पान नहीं कर सकती हूँ। और वेणु एक शुष्क बांस है, प्राण हीन है, वह श्रीकृष्णाधरामृत के सर्वथा अयोग्य है, किन्तु वह सदा उसका पान करता है।" प्रभु ने कहा—"इसलिए ज्ञात होता है कि इस बाँस ने कोई तपस्या की है, जिसके फल से वह इस सौभाग्य को प्राप्त करता है।" इन बातों में प्रभु को कुछ बाह्य ज्ञान हुआ, तब उन्होंने श्रीरामानन्द राय से श्लोक पढने को कहा और वे निम्नलिखित श्लोक पढ़ने लगे:—

तथाहि (भा: १०-२१-९)

गोप्य: किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुर्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्ट रसं ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्य्या: ॥११॥

श्रीकृष्ण की वेणु माधुरी सुन कर एक व्रज-ललना ने कहा—"हे गोपीगण! इस वेणु ने क्या अनिर्वचनीय पुण्याचरण किया है, हम नहीं जानती हैं, क्योंकि यह वेणु गोपियों के भोग्य योग्य श्रीकृष्ण की अधर-सुधा स्वयं यथेष्ट भाव से विशेष रूप से पान करता है, (इसका और भी सौभाग्य देखिये कि) जैसे आर्य वृद्ध गण आनन्दाश्रु वर्षण करते हैं एवं रोमाञ्चित होते हैं, उसी प्रकार

ह्रदिनी (तलाइयाँ) भी इस वेणु को देख कर रोमाञ्चित होती हैं एवं तरुगण भी आनन्दाश्रु वर्षण करते हैं ॥११॥

चै० च० चु० *टीका*:—जैसे किसी कुल में कोई भगवद्भक्त उत्पन्न हो, उसके भक्ति-आचरण को देख कर उस कुल के आर्य वृद्धगण अथवा माता-पिता आनन्दित होते हैं, रोमाञ्चित होते हैं, ब्रजगोपी ने कहा—"तालाब-तलाई जिन के जल से बांस पुष्ट होता है। वे बांस के अथवा इस वेणु के माता-पिता आर्यगण हैं। वेणु को श्रीकृष्णाधरामृत पान करता देख कर वे तालाब-तलाई रोमाञ्चित हो उठते हैं—उनमें जो कमल विकसित होते हैं, वही उनके रोम हैं, जो प्रफुल्लित—रोमाञ्चित हो रहे हैं। और जो वृक्षादि हैं, वह वेणु के बान्धवगण हैं, वे भी अपने बान्धव वेणु के सौभाग्य को देख कर आनन्दाश्रु बहाते हैं। उनसे जो मधुधारा प्रवाहित हो रही है, वही मानों उनके आनन्दाश्रु हैं। इस श्लोक में गोपी ने वेणु के सौभाग्यों का वर्णन किया है।

एइ श्लोक शुनि प्रभु भावाविष्ट हञा।
उत्कण्ठाते अर्थ करे प्रलाप करिया ॥१३१॥

इस श्लोक को सुनकर श्रीमहाप्रभु जी पुनः भावाविष्ट हो उठे और उत्कण्ठा में भरकर इसके अर्थों का प्रलाप में आस्वादन करने लगे ॥१३१॥

यथाराग:-

एहो ब्रजेन्द्रनन्दन, ब्रजेर कोन कन्यागण, अवश्य करिबे परिणय।
से सम्बन्धे गोपीगण, यारे माने निजधन, से सुधा अन्येर लभ्य नय ॥१३२॥

गोपीभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"हे सखि! यह जो श्रीब्रजेन्द्रनन्दन हैं, किसी न किसी एक ब्रज-कन्या का एक दिन अवश्य पाणिग्रहण करेंगे ही, बस इसी सम्बन्ध से ही गोपीगण (हम) श्रीकृष्ण के अधरामृत को अपना धन मानती हैं, वह अधर-सुधा और किसी दूसरे को प्राप्त नहीं हो सकता ॥ १३२ ॥

चै० च० चु० *टीका*—गोपीगण कहती हैं:—श्रीकृष्ण गोप जातीय हैं, इसलिये उनका विवाह भी किसी गोप कन्या से ही होगा—वह गोप कन्या कोई हम में से ही होगी, हमारी जाति की होगी, वह श्रीकृष्ण अधर-सुधा की अधिकारिणी होगी—(क्योंकि पत्नि का ही ऐसा अधिकार होता है।) वह हमारी सजातीय होगी, गोपी होगी और हम भी गोपियाँ हैं, इस सम्बन्ध से श्रीकृष्ण अधर-सुधा को हम अपना निज धन मानती हैं। वेणु, एक तो जड़ है स्थावर जातीय है, दूसरे पुरुष जातीय है और गोप-जातीय भी नहीं है। इसलिये उस वेणु का श्रीकृष्णाधर-सुधा पर कोई अधिकार नहीं है, वह किसी को प्राप्त नहीं हो सकता।" इस त्रिपदी का यह अभिप्राय है।

गोपीगण! कह सभे करिया विचारे।
कोन् तीर्थे कोन् तप, कोन् सिद्ध-मन्त्र जप, एइ वेणु कैल जन्मान्तरे? ॥ध्रु॥१३३॥
हेन कृष्णाधर-सुधा, ये कैल अमृत मुधा, यार आशाय गोपी धरे प्राण।
ए वेणु अयोग्य अति, एके स्थावर पुरुष जाति, सेइ सुधा सदा करे पान ॥१३४॥

गोपी-भावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी श्रीस्वरूपादि भक्तगणों को भी गोपी स्वरूप जान कर कहते हैं—'हे गोपीगण ! आप सब ज़रा विचार करके तो कहो, इस वेणु ने जन्मजन्मान्तर में किस तीर्थ में जाकर कौन सी तपस्या की है, किस सिद्ध मन्त्र का जाप किया है, जिसके फल स्वरूप श्रीकृष्णाधर-सुधा का यह निरन्तर पान करता है, जिस अधर-सुधा ने अमृत को भी फीका कर दिया है, जिस की प्राप्ति की आशा में गोपीजन अपने प्राणों को धारण कर रही हैं। इस का ऐसा अधिकार कहाँ से आ गया ? एक तो यह स्थावर जातीय है (जङ्गम-चैतन्य नहीं है) फिर पुरुष जातीय है, (स्त्री जातीय नहीं हैं—स्त्रियों को ही अपने पति के अधर-सुधा का अधिकार हुआ करता है) किन्तु ऐसा होने पर भी यह कृष्णाधर-सुधा का निरन्तर पान करता है। कुछ इसका कारण अवश्य है, आप कहो न।"॥१३३-१३४॥

यार धन ना कहे तारे, पान करे बलात्कारे, पिते तारे डाकिया जानाय।
तार तपस्यार फल, देख इहार भाग्यबल, इहार उच्छिष्ट महाजने खाय ॥१३५॥
मानस गङ्गा कालिन्दी, भुवन पावन नदी, कृष्ण यदि ताते करे स्नान।
वेणुर झूटाधर-रस, हञा लोभे परवश, सेइ काले हर्ष करे पान ॥१३६॥

'सखि ! (वेणु की धृष्टता तो देखो,) कृष्णाधर-सुधा जिनका (गोपियों का) धन है, उनसे पूछ कर भी वेणु उसका पान नहीं करता है। यह बलपूर्वक ही उसका पान करता है। (चुपचाप भी ऐसा नहीं करता) गोपियों को उच्च स्वर में बुला-बुला कर, जता-जता कर उसका पान करता है। सखि ! इस की तपस्या का फल भी कैसा अद्भुत है ? इस के उच्छिष्ट को बड़े-बड़े महत्‌जन—साधन-भजन परायण व्यक्ति-गण पान करते हैं और तो क्या ? मानस-गङ्गा, कालिन्दी आदि जो भुवन पावनी नदियाँ हैं, उनमें जब श्रीकृष्ण स्नान करते हैं, उनके अधर-रस के आस्वादन करने के लोभ में वह नदियाँ भी वेणु के झूंठे किये हुए अधर-रस को आनन्दपूर्वक पान करती हैं। (श्रीकृष्ण अधरों पर वेणु का उच्छिष्ट सदा लगा ही रहता है।) उसे नदियाँ पान कर लेती हैं ॥१३५-१३६॥

ए त नारी रहु दूरे, वृक्ष सब तार तीरे, तप करे पर-उपकारी।
नदीर शेष-रस पाञा, मूल द्वारे आकर्षिया, केन पिये, बुझिते ना पारि ॥१३७॥
निजाङ्कुरे पुलकित, पुष्पहास्य विकसित, मधु-मिषे बहे अश्रुधार।
वेणुके मानि निजजाति, आर्येर येन पुत्र-नाति, वैष्णव हैले आनन्द-विकार ॥१३८॥

"गोपीगण ! (मानसीगङ्गा एवं कालिन्दी—यह तो नारि-जाति हैं, यह पुरुष-वेणु का उच्छिष्टमय कृष्णाधर-रस पान करें तो कर भी सकती हैं—) इन नारियों की बात तो रहने दो, इन नदियों के तीर पर रहने वाले जा समस्त वृक्ष समूह हैं, वे सब (सर्दी-धूप-वृष्टि आदि सब बाधाओं को सहन करते हुए) परोपकार-व्रतरूप तपस्या का खड़े-खड़े आचरण कर रहे हैं। वे अपने मूल (जड़ों) द्वारा नदियों के शेष रस को (नदियों द्वारा आस्वादन किये गये कृष्ण-अधर-रस को—नदियों के उच्छिष्ट को) आकर्षण कर पान करते हैं। सखि ! पुरुष जाति होकर, परोपकारी महान् तपस्वी होकर वे वृक्ष न जाने क्यों कृष्णाधर-सुधा का पान करते हैं, वह भी नदियों के उच्छिष्ट का, मैं तो इस रहस्य को नहीं समझ सकती हूँ। वे वृक्ष अपने अंकुरों द्वारा पुलकित हो रहे हैं। पुष्प विकसित नहीं हो रहे हैं—वे आनन्द में हँस ही रहे हैं, उनका मधु क्षुरित नहीं हो रहा है-कृष्णाधर-सुधा का पान कर प्रेमोन्मत्त होकर वे अश्रु ही

प्रवाहित कर रहे हैं। आर्य-वृद्धजन जैसे अपने पुत्र-नाती को वैष्णव हुआ देख कर आनन्दित होते हैं, उसी प्रकार वे वृक्ष भी अपनी जाति में उत्पन्न इस वेणु के सौभाग्यों को देख कर आह्लादित हो रहे हैं एवं पुलक-हास्य-अश्रु आदि—ये सब उनमें सात्त्विक-विकार ही दीखते हैं।" ॥१३७-१३८॥

वेणुर तप जानि यबे, सेइ तप करि तबे, ओ त अयोग्य, आमरा योग्यनारि।
या ना पाञा दुखे मरि, अयोग्य पिये सहिते नारि, ताहा लागि तपस्या विचारि ॥१३९॥
एतेक प्रलाप करि, प्रेमावेशे गौर हरि, सङ्गे लैया स्वरूप रामराय।
कभु नाचे कभु गाय, भावावेशे मूर्च्छा पाय, एइरूपे रात्रि-दिन याय ॥१४०॥
स्वरूप-रूप-सनातन, रघुनाथेर श्रीचरण, शिरे धरि, करि यार आश।
चैतन्यचरितामृत, अमृत हैते परामृत, गाय दीन हीन कृष्णदास ॥१४१॥

गोपी भावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—सखि! यदि मैं यह जान लूं कि उस वेणु ने अमुक तपस्या की है, तब मैं भी वही तपस्या करूंगी। वह तो अयोग्य है, हम तो नारियाँ हैं—अधर-सुधारस पान करने की अधिकारिणी हैं, किन्तु हम तो उस कृष्णाधर-सुधारस को ना पाकर दुखित होकर मरणासन्न हो रही हैं। वह अयोग्य वेणु उसे पान करता रहे—यह बात हम से सहन नहीं हो सकती है। इसलिये सब मिल कर यह पता लगाओ कि इस वेणु ने क्या तपस्या की है।" श्रीकृष्णदास कविराज कहते हैं—इस प्रकार श्रीस्वरूप दामोदर एवं राय रामानन्द जी को साथ लेकर प्रेमावेश में श्रीगौरहरि प्रलाप करते हैं, भावावेश में कभी नृत्य करते हैं, कभी गान करने लगते हैं, कभी मूर्च्छित हो पड़ते हैं, इस प्रकार उनके रात-दिन व्यतीत होते हैं। श्रीस्वरूप दामोदर, श्रीरूपगोस्वामी, श्रीसनातन-गोस्वामी एवं श्रीरघुनाथदास गोस्वामी—इन सब के चरणों को सिर पर धारण कर एक उनकी अभिलाषा करते हुए श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत जो अमृत से भी अत्यधिक मधुर अमृत के समान है, उसका दीन-हीन श्रीकृष्णदास कविराज गान करते हैं ॥१३९-१४१॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां
कालिदास प्रसाद-विरहोन्माद प्रलापो नाम
षोड़श परिच्छेदः ॥१६॥

जयगौर

अन्त्य-लीला

सप्तदश परिच्छेद

*

लिख्यते श्रीलगौरेन्दोरत्यद्भुत मलौकिकम् ।
यैर्दृष्टं तन्मुखात् श्रुत्वा दिव्योन्मादविचेष्टितम् ।।१।।

श्री श्रीगौरचन्द्र की अत्यद्भुत एवं अलौकिक दिव्योन्माद–चेष्टाओं को जिन्होंने देखा था, उन्हीं के मुख से सुन कर मैं उनका उल्लेख करता हूँ ।।१।।

[इस परिच्छेद में श्रीमन्हाप्रभु जी का सिंहद्वार पर पतन एवं दिव्योन्माद–प्रलाप आदि वर्णन किये गये हैं ।]

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौर भक्तवृन्द ।।१।।
एइ मत महाप्रभु रात्रि दिवसे । उन्मादेर चेष्टा प्रलाप करे प्रेमावेशे ।।२।।
एक दिन प्रभु स्वरूप–रामानन्द-सङ्गे । अर्द्धरात्रि गोङाइल कृष्णकथा–रङ्गे ।।३।।
यबे येइ भाव प्रभुर करये उदय । भावानुरूप गीत गाय स्वरूप महाशय ।।४।।
विद्यापति चण्डीदास श्रीगीतगोविन्द । भावानुरूप श्लोक पढ़े राय रामानन्द ।।५।।
मध्ये मध्ये प्रभु आपने श्लोक पढ़िया । श्लोकेर अर्थ करेन प्रभु प्रलाप करिया ।।६।।

श्रीश्रीचैतन्यदेव की जय हो, जय हो, श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु जी की जय हो, श्रीअद्वैताचार्य प्रभु जी की जय हो एवं श्रीगौर भक्त-वृन्दों की जय हो । इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी रात-दिन प्रेमावेश में उन्मादावस्था युक्त प्रलाप करते थे । एक दिन श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीस्वरूप एवं श्रीरामानन्द राय के साथ श्रीकृष्ण कथा–प्रसङ्ग में आधीरात बिताई । प्रभु में जब जैसा–जैसा भाव उदय होता, उसी भावानुरूप श्रीस्वरूप गोस्वामी गीत गान करते । श्रीविद्यापति श्रीचण्डीदास की पदावलि तथा श्रीगीत·गोविन्द से ही वे पदों का गान करते थे एवं श्रीराय रामानन्द जी उसी भावानुरूप श्रीमद्भागवतादि के श्लोक प्रभु को सुनाया करते । बीच–बीच में श्रीमहाप्रभुजी स्वयं भी कभी-कभी श्लोक पढ़ने लगते थे एवं प्रलाप करते हुए उन श्लोकों की व्याख्या किया करते थे ।।१-६।।

एइमते नानाभावे अर्द्धरात्रि हैला । गोसाञिरे शयन कराइ दोंहे घर गेला ॥७॥
गम्भीरार द्वारे गोविन्द करिल शयन । सब रात्रि प्रभु करे उच्चसङ्कीर्त्तन ॥८॥
आचम्बिते शुनि प्रभु कृष्णवेणु गान । भावावेशे प्रभु ताहां करिला पयाण ॥९॥
तिन द्वारे कपाट तैछे आछे त लागिया । भावावेशे प्रभु गेला बाहिर हइया ॥१०॥
सिंह-द्वारेर दक्षिणे रहे तेलेङ्गा गावीगण । ताहां याइ पड़िला प्रभु हैया अचेतन ॥११॥

इस प्रकार परस्पर कृष्ण-कथा प्रसङ्ग में आधी रात बीत गई, तब श्रीस्वरूप एवं श्रीराय रामानन्द दोनों ने श्रीमहाप्रभु जी को शयन कराई और वे दोनों अपने घर चले गए। गम्भीरा के दरवाजे पर श्रीगोविन्द सो गए। सब के चले जाने के बाद प्रभु उच्च स्वर से सङ्कीर्त्तन करते रहे। अचानक प्रभु के कानों में श्रीकृष्ण वेणु की ध्वनि सुनाई दी, उसे सुनते ही प्रभु भावावेश में वहाँ से चल पड़े। गम्भीरा के तीनों दरवाजे ज्यों के त्यों बन्द थे किन्तु प्रभु (अपनी अचिन्त्य शक्ति से) भावावेश में बाहर निकल गए। सिंह द्वार की दक्षिण की ओर तैलङ्गदेशीय गौएँ खड़ी थीं, वहाँ जाकर प्रभु बेसुद्धि होकर गिर पड़े।

एथा गोविन्द महाप्रभुर शब्द ना पाइया । स्वरूपेरे बोलाइल कपाट खोलिया ॥१२॥
तबे स्वरूप गोसाञि सङ्गे लैया भक्तगण । दीयटी ज्वालिया करे प्रभुर अन्वेषण ॥१३॥
इति-उति अन्वेषिया सिंहद्वारे गेला । गावीगण मध्ये याइ प्रभुरे पाइला ॥१४॥
पेटेर भितर हस्त पद, कूर्मेर आकार । मुखे फेन, पुलकाङ्ग, नेत्रे अश्रु धार ॥१५॥
अचेतन पड़ि आछे येन कुष्माण्ड फल । बाहिरे जड़िमा, अन्तरे आनन्द विह्वल ॥१६॥
गावी सब चौदिगे शुङ्के प्रभु-अङ्ग । दूर कैले नाहि छाड़े महाप्रभुर सङ्ग ॥१७॥
अनेक करिल यत्न, ना हय चेतन । प्रभुरे उठाइया घरे आनिल भक्तगण ॥१८॥

इधर श्रीमहाप्रभु के सङ्कीर्त्तन का शब्द न सुन कर श्रीगोविन्द उठे और दरवाजा खोल कर देखा, तो प्रभु वहाँ नहीं थे। श्रीगोविन्द ने झट श्रीस्वरूप गोस्वामी जी को बुलाया और उनके स्थान पर सब भक्तों को लेकर मशालादि जला कर प्रभु को ढूंढ़ने लगे। इधर-उधर देखने के बाद जब सब जने सिंह द्वार पर आए तो सब ने देखा प्रभु गौओं के बीच में अचेतन पड़े हुए हैं। प्रभु की क्या अवस्था थी—उनके हाथ-पाँव पेट में घुसे हुए थे, जैसे कच्छुआ का आकार होता है। उनके मुख से झाग निकल रहे थे, उनके अङ्ग पुलकित हो रहे थे एव नेत्रों से अश्रुओं की धारा प्रवाहित हो रही थी। श्रीमहाप्रभु जी संतरे की भान्ति गोलाकार अचेतन अवस्था में वहाँ पड़े हुए थे। बाहर तो वे अचेतन अवस्था में थे, किन्तु हृदय में वे आनन्द का अनुभव कर विह्वल हो रहे थे। प्रभु के चारों ओर गौएँ खड़ी-खड़ी उनके अङ्गों को सूंघ रही थीं, उन गौओं को हटाने पर भी वे प्रभु के पास से दूर नहीं हटती थीं सब भक्तों के अनेक यत्न करने पर भी श्रीमहाप्रभु जी को चेतना न हुई, अन्ततः प्रभु को उसी अचेतनावस्था में भक्त उठा कर उनके निवास स्थान पर ले आए ॥१२-१८॥

उच्च करि श्रवणे करे कृष्ण सङ्कीर्त्तन । अनेक क्षणे महाप्रभु पाइल चेतन ॥१९॥
चेतन पाइले हस्त-पद बाहिराइल । पूर्ववत् यथायोग्य शरीर हइल ॥२०॥

उठिया वसिया प्रभु चाहे इति-उति । स्वरूपे कहे, तुमि आमा आनिले कति ? ॥२१॥
वेणु शब्द शुनि आमि गेलाङ वृन्दावन । देखि,गोष्ठे वेणु बाजाय ब्रजेन्द्रनन्दन ॥२२॥
सङ्केत-वेणुनादे राधा आनि कुञ्ज घरे । कुञ्जेरे चलिला कृष्ण क्रीड़ा करिवारे ॥२३॥

सब भक्तों ने तब श्रीमहाप्रभु जी के कानों में उच्च स्वर से श्रीकृष्ण नाम सङ्कीर्त्तन करना आरम्भ किया, तब कहीं बहुत देर बाद श्रीमहाप्रभु जी को चेतना आई। चेतना आते ही प्रभु के हाथ–पांव पेट से बाहर आगये एवं उनका शरीर पूर्ववत् यथायोग्य हो गया। प्रभु उठ कर इधर–उधर देखने लगे और श्रीस्वरूप से कहने लगे—"स्वरूप ! तुम मुझे यहाँ कहाँ ले आए ? श्रीकृष्ण की वेणु ध्वनि सुन कर मैं तो श्रीवृन्दावन चला गया था, मैंने देखा—वहां गोष्ठ में श्रीव्रजेन्द्रनन्दन वेणु वजा रहे थे। वेणु की सङ्केत-ध्वनि सुन कर श्रीराधा भी उस कुञ्ज में जाने के लिए वहाँ आ पहुँची। फिर श्रीकृष्ण क्रीड़ा करने के लिए श्रीराधा को लेकर कुञ्ज में चले गए" ॥१९—२३॥

तांर पाछे-पाछे आमि करिनु गमन । तांर भूषा-ध्वनिते आमार हरिल श्रवण ॥२४॥
गोपीगण-सह विहार हास परिहास । कण्ठध्वनि उक्ति शुनि मोर कर्णोल्लास ॥२५॥
हेन काले तुमि सब कोलाहल करि । आमा इहाँ लैया आइला बलात्कारे धरि ॥२६॥
शुनिते ना पाइलुं सेइ अमृतसम वाणी । शुनिते ना पाइलुं भूषण मुरलीर ध्वनि॥२७॥
भावावेशे स्वरूपे कहे गदगद वाणी— । 'कर्ण तृषणाय मरे' पढ़ रसायन शुनि ॥२८॥
स्वरूप गोसाञि प्रभुर भाव जानिया । भागवतेर श्लोक पढ़े मधुर करिया ॥२९॥

श्रीमहाप्रभु जी ने आगे कहा—"मैं भी उनके पीछे-पीछे चला गया। श्रीराधा जी के अलङ्कारों नूपुरों की ध्वनि ने तो मेरे कानों को मोहित कर लिया। गोपीगणों के साथ श्रीकृष्ण का विहार, हास–परिहास, उनकी कण्ठ ध्वनि, उनके वचन सुन-सुन कर मेरे कान उल्लसित हो रहे थे। इतने में तुम सब ने आकर कोलाहल किया और मुझे तुम बलपूर्वक पकड़ कर यहाँ ले आए। हाय ! मैं उनकी (श्रीराधा-कृष्ण की) वह अमृतमय वाणी न सुन सका, मैं उनकी नूपुर-किंकणी एवं मुरली की ध्वनि न सुन सका।" यह कह कर प्रभु गद्-गद् वाणी से श्रीस्वरूप को कहने लगे—"स्वरूप ! मेरे कान उनके नूपुर–शब्द सुनने की तृष्णा में मरे जाते हैं—तुम कोई कर्ण रसायन–श्लोक पढ़ो न।" श्रीस्वरूप गोस्वामी प्रभु के भावों को जान कर श्रीमद्भागवत का एक श्लोक मधुर रूप से पढ़ने लगे—॥२४-२९॥

तथाहि (भा: १०-२९-४०)—

कास्त्र्यङ्ग ते कलपदामृतवेणु गीत सम्मोहितार्य्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्य सौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यविभ्रन् ॥२॥

हे अङ्ग ! (श्रीकृष्ण !) त्रिभुवन में ऐसी स्त्री कोई है, जो तुम्हारे मधुर-पदामृत युक्त वेणु-गान में मोहित होकर अपने धर्म से विचलित न होती हो ? और तो क्या, गौएँ, पक्षी, वृक्ष एवं वन के जन्तुगण तक (सब के सब तुम्हारे वेणुगान में अपने धर्म से विचलित हो जाते हैं एवं) त्रिभुवन-सौभाग्य-स्वरूप तुम्हारे इस रूप का दर्शन कर पुलकित हो उठते हैं ॥२॥

शुनि प्रभु गोपीभावे आविष्ट हैला ।
भागवतेर श्लोकेर अर्थ करिते लागिला ।।३०।।

इस श्लोक को सुन कर प्रभु पुनः गोपीभाव में आविष्ट हो उठे और श्रीभागवत जी के श्लोक का अर्थ करने लगे— ।।३०।।

यथारागः—

हैल गोपीभावावेश, कैल रासे परवेश, कृष्णेर शुनि उपेक्षा वचन ।
कृष्णेर मधुर हास्यवाणी, त्यागे ताहा सत्य मानि, रोषे कृष्णे देन ओलाहन ।।३१।।

श्रीमहाप्रभु जी गोपीभाव में आविष्ट हो उठे एवं उसी भाव में रासस्थली में अपने को प्रविष्ट देखने लगे । श्रीकृष्ण के मुख से उपेक्षा के वचन सुने एवं श्रीकृष्ण की मधुर हास्यमय वाणी को सत्य जानने लगे कि श्रीकृष्ण ने सचमुच हमें त्याग दिया है । इसलिये रोष में भर कर श्रीकृष्ण को उलाहना देने लगे ।। ३१ ।।

चै० च० चु० *टीका*:—शारदीय महारास की रजनी में श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि सुन कर गोपीगण जब बन में श्रीकृष्ण के पास पहुँची, तब उन्होंने परिहास्य करते हुए गोपियों को अपने-अपने घरों में लौट जाने का उपदेश दिया—"गोपीगण ! तुम कुल वधु हो, तुम अपने-अपने घरों को लौट जाओ और अपने पतिगण की जाकर सेवा करो, कुलवती स्त्रियों का यही धर्म है । " इस प्रकार के उपेक्षा के वचन सुन कर गोपियों को रोष-भाव जाग उठा और कहने लगी—"कृष्ण ! तुमने वेणु बजा कर हमें बन में क्यों बुलाया है ? कौन सी ऐसी स्त्री है जो तुम्हारी वेणु-ध्वनि को सुन कर कुलधर्म में स्थिर रह सके?" इस प्रकार के वचन उच्चारण करते समय जो भाव गोपियों के मन मे थे, उन्हीं भावों में प्रभु आविष्ट हो उठे । प्रभु ऐसा जान रहे थे --कि वे रासस्थली में उपस्थित हैं एवं श्रीकृष्ण मानो उनकी उपेक्षा कर रहे हैं । मन के भावों को व्यक्त करते हुए प्रभु इस प्रकार कहने लगे—

नागर ! कह तुमि करिया निश्चय ।
एइ त्रिजगत भरि, आछे यत योग्य नारी, तोमार वेणु काँहा ना आकर्षय ? ध्रु ।।३२।।
केला यत वेणुध्वनि, सिद्ध मन्त्रादि योगिनी, दूती हैया मोहे नारीर मन ।
महोत्कण्ठा बाढ़ाइया, आर्य्य पथ छाड़ाइया, आनि तोमाय करे समर्पण ।।३३।।

गोपी भावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"नागर ! तुम मन में विचार करके तो ज़रा कहो कि इस त्रिभुवन में जितनी योग्य नारियां हैं, तुम्हारी वेणु-ध्वनि किस को आकर्षण नहीं करता है ? वह सब को ही आकर्षण कर लेती है । तुम जितनी वेणु-ध्वनियाँ करते हो, वे सब सिद्ध मन्त्र योगनियों के समान हैं । वे दूतियाँ बनकर समस्त स्त्रियों के मन को मोहित कर लेती है । वे तुम्हारे मिलन की बलवती उत्कण्ठा को बढ़ा कर, समस्त आर्य-पथ, कुल-धर्म का त्याग करा देती हैं, और उन्हें तुम्हारे आगे लाकर समर्पण कर देती हें ।।३२-३३।।

चै० च० चु० *टीका* :—त्रिभुवन में जितनी योग्य नारियाँ हैं, वही श्रीकृष्ण वेणु-ध्वनि में आकर्षित होती हैं । इसका अभिप्राय यह है—जो विरुद्ध सम्पर्क युक्ता हैं अर्थात् जैसे श्रीकृष्ण की

खुड़ी (चाची) मासी आदि स्थानीया नारियां हैं, वे विरुद्ध सम्पर्क युक्ता हैं, उनमें कान्ता-भाव से श्रीकृष्ण मिलन की उत्कण्ठा नहीं होती। श्रीकृष्ण-वेणु ध्वनि सुन कर भी वे आकर्षित नहीं होती हैं। जो अनुकूल-सम्पर्क युक्ता स्त्रियां हैं, वहीं योग्य नारियां हैं उन में युवावस्था युक्त सब नारियां तो हैं ही, जो वृद्धावस्था युक्त हैं और हैं अनुकूल-सम्पर्क युक्ता, वे भी श्रीकृष्ण वेरण-ध्वनि सुन कर श्रीकृष्ण मिलन के लिये महोत्कण्ठा पूर्वक आकर्षित हो जाती हैं।

श्रीकृष्ण वेणु-ध्वनि सिद्ध मन्त्र योगिनी के समान है, इस का अभिप्राय यह है कि जैसे कोई योगिनी मन्त्र को सिद्ध कर लेने पर अलौकिक शक्ति प्राप्त कर लेता है, वैसे श्रीकृष्ण वेणु-ध्वनि भी एक सिद्ध मन्त्र योगिनी के समान अलौकिक शक्ति सम्पन्न है, जिसके कान में पड़ती है, उसे मोहित कर लेती है, एवं समस्त कुल धर्मादि को परित्याग करा देती है एवं उसे लाकर श्रीकृष्ण के समर्पण कर देती है।

धर्म छाड़ाय वेणु द्वारे, हाने कटाक्ष काम शेर, लज्जा-भय सकल छाड़ाय।
एबे आमाय करि रोष, कहि पतित्याग दोष, धार्मिक हञा धर्म शिखाय ॥३४॥
अन्य कथा अन्य मन, वाहिरे अन्य आचरण, एइ सब शठ-परिपाटी।
तुमि जान परिहास, हय नारीर सर्वनाश, छाड़ एइ सब कुटिनाटी ॥३५॥

"नागर! तुमने वेणु-ध्वनि द्वारा हमारे सब धर्म को छुड़ा दिया है, अपने कटाक्ष-रूप काम बाणों से हमारे हृदय को घायल कर रहे हो। हमारी लज्जा, कुल कान एवं भय को तुम ने ही छुड़ा दिया है। अब तुम हम पर रोष करते हो (और कहते हो तुम घर छोड़ कर यहाँ क्यों चली आई हो ?) हमें परित्याग का दोष लगाते हो और धार्मिक बन कर हमें धर्म का उपदेश देते हो—(तुम कुलवती हो, कुलवती स्त्रियों को अपने पति की सेवा करनी चाहिये—इस प्रकार हमें धर्म सिखाने लगे हो ?) कहने को मुख से कुछ कहते हो, मन में तुम्हारे कुछ और बात है, और बाहर तुम्हारा आचरण कुछ और है, कृष्ण! यह सब तुम्हारी शठों जैसी चालाकी है। तुम तो अपने जान परिहास कर रहे हो ("यहाँ क्यों आई हो, अपने घरों में लौट जाओ—अपने पति-पुत्रों का जाकर सेवन करो") किन्तु तुम्हारे इन वचनों को सुनकर हमारा सर्वनाश हुआ जाता है। नागर! तुम्हें ऐसी कुटिलता शोभा नहीं देती—तुम इसका त्याग कर दो। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जो गोपी-भावावेश में रोष भरे वचन कह रहे थे ॥३४—३५॥

वेणु नाद अमृत घोले, अमृत समान मिठा बोले, अमृत समान भूषण शिञ्जित।
तिन अमृते हरे काण, हरे मन हरे प्राण, केमने नारी धरिवेक चित ॥३६॥
एत कहि क्रोधावेशे, भावेर तरङ्गे भासे, उत्कण्ठा-सागरे डुबे मन।
राधार उत्काण्ठावाणी, पढ़ि आपने वाखानि, कृष्ण माधुर्य करे आस्वादन ॥३७॥

"हे कृष्ण! तुम्हारे वेणु नाद में अमृत घुला हुआ है, तुम्हारे वचन भी अमृत के समान मीठे हैं, तुम्हारे भूषण-नूपुरों की झनकार भी अमृत के समान अत्यन्त मधुर है—ये तीनों अमृत मिल कर मेरे कानों को हरण करते हैं, मन एवं प्राणों को विमोहित करते हैं। (जिसके कान, मन एवं प्राण हर लिये गये हों, वह स्त्री किस तरह तो पति की सेवा करेगी ?) और वह कैसे अपनी सुद्धि-बुद्धि को

सम्भाल सकती है ?--"इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी क्रोधावेश में कह रहे थे एवं उनमें भावों की तरङ्गें उच्छलित हो रही थीं, उन का मन उत्कण्ठा सागर में--श्रीकृष्ण के सुमधुर वचन सुनने को तीव्र लालसा में डूबा जा रहा था। तब वे श्रीराधाजी की उत्कण्ठामयी वाणी को पढ़ कर अपने भावों को व्यक्त करने लगे एवं श्रीकृष्ण-माधुर्य का आस्वादन करने लगे ॥३६-३७॥

तथाहि गोविन्दलीलामृते (८-५)

नदज्जलदनिस्वनः श्रवणकर्षिसच्छिञ्जितः
सनर्मरस सूचकाक्षर पदार्थ भङ्ग्युक्तिकः।
रमादिकवराङ्गनाहृदय हारि वंशीकलः
स मे मदनमोहनः सखि तनोति कर्णस्पृहाम् ॥३॥

श्रीराधाजी ने कहा है—"हे सखि ! जिनकी कण्ठध्वनि मेघ के शब्द की भान्ति गम्भीर है, जिनके भूषणों की ध्वनि कानों को अति मधुर लगने वाली एवं आकर्षण करने वाली है, जिन के वाक्य परिहास युक्त एवं अति मधुर हैं, तथा चतुरता पूर्ण है जिन की वंशी ध्वनि लक्ष्मी आदि वराङ्गनाओं के हृदय को मोहित करने वाली है, वे श्रीमदनमोहन मेरे कानों की स्पृहा को बढ़ा रहे हैं, अर्थात् वे मेरे कानों को आकर्षण कर रहे हैं ॥३॥ (इस श्लोक की व्याख्या निम्नलिखित त्रिपदी में करते हैं।)

अस्यार्थः, यथारागा—

कण्ठेर गम्भीर ध्वनि, नव घन ध्वनि जिनि, यार गुणे कोकिल लाजाय।
तार एक श्रुति कणे, डुबे जगतेर काणे, पुन काण बाहुड़ि ना आय ॥३८॥

श्रीराधाभावाविष्ट श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"सखि ! (रामानन्द !) श्रीकृष्ण की कण्ठ ध्वनि अति गम्भीर है, नव घन की ध्वनि की गम्भीरता को भी हरण करने वाली है। उसको सुन कर कोकिला भी लज्जित होती है। उसका एक कणिका (थोड़ा स्वर) सुन कर जगत् वासियों के कान मुग्ध हो जाते हैं, फिर और कुछ भी वे नहीं सुनना चाहते। हाय, सखि ! मैं कभी उस श्रीकृष्ण-ध्वनि को सुन पाऊंगी" ॥३८॥

कहि सखि ! कि करि उपाय ?
कृष्णेर से शब्दगुणे, हरिले आमार काणे, एब ना पाय, तृष्णाय मरि याय ॥ध्रु॥३६॥
नूपुर-किङ्किणी-ध्वनि, हंस सारस जिनि, कङ्कण-ध्वनि चटक लाजाय।
एक बार येइ शुने, व्यापि रहे तार काणे, अन्य शब्द से काणे ना याय ॥४०॥

"सखि ! कह, मैं क्या उपाय करूँ ? श्रीकृष्ण की कण्ठ ध्वनि ने मेरे कानों का हरण कर लिया है, हाय ! हाय ! फिर वह मुझे नहीं सुनाई दे रही है, उसके सुनने के लिये मेरे प्राण छटपटा रहे हैं। उनके नूपुरों की झनकार, उनकी किङ्किणी की बजन, हंस एवं सारसों की चाल को पराजित करने वाली है। सखि ! उनकी बाहुओं में जब कङ्कण बजते हैं, उस मधुर ध्वनि को सुन कर चटक (गौरैया) पक्षी लज्जित हो पड़ता है। एक बार भी जिसने श्रीकृष्ण के मधुर कण्ठ का शब्द

सुना है, उसके कानों में वही शब्द ही व्याप्त रहता है। उसके कानों में फिर और कोई शब्द प्रवेश ही नहीं कर पाता। कह सखि! मैं क्या करूँ? वह श्रीकृष्ण-भूषण ध्वनि मुझे कहीं सुनाई पड़ सकती है क्या?" ॥३९-४०॥

से श्रीमुख भाषित, अमृत हैते परामृत, स्मित कर्पूर ताहाते मिश्रित।
शब्द अर्थ दुइ शक्ति, नाना रस करे व्यक्ति, प्रत्यक्षेर नर्म विभूषित ॥४१॥

से अमृतेर एक कण, कर्ण-चकोर-जीवन, कर्ण-चकोर जीये सेइ आशे।
भाग्यवशे कभु पाय, अभाग्ये कभु ना पाय, ना पाइले मरये पियासे ॥४२॥

"सखि! उनके परम शोभायुक्त मुख से जो वचन निकलते हैं, वे अमृत से भी बहु गुण श्रेष्ठ—अप्राकृत अमृत के समान मधुर होते हैं, वे अप्राकृत-अमृत में भी उनकी मन्द मुस्क्यान रूप कर्पूर से मिश्रित हैं, (उसे पान करने को किस का मन नहीं ललचाता होगा?) श्रीकृष्ण के वाक्यों में शब्द-शक्ति तथा अर्थ-शक्ति-ये दोनों ऐसी शक्तियाँ हैं कि शृङ्गारादि नानाविध रसों का स्फुरण होता है, सखि! क्या कहूँ?—उनका प्रति अक्षर ही नर्म-परिहास पूर्ण (शृङ्गार रस सम्बन्धि परिहास पूर्ण) होता है। श्रीकृष्ण के वचनामृत का एक कण भी मेरे कर्ण-चकोरों का जीवन-तुल्य है, मेरे कर्ण-चकोर उसी अमृत की आशा में ही जीवन धारण कर रहे हैं। मेरे कभी भाग्य उदय होंगे तो वह श्रीकृष्ण-वचनामृत मुझे प्राप्त हो जाएगा, यदि मेरे ऐसे अभाग्य हैं कि वह मुझे न मिला तो सखि! मैं सत्य कहती हूँ, मेरे कर्ण-चकोर तृषात्तुर होकर प्राणों को त्याग देंगे ॥४१—४२॥

येवा वेणु-कलध्वनि, एक बार ताहा शुनि, जगन्नारी चित्त आओलाय।
नीवि बन्ध पड़े खसि, विनिमूले हय दासी, बाउलि हञा कृष्णपाशे धाय ॥४३॥

येवा लक्ष्मीठाकुराणी, तेंहो ये काकली शुनि, कृष्णपाशे आइसे प्रत्याशाय।
ना पाय कृष्णेर सङ्ग, बाढ़े तृष्णार तरङ्ग, तप करे, तभु नाहि पय ॥४४॥

राधाभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी ने आगे कहा—सखि! (श्रीकृष्ण को कण्ठ ध्वनि की बात भी रहने दो, उन की मुख-निसृत वायु से) उनकी वेणु से जो मधुर-ध्वनि निकलती है, उसके विषय में क्या कहूँ? उसे एक बार सुनने से ही जगत् की नारियों के चित्त (कामोद्दीपन से) आलोड़ित हो उठते हैं, उन्मत्त हो उठते हैं, उनको नीवि के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं, विना मोल श्रीकृष्ण के हाथों बिक जाती हैं। हाय! हाय! सखि! बावली होकर श्रीकृष्ण की ओर दौड़ पड़ती हैं। (ब्रज-गोपियों की क्या चली? वैकुण्ठनाथ की जो पत्नी लक्ष्मी ठाकुराणी है, वह भा वेणु की मधुर-ध्वनि सुन कर श्रीकृष्ण-सङ्ग के लिये लालसान्वित होकर श्रीकृष्ण के पास भागी आई थी। किन्तु उसे श्रीकृष्ण सङ्ग प्राप्त न हो सका। उसकी तृष्णा-तरङ्ग इतनी बढ़ी कि वह उनकी प्राप्ति के लिये तपस्या करने लगी। (सखि! उस नागर की निठुरता कहूँ कि लक्ष्मी के दुर्भाग्य—अत तक वह श्रीकृष्ण के सङ्ग को प्राप्त नहीं कर सकी है और बेलवन में अभी तक तपस्या कर रही है।) मुझे श्रीकृष्ण की वेणु-ध्वनि क्या सुनाई नहीं पड़ सकती? सुन भी पाऊं तो क्या मुझे वह नागर अपना सङ्ग प्रदान कर देता?)" ॥४३-४४॥

एइ शब्दामृत चारि, यार हय भाग्य भारी, सेइ कर्ण इहा करे पान ।
इहा येइ नाहि शुने, से काण जन्मिल केने, काणाकड़ि-सम सेइ काण ॥४५॥
करिते ऐछे विलाप, उठिल उद्वेग भाव, मने कांहो नाहि आलम्बन ।
उद्वेग विषाद मति, औत्सुक्य त्रास धृतिस्मृति, नाना भावेर हइल मिलन ॥४६॥
भावशावल्ये राधार उक्ति, लीलाशुके हैल स्फूर्त्ति, सेइ भावे पढ़े सेइ श्लोक ।
उन्मादेर सामर्थ्ये, सेइ श्लोकेर करे अर्थे, येइ अर्थ ना जाने सब लोक ॥४७॥

"सखि ! जिसके बड़े भारी भाग्य हों, उसी के कान ही श्रीकृष्ण के चारों प्रकार के शब्दामृत का पान—आस्वादन कर सकता है। जिस को इस शब्दामृत-पान करने का सौभाग्य नहीं प्राप्त होता है, उस कान का जन्म ही क्यों हुआ ? वे कान तो कानी-कौड़ी के समान हैं—सर्वथा निरर्थक ही हैं।" इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी विलाप करते-करते अस्थिर हो उठे। उनके मन को कोई भी आलम्बन—आश्रय नहीं मिल रहा था। उद्वेग, विषाद-मति, औत्सुक्य, त्रास, धृति एवं स्मृति आदि अनेक भावों का एक साथ उदय हो आया। उस भावशावल्य में (भावों के परस्पर संमर्द्दन में) श्रीराधा जी के वचन जो लीला-शुक श्रीविल्व मङ्गल कवि ने श्लोक वद्ध किये हैं, वे स्फुरित हो उठे। श्रीराधा जी के भावों का वह श्लोक प्रभु पढ़ने लगे। उन्मादावस्था में उस श्लोक की व्याख्या भी करने लगे—वह ऐसी व्याख्या है जिसे सब लोग नहीं जानते ॥४५—४७॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीकृष्ण का चार प्रकार का शब्दामृत कहा गया है:—१. गान करते समय श्रीकृष्ण की कण्ठ-ध्वनि, २. श्रीकृष्ण के नूपुर—किङ्किनी आदि की भूषण ध्वनि, ३, बोलते समय श्रीकृष्ण की वाक्य-ध्वनि, एवं उनकी वेणु-ध्वनि—इन चारों प्रकार के ध्वनि रस को "शब्दामृत-चारि" कहा गया है।

तथाहि कृष्णकर्णामृते (४२)—

किमिह कृणुमः कस्य ब्रूमः कृतं कृतमाशया
कथयत कथमान्यां धन्यामहो हृदयेशयः ।
मधुर-मधुर स्मेराकारे मनोनयनोत्सवे
कृपण-कृपणा कृष्णे तृष्णा चिरं वत लम्बते ॥४॥

श्रीराधा जी ने कहा है—"सखि ! अब मैं क्या करूं ? कहूँ तो कुछ किसका कहूं ? श्रीकृष्ण को पाने की आशा करना भी अब वृथा है। सखि ! कृष्ण-कथा को छोड़ कर और कोई अच्छी बात सुना। हाय ! हाय ! जिसको मैं छोड़ना चाहती हूँ, वे तो मेरे हृदय में शयन कर रहे हैं, मधुर-मधुर मन्द मुसका रहे हैं, जो मेरे मन एवं नेत्रों को आनन्द देने वाले हैं, उन्हीं श्रीकृष्ण के मिलन के लिये मेरी अति दीन तृष्णा चिरकाल से बढ़ती ही जा रही है ॥४॥ (इस श्लोक की व्याख्या निम्नलिखित त्रिपदी में करते हैं।)

यथाराग:—

एइ कृष्णेर विरहे, उद्वेगे मन स्थिर नहे, प्राप्त्युपाय चिन्तन ना याय ।
येवा तुमि सखीगण, विषादे बाउल मन, कारे पुछों, के कहे उपाय ॥४८॥

श्रीराधाभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"सखि ! श्रीश्यामसुन्दर के विरह में उद्वेग के कारण मेरा मन स्थिर नहीं है। मैं तो उनकी प्राप्ति का उपाय भी नहीं सोच सकती हूँ। तुम जितनी मेरी सखियां हो, तुम भी विषाद में (मेरे दुख में) बावली हो रही हो। किससे पूछूँ और कौन मुझे उनकी प्राप्ति का उपाय बताऐगा ?" ॥४८॥

हा हा सखि ! कि करि उपाय ?

काहां करों काहां याङ्, काहां गेले कृष्ण पाङ, कृष्ण बिनु प्राण मोर याय॥ध्रु॥४६

क्षणे मन स्थिर हय, तबे मने विचारय, बलिते हइल मतिभावोद्गम।

पिङ्गलार वचन स्मृति, कराइल भाव-मति, ताते करे अर्थ निर्द्धारण ॥५०॥

"हाय, हाय ! सखि ! मैं क्या उपाय करूँ ? मैं क्या करूं ? कहाँ जाऊं ? कहाँ जाने से मुझे श्रीकृष्ण मिलेंगे ? श्रीकृष्ण के बिना देखे अब मेरे प्राण जाना चाहते हैं।" इतना कह कर प्रभु का मन एक दो क्षण के लिये स्थिर होगया और फिर कुछ विचार उठा और मति—नामक सञ्चारी भाव का उदय हो आया। प्रभु को पिङ्गला के वचनों की स्मृति हो आई और उसी ने ही प्रभु में मति--भाव को उत्पन्न किया, जिस से वे विचार पूर्वक निश्चित अर्थ को कहने लगे। ॥४६—५०॥

चै० च० चु० *टीका*--विचार पूर्वक अर्थ निर्द्धारण करने का नाम 'मति' है, जो एक सञ्चारी भाव है।

प्रभु को पिङ्गला के वचनों की स्मृति मति-भाव के उदय होने पर हो आई। पिङ्गला का विवरण श्रीमद्भागवत जी में एकादश स्कन्ध के अष्टम अध्याय में वर्णन किया गया है—विदेह नगर में यह पिङ्गला—वेश्या रहती थी, जो वेश-भूषा करके कामी पुरुषों की प्रतीक्षा किया करती थी। एक दिन ऐसा हुआ कि वह एक के बाद दूसरे की, दूसरे के बाद तीसरे की आशा करते-करते आधी रात तक बैठी रही, किन्तु कोई भी पुरुष उसके पास न आया। तब उसके मन में निर्वेद अवस्था उत्पन्न हुई और वह मन में ऐसा विचार करने लगी—"मैं एक-एक पुरुष की आशा में क्यों इतना कष्ट उठा रही हूँ ? ये पुरुष मुझ को कितना सुख दे सकते हैं ? यह अस्थि-चर्म-मल-मूत्र पूर्ण शरीर का सुख तो वास्तविक सुख नहीं है। इन तुच्छ पुरुषों को दासता एवं आशा छोड़ कर यदि परम पुरुष श्रीभगवान् की इतना भजन करती तो मेरा कल्याण हो जाता। "त्यक्त्वा दुराशाः शरणं व्रजामि तमधीश्वरम्" मैं इस दुराशा को त्याग कर उस अधीश्वर की शरण ग्रहण करती हूँ"— ऐसा विचार कर वह शान्त चित्त होकर सुख पूर्वक सो गई। श्रीभागवत जी (११-८-४४) में इसी प्रसङ्ग में कहा है:—

आशाहि परमं दुखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा संछिद्य कान्ता शां सुखं सुष्वाप पिङ्गला ॥त्र॥

आशा ही परम दुख है और किसी की आशा न करना ही परम सुख है, क्योंकि, कान्त-प्राप्ति की आशा परित्याग करके ही पिङ्गला सुख पूर्वक सो सकी ॥त्र॥

पिङ्गला के इन वचनों की स्मृति आते ही श्रीमन्महाप्रभु जी भी अपने कर्त्तव्य को कुछ निर्द्धारण करने लगे—वे जो विचार करने लगे, उन्हें अब कहते हैं:—

देखि एइ उपाय, कृष्णेर आशा छाड़ि दिये, आशा छाड़िले सुखी हय मन।

छाड़ कृष्णकथा अधन्य, कर अन्य कथा धन्य, याते कृष्णेर हय विस्मरण ॥५१॥

कहितेइ हैल स्मृति, चित्ते हैल कृष्ण स्फूर्त्ति, सखीके कहे हइया विस्मिते ।
यारे चाहि छाड़िते, से-इ शुञा आछे चित्ते, कोन रीते ना पारि छाड़िते ॥५२॥

भावाविष्ट प्रभु ने कहा—"सखि ! (कृष्ण-विरह-जनित उद्वेग से बचने का) एक उपाय मुझे यह दीखता है कि श्रीकृष्ण की मैं आशा अब छोड़ दूं । मेरा मन उनकी आशा छोड़ कर ही सुखी होगा । सखि ! तू भी दुख दायक कृष्ण-कथा को अब छोड़ दे, कोई और सुखदायक कथा चला, जिससे मुझे श्रीकृष्ण की विस्मृति हो जाए ।" इतना कहते ही प्रभु को श्रीकृष्ण स्मृति हो आई एवं चित्त में श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति हो उठी । विस्मित् होकर सखी से (रामानन्द राय से) कहने लगे—"सखि ! जिस को मैं छोड़ना चाहती हूँ, जिसको भुलाना चाहती हूँ, वह तो मेरे हृदय में आसन लगा कर शयन कर रहा है, हाय ! मैं तो श्रीकृष्ण को कैसे भी नहीं छोड़ सकती" ॥५१-५२॥

राधाभावेर स्वभाव आन, कृष्णे कराय कामज्ञान, कामज्ञाने त्रास हैल चित्ते ।
कहे-ये जगत मारे, से पशिल अन्तरे, एइ वैरी ना देय पासरिते ॥५३॥
औत्सुक्येर प्रावीण्ये, जिति अन्य भावसैन्ये, उदय कैल निजराज्य मने ।
मने हैल लालस, ना हय आपन वश, दुखे मने करेन भर्त्सने ॥५४॥

श्रीकविराज कहते हैं, राधाभाव अर्थात् मादनाख्य भाव का स्वभाव विचित्र है, वह श्रीकृष्ण को साक्षात् कामदेव—अप्राकृत नवीन मदन रूप में ज्ञान कराता है । (श्रीराधा जी जब भी श्रीकृष्ण दर्शन करती हैं इन्हें श्रीकृष्ण साक्षात् नवीन मदन ही दीखते हैं—इस रूप का और कोई भी दर्शन नहीं कर पाता है ।) श्रीमन्महाप्रभु जी भी मादनाख्य-महाभावाविष्ट हो रहे थे, उनके चित्त में जब श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति हुई, तो उन्होंने भी श्रीकृष्ण को अप्राकृत नवीन कामदेव के रूप में देखा । तब उन के चित्त में त्रास भाव का उदय हो आया—उनका मन कांपने लगा । (कामदेव तो अपने बाणों से सब के हृदय को विद्ध करता रहता है—वह अपने बाणों को सर्व दिशाओं में छोड़ता है एवं समस्त नारियों के चित्त को घायल कर देता है ।) प्रभु उसी भाव में कहने लगे—'सखि ! जो (कामदेव) जगत् को मार कर रख देता है, वह मेरे हृदय में प्रवेश कर गया है, वह वैरी मुझे कृष्ण-विस्मृति नहीं होने देता है ।" इस प्रकार कहते-कहते प्रभु में औत्सुक्य-भाव प्रधान हो उठा, उसने अन्य भावों की सैना को पराजित कर दिया, मानो प्रभु के मन में औत्सुक्य-भाव ने अपना राज स्थापन कर दिया । (अर्थात् उद्वेग, विषाद, मति-त्रासादि समस्त भाव लुप्त हो गये और औत्सुक्य भाव प्रबल हो उठा) इसलिये प्रभु के मन में श्रीकृष्ण-मिलन की लालसा तीव्र हो उठी और उनका मन वश में न रहा । इसी दुख में प्रभु अपने मन का तिरस्कार करने लगे ॥५३-५४॥

मन मोर वाम दीन, जल बिनु येन मीन, कृष्ण बिनु क्षणे मरि याय ।
मधुर हास्य वदने, मनोनेत्र रसायने, कृष्ण-तृष्णा द्विगुण बाढ़ाय ॥५५॥
हा हा कृष्ण प्राणधन, हा हा पद्मलोचन, हा हा दिव्यसद्गुणसागर ।
हा हा श्यामसुन्दर, हा हा पीताम्बर धर, हा हा रासविलास नागर ॥५६॥

राधाभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु कहने लगे—"सखि ! मेरा मन प्रतिकूल हो रहा है, इस की अवस्था शोचनीय है । मीन जैसे जल के बिना प्राणहीन होती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के दर्शन बिना

मेरा मन इस क्षण प्राणहीन हो जाएगा। सखि! मन एवं नेत्रों को जीवन दान देने वाली श्रीकृष्ण-वदन की मधुर मुस्कान मेरे मन में श्रीकृष्ण मिलन की तृष्णा को दुगनी बढ़ा रहा हैं।" ऐसे कहते-कहते प्रभु व्याकुल हो उठे और श्रीकृष्ण विरह में पुकारने लगे—"हा हा प्राणधन कृष्ण! तुम कहां हो? हाय! हाय पद्मलोचन! हे दिव्य सद्गुणों के सागर! आप कहां हो? हा हा श्यामसुन्दर! हा हा! पीताम्बर धारी! हा हा रासविलास नागर! मैं कहाँ जाऊं? ।।५५-५६।।

कहां गेले तोमा पाइ, तुमि कह ताहां याइ, एत कहि चलिल धाइया।
स्वरूप उठि कोले करि, प्रभुरे आनिल धरि, निजस्थाने वसाइल लैया ।।५७।।
क्षणेके प्रभुर बाह्य हैल, स्वरूपेरे आज्ञा दिल, स्वरूप! किछु कर मधुर गान।
स्वरूप गाय विद्यापति, गीत गोविन्देर गीति, शुनि प्रभुर जुड़ाइल काण ।।५८।।

"हे नागर! तुम कहाँ मिलोगे? तुम ही बताओ, मैं वहाँ जाऊँ," इतना कह कर प्रभु वहाँ से उठ कर भाग पड़े। श्रीस्वरूप गोस्वामी ने उठ कर प्रभु को अङ्क में भर लिया और प्रभु को स्थिर कर लिया और अपने साथ बिठा लिया। एक क्षण के लिए प्रभु को कुछ बाह्य ज्ञान हुआ और श्रीस्वरूप को कहने लगे—"स्वरूप! कोई मधुर गान सुनाओ।" श्रीस्वरूप श्रीविद्यापति-पदावली एवं श्रीगीतगोविन्द का गान करने लगे—उसे सुन कर प्रभु के कान मन कुछ शीतल हो गये ।।५७-५८।।

एइमत महाप्रभुर प्रति रात्रि दिने। उन्मादचेष्टित हय प्रलाप वचने ।।५९।।
एक दिने यत हय भावेर विकार। सहस्र मुखे वर्ण यदि, नाहि पाय पार ।।६०।।
जीव दीन कि करिवे ताहार वर्णन? शाखा चन्द्रन्याय करि दिग दर्शन ।।६१।।
इहा येइ शुने तार जुड़ाय मन-काण। अलौकिक गूढ़ प्रेमेर हय चेष्टा-ज्ञान ।।६२।।
अद्भुत निगूढ़ प्रेमेर माधुर्य महिमा। आपनि आस्वादि प्रभु देखाइल सीमा ।।६३।।
अद्भुत दयालु चैतन्य, अद्भुत वदान्य। ऐछे दयालु दाता लोके नाहि शुनि अन्य ।।६४।।

श्रीकविराज कहते हैं—इस प्रकार रात दिन श्रीमहाप्रभु जी श्रीकृष्ण-विरह में प्रलाप करते-करते उन्मादावस्था को प्राप्त होते। एक-एक दिन में असंख्य भावों के विकार प्रभु में उदय होते, उनको हजार मुख से भी वर्णन करके कोई पार नहीं पा सकता। दीन जीव की शक्ति ही क्या है कि उनका वर्णन कर सके? शाखाओं में से जैसे कोई चन्द्र को दिखाए, उसी प्रकार मैंने प्रभु के दिव्योन्माद-जनित विकारों का यहाँ दिग्दर्शन कराया है। इनको सुनने से मन एवं कान शीतल होते हैं एवं अलौकिक गूढ़ प्रेम की चेष्टाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। इस लीला में श्रीमन्महाप्रभु जी ने अद्भुत गूढ़ प्रेम की माधुर्य-महिमा को स्वयं भी आस्वादन किया है एवं जगत् को भी उसकी सीमा को दरसाया है। श्रीचैतन्यदेव अद्भुत दयामय हैं, अद्भुत वदान्य हैं, इन जैसा दयामय एवं दाता त्रिभुवन में नहीं है और न ही कोई सुना जाता है ।। ५९—६४ ।।

चै० च० चु० टीका—वस्तुतः श्रीचैतन्यदेव के समान दयामय एवं दाता और कोई नहीं है। श्रीमहाप्रभु जी जैसा दयालु एवं दाता प्राकृत जगत् में होना तो सम्भव ही नहीं है, भगवत्-अवतारों में भी ऐसा दयालु एवं दाता कोई नहीं है। जीवों के प्रति करुणा कर उन्होंने जीवों को जो कुछ प्रदान किया

है, वह अनर्पित भक्ति-सम्पत्ति इन से पूर्व और किसी भगवत् स्वरूप ने प्रदान नहीं की है, यहाँ तक कि स्वयं भगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दन भी न दे सके। श्रीराधा-प्रेम कितनी अद्भुत वस्तु है, उसे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी सम्यक् रूप से न जानते थे। इसलिये राधा-प्रेम को कोई कभी जनाएगा, ऐसी कल्पना भी कोई नहीं कर सकता था। किन्तु परमकरुणामय श्रीमन्महाप्रभु जी ने उसी अति निगूढ़ प्रेम की महिमा, जीव को ही केवल जनाई हो, यह बात नहीं है, उसे स्वयं भी आस्वादन करके, अपने शरीर पर उसके अपूर्व विकारों को दिखा कर सब को आश्चर्य सागर में डुबा दिया। केवल इतना ही नहीं, उस प्रेम के आनुगत्य में किस प्रकार जीव श्रीकृष्ण सेवा को करके असमोर्द्ध आनन्द को प्राप्त कर सकता है, उस की भी प्रभु ने जीव को शिक्षा दी है एवं उसका स्वयं आचरण करके श्रीकृष्ण सेवा का एक उज्ज्वलतम आदर्श स्थापन किया है। इसलिये उनकी दया एवं वदान्यता को अद्भुत कह कर वर्णन किया गया है।

श्रीगौराङ्गदेव में करुणा का एवं वदान्यता का असाधारणत्व है—स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार का भी एक उद्देश्य था—जगत् में रागमार्ग-भक्ति का प्रचार। "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु" एवं "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"—इत्यादि वाक्यों से श्रीअर्जुन को उपलक्ष्य करके भगवान् श्रीकृष्ण ने राग-भक्ति के भजन का सूत्राकार में उपदेश दिया—यह उनकी करुणा है, इस में सन्देह नहीं है। इस से उनकी वदान्यता भी प्रकाशित होती है, क्योंकि इस भाव से जो उनका भजन करेंगे, वे उनको प्राप्त होंगे—यह बात भी उन्होंने श्रीअर्जुन को बताई थी—"मामे वैष्यसि"—इत्यादि। जो अपने को प्रदान करने के लिए प्रस्तुत हैं एवं जो अपनी प्राप्ति का उपाय भी बता रहे हैं, वे वदान्य शिरोमणि हैं—यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उनकी प्राप्ति करना एक परम लोभनीय वस्तु है, यह बात भी भगवान् श्रीकृष्ण ने बता दी। किन्तु वह परमलोभनाय वस्तु क्या है, जिस की प्राप्ति का उपाय उन्होंने बतलाया—उसके जाने बिना लोग कैसे उसके प्राप्त करने में या भजन में प्रवृत होंगे। वह वस्तु है—आनन्द घन, रसघन विग्रह श्रीकृष्ण। उसे श्रीकृष्ण अपने मुख से कैसे बताते? उस अशेष रसामृत सिन्धु के साथ मदीयता भाव से रस समुद्र में उन्मज्जित निमज्जित होकर, रस-समुद्र की रस तरङ्गों में रस-घन विग्रह के साथ—कण्ठ से कण्ठ, बाहु से बाहु मिला कर तन्मय-भाव से खेलना—विहार करना, यही लोभनीय वस्तु है। व्रज में उन्होंने इसी भाव से अपने परिकरों के साथ मनोहारिणी लीलाएँ कीं—किन्तु यह सब लीलाएँ कीं निभृत स्थान पर, आधीरात में एवं निर्जन स्थान पर। जिनके साथ यह लीलाएँ कीं, उन व्रजसुन्दरियों के व्यतीत एवं उनके अपने व्यतीत इन लीलाओं को और कोई भी न देख सका। तब भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीव्यासरूप से उन लीलाओं का—उस परमलोभनीय वस्तु का श्रीमद्भागवत में वर्णन किया एवं श्रीशुकदेव जी के द्वारा राजा परीक्षित जी की सभा में शिष्यों सहित महर्षियों, देवर्षियों, राजर्षियों एवं ब्रह्मर्षियों के आगे उनका प्रचार कराया, जिससे जगद्वासी उन लीलाओं को सुन सकें। और उनमें प्रलुब्ध होकर 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' तन्मना, तद्भक्त एवं तद्याजी हो सकें। उस लोभनीय वस्तु को श्रीकृष्ण साक्षात् दिखा न सके, केवल उसकी कथा सुनाने की व्यवस्था अवश्य कर गये। उस लोभनीय वस्तु की प्राप्ति के उपाय की बात ही बात कह गए किन्तु आदर्श स्थापन नहीं किया। फिर भी ऐसा करना भी उनकी अपार करुणा एवं वदान्यता का परिचायक है।

किन्तु श्रीश्रीकृष्णचैतन्यरूप से व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ने अपनी उस अपार करुणा एवं विशाल वदान्यता की चरमतम पराकाष्ठा दिखाई है। जिस परमलोभनीय वस्तु—प्रेम की प्राप्ति होने पर उस अशेष-रसामृत वारिध के साथ रस-समुद्र में रसमयी लीलाओं का आस्वादन किया जा सकता है, जिस प्रेम की प्राप्ति के उपाय की केवल बात ही बात में श्रीकृष्ण कह गये थे, किसी को प्रेम-सम्पत्ति प्रदान

न कर गए, किन्तु श्रीश्रीगौरसुन्दर रूप से भजन की अपेक्षा न रख कर उस अपूर्व प्रेम-सम्पत्ति को उन्होंने आपामर-साधारण को प्रदान कर दिया। जब तक उनकी लीला धरातल पर प्रकटित रही, तब तक इस प्रकार की प्रेम प्राप्ति का सौभाग्य सब ने प्राप्त किया। यही श्रीकृष्ण रूप की अपेक्षा श्रीगौरस्वरूप की करुणा एवं वदान्यता का अद्भुत वैशिष्ट्य है। श्रीगौराङ्ग प्रभु ने श्रीकृष्ण वशीकरणी शक्ति सम्पन्न अपूर्व प्रेम की प्राप्ति के उपाय का उपदेश भी अपने चरणानुगत गोस्वामीवृन्द को दिया, जिससे जगद्वासी उस प्रेम को प्राप्त कर सकें, अधिकन्तु उन्होंने स्वयं भी उसका आचरण किया एवं अपने पार्षदगणों से आचरण कराकर भजन का आदर्श भी स्थापन किया, श्रीकृष्ण स्वरूप से जो वे न कर सके। यह उनकी कृपा का एवं वदान्यता का और एक वैशिष्ट्य है।

वह शुद्ध प्रेम कितना मधुर है, उसका प्रभाव कितना अद्भुत एवं अनिर्वचनीय है, श्रीकृष्ण स्वरूप से यह बात उन्होंने परिदृष्यमान् भाव से जगत् के जीवों को नहीं दिखाई। श्रीगौररूप से उसे उन्होंने अपनी लीलाओं में आनुषङ्गिक भाव से ही दिखा दिया।

प्रेम—नेत्रों द्वारा देखी जाने वाली वस्तु नहीं है, हृदय में प्रेम के आविर्भाव होने से बाहर अश्रु-कम्पादि सात्विक विकारों का आविर्भाव होता है। इन अश्रु-कम्पादि सात्विक विकारों के द्वारा ही हृदय में प्रेम के अस्तित्व, मधुरत्व एवं प्रभाव की बात जानी जा सकती है। श्रीमन्महाप्रभु जी में जितने उद्दीप्त सात्विक विकार उदय हुए एवं प्रेम के असमोर्द्ध-माधुर्य के आस्वादन जनित जितनी उन्मादना—दिव्योन्मादावस्था प्रगट हुई, उससे प्रेम के अपूर्व माधुर्य एवं अपूर्व प्रभाव को लोगों ने साक्षातभाव से देखा और जाना—जिससे उस प्रेम के प्रति प्रलुब्ध होने का अधिक सुयोग मिला—इस प्रकार प्रभु ने उस परम लोभनीय वस्तु को जन साधारण के नेत्र गोचर करा दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीगौराङ्ग सुन्दर में करुणा एवं वदान्यता का हर दिशा में—विशेषतः विशुद्ध व्रज-प्रेम प्रदानत्व में समस्त भगवदावतारों की अपेक्षा असाधारण व अपूर्व वैशिष्ट्य है।

सर्व भावे भज लोक ! चैतन्यचरण। याहा हैते पावे कृष्णप्रेमामृत-धन ॥६५॥

एइ त कहिल कूर्माकृति अनुभाव। उन्माद-चेष्टित ताते उन्माद-प्रलाप ॥६६॥

एइ लीला स्वग्रन्थे रघुनाथदास। गौराङ्ग स्तवकल्पवृक्षे करियाछे प्रकाश ॥६७॥

इसलिये श्रीकृष्णदास कविराज कहते हैं—"हे जगद्वासिओ ! आप सर्वभाव से श्रीचैतन्य-चरणों का भजन कीजिए। इस से आपको श्रीकृष्ण प्रेमामृत-धन की प्राप्ति होगी। मैंने इस प्रकार श्रीमहाप्रभुजी,कीउस कथा की,जिस प्रकार राधाप्रेमके प्रभाव से वेकूर्माकार हो गये,उनकी दिव्योन्मादमयी उनकी चेष्टाओं एवं प्रलापों को कथा को वर्णन किया है। इस लीला को श्रीरघुनाथदास गोस्वामीपाद ने भी अपने श्रीगौराङ्गस्तवकल्पतरु—ग्रन्थ में निम्नलिखित श्लोक रूप से वर्णन किया है ॥६५-६७॥

तथाहि स्तवावल्यां गौराङ्गस्तव कल्पतरौ (५)—

अनुद्घाट्य द्वारत्रयमुरु च भित्तित्रयमहो
विलङ्घ्योच्चैः कालिङ्गिकसुरभिमध्ये निपतितः।
तनूद्यत् सङ्कोचात् कमठ इव कृष्णोरु विरहाद्
विराजन् गौराङ्गो हृदय उदयन् मां मदयति ॥५॥

(सङ्कीर्त्तन के बाद श्रम दूर करने के निमित्त गम्भीरा में सोते हुए भी जो उत्कण्ठावश उस कमरे में न रह सके और) बाहर निकलने के तीनों दरवाजों को बिना खोले अति उच्च तीन दीवारों को उल्लङ्घन करके कलिङ्ग देशीय गौओं के बीच जो जा पड़े थे, एवं श्रीकृष्ण के महा-विरह में देह के संकुचित होने से जिन्होंने कछुए की भान्ति आकृति धारण की थी, वही श्रीगौराङ्गदेव मेरे हृदय में उदित होकर मुझे आनन्दित कर रहे हैं ॥५॥

श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश ।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥६८॥

श्रीरूप गोस्वामी जी एवं श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥६८॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां
कूर्माकारानुभावोन्माद-प्रलाप-नाम
सप्तदश परिच्छेदः ॥१७॥

जयगौर

अन्त्य-लीला

अष्टादश परिच्छेद

★

शरज्ज्योत्स्न्यासिन्धोरव कलनया जात यमुना-
भ्रमाद्धावन् योऽस्मिन् हरिविरह तापार्णव इव ।
निमग्नो मूर्च्छालः पयसि निवसन् रात्रिमखिलां
प्रभाते प्राप्तः स्वैरवतु स शचीसूनुरिह नः ।।१।।

शरत्काल की ज्योत्स्नावती रात्रि में समुद्र को देख कर उसे यमुनाजी जान कर उसमें जो कूद पड़े थे और कृष्ण-विरह-ताप अगाध महा समुद्र में गिर कर मूर्च्छित अवस्था में समस्त रात्रि जो समुद्र में रहे थे एवं प्रातःकाल में श्रीस्वरूपादि स्वीय भक्तों के द्वारा ढूँढ़ने पर जो प्राप्त हुए थे, वही शचीनन्दन—श्रीगौराङ्ग इस संसार-समुद्र से हमारी रक्षा करें ।।१।।

[इस परिच्छेद में जलकेलि-लीला के आवेश में श्रीमन्महाप्रभु जी की समुद्र-पतनादि लीला का वर्णन किया गया है ।]

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौर भक्त वृन्द ।।१।।
एइ मते महाप्रभु नीलाचले वैसे । रात्रिदिने कृष्ण विच्छेदार्णवे भासे ।।२।।
शरत्कालेर रात्रि शरच्चन्द्रिका-उज्ज्वल । प्रभु निजगण लञा बेड़ान रात्रि सकल ।।३।।
उद्याने-उद्याने भ्रमे कौतुक देखिते । रासलीलार गीत-श्लोक पढ़िते शुनिते ।।४।।
कभु प्रेमावेशे करेन गान-नर्त्तन । कभु भावावेशे रासलीलानुकरण ।।५।।
कभु भावोन्मादे प्रभु इति उति धाय । भूमि पड़ि कभु मूर्च्छा कभु गड़ि याय ।।६।।

श्रीचैतन्यदेव की जय हो, जय हो, श्रीमन्नित्यानन्दप्रभु जी की जय हो, श्रीअद्वैताचार्यप्रभु जी की जय हो, श्रीगौरभक्त वृन्द की जय हो । इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु जी नीलाचल में रह रहे थे एवं रात-दिन वे श्रीकृष्ण-विरह सागर में निमग्न रहते थे । शरत्काल की रात थी, शरद् की उज्ज्वल चन्द्रिका

छिटक रही थी। श्रीमहाप्रभु जी अपने भक्तों को साथ लेकर एक दिन रात को घूम रहे थे। रास-लीला के गीत एवं श्लोक पढ़ते-सुनते प्रभु उद्यान-उद्यान में कौतुक देखते हुए भ्रमण कर रहे थे। कभी तो प्रेमावेश में प्रभु नृत्य-गान करने लगते, कभी भावावेश में रास-लीला का ही अनुकरण करने लगते। कभी भावोन्माद में इधर-उधर भागने लगते और कभी-कभी प्रभु मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ते एवं लोटने लगते ॥१—६॥

रासलीलार एक श्लोक यबे पढ़े शुने। पूर्ववत् तार अर्थ करये आपने ॥७॥
एइ मत रासलीलाय हय यत श्लोक। सभार अर्थ करे प्रभु पाय हर्ष शोक ॥८॥
से सब श्लोकेर अर्थ से सब विकार। से सब वर्णिते ग्रन्थ हय अति विस्तार ॥९॥
द्वादश वत्सरे ये-ये लीला क्षणे क्षणे। अति बाहुल्य भये ग्रन्थ ना कैल लिखने ॥१०॥
पूर्वे येइ देखाञाछि दिग्दरशन। तैछे जानहि विकार-प्रलाप-वर्णन ॥११॥
सहस्र वदने यबे कहये अनन्त। एकदिनेर लीलार तभु नाहि पाय अन्त ॥१२॥

श्रीमहाप्रभु जी जब रास लीला का एक श्लोक सुनते अथवा पढ़ते थे, पूर्ववत् फिर वे उसकी व्याख्या भी करते थे। इस प्रकार रास पञ्चाध्यायी के जितने श्लोक हैं, सब श्लोकों का प्रभु अर्थ बखान करते एवं उनका आस्वादन करते हुए श्रीकृष्ण-स्फूर्त्ति-जनित हर्ष एवं श्रीकृष्ण-विरण जनित शोक का अनुभव करते। वे सब श्लोक, उन सब श्लोकों के अर्थ एवं उन सब अर्थों के अनुभव जनित जो सात्विक विकार श्रीमहाप्रभुजी के शरीर पर प्रगट होते, उन सब का यदि यहां उल्लेख किया जाए तो ग्रन्थ का बहुत ही विस्तार हो जाएगा। श्रीमहाप्रभु जी की द्वादश वर्षों की क्षण क्षण में होने वाली असंख्य लीलाएं हैं जिन को ग्रन्थ विस्तार भय से हम यहाँ वर्णन नहीं कर रहे हैं। श्रीकविराज कहते हैं—जैसे मैंने पूर्वले परिच्छेदों में दिग्दर्शन कराया है, उसी प्रकार यहाँ भी प्रभु के विकार एवं प्रलापों को भक्त-गण जान लें। श्रीअनन्त जी भी यदि अपने सहस्र वदनों से प्रभु की लीलालों का वर्णन करने लगें तो वे भी प्रभु की एक दिन की लीला का वर्णन करके अन्त नहीं पा सकते ॥७—१२॥

कोटि युग पर्य्यन्त यदि लिखये गणेश। एक दिनेर लीलार तभु नाहि पाय शेष ॥१३॥
भक्तेर प्रेम विकार देखि कृष्णेर चमत्कार। कृष्ण यार न पाय अन्त, केबा छार आर॥१४॥
भक्त प्रेमेर यत दशा ये गति प्रकार। यत दुख यत सुख यतेक विकार ॥१५॥
कृष्ण ताहा सम्यक् ना पारे जानिते। भक्तभाव अङ्गीकरे ताहा आस्वादिते ॥१६॥
कृष्णेर नाचाय प्रेम भक्तेरे नाचाय। आपने नाचये, तिने नाचे एक ठांय ॥१७॥

कोटि युगों पर्यन्त यदि श्रीगणेश जी भी प्रभु की लीलाओं का उल्लेख करें, तो वे भी प्रभु की एक दिन की समस्त लीला का वर्णन नहीं कर पायेंगे। भक्तों के प्रेमविकार देख कर श्रीकृष्ण भी चमत्कृत हो उठते हैं, श्रीकृष्ण जिसका अन्त नहीं पा सकते हैं, और कोई तुच्छ व्यक्ति उसका अन्त कैसे पालेगा ?। भक्त-प्रेम की जितनी अवस्थायें हैं, उसके जितने प्रकार भेद हैं, जितने दुख-सुख एवं जितने भक्त में विकार उदय होते हैं, उन सब को सम्यक् रूप से श्रीकृष्ण भी नहीं जान सकते हैं, उस प्रेम के आस्वादन करने के लिये श्रीभगवान्-कृष्ण भी भक्त-भाव को अङ्गीकार करते हैं। प्रेम में ऐसी अद्भुत

शक्ति है कि वह श्रीकृष्ण को नचाता है, भक्त को भी नचाता है एवं प्रेम स्वयं भी नृत्य करने लगता है- ये तीनों एक जगह नृत्य करते हैं ॥१३-१७॥

चै० च० चु० *टीका*—उपर्युक्त पयारों में प्रेम की एक अद्भुत शक्ति का उल्लेख किया गया है कि वह श्रीभगवान् को, भक्त को नचाता है एवं प्रेम स्वयं भी इन दोनों के साथ मिल कर नाचता है। प्रेम एक भाव वस्तु है, इसका आश्रय है चित्त । इस भाव वस्तु प्रेम के कारण—अर्थात् जब श्रीभगवान् के चित्त में यह प्रेम उदय होता है अथवा जब भक्त के चित्त में उदय होता है—ये दोनों नाचने लगते हैं। किन्तु प्रेम स्वयं भी नृत्य करता है, इससे ज्ञात होता है प्रेम केवल भाव वस्तु ही नहीं, किन्तु उसका भी एक मूर्त्त विग्रह है जो नृत्य करता है, क्योंकि भाव वस्तु का नृत्य करना कहीं बनता ।

प्रेम की अधिष्ठात्री देवी या मूर्त्त प्रेम रूपा हैं—श्रीराधाजी । भाव या प्रेम की चरम परिणित जो महाभाव है, वही महाभाव ही है श्रीराधाजी का स्वरूप । श्रीराधाजी महाभाव स्वरूपिणी हैं । अतः प्रेम स्वयं भी नृत्य करने लगता है—इसका अभिप्राय है कि प्रेम की मूर्त्त विग्रह श्रीराधा जी भी नृत्य करने लगती हैं ।

प्रेम श्रीकृष्ण को नचाता है—यह बात तो किसी से छिपी हुई है नहीं कि रसिक शेखर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण रास-लीला में नाचे हैं, थोड़े-थोड़े माखन पर, यहाँ तक कि छछिया भर छाछ पर भी व्रज-गोपियों ने उन्हें नचाया है और वे नाचे हैं। चित्त जब आनन्द से उद्वेलित हो उठता है, तब नृत्य प्रकाशित होता है । स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं, निर्विकार हैं, अधिकन्तु वे आनन्द स्वरूप हैं, उनको भी आनन्दित कर सके, उनके चित्त में भी आनन्द विकार उत्पन्न करदे, ऐसी शक्ति किस में है ?—एक मात्र प्रेम में ही ऐसी शक्ति है कि वह स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण को भी नचाता है ।

प्रेम भक्त को नचाता है—भक्त-शब्द से यहाँ श्रीकृष्ण परिकर का ही अभिप्राय है। कारण कि प्राकृत जगत् में साधक व सिद्ध भक्तों के पक्ष में यथावस्थित देह से, श्रीकृष्ण एवं प्रेम-मूर्त्त-रूपा श्रीराधाजी के साथ एक स्थान पर नृत्य करना असम्भव है । किन्तु प्रेम सभी भक्तों को नृत्य करता है, प्राकृत जगत् के साधक व सिद्ध भक्तों से लेकर श्रीकृष्ण के नित्य परिकर-भक्तों तक सभी प्रेम से नाचते हैं । श्रीहरिनाम-सङ्कीर्त्तन करते हुए अनेक भाग्यशाली भक्त नाचने लगते हैं । श्रीकृष्ण परिकर भक्तों का नृत्य तो रासलीला में प्रसिद्ध ही है ।

प्रेम स्वयं भी नाचता है—प्रेम अपने प्रभाव से आप भी नाच उठता है, प्रेम की मूर्त्त विग्रह श्रीराधा जी का नृत्य रास-लीला में प्रसिद्ध ही है ।

श्रीकृष्ण, भक्त एवं प्रेम—तीनों एक जगह नाचते हैं:—स्वयं श्रीकृष्ण, मूर्त प्रेम रूपा श्री-राधा जी एवं भक्तरूपा श्रीराधा जी की सहचरी गण सबने एक साथ रास लीला में नृत्य किया था ही, किन्तु ये तीनों जिस एक स्थान पर मिलित होकर नृत्य कर रहे हैं-वह हैं साक्षात्—श्रीमन्महाप्रभु। वे स्वयं श्रीकृष्ण तो हैं ही, श्रीराधा भाव अङ्गीकार करने से वे श्रीराधा हैं एवं भक्त-भाव ग्रहण करने से वे भक्त भी हैं । श्रीकृष्ण, भक्त एवं प्रेम के मिलित विग्रह श्रीमन्महाप्रभु जी प्रेमावेश में नृत्य करते हैं- यह बात श्री श्रीचैतन्यचरितामृत के पाठकों को बताने की आवश्यकता ही नहीं है ।

सारांश यह है कि जिस प्रेम की अद्भुत शक्ति से स्वयं भगवान् एवं उनके परिकर भक्त तथा प्रेम-मूर्त्तरूपा श्रीराधा सब अपनी अपनी जगह पर नाच उठते हैं, तब जहाँ तीनों मिलकर—एक विग्रह

श्रीमन्महाप्रभु रूप में आनन्द में उद्वेलित हो कर नृत्य करते हैं: तो उनकी नृत्य-माधुरी, नृत्य-वैचित्री एवं प्रेमविकार-वैचित्री ना वर्णन कौन कर सकता है ? वास्तव में कोई भी वर्णन नहीं कर सकता।

प्रेमेर विकार वर्णिते चाहे येइजन। चान्द धरिते चाहे येन हइया वामन ॥१८॥
वायु यैछे सिन्धु जलेर हरे एक कण। कृष्ण प्रेमा-कणेर तैछे जीवेर स्पर्शन ॥१९॥
क्षणे क्षणे उठे प्रेमार तरङ्ग अनन्त। जीव छार काहां तार पाइवेक अन्त ॥२०॥
श्रीकृष्णचैतन्य याहा करे आस्वादन। सबे एक जाने ताहा स्वरूपादि गण ॥२१॥
जीव हञा करे येइ ताहार वर्णन। अपना शोधिते तार छोंय एक कण ॥२२॥
एइमत रासेर श्लोक सकल पढ़िला। शेषे जलकेलिर श्लोक पढ़िते लागिला ॥२३॥

श्रीकविराज गोस्वामी कहते हैं—श्रीमन्महाप्रभु जी के प्रेम-विकारों को जो व्यक्ति वर्णन करना चाहता है। मानो वह वामन होकर चान्द को पकड़ना चाहता है। वायु जैसे समुद्र के जल का एक कणा ही हरण कर सकती है। उसी प्रकार श्रीमहाप्रभु के कृष्ण-प्रेम के एक कणा का ही वह स्पर्श कर सकता है। श्रीमन्महाप्रभु जी में क्षण प्रति क्षण प्रेम की अनन्त तरङ्गें उठती हैं, हीन-जीव कोई कैसे उनकी महिमा को जान सकता है ? श्रीकृष्णचैतन्यदेव जिस रस का आस्वादन करते हैं, उसे तो केवल श्रीस्वरूपादि उनके अन्तरङ्ग भक्तगण ही जान सकते हैं। हां, और जीव जो कोई उसका वर्णन करता है, वह केवल अपने को पवित्र करने के लिए उसके एक कणा मात्र का स्पर्श करता है। इस प्रकार श्री-मन्महाप्रभु जी रास-लीला के समस्त श्लोक पढ़ रहे थे। अन्त में वे जलकेलि का निम्नलिखित श्लोक पढ़ने लगे ॥१८—२३॥

तथाहि (भा० १०-३३-२२)—

ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्ग सङ्गघृष्टस्रजः स कुचकुंकुमरञ्जितायाः।
गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वाः श्रान्तो गजीभिरिभराड़िव भिन्नसेतुः ॥२॥

नदी के किनारे को विदारित कर दिया है जिसने ऐसा गजराज, जैसे परिश्रान्त होकर (थक कर) परिश्रान्ता हथिनियों के साथ जल में प्रवेश किया करता है, उसी प्रकार गोपाङ्गनाओं के अङ्ग-सङ्ग द्वारा सम्मर्दित हो जाने के कारण उनके कुच-कुंकुम से रञ्जित पुष्प माला की गन्ध में आकृष्ट एवं गन्धर्व पति की भान्ति गान परायण भ्रमरगण जिनके पीछे-पीछे गुञ्जार करते चले जा रहे थे, जो लोक-वेद मर्यादा से अतीत हैं, उन श्रान्त (थके हुए) श्रीकृष्ण भगवान् ने गोपाङ्गनाओं से परिवृत होकर श्रान्ति को दूर करने के निमित्त यमुना के जल में प्रवेश किया ॥२॥

एइमत महाप्रभु भ्रमिते-भ्रमिते। एक टोटा हैते समुद्र देखे आचम्बिते ॥२४॥
चन्द्रकान्त्ये उछलित तरङ्ग उज्ज्वल। झलमल करे येन यमुनार जल ॥२५॥
यमुनार भ्रमे प्रभु धाइया चलिला। अलक्षिते याइ सिन्धुजले झाँप दिला ॥२६॥
पड़ितेइ हैल मूर्च्छा किछुइ ना जाने। कभु डुबाय कभु भासाय तरङ्गेर गणे ॥२७॥
तरङ्गे बहिया बुले येन शुष्क काष्ठ। के बुझिते पारे एइ चैतन्येर नाट ॥२८॥

इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी ने जलकेलि का श्लोक पढ़ा एवं भ्रमण करते-करते उन्होंने एक उद्यान में से अचानक समुद्र को देखा, चन्द्र की कान्ति से समुद्र की तरङ्गें उज्ज्वल रूप से उच्छलित हो रही थीं, ऐसे झलमल-झलमल कर रही थी जैसे यमुना जी का जल प्रकाशित हो रहा हो। श्रीमहाप्रभुजी उसे यमुना जी ही जान कर उस ओर भाग पड़े। कोई जान ही न सका कि प्रभु समुद्र में कूद पड़े। कूदते ही प्रभु को मूर्च्छा आ गई और उन्हें कुछ भी बाह्य ज्ञान न रहा। कभी तो वे जल में डूब जाते, कभी तरङ्ग के साथ ऊपर उठ आते। तरङ्गों के साथ प्रभु शुष्क काष्ठवत् बहते जा रहे थे, किन्तु प्रभु की इस लीला को कौन जान सकता था ॥२४-२८॥

कोणार्केर दिगे प्रभुके तरङ्गे लञा याय। कभु डुबाञा राखे,कभु भासाञा लञा याय॥२६॥
'यमुनाते जलकेलि गोपीगण सङ्गे। कृष्ण करे'—महाप्रभु मग्न सेइ रङ्गे ॥३०॥
इहां स्वरूपादि गण प्रभु ना देखिया। 'काहां गेला प्रभु ? कहे चमकित हञा ॥३१॥
मनोवेगे गेला प्रभु, लखिते नारिला। प्रभु ना देखिया संशय करिते लागिला ॥३२॥
जगन्नाथ देखिते किवा देवालये गेला ? अन्य उद्याने किवा उन्मादे पड़िला ?॥३३॥
गुण्डिचा मन्दिरे किवा गेला नरेन्द्रेरे ? चटक पर्वते किवा गेला कोणार्केरे ? ॥३४॥
एत बलि सभे बुले प्रभुरे चाहिया। समुद्रतीरे आइला कथोजन लञा ॥३५॥

समुद्र की तरङ्गें श्रीमहाप्रभु जी को कोणार्क की ओर वहा कर ले जा रही थीं। (कोणार्क, एक स्थान विशेष का नाम है जो जगन्नाथ पुरी के निकट समुद्र के किनारे पर स्थित है।) कभी पानी में डुबा कर कभी पानी के ऊपर लाकर तरङ्गें बहाले जा रही थीं। किन्तु श्रीमहाप्रभु जी तो—"श्रीकृष्ण गोपीगणों के साथ यमुना जी में केलि कर रहे हैं"—इसी भाव में तल्लीन थे। उन्हें अपनी कुछ भी सुद्धि-बुद्धि न थी। इधर श्रीस्वरूप गोस्वामी आदि भक्तगण प्रभु को न देख कर विस्मित होकर कहने लगे कि 'प्रभु कहाँ गए'?। श्रीमहाप्रभुजी मन के वेगकी भान्ति भाग गये थे किसी को पता भी न लगा था।प्रभुको न देख कर सब अनुमान करने लगे—"प्रभु क्या श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन के लिए मन्दिर चले गये हैं ? या किसी उद्यान में जाकर मूर्च्छित होकर पड़ गये हैं ? कहीं वे गुण्डिचा मन्दिर या नरेन्द्र सरोवर पर तो नहीं चले गए ? क्या वे चटक पर्वत पर गए होंगे ? वे कोणार्क की ओर तो नहीं चले गए ? इस प्रकार परस्पर सब भक्त कहते हुए सब स्थानों पर प्रभु को ढूंढ़ने लगे। कुछ भक्त समुद्र के किनारे पर भी प्रभु को ढूंढ़ने आए ॥२९—३५॥

चाहिया वेड़ाइते एछे शेष रात्रि हैल। 'अन्तर्द्धान कैल प्रभु'—निश्चय करिल ॥३६॥
प्रभुर विच्छेदे कारो देहे नाहि प्राण। अनिष्ट-आशङ्का बिनु मने नाहि आन ॥३७॥

सब स्थानों पर ढूंढ़ते हुए पिछली रात हो गई, किन्तु प्रभु कहीं भी न मिले, सब ने अन्त में यही निश्चय किया कि प्रभु अन्तर्धान हो गये हैं, (इतने अल्प समय में और कहां चले जाते ?) श्रीमहाप्रभु जी के विच्छेद में किसी के भी देह में प्राण न रहे और सब मन में अमङ्गल की आशङ्का करने लगे। (बन्धु-हृदय का यह स्वभाव है कि बन्धु की अमङ्गल चिन्ता उसमें सदा रहती है) जैसा कि कहा भी गया है—

तथाहि अभिज्ञान शकुन्तल नाटके (४)—

अनिष्टाशङ्कीनि बन्धुहृदयानि भवन्ति हि ॥३॥

बन्धुओं के हृदयों में अनिष्ट की आशङ्काएँ उदित होती ही रहती हैं ।।३।।

समुद्रेर तीरे आसि युकति करिला । चिराइया पर्वत दिके कथोजन गेला ।।३८।।
पूर्व दिशाय चले स्वरूप लञा कथोजन । सिन्धु तीरे-तीरे करे प्रभुर अन्वेषण ।।३९।।
विषादे विह्वल सभे, नाहिक चेतन । प्रभु प्रेमे करि बुले प्रभुर अन्वेषण ।।४०।।
देखे एक जालिया आइसे कान्धे जाल करि । हासे कान्दे नाचे गाय,बोले 'हरि-हरि।।४१।।
जालियार चेष्टा देखि सभार चमत्कार ? स्वरूपगोसाञि तारे पुछिल समाचार ।।४२।।

सब भक्त-गण समुद्र के किनारे आए और विचार करने लगे कि प्रभु को कहाँ ढूण्ढें । समुद्र की तरङ्गों पर सब ने दृष्टि डाली । फिर कुछ व्यक्ति चिराइया–नामक पर्वत की ओर प्रभु को ढूण्ढने गये । श्रीस्वरूप कुछ भक्तों को साथ लेकर पूर्व दिशा में चले और सिन्धु के किनारे पर, सिन्धु के जल में प्रभु का अन्वेषण करने लगे । प्रभु के वियोग में सब के सब विह्वल हो रहे थे, पाँव चलते न थे । शरीर में चेतन शक्ति न थी किन्तु प्रभु के प्रेम में वे भ्रमण कर रहे थे एवं प्रभु को ढूण्ढ रहे थे । अचानक सब क्या देखते हैं कि एक माहीगीर (मच्छली पकड़ने वाला) कन्धे पर जाल डाले हुए आ रहा है, वह कभी हँसता है, कभी रोता है और "हरि–हरि" बोल कर कभी नाचने -गाने लगता है । उसकी चेष्टाओं को देख कर सब चमत्कृत हो उठे । श्रीस्वरूप गोस्वामी जी उस से पूछने लगे ।।३८–४२।।

कह जालिक एइदिगे देखिले एक जन ? तोमार ए दशा केने, कहत कारण ? ।।४३।।
जालिया कहे,इहां एक मनुष्य ना देखिल । जाल वाहिते एक मृतक मोर जाले आइल।।४४।।
'बड़ मत्स्य'बलि आमि उठाइल यतने । मृतक देखिते मोर भय हैल मने ।।४५।।
जाल खसाइते तार अङ्ग स्पर्श हैल । स्पर्श मात्रे सेइ भूत हृदये पशिल ।।४६।।
भये कम्प हैल मोर, नेत्रे बहे जल । गद्गद् वाणी, रोम उठिल सकल ।।४७।।
किवा ब्रह्मदैत्य किवा भूत कहने ना याय । दर्शनमात्रे मनुष्येर पैशे सेइ काय ।।४८।।

श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने पूछा—"अरे जालिक ! इस तरफ तुम ने क्या किसी व्यक्ति को जाते देखा है ? यह तुम्हारी क्या दशा हो रही है ? इसका कारण तो कह ।" वह जालिक (माहीगीर) बोला "मैंने इधर किसी मनुष्य को तो नहीं देखा है । मैंने जाल फेंके रखा था, एक मृतक मनुष्य मेरी जाल में आ गया था, उसे मैंने अवश्य देखा है । मैंने समझा था कि कोई बड़ा मच्छ मेरी जाल में आ फँसा है । मैंने बहुत यत्न पूर्वक जब जाल खींचा तो देखा कि एक मृतक मनुष्य है । उसे देख कर मैं बहुत ही भय-भीत हो उठा । मुझे अपना जाल तो छुड़ाना ही था, मेरा हाथ उसके शरीर से छू गया । स्पर्श मात्र होते ही वह भूत मेरे हृदय में घुस गया । भय से मेरा शरीर काँपने लगा, उसी समय से मेरे नेत्रों से जल बहने लगा । मेरी आवाज नही निकलती थी । मेरे रोमाञ्च हो गये । वह कोई ब्रह्मदैत्य है या कोई भूत–यह मैं नहीं जान सका हूँ । वह तो देखने मात्र से ही मेरे शरीर में प्रवेश कर गया है ।।४३–४८।।

शरीर दीघल तार, हात पांच-सात । एकेक हाथ पाद तार तिन तिन हाथ ।।४९।।
अस्थिसन्धि छुटिल, चाम करे नड़बड़े । ताहारे देखिते प्राण नाहि रहे धड़े ।।५०।।
मड़ा-रूप धरि रहे उत्तान–नयन । कभु'गों गों' करे, कभु रहे अचेतन ।।५१।।

साक्षात् देखिछों मोरे पाइल सेइ भूत । मुञि मैले मोर कैछे जीवे स्त्री-पूत ।।५२।।
सेइ त भूतेर कथा कहने ना याय । ओझा-ठाञि याइछों यदि से भूत छाड़ाय।।५३।।

उस जालिया ने कहा—"उसका शरीर पाँच-सात हाथ लम्बा है, उसका एक-एक हाथ पाँव तीन-तीन हाथ लम्बा है। अस्थियों की सन्धियाँ तो उसकी छूट गई हैं एवं उसका चर्म लटक गया है—बहुत ही भयानक रूप है, देखते ही प्राण शरीर में नहीं रहते हैं और आश्चर्य की बात यह है कि मरा हुआ है किन्तु नेत्र उसके ऊँचे उठ रहे हैं, कभी तो चुप चाप रहता है और कभी गों-गों करने लगता है। मैंने तो साक्षात् देखा है वही भूत मेरे भीतर घुस गया है, हाय ! अब मैं मर जाऊँगा, मेरे स्त्री-पुत्र कैसे जीयेंगे। महाशय ! उस भूत की बड़ी विचित्र कथा है, कुछ कह नहीं सकता हूँ। मैं तो ओझा (भूत-उतारने वाले) के पास जा रहा हूँ, यदि वह मेरा भूत निकाल दे" ।।४६-५३।।

एका रात्र्ये बुलि मत्स्य मारिये निर्जने । भूतप्रेत ना लागे आमाय नृसिंह-स्मरणे ।।५४।।
एइ भूत 'नृसिंह' नामे चापये द्विगुणे । ताहार आकार देखि भय लागे मने ।।५५।।
ओथा ना याइह आमि निषेधि तोमारे । ताहां गेले सेइ भूत लागिवे सभारे ।।५६।।
एत शुनि स्वरूप गोसाञि सब तत्व जानि । जालियाके कहे किछु सुमधुर वाणी।।५७।।
'आमि बड़ ओझा,जानि भूत छाड़ाइते । मन्त्र पड़ि श्रीहस्त दिल तार माथे ।।५८।।
तिन चापड़ मारि कहे-'भूत पलाइल' । 'भय ना पाइह' बलि सुस्थिर करिल ।।५६।।
एके प्रेम, आरे भय, द्विगुण अस्थिर । भय अंश गेल, सेइ किछु हैल धीर ।।६०।।

उस जालिया ने आगे कहा—"मैं तो रात में अकेला घूमा करता था एवं मच्छलियों को मारता फिरता था। मैं नृसिंह का स्मरण करता रहता था, जिस से मुझे निर्जन स्थान पर भी भूत प्रेत की वाधा नहीं होती थीं, किन्तु यह भूत निराला दीखता है, मैं ज्यों-ज्यों नृसिंह-नाम उच्चारण करता हूँ, यह दुगना उछलता और मुझे दबाता है। उसके आकार को देख कर मन को भय लगता है। महाशय ! मेरी एक बात मानिये, आप लोग उधर मत जाओ, वहाँ जाने से आप सब को वह भूत पकड़ लेगा।" जालिया के वचन सुन कर श्रीस्वरूप गोस्वामी सब तत्त्व जान गए और उसे सुमधुर वाणी से कहने लगे-"अरे ! मैं एक ओझा तुम्हारे सामने खड़ा हूँ, भूत छुड़ाना तो मैं भी जानता हूँ।" इतना कह कर श्री-स्वरूप जी ने कुछ मन्त्र पढ़ा और अपना श्रीहस्त उसके सिर पर धर दिया। फिर उसे तीन चपेटें मार कर कहा—"ले, भूत भाग गया है। अब ज़रा भी भय मत करो।" इस प्रकार उसे सुस्थिर किया। एक तो प्रेम से अस्थिरता हुआ करती है, और दूसरे भय से भी मनुष्य अस्थिर हो जाया करता है। जालिया तो इन दोनों से (प्रेम से एवं भय से) अस्थिर हो रहा था। श्रीस्वरूप की कुशलता से उस जालिया का भय तो जाता रहा, कुछ वह स्थिर हो गया। (किन्तु अभी उसमें प्रेम की अस्थिरता बाकी थी।)

स्वरूप कहे—यारे तुमि कर भूत-ज्ञान । भूत नहे तेंहो, कृष्णचैतन्य भगवान् ।।६१।।
प्रेमावेशे पड़िला तेंहो, समुद्रेर जले । तांरे तुमि उठाञाछ आपनार जाले ।।६२।।
तांर स्पर्शे हैल तोमार कृष्ण प्रेमोदय । भूत-प्रेत ज्ञाने तोमार हैल महाभय ।।६३।।
एबे भय गेल तोमार, मने हैल स्थिरे । काहां तांरे उठाञाछ,देखाह आमारे ।।६४।।

जालिया कहे,प्रभुके मुञि देखियाछों बार बार। तेंहो नहे,लइ अति विकृत आकार॥६५॥
स्वरूप कहे, तांर हय प्रेमेर विकार। अस्थि-सन्धि छाड़े,हय अति दीर्घाकार ॥६६॥
शुनि सेइ जालिया आनन्दित हैल। सभा लञा गेला महाप्रभुके देखाइल ॥६७॥

श्रीस्वरूप जी ने कहा—"अरे भाई! जिसे तुम भूत जान रहे हो वह भूत नहीं है, वे तो भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य हैं। वे प्रेमावेश में समुद्र में कूद पड़े थे, उन्हीं को तुमने अपने जाल में खींचा है। उनके स्पर्श से तुम्हारे हृदय में कृष्णप्रेम का उदय हो आया है, (क्योंकि वे प्रेम-पारसमणि हैं न।) तुम भूत-प्रेत जान कर महा भयभीत हो गए। अब तुम कुछ भी भय मत करो, मन को स्थिर करो। तुम ने प्रभु को कहा छोड़ा है, चल कर हमें वह स्थान दिखाओ।" श्रीस्वरूप के वचन सुन कर वह जालिया बोला—'ठाकुर! तुम क्या कह रहे हो? मैंने महाप्रभु जी को तो अनेक बार देखा है, मैं उन्हें अच्छी प्रकार पहचानता हूँ। वे नहीं थे, वह तो बहुत ही विकृत-आकार का शरीर था।" श्रीस्वरूप ने कहा—"भाई! तुम क्या जानो? उन में प्रेम के विकार ऐसे ही अद्भुत हुआ करते हैं, उनकी अस्थियाँ सन्धियों को छोड़ देती हैं और वे बहुत दीर्घाकार के हो जाते हैं।" यह बात सुन कर वह जालिया बहुत आनन्दित हुआ और सब को प्रभु के पास ले आया ॥६१-६७॥

भूमि पड़ि आछे प्रभु, दीर्घ सब काय। जले श्वेत तनु,बालु लागियाछे गाय ॥६८॥
अति दीर्घ शिथिल तनु, चर्म नटकाय। दूर पथ, उठाञा घरे आनन ना याय ॥६९॥
आर्द्र कौपीनी दूर करि शुष्क पराइया। बहिर्वासे शोयाइल बालुका झाड़िया ॥७०॥
सभे मिलि उच्च करि केर सङ्कीर्त्तने। उच्च करि कृष्णनाम कहे प्रभुर काणे ॥७१॥
कथोक्षणे प्रभुर काणे शब्द प्रवेशिला। हुङ्कार करिया प्रभु तबहिं उठिला ॥७२॥
उठितेइ अस्थि सब लागिल निजस्थाने। अर्द्धबाह्ये इति-उति करे दरशने ॥७३॥

वहाँ जाकर सब क्या देखते हैं कि श्रीमहाप्रभु भूमि पर अचेतन अवस्था में पड़े हुए हैं, सर्वाङ्ग उनके दीर्घाकार हो रहे हैं, जल में अनेक समय तक रहने से उनका शरीर श्वेत पड़ गया था एवं वे रेत में लथपथ हो रहे थे। अति दीर्घ किन्तु शिथल शरीर था और सब त्वचा लटक रही थी। यह सब देख कर सब भक्त अत्यन्त दुखी हुए। बहुत दूर निकल आए थे, प्रभु को उठा कर उनके निवास-स्थान पर ले आना असम्भव ही था, यह सोच कर उन्होंने प्रभु की गीली कौपीन उपार ली और एक सूखी कौपीन उनको धारण करा दी। उनके शरीर की बालु झाड़ दी एवं एक बहिर्वास विछा कर प्रभु को उस पर सुला दिया। फिर सब भक्त श्रीमहाप्रभु जी के चारों ओर बैठ गये एवं सब मिल कर उच्च स्वर से सङ्कीर्त्तन करने लगे। प्रभु के कानों में भी उच्च स्वर से श्रीकृष्ण नाम सुनाने लगे। ऐसा करते-करते कुछ देर के बाद प्रभु के कानों में श्रीकृष्ण नाम ने जब प्रवेश किया, तब हुङ्कार करते हुए श्रीमहाप्रभु उठ बैठे। उठते ही उनकी समस्त अस्थियाँ अपनी-अपनी जगह पर पुनः जुड़ गईं एवं प्रभु अर्द्ध बाह्य-अवस्था में इधर-उधर देखने लगे ॥६८—७३॥

तिन दशाय महाप्रभु रहे सर्वकाल। अन्तर्दशा, बाह्यदशा अर्द्धबाह्य आर ॥७४॥
अन्तर्दशा किछु घोर किछु बाह्यज्ञान। सेइ दशा कहे भक्त 'अर्द्धबाह्य नाम ॥७५॥

अर्द्धबाह्ये कहे प्रभु प्रलाप – वचने । आकाशे कहेन, सब शुने भक्तगणे ।।७६।।
'कालिन्दी' देखिया आमि गेलाङ वृन्दावन । देखि, जल क्रीड़ा करे व्रजेन्द्र नन्दन ।।७७।।
राधिकादि गोपीगण सङ्गे एकत्र मेलि । यमुनार जले महारङ्गे करे केलि ।।७८।।
तीरे रहि देखि आमि सखीगण सङ्गे । एक सखी सखीगणे देखाय से रङ्गे ।।७६।।

अन्तर्दशा, बाह्यदशा तथा अर्द्धबाह्य दशा—इन तीनों दशाओं में से एक न एक दशा हर समय श्रीमहाप्रभु जी की रहती ही थी। जिस दशा में, अन्तर्दशा अर्थात् बाहरी मूर्च्छा या वेसुद्धि और बाह्य-ज्ञान अर्थात् बाहर का भी ज्ञान—ये दोनों रहती हैं, उस दशा को भक्त अर्द्ध बाह्य-दशा कहा करते हैं। उस अर्द्ध बाह्य-अवस्था से श्रीमहाप्रभु कुछ प्रलाप वचन कहने लगे, उनका लक्ष्य किसी व्यक्ति की ओर न था, आकाश की ओर देख कर कह रहे थे, किन्तु सब भक्त गण उनके वचनों को सुन रहे थे। श्रीमहाप्रभु जी गोपीभावावेश में कहने लगे—"कालिन्दी को देख कर मैं श्रीवृन्दावन चली गई थी। वहाँ जाकर मैंने देखा—श्रीव्रजेन्द्रनन्दन जल-क्रीड़ा कर रहे थे। श्रीराधिकादि सब गोपियों को साथ लेकर वे यमुना जल में महा आनन्द में जलकेलि कर रहे थे। मैं वहाँ सखीगणों के साथ किनारे पर रह कर सब क्रीड़ा देखने लगी एवं एक सखी हम सब सखियों को वह क्रीड़ा—लीला दिखाने लगी।" ।।७४-७६।।

चै० च० चु० *टीका:*—ऊपर के पयार से ज्ञात होता है कि भावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी किनारे पर खड़े होकर श्रीकृष्ण की जल-क्रीड़ा देख रहे थे और परवर्त्ती त्रिपदी-समूह से ज्ञात होता है कि श्री-राधिकादि-कान्तागणों के साथ श्रीकृष्ण यमुना में जल-क्रीड़ा कर रहे थे। इस से स्पष्ट समझा जा सकता है कि इस समय श्रीमहाप्रभु जी राधाभाव में आविष्ट न थे, परन्तु मञ्जरी भाव में ही वे आविष्ट थे, इस-लिये वे मञ्जरी-गण के साथ किनारे पर खड़े होकर जल-क्रीड़ा देख रहे थे। वैसे तो राधाभाव ही प्रभु का स्वरूपानुबन्धिभाव है, किन्तु यहाँ उद्घूर्णावश राधाभावाविष्ट प्रभु अपने को मञ्जरी जान रहे हैं।

रासलीला-रहस्य—इस परिच्छेद के तृतीय एवं चतुर्थ पयारों से जाना जाता है कि शरत्काल की चान्दनी युक्त समुज्ज्वल रात्रि देखकर श्रीमहाप्रभुजी को रासलीला का आवेश हुआ था एवं वे उद्यान-उद्यान में भ्रमण कर रहे थे। जलकेलि विषयक—"ताभिर्युतः श्रममपोहितुम्"—इत्यादि श्लोक जो प्रभु ने पढ़ा था वे भी रास-लीला के अन्तर्भुक्त ही है। क्योंकि जलकेलि के बाद भी श्रीकृष्णचन्द्र ने यमुना किनारे गोपियों को लेकर लीला की थी। इसलिए यह जलकेलि भी रासलीला की अङ्गीभूत है। इसी जलकेलि के भाव में आविष्ट होकर प्रभु यमुना के भ्रम में समुद्र में कूद पड़े थे। परवर्त्ती त्रिपदी समूह में प्रभु का अर्द्धबाह्यावस्थामय प्रलाप जिस जलकेलि के सम्बन्ध में है, वह भी श्रीकृष्ण की रासलीला की अङ्गीभूत ही है।

परवर्त्ती त्रिपदी समूह में जो जलकेलि एवं रासकेलि वर्णित है, वह साधारण लोगों के लिये प्राकृत काम-क्रीड़ा या उसी के सदृश कोई लीला प्रतीत हो सकती है। श्री श्रीचैतन्यचरितामृत में (मूल एवं टीका में) अनेक जगहों पर प्रसङ्गवश यह बात कही जा चुकी है कि व्रजसुन्दरियों के साथ श्रीकृष्ण की जो लीला है उसमें बाहरी लक्षण काम-क्रीड़ा के कुछ सदृश प्रतीत होते हुए भी वह काम क्रीड़ा नहीं है, बल्कि वह उनके कामगन्धहीन सुनिर्मल प्रेम की ही एक अपूर्व वैचित्रीमय अभिव्यक्ति विशेष है। किन्तु जब तक हमारे चित्त में भुक्ति वासना का बीज वर्त्तमान है और इसलिये जब तक हमारे चित्त में शुद्धा-भक्ति का आविर्भाव नहीं होता है, तब तक श्रीश्यामसुन्दर की रास-लीला का रहस्य समझना हमारे लिये

प्रायः असम्भव ही है। तथापि शास्त्र वाक्यों द्वारा एवं शास्त्र प्रतिष्ठित कुछ युक्तियों के द्वारा इस विषय में कुछ धारणा प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। रासलीला का प्रसङ्ग वर्णन या श्रवण करने से पहले उस प्रकार की एक धारणा का लाभ करना आवश्यक भी है, नहीं तो उपकार के बदले अपकार होने की भी आशङ्का रहती है। इसलिये श्रीमहाप्रभु की प्रलापोक्त जलकेलि वर्णात्मक परवर्त्ती त्रिपदी समूह की आलोचना करने से पहले रासलीला के रहस्य-सम्बन्ध में कुछ आलोचना सङ्गत जान पड़ती है।

सब से पहले हम यह देखते हैं कि श्रीमद्भागवत में रासलीला-कथा का वक्ता कौन है! श्रोता कौन है! इस कथा का कौन–कौन ने आस्वादन किया है। फिर हम यह देखेंगे कि व्रजसुन्दरियों के इस प्रेम विकाश के साक्षात् दर्शन करके किन–किन व्यक्तियों ने इस लीला की स्तुति—प्रशंसा की है। इन सब के स्वरूप व मन की अवस्था की विवेचना करने से ही यह समझा जा सकता है कि काम-क्रीड़ा-कथा-प्रसङ्ग में इन में से कोई भी रुचि रखने वाला नहीं था। अतः वह वास्तव में काम क्रीड़ा थी ही नहीं। उसके बाद रासलीला के सम्बन्ध में अन्यान्य विषयों की हम आलोचना करेंगे।

रासलीला के वक्ता—श्रीमद्भागवत जी में हैं—श्रीव्यासतनय श्रीशुकदेव जी। वद्रिकाश्रम पर तपस्या करते-करते श्रीव्यास जी जब श्रीभगवान् के चरणों को उपलब्ध कर आनन्द सागर में निमग्न हो रहे थे, तब उनके चित्त में किसी प्रेमप्लुत चित्त भक्त के मुख से श्रीकृष्ण की लीला—कथा सुनने के निमित्त एक पुत्र–प्राप्ति की वासना उदित हो उठी। श्रीकृष्ण कथा-लीला सुनने की तीव्र इच्छा ही श्रीशुकदेवजी के जन्म का मूल कारण थी। तदनन्तर यज्ञ काष्ठ के घर्षण से श्रीशुकदेव जी का उद्भव हुआ—ऐसा सुना जाता है। कुछ भी हो श्रीशुकदेव जी का जन्म इन्द्रिय-तृप्ति की वासना द्वारा नहीं हुआ और जिनके पिता जो लीला-कथा के वक्ता परम तपस्वी श्रीव्यासदेव थे, उनके चित्त में काम-कथा कहने की प्रवृत्ति कभी भी सम्भव नहीं हो सकती और यह भी कहा जाता है कि श्रीशुकदेव जी द्वादश वर्ष तक माता के गर्भ में रहे आए। मायिक संसार की भूमि स्पर्श करने से उनको भी माया वान्ध लेगी—इसी आशङ्का से वे मातृगर्भ से बाहर ही नहीं आते थे। उनको अपना एकान्त भक्त जान कर जब भगवान् श्रीकृष्ण ने उनको अभय वरदान दिया कि माया उनको स्पर्श भी न कर सकेगी, तब वे मातृगर्भ से बाहर आए।

वक्तव्य यह है कि श्रीशुकदेवजी गर्भावस्था से ही माया-मुक्त थे, और फिर मातृ-गर्भ से बाहर आते ही जो उलङ्ग अवस्था में ही घर को छोड़ कर वन को चल दिये, जिन को कुछ भी वाह्य अनुसन्धान न था, जिनको स्त्री-पुरुष के भेद का भी ज्ञान न था, जल-केलि परायण गन्धर्व-नारीगण जिन श्रीशुकदेवजी को नंगा देख कर भी सङ्कुचित नहीं हुईं—उनमें काम-कथा कहने की प्रवृत्ति की कल्पना भी कभी की जा सकती है? कदाचित् नहीं—ऐसे श्रीशुकदेव मुनि इस लीला के वक्ता हैं।

रासलीला के मुख्य श्रोता थे—महाराज परीक्षित जी! श्रीपरीक्षित जी को ब्रह्म शाप हुआ कि सात दिन के भीतर तक्षक के दंशन से उनकी मृत्यु हो जाएगी—अपनी मृत्यु को जान कर अपने पार-लौकिक मङ्गल के निमित्त श्रीहरिकथा को सुनने की बलवती लालसा के साथ गङ्गा तीर पर आ गए। वहाँ श्रीव्यास-पराशरादि शत-सहस्र देवर्षि, महर्षि, राजर्षि एवं ब्रह्मर्षि जिन को कथा सुनाने के लिये एकत्रित हुए थे. वे महाराज श्री परीक्षित जी—रासलीला कथा के श्रोता। उस अवस्था में क्या वे पशुभावात्मक काम-क्रीड़ा कथा सुनने की इच्छा रखते होंगे? ऐसा सम्भव नहीं, स्वाभाविक भी नहीं। अतः रासलीला के श्रोताओं में या मुख्य श्रोता श्रीपरीक्षित महाराज की मनोवृत्ति भी काम-क्रीड़ा कथा सुनने की नहीं थी।

रासलीला कथा के आस्वादक—वैसे तो असंख्य महत् पुरुष भगवत् भक्त हैं, असंख्य महर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि गणों ने इस लीला-कथा का आस्वादन किया, कर रहे हैं और करते रहेंगे, किन्तु प्रसङ्ग में जो इस कथा-सर का आस्वादन कर रहे हैं, वे हैं—श्रीमन्महाप्रभु जी तथा उनके पार्षद गण। श्रीमन्महाप्रभुजी स्वयं भगवान् हैं, उनके परिकरगण उनके नित्य पार्षद ही हैं, अत: उनमें कोई भी साधारण जीव नहीं है—ऐसा होते पर भी किन्तु जीव शिक्षा के लिये इन सब ने जीवों की भान्ति भक्त-भाव को अङ्गीकार किया है। रासलीला के ये सब आस्वादक कैसे हैं? श्रीमन्महाप्रभु जी ने तो श्रीकृष्णभजन के निमित्त किशोरी भार्या को, वृद्धाजननी को, देशव्यापी पाण्डित्य गौरव को एवं प्रतिष्ठादि को तृणवत् त्याग कर संन्यास ग्रहण किया था, एवं अन्तर्धान होने के पहले क्षण तक भी उन्होंने किसी समय भी संन्यास के नियम का विन्दुमात्र भी उलङ्घन नहीं किया था। उन्होंने सदा अपने आचरण द्वारा जीव को आचरण एवं संन्यास की मर्यादा की शिक्षा दी, उन्होंने कभी भी ग्राम्य-कथा (स्त्री सम्वन्धीय कोई बात) स्वयं न सुनी और सदा अपने अनुग्रही को ग्राम्य-वार्त्ता सुनने का निषेध करते रहे—इस अवस्था में कोई यह कह सकता है कि वे प्रभु काम-क्रीड़ा का वर्णन करेंगे, कोई भी ऐसी कल्पना नहीं कर सकता।

श्रीमहाप्रभु जी के सङ्गी श्रीस्वरूप दामोदर आजन्म ब्रह्मचारी थे। श्रीराय रामानन्द जी के सम्बन्ध में तो प्रभु ने स्वयं कहा है कि रामानन्द गृहस्थ होते हुए भी काम-क्रोध-मोहादि षड्वर्ग के वशीभूत नहीं हैं। श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी को तो विवाहिता स्त्री का भी कोई आकर्षण न था। श्रीकृष्ण-भजन के निमित्त उन्होंने समस्त विषयों का संश्रव त्याग कर श्रीमहाप्रभुजी की शरण ग्रहण की थी। यदि श्रीमहाप्रभु जी की प्रलापवर्णित रासलीला में काम-क्रीड़ा की गन्धमात्र भी होती तो ये सब उसका आस्वादन कभी न कर पाते और न ही ये प्रभु के साथ अधिक दिन रह पाते।

रासलीला के अनुभव कर्त्ताओं की बात भी उल्लेखनीय है। जिनके साथ भगवान् श्रीकृष्ण ने रासलीला की, उन व्रजसुन्दरियों के अपूर्व प्रेम विकाश को देख कर श्रीउद्धव जी उच्च स्वर से उनकी प्रशंसा कर गये हैं। श्रीउद्धव जी कैसे थे—श्रीयदुराज के मन्त्री अर्थात् उनके वचन समस्त यदु वंशी आदर पूर्वक मानते थे। वे श्रीकृष्ण के अतिशय कृपा-पात्र एवं अति प्रिय सखा थे। वे वृहस्पति के साक्षात् शिष्य थे, इसलिये वे नीति शास्त्र से लेकर भगवद् विषयक शास्त्रों के परम अभिज्ञ थे। यहाँ तक कि अपने विरह में आर्त्त-व्रजवासियों को अपनी कुशल कथा सुनाने के लिये और अनुषङ्गिक भाव से व्रजवासियों के शुद्ध प्रेम की महिमा जानने के लिये—श्रीकृष्ण ने श्रीउद्धव जी को ही व्रज में भेजा था। जब श्रीउद्धव जी वहाँ व्रज में पहुंचे एवं व्रज-गोपियों से मिले, तो श्रीकृष्ण विरहिणी व्रजगोपियों ने प्रेम विह्वल चित्त से श्रीउद्धव जी को श्रीकृष्ण का सब आचरण, श्रीकृष्ण के साथ अपना आचरण-रासादि लीला की समस्त कथा निःसङ्कोच होकर व्यक्त की। श्रीउद्धव जी ऐश्वर्य भाव के भक्त थे। श्रीकृष्ण की सब आचरण कथा सुन कर एवं उनके श्रीकृष्ण प्रेम को देख कर श्रीउद्धव जी मुग्ध रह गए एवं विस्मित हो उठे। वे कई मास तक व्रज में रहे एवं व्रजगोपियों का परमानन्द विधान करते रहे एवं स्वयं भी परमानन्द का अनुभव करते रहे। व्रज-गोपियों का सङ्ग पाकर श्रीउद्धव जी गोपी प्रेम के लिये लालायित हो उठे एवं उनकी इस प्रकार प्रशंसा करने लगे—"गोपिकाओ ! आपका जन्म सार्थक है। अखिलात्मा श्रीकृष्ण में तुम्हारा अधिरूढ़ महाभाव है, जिसकी मुमुक्षु एवं मुक्तगण भी कामना करते हैं। व्रजाङ्गनाओ ! आपने रासोत्सव में श्रीकृष्ण की बाहुओं द्वारा आलिङ्गित होकर जिस सौभाग्य को प्राप्त किया है, श्रीनारायण के वक्षस्थल पर विलास करने वाली लक्ष्मी भी उस सौभाग्य को प्राप्त

नहीं कर सकती है। "श्रीउद्धव जी व्रज-गोपियों के सौभाग्यों की प्रशंसा करते-करते शुद्ध व्रज प्रेम प्राप्ति का उपाय चित्त में स्थिर करके कहने लगे—"व्रजसुन्दरिगण ! आपके चरणों की रज की कृपा व्यतीत इस शुद्ध प्रेम की प्राप्ति की सम्भावना कहीं भी नहीं हैं" यह बात स्थिर करके श्रीउद्धव जी आकुल प्राणों से प्रार्थना करने लगे—(श्री भा: १०-४७-६१)

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यं पथञ्चहित्वा
भेजे मुकुन्द पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥ज्ञ॥

"जिन्होंने दुस्त्यज्य स्वजन-आर्यपथादि का परित्याग करके मुकुन्दपदवी की सेवा की है, जिस मुकुन्द-पदवी का श्रुतिगण भी अनुसन्धान करती रहती हैं, जिन्होंने सर्व त्याग करके मुकुन्द पदवी का सेवन किया है, उनकी (गोपियों की) चरण रेणु को प्राप्त करने की आशा में श्रीवृन्दाबन में कोई एक लता, व गुल्म व औषधि होकर यदि मैं जन्म ग्रहण कर सकूं, तब मैं अपने को कृतार्थ मानूंगा।"

श्रीउद्धवजी ने जिनके सौभाग्य की एवं प्रेम को इस प्रकार भूरि-भूरि प्रशंसा की है, उन व्रजसुन्दरीगणों के चित्त में आत्मेन्द्रिय प्रीति मूलक कामभाव क्या रह सकता है ? ऐसी कल्पना करना भी महापातक है।

किसी कथा के वक्ता, श्रोता, आस्वादक एवं प्रशंसक के वैशिष्ट्य एवं महत्व द्वारा ही उस कथा का वैशिष्ट्य एवं महत्त्व जाना जा सकता है। जिस रासलीला कथा के वक्ता हैं, समस्त ऋषि-मुनियों के वन्दनीय श्रीशुकदेव गोस्वामी और जिस कथा के श्रोता हैं—मृत्युकाल को जान लेने वाले के पश्चात् अपने परम मङ्गल साधन के जिज्ञासु श्रीपरीक्षित महाराज, जिस कथा के आस्वादक हैं—जिन्होंने जीवन पर्यन्त कभी स्त्री शब्द का उच्चारण नहीं किया, वे संन्यासी शिरोमणि श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य, और जिस कथा के प्रशंसक हैं—सर्वशास्त्र अभिज्ञ विलक्षण राजमन्त्री परमभागवत श्रीउद्धव, उस रासादि लीला कथा को काम-क्रीड़ा कथा कह कर अनुमान लगाना भी युक्तिसङ्गत नहीं है।

रासलीला के रहस्य को लक्ष्य न करके जो लोग आलिङ्गन चुम्बनादि कुछ एक बाहरी क्रियाओं को देख कर व्रज-सुन्दरियों के साथ श्रीकृष्ण की रासलीला को काम क्रीड़ा समझते हैं, वे लोग यदि विवेचना पूर्वक देखें तो वे जान सकेंगे कि केवल बाहरी लक्षणों द्वारा किसी वस्तु के स्वरूप का परिचय प्राप्त नहीं हो सकता है। पिता-माता अपनी सन्तान को आलिङ्गन चुम्बन करते हैं, जो काम क्रीड़ा के चुम्बन आलिङ्गन के सदृश दीखते हैं, किन्तु वह आचरण वास्तव से काम-क्रीड़ा नहीं है। श्रीशुकदेव, श्रीपरीक्षित, श्रीमन्महाप्रभु एवं श्रीउद्धवादि जिस कथा को कहते-सुनते हैं, जिस कथा के रसास्वादन में विभोर हो उठते हैं, उस रासलीला कथा के स्वरूप या रहस्य को यदि कोई भाग्यवान् पुरुष जानने की इच्छा रखता है तो उसे रास लीला के स्वरूप-लक्षण एवं तटस्थ लक्षण ये दोनों समझने की आवश्यकता है।

ऊपर जो हम रासलीला-कथा के वक्ता-श्रोतादि के विषय का उल्लेख कर आए हैं, वह केवल इस कथा के वैशिष्ट्य एवं महत्व के सम्बन्ध में कुछ जानने की इच्छा रखने वालों के मनोयोग को आकर्षण करने के लिए है। मनोयोग के आकृष्ट होने पर ही किसी विषय के तत्त्व जानने की इच्छा हुआ करती है। किसी वस्तु का तत्व या स्वरूप उसके तटस्थलक्षण एवं स्वरूप लक्षण जानने से अवगत किया जा

सकता है। किसी वस्तु का बाहरी जो कार्य या प्रभाव दीखने में आता है, वही उसका तटस्थ-लक्षण होता है और कोई वस्तु स्वरूपतः जो कुछ है या जिस उपादानादि से गठित है, वह उसका स्वरूप-लक्षण हुआ करती है। हर वस्तु का तटस्थ-लक्षण ही साधारणतः पहले हमारी दृष्टि को आकर्षण करता है, इसलिये हम पहले रासलीला के तटस्थ लक्षणों पर विचार करते हैं।

रासलीला का तटस्थ लक्षण—रासलीला की व्याख्या में श्रीपाद श्रीधर स्वामी जी ने कुछ एक तटस्थ लक्षणों का उल्लेख किया है। टीका के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण में ही उन्होंने लिखा है—"**ब्रह्मादि-जय संरूढ़दर्प-कन्दर्प-दर्पहा। जयति श्रीपतिर्गोपीरास मण्डल-मण्डितः॥**" अर्थात् अपने प्रभाव से ब्रह्मादि में भी चञ्चलता सम्पादन करने में समर्थ होजाने से जिस का दर्प अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हो चुका था, उस कामदेव के दर्प को हरण करने वाले, गोपी-गणों के द्वारा रासमण्डल में सुशोभित श्रीकृष्ण जययुक्त हों।' इस से ज्ञात होता है कि गोपियों के साथ रासलीला से भगवान् श्रीकृष्ण ने कामदेव के दर्प (अभिमान) को विनष्ट किया है और भी उन्होंने लिखा है—"**तस्मात् रासक्रीड़ा-विडम्बनं काम-विजय ख्यापनाय इति तत्त्वम्।**" अर्थात् कामदेव के विजय-ख्यापन के लिये ही रासलीला की अभिव्यक्ति है। उन्होंने इस उक्ति के हेतु रूप में रासलीला वर्णन करते हुए कई एक वाक्यों का उल्लेख किया है—(क) **योगमायामुपाश्रितः**—श्रीकृष्ण ने अपनी स्वरूपशक्ति की वृत्ति विशेष अघटनघटन-पटीयसी योगमाया को साथ लेकर रासलीला सम्पन्न की थी, बहिरङ्गा शक्ति माया का इस लीला में कुछ भी प्रवेश न था। (ख) **आत्मारामोऽप्यरीरमत्**—श्रीकृष्ण ने आत्माराम होकर भी रमण किया। जो आत्माराम हैं, उनमें आत्मेन्द्रिय-प्रीतिमूला काम-वासना कभी नहीं रह सकती। (ग) **साक्षान्मन्मथ-मन्मथः**—श्रीकृष्ण कामदेव के मन को भी मथन करने वाले हैं, जो कामदेव के मन को मथित करने में समर्थ हैं, उन में काम-क्रीड़ा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। (घ) **आत्मन्यवरुद्ध सौरतः**—सुरत सम्बन्धि-भावों को जिन्होंने अपने में अवरुद्ध कर रखा था, श्रीकृष्ण उनके द्वारा विचलित नहीं हुए। (ङ) **इत्यादिषु स्वातन्त्र्याभिधानात्**—पूर्वोक्त वाक्यादि से ज्ञात होता है रासलीला में श्रीकृष्ण स्वतन्त्र थे। जगत् में सब को मोहित करने वाला कामदेव श्रीकृष्ण की स्वतन्त्रता को नष्ट न कर सका।

श्रीस्वामिपाद ने और भी लिखा है कि—"**किञ्च शृङ्गारकथाप देशेन विशेषतो निवृत्ति परेयं पञ्चाध्यायीति**—रासपञ्चाध्यायी में शृङ्गार रसमयी कथा का वर्णन होते हुए भी शृङ्गार कथा के व्यदेश से प्रवृत्ति की बात न कह कर निवृत्ति की (काम-निवृत्ति की) ही बात कही गई है। अर्थात् रास पञ्चाध्यायी निवृत्तिपरा है, प्रवृत्तिपरा नहीं है।

इन समस्त वचनों का तात्पर्य यह है कि रासलीला कथा से चित्त में प्रवृत्ति या भोगवासना उत्पन्न नहीं होती है, निवृत्ति होती है—भोगवासनाओं का नाश होता है, इस से काम वर्द्धित नहीं होता है, वरं नष्ट होता हैं—यह रासलीला कथा का माहात्म्य या प्रभाव अथवा तटस्थ-लक्षण है।

रासलीला-वर्णन प्रसङ्ग में श्रीशुकदेव जी ने भी उपर्युक्त तटस्थ लक्षणों को बखान किया है। महाराज परीक्षित जी ने उन से प्रश्न किया था—"हे मुने! जो (भगवान् श्रीकृष्ण) धर्म के संस्थापन एवं अधर्म के विनाश के लिए जगत् में अवतीर्ण हुए थे, जो धर्म के संरक्षक थे एवं जो आप्तकाम थे, उन श्रीकृष्ण भगवान् ने व्रज देवियों के साथ इस रासलीला का आचरण क्यों किया? इस से उनका क्या अभिप्राय था?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीशुकदेव जी ने कहा है—व्रज-सुन्दरियों के प्रति, साधक-भक्तों के प्रति एवं जो भविष्य में भजन-साधन में प्रवृत्त होंगे, इन सब के प्रति अनुग्रह करने के लिए परम करुण

श्रीकृष्ण ने रासलीला का अनुष्ठान किया है, इस लीला में अपनी सेवा का सौभाग्य देकर श्रीकृष्ण ने व्रज-सुन्दरियों को कृतार्थ किया है। इस लीला का श्रवण करके साधक भक्त-गण परमानन्द का अनुभव करेंगे एवं अन्य लोग इस के माधुर्य में लुब्ध होकर भगवत्-परायण हो सकेंगे—इस प्रकार सब पर अनुग्रह करने के लिए श्रीभगवान् ने रासलीला का अनुष्ठान किया था। श्रीशुकदेव जी ने कहा है—रासलीला कथा श्रवण करने से जीव भगवत् परायण हो सकता है। यह इस लीला-कथा का स्वरूप-गत धर्म है। इस से यह सूचित होता है कि रासलीला काम-क्रीड़ा नहीं है।

रासलीला के वर्णन के उपसंहार में श्रीशुकदेव जी ने कहा है कि—(श्रीमद्भागवत १०-३३-३९)—

विक्रीड़ितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृदरोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥ क-ख ॥

अर्थात्—"व्रजवधू-गणों के साथ सर्व व्यापक श्रीकृष्ण की इस लीला-कथा को जो श्रद्धा सहित सर्वदा वर्णन करेंगे, श्रवण करेंगे, वे श्रीभगवान् की पराभक्ति को प्राप्त करेंगे एवं शीघ्र ही उनका हृद्रोग काम दूरीभूत हो जाएगा।" ।क-ख॥

'रासलीला के माहात्म्य' प्रभावादि का अध्ययन करते हुए हम इस निष्कर्ष को लाभ करते हैं कि रासलीला-कथा काम-क्रीड़ा नहीं है। अब उसके स्वरूप-लक्षण देखिये—

रासलीला का स्वरूप लक्षण—रासलीला का स्वरूप-लक्षण जानने के लिए, जिनके द्वारा यह लीला अनुष्ठित हुई है, उनके स्वरूप को जानने की आवश्यकता है और फिर रास-शब्द के तात्पर्य को जानने की आवश्यकता है।

रासलीला के नायक श्रीकृष्ण ईश्वर तत्त्व हैं—परमेश्वर एवं माया के अधीश्वर हैं वे स्वयं भगवान् हैं। श्रीकृष्ण जीवतत्व नहीं है, मायाबद्ध जीव नहीं, मायामुक्त जीव नहीं। वे "परं ब्रह्म परं धाम" हैं। रासलीला के प्रथम श्लोक का प्रथम शब्द ही उन्हें 'भगवान्' कह कर वर्णन करता है—"भगवानपि ता रात्रीः" इत्यादि। बीच - बीच में उन्हें आत्माराम, ब्रह्म, आप्तकाम एवं विष्णु अर्थात् सर्व व्यापक इन नामों से पुकारा गया है।

श्रीकृष्ण जीवतत्त्व नहीं हैं, इसलिये बहिरङ्गा माया शक्ति उनके निकट भी नहीं आ सकती, उनकी चित्त वृत्ति की परिचालना तो दूर की बात है। इसलिए श्रीकृष्ण में आत्म सुखवासना या काम का रहना सम्भव ही नहीं है। जिस योगमाया को साथ लेकर श्रीकृष्ण भगवान् ने रासलीला का अनुष्ठान किया, वह योगमाया उनकी स्वरूप-शक्ति का ही एक विलास विशेष है। उनकी स्वरूप-शक्ति सदा उनके आश्रित होकर विराजती है। वह स्वरूप-शक्ति ही केवल मात्र श्रीकृष्ण की समस्त लीलाओं का अनुकूल विधान करती है। स्वरूप शक्ति विलासरूप योगमाया में अघटन-घटन पटीयसी शक्ति है। रासलीला में अनेक अघटन घटनाओं को घटाने का प्रयोजन था, इसलिये श्रीकृष्ण ने अपनी आश्रिता योगमाया को साथ लेकर रासलीला का अनुष्ठान किया।

श्रीकृष्ण में आत्मेन्द्रिय-प्रीति-वासना नहीं है, उन में एक मात्र वासना अथवा उनका एक मात्र व्रत यदि है तो वह है—भक्तचित्त-विनोदन। "मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः" "मैं जो कुछ भी विविध क्रियाएँ—लीलाएँ करता हूँ, वे सब अपने भक्तों के चित्त विनोदन के लिए ही करता हूँ।"

श्रीकृष्ण 'रसो वै सः' आनन्द स्वरूप हैं, रस स्वरूप है। आस्वाद्य एवं आस्वादक हैं। आनन्द मय हैं। इस आनन्द-स्वरूपत्व वशतः आनन्द उनमें स्वतः स्फूर्त्त है। इस स्वतः—स्फूर्त्त आनन्द का वे उपभोग भी करते हैं—यह उनका स्वरूप-धर्म है। उनके उपभोग के पीछे आत्मेन्द्रिय-प्रीति वासना की गन्ध भी नहीं है। इसलिए उन्हें आत्माराम कहा गया है।

रासलीला की नायिका हैं—श्रीव्रजसुन्दरीगण। वे भी जीवतत्त्व नहीं हैं, इसलिए वे भी माया प्रभाव से अतीत हैं। माया जनित स्वसुख-वासना उनके हृदय में भी उदय नहीं हो सकती। श्रीराधा जी श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति की—ह्लादिनी शक्ति की मूर्त्त विग्रह हैं एवं स्वरूप शक्ति की अधिष्ठात्री देवी हैं। श्रीराधा जी के देहेन्द्रिय महाभाव द्वारा गठित हैं, वह प्रेमघन विग्रह हैं। सखीगण भी उनका प्रकाश विशेष हैं, इसलिए वह भी प्रेमघन विग्रह हैं। ब्रह्मसंहिता में कहा गया है कि "श्रीकृष्ण-कान्ता व्रजसुन्दरिगण "आनन्द चिन्मयरस-प्रति भाविताः' हैं। स्वरूप-शक्ति केवल श्रीकृष्ण सुख विधान करती है। व्रजसुन्दरियों में अपने सुख की ओर अपने दुख निवृत्ति की कोई भी वासना नहीं है। स्वरूप शक्ति आत्मेन्द्रिय-प्रीतिवासना जाग्रत नहीं करती है, इसलिए व्रजसुन्दरियों का जो श्रीकृष्ण विषय प्रेम है, वह कामगन्ध-लेश-शून्य है। उनका काम्य एक मात्र श्रीकृष्ण-सुख ही है, इसलिये वे वेदधर्म कुलधर्म, स्वजन, आर्य्यपथ—इन समस्त को परित्याग करके श्रीकृष्ण-सेवा के लिए उन्मत्तवत् भाग कर श्रीकृष्ण सङ्ग को प्राप्त करती हैं।

धर्म संस्थापक एवं धर्म संरक्षक भगवान् श्रीकृष्ण ने उनके आचरण को साधुकृत्य एवं अनिन्द्य कह कर वर्णन किया है एवं उनका चिरऋण स्वीकार किया है। यदि व्रजसुन्दरियों के हृदय में सुख वासना होती, तो श्रीकृष्ण कभी भी ऐसी बात न कहते, कारण कि द्वारका की सोलह हजार एक सौ आठ महिषीगण के आगे श्रीकृष्ण ने कभी भी ऐसी बात नहीं कही है, इसलिए कि उनका श्रीकृष्ण प्रेम स्वसुख-वासना द्वारा भेद प्राप्त हो जाता है। चाहे वे भी जीवतत्त्व नहीं है, श्रीराधा जी का ही प्रकाश रूप हैं किन्तु फिर भी उनकी कृष्णरति सम्भोग-तृष्णा तक कभी-कभी जागृत होने के कारण भेद प्राप्त हो जाती है। इसलिये उनकी कृष्णरति को समञ्जसा-रति कहा जाता है। उनकी सम्भोग तृष्णा भी श्रीकृष्ण रति के साथ तादात्म्य-प्राप्त रहती है। व्रजगोपियों की कृष्णरति का नाम समर्थारति है, जो सम्भोग तृष्णा से कभी भी भेद प्राप्त नहीं होती। वह ऐसी सान्द्रतमा—गाढ़तम है कि उसमें कभी भी स्वसुख-वासना की गन्ध का भी उत्थान नहीं है।

उपर्युक्त आलोचना से ज्ञात होता है कि रासलीला के नायक-नायिका श्रीकृष्ण एवं व्रज-सुन्दरिगण आप्त काम है, आत्माराम हैं, सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, अतः देहेन्द्रिय मूलक सुख वासना से सर्वथा रहित हैं, उन में स्वसुख वासना—काम की गन्ध मात्र भी नहीं है।

रास का स्वरूप क्या है? रास एक क्रीड़ा विशेष का नाम है। साधारणतः नर्त्तक-नर्त्तकी-गण के मण्डलाकार नृत्य को रास कहा जाता है। किन्तु इस प्रकार का मण्डलाकार नृत्य प्राकृत जगत् में और स्वर्गलोक में भी हो सकता है। द्वारका में सोलह हजार महिषी हैं, वहाँ भी इस प्रकार के नृत्य की सम्भावना हो सकती है, किन्तु शास्त्र कहता है—"रासः स्थान्न नाकेऽपि वर्त्तते किं पुनर्भुवि।" अर्थात् रास-क्रीड़ा स्वर्ग में भी नहीं है तब जगत् की तो बात दूर रही। रास-क्रीड़ा जगत् में नहीं है, स्वर्ग में नहीं है, अन्यान्य भगवत् धामों में नहीं है—वैकुण्ठ में नहीं है, यहाँ तक कि मथुरा-द्वारका—श्रीकृष्ण लोकों में नहीं है। केवलमात्र श्रीवृन्दावन में ही रास की अभिव्यक्ति है। इसलिए केवल मण्डलाकार नृत्य को वास्तव में रास नहीं कहा जा सकता।

रस-शब्द से ही रास-शब्द निष्पन्न होता है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्तीपाद ने कहा है—"रसानां समूहः रासः"—रस समूह के अभ्युदय का नाम ही रास है। रस समूह तो जगत् में स्वर्ग में भी उत्सारित हो सकता है, किन्तु जब रास की अभिव्यक्ति जगत्-स्वर्गादि में नहीं बताता है तो इससे ज्ञात होता है कि प्राकृत रसोद्गारी नृत्य को रास नहीं कहा जा सकता। जगत्-स्वर्ग में प्राकृत रस ही अवस्थान करता है। श्रीपाद सनातन गोस्वामी जी ने कहा है—"रासः परमरस कदम्बमयः इति यौगिकार्थः"—अर्थात् मण्डलाकार नृत्य यदि परम रस-कदम्बमय हो, तो तभी उसे 'रास' कहा जाता है। इसलिये सिद्ध होता है परम रस समूह ही रासक्रीड़ा का प्राण है।

वह 'परम रस' क्या है?—परम वस्तु के साथ जिस रस का सम्बन्ध है, वही परम रस है। आनन्द स्वरूप, रस स्वरूप सच्चिदानन्द-तत्त्व ही परम वस्तु है। इसलिये उस परम वस्तु के साथ अथवा उसके किसी प्रकाश या स्वरूप के साथ जिस रस का सम्बन्ध रहेगा, वही परम रस कहा जाएगा। किन्तु आनन्द स्वरूप सच्चिदानन्द वस्तु एवं उसका प्रकाश समूह या स्वरूप समूह सब चिन्मय ही हैं। उनके साथ प्राकृत किसी वस्तु का भी सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसलिए अप्राकृत चिन्मय रस ही 'परम रस' कहा जा सकता है।

वह परम रस चिन्मय होने के कारण समस्त चिन्मय भगवद्धामों में अवस्थान करता है, किन्तु आस्वादन-चमत्कारिता को लेकर जहाँ उस परम रस की सर्वतोभाव से सर्व श्रेष्ठता है, वस्तुतः वहां रस का परम रस है। परव्योमाधिपति श्रीनारायण भगवान् की वक्षस्थल विलासिनी श्रीलक्ष्मी देवी वैकुण्ठ के सर्व श्रेष्ठ रस आस्वादन की अधिकारिणी होकर भी, व्रज में श्रीकृष्ण की सेवा के लिए लालसान्वित हो उठती है एवं उसके लिये तपस्या करने लगती है, इस से पता लगता है परव्योम या वैकुण्ठ रस की अपेक्षा रसत्व या आस्वादन चमत्कारिता के दृष्टिकोण से व्रज रस का उत्कर्ष है। परमलोभनीय व्रज-रस का परम उत्स है—महाभाव। किन्तु वह महाभाव केवल मात्र व्रज सुन्दरियों में ही अवस्थान करता है। व्रजसुन्दरिगण का यह महाभावाख्य भाव जब रसरूप में परिणत होता है, तब कहे इतना परम आस्वाद्यतम व सर्वातिशायी प्रभावशाली हो उठता है कि रस स्वरूप श्रीकृष्ण को व्रजसुन्दरियों के निकट ऋणी होने को बाध्य कर देता है। अतः व्रज का कान्तारस ही सर्व श्रेष्ठ होने से परमरस है।

।साधारण भाव से व्रज कान्तारस ही परम रस होने पर भी उसके परमरसत्व का, आस्वादन-चमत्कारित्व का सर्वातिशायी विकाश कान्ता-शिरोमणि हमारी स्वामिनी श्रीराधाजी में ही है। उन में इस सर्वातिशय विकाश का नाम है—मादन। वह मादनाख्य महाभाव सर्वभावोद्गमोल्लासी प्रेम है जो केवल मात्र श्रीराधा जी में ही विराजता है, श्रीकृष्ण में भी नहीं है। महाभाव समस्त धामों की समस्त प्रेम-वैचित्री की अपेक्षा श्रेष्ठ है—पर है एवं मादनाख्य महाभाव अन्यान्य व्रजसुन्दरियों के महाभाव की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है, अतः परात्पर है। यह आनन्ददायिका ह्लादिनी शक्ति सार या घनीभूत तम अवस्था है, इसलिए गुणों में, स्वाद्याधिक्य में, एवं माहात्म्य में मादनाख्य महाभाव सर्वोत्कृष्ट है। शान्त-दास्यादि पाँचों मुख्य रस तथा हास्याद्भुत-वीर-करुणादि सातों गौण रस एवं अपरापर गोपसुन्दरियों में जो समस्त रस वैचित्री विराजमान् है, मादनाख्य के अभ्युदय में वह समस्त ही उल्लसित व उच्छ्वसित हो उठती है। श्रीराधाजी आदि प्रमुख व्रजसुन्दरियों के साथ श्रीकृष्ण की लीला में श्रीराधाजी का मादनभाव जब उच्छ्वसित होता है, तब अन्यान्य व्रजसुन्दरियों की समस्त प्रेमवैचित्री भी उल्लसित हो उठती है एवं एक अनिर्वचनीय व असमोर्द्ध आस्वादन-चमत्कारित्व की रसवन्या प्रवाहित होने लगती है एवं शान्तदास्यादि

तथा हास्यादि समस्त रस भी कान्तारस के अङ्ग रूप में यथायथ भाव में उच्छ्वसित होकर मूलरस की पुष्टि विधान किया करते हैं। तब वह लीला "**परम रस कदम्बमयी**" कही जाती है।

किन्तु इस परमरस-कदम्बमय लीलारस का मूल उत्स हैं—मादनाख्य-महाभाव वती श्री-वृषभानु नन्दिनी राधाजी। श्रीराधा जी यदि उपस्थित न रहें, अन्यान्य शतकोटि गोपियों के रहते हुए भी उल्लिखितरूप 'परमरस कदम्बमय रस' उच्छ्वसित नहीं हो सकता। इसलिये श्रीराधा जी को **'रासेश्वरी"**—रासलीला की ईश्वरी कहा जाता है। श्रीराधा जी को छोड़ कर यदि श्रीकृष्ण भी परमरस कदम्बमयी रासलीला का अनुष्ठान करना चाहें, तो वह नहीं हो सकेगा। कारण कि श्रीकृष्ण तथा अन्यान्य गोपीगण उस परम रस कदम्ब का उत्स नहीं हैं। श्रीकृष्ण रास-विलासी मात्र हैं, रास विहारी मात्र हैं। श्रीराधा जी जब परम रस कदम्ब रास रस की वन्या प्रवाहित कर देती हैं, श्रीकृष्ण तब उस वन्या में उन्मज्जित निमज्जित होकर विहार कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। श्रीराधा जी—रासेश्वरी श्री-वृषभानुनन्दिनी श्रीवृन्दावन धाम को छोड़ कर और कहीं नहीं विराजती हैं, अतः श्रीवृन्दावन को छोड़ कर अन्य किसी धाम में रासलीला नहीं है और न हो सकती है।

प्रीति के विषय एवं प्रीति के आश्रय—इन दोनों के मिलने पर ही प्रीति रस उच्छ्वसित हुआ करता है। विभाव, अनुभाव, सात्त्विक एवं व्यभिचारी भावों के साथ मिल कर कृष्ण-रति-रस रूप में परिणत हुआ करती है। विभाव दो प्रकार का है—आलम्बन-विभाव तथा उद्दीपन विभाव। आलम्बन-विभाव के फिर दो प्रकार हैं—विषय-आलम्बन तथा आश्रय-आलम्बन। श्रीकृष्ण कान्तारस के विषय-आलम्बन हैं और श्रीकृष्ण-कान्तागण-गोप सुन्दरिगण हैं—कान्तारस की आश्रय-आलम्बन। इन दोनों के एक स्थान पर मिलन में ही रस उद्भव होता है। विशेषतः परमरस कदम्ब मय रासरस का विकाश होता है——बहु नर्त्तक एवं बहु नर्त्तकीगण के मण्डलाकार नृत्य-प्रसङ्ग में, इसलिये अनेक कृष्ण-कान्ताओं का रास में प्रयोजन था। अनेक कान्ताओं के साथ मण्डलाकार होकर नृत्य करना एक मात्र नर्त्तक श्रीकृष्ण के लिये सम्भव न था। इसलिये श्रीकृष्ण भगवान् ने जितनी गोपियाँ थीं, उतने रूपों में आत्म-प्रकाश करके—एक-एक गोपी, एक-एक कृष्ण इस रूप में मण्डलाकार होकर नृत्य किया। इस परमरस कदम्ब मयी क्रीड़ा का नाम है—"रासलीला"।

श्रीकृष्ण सर्वअंशी, सर्वाश्रय, सर्वकारण-कारण, सर्वेश्वर एवं परमतत्त्व—अद्वय ज्ञान तत्त्व—अद्वय ज्ञान तत्त्व हैं। श्रीराधा जी सर्वशक्ति अंशिनी, कृष्णकान्ता शिरोमणि एवं कृष्ण की स्वरूपशक्ति की अधिष्ठात्री देवी हैं। समस्त व्रजगोपसुन्दरिगण श्रीराधा जी की कायव्यूहरूपा हैं। इन तीनों में स्वसुख-वासना की गन्ध मात्र भी नहीं है। श्रीकृष्ण ब्रजसुन्दरियों का एवं वे समस्त श्रीकृष्ण का सुख विधान करती हैं—ऐसा इन का स्वरूपधर्म है। सर्व अंशी, सर्व शक्तिमान् श्रीकृष्ण का अपनी सर्वअंशिनी स्वरूप-शक्ति की मूर्त्ति विग्रहरूपा श्रीराधा जी के साथ एवं श्रीराधाजी की कायव्यूहरूपा गोपियों के साथ आनन्द मिलन है। शक्तिवान् एवं शक्ति का स्वाभाविक अभेद है। शक्तिमान् की सेवा शक्ति का स्वरूप है। अतः इस मिलन में, परम रस कदम्बमयी लीला में कामगन्ध कहाँ? आलिङ्गन-चुम्बनादि जो दीखते हैं, वे प्रीति प्रकाश के द्वार मात्र हैं। उनकी ओर किसी का लक्ष्य ही नहीं है। अतः रासलीला में किञ्चिन्मात्र भी कामगन्ध नहीं है।

किन्तु जीव मायावद्ध है, उसकी चित्तवृत्ति बहिरङ्गा शक्ति माया द्वारा सदा चालित है, इसलिए वासना गन्ध लेश शून्य किसी भी वस्तु की धारणा करना जीव के पक्ष में दुःसाध्य है। इसलिये

मायाबद्ध किसी जीव के हृदय में यदि श्रीकृष्ण की रासलीला में काम-क्रीड़ा की गन्ध आती है, तो श्रीकृष्ण-लीला के स्वरूप सम्बन्ध में उसकी अज्ञता ही सूचित होती है। उस अज्ञता के दूर करने का एक मात्र उपाय शास्त्र के वचनों पर विश्वास करना है। शास्त्र वाक्यों में विश्वास रखने का नाम श्रद्धा है। इस प्रकार की श्रद्धा के साथ यदि रासादि लीलाओं का श्रवण-कीर्त्तन किया जाए तो हृदरोग काम-मोह लोभादि नष्ट होकर पराभक्ति की प्राप्ति हो सकती है।

अब परवर्त्ती त्रिपदी में श्रीमहाप्रभु जी मञ्जरी-भावावेश में श्रीकृष्ण की रासलीलान्तर्गत जलकेलि का वर्णन करते हैं, जिसे पाठकवृन्द रासलीला के पूर्वोक्त रहस्य एवं स्वरूप को चित्त में धारण पूर्वक आस्वादन करेंगे।

यथाराग:—

पट्टवस्त्र अलङ्कारे, समर्पिया सखी करे, सूक्ष्म शुक्ल वस्त्र परिधान।
कृष्ण लञा कान्तागण, कैल जलावगाहन, जलकेलि रचिल सुठाम ।।८०।।

श्रीमन्महाप्रभु जी मञ्जरी भाव में यमुना किनारे पर खड़े हुए जलकेलि का वर्णन करते हुए कहते हैं—"सखि! श्रीकृष्ण ने अपने रेशमी वस्त्र एवं भूषण उतार कर एक सखी के हाथ में दे दिए एवं सफेद सूक्ष्म वस्त्र उन्होंने पहर लिए। फिर वे कान्तागणों को साथ लेकर जल में उतर पड़े और सुन्दर जलकेलि करने लगे" ।।८०।।

सखि हे! देख कृष्णेर जलकेलि रङ्गे।
कृष्ण मत्त करिवर, चञ्चल कर पुष्कर, गोपीगण करिणीर सङ्गे ।।ध्रु।।८१।।
आरम्भिल जलकेलि, अन्योन्ये जल फेला-फलि, हुड़ाहुड़ि वर्षे जलासार।
सभे जय पराजय, नाहि किछु निश्चय, जलयुद्ध बाढ़िल अपार ।।८२

"हे सखि! श्रीकृष्ण की लीला को तो देख, श्रीकृष्ण उन्मत्त हाथी की भांति अपने चञ्चल कर रूप सूण्ड से गोपीगण रूपणि हथनियों के साथ जलकेलि कर रहे हैं। एक दूसरे के ऊपर वे धारा-प्रवाह रूप में शब्द करते हुए जल फैंक रहे हैं। सब की जय होती है एवं सब की पराजय होती है अर्थात् दोनों ही बराबर का जल एक दूसरे पर फैंकते हैं, कोई निश्चय नहीं कर पाता कि कौन हारा कौन जीता—इस प्रकार अपार जल युद्ध हो रहा है ।।८१-८२।।

वर्षे स्थिर तड़िद्गण, सिञ्चे श्याम नवघन, घन वर्षे तड़ित–उपरे।
सखीगणेर नयन, तृषित चातकगण, से अमृत सुखे पान करे ।।८३।।
प्रथमे युद्ध जलाजलि, तबे युद्ध कराकरि, तार पाछे युद्ध मुखामुखि।
तबे युद्ध हृदाहृदि, तबे हैल रदारदि, तबे हैल युद्ध नखानखि ।।८४।।

(जब गौराङ्गी गोपीगण श्यामवर्ण श्रीकृष्ण पर जल डालती हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि) स्थिर विद्युत समूह श्यामवर्ण नवघन पर वर्षा कर उसे भिजो रही हैं (और जब श्रीकृष्ण गोपियों पर जल फैंकते हैं तो ऐसे लगता है कि) श्यामघन विद्युत समूह पर वर्षा कर रहा है। किनारे पर खड़ा हुई मञ्जरीगणों के नयन चातक की भान्ति उस क्रीड़ा सुख-अमृत का पान कर रहे हैं। पहले तो परस्पर

जल फेंक कर युद्ध कर रहे थे, फिर परस्पर एक दूसरे से हाथा-हाथी करने लगे हैं (श्रीश्यामसुन्दर गोपियों के अङ्गों को हाथ से स्पर्श करना चाहते हैं एवं गोपीगण अपने हाथों से उनके हाथों का निवारण कर रही हैं) फिर वे परस्पर मुख से चुम्बन करने लगे हैं, फिर वे एक दूसरे को आलिङ्गन कर रहे हैं एवं एक दूसरे का अधरदंशन कर रहे हैं, फिर वे एक दूसरे के अङ्गों पर नखाघात करने लगे हैं।

सहस्र कर जल सेके, सहस्र नेत्रे गोपी देखे, सहस्र पदे निकट गमने।
सहस्र मुख चुम्बने, सहस्र वपु सङ्गमे, गोपी नर्म शुने सहस्र काणे ।।८५।।
कृष्ण राधा लञा बले, गेला कण्ठदघ्न जले, छाड़िल ताहाँ याहाँ अगाध पानी।
तेंहो कृष्णकण्ठ धरि, भासे जलेर उपरि, गजोत्खाते यैछे कमलिनी ।।८६।।

"सखि ! सहस्र-सहस्र हाथों से परस्पर जल फेंक रहे हैं, सहस्र-सहस्र नेत्रों से तीरस्थ गोपीगण इस लीला को देख रही हैं अथवा श्रीकृष्ण असंख्य गोपियों के समान असंख्य रूप धारण कर उन्हें देख रहे हैं एवं असंख्य पदों से उनके निकट चले जा रहे हैं। असंख्य रूपों से असंख्य मुखों का चुम्बन कर रहे हैं एवं असंख्य स्वरूपों से असंख्य गोपियों को आलिङ्गन कर रहे हैं। तीरस्थ गोपीगण श्रीकृष्ण एवं गोपियों की हासपरिहासोक्ति को मानो असंख्य कानों से सुन रही हैं। सखि ! श्रीकृष्ण फिर श्रीराधा जी को जहाँ कण्ठ पानी था, वहाँ बलपूर्वक ले गए और वहाँ उनको छोड़ दिया जहाँ अगाध पानी था। तब श्रीराधा जी ने झट श्रीकृष्ण के कण्ठ को आलिङ्गन कर लिया और वे जल के ऊपर ऐसे सुशोभित होने लगीं जैसे हाथी द्वारा उखाड़ी हुई कमलिनी जल पर तैरती हुई शोभा देती है ।।८५-८६।।

यत गोपसुन्दरी, कृष्ण तत रूप धरि, सभार वस्त्र करिल हरणे।
यमुनाजल निर्मल, अङ्ग करे झलमल, सुखे कृष्ण करे दरशने ।।८७।।
पद्मिनी लता सखीचये, कैल कारो सहाये, तरङ्ग हस्ते पत्र समर्पिल।
केहो मुक्त केशपाश, आगे कैल अधोवास, स्वहस्ते कञ्चुलि करिल ।।८८।।

"सखि ! जितनी गोप सुन्दरियाँ थीं, श्रीकृष्ण ने उतने रूप धारण कर उन सब के वस्त्रों का हरण कर लिया। यमुनाजल अतीव निर्मल था, उसमें सब के अङ्ग झलमल-झलमल कर रहे थे एवं सुखपूर्वक श्रीकृष्ण उनका दर्शन कर रहे थे। पद्मनीलताएँ (जिन में कमल लगते हैं, उनके बड़े-बड़े पत्ते गोल जल के ऊपर रहते हैं) गोपियों की सखियाँ हैं। वह लताएँ अपने पत्तों को तरङ्ग रूप हाथों से गोपियों को समर्पण करके उनकी सहायता करती हैं (ताकि वह अपने अङ्गों को ढक कर लज्जा निवारण कर सकें।) किसी गोपी के लम्बे-लम्बे केशपाश खुल रहे हैं, वह झुक कर उन केशों को कटि में पहरने का वस्त्र वना लेती है (और अपनी लज्जा निवारण कर लेती है।) कोई अपने हाथों को काँचली (वक्षस्थल का वस्त्र) वना लेती है, (अपने हाथों से स्तनयुगल को ढक लेती है।) ।।८७-८८।।

कृष्णेर कलह राधासने, गोपीगण सेइक्षणे, हेमाब्जवने गेला लुकाइते।
आकण्ठ वपु जले पैशे, मुखमात्र जले भासे, पद्मे मुखे नारि चिह्निते ।।८९।।
एथा कृष्ण राधासने, कैल ये आछिल मने, गोपीगण अन्वेषिते गेला।
तबे राधा सूक्ष्ममति, जानिञा सखीर स्थिति, सखी मध्ये आसिया मिलिला।।९०।।

श्रीकृष्ण जब श्रीराधा जी से प्रणय-कलह कर रहे थे, तब अन्यान्य गोपीगण स्वर्ण कमलों की कुञ्ज में जा छिपीं। कण्ठ-कण्ठ तक जल में जाकर वे खड़ी हो गईं, केवल मात्र उनका मुख ही जल के ऊपर था। (गोपियों के मुख की कान्ति भी स्वर्ण कमलों की कान्ति के समान थी। उनके मुख उन स्वर्ण कमलों के समूह में ऐसे मिल-जुल गये कि) श्रीकृष्ण यह न जान सके कि वह स्वर्ण कमल हैं या गोपियों के मुख । (तात्पर्य यह है कि सखीगण वहाँ से दूर हट कर कमलों के समूह में जा छिपीं और) श्रीकृष्ण ने श्रीराधा जी के साथ मन-मानी लीला की। फिर श्रीकृष्ण उन गोपियों को ढूण्ढने लगे। श्री-राधा जी तीव्र बुद्धि से जान गईं कि सखी वृन्द स्वर्ण कमल कुञ्ज में खड़ी हैं; तब वह झट उन में आकर मिल गईं ॥८९-९०॥

यत हेमाब्ज जले भासे, तत नीलाब्ज तार पाशे, आसि आसि करये मिलन ।
नीलाब्ज हेमाब्जे ठेके, युद्ध हय प्रत्येके, कौतुक देखे तीरे सखीगण ॥९१॥
चक्रवाक-मण्डल, पृथक्-पृथक् युगल, जले हैते करिल उद्गम ।
उठिल पद्ममण्डल, पृथक्-पृथक् युगल, चक्रवाके कैल आच्छादन ॥९२॥

जितने स्वर्ण कमल (गोपियों के मुख) जल पर प्रकाशित हो रहे थे, (श्रीकृष्ण उतने रूप धारण कर उनके पास पहुँचे) उनके पास उतने ही नीलकमल (श्रीकृष्ण मुख) आकर मिल गये। नीलाब्ज हेमाब्ज को मिलना (चुम्बन करना) चाहता था, दोनों का परस्पर युद्ध होने लगा—यह कौतुक तीरस्थ सखीगण सब देख रही थीं। फिर गोपी जन एवं श्रीकृष्ण वक्षस्थल जितने जल में आ गए) वहाँ चक्रवाक-मण्डल (गोपियों के स्तन मण्डल) पृथक्-पृथक् जोड़ा-जोड़ा होकर जल के ऊपर प्रकाशित होने लगे। तब पृथक्-पृथक् जोड़ा-जोड़ा होकर पद्म-मण्डल(श्रीकृष्ण के कर-कमल)उठे और उन चक्रवाकों के जोड़ों का आच्छादन कर लिया (अर्थात् श्रीकृष्ण ने हस्त कमलों को गोपियों के वक्षस्थल पर धारण किया।) ॥९१—९२॥

उठिल बहु रक्तोत्पल, पृथक्-पृथक् युगल, पद्मगणेर करे निवारण ।
पद्म चाहे लुठि निते, उत्पल चाहे राखिते, चक्रवाक लागि दोंहार रण ॥९३॥
पद्मोत्पल अचेतन, चक्रवाक सचेतन, चक्रवाके पद्म आच्छादय ।
इहां दुहार उलटा स्थिति, धर्म हैल विपरीत, कृष्णेर राज्ये ऐछे न्याय हय ॥९४॥

"सखि ! इतने में पृथक्-पृथक् जोड़े-जोड़े लालवर्ण कमल (गोपियों के हस्तकमल) उठे और पद्मों को (श्रीकृष्ण हस्त-कमलों को) निवारण करने लगे। पद्म चाहते थे चक्रवाकों को हम लूट लें किन्तु लालकमल चक्रवाकों की रक्षा करना चाहते थे। दोनों चक्रवाकों के लिए ही युद्ध कर रहे थे। कमल अचेतन वस्तु है और चक्रवाक (पक्षी) सचेतन वस्तु है आश्चर्य की बात यह है कि पद्मों ने ही चक्रवाकों को आच्छादन कर लिया। चक्रवाक पक्षी कमलों पर आकर बैठता है किन्तु यहाँ चक्रवाकों पर (गोपियों के स्तन युगल पर) पद्म (श्रीकृष्ण हस्त) विराज रहा था। यह उलटी स्थिति यहाँ दीख रही थी। दोनों का स्वभाव विपरीत हो रहा था। श्रीकृष्ण राज्य में ही ऐसी उलटी रीति वर्त्तती है। (श्रीकृष्ण गोपी बन जाते हैं एवं गोपियाँ श्रीकृष्ण बन जाती हैं।) ॥९३—९४॥

मित्रेर मित्र सहवासी, चक्रके लुठे आसि, कृष्णेर राज्ये ऐछे व्यवहार ।
अपरिचित शत्रुर मित्र, राखे उत्पल ए बड़ चित्र, ए बड़ विरोध-अलङ्कार ॥६५॥
अतिशयोक्ति विरोधाभास,दुइ अलङ्कार प्रकाश,करि कृष्ण प्रकट देखाइल ।
याहा करि आस्वादन, आनन्दित मोर मन, नेत्र—कर्ण-युग जुड़ाइल ॥६६॥

पद्म अपने मित्र के मित्र (सूर्य के मित्र) एवं अपने सहवासी चक्रवाक को लूट रहा है—(यह बड़ी अन्यायपूर्ण बात है) किन्तु श्रीकृष्ण के राज्य में सब ऐसे ही उलटे व्यवहार हैं। उत्पल अपने अपरिचित तथा शत्रु के मित्र (सूर्य के मित्र) चक्रवाक की रक्षा कर रहा है—यह बड़ा विरोध-अलङ्कार है। अतिशयोक्ति तथा विरोधाभास—इन दोनों अलङ्कारों को श्रीकृष्ण ने यहाँ प्रकट कर दिखाया है। सखि ! इन दोनों लीलाओं का आस्वादन कर मेरा मन आनन्दित हो रहा है एवं नेत्र-कान शीतल हो रहे हैं ॥६५—६६॥

चै० च० चु० *टीका*—पद्म का मित्र सूर्य है, क्योंकि सूर्य ही पद्म को प्रफुल्लित करता है, सूर्योदय होने से पद्म विकशित होता है और सूर्य का मित्र है—चक्रवाक। क्योंकि चक्रवाक भी दिन-दिन में ही विचरण किया करता है, सूर्यास्त के बाद चक्रवाक कहीं विचरण नहीं कर सकता। इस प्रकार पद्म का मित्र सूर्य एवं सूर्य का मित्र चक्रवाक होने से चक्रवाक को पद्म के मित्र का मित्र कहा गया है। पद्म एवं चक्रवाक दोनों जल में वास करते हैं—अतः ये दोनों सहवासी भी हैं। चक्रवाक पद्म के मित्र का मित्र है और पद्म का सहवासी है, किन्तु यहाँ पद्म (श्रीकृष्ण कर—कमल) चक्रवाकों को (गोपीस्तन युगल को) लूट रहा है—मित्र के मित्र या सहवासी को लूट रहा है, यह एक अन्याय है और विरोधाभास है।

जहाँ वास्तविक कोई विरोध नहीं होता, किन्तु विरोध भासता है, उसे **"विरोधाभास-अलङ्कार"** कहते हैं।

और कहा गया है कि उत्पल (गोपी-कर-कमल) चक्रवाकों (स्तन-युगल) की रक्षा कर रहा था। उत्पल रात में विकसित होते हैं किन्तु चक्रवाक दिन में विचरण करते हैं। इसलिये उत्पल एवं चक्रवाक कभी एक दूसरे को देख भी नहीं सकते—अतः ये दोनों परस्पर अपरिचित हैं। उत्पल के लिये चक्रवाक अपरिचित है और फिर उत्पल का शत्रु है—सूर्य ! सूर्योदय होते ही उत्पल मुँद जाता है, इस-लिए सूर्य को उत्पल का शत्रु माना गया है। किन्तु सूर्य और चक्रवाक की मित्रता है। इसलिये चक्रवाक उत्पल के शत्रु—सूर्य का मित्र है। इस प्रकार उत्पल (गोपी कर-कमल) अपने शत्रु के मित्र अर्थात् अपने भी शत्रु चक्रवाक (स्तन-युगल) की रक्षा कर रहा है—जो अत्यन्त अद्भुत बात है। यहाँ भी विरोधाभास अलङ्कार है। वस्तुतः यहाँ कोई विरोध नहीं है, स्तन-युगल के स्पर्श करने में गोपियों के हाथों का श्री-कृष्ण के हाथों को निवारण करना स्वाभाविक ही है।

अतिशयोक्ति-अलङ्कार—जहाँ उपमेय का उल्लेख न किया जाए केवल उपमान का ही उल्लेख हो एवं उस उपमान द्वारा ही उपमेय का निर्णय करना पड़े, वहाँ अतिशयोक्ति-अलङ्कार होता है।

पूर्वोक्त त्रिपदी में हेमाब्ज के साथ गोपी-मुख की और नीलाब्ज के साथ कृष्ण-मुख की उपमा दी गई है। इसलिये यहाँ गोपी-मुख एवं कृष्ण-मुख उपमेय हैं और हेमाब्ज तथा नीलाब्ज उपमान हैं। इस त्रिपदी में उपमेय—श्रीगोपी-मुख तथा श्रीकृष्ण-मुख का वर्णन नहीं किया गया है। केवल उपमानों

का हेमाब्ज तथा नीलाब्ज का उल्लेख किया है। हेमाब्ज से गोपी-मुख एवं नीलाब्ज से श्रीकृष्ण का मुख निर्द्धारण करना—अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

इसलिये श्रीमहाप्रभु जी ने कहा है कि इस लीला में श्रीकृष्ण ने अतिशयोक्ति-अलङ्कार तथा विरोधाभास- दोनों ही साक्षात् दिखाये हैं, जो चमत्कारी हैं और मुझे देख कर आनन्द की प्राप्ति हो रही हैं।

ऐछे चित्र क्रीड़ा करि, तीरे आइला श्रीहरि, सङ्गे लञा सब कान्तागण।
गन्ध-तैल मर्द्दन, आमलकी उद्वर्त्तन, सेवा करे तीरे सखीगण॥९७॥
पुनरपि कैल स्नान, शुष्क वस्त्र परिधान, रत्न मन्दिर कैल आगमन।
वृन्दाकृत सम्भार, गन्ध पुष्प अलङ्कार, वन्यवेश करिल रचन॥९८॥

मञ्जरी-भावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"सखि! ऐसी विचित्र क्रीड़ा करने के पश्चात् श्रीहरि सब कान्तागणों को लेकर तीर पर आए। सेवापरायणा सखियों ने श्रीहरि एवं समस्त कान्तागणों को सुगन्धित तैल मर्दन किया फिर आमलाचूर्ण का उबटना किया। फिर सब ने यमुनाजी में स्नान किया एवं फिर सूखे वस्त्र पहिर कर सब तीरस्थ रत्न-मन्दिर में चले आए। वहाँ श्रीवृन्दादेवी ने जो सुगन्धित पुष्पों के अलङ्कार रच कर रखे हुए थे, उन से उस ने श्रीकृष्ण को एवं समस्त कान्तागणों को वन्य-भेष में सजाया॥९७—९८॥

वृन्दावने तरुलता, अद्भुत ताहार कथा, बार मास धरे फूल-फल।
वृन्दावने देवीगण, कुञ्जदासी यतजन, फल पाड़ि आनिया सकल॥९९॥
उत्तम संस्कार करि, बड़ बड़ थाली भरि, रत्न मन्दिर पिण्डार उपरे।
भक्षणेर क्रम करि, धरियाछे सारि सारि, आगे आसन वसिवार तरे॥१००॥

"सखि! श्रीवृन्दावन के जितने तरु-लता गण हैं, उनकी भी अद्भुत कथा है, वे वारहों मास फूल-फल देते हैं। श्रीवृन्दावन में देवीगण जो कुञ्ज सेवा किया करती हैं, वे सब फलों को चुन लाती हैं और उनका संस्कार कर के बड़े-बड़े थालों में उन्हें भर कर रत्न मन्दिर में चबूतड़े पर सजा कर रख देती हैं। उन्होंने उन थालों को आरोगने के लिए क्रम से पंक्तिवार लगा रखा था और उन थालों के आगे वैठने के लिए आसन बिछा दिये थे॥९९—१००॥

एक नारिकेल नानाजाति, एक आम्र नाना भाति, कला कोलि विधि प्रकार।
पनस खर्जूर कमला, नारङ्ग जाम समतारा, द्राक्षा वादाम मेओया यत आर॥१०१॥
खरमुजा खिरिणी ताल, केशर पानीफल मृणाल, विल्व पीलु दाड़िम्बादि यत।
कोन देशे कारो ख्याति, वृन्दावने सब प्राप्ति, सहस्र जाति, लेखा याय कत?॥१०२॥

एक नारियल है किन्तु वह अनेक जातियों का है, आम हैं तो अनेक प्रकार के हैं, केला, बेर अनेक-अनेक प्रकार के हैं। पनस, खजूर तथा मालटा, सन्तरा, जामन, समतारा, अंगूर, बादाम और सब प्रकार के मेवे मञ्जरियों ने वहाँ सजा कर रख दिये थे। खरबूजा, खिरिणी, ताल, केशर, सिंगारा,

कमल फल, विल्व फल, पोलू, अनार आदि-आदि सब फल कोई किसी देश का, कोई किसी देश में प्रसिद्ध, किन्तु श्रीवृन्दावन में वे सब के सब सहस्र जातियों के फल मञ्जरियों ने सजा कर रख दिये थे, उनका वर्णन कौन कर सकता है ? ।।१०१-१०२।।

गङ्गाजल अमृत केलि, पीयूष ग्रन्थि कर्पूर-केलि, सरपूपी अमृत-पद्म चिनि ।
खण्ड खिरिसार वृक्ष, घरे करि नाना भक्ष्य, राधा याहा कृष्ण लागि आनि ।।१०३।।
भक्ष्येर परिपाटि देखि, कृष्ण हैला महासुखी, वसि कैल बन्य भोजन ।
सङ्गे लञा सखीगण, राधाकैल भोजन, दोंहे कैल मन्दिरे शयन ।।१०४।।

गङ्गाजल, अमृतकेलि, पीयूषग्रन्थि, कर्पूरकेलि, सरपूरी, अमृतपद्मचिनी, खण्ड, खीरसा का वृक्ष—इत्यादि ये सब मिठाईयाँ घर से मञ्जरियों द्वारा तैयार कराकर श्रीराधा जी श्रीकृष्ण के लिए अपने साथ ले आई थीं—वे सब व्यञ्जन सखियों ने परोस दिये थे। इस भोजन की सुन्दर परिपाटी को देख कर श्रीकृष्ण महा सुखी हुए एवं उन्होंने आसन पर बैठ कर भोजन किया। फिर सब सखियों को साथ लेकर श्रीराधा जी ने भोजन किया। तदनन्तर श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा जी ने विश्राम के लिए मन्दिर में जाकर शयन की ।। १०३-१०४ ।।

केहो करे वीजन, केहो पाद संवाहन, केहो कराय ताम्बूल भक्षण ।
राधा-कृष्ण निद्रा गेला, सखीगण शयन कैला, देखि आमार सुखी हैल मन ।।१०५।।
हेन काले मोरे धरि, महा कोलाहल करि, तुमि सब इहां लञा आइला ।
काहां यमुना वृन्दावन, काहां कृष्ण गोपीगण, सेइ सुख भङ्ग कराइला ।।१०६।।

"कोई सखी प्रिया-प्रीतम को वीजना करने लगी, कोई धीरे-धीरे से उनके चरण दाबने लगी और कोई उन्हें पान अर्पण करने लगी। इतने में श्रीराधा-कृष्ण को नींद आ गई। तब सखीगणों ने भी जाकर शयन की।—यह सब देख कर मेरा मन बहुत सुखी हो रहा था। इस समय में आप सब ने आकर मुझे पकड़ लिया और बहुत कोलाहल मचा दिया और मुझे यहाँ ले आए। सखि ! हाय, हाय, वह यमुना कहाँ है ? वह श्रीवृन्दावन कहाँ हैं ? श्रीकृष्ण कहाँ गए हैं, वह गोपीगण कहाँ हैं ? हाय ! आपने तो मेरा सब सुख भङ्ग कर दिया" ।।१०५-१०६।।

एतेक कहिते प्रभुर केवल बाह्य हैल। स्वरूप गोसाञिके देखि तांहारे पुछिल ।।१०७।।
इहां केने तोमरा सब आमा लञा आइला। स्वरूपगोसाञि तबे कहिते लागिला ।।१०८।।
यमुनार भ्रमे तुमि समुद्रे पड़िला। समुद्रतरङ्गे भासि एतदूर आइला ।।१०९।।
एइ जालिया जाले करि तोमा उठाइला। तोमार परशे एइ प्रेमे मत्त हैला ।।११०।।
सब रात्रि तोमारे सभे बेड़ाइ अन्वेषिया। जालियार मुखे शुनि पाइलुं आसिया ।।१११।।
तुमि मूर्च्छा छले वृन्दावने देख क्रीड़ा। तोमार मूर्च्छा देखि सभे मने पाइ पीड़ा ।।११२।।
कृष्णनाम लैते तोमार अर्द्धबाह्य हैल। ताते ये प्रलाप कैले ताहाय शुनिल ।।११३।।

इस प्रकार कहते—कहते प्रभु को पूर्ण रूप से बाह्य ज्ञान हो आया और श्रीस्वरूप गोस्वामी जी को देख कर उन से प्रभु पूछने लगे—स्वरूप ! आप सब मुझे यहाँ क्यों ले आए ?" तब श्रीस्वरूप-

गोस्वामी कहने लगे—"प्रभु ! आप तो यमुना के भ्रम से समुद्र में जा पड़े थे एवं समुद्र की तरङ्गों में बहते बहते आप यहाँ आ पहुँचे हो। इस जालिया ने आपको जाल में पकड़ कर समुद्र से बाहर किया है और आप के अङ्ग को स्पर्श कर यह भी प्रेम में उन्मत्त हो उठा था। हम सब आप को सारी रात ढूण्ढते रह गए। जब इस की प्रेमोन्मत्त अवस्था देखी एवं इस से पूछा तब इसके बताने पर हम यहाँ आपके पास आ पहुँचे हैं। आपने मूर्च्छित अवस्था में श्रीवृन्दावन की क्रीड़ा देखी है। हम आपकी मूर्च्छावस्था को देख कर बहुत दुखी हो रहे थे। फिर हमने मिल कर आपके कान में बड़े जोर से श्रीकृष्ण नाम किया, तब आपको अर्द्ध बाह्य ज्ञान हुआ। तब आपने प्रलाप में ही श्रीवृन्दावन की सब लीला की कथा कही है और हमने वह सब सुनी है ॥१०७-११३॥

प्रभु कहे, स्वप्न देखिलाङ—वृन्दावने। देखि, कृष्ण रास करे गोपीगणे सने ॥११४॥
जलक्रीड़ा करि कैल बन्य भोजने। देखि आमि प्रलाप कैल,हेन लय मने ॥११५॥
तब रूपगोसाञि तांरे स्नान कराइया। प्रभुरे लञा घर आइला आनन्दित हञा॥११६॥
एइत कहिल प्रभुर समुद्र पतन। इहा येइ शुने—पाय चैतन्य—चरण ॥११७॥
श्रीरूप—रघुनाथ—पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥११८॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा—"स्वरूप! मैंने स्वप्न में श्रीवृन्दावन देखा और वहाँ यह देखा कि श्रीकृष्ण सखियों के साथ रासलीला कर रहे थे। उन्होंने जलकेलि की एवं उसके बाद उन्होंने मिलकर वन्य भोजन किया। उसे देख कर सम्भवतः मैं कुछ प्रलाप करता रहा हूँगा—ऐसा मेरे मन में आता है।" तब श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने प्रभु को स्नान कराया एवं आनन्द पूर्वक प्रभु के निवास स्थान पर ले आए। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी जो कहते हैं—इस प्रकार मैं ने श्रीमन्महाप्रभु जी की समुद्रपतन लीला का कुछ वर्णन किया है, जो लोग इस लीला को पढ़ेंगे, सुनेंगे, उन्हें श्रीचैतन्यदेव के चरणों की प्राप्ति होगी।" श्रीरूपगोस्वामी जी तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥११४-११८॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्य-लीलायां
समुद्र-पतनं-नाम
अष्टादश परिच्छेदः ॥१८॥

जयगौर

अन्त्य-लीला

ऊनविंश परिच्छेद

*

वन्दे तं कृष्णचैतन्यं मातृभक्त शिरोमणिम् ।
प्रलप्य मुखसङ्घर्षी मधुद्याने ललास यः ॥१॥

मैं उन श्रीकृष्ण चैतन्यदेव की वन्दना करता हूँ, जो मातृभक्त शिरोमणि हैं एवं जिन्होंने दीवारों से मुख सङ्घर्षण किया था एवं प्रलाप करते हुए बसन्तकाल में वन में विहार किया था ॥१॥

[इस परिच्छेद में श्रीमन्महाप्रभु जी की मातृ-भक्ति एवं दिव्योन्माद-प्रलाप, गम्भीरा की दीवारों से मुख-सङ्घर्षण तथा श्रीकृष्ण-अङ्ग गन्ध की स्फूर्त्ति में प्रभु के दिव्य-नृत्यादि का वर्णन किया गया है ।]

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥१॥
एइ मत महाप्रभु कृष्णप्रेमावेशे । उन्माद प्रलाप करे रात्रि दिवसे ॥२॥
प्रभुर अत्यन्त प्रिय पण्डित जगदानन्द । याहार चरित्रे प्रभु पायेन आनन्द ॥३॥
प्रतिवत्सर प्रभु तांरे पाठान नदीयाते । विच्छेदुःखिता जानि जननी आश्वासिते॥४॥
"नदीया चलह,माताके कहिय नमस्कार । आमार नामे पादपद्म धरिह तांहार"॥५॥

श्री श्रीचैतन्यदेव की जय हो, जय हो । श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु जी की जय हो । श्रीअद्वैताचार्य प्रभु जी की जय हो, श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो । इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु जी कृष्ण-प्रेमावेश में उन्मत्त होकर दिन रात प्रलाप करते थे । श्रीजगदानन्द पण्डित श्रीमहाप्रभु जी के अत्यन्त प्रिय पार्षद थे । उनके आचरण को देख कर श्रीमहाप्रभु जी बहुत आनन्दित होते थे । प्रतिवर्ष श्रीमहाप्रभु जी उन्हें नदिया में भेजते थे, इसलिए कि वे जाकर प्रभु के विच्छेद में दुःखिता माता शची को आश्वासन दें । प्रभु ने एक दिन श्रीजगदानन्द जी से कहा—"जगदानन्द ! तुम नदिया चले जाओ और माता जी को जाकर मेरी नमस्कार कहना, मेरा नाम लेकर उनके तुम चरण पकड़ लेना" ॥१—५॥

कहिय तांहारे, तुमि करह स्मरण। नित्य आसि तोमार वन्दिये चरण ॥६॥
ये दिने तोमार इच्छा कराइते भोजन। सेइ दिने आसि अवश्य करिये भक्षण ॥७॥
तोमार सेवा छाड़ि आमि करिल संन्यास। वातुल हइया आमि कैल धर्मनाश ॥८॥
एइ अपराध तुमि ना लइह आमार। तोमार अधीन आमि, पुत्र तोमार ॥९॥
नीलाचले आछि आमि तोमार आज्ञाते। यावत् जीव, तावत् आमि नारिव छाड़िते॥१०॥

श्रीमहाप्रभु जी कहने लगे—जगदानन्द ! तुम माता जी को कहना—"आप स्मरण तो करो, मैं नित्य आकर आपके चरणों में वन्दना करता हूँ। जिस दिन आपकी इच्छा मुझे भोजन कराने की होती है, उसी दिन मैं अवश्य आकर आपके पास भोजन करता हूँ। मैंने आपकी सेवा छोड़ कर संन्यास ले लिया है, सो मैं उस समय बावला वन गया और मातृ-सेवा-धर्म को छोड़ बैठा—माता ! मेरे इस अपराध को आप क्षमा करो। मैं आपके आधीन हूँ और आपका पुत्र हूँ। आपकी आज्ञा से ही मैं नीलाचल वास कर रहा हूँ। जब तक मेरा जीवन हैं, तब तक मैं आपको छोड़ नहीं सकता हूँ—"जगदानन्द ! ऐसे जाकर माता शची से मेरी ओर से निवेदन करना ॥६-१०॥

गोपलीलाय पाये येइ प्रसाद वसने। माताके पाठाये ताहा पुरीर वचने ॥११॥
जगन्नाथेर उत्तम प्रसाद आनञा यतने। माताके पृथक् पाठाय आर भक्तगणे ॥१२॥
मातृभक्त गणेर प्रभु हये शिरोमणि। संन्यास करिया सदा सेवेन जननी ॥१३॥
जगदानन्द नदीया गिया मातारे मिलिला। प्रभुर यत निवेदन सकलि कहिला ॥१४॥

(श्रीमहाप्रभु जी जन्माष्टमी पर गोपवेश धारण कर नृत्य किया करते थे, उस दिन श्री-जगन्नाथ जी का प्रसाद एवं एक प्रसादी वस्त्र श्रीमहाप्रभु जी को मिलता था) उस गोपलीला में प्राप्त किए हुए प्रसाद एवं वस्त्र को प्रभु श्रीपरमानन्द पुरी पाद की आज्ञा से प्रति वर्ष माता जी को भेज दिया करते थे। प्रभु श्रीजगन्नाथ जी का उत्तम-उत्तम प्रसाद यत्न पूर्वक मँगाते एवं माता जी के लिए पृथक् भेजते और अन्यान्य भक्तों के लिए एक जगह पृथक् भेजते थे। श्रीमहाप्रभु जी मातृ-भक्तों में शिरोमणि हैं, जो संन्यास धारण करके भी सदा माता जी की सेवा किया करते। प्रभु की आज्ञा पाकर श्रीजगदानन्दजी नदिया में गए एवं माता शची देवी को मिले। उन्होंने जाकर महाप्रभु जी का सब निवेदन माता शची को कह सुनाया ॥११-१४॥

आचार्यादि भक्तगणे मिलिला प्रसाद दिया। माता-ठाञि आज्ञा लैल मासके रहिया ॥१५॥
आचार्येर ठाञि गिया आज्ञा मागिल। आचार्य गोसाञि प्रभुके सन्देश कहिल ॥१६॥
तर्जा प्रहेली आचार्य कहे ठारे ठारे। प्रभु मात्र बुझे, केहो बुझिते ना पारे ॥१७॥
प्रभुके कहिय आमार कोटि नमस्कार। एइ निवेदन तांर चरणे आमार ॥१८॥

श्रीजगदानन्द जी नदिया में आकर श्रीअद्वैताचार्यादि भक्तों से मिले एवं उन्हें प्रभुप्रदत्त प्रसाद दिया। एक मास वहाँ रहकर श्रीजगदानन्द जी ने माता शची से नीलाचल जाने की आज्ञा मांगी। फिर उन्होंने श्रीअद्वैताचार्य जी से जाकर आज्ञा मांगी। श्रीआचार्य प्रभु ने महाप्रभु जी के लिये एक सन्देशा कहा किन्तु वह सब बात श्रीआचार्यपाद ने तर्जा-पहेली एवं इशारों-इशारों में कही। उसे एक मात्र

श्रीमहाप्रभु जी ही जान सकते थे और कोई भी न समझ सकता था, श्रीजगदानन्द जी भी कुछ न समझ सके। श्रीआचार्य पाद ने कहा—"पण्डित ! प्रभु के चरणों जाकर मेरी कोटि-कोटि नमस्कार करना और उनके चरणों में मेरा एक निवेदन कर देना—"॥१५-१८॥

बाउलके कहिय, लोके हइल बाउल। बाउलके कहिय, हाटे ना बिकाय चाउल ॥१९॥
बाउलके कहिय, काजे नाहिक बाउल। बाउलके कहिय, इहा कहियाछे बाउल ॥२०॥
एत शुनि जगदानन्द हासिते लागिला। नीलाचले आसि तबे प्रभुके कहिला ॥२१॥
तर्ज्जा शुनि महाप्रभु ईषत् हासिया। 'तांर येइ आज्ञा' बलि मौन करिला ॥२२॥
जानिञाहो स्वरूप गोसाञि प्रभुरे पुछिल। एइ त तर्ज्जार अर्थ बुझिते नारिल ॥२३॥

श्रीअद्वैताचार्य जी ने कहा—"जगदानन्द ! प्रभु से मेरा यह सन्देशा कह देना—बावले को कहना, लोग बावले हो गए हैं। बावले को कहना, दुकान पर चावल नहीं बिकते हैं। बावले को कहना, काम की आकुलता—व्यस्तता नहीं है। बावले को कहना, बावले ने यही कहा है। यह वचन सुन कर श्रीजगदानन्द हँस पड़े और वहाँ से विदा होकर जब नीलाचल आए तो उन्होंने वे वचन प्रभु को कह सुनाए। श्रीअद्वैताचार्य पाद की तर्ज्जा (प्रहेलिका) सुन कर महाप्रभु जी मुस्कराए और "जो उनकी आज्ञा"—ऐसा कह कर चुप हो गए। श्रीस्वरूप गोस्वामी जी चाहे इन वचनों का अभिप्राय जान गए तो भी वे प्रभु से पूछने लगे—"प्रभु ! इस तर्ज्जा का अर्थ तो मैं भी नहीं समझ सका हूँ" ॥१९-२३॥

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीअद्वैताचार्य जी ने जो तर्ज्जा कहला भेजी उसका अभिप्राय इस प्रकार ज्ञात होता है—उन्होंने कहा—बावले को कहना कि लोग बावले हो गए हैं, अब दुकान पर चावल नहीं बिकते हैं, काम की व्यस्तता नहीं है, बावले ने यही बात कही है। उनका अभिप्राय यह था कि 'प्रेम-पागल, प्रेमोन्मत्त श्रीमहाप्रभु जी से कहना मैंने जिस प्रयोजन के लिए—जन साधारण को प्रेम प्रदान करने के लिए आप का आह्वान किया था। वह प्रेम वितरण का कार्य सम्पूर्ण हो चुका है, लोग कृष्ण-प्रेम से उन्मत्त हो चुके हैं, जगत् प्रेम में पागल हो चुका है और आपने मुझे जो प्रेम वितरण की दुकान निकलवा दी थी, वह प्रेम रूप चावल अब नहीं बिकते हैं—कोई ऐसा जीव नहीं रहा है जो कृष्ण-प्रेम से वञ्चित हो, अतः अब मैं ऐसा ग्राहक और नहीं पा रहा हूँ कि जिसे प्रेम दिया जाये या वह उस कृष्ण-प्रेम का ग्राहक हो। इसलिए जब प्रेम वितरण का पात्र ही नहीं है तो और इस दुकान पर कोई काम भी नहीं है, कोई व्यस्तता भी नहीं है। हम सब ठाले बैठे हैं। अभिप्राय यह था कि—"प्रभु ! जिस कार्य के लिए मैंने आप को इस जगत् में अवतीर्ण कराया था, वह काम सम्पूर्ण हो चुका है, समस्त जगत् का कल्याण हो चुका है। अब आप को प्रकट लीला का प्रयोजन नहीं है, आपकी जब इच्छा हो आप अपनी लीला अन्तर्धान कर सकते हैं।"

श्रीमहाप्रभु जी भी श्रीआचार्यपाद का अभिप्राय समझ गए कि आचार्य अब अपना काम निकाल चुके और मुझे अब भगाना चाहते हैं—यही बात जान कर प्रभु कुछ मुस्करा गये और उनके सन्देशे के उत्तर में उन्होंने कहा—"जैसी उनकी आज्ञा"—अर्थात् यदि उनकी ऐसी इच्छा है तो तथास्तु। उनकी इच्छा पूर्ण हो।

श्रीस्वरूप गोस्वामी जी इस तर्ज्जा का अर्थ जान गए थे किन्तु मन का सन्देह मिटाने के लिए और प्रभु से उसके विपरीत कुछ सुनने के लिये प्रभु से इस तर्ज्जा का अर्थ जिज्ञासा करने लगे।

प्रभु कहे, आचार्य हय पूजक प्रबल। आगम-शास्त्रेर विधि-विधाने कुशल ॥२४॥
उपासना-लागि देवेर करे आवाहन। पूजा लागि कथोकाल करे निरोधन ॥२५॥
पूजा निर्वाह हैले पाछे करे विसर्जन। तर्जार नाजानि अर्थ, किवा तार मन ॥२६॥
महायोगेश्वर आचार्य तर्जाते समर्थ। आमिहो बुझिते नारि तरजार अर्थ ॥२७॥
शुनिया विस्मित हैला सब भक्तगण। स्वरूपगोसाञि किछु हइला विमन ॥२८॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा—"स्वरूप! श्रीअद्वैताचार्य बड़े शक्तिशाली पुजारी हैं और आगम शास्त्र के विधि-विधान को अच्छी प्रकार जानते हैं। शास्त्र की विधि है कि उपासना के लिए देवता का आह्वान किया जाता है और पूजा के लिए उस देवता को कुछ काल आबद्ध रखा जाता है। पूजा निर्वाह हो जाने पर फिर उस देवता का विसर्जन कर दिया करते हैं। किन्तु स्वरूप! उनकी इस तर्जा का अर्थ तो मैं भी नहीं जान सका हूँ न जाने उनके मन में क्या है? (वास्तव में श्रीमहाप्रभु जी ने तर्जा का अर्थ तर्जा में ही व्यक्त कर दिया है, फिर भी बात बदलने के लिए कहने लगे—"स्वरूप! आचार्य महायोगेश्वर हैं और तर्जा करने में समर्थ हैं, मैं भी उनको तर्जा का अर्थ नहीं कर सकता हूँ। (इशारे में प्रभु ने यहाँ यह जता दिया कि श्रीअद्वैताचार्य की तर्जा बलवान् है, अकाट्य है, मैं उसके विपरीत नहीं जा सकता हूँ।) प्रभु के यह वचन (कि मैं भी उनको तर्जा के अर्थ नहीं समझ सका हूँ) सुन कर सब भक्त विस्मित हो गये किन्तु श्रीस्वरूप गोस्वामी जी जान गये (कि प्रभु अपनी लीला संवरण करना चाहते हैं) इस-लिए वे मन में कुछ दुखी हुए ॥२४-२८॥

सेइ दिन हैते प्रभुर आर दशा हैल। कृष्णेर विच्छेद-दशा द्विगुण बाढ़िल ॥२६॥
उन्माद-प्रलाप चेष्टा करे रात्रि दिने। राधाभावावेशे विरह बाढ़े अनुक्षणे ॥३०॥
आचम्बिते स्फुरे कृष्णेर मथुरा-गमन। उद्घूर्णादशा हैल उन्माद लक्षण ॥३१॥
रामानन्देर गला धरि करे प्रलपन। स्वरूपे पुछये मानि निज सखीजन ॥३२॥
पूर्वे येन विशाखाके राधिका पुछिला। सेइ श्लोक पढ़ि प्रलाप करिते लागिला ॥३३॥

उसी दिन से प्रभु की दशा कुछ और हो गई और उनकी श्रीकृष्ण विरहा-दशा दुगनी बढ़ गई। रात दिन उन्मादमय प्रलाप एवं चेष्टाएँ करने लगे। श्रीराधा-भाव के आवेश में उनका श्रीकृष्ण-विरह प्रतिक्षण बढ़ने लगा। एक दिन अचानक श्रीकृष्ण की मथुरा-गमन लीला की उन्हें स्फूर्त्ति हो उठी एवं दिव्योन्माद के फलस्वरूप उनकी उद्घूर्णा दशा हो गई। श्रीमहाप्रभु जी श्रीरामानन्द राय एवं श्रीस्वरूप दामोदर जी को अपनी सखी जान कर उनके कण्ठ में हाथ डाल कर प्रलाप करने लगे। जैसे पहले श्रीराधिका जी अपनी विशाखा सखी से पूछा करती थी, वह श्लोक प्रभु पढ़ने लगे—॥२६-३३॥

तथाहि ललित माधवे (३—२५)—

क्व नन्दकुलचन्द्रमाः क्व शिखिचन्द्रकालङ्कृतिः
क्व मन्द्र मुरलीरवः क्व नु सुरेन्द्रनीलद्युतिः।
क्व रासरसताण्डवी क्व सखि जीवरक्षौषधि-
र्निधिर्मम सुहृत्तमः क्व वत हन्त का धिग्विधिम् ॥२॥

श्रीराधा जी ने कहा—"हे सखि ! नन्दकुल-चन्द्र कहाँ हैं ? मोरपुच्छ मुकुटधारी कहाँ हैं ? गम्भीर मुरलिध्वनिकारी कहाँ हैं ? इन्द्रनीलमणि कान्तिधारी कहाँ हैं ? रास-रस में नृत्यशाली कहाँ हैं ? हे सखि ! मेरे प्राणों की रक्षा औषधि कहाँ है ? हाय ! हाय ! मेरा सुहृत्तम, मेरा अमूल्य रत्न कहाँ है ? (जिसने मेरा उससे विच्छेद किया है) उस विधाता को धिक्कार है ॥२॥ (इस श्लोक का अर्थ निम्नलिखित त्रिपदी में वर्णन करते हैं)—

यथाराग:—

व्रजेन्द्र कुल-दुग्ध सिन्धु, कृष्ण ताहे पूर्ण इन्दु, जन्मि कैल जगत् उजोर ।
कान्त्यामृत येवा पिये, निरन्तर पिया जीयै, व्रजजनेर नयन-चकोर ॥३४॥

श्रीनन्दराज का कुल एक क्षीरसागर है, उस में से श्रीकृष्ण रूप पूर्ण चन्द्र ने आविर्भूत होकर जगत् को उज्ज्वल कर दिया है । उनकी कान्ति रूप-अमृत का (लावण्यामृत का) पान करके ही व्रजवासियों के नयन रूप चकोर जीवन धारण करते हैं ॥३४॥

सखि हे ! कोथा कृष्ण कराह दर्शने ॥
क्षणेक यांहार मुख, ना देखिले फाटे बुक, शीघ्र देखाओ, न रहे जीवन ॥ध्रु॥३५॥
एइ व्रजेर रमणी, कामार्क-तप्त—कुमुदिनी, निज करामृत दिया दान ।
प्रफुल्लित करे येइ, काहां मोर चन्द्र सेइ, देखाओ सखि ! राख मोर प्राण ॥३६॥

श्रीराधाभावाविष्ट महाप्रभु जी कहने लगे—"हे सखि ! मेरे श्रीकृष्ण कहाँ हैं ? उनके मुझे दर्शन करा दो । उनके मुख के विना देखे मेरा हृदय इसी क्षण में फटा जाता है, उनके दर्शन मुझे शीघ्र ही कराओ, नहीं तो मेरा जीवन न रहेगा । व्रज की रमणियां जो काम रूप सूर्य से तपी हुई कुमुदनियों के समान हैं, उनको अपने हस्त-स्पर्श रूप अमृत का दान देकर जो प्रफुल्लित किया करता है, वह मेरा चन्द्र कहाँ है ? सखि ? मुझे उसे शीघ्र दिखाओ, मेरे प्राणों की रक्षा करो ॥३५-३६॥

काहाँ से चूड़ार ठान, शिखिपिच्छेर उड़ान, नव मेघे येन इन्द्रधनु ।
पीताम्बर तड़िद्द्युति, मुक्तामाला वकपांति, नवाम्बुद जिनि श्याम तनु ॥३७॥
एक बार यार नयने लागे, सदा तार हृदये जागे, कृष्णतनु येन आम्र-आठा ।
नारीर मन पैशे हाय, यत्ने नाहि बहिराय, तनु नहे, सेयाकुलेर कांटा ॥३८॥

"सखि ! वह सुन्दर केशधारी कहाँ हैं ? जिसके माथे पर मोरपुच्छ की हलिन ऐसे शोभित होती है जैसे नवमेघ पर इन्द्र धनुष शोभा देता है । (श्रीकृष्ण के काले केशों पर रंगविरंग मोरपुच्छ की शोभा ऐसे लगती है जैसे नव मेघ पर इन्द्र-धनुष शोभित होता है ।) विद्युत की भान्ति जिसके शरीर पर पीताम्बर फहराता रहता है, जिनके वक्षस्थल पर मुक्ता की माला वक-पंक्ति की भान्ति शोभा देती है । जिन का श्याम-तनु नवीन मेघ की भान्ति स्निग्ध छटा धारी है—सखि ! वह श्रीकृष्ण कहाँ है ? वह श्याम-तनु नहीं है, सखि ! वह तो आम के काँटे के समान है, (जो एक बार किसी को चुभ जाता है फिर सहज में नहीं निकला करता) वह श्याम-तनु एक वार जिस के दृष्टि गोचर होता है, फिर वह सदा उसके हृदय में चुभता—(स्फुरित होता) ही रहता है । नारियों के मन में जब वह श्यामघन-तनु एक बार

प्रवेश करता है, फिर तो वह अनेक यत्न करने पर भी बाहर नहीं निकलता है, सखि ! इसलिए मैं कहती हूँ, वह तनु नहीं है सेयाकुल का कांटा है। (सेयाकुल एक कांटेदार वृक्ष होता है जिसका कांटा गोलाकार मुड़ा हुआ होता है, चुभ जाने पर जिसका निकालना अत्यन्त कष्टकर होता है।) ।।३७-३८।।

जिनिया तमालद्युति' इन्द्रनीलसम कान्ति, येइ कान्ति जगत माताय।
शृङ्गार-रस ताते छानि, ताते चन्द्र ज्योत्स्ना सानि,जानि विधि निरमिल ताय ।।३६।।
काहां से मुरलीध्वनि, नवाभ्रगर्ज्जित जिनि, जगदाकर्षे श्रवणे याहार।
उठि धाय ब्रजजन, तृषित चातक गण, आसि पिये कान्त्यामृत धार ।।४०।।

"सखि ! उनके श्यामघन विग्रह की कान्ति ने तमाल की द्युति को पराजित कर दिया है, इन्द्रनील मणि की कान्ति की भान्ति अत्योज्ज्वल कान्तियुक्त है, वह तो समस्त जगत् को उन्मत्त कर देती है। उस सर्व चित्ताकर्षक कान्ति को लेकर उस में छना हुआ विशुद्ध शृङ्गाररस तथा चन्द्र की ज्योत्स्ना को मिला कर विधाता ने उस श्याम-घन विग्रह का निर्माण किया है, सखि ! मुझे तो ऐसा लगता है। हाय ! हाय ! नव घन की गर्जना को निन्दित करने वाली वह मुरली ध्वनि कहाँ है ? जिसकी मधुर ध्वनि सुन कर जगत् आकर्षित हुआ करता है और जिसे सुन कर ब्रजवासी जन (ब्रज सुन्दरी गण) उठ कर भाग पड़ते हैं और उनके दर्शन कर अपने तृषित नयन रूप चातकों को लावण्यामृत धारा पान कराते हैं।

मोर सेइ कलानिधि, प्राणरक्षा–महौषधि, सखि ! मोर तेंहो सुहृत्तम।
देह जीये तांहा विने, धिक् एइ जीवने, विधि करे एत विडम्बन ।।४१।।
ये जन जीते नाहि चाय, तारे केने जीयाय, विधि प्रति उठे क्रोध-शोक।
विधिर करे भर्त्सन, कृष्णे देय ओलाहन, पढ़ि भागवतेर एक श्लोक ।।४२।।

"सखि ! वह मेरा कलानिधि, मेरे प्राणों की रक्षक महौषधि, कहाँ है ? वह मेरा सुहृत्तम कहाँ है ? हाय ! हाय ! उसके दर्शन बिना यह शरीर जीवित है ? इस जीवन को धिक्कार हैं, विधाता मेरी इतनी विडम्बना (प्रतारणा) कर रहा है ? जो व्यक्ति जीना ही नहीं चाहता, उसे वह क्यों जीवित रख रहा है ? हाय ! सखि ! वे मेरे प्राणवल्लभ कहाँ है ? " इस प्रकार कहते-कहते भावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी विधाता पर क्रोधित हो उठे एवं कृष्ण-विरह में शोक करने लगे। विधाता का तिरस्कार करने लगे एवं श्रीकृष्ण को ओलाहना देने लगे। श्रीमद्भागवत जी का श्लोक पढ़ कर उन्होंने कहा—

तथाहि (भाः १०-३६-१६)—

अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः।
तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थकं विचेष्टितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा ।।३।।

ब्रज सुन्दरिगण ने कहा है—"अहो कितना आश्चर्य है ! हे विधातः ! कहीं भी तुझ में लेश-मात्र दया नहीं है। मैत्री व प्रणय द्वारा जीवों को तुम मिलाते हो, उन्हें संयुक्त करते हो, किन्तु उनके मनोरथ पूर्ण होने से पहले ही तुम उनको वियुक्त कर देते हो—बिछुड़ा देते हो; ज्ञान होता है, तुम्हारी चेष्टाएँ बालक की चेष्टाओं की भान्ति निरर्थक हैं ।।३।। (इस श्लोक की व्याख्या निम्नलिखित त्रिपदी में करते हैं)—

अस्यार्थः, यथारागः—

ना जानिस् प्रेम-धर्म, व्यर्थ करिस परिश्रम, तोर चेष्टा बालक समान ।
तोर यदि लाग पाइये, तबे तोरे शिक्षा दिये, एमन येन ना करिस् विधान ॥४३॥

अरे विधाता ! तू प्रेम के निगूढ़ तत्त्व को नहीं जानता है (युगल-प्रेमिकों को मिलाने का विधान तो तू करता है, किन्तु प्रेम तत्त्व के अज्ञानवशतः तू उस विधान के प्रतिकूल करता है—उन्हें मिलाने का जो तू परिश्रम करता है) तू उस परिश्रम को व्यर्थ कर देता है, बालकों की क्रियाओं के समान तुम्हारी चेष्टाएँ भी निरर्थक हैं, निष्फल हैं। यदि तू मेरे पास होता, तब मैं तुम्हें ऐसी शिक्षा देती कि फिर तू इस प्रकार का अकरुण विधान न करता (प्रेमिक-युगल को परस्पर विच्छन्न करने का विधान तू न बनाता ।) ॥४३॥

अरे विधि ! तों बड़ निठुर ।
अन्योन्य दुर्लभजन, प्रेमे कराञा सम्मिलन, अकृतार्थान् केने करिस् दूर ? ॥ध्रु॥४४॥
अरे विधि ! अकरुण, देखाइया कृष्णानन, नेत्र-मन लोभाइलि आमार ।
क्षणेक करिते पान, काढ़ि निलि अन्यस्थान, पाप कैले दत्त अपहार ॥४५॥

राधाभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"अरे विधि ! (तू केवल अज्ञ एवं धृष्ट ही नहीं है,) तू नितान्त निठुर है । अन्य-अन्य दुर्लभ जनों को (जो किसी प्रकार भी संयुक्त नहीं हो सकते उन्हें) तू प्रेम द्वारा सम्मिलित करा देता है । अभी उनकी मिलन आशा—सङ्गवासना पूर्ण ही नहीं हो पाती, तू उन्हें एक दूसरे से दूर कर देता है । ऐसी निठुरता क्यों करता है ? अरे अकरुण ! (ज़ालिम !) श्रीकृष्ण चन्द्रवदन को दिखा कर तू ने हमारे नेत्रों को एवं मन को लुभा दिया । एक क्षण के लिए अभी हम उनके लावण्यामृत का पान ही कर पाई थीं कि उन्हें हम से कोसों दूर (मथुरा) ले गया । एक बार एक वस्तु को देकर, फिर उसे खैंच लेना पाप है, तू ने ऐसा पाप किया है । (तू पापी है, अकरुण है ।)" ॥४४-४५॥

अक्रूर करे तोमार दोष, आमाय केने कर रोष, इहा यदि कह दुराचार ।
तुञि अक्रूरमूर्त्ति धरि, कृष्णे निलि चुरि करि, अन्येर नहे ऐछे व्यवहार ॥४६॥
आपनार कर्मदोष, तोरे किबा करि रोष, तोय मोय सम्बन्ध विदूर ।
ये आमार प्राणनाथ, एकत्र रहि यार साथ, सेइ कृष्ण हइल निठुर ॥४७॥

"अरे दुराचारी ! यदि तू कहे कि अक्रूर ने तुम्हारे प्रति ऐसा दोष किया है (वही तो श्रीकृष्ण को तुम से विछुड़ा ले गया है ।) मुझे क्यों दोष देती हो ? तो सुन ! अक्रूर की मूर्त्ति धारण कर तू ही आया था एवं श्रीकृष्ण को चुरा कर ले गया था । तुम्हारे बिना और कोई भी ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता । " (इस प्रकार विधाता की भर्त्सना करके राधाभावाविष्ट प्रभु ने एक क्षण के लिए मन में कुछ चिन्ता की । चिन्ता करने के बाद फिर बोले—) "अरे विधि ! तुम्हारा दोष नहीं है, हमारे अपने कर्मों का दोष है । तुम पर क्रोध क्यों करें ? तुम्हारा-हमारा दूर का नाता है । (तू कर्म फल दाता है और हम कर्म फल भोक्ता हैं ।) किन्तु जो हमारे प्राण नाथ हैं, जिनके साथ-साथ हम सदा रही हैं (जिन से इतना घनिष्ट सम्बन्ध है) वही श्रीकृष्ण ही जब इतने निठुर हो गए हैं (हमें छोड़ कर चले गए हैं) फिर तुम्हारा क्या दोष है ? " ४६-४७॥

सब तेजि भजि यारे, सेइ आपन हाथे मारे, नारीवधे कृष्णेर नाहि भय।
तार लागि आमि मरि, उलटि ना चाहे हरि, क्षण मात्रे भाङ्गिल प्रणय ॥४८॥
कृष्णे केने करि रोष, आपन दुर्दैव-दोष, पाकिल मोर एइ पापफल।
ये कृष्ण मोर प्रेमाधीन, तारे कैल उदासीन, एइ मोर अभाग्य प्रबल ॥४९॥

(श्रीकृष्ण को उलाहना देते हुए राधा भावाविष्ट प्रभु कहते हैं)—"हाय ! हाय ! स्वजन-आर्य पथादि समस्त धर्मों को छोड़ कर सुखी करने के लिए जिसकी हम ने सेवा की है, वही अपने हाथों से ही हमें मारना चाहता है। श्रीकृष्ण को नारी-वध करने में कुछ भय नहीं लगता है। उस प्राणवल्लभ के लिए मेरे प्राण जाना चाहते हैं, किन्तु हाय ! हाय ! उसने एक वार भी मुख तोड़ कर मुझे नहीं देखा, जिस प्रीति में, जिस प्रणय में उस ने मुझे आवद्ध किया था, एक क्षण में उसे उस ने तोड़ डाला। मेरे नेत्रों एवं मन को चुरा कर दूर चला गया।" (फिर एक क्षण चिन्ता करके प्रभु ने कहा –) हाय ! हाय ! मैं श्रीकृष्ण पर क्यों रोष कर रही हूँ ? मेरे ही दुर्भाग्यों को दोष है,मेरे किसी पाप का यह फल ही आकर पका है। (जो मुझे ऐसा दुःख सहन करा रहा है।) जो श्रीकृष्ण मेरे प्रेम के अधीन थे, (जो रास रजनी में मेरे ऋणाया वनते थे,) वे मुझ से उदासीन हो गये हैं, (मेरे प्राण जाते हैं, किन्तु वे उलट कर भी नहीं देखते, मेरी वे सुधि ही नहीं लेते,) सखि ! यह मेरे अभाग्यों को प्रवल करनी नहीं है तो और क्या है ? ॥४८—४९॥

एइमत गौरराय, विषादे करे हाय हाय, हा हा कृष्ण ! तुमि गेला कति ?
गोपीभाव हृदये, तार वाक्य विलपये, गोविन्द दामोदर माधवेति ॥५०॥
तबे स्वरूप रामराय, करि नाना उपाय, महाप्रभुर करे आश्वासन।
गायेन सङ्गम गीत, प्रभुर फिराइल चित, प्रभुर किछु स्थिर हैल मन ॥५१॥

श्रीकृष्णदास कविराज कहते हैं—"इस प्रकार श्रीगौराङ्गदेव श्रीकृष्ण विरह में 'हाय,हाय,' हे कृष्ण ! आप कहाँ हो ? ऐसा कह-कह कह प्रलाप करते थे। गोपीभावाविष्ट हृदय से गोपियों के वचनों में "हे गोविन्द ! हे दामोदर ! हे माधव !—कह कर वार-वार पुकारते थे। तब श्रीस्वरूप दामोदर एवं श्रीरामानन्द राय अनेक उपाय रच कर श्रीमहाप्रभु जी को आश्वासन देने लगे। उन्होंने श्रीराधा-कृष्ण-मिलन के गीत सुनाए, जिस से प्रभु का मन उन्होंने फिरा लिया (वे जानने लगे कि श्रीकृष्ण उन के पास आगए हैं। तब प्रभु का मन कुछ स्थिर हुआ ॥५०—५१॥

चै० च० च० *टीका*:—श्रीगोपीगण श्रीकृष्ण-विरह में उन्हें गोविन्द, दामोदर एवं माधव कह कर पुकारा करती थीं।

'गोविन्द'—कहने से यह ध्वनि थी कि आप गो-विन्द हो अर्थात् गौओं के स्वामी—पालक हो। तुम गौओं को छोड़ कर मथुरा चले गए हो, सो ऐसा करना तुम्हें उचित नही है। अथवा तुम गो-विन्द हो—इन्द्रियों के स्वामी हो। हमारे मन-नेत्रादि इन्द्रियगण केवल तुम्हारे द्वारा ही चालित हैं। आपके बिना उनकी चालना—चेतनता असम्भव है। आपके विना हमारा जीवन रहना असम्भव है। अतः आप मथुरा से लौट आओ।

दामोदर—नाम से गोपीगण श्रीकृष्ण को उनकी वात्सल्यमूर्त्ति माता-यशोदा की याद दिलाती थीं। ''जिस माता यशोदा ने अपने परम शुद्ध वात्सल्य से तुम्हारा पालन-लालन किया है जिसने तुम्हें स्नेह रज्जु से बान्ध दिया था—हे दामोदर! उस की तुम्हारे बिना क्या दशा है? उसे तो आकर देख जाओ।''

माधव—नाम से व्रज सुन्दरीगण श्रीकृष्ण को जताती थीं—''श्रीकृष्ण! तुम माधव हो। (मा) श्रीराधा के (धव) पति हो। तुम श्रीराधा के प्राणवल्लभ हो। तुम्हें अपनी प्राणप्रिय श्रीराधा को त्याग कर कुब्जादि के फन्दे मे फँसना शोभा नहीं देता। सब जगत् तुम्हें 'राधापति' ही पुकारता है 'कुब्जापति' कोई नहीं पुकारेगा। अतः हे माधव! तुम हम व्रजाङ्गनाओं को त्याग कर अपने माथे पर कलङ्क मत लो।'' अथवा (मा) नहीं हो (धव) पति हमारे। अर्थात् आप हमारे पति नहीं हो यदि आप हमें अपनी पत्नियाँ जानते तो कभी ऐसी निठुराई न ठानते। कोई भी पति अपनी पत्नि को छोड़ कर ऐसी निठुरता का आचरण नहीं करता, जैसा आप कर रहे हो। न बनो हमारे पति, हम पर-स्त्रियाँ ही सही, किन्तु परायी वस्तु को नष्ट करना भी तो घोर अन्याय है। इसलिए हे माधव! तुम श्रीवृन्दावन में लौट आओ।'' इस प्रकार इन तीनों नामों से श्रीकृष्ण को पुकार कर व्रज सुन्दरीगण वियोग में व्याकुल होकर पुकारा करती थीं। आज वही दशा श्रीमन्महाप्रभु जी की हो रही थी।

एइ मत विलपिते अर्द्ध रात्रि गेल। गम्भीराते स्वरूपगोसाञि प्रभुके शोयाइल ॥५२॥
प्रभुके शोयाञा रामानन्द गेला घरे। स्वरूप गोविन्द शुइल गम्भीरार द्वारे ॥५३॥
प्रेमावेशे महाप्रभुर गरगर मन। नाम सङ्कीर्त्तन करे वसि करे जागरण ॥५४॥
विरहे व्याकुल प्रभुर उद्वेग उठिला। गम्भीरार भित्ये मुख घषिते लागिला ॥५५॥
मुखे गण्डे नाके क्षत हइल अपार। भावावेशे ना जाने प्रभु पड़े रक्तधार ॥५६॥
सर्व्व रात्रि करे भावे मुख सङ्घर्षण। गों गों शब्द करे स्वरूप शुनिल तखन ॥५७॥

इस प्रकार विलाप करते-करते आधी रात हो गई। श्रीस्वरूप जी ने प्रभु को गम्भीरा में सुला दिया। प्रभु को सोया हुआ जान कर श्रीरामानन्द जी अपने घर चले गए और श्रीस्वरूप तथा श्री-गोविन्द गम्भीरा के दरवाजे पर बाहर सो गए। श्रीमहाप्रभु जी का मन तो श्रीकृष्ण-विरह में व्याकुल हो रहा था, वे उठ बैठे और नाम सङ्कीर्त्तन करने लगे। वे श्रीकृष्ण वियोग में इतने अस्थिर हो उठे कि गम्भीरा की दीवारों से ठोकरें खाने लगे। दीवारों से अपने मुख को घिसने लगे। उनके मुख, कपोल, नाक सब घायल हो गए, उन से रक्त की धारा प्रवाहित होने लगी किन्तु भावावेश में प्रभु यह सब कुछ भी न जान रहे थे। इस प्रकार सारी रात प्रभु भावावेश में मुख सङ्घर्षण करते रहे। उनका गों-गों-शब्द सुन कर श्रीस्वरूप गोस्वामी जाग उठे ॥५२-५७॥

दीप ज्वालि घरे गेल, देखि प्रभुर मुख। स्वरूप गोविन्द दोंहार हैल महादुख ॥५८॥
प्रभुके शय्याते आनि सुस्थिर करिल। 'काह्णा कैले एइ तुमि?' स्वरूप पुछिल ॥५६॥
प्रभु कहे, उद्वेगे घरे ना पारि रहिते। द्वार चाहि बुलि शीघ्र बाहिर हइते ॥६०॥
द्वार नाहि पाइ, मुख लागे चारिभिते। क्षत हय रक्त पड़े ना पारि याइते ॥६१॥

श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने दीपक जलाकर भीतर कमरे में प्रवेश किया। प्रभु के मुख को देखते ही श्रीस्वरूप एवं श्रीगोविन्द महान् दुखी हुए। उन्होंने प्रभु को ले आकर शय्या पर सुलाया और स्थिर किया। श्रीस्वरूप ने पूछा—"प्रभु! यह आपने क्या कर दिया है?" प्रभु ने कहा—"स्वरूप! श्रीकृष्ण वियोग में मैं घर में (कमरे में) नहीं रह सकता था, मैं चारों ओर कमरे में बाहर निकलने के लिए घूमता रहा, किन्तु मुझे दरवाजा कहीं न मिला और मैं चारों दीवारों से ठोकरें खाता रहा। मैं घायल हो गया एवं रक्त बहने लगे किन्तु मैं बाहर न जा सका।" ॥५८-६१॥

उन्माद दशाय प्रभुर स्थिर नहे मन। ये करे ये बोले सब उन्माद-लक्षण ॥६२॥
स्वरूप गोसाञि तबे चिन्ता पाइल मने। भक्तगण लञा विचार कैल आर दिने ॥६३॥
सब भक्तगण मिलि प्रभुरे साधिल। शङ्कर पण्डित प्रभुर सङ्गे शोयाइल ॥६४॥
प्रभुर पाद तले शङ्कर करेन शयन। प्रभु तार उपरे करे पाद प्रसारण ॥६५॥
'प्रभुपादोपधान' बलि तार नाम हैल। पूर्वे विदुरे येन श्रीशुक वर्णिल ॥६६॥

उन्माद दशा में श्रीमहाप्रभु जी का मन स्थिर नहीं रहता था, वे जो कुछ करते, जो कुछ कहते—उसमें उनकी उन्मादता के लक्षण होते। श्रीस्वरूप गोस्वामी मन में बहुत चिन्तित हुए और दूसरे दिन सब भक्तों के साथ प्रभु के विषय में विचार परामर्श किया। सब भक्तों ने मिल कर यही निश्चय किया कि एक व्यक्ति दिन रात प्रभु के साथ रहे, जो उनकी चेष्टाओं को देखता रहे, जिस से उनके शरीर को इस प्रकार की दुख-यन्त्रणा न होने पावे। श्रीशङ्कर पण्डित को प्रभु के साथ रात को सुलाने लगे। श्रीशङ्कर महाप्रभु जी के पाँव के नीचे सोते थे और प्रभु उनके ऊपर पाँव फैला कर सोते। इस से श्री-शङ्कर पण्डित का नाम—"प्रभुपादोपधान" (प्रभु के पाँव तले का बालिश) पड़ गया। सब लोग उन्हें इसी नाम से बुलाते थे। श्रीशुकदेवजी ने श्रीविदुर जी के लिए भी ऐसा कह कर वर्णन किया था।

तथाहि (भाः ३-१३-५)—

इति ब्रुवाणं विदुरं विनीतं सहस्रशीर्षश्चरणोपधानम्।
प्रहृष्टरोमा भगवत् कथायं प्रणीयमानो मुनिरभ्यचष्ट ॥४॥

भगवान् श्रीकृष्ण के पादोपधान स्वरूप श्रीविदुर जी ने विनीत भाव से जब यह प्रश्न किया तब भगवत् कथा में प्रवृत्त हुए श्रीमैत्रेय-मुनि पुलकित-गात होकर कहने लगे—॥४॥

चै० च० चु० *टीका*—महामुनि श्रीमैत्रेय जी जब हरिद्वार में थे, तब श्रीविदुर जी उनके पास गए थे एवं विनीत भाव से उन्होंने भगवत्तत्त्वादि के सम्बन्ध में उनसे कई एक प्रश्न किए थे। इस श्लोक में श्रीशुकदेव जी ने श्रीविदुर जी को श्रीकृष्ण चरणोपधान कह कर वर्णन किया है।

श्रीकृष्ण जब श्रीविदुर जी के घर में गये थे, तब श्रीविदुर जी की शङ्का निवृत्ति के लिए श्रीकृष्ण भगवान् ने उनके सामने अपना सहस्र शीर्ष विग्रह प्रकट किया था। तदनन्तर श्रीविदुर जी ने श्रीकृष्ण को भोजन कराया एवं फिर भगवान् के चरणों को अपनी गोदी में लेकर उन्हें विश्राम के लिए सुला दिया। श्रीभगवान् भी अपने चरणों को उनकी गोदी में रख कर सो गए। अतः श्रीविदुर जी को श्रीशुकदेव जी ने 'सहस्रशीर्षा-चरणोपधान' कह कर वर्णन किया है। इसी प्रकार श्रीशङ्कर भी

श्रीमहाप्रभुजी के चरणों को अपनी गोदी में धारण कर उन्हें शयन कराते थे--अतः उन्हें 'प्रभुपादोपधान' नाम से कहा गया है।

शङ्कर करेन प्रभुर पाद संवाहन। घुमाञा पड़ेन तैछे करेन शयन ॥६७॥
उघाड़-अङ्गे पड़िया शङ्कर निद्रा याय। प्रभु उठि आपन कान्था ताहारे ओढ़ाय॥६८॥
निरन्तर घुमाय शङ्कर शीघ्र-चेतन। वसि पाद चापि करे रात्रि-जागरण ॥६९॥
तार भये नारे प्रभु बाहिरे याइते। तार भये नारे भित्त्ये मुखाब्ज घषिते ॥७०॥
एइ लीला महाप्रभुर रघुनाथदास। गौराङ्गस्त-वकल्प.वृक्षे करियाछे प्रकाश ॥७१॥

जब तक श्रीमहाप्रभु जी जागते रहते, तब तक श्रीशङ्कर उनके चरण संवाहन करते रहते, जब प्रभु को निद्रा आ जाती तब श्रीशङ्कर उसी अवस्था में ही (प्रभु के चरणों को गोदी में रखे रखे) स्वयं सो जाते। श्रीशङ्कर नङ्गे शरीर से सो जाते, उनके निद्रित पड़ जाने पर श्रीमहाप्रभु जी अपने ओढ़ने का वस्त्र उन पर डाल देते। श्रीशङ्कर अति शीघ्र चेतन थे अर्थात् वे नींद से शीघ्र जाग जाने वाले थे। वे निरन्तर उसी अवस्था में नींद भी कर लेते किन्तु थोड़ी-थोड़ी देर में फिर जाग पड़ते। जब जगते तब प्रभु के चरण दावने लगते। इस प्रकार जाग कर वे रात गुजार लेते। श्रीशङ्कर के भय से (भक्त के दुखी होने के भय से) प्रभु फिर गम्भीरा से बाहर न जाते और न ही फिर अपने मुख कमल को दीवारों से घिस पाते। इसी लीला को श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी ने भी अपने श्रीगौराङ्गस्तव - कल्पतरु में वर्णन किया है—॥६७—७१॥

तथाहि स्तवावल्यां गौराङ्गस्तव - कल्पतरौ (६)—

स्वकीयस्य प्राणार्बुदसदृशगोष्ठस्य विरहात्
प्रलापानुन्मादात् सततमति कुर्व्वन् विकलधीः।
दधद्भितौ शश्वद्वदनविधु घर्षेण रुधिरं
क्षतोत्थं गौराङ्गो हृदये उदयन् मां मदयति ॥५॥

जो अपने प्राण कोटि सदृश गोष्ठ—श्रीवृन्दावन के विरह में उन्मत्त होकर सर्वदा अतिशय प्रलाप करते थे एवं उन्माद जनित विकल-बुद्धि वशतः दीवारों से मुख-घर्षण करते थे एवं उसी के फलस्वरूप जिन के मुख-क्षतों से निरन्तर रुधिरधारा बह निकली थी, वही श्रीगौराङ्गदेव हृदय में उदित होकर मुझे अतिशय व्याकुल कर रहे हैं ॥५॥

एइ मत महाप्रभु रात्रि-दिवसे। प्रेम सिन्धु मग्न रहे, कभु डुब भासे ॥७२॥
एक काले बैशाखेर पौर्णमासीर दिने। रात्रि काले महाप्रभु चलिला उद्याने ॥७३॥
जगन्नाथ वल्लभ नाम उद्यान-प्रधाने। प्रवेश करिल प्रभु लञा भक्त गणे ॥७४॥
प्रफुल्लित वृक्ष-वल्ली, येन बृन्दावन। शुक सारी पिक भृङ्ग करे आलापन ॥७५॥
पुष्प गन्ध लञा वहे मलय पवन। गुरु हञा तरु लता शिखाय नर्त्तन ॥७६॥

पूर्ण चन्द्र चन्द्रिकाय परम उज्ज्वल। तरुलता ज्योत्स्नाय करे झलमल ॥७७॥
छयऋतुगण याहां वसन्त प्रधान। देखि आनन्दित हैल गौर भगवान् ॥७८॥

इस प्रकार रात–दिन श्रीमहाप्रभु जी प्रेम-सागर में मग्न रहते थे, कभी प्रेम-सिन्धु में डूब जाते (बाह्यज्ञान रहित हो जाते) कभी तैरने लगते (बाह्यज्ञान हो आता।) वैशाख मास की पौर्णमासी का दिन था, रात के समय श्रीमहाप्रभु जी एक प्रधान बागीचे में आए, जिसका नाम 'जगन्नाथ वल्लभ' था। श्रीमहाप्रभु जी ने भक्तों सहित उस बगीचे में जब प्रवेश किया, तो उन्होंने देखा कि समस्त वृक्ष–वल्ली प्रफुल्लित हो रहे हैं, जैसे श्रीवृन्दावन। शुक, सारी, पिक, मधुकर गण सुन्दर-सुन्दर ध्वनि कर रहे हैं। मलयाचल की चन्दन पवन पुष्पों की सुगन्धि युक्त चल रही है, मानो वह गुरु बन कर तरुलताओं को नृत्य सिखा रही है। पूर्ण चन्द्र की चन्द्रिका में तरु–लताएँ परम उज्ज्वल होकर झलमल–झलमल कर रही हैं। उस उद्यान में षड़ऋतुएँ(ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शीत व बसन्त)उपस्थित थीं किन्तु उन में उस समय बसन्त ही प्रधान था। उस उद्यान को देख कर श्रीगौर भगवान् आनन्दित हुए।।७२-७८।।

'ललित-लवङ्गलता' पद गाओआइया। नृत्य करि बुले प्रभु निजगण लैया ॥७९॥
प्रति वृक्ष वल्ली ऐछे भ्रमिते भ्रमिते। अशोकेर तले कृष्ण देखे आचम्बिते ॥८०॥
कृष्ण देखि महाप्रभु धाइया चलिला। आगे देखि हासि कृष्ण अन्तर्द्धान हैला ॥८१॥
आगे पाइला कृष्ण, तारे पुन हाराइया। भूमिते पड़िला प्रभु मूर्च्छित हइया ॥८२॥
कृष्णेर श्रीअङ्गगन्धे भरियाछे उद्यान। सेइ गन्ध पाञा प्रभु हैला अचेतन ॥८३॥
निरन्तर नासाय पैशे कृष्ण परिमल। गन्ध आस्वादिते प्रभु हइला पागल ॥८४॥
कृष्ण गन्ध लुब्ध राधा सखीके ये कहिला। सेइ श्लोक पढ़ि प्रभु अर्थ करिला ॥८५॥

तब श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीरूप गोस्वामी द्वारा श्रीगीत गोविन्द का 'ललित-लवङ्गलता' इत्यादि प्रथम सर्ग के एक गीत का यह प्रथम पद है) गीत गान कराया एवं महाप्रभु जी अपने गणों के साथ इस प्रकार नृत्य पूर्वक भ्रमण करने लगे। प्रति वृक्षलता के नीचे भ्रमते–भ्रमते एक अशोक वृक्ष के नीचे श्रीमहाप्रभु जी ने हठात् श्रीकृष्णचन्द्र को देखा। उन्हें देख कर श्रीमहाप्रभु जी उनकी ओर दौड़ पड़े। प्रभु को आता देख कर श्रीकृष्ण मुस्करा कर अन्तर्धान हो गए। श्रीकृष्ण को साक्षात् पाकर और फिर खोकर श्रीमहाप्रभु जी मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। श्रीकृष्ण तो अन्तर्धान हो गए, किन्तु श्रीकृष्ण की श्रीअङ्ग-गन्ध से वह उद्यान पूर्ण हो रहा था, उस सुगन्ध को पाकर प्रभु अचेतन हो पड़े। निरन्तर उनकी नासिका में श्रीकृष्ण परिमल प्रवेश कर रही थी, उसका आस्वादन करके वह उन्मत्त हो रहे थे। श्रीराधा जी ने श्रीकृष्णाङ्ग गन्ध में लुब्ध होकर अपनी सखी को जो श्लोक कहा था, वही श्लोक पढ़ कर प्रभु उसका अर्थ करने लगे—।।७९—८५।।

तथाहि गोविन्दलीलामृते (८—६)—

कुरङ्गमदजिद्व—पुःपरिमलोर्मि कृष्टाङ्गनः
स्वकाङ्ग नलिनाष्टके शशियुताब्ज गन्धप्रथः।

मदेन्दु वरचन्दनागुरु सुगन्धि चर्चार्पित:
स मे मदनमोहन: सखि तनोति नासास्पृहाम् ॥६॥

श्रीराधा जी ने कहा था—"हे सखि ! मृगमद विजयी श्रीअङ्ग की परिमल रश्मियों द्वारा जो ब्रजाङ्गनाओं को आकर्षण करते हैं, जो अपने अङ्ग रूप अष्ट पद्मों में कर्पूर युक्त पद्म की गन्ध विस्तार करते हैं एवं जो मृगमद, कर्पूर, श्रेष्ठ चन्दन एवं कृष्ण-अगर आदि सुगन्धित द्रव्यों द्वारा अपने अङ्गों को चर्चित करते हैं, वे मदन मोहन श्रीकृष्ण मेरी नासिका की स्पृहा को विस्तार कर रहे हैं ॥६॥

यथाराग:—

कस्तूरीलिप्त नीलोत्पल, तार येइ परिमल, ताहा जिनि कृष्ण-अङ्गगन्ध ।
व्यापे चौद्द भुवने, करे सर्व आकर्षणे, नारीगणेर आंखि करे अन्ध ॥८६॥

भावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"कस्तूरी से लिप्त नीलोत्पल की जो अद्भुत सुगन्धि होती है, श्रीकृष्ण की अङ्ग गन्ध उसे भी पराजित करने वाली है, वह चौदह भुवन में व्याप जाती है एवं सब को अपनी ओर आकर्षण करने वाली है। नारियों—ब्रजसुन्दरियों को तो वह मदान्ध कर देती हैं। (श्रीकृष्ण-अङ्ग की सुगन्धि पाते ही ब्रजसुन्दरिगण तन्मय भाव से निमीलित नेत्रों से उन को ओर भाग पड़ती हैं, उन्हें फिर कुछ भी नहीं सूझता।) ॥८६॥

सखि हे ! कृष्ण-गन्ध जगत माताय ।
नारीर नासाय पैशे, सर्वकाल ताहां वैसे, कृष्ण पाशे धरि लञा याय ॥ध्रु॥८७॥
नेत्र नाभि बदन, कर युग चरण, एइ अष्ट पद्म कृष्ण-अङ्गे ।
कर्पूर लिप्त कमल, तार यैछे परिमल, सेइ गन्ध अष्ट पद्म सङ्गे ॥८८॥

"हे सखि ! श्रीकृष्णाङ्ग-गन्ध जगत् को उन्मत्त कर देने वाली है, ब्रज गोपियों की नासिका में जब वह एक बार प्रवेश करती है, तब वहाँ निरन्तर अनुभव होती रहती है एवं उन्हें श्रीकृष्ण की ओर खींच ले जाती है। नेत्र-युगल, नाभि, मुख, कर-युगल एवं पद-युगल—ये अष्ट कमल श्रीअङ्गों में विराजमान हैं। कर्पूर से लिप्त कमल की जैसी परिमल होती है, वही सुगन्ध इन आठों कमलों में है।

हेम कीलित चन्दन, ताहा करि घर्षण, ताहे अगुरु कुंकुम कस्तूरी ।
कर्पूर सने चर्चा अङ्गे, पूर्व अङ्गेर गन्ध सङ्गे, मिलि डाका येन कैल चुरि ॥८९॥
हरे नारीर तनु-मन, नासा करे घूर्णन, खसाय नीवी, छुटाय केश बन्ध ।
करि आगे वाउरी, नाचाय गात-नारी, हेन डाकाति कृष्ण-अङ्गगन्ध ॥९०॥

स्वर्ण की पत्ती में मढ़ा हुआ चन्दन घिस कर उसमें अगर, केसर एवं कस्तूरी और कर्पूर मिला कर उसका लेप श्रीकृष्ण अङ्गों पर लगा हुआ होता है, इस की सुगन्ध उन पूर्वोक्त अष्ट कमलों की सुगन्ध के साथ मिल कर एक डाकू की भाँति मन को चुरा लेने वाली है। नारियों के तन-मन को हर

लेती है, नासिका में निरन्तर घूमती रहती है, उनके नीवी बन्धन को ढीला कर देती है, उनके केशपाश खुल जाते हैं। समस्त जगत् की नारियों को पागल कर देती है। वे नाचने लगती हैं—श्रीकृष्णाङ्गगन्ध ऐसा डाका डाला करती है ॥८९—९०॥

सेइ गन्धेरवश नासा, सदा करे गन्धेर आशा, कभु पाय कभु नाहि पाय।
पाइले पिया पेट भरे, 'पिङो पिङो' तबु करे, ना पाइले तृष्णाय मरि याय ॥९१॥
मदन मोहनेर नाट, पसारि गन्धेर हाट, जगन्नारी ग्राहक लोभाय।
विनि मूल्य देय गन्ध, न्ध दिया करे अन्ध घर याइते पथ नाहि पाय ॥९२॥

जिसकी नासा में यह श्रीकृष्णाङ्ग-गन्ध एक बार प्रवेश करती है, उसकी नासिका उसी गन्ध के वशीभूत हो जाती है, निरन्तर उसी गन्ध के पीछे आशा लगा कर घूमा करती है, कभी प्राप्त हो जाती है तो पेट भर कर उसका पान करने-आस्वादन करने पर भी 'और पियों और पियों' वह ऐसा कहा करता है। कभी नहीं मिलती है तो उसकी अप्राप्ति में तृषित होकर जीवन छोड़ देता है। वह मदनमोहन नटनागर अपने अङ्गों की सुगन्ध की दुकान पसार कर बैठता है। जगत् की नारियाँ ग्राहक बन कर आती हैं एवं लुभा जाती हैं। वे उन्हें बिना किसी मूल्य के गन्ध देता है, गन्ध देकर उन्हें वह ऐसा मदान्ध करता है कि वे घर का रास्ता भूल जाती हैं—वहीं की वहीं स्थगित होकर रही आती हैं ॥९१-९२॥

एइ मत गौर हरि, गन्धे कैल मन चुरि, भृङ्ग प्राय इति उति धाय।
याय वृक्ष लता पाशे, कृष्ण स्फुरे सेइ आशे, कृष्णना पाय गन्ध मात्र पाय ॥९३॥
स्वरूप रामानन्द राय, प्रभु नाचे सुखपाय, एइ मत प्रातःकाल हैल।
स्वरूप रामानन्द राय, करि नाना उपाय, महाप्रभु बाह्य स्फूर्त्ति कैल ॥९४॥
मातृ भक्ति प्रलपन, भित्त्ये मुख संघर्षण, कृष्णगन्ध स्फूर्त्त्ये दिव्य नृत्य।
एइ चारि लीला भेदे, गाइल एइ परिच्छेदे, कृष्णदास रूप गोसाञिर भृत्य। ९५॥

इस प्रकार श्रीकृष्णाङ्ग गन्ध ने श्रीगौर हरि के मन की चोरी कर ली और वे मधुकर की भाँति इधर-उधर भाग रहे थे। प्रति वृक्ष-लता के पास जाते कि कहीं फिर श्रीकृष्ण उन्हें मिल जाएँ, उन्हें श्रीकृष्ण तो न मिलते किन्तु कृष्णाङ्ग गन्ध का अनुभव उन्हें निरन्तर होने लगता। श्रीस्वरूप जी एवं राय रामानन्द जी तो गान कर रहे थे एवं प्रभु सुख-पूर्वक नृत्य कर रहे थे—इस प्रकार प्रातःकाल हो गया। श्रीस्वरूप गोस्वामी तथा श्रीराय रामानन्द जी ने अनेक यत्न करके श्रीमहाप्रभु को बाह्यज्ञान कराया। (श्रीकृष्णदास जी कहते हैं)—मातृ-भक्ति, दिव्योन्माद जनित प्रलाप एवं दीवारों से प्रभु का मुख—सङ्घर्षण एवं श्रीकृष्णाङ्ग-गन्ध की स्फूर्ति में प्रभु का दिव्य नृत्य—इन चारों लीलाओं को इस परिच्छेद में गान किया है।" श्रीरूप गोस्वामी जी के दास श्रीकृष्णदास ऐसा कहते हैं ॥९३-९५॥

एइ मते महाप्रभु पाइया चेतन। स्नान करि कैल जगन्नाथ दरशन ॥९६॥
अलौकिक कृष्णलीला, दिव्य शक्ति तार। तर्केर गोचर नहे चरित्र यांहार ॥९७॥
एइ प्रेमा सदा जागे याहार अन्तरे। पण्डिते हो तार चेष्टा बुझिते ना पारे ॥९८॥

इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी जब चेतनावस्था को प्राप्त हुए, तब उन्होंने स्नान किया एवं श्रीजगन्नाथ जी के आकर दर्शन किए। श्रीकृष्ण की (श्रीकृष्णचैतन्य की) अलौकिक लीलाएँ हैं, उनमें दिव्य शक्ति हैं, तर्क द्वारा उनकी लीलाओं का अनुभव नहीं हो सकता है। इस प्रकार की शुद्ध प्रेमाभक्ति जिसके हृदय में उदय होती है, उसकी चेष्टाओं को पण्डित पुरुष भी नहीं जान सकता है ।।९६-९८।। जैसा कि श्रीभक्ति-रसामृत-सिन्धु में कहा गया है।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१-४-१२)—

धन्यस्यायं नव प्रेमा यस्योन्मीलति चेतसि।
अन्तर्वाणीभिरप्यस्य मुद्रा सुष्ठु सुदुर्गमा ।।७।।

जिसके हृदय में इस नवीन प्रेमाभक्ति का उदय होता है, वह व्यक्ति धन्य है, उसकी वाणी एवं क्रियाओं की परिपाटी को शास्त्रवेता गण भी नहीं समझ सकते हैं ।।७।।

अलौकिक प्रभुर चेष्टा प्रलाप शुनिया। तर्क ना करिह, शुन विश्वास करिया ।।९९।।
इहार सत्यत्वे प्रमाण-श्रीभागवते। श्रीराधार प्रेम-प्रलाप भ्रमर- गीताते ।।१००।।
महिषरि गीत येन दशमेर शेषे। पण्डिते ना बुझे तार अर्थ सविशेषे ।।१०१।।
महाप्रभु नित्यानन्द दोंहार दासेर दास। यारे कृपा करे, तार इहाते विश्वास ।।१०२।।
श्रद्धा करि शुन, शुनिते पाइवे महासुख। खण्डिवे आध्यात्मिकादि कुतर्कादि दुख।।१०३।।
चैतन्यचरितामृत नित्य नूतन। शुनिते शुनिते जुड़ाय हृदय श्रवण ।।१०४।।
श्रीरूप – रघुनाथ–पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ।।१०५।।

श्रीकृष्णदास गोस्वामी पाद कहते हैं—श्रीमहाप्रभु जी की अलौकिक चेष्टाओं को एवं दिव्योन्मादमय प्रलापों को सुन कर तर्क कभी नहीं करना। इन्हें विश्वास पूर्वक सुनना। इन के सत्यत्व का प्रमाण—श्रीमद्भागवत जी हैं। भ्रमर-गीत में (दशम स्कन्ध के ४७ वे अध्याय में श्रीराधा जी का प्रेम-प्रलाप वर्णित है और दशम स्कन्ध के ९० वें अध्याय में महिषियों का प्रलाप वर्णित है। इन प्रलापों का गूढ़ मर्म पण्डित लोग भी नहीं जान सकते हैं। श्रीमहाप्रभु जी के एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु के जो दास हैं, उनके जो दास हैं—अर्थात् श्रीमहाप्रभु जी के अनुयायी ही, जिन पर वे कृपा करते हैं, वही इन प्रलापों का रहस्य जान सकते हैं एवं वे ही इन्हें पूर्ण विश्वास पूर्वक सुनते हैं। हे पाठक गण ! आप भी इन्हें श्रद्धा पूर्वक सुनिए, इन को सुन कर आपको भी महासुख की प्राप्ति होगी। इनके सुनने से आधिभौतिक आधिदैविक एवं आध्यात्मिक—त्रितापों का तथा कुतर्कादि जनित दुख नाश होता है। श्रीश्रीचैतन्य देव का चरित्र नित्य नवीन है। इसके सुनने से हृदय एवं कानों को शीतलता—परम सुख मिलता है। श्रीरूप गोस्वामी तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी श्री श्री चैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ।।९९–१०५।।

चै० च० चु० टीका—उपर्युक्त पयारों में श्री श्रीचैतन्यचरितामृत का अपूर्व माहात्म्य वर्णन किया गया है। यह नित्य नूतन है, जितनी बार ही क्यों न सुना जाए, उतनी बार ही यह नवीन ही

नवीन रसास्वादन कराता है। इसका कारण यह है कि श्री श्रीचैतन्यचरितामृत में श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु स्वयं ही विराजमान हैं। श्रीमन्महाप्रभु जी का माधुर्य जैसे नित्य नवीन है, उसी प्रकार उनकी लीला-कथा का माधुर्य भी नित्य नूतन है।

श्रीकृष्ण विरहार्त्ता श्रीराधा-भाव में आविष्ट श्री श्रीगौरसुन्दर के स्वरूप में जो वैचित्री अभिव्यक्त हुई है, इस के सम्बन्ध में कुछ आलोचना करना यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा।

श्रीमन्महाप्रभु श्रीगौरसुन्दर प्रेमविलास विवर्त्त का मूर्त्त विग्रह हैं एवं विप्रलम्भ का भी मूर्त्त-विग्रह हैं—श्रीराधा जी जिस भाव से श्रीकृष्ण-माधुर्य का पूर्णतम आस्वादन करती हैं, ठीक उसी प्रकार से अपने माधुर्य को आस्वादन करने की तीव्र लालसा व्रज लीला में श्रीकृष्ण में जाग उठी। माधुर्य-आस्वादन का एक मात्र उपाय है प्रेम—आश्रय जातीय प्रेम। जिस में श्रीकृष्ण विषयक प्रेम का पूर्णतम विकाश होता है, केवल मात्र वह ही श्रीकृष्ण के माधुर्य का पूर्णतम रूप से आस्वादन कर सकता है। प्रेम के पूर्णतम प्रकाश का नाम है—मादनाख्य-महाभाव। वह मादनाख्य-महाभाव केवल मात्र श्रीराधा जी में हैं। श्रीकृष्ण इस मादनाख्य भाव के केवल मात्र विषय हैं, आश्रय नहीं। इसलिए स्वीय माधुर्य का पूर्णतम रूप से आस्वादन करने के लिए श्रीराधा के मादनाख्य-महाभाव के आश्रय होने की तीव्र लालसा श्रीकृष्ण में स्वाभाविक उठनी थी। मादनाख्य के आश्रय होने के लिए उन्हें श्रीराधा जी के साथ निबिड़तम भाव से मिलित होना पड़ा। श्रीराधा जी के प्रति गौर-अङ्ग द्वारा स्वीय प्रति श्याम अङ्ग के साथ निविड़तम भाव से आलिङ्गत होकर श्यामसुन्दर को गौर सुन्दर होना ही पड़ा। यही श्रीश्रीगौर-सुन्दर का स्वरूप है एवं मादनाख्य महाभाव ही उनका स्वरूपगत भाव है। वे स्वरूप में मादन का आश्रय हैं। मादन का विकाश ही उनके स्वरूप का पूर्ण विकाश है। मादन का विकाश श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा जी के मिलन में होता है। यह मिलन जितना निविड़ होगा, मादन का उच्छ्वास भी उतना ही अधिक हुआ करता है। श्रीगौर स्वरूप में श्री श्रीराधा-कृष्ण का निविड़तम मिलन है। प्रेम विलास-विवर्त्त में ही श्री श्रीराधा-कृष्ण का निविड़तम मिलन है एवं मादन का चरमतम विकाश है। इसलिए श्रीराधा जी के प्रेम विलास विवर्त के भाव में श्री श्रीगौर सुन्दर जब आविष्ट होते हैं, तब उन में भी मादन का पूर्णतम विकाश होता है। इसलिए श्री श्रीगौरसुन्दर को प्रेम-विलास-विवर्त्त का मूर्त्तविग्रह कहा गया है। यही श्रीगौरसुन्दर का स्वरूप है, क्योंकि इस विग्रह में ही श्री श्रीराधा-कृष्ण का निबिड़-तम मिलन है एवं मादनाख्य-महाभाव का सर्वातिशायी विकाश है।

किन्तु अन्त्य-लीला में श्रीमन्महाप्रभु जी का जो समस्त प्रलाप वर्णन किया गया है, वह प्रायः समस्त दिव्योन्माद-जनित प्रलाप है। श्रीकृष्ण के विरह में क्लिष्ट होकर श्रीराधा जी के भावावेश में श्रीमन्महाप्रभु जी की वह समस्त प्रलापोक्ति है। इस प्रलाप को देख कर यह कहा जा सकता है कि श्रीगौरसुन्दर श्रीकृष्ण-विरह के या विप्रलम्भ के मूर्त्त-विग्रह हैं और कोई-कोई ऐसा मानते भी हैं। किन्तु प्रभु के इस विप्रलम्भ विग्रह को उनके स्वरूप का विग्रह कहना सङ्गत नहीं मालूम पड़ता है। कारण कि हम पहले ही कह चुके हैं कि श्री श्रीराधा-कृष्ण का नित्य निबिड़तम मिलन एवं मादनाख्य महाभाव ही प्रभु का स्वरूपगत भाव है। विरह में मादन का विकाश नहीं होता है, विरह में मोहनाख्य-भाव का ही विकाश होता है। मोहनाख्य-महाभाव प्रभु का स्वरूपगत मुख्य भाव नहीं है। अवश्य, मादन ही विरह में मोहन नाम को धारण करता है।मादन स्वयं-प्रेम होने से वह मोहन भी मादन के ही अन्तर्भुक्त है, तथापि मादन और मोहन एक नहीं हैं। मोहन की अपेक्षा मादन में प्रेम का एक अनिर्वचनीय सर्वातिशायी

विकाश है। मादन सर्वभावोद्गमोल्लासी है, मोहन में यह बात नहीं है। इसलिए मोहनाख्य-महाभाव सम्भूत दिव्योन्माद के विग्रह को मादन–सम्भूत प्रेम-विलास विवर्त्त के विग्रह के साथ अभिन्न कहना नहीं बनता। मादनाख्य–महाभाववती श्रीराधा में श्रीकृष्ण विरहावस्था में जब मोहन उच्छ्वसित हो उठता है तब दिव्योन्माद एवं तज्जनित प्रलापादि का अभ्युदय होता है। तब मादन प्रच्छन्नरूप में अवस्थान करता है। श्रीगौर सुन्दर भी जब श्रीराधा जी के मोहनाख्य भाव में आविष्ट होते हैं, तब उन में उनका स्वरूपगत मुख्य भाव जो मादन है, प्रच्छन्न या स्तम्भित रूप में रहता है। मोहन भाव जैसे श्रीराधा जी का स्वरूपगत सर्व प्रधान भाव नहीं है, राधाभावाविष्ट श्रीगौरसुन्दर का भी वह मोहन भाव स्वरूपगत सर्व-प्रधान भाव नहीं है।

प्रश्न उठता है कि श्री श्रीगौरसुन्दर जब श्री श्रीराधागोविन्द का नित्य-मिलित विग्रह हैं तो उन में विरह भाव का उदय कैसे सम्भव हो सकता है?—यह बात असम्भव नहीं है। प्रेम–वैचित्त्य में श्रीकृष्ण की अङ्कस्थिता श्रीराधा जी में भी विरह का भाव उदित हो उठता है। श्रीगौरसुन्दर रूप से श्रीकृष्ण श्रीराधा-प्रेम की महिमा का अनुभव कर रहे हैं, दिव्योन्माद में राधा-प्रेम की क्या महिमा है, यदि उसका आस्वादन प्रभु न कर पाऐंगे, तो राधा प्रेम की महिमा जानने की वासना कुछ अंश में अधूरी रह जाएगी। अतः श्रीराधा–कृष्ण–मिलित–विग्रह श्रीगौर रूप से श्रीकृष्ण विरह जात प्रेमावस्था तथा दिव्योन्मादमय प्रलापों का भी आस्वादन करते हैं।

ब्रज-लीला में श्रीकृष्ण की तीन अपूर्ण वासनाओं में एक थी—श्रीराधा–प्रणय महिमा जानने की वासना। उसे प्रभु ने नाना भावों से पूर्ण किया। राय रामानन्द जी के साथ साधन–तत्व की आलोचना के व्यपदेश से प्रभु ने राय के मुख से श्रीराधा-प्रेम की महिमा ख्यापन कराई थी। उस से श्री-राधा प्रेम महिमा की एक वैचित्री का प्रकाश करके प्रभु ने उसका आस्वादन किया। उनके साथ साध्य तत्व की आलोचना प्रसङ्ग में जो प्रेम-विलास विवर्त्त की कथा उदित हुई, उस से प्रेम-विलास निवर्त्त भाव में आविष्ट होकर श्री श्रीराधा-कृष्ण के विलास-माधुर्य की चरमतम पराकाष्ठा का आस्वादन कर प्रभु विह्वल हो गये थे। इस से श्रीकृष्ण-माधुर्य आस्वादन के लिए ब्रज-लीला में श्रीकृष्ण की जो एक वासना अपूर्ण रह गई थी। वह पूर्ण हो गई। रास-लीला दर्शन में, श्रीजगन्नाथ जी को साक्षात् श्रीब्रजेन्द्रनन्दन मुरली धारी रूप में देख कर, श्रीकृष्णाधरामृत का आस्वादन करके, जलकेलि दर्शन करके, इत्यादि अनेक भावों से राधाभावाष्टि श्रीगौर रूप से श्रीकृष्ण ने स्वीय माधुर्य वैचित्री समूह का आस्वादन किया है। मादनाख्य भाव में आविष्ट होकर हो श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीकृष्ण माधुर्य का आस्वादन किया है। इस रूप में श्रीकृष्ण ने अपनी दूसरी अपूर्ण वासना की पूर्णता लाभ की है।

प्रश्न हो सकता है—श्रीराधा जी के सुख के स्वरूप को जानने की, इच्छा श्रीब्रजेन्द्रनन्दन की थी, परन्तु श्रीराधा जी के दुख के स्वरूप को जानने की इच्छा तो उनकी न थी, तब विष ज्वालामय दिव्योन्माद का आवेश प्रभु को क्यों हुआ।

इसका उत्तर यह है कि दुख ही सुख की महिमा का ज्ञापक हुआ करता है। नित्य सम्भोग-मय मादन में भी इसी लिए विरह की स्फूर्त्ति हुआ करतो है। विशेषतः, विरहयन्त्रणा प्रेम–जनित आभ्यन्तरिक आनन्द को कैसी एक अपूर्व अनिर्वचनीय सुषमा प्रदान करती है, उसे न जान लेने से उस सुख के स्वरूप का भी सम्यक अनुभव नहीं हो सकता। इसलिए श्रीराधा सुख के स्वरूप को जानने में इसका भी प्रयोजन है।

द्वितीयतः श्रीराधा के प्रेम की महिमा जानने के लिए दिव्योन्माद का भी प्रयोजन है। श्री-राधा का प्रेम आश्रय के ऊपर क्या प्रभाव विस्तार करता है, यह केवल दिव्योन्माद में ही जाना जा सकता है। इस को जाने बिना भी श्रीराधा–प्रेम की महिमा का ज्ञान अपूर्ण रह जाता है।

सारांश यह है कि श्रीगौर सुन्दर प्रेम-विलास विवर्त्त के मूर्त्त-विग्रह हैं। मादनाख्य भाव ही उनका स्वरूप-गत धर्म है। उसी भाव में आविष्ट होकर उन्होंने अपनी व्रज-लीला की अपूर्ण वासनाओं को पूर्ण किया है। विप्रलम्भ मूर्त्त-विग्रह से जो उन्होंने दिव्योन्मादमय प्रलाप किया है, चाहे वह उनका स्वरूपगत प्रधान धर्म नहीं है, उसकी स्फूर्त्ति में भी उन्होंने श्रीकृष्ण माधुर्यास्वादन की एक वैचित्री का आस्वादन किया है, वह भी उनके स्वरूप गत भाव का विरोधी नहीं है।

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्यलीलायां
विरहप्रलापमुख संघर्षणादि वर्णनं–नाम
ऊनविंश परिच्छेदः ॥१९॥

जयगौर

अन्त्य-लीला

विंश परिच्छेद

प्रेमोद्भावित हर्षेर्ष्यों द्वेगदैन्यार्त्तिमिश्रितम् ।
लपितं गौरचन्द्रस्य भाग्यवद्भिर्निषेव्यते ॥१॥

प्रेम-जनित हर्ष, ईर्ष्या, उद्वेग, दैन्य व आर्त्ति–मिश्रित (जिन) श्रीगौराङ्ग के प्रलाप वाक्य भाग्यवान् पुरुष ही श्रवण किया करते हैं, (उनको में प्रणाम करता हूँ) ॥१॥

[इस परिच्छेद में श्रीमन्महाप्रभु जी ने जैसे स्वरचित शिक्षाष्टक के श्लोकों का आस्वादन किया है एवं तत्प्रसङ्ग में जैसे उन्होंने श्रीकृष्ण नाम–सङ्कीर्त्तन–महिमा वर्णन व प्रलाप किया है, वह प्रसङ्ग वर्णित हैं]

जय जय गौरचन्द्र जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौर भक्तवृन्द ॥१॥
एइ मत महाप्रभु वैसे नीलाचले । रजनी–दिवस कृष्णविरह विह्वले ॥२॥
स्वरूप रामानन्द एइ दुइजनार सने । रात्रि दिने रसगीत श्लोक–आस्वादने ॥३॥
नाना भावे उठे प्रभुर, हर्ष शोक रोष । दैन्योद्वेग आर्त्ति उत्कण्ठा सन्तोष ॥४॥
सेइ सेइ भावे निज श्लोक पढ़िया । श्लोकेर अर्थ आस्वादये दुइ बन्धु लञा ॥५॥

श्री श्रीगौराङ्गदेव की जय हो, जय हो, श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु की जय हो, श्रीअद्वैतचन्द्र प्रभु की जय हो, गौर भक्तवृन्द की जय हो। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी नीलाचल में वास कर रहे थे एवं रात-दिन श्रीकृष्ण-विरह में विह्वल रहते थे। श्रीस्वरूप दामोदर एवं श्रीरामानन्द राय के साथ रात-दिन रस-गीत—व्रज रस सम्बन्धीय-गीत एवं श्लोकों का आस्वादन करते थे। हर्ष, शोक, क्रोध, उद्वेग, दैन्य, आर्त्ति, उत्कण्ठा तथा सन्तोष आदि अनेक प्रकार के भाव प्रभु में उदित होते रहते। उन्हीं-उन्हीं भावों के अनुकूल श्रीस्वरूप--रामानन्द जी श्लोक पढ़ते और प्रभु उनका अर्थ आस्वादन करते थे ॥१-५॥

कोन दिने कोन भावे श्लोक पठन । सेइ श्लोक आस्वादिते रात्रि-जागरण ॥६॥
हर्षे प्रभु कहे, शुन स्वरूप राम राय । नाम सङ्कीर्त्तन कलौ परम उपाय ॥७॥

किसी दिन किसी भाव का श्लोक, किसी दिन किसी और भाव का श्लोक वे दोनों पढ़ते। उस दिन रात दिन फिर उसी श्लोक का अर्थ ही प्रभु आस्वादन करते रहते। एक दिन हर्ष भावाविष्ट (श्रीकृष्ण मिलन जनित हर्ष भाव में आविष्ट) होकर श्रीमहाप्रभु जी कहने लगे—"स्वरूप! रामानन्द! सुनो, कलियुग में नाम सङ्कीर्त्तन परम उपाय है ॥६—७॥

चै० च० नु० *टीकाः*—इस परिच्छेद के आरम्भ में श्रीकविराज कह आए हैं कि श्रीमहाप्रभु जी दिन रात श्रीकृष्ण विरह में विह्वल रहते थे। इस से ज्ञात होता है—प्रभु राधा-भाव में आविष्ट होकर श्रीकृष्ण विरह में व्याकुल रहते थे। अब ऊपर के पयार में कविराज जी ने कहा है कि प्रभु हर्ष भाव में आविष्ट होकर कहने लगे। विरह में हर्ष भाव कैसा? और फिर नाम सङ्कीर्त्तन के सम्बन्ध में कहने लगे, यह देख कर ज्ञात होता है कि प्रभु भक्त-भाव में ही यह सब कुछ कह रहे हैं। परिच्छेद के आरम्भ में कविराज जी ने यह भी लिखा है कि प्रभु का दिव्योन्माद मय प्रलाप इस परिच्छेद में वर्णन किया गया है, इस से यह स्थिर होता है कि प्रभु नाम सङ्कीर्त्तन के विषय में जो कुछ कह रहे हैं—यह सब वचन उन्हें दिव्योन्माद अवस्था में ही स्फुरित हो रहे हैं।

प्रश्न यह उठता है कि दिव्योन्माद जो मादनाख्य-महाभाव की एक वैचित्री है। उस में भक्त-भाव का स्फुरण कैसे सम्भव हो सकता है?—इस का उत्तर यह है कि उद्घूर्णावश ही प्रभु का यह भक्त-भाव है। उद्घूर्णावश श्रीराधा जो जैसे अपने को कभी-कभी ललितादि जानने लगती थीं, राधा-भावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी भी जैसे जलकेलि-आदि के प्रलाप में अपने को सेवापरायणा मञ्जरी जानने लगे थे, यहाँ भी उसी प्रकार उद्घूर्णावश राधाभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी अपने को भक्त जान रहे हैं। श्रीकृष्ण-विरह में श्रीकृष्ण-कथा एवं श्रीकृष्ण-सेवा का चिन्तन करते-करते व्याकुल होकर, अपने को कृष्ण सेवा सौभाग्य से वञ्चित जान रहे हैं, (जो एक गाढ़ अनुराग का लक्षण है।) श्रीकृष्ण की प्राप्ति कैसे हो? श्रीकृष्ण की सेवा कैसे प्राप्त हो?—इस विषय में ही प्रभु की चित्तवृत्ति के निविष्ट होने से उन में भक्त-भाव की स्फूर्त्ति हो रही है।

उद्घूर्णा जनित भक्त-भाव में जब प्रभु कृष्ण-सेवा की प्राप्ति का अनुसन्धान करने लगे तब उनके चित्त में नाम सङ्कीर्त्तन की कथा, नाम सङ्कीर्त्तन के माहात्म्य की कथा स्फुरित हो उठी। आनन्द-स्वरूप नाम सङ्कीर्त्तन के माहात्म्यादि के स्फुरण से प्रभु में हर्षभाव का उदय होना स्वाभाविक है। इस-लिए प्रभु हर्ष भावाविष्ट होकर श्रीस्वरूप-राम राय से श्रीनाम सङ्कीर्त्तन की महिमा कहने लगे।

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा है—**"कलि में नाम-संकीर्त्तन ही परम उपाय—सर्व श्रेष्ठ उपाय है।"** किस बात का परम उपाय है? सांसारिक दुख निवृत्ति का? मुक्ति प्राप्ति का? या किसी परम लोभनीय वस्तु की प्राप्ति का?—वास्तव में प्रभु ने सर्व दुखों का मूल जो भगवद् बहिर्मुखता है, माया बन्धन है उस से छुटकारा पाने का ही श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन को परम उपाय बताया है। कलि में—कहने का तात्पर्य यह है कि कलियुग में होने वाले समस्त जीवों के लिए श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन परम उपाय है।

सर्व दुख निवृत्ति का परम उपाय कहते हुए परमानन्द-प्राप्ति का भी परम उपाय प्रभु ने श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन को कहा है। परम रस स्वरूप-आनन्द स्वरूप परतत्त्व वस्तु की प्राप्ति से वास्तव में जीवों को परमानन्द की, शाश्वत आनन्द की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। चाहे जीव अज्ञानवशतः मायिक पदार्थों में अपनी चिर-अभीष्ट वस्तु सुख की प्राप्ति के लिए भाग-दौड़ कर रहा है, किन्तु जबतक उस रस स्वरूप पर-वस्तु की इसे प्राप्ति नहीं होती, तब तक न तो इसकी आत्यन्तिकी दुःख निवृत्ति होती है

ग्रौर न ही इसे परम सुख की प्राप्ति हो सकती है। श्रुति कहती है—"**रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।**" ग्रर्थात् वह पर-तत्व वस्तु परमब्रह्म श्रीकृष्ण जो रस स्वरूप हैं। उनको प्राप्त करके ही जीव ग्रानन्दी हो सकता है—ग्रानन्द प्राप्त कर सकता है इस रूप में ग्रानन्दी होने का परम उपाय, शाश्वत् ग्रानन्द प्राप्त करने का उपाय ग्रर्थात् रस स्वरूप परवस्तु श्रीकृष्ण प्राप्ति का परम उपाय कहा है। ग्रथवा श्रीकृष्ण-सेवा-प्राप्ति, जो वास्तव में श्रीकृष्ण प्राप्ति कही गई है, उसका ही परम उपाय श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीनाम सङ्कीर्त्तन को बताया है।

पहले पुराणों में नाम-महिमा को दिखाते हैं—नाम सङ्कीर्त्तन की समस्त साधनों पर सर्वतो भावेन व्याप्ति है—जो लोग धर्म, ग्रर्थ, काम को चाहते हैं, वे कर्म मार्ग का ग्रनुसरण करते हैं। उनका माया-बन्धन निवृत्त नहीं होता है, उनकी ग्रात्यन्तिकी दुख निवृत्ति नहीं होती है; वे ऐसा चाहते भी नहीं हैं। वे चाहते हैं केवल—**इन्द्रिय सुख-भोग**। जो मोक्ष कामी हैं, उन की ग्रात्यन्तिकी दुख निवृत्ति हो जाती है ग्रौर वे चिदानन्द का उपभोग भी कर पाते हैं। उनके साधन ग्रनेक प्रकार के हैं। जो परमात्मा के साथ मिलना चाहते हैं, उनका साधन है—**योगमार्ग**। जो निर्विशेष ब्रह्म के साथ सायुज्य चाहते हैं, उनके साधन मार्ग का नाम है—**ज्ञानमार्ग**। जो सालोक्यादि चतुर्विधा मुक्ति चाहते हैं, वैकुण्ठ में तदीयता भाव से भगवत्-पार्षदत्व को जो चाहते हैं, उनके भक्ति मार्ग का नाम है—**ऐश्वर्य ज्ञानयुक्ता-भक्ति**। जो ऐश्वर्य ज्ञान हीन शुद्ध माधुर्य मय मदीयता भाव से स्वयं भगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की प्रेम सेवा चाहते हैं, उनके साधन मार्ग का नाम है—**शुद्धा भक्ति मार्ग**।

इन समस्त साधन-मार्गों पर श्रीनाम सङ्कीर्त्तन की व्याप्ति है। वह व्याप्ति फिर दो प्रकार की है—**(१) ग्रानुषङ्गिक-भाव से साहचर्य्यदान रूप व्याप्ति एवं (२) स्वतन्त्ररूप से व्याप्ति।**

(१) कर्म, योग व ज्ञान पर साहचर्य्यदान रूप व्याप्ति है, अर्थात् नाम-सङ्कीर्त्तन की सहायता से ही ये सब साधन अपना फल प्रदान कर सकते हैं। क्योंकि भक्ति के साहचर्य्य के बिना कर्म, योग एवं ज्ञान मार्गों के साधन ग्रपना-ग्रपना फल प्रदान करने में ग्रसमर्थ हैं। (भूमिका, ग्रभिधेयतत्व, पृष्ठ १४४ द्रष्टव्य) इसलिए कर्म, योग एवं ज्ञान मार्गों में साधन की सहायकारिणी रूप में भक्ति की व्याप्ति है ग्रौर भक्ति ग्रङ्गों में नाम सङ्कीर्त्तन ही सर्व श्रेष्ठ है। इसलिए कर्म, योग एवं ज्ञानादि साधन मार्गों पर श्रीनाम **सङ्कीर्त्तन की साहचर्य्यदान रूप व्याप्ति है।**

(२) स्वतन्त्ररूप से व्याप्ति—कर्म, योग एवं ज्ञानादि मार्गों में शास्त्र ने जिन समस्त साधनों की व्यवस्था की है, उन सब साधनों का ग्रनुष्ठान न करके ग्रपने ग्रभीष्ट की पूर्त्ति के लिए, यदि केवल मात्र श्रीनाम सङ्कीर्त्तन करें, तो भी विभिन्न मार्गों के साधक ग्रपने-ग्रपने ग्रभीष्ट फल की प्राप्ति कर सकते हैं। श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन स्वतन्त्र भाव से भी वह समस्त फल देने में समर्थ है। श्रीमद्भागवत जी (२-१-११) में कहा गया है—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतो भयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम्॥ ञ॥

हे राजन्! फलाकांक्षी सकाम व्यक्तियों की ग्रभीष्ट-प्राप्ति के विषय में, निर्वेद भावापन्न मुमुक्षु-पुरुषों के मोक्ष प्राप्ति के विषय में, योगियों के परमात्मा के साथ मिलन-प्राप्ति विषय में ग्रर्थात् कर्मी, योगी-ज्ञानी साधकों की स्व-स्व-ग्रभीष्ट फल प्राप्ति विषय में श्रीनाम सङ्कीर्त्तन ही एक मात्र विघ्नादिकों की ग्राशङ्का से रहित निरापद मार्ग या साधन है॥ ञ॥

श्रीगरुड़ पुराण-वचन श्रीहरिभक्ति विलास (११-२०८) में उद्धृत किया गया है—

> किं करिष्यति सांख्येन किं योगैर्नरनायक।
> मुक्तिमिच्छसि राजेन्द्र कुरु गोविन्द कीर्त्तनम् ।।क—ख।।

हे राजेन्द्र ! सांख्ययोग से व अष्टाङ्गयोग से तुम्हें क्या लाभ ? यदि तुम मुक्ति की इच्छा रखते हो तो तुम श्रीगोविन्द का नाम-सङ्कीर्त्तन करो ।।क-ख।।

श्रीलिङ्ग पुराण-वचन श्रीहरिभक्ति विलास (११-२१९) में इस प्रकार हैं—

> व्रजंस्तिष्ठन् स्वपन्नश्नन् श्वसन् वाक्यप्रपूरणे।
> नाम-सङ्कीर्त्तनं विष्णोर्हेलया कलि मर्द्दनम्।
> कृत्वा स्वरूपतां याति भक्तियुक्तः परं व्रजेत् ।।क-ग।।

श्रीशिव जी ने श्रीनारद जी के प्रति कहा है—"हे नारद ! चलते में, बैठते में, खड़े रहने में, सोते में, भोजन करते में, श्वास लेते में, वाक्य पूर्ति के लिए, अवज्ञा पूर्वक भी यदि कोई कलि को नष्ट करने वाले श्रीहरिनाम का उच्चारण या सङ्कीर्त्तन करता है, तो वह हरि की स्वरूपता अर्थात् ब्रह्मत्व या मुक्ति को प्राप्त कर लेता है और यदि कोई भक्ति पूर्वक श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन करता है तो वैकुण्ठ लोक में परमेश्वर की प्राप्ति कर सकता है ।।क-ग।।

इस प्रकार अनेक शास्त्र-प्रमाण हैं (जिनको ग्रन्थ-विस्तार भय से यहाँ उद्धृत नहीं किया जा रहा है,) उन से यह सिद्ध होता है कि सकाम साधकों के इस लोक व परलोक के सुख भोगादि से आरम्भ करके पाँचों प्रकार की मुक्ति पर्य्यन्त, केवल मात्र श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन द्वारा ही प्राप्त किए जा सकते हैं।

किन्तु यह स्मरण रहे—इन सब की प्राप्ति श्रीनाम सङ्कीर्त्तन का मुख्य-फल नहीं है। श्री-नाम सङ्कीर्त्तन का मुख्य फल श्रीकृष्ण प्रेम ही है। वह शुद्ध-प्रेम, श्रीकृष्ण जिसके वशीभूत रहते हैं। उसी शुद्ध प्रेम की प्राप्ति के लिए ही जो साधक श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन करते हैं, केवल उनको ही श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन अपना मुख्य फल—श्रीकृष्ण-प्रेम प्रदान करता है।

श्रीहरि भक्ति विलास (११-२३१) में कहा है—

> गीत्वा च मम नामानि नर्त्तयेन्ममसन्निधौ।
> इदं ब्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तेन चार्जुन।।
> गीत्वा च मम नामानि रुदन्ति मम सन्निधौ।
> तेषामहं परिक्रीतोनान्यक्रीतो जनार्दनः ।।क-घ।।

श्रीभगवान् ने कहा है—"हे अर्जुन ! जो मेरा नाम-सङ्कीर्त्तन करते-करते मेरे आगे नृत्य करते हैं, तुम से सत्य कहता हूँ, मैं उनके हाथों बिक जाता हूँ। जो मेरा नाम-सङ्कीर्त्तन करते-करते मेरे आगे रोदन करते हैं, हे जनार्दन ! सर्वतोभाव से उनके वशीभूत हो जाता हूँ और किसी के वशीभूत नहीं होता हूँ।।क-घ।।

यहाँ तक श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन का माहात्म्य पुराणों के आधार पर आलोचित हुआ है।

अब श्रुति-उपनिषद्, वेदों में श्रीनाम की महिमा का दिग्दर्शन करिये:—

श्रुति कहती है—"**ओम् इति ब्रह्म**" (तैत्तिरीय १-८)। अर्थात् प्रणव ही ब्रह्म है। सर्वोपनिषत्सार श्रीमद्भगवद्गीता जी (९-१७) भी कहती है, श्रीकृष्ण हीं प्रणव हैं, श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। प्रणवस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण अनादि काल से अनन्त स्वरूप रूपों में आत्म प्रकट करते हैं अनन्त गुण-लीलानुसार परब्रह्म श्रीकृष्ण के अनन्त नाम हैं एवं उनके अनन्त स्वरूपों के भी अनन्त नाम हैं। प्रणव उन का जैसे स्वरूप है, वैसे प्रणव उनका एक नाम भी है—वाचक भी है। ऐसा पातञ्जल (समाधिपाद २७) कहता है—"**ईश्वर प्रभिधानाद् वा। तस्य वाचकः प्रणवः।**" प्रणव-स्वरूप श्रीकृष्ण के विभिन्न प्रकाश जैसे विभिन्न भगवत् स्वरूप हैं, उसी प्रकार प्रणव-वाचक के भी विभिन्न प्रकाश, उनके विभिन्न नाम हैं। अनन्त भगवत् स्वरूप जैसे एक श्रीकृष्ण में अवस्थित हैं, उसी प्रकार उनके एवं उनके अनन्त स्वरूपों के नाम भी उनके वाचक प्रणव में अवस्थित हैं। इसलिए वेदोपनिषदों में उनके वाचक प्रणव के उल्लेख में उनके अनन्त नामों का उल्लेख प्रमाणित होता है।

कठोपनिषत् कहता है—"**एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्**" ॥१-२-१६॥ इस प्रणव के अक्षर को जान लेने पर ही अर्थात् इस नाम की महिमा को जान लेने पर ही व्यक्ति जो इच्छा करता है, उसको वही प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि इस लोक के सुख, परलोक के स्वर्गादि सुख एवं सायुज्यादि पञ्चविधा मुक्ति—इन में जो कुछ भी प्राप्त करने की इच्छा हो, वह प्रणव की—अर्थात् नाम की महिमा जान लेने से प्राप्त किया जा सकता है। उक्त उपनिषद् के परवर्त्ती वाक्य में कहा गया है—"**एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते** (१-२-१७)॥ यह प्रणव—नाम ही श्रेष्ठ व परम अवलम्बनीय वस्तु है। इस नाम-रूप परम अवलम्बनीय वस्तु का ज्ञान होने पर जीव ब्रह्मलोक में महीयान् हो सकता है। ब्रह्मलोक से यहाँ परब्रह्म श्रीकृष्ण के लोक—ब्रजधाम का ही तात्पर्य है। ऋग्वेद में कहा गया है—"**यत्र गावो भूरिश्रृङ्गाः**"। इस वाक्य से ब्रह्मलोक का नाम ब्रजधाम ही प्रमाणित होता है। इसलिए उपनिषद् वाक्य को तात्पर्य यह है कि परम अवलम्बनीय प्रणव या भगवन्नाम की महिमा जान लेने से जीव ब्रज-धाम को प्राप्त कर लेता है। ब्रज-धाम में श्रीकृष्ण-सेवा को प्राप्त करके महीयान्—महा-सौभाग्यवान् या कृतार्थ हो सकता है।

वेदों में नाम की महिमा का उल्लेख देखिये:—ऋग्वेद (१--१५६--३) में कहा गया है—"**ॐ आहस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन् महस्ते विष्णो सुमतिं भजामेह ॐ तत् सदित्यादि।**" अर्थात् **हे विष्णो! ते** (तव) **नामचित्** (चित्स्वरूपम्) **अतएव महः** (स्वप्रकाशरूपम्) **तस्मादस्य** (नाम्नः) **आ** (ईषदपि) **जानन्तुः** (न तु सम्यक् उच्चारण-माहात्म्यादि पुरस्कारेण, तथापि) **विवक्तन्** (ब्रूवाणाः, केवलं तदक्षराभ्यां समात्रं कुर्वाणाः) **सुमितं** (तद्विषयां विद्याम्) **भजामहे** (प्राप्नुमः) **यतः ॐ तत्** (प्रणवव्यञ्जितं वस्तु) **सत्** (स्वतः सिद्धम्) **इति। श्रीजीव**॥ अभिप्राय यह है कि—हे विष्णो! आप का नाम चित् स्वरूप है अतएव स्वप्रकाश है। इसलिए इस नाम के उच्चारण व माहात्म्यादि को सम्यक् न जान कर भी, सामान्य रूप से कुछ जान कर यदि हम केवल इस अक्षर मात्र का उच्चारण करें, इसके फल से हम आप की विद्या (भक्ति) लाभ करपाएँगे। कारण कि यह प्रणवव्यञ्जित वस्तु है, अतः स्वतः सिद्ध है।

उक्त आलोचना से प्रमाणित होता है कि **सब प्रकार के साधन-मार्गों के ऊपर ही श्रीनाम सङ्कीर्त्तन को 'परम-उपाय' कहा है।**

विभिन्न साधनों से जो-जो विभिन्न प्रकार के फलों की प्राप्ति होती है, उन में से किसी फल की भी इच्छा रख कर यदि श्रीनामसङ्कीर्त्तन का अनुष्ठान किया जाए तो वह फल प्राप्त हो जाता है।

इसलिए समस्त साधनों के फलों के ऊपर भी श्रीनाम सङ्कीर्त्तन की व्याप्ति है, अतः उसे 'परम-उपाय' कहा गया है।

विभिन्न प्रकार के समस्त साधनों से जो विभिन्न फल प्राप्त किए जाते हैं, उन सब में भगवद्-विषयक प्रेम ही सर्व श्रेष्ठ फल है। इसलिए वह प्रेम श्रीनाम सङ्कीर्त्तन का ही परमतम फल है। श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन से इस परम फल प्रेम की प्राप्ति होती है, इसलिये प्रभु ने श्रीनामसङ्कीर्त्तन को 'परम-उपाय' कहा है।

२–श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन में शक्ति का वैशिष्ट्य होने से उसे 'परम-उपाय' कहा गया है—कर्म-योग ज्ञानादि जितने साधन मार्ग हैं, वे स्वतन्त्र रूप से अपना फल प्रदान नहीं कर सकते हैं, भक्ति की सहायता लेकर ही वे अपना-अपना फल प्रदान करते हैं। इस से यह सिद्ध होता है कि उन समस्त साधनों से भक्ति की प्रधानता है।

यह बात ऊपर हम कह आए हैं कि कर्म-योग–ज्ञानादि के जितने साधन हैं, उनका अनुष्ठान न करके भी यदि कोई साधक भक्ति के अङ्गानुष्ठान से कर्म का फल चाहे, योग का फल या ज्ञानादि साधनों के फल की कामना करे तो भक्ति का अनुष्ठान उसे उन–उन साधनों का फल प्रदान कर देता है। इस से कर्म-योग एवं ज्ञानादि की अपेक्षा भक्ति–साधन की शक्ति की प्रधानता सूचित होती है। श्रीमद्-भागवत जी (११—४४—२०) में कहा गया है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥क-ङ॥

श्रीभगवान् श्रीउद्धव के प्रति कह रहे हैं—"हे उद्धव! योग, सांख्य, वर्णाश्रमादिधर्म, वेदाध्ययन, तपस्या एवं वैराग्य—ये सब साधन मुझे उस प्रकार वशीभूत नहीं कर सकते, जैसे मुझ में की हुई शुद्धा-भक्ति मुझे अपने वश में कर लेती है" ॥क-ङ॥

इस प्रमाण से तो स्पष्ट भाव से जाना जा सकता है कि अनेक प्रकार के साधन मार्गों की अपेक्षा भक्ति में श्रीभगवान् को वशीभूत करने की सर्वाधिक शक्ति है। "भक्तिवशः पुरुषः।" "भक्तिरेव भूयसि।" "भक्तिरेव एनं नयति।" "भक्तिरेव एनं दर्शयति" ॥—इत्यादि अनेक श्रुति वाक्यों द्वारा भक्ति की विशेषता प्रमाणित होती है। फिर समस्त भक्ति–अङ्गों में भी नवविधा-भक्ति की श्रेष्ठता है।

"भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा - भक्ति।"
कृष्ण कृष्णप्रेम दिते धरे महाशक्ति ॥
तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम सङ्कीर्त्तन।
निरपराध नाम हैते हय प्रेम धन ॥
(चं० च० ३-४-६५-६६)—

अर्थात् भजन-मार्ग में—भक्ति अङ्गानुष्ठानों में नवविधा-भक्ति श्रेष्ठ है, जो श्रीकृष्ण को एवं कृष्ण प्रेम के प्रदान करने की महान् शक्ति रखती है। उस नवविधा भक्ति में भी श्रीनाम सङ्कीर्त्तन सर्व श्रेष्ठ है। अपराध रहित होकर नामसङ्कीर्त्तन करने से कृष्ण प्रेम–धन की प्राप्ति होती है। यहाँ तक कि नवविधा–भक्ति की पूर्णता श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन से ही होती है। यथा (चै० च० २-१५-१०८)—

"नवविधा - भक्ति पूर्ण नाम हैते हय।"

श्रीवृहद्भागवतामृत में द्वितीय खण्ड के तृतीय अध्याय में १४४ से १७३ के श्लोकों में श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन का सर्वं श्रेष्ठत्व वर्णन किया गया है। वहाँ श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन की सर्वं श्रेष्ठता के चार कारण बताये गए हैं। —

(१) श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन के प्रभाव से शीघ्र ही प्रेम का उदय होता है और उसके फल-स्वरूप सुख पूर्वक गोलोक में श्रीकृष्ण के दर्शनों की प्राप्ति होती है।

(२) प्रेम के अन्तरङ्ग साधनों में स्मरण मनन ही श्रेष्ठ साधन है, किन्तु जीव के चञ्चल चित्त में स्मरण-मनन सम्यक् रूप से सिद्ध नहीं हो पाता। स्मरण-मनन के लिए चित्त को संयत करने की आवश्यकता है। नाम-सङ्कीर्त्तन से चित्त निश्चित रूप से संयत हो जाता है, कारण कि वाक्-इन्द्रिय ही समस्त बाहरी इन्द्रियों की एवं चित्तादि अन्तरिन्द्रियों की चालक है। इसलिए वाक्-इन्द्रिय जो चित्तवृति को चञ्चल करने में प्रधान है, वह भी श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन से संयत हो जाती है। इस प्रकार श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन भक्ति के अन्तरङ्ग साधन स्मरण-मनन के परम अनुकूल है।

(३) श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन निर्जनत्व एवं एकाकित्व की अपेक्षा नहीं रखता। अन्यान्य साधनाङ्गों में निर्जन स्थान चाहिए एवं साधक को अकेले रह कर ही साधनानुष्ठान करना पड़ता है, किन्तु श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन में यह दोनों बातें नहीं हैं। इस में निर्जन स्थान की आवश्यकता नहीं रहती एवं अनेक व्यक्तियों में रह कर भी इस का अनुष्ठान किया जा सकता है।

(४) नामामृत एक इन्द्रिय पर प्रादुर्भूत होकर अपने मधुर रस से समस्त इन्द्रियों को सम्यक् रूप से प्लावित कर देता है।

इस समस्त आलोचना से प्रमाणित होता है कि श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन में शक्ति का वैशिष्ट्य है। **इसलिए उसे 'परम - उपाय' कहा गया है।**

५—श्रीनाम - सङ्कीर्त्तन दीक्षा - पुरश्चर्यादि की अपेक्षा नहीं रखता:—अन्यान्य मन्त्र बिना दीक्षा लिए अपना फल प्रदान नहीं कर सकते। उन का पुरश्चरणादि करना आवश्यक होता है, तब वे साधक की अभीष्ट सिद्धि करते हैं, किन्तु एक बार श्रीकृष्ण नाम उच्चारण करने से समस्त पाप दूर हो जाते हैं। नाम जिह्वा से स्पर्श होते ही अपना फल प्रदान करता है। जैसा कि कहा गया है—

हरि हरतीति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छनपि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥क—च॥

जान कर अजान कर बिना इच्छा के भी अग्नि को स्पर्श करने से जिस प्रकार अग्नि जला देती है। उस प्रकार श्रीहरिनाम-सङ्कीर्त्तन दुष्ट चित्त से भी अर्थात् विना दीक्षा पुरश्चरणादि के भी यदि किया जाए, तो वह समस्त पापों को नाश कर देता है ॥क-च॥

श्रीनामसङ्कीर्त्तन दीक्षा-पुरश्चरणादि की अपेक्षा नहीं रखता इसलिए इसे 'परम - उपाय' कहा गया है।

६—श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन देश-काल पात्र-दशादि की अपेक्षा नहीं रखता:—श्रीहरिभक्ति विलास (११-२०१) में कहा गया है—

अनन्यगतयोमर्त्त्या भोगिनोऽपि परन्तपाः।
ज्ञानवैराग्यरहिता ब्रह्मचर्य्यादि वर्ज्जिताः ॥

सर्वधर्मोज्झिता विष्णो र्नाममात्रैकजल्पकाः ।
सुखेन यां गतिं यान्ति न तां सर्वेऽपि धार्मिकाः ॥क-छ॥

जो-अनन्यगति, नियत विषय भोगी हैं, परपीड़क, ज्ञान-वैराग्य रहित हैं, ब्रह्मचर्य्य शून्य एवं सर्व-धर्म त्यागी हैं, वे भी यदि केवल श्रीकृष्ण नाम का सङ्कीर्त्तन करें, तो वे अनायास ही ऐसी गति को प्राप्त कर लेते हैं, जो अन्यान्य धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को भी दुर्लभ होती है ॥क-छ॥

अभिप्राय यह है कि कैसा भी व्यक्ति, कैसे भी स्थान पर, किसी भी समय, किसी भी अवस्था में श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन करके परम गति को प्राप्त कर कृतार्थ हो सकता है। स्त्री-शूद्र-चण्डाल आदि सब पाप-योनि व्यक्ति श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन से कृतार्थ हो जाते हैं। श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन में स्थान की पवित्रता व अपवित्रता का कोई विचार नहीं है। खाते-पीते, यहाँ तक कि अशौच्यावस्था में भी श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन करने में कुछ बाधा नहीं है। श्रीभगवन्नाम परम पवित्र है, पतित पावन है, वह समस्त अपवित्रताओं को दूर करने वाला है। श्रीहरिभक्ति-विलास (११-२०५) में कहा है—

न देशकाल नियमो न शौचाशौच निर्णयः ।
परं सङ्कीर्त्तनादेव राम-रामेति मुच्यते ॥क-ज॥

अर्थात् श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन में देश-काल का कुछ नियम नहीं है। शौच-अशौच्यादि अवस्थाओं का कोई विचार नहीं है, श्रीराम-नाम का परम सङ्कीर्त्तन समस्त अवस्थाओं में ही विधेय है। श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन में देश-काल-पात्र अवस्था का कोई विचार नहीं है, इसलिए इसे परम स्वतन्त्र एवं 'परम-उपाय' कहा गया है।

५—नाम की असाधारण कृपा—नम्-धातु से नाम-शब्द निष्पन्न होता है। नम्-धातु का अर्थ है झुकाना। 'नमयति इति नाम।' जो झुकाने वाला है, उसे 'नाम' कहते हैं। नाम लेने वाले भक्त को एवं नामी-भगवान् को—इन दोनों को झुका देता है। नाम—नामग्रहणकारी को देहाभिमान-रूप पर्वत से झुका कर तृणादपि सुनीच बुद्धि का ज्ञान करा देता है और वही अपनी अपूर्व शक्ति से नामी श्री भगवान् को नाम ग्रहण कारी की ओर झुका देता है, भगवान् के चित्त में कृपा उद्बुद्ध कराकर नामग्रहणकारी के अभीष्ट की पूर्त्ति करा देता है। यह एक नाम की असाधारण कृपा है।

नाम की और एक असाधारण कृपा यह है कि अप्राकृत होकर भी, परम स्वतन्त्र होकर भी, जब भी भक्त उसके ग्रहण करने की इच्छा मात्र करता है, नाम तत्क्षणात् उसकी प्राकृत-इन्द्रिय पर आविर्भूत हो जाता है। श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु (१-२-१०९) में कहा गया है कि—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः ।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥क-झ॥

अर्थात्—"भगवन्नाम (भगवान् से अभिन्न होने से) अप्राकृत है, जीव की प्राकृत-इन्द्रियों से ग्रहणीय नहीं है, किन्तु जो जीव नाम-सङ्कीर्त्तन आदि की इच्छा करता है, नाम कृपा कर उसकी जिह्वादि इन्द्रियों पर स्वयं ही आविर्भूत होकर नृत्य करने लगता है।" किन्तु नामी-श्रीभगवान् के दर्शन करने की कोई इच्छा करे, तो भगवान् उसे तत्क्षणात् दर्शन नहीं देते—इस प्रकार नामी से नाम की कृपा की असाधारणता व अपूर्व विशेषता प्रकाशित होती है।

नाम स्वयं प्रकाश है। यह आवश्यक नहीं कि कोई जब उस के ग्रहण करने की इच्छा करेगा, तब ही वह जिह्वा पर आविर्भूत होगा ऐसा भी देखा जाता है, जीव की इच्छा न होने पर भी, स्वप्न में,

जम्हाई लेते में, घबड़ाहट में, गिरते-पड़ते में अपने आप मुख से नाम उच्चारित हो जाता है। नाम की यह असाधारण कृपा है, जो अन्य किसी साधन-अङ्ग में नहीं दीखती।

नाम की और एक असाधारण कृपा यह है कि जगत् के मङ्गल के निमित्त जब श्रीभगवान् अवतीर्ण होते हैं, उनका नाम भी उनके साथ साथ अवतीर्ण होता है। किन्तु यथा समय श्री भगवान् अन्तर्धान हो जाते हैं, किन्तु नाम अन्तर्धान नहीं होता। जीवों का उद्धार करने के लिए एवं जिस उद्देश्य को लेकर श्रीभगवान् अवतीर्ण होते हैं, उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नाम सदा के लिए जगत् में वर्त्तमान रहता है, श्रीभगवान् प्रकट काल में गिनती के कुछ एक दुष्टों का उद्धार करते हैं। किन्तु उनका नाम अनेकानेक अनन्तानन्त असंख्य जीवों के दुष्ट चित्त का उद्धार करता रहता है। यह **नाम की असाधारण कृपा है, अतः इसे परम उपाय कहा गया है।**

६—नामापराध खण्डन में भी नाम की असाधारण कृपा है—नामापराध के रहते हुए नाम ग्रहण कारी को न तो प्रेम की प्राप्ति हो सकती है और न मुक्ति की। किन्तु नाम में ऐसी असाधारण कृपा-शक्ति है कि वह नामापराध को खण्डन कर देता है। श्रीहरिभक्तिबिलास (११-२८७-२८८) में कहा गया है—

जाते नामापराधेऽपि प्रमादेन कथञ्चन।
सदा सङ्कीर्त्तयन्नाम तदेकशरणो भवेत ॥
नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।
अविश्रान्त प्रयुक्तानि तान्येवार्थ हराणि च ॥क-ञ॥

प्रमादवश कोई नामापराध हो जाने पर भी सदा एकान्तिक भाव से नाम संकीर्त्तन करते हुए नाम का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिए। नामापराध युक्त व्यक्तियों के नामापराधों को नाम ही नाश करता है, निरन्तर नाम ग्रहण करने से, अखण्ड नाम सङ्कीर्त्तन से नाम का ऐसा फल प्राप्त होता है।

अभिप्राय यह है कि नामापराध जो नाम के मुख्य फल प्रेम की प्राप्ति में बाधक है, उस नामापराध को नाम ही ध्वंस कर देता है—**यह नाम की असाधारण कृपा है, उसे परम उपाय कहा गया है।**

यह स्मरण रहे कि शास्त्रों में विहित आचरणों के न करने से किम्वा शास्त्र निषिध कर्मों या आचरणों के करने से जो अनेक प्रकार के पाप होते हैं, श्रद्धा-अश्रद्धा किसी प्रकार से भी नाम उच्चारण करने से वे समस्त पाप तो क्षय हो जाते हैं, किन्तु श्रीभगवान् या श्रीभगवन्नाम के प्रति जो अपराध होते हैं, उनका खण्डन या क्षय जिस किसी प्रकार से नामोच्चारण से सहज में नहीं होता है, उसके लिए श्रद्धा-भक्ति के साथ नामसङ्कीर्त्तन करने की पूर्ण आवश्यकता है।

७—नाम व नामी अभिन्न हैं—तैत्तिरीय श्रुति (१—८) कहती है '**ॐ इति ब्रह्म**" अर्थात् प्रणव ब्रह्म है। प्रणव ब्रह्म का वाचक है। यह बात हम कह आए हैं। प्रणव वाचक अर्थात् नाम है ब्रह्म का। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म का वाचक प्रणव या नाम भी ब्रह्म है। दोनों अभिन्न हैं। श्रुति के इस वाक्य को पुराणों में और भी विषदभाव से वर्णन किया गया है—(भक्तिरसामृत सिन्धु १—२—१०८)

नामचिन्तामणिः कृष्णचैतन्यरस विग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः ॥क-ट॥

नाम चिन्तामणि स्वरूप है, श्रीकृष्ण की भाँति उनका नाम भी चैतन्यरस विग्रह है अर्थात् चिन्मय स्वरूप है। परिपूर्ण, शुद्ध एवं नित्यमुक्तस्वरूप है, कारण कि नाम नामी से अभिन्न है। (२-१७-५ श्लोक टीका द्रष्टव्य)

श्री जीवगोस्वामी पाद ने इस श्लोक की टीका में लिखा है—**"एकमेव सच्चिदानन्दरसादि-रूपं तत्त्वं द्विधाविर्भूतम्।"** अर्थात् एक ही सच्चिदानन्दरसादि तत्व नाम एवं नामी, इन दो रूपों में आविर्भूत होरहा है। अतः नाम एवं नामी अभिन्न होने से दोनों ही सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, दोनों ही सर्वाभीष्ट दायक अपूर्व चिन्तामणि तुल्य हैं। दोनों ही कृष्ण—सर्वचित्ताकर्षक हैं, दोनों ही चिदानन्दरस-विग्रह हैं, दोनों हो स्वरूप में, शक्ति में एवं माधुर्यादि में नित्य पूर्ण हैं, दोनों ही माया के स्पर्श से शून्य—शुद्ध हैं एवं दोनों ही नित्यमुक्त अर्थात् नित्य स्वतन्त्र, विधिनिषेधातीत, एवं मायातीत हैं।

नामी भगवान् का जैसे असाधारण माहात्म्य है, उनसे अभिन्न उनके नाम का भी उसी प्रकार असाधारण माहात्म्य है, किन्तु अन्य किसी साधन के साथ उसके साध्य की अभिन्नता नहीं है। **इसलिए नाम के समान और किसी भी साधन का माहात्म्य नहीं है। अतः इसे 'परम-उपाय' कहा गया है।**

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि श्री भगवान् एवं उनका नाम ये दोनों ही अभिन्न हैं। कोई प्राकृत वस्तु और उसका नाम अभिन्न नहीं होते। प्राकृत वस्तु का नाम उस वस्तु का एक चिह्न हुआ करता है—पहचान के लिये। मिश्री एक मीठी वस्तु का नाम है। मिश्री अवश्य मीठी वस्तु है किन्तु मिश्री मिश्री इस प्रकार उसका नाम लेने से मुंह मीठा नहीं हुआ करता। तार्किक लोक प्रायः यही दृष्टान्त देकर कहा करते हैं कि मिश्री-मिश्री कहने से मुंह थोड़े ही मीठा हो जाता है, इसी प्रकार 'राम-राम, 'कृष्ण कृष्ण' नाम उच्चारण करने से क्या लाभ होगा? उनको इस रहस्य का ज्ञान नहीं होता कि केवलमात्र श्रीभगवान् एवं उनका नाम ही अभिन्न तत्व हैं। प्राकृत वस्तु के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। श्री भगवान् का नाम उनके स्वरूप की भांति परम मधुर है।

८—नामाक्षर अप्राकृत चिन्मय हैं—श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा है—(चै० च० २-१७-१३०)

कृष्णनाम, कृष्णगुण, कृष्णलीलावृन्द।
कृष्णेर स्वरूपसम सब चिदानन्द॥

"श्रीकृष्णनाम, श्रीकृष्ण के गुण एवं श्रीकृष्ण की लीलाएं—ये तीनों श्रीकृष्ण के स्वरूप की भांति चिदानन्द स्वरूप ही हैं।" नाम चिन्मय होने से नाम के अक्षर समूह भी अप्राकृत व चिन्मय ही हैं। प्राकृत भक्ष्य-पेय आदि पदार्थ श्रीभगवान् को अर्पित होजाने पर जैसे प्रसाद नाम को धारणकर चिन्मय होजाते हैं एवं प्राकृत दारू-पाषाणादि निर्मित भगवत् मूर्ति में भगवान् के अधिष्ठित होने पर वह मूर्त्ति या विग्रह जैसे चिन्मयत्व को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार भगवन्नाम-प्राकृत अक्षरों द्वारा लिखित होने पर भी व अक्षर चिन्मयत्व को प्राप्त कर लेते हैं। कारण कि उन्हीं अक्षरों से सच्चिदानन्द-रस स्वरूप नाम का आविर्भाव होता है। इसलिए श्रुति भी नामाक्षर को ब्रह्म-सच्चिदानन्द कहती है—**"एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म।**

९—प्राकृत इंद्रियों से ग्रहण किया हुआ नाम भी चिन्मय है—प्राकृत जिह्वा द्वारा जो नाम उच्चारित होता है, वह भी अप्राकृत या चिन्मय होता है। नामी की भाँति नाम पूर्ण, शुद्ध एवं नित्य मुक्त है, अतः जिह्वा का प्राकृतत्व उसे आवृत नहीं कर सकता है। वस्तुतः जिह्वा की शक्ति से भगवन्नाम उच्चारित नहीं हो सकता। जीव की प्राकृत इन्द्रियों से अप्राकृत श्रीकृष्णनामादि ग्रहणीय नहीं हैं। जो व्यक्ति नाम कीर्त्तनादि की इच्छा करता है, नामादि कृपा करके स्वयं ही उसकी जिह्वा पर स्फुरित होते हैं। नाम

स्वतन्त्र एवं स्वप्रकाश होने से स्वयं ही साधक की जिह्वा पर आत्मप्रकाश करता है या आविर्भूत होता है। जिह्वा का कर्तृत्व कुछ भी नहीं है। यह स्वप्रकाश नाम का कर्तृत्व या कृपा है। नाम जिह्वा पर नृत्य करते-करते जिह्वा के प्राकृतत्व को ही नष्ट कर देता है। इसी प्रकार प्राकृत कानों से जो नाम सुना जाता है, प्राकृत मन से जो नाम स्मरण किया जाता है, नेत्रों से जो नामाक्षर देखा जाता है, प्राकृत त्वचा से जो नाम लिखा जाता है या स्पर्श किया जाता है—वह नाम भी अप्राकृत चिन्मय ही है।

१०—नामाभास—नाम सर्वावस्थाओं में, सर्वकाल में अप्राकृत होने से, नामी से सदा अभिन्न होने के कारण नामाभास से भी समस्त पापों का ध्वंस हो सकता है एवं मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। अजामिल ही इस बात का साक्षी है, वस्तुतः नाम व नामाभास स्वरूपतः एक ही वस्तु है। वह जब नामी को प्रकाश करती है तब उसे **'नाम'** करते हैं और जब नामी को छोड़कर अन्य वस्तु को प्रकाश करती है, तब उसे **'नामाभास'** कहते हैं। अन्य वस्तु को प्रकाश करने में भी नाम की शक्ति विनष्ट नहीं होती है। अजामिल ने अपने पुत्र को 'नारायण' कहकर पुकारा था। भगवान् श्री नारायण उसका लक्ष्य न थे, किन्तु इसी नामाभास से उसके समस्त पाप दूर होगए एवं उसे क्रमशः भगवद्धाम की प्राप्ति हो गई। यह नाम की एक असाधारण कृपा है।

११—नाम पूर्णता विधायक है—नामी की भाँति नाम पूर्ण है, इसलिए नाम-सङ्कीर्त्तन की पूर्णता के साधन का कुछ प्रयोजन नहीं है। नाम अन्य समस्त साधनों की पूर्णता विधान करता है। श्रीमद्भागवत जी (८-२३-१६) में कहा गया है—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देहकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नाम सङ्कीर्त्तनं तव ॥क-ठ॥

किसी साधन-आचरण में मन्त्र के स्वर भ्रंश हो जाने से, तन्त्र में विपर्य्यादि के द्वारा एवं देश, काल, पात्र एवं वस्तु में अशुद्धि के द्वारा दक्षिणादि के द्वारा जो छिद्र रह जाते हैं या अङ्ग हानि रह जाती है, वह समस्त नाम-सङ्कीर्त्तन द्वारा ही पूर्णता को प्राप्त करती है। स्कन्द पुराणों में भी कहा गया है कि तपस्या यज्ञ एवं अन्यान्य क्रियाओं को भी श्रीभगवन्नाम का स्मरण एवं सङ्कीर्त्तन ही पूर्णता विधान कराता है। यहाँ तक कि **"नवविधाभक्ति पूर्ण नाम हैते हय।"** (चै० च० २-१५-१०८) नवविधा भक्ति भी नाम सङ्कीर्त्तन से पूर्णता लाभ करती है।

१२—सर्व वेदों से नाम का माहात्म्य अधिक है—श्री हरिभक्तिविलास (११-१८१) में कहा गया है—

ऋग्वेदो हि यजुर्व्वेदः सामवेदोऽप्यथर्व्वणः।
अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षर द्वयम् ॥क-ड॥

जो 'हरि'-इन दो अक्षरों का उच्चारण करते हैं, उसमें उनके द्वारा ऋग्वेद, यज्जुर्वेद, सामवेद, अथर्व्ववेद—इन चारों वेदों का पाठ हो जाता है—या अध्ययन हो जाता है ॥क-ड॥

स्कन्द पुराण में श्री पार्वती जी ने कहा है (श्रीहरिभक्तिविलास ११-१८२)—

मा ऋचो मा यज्जुस्तात मा साम पठ किञ्चन।
गोविन्देति हरेर्नाम गेयं गायस्व नित्यशः ॥क-ढ॥

"हे वत्स ! तू ऋग्, यजु व सामवेद का पाठ मत कर । श्रीहरि का 'गोविन्द' नाम गाने योग्य है, तू नित्य उस गोविन्द-नाम का ही गान कर ।।क-ढ।।

श्री पद्मपुराण कहता है । (श्री हरिभक्तिविलास ११-१८३)

विष्णोरेकैकनामापि सर्ववेदोधिकं मतम् ।।क-ण।।

श्रीकृष्ण का एक एक नाम भी समस्त वेदों से अधिक माहात्म्ययुक्त है ।।क-ण।।

१३—सर्वतीर्थों से नाम का माहात्म्य अधिक है—श्रीस्कन्द पुराण (ह० भ० वि० १८४) में कहा गया है—

कुरुक्षेत्रेण किं तस्य किं काश्या पुष्करेण वा ।
जिह्वाग्रे वसते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम् ।।क-त।।

जिसकी जिह्वा पर 'हरि' ये दो अक्षर वर्त्तमान हैं, उसे फिर कुरुक्षेत्र से क्या प्रयोजन ? काशी एवं पुष्कर तीर्थ में जाने से क्या लाभ ? ।।क-त।। श्री वामन पुराण (ह० भ० वि० ११-१८४)

तीर्थकोटिसहस्राणि तीर्थ कोटि शतानि च ।
तानि सर्वाण्यवाप्नोति विष्णोर्नामानुकीर्त्तनात् ।।क-थ।।

शत कोटि तीर्थ कहो या सहस्र कोटि तीर्थ कहो, श्रीकृष्ण के नामसंकीर्त्तन में ही उन समस्त का फल प्राप्त हो जाता है ।।क-थ।।

श्रीविश्वामित्र संहिता कहती है (ह० भ० वि० १८४)—

विश्रुतानि बहून्येव तीर्थानि बहुधानि च ।
कोट्यंशेनापि तुल्यानि नाम कीर्त्तनतो हरेः ।।क-द।।

अनेक प्रकार के एवं अनेक संख्या में तीर्थ सुने जाते हैं, किन्तु श्रीहरि के नामसङ्कीर्त्तन के कोटि अंश के एक अंश के समान भी वे समस्त तीर्थ नहीं हैं ।। ।।

१४—समस्त सत्कर्मों से नाम का माहात्म्य अधिक है—श्री लघुभागवत (ह० भ० वि० १८६) में कहा गया है —

गोकोटिदानं ग्रहणे खगस्य प्रयाग-गङ्गोदक कल्पवासः ।
यज्ञायुतं मेरुस्वर्णदानं गोविन्दकीर्तेर्न समं शतांशै ।।क-न।।

सूर्य ग्रहण के समय कोटि गोदान, प्रयाग में जाकर गङ्गाजल में कल्पवास, अयुत यज्ञ एवं सुमेरु के समान स्वर्णदान—ये समस्त सत्कर्म श्री गोविन्द-नाम सङ्कीर्त्तन के शतांश के भी तुल्य नहीं हैं । वौधायन-संहिता (ह० भ० वि० १८७) में कहा गया है—

इष्टापूर्त्तानि कर्माणि सुबहुनि कृतान्यपि ।
भवहेतुनि तान्येव हरेर्नाम तु मुक्तिदम् ।।क-प।।

अनेक-अनेक इष्टा-पूर्त्त कर्मों के कर लेने पर भी, वे संसार बन्धन का हेतु ही होते हैं । एकमात्र श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन ही मुक्ति के देने वाला है ।।क-प।।

अग्निहोत्र, तपस्या, सत्यनिष्ठा, वेदों की आज्ञा पालन, आतिथ्य एवं विश्वदेवगणों के उद्देश्य से यज्ञानुष्ठान—इन सब को इष्ट कहते हैं । वापी, कूप, तड़ागादि जलाशयों का खुदवाना-बनाना, देव-मन्दिरों की प्रतिष्ठा, अन्नदान व बागीचे आदि का निर्माण—इन सब को पूर्त्त कहते हैं । (अत्रि संहिता, ४३—४४)

१५—नाम में सर्व शक्ति है—श्री स्कन्दपुराण (ह० भ० वि० १९६) में कहा गया है—

दान-व्रत-तपस्तीर्थ क्षेत्रादीनाञ्च याः स्थिताः ।
शक्तयो देव महतां सर्वपापहराः शुभाः ।
राजसूयाश्व मेधानां ज्ञानस्याध्यात्म वस्तुतः ।
आकृष्य हरिणा सर्वाःस्थापिताः स्वेषु नामसु ।।क-फ।।

दान, व्रत, तपस्या व तीर्थयात्रा में, देवता व साधुओं की सेवा मे, सर्व पाप हरण करने की जो समस्त मङ्गलमयी शक्ति है, राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञ में, तत्वज्ञान में एवं अध्यात्म वस्तु में जो समस्त शक्ति है, उन समस्त शक्तियों को श्रीहरि ने अपने नाम समूह में ही स्थापित कर दिया है ।।क-फ।।

१६—श्रीनाम का भगवत्-प्रीतिदायकत्व—श्रीनाम सङ्कीर्त्तन श्रीभगवान् की प्रीति प्रदाता है, इससे श्रीभगवान् अत्यन्त प्रसन्न होते हैं । श्रीहरिभक्ति विलास (११–२२९ व २३०) में श्रीवाराहपुराण एवं श्रीविष्णुधर्मोत्तर के वचनों का इस प्रकार उल्लेख है—

वासुदेवस्य संकीर्त्या सुरापो व्याधितोऽपि वा ।
मुक्तो जायते नियतं महाविष्णुः प्रसीदति ।।क-ब।।

नामसङ्कीर्त्तन विष्णोः क्षुत्तृट् प्रस्खलितादिषु ।
यः करोति महाभाग तस्य तुष्यति केशवः ।।क-भ।।

सुरा पान करने वाला व व्याधिग्रस्त व्यक्ति भी यदि श्रद्धा से श्रीभगवान का नामकीर्त्तन करे, तो श्री भगवान् उस पर अति प्रसन्न होते हैं एवं वह व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त करता है । क्षुधा-तृष्णादि द्वारा पीड़ित होकर भी या विवश होकर भी यदि श्री नामसङ्कीर्त्तन कोई व्यक्ति करता है, तो उस महाभाग पुरुष पर श्री केशव अति प्रसन्न होते हैं ।।क-भ।।

श्रीनाम में श्रीभगवान् को वशीभूत करने की शक्ति है, अर्थात् श्रीभगवान् को नाम इतना प्रिय है, वे श्रीनामसङ्कीर्त्तन सुन कर इतने प्रसन्न होते हैं कि वे नाम ग्रहणकारी के अधीन हो जाते हैं ।

१७—नाम स्वतः ही परम पुरुषार्थ है—नाम एवं नामी अभिन्न होने से नामी की भांति नाम भी रसस्वरूप है, परम मधुर है । रसस्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति में ही जैसे जीव की परम-पुरुषार्थता है, उस प्रकार नाम की प्राप्ति में भी जीव की परम पुरुषार्थता है । नाम की प्राप्ति का अभिप्राय यह है कि श्रीभगवन्नाम के रसस्वरूप की एवं माधुर्य की अपरोक्ष अनुभूति की प्राप्ति होजाए । ऐसा होने पर ही वस्तुतः श्रीनाम की सम्यक् प्राप्ति कही जा सकती है । नाम केवल साधन या उपाय मात्र ही नहीं है, नाम परम साध्य एवं उपेय वस्तु है । श्रीनाम अत्यन्त मधुर—माधुर्यपूर्ण है । प्रभासखण्ड के वचन श्रीहरिभक्ति विलास (११–२३४) में इस प्रकार हैं —

मधुर मधुर मेतन्मङ्गलं मङ्गलानां सकल-निगमवल्ली सत्फलं चित्स्वरूपम् ।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम ।।क-म।।

श्री कृष्णनाम मधुर से भी मधुर है, समस्त मङ्गलों का मङ्गल विधान करने वाला है, समस्त उपनिषत् रूप कल्प-लताओं का फल है—श्रीकृष्णनाम । नाम सच्चित् स्वरूप है । श्रद्धा से व अन्यभाव से भी यदि एकबार श्रीकृष्णनाम का उच्चारण किया जाए तो, हे भृगुवर ! नरमात्र ही उद्धार को लाभ कर सकता है ।।क-म।।

१८—नाम समस्त प्रायश्चितों में महान् है—द्वादशाब्दव्यादी (पृष्ठ ६३ द्रष्टव्य) प्रायश्चितों से केवल पाप ही नष्ट होते हैं, किन्तु पापों का संस्कार नष्ट नहीं होता। नाम समस्त पापों के मूल को (जड़ को) उखाड़ने वाला है। इसलिए श्रीनामसङ्कीर्त्तन से वर्तमान एवं भूतकाल के पाप तो नष्ट होते ही हैं, भविष्यत् काल के पाप भी नष्ट हो जाते हैं। श्रीहरिभक्ति विलास (११-१५६) में कहा गया है—

वर्त्तमानस्तु यत् पापं यद्भूतं यद् भविष्यति।
तत् सर्वं निर्दहत्याशु गोविन्दानल कीर्त्तनात् ॥क-य॥

वर्त्तमान काल के, भूतकाल के एवं भविष्त् काल के जितने भी पाप हैं, वे समस्त अतिशीघ्र श्रीगोविन्दनाम रूप अग्नि में जल कर राख हो जाते हैं॥ और भी (ह० भ० वि० ११-१४०) कहा गया है—

यन्नामकीर्त्तनं भक्त्या विलापनमनुत्तमम्।
मैत्रेयाशेष पापानां धातुनामिव पावकम् ॥क-र॥

अग्नि जैसे सब प्रकार के धातुओं की मलीनता को सब प्रकार से दूरीभूत कर देता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णनाम भी समस्त पापों को विनष्ट एवं निशेष कर देता है ॥क-र॥

इस श्लोक की टीका में श्रीसनातन पाद ने कहा है—"**द्वादशाब्दादि-प्रायश्चितैः पापमेव विनश्यति तत्संस्कारस्त्ववशिष्यते इदं तु अशेषाणां संस्काराणां पापानां विलापनं नाशकम्। न च अन्येन निःशेषपापक्षयः स्यात्॥** अर्थात् द्वादशव्यापी आदि प्रायश्चितों से पापों का नाश होता है किन्तु उनके पापों के संस्कार बाकी रह जाते हैं, किन्तु नाम सङ्कीर्त्तन पापों के अशेष संस्कारों को भी नाश कर देता है, अन्य किसी उपाय या प्रायश्चित से निःशेपरूप से पापक्षय नहीं होता॥ श्रीब्रह्माण्ड पुराण के वचन (ह० भ० वि० ११-१६४) इस प्रकार है—

पराक-चन्द्रायण-तप्तकृच्छ्रैर्न देहि शुद्धि र्भवतीह तादृक्।
कलौ सकृन्माधव कीर्त्तनेन गोविन्दनाम्ना भवतीह यादृक् ॥क-ल॥

एकबार मात्र गोविन्दनाम कीर्त्तन करने से देही जैसे शुद्धि होती है, पराकव्रत एवं तप्तकृच्छ्र आदि अनुष्ठानों से उस प्रकार की शुद्धि नहीं होती है ॥क-ल॥

१९—नाम परमधर्म है—श्रीमद्भागवत जी (६-३-२२) में कहा गया है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥क-व॥

श्रीभगवान् के लिए भगवन्नाम ग्रहणपूर्वक भक्तियोग का अनुष्ठान ही संसार में जीव का परमधर्म है

भगवन्नाम की महिमा अपार है, वेद-शास्त्र पुराणों में सन्तवाणियों में मुक्तकण्ठ से वर्णन की गई है, जीव तो क्या भगवान् शेष जी सहस्र मुखों से भगवन्नाम की महिमा का निरन्तर गान करके भी, उसका शेष नहीं कर पाते। उल्लिखित कारण समूह के कारण श्रीमन्महाप्रभु जी ने श्रीभगवन्नाम सङ्कीर्त्तन को परम-उपाय कहा है। श्रुति भी नाम को ही परम-उपाय कहकर वर्णन करती है। कठोपनिषत् (१-२-१७) में कहा गया है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥क-श॥

नाम ही सर्वश्रेष्ठ आलम्बन (उपाय) है एवं नाम ही परम उपाय है। इस नाम को जान लेने पर अर्थात् नाम की महिमादि की अपरोक्ष अनुभूति प्राप्त करने पर ही जीव रसस्वरूप परब्रह्म की प्रेम-सेवा प्राप्त करके महीयान् हो सकता है ।।क-श।।

इस श्रुतिवाक्य के भाष्य में श्रीपाद शङ्कराचार्य जी ने लिखा है—**"यत एवं अतएव एतदालम्बनं ब्रह्मप्राप्त्यालम्बनानां श्रेष्ठं प्रशस्ततमम् ।"** अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति के जितने भी साधन हैं, ब्रह्म के वाचक नाम का आश्रय ग्रहण करना ही उन में प्रशस्ततम—सर्वश्रेष्ठ है। इन समस्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि श्रीनामसङ्कीर्त्तन ही **परम-उपाय** है।

२०—**नामसङ्कीर्त्तन**—नामसंकीर्त्तन से क्या अभिप्राय है ?—श्री जीव गोस्वामी जी ने संकीर्त्तन-शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—**"संकीर्त्तन बहुभिर्मिलित्वा तद्गानसुखं श्रीकृष्णगानम् ।"** बहुत पुरुषों के एकत्र मिलकर उच्चस्वर से श्रीकृष्ण के नाम-रूप-गुण-लीलादि के कीर्त्तन को **'संकीर्त्तन'** कहते हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि—**"नामकीर्त्तनञ्चेदमुच्चरैव प्रशस्तम्"**—नाम-कीर्त्तन उच्चस्वर से करना ही प्रशस्त या श्रेष्ठ है। ऐसा भी हो सकता है कि अनेक पुरुष एकत्र न मिल सकें, तो कोई भी साधक अकेले बैठ कर उच्चस्वर से कृष्णनाम कीर्त्तन कर सकता है—उसे भी संकीर्त्तन कहा जायेगा। उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते इत्यादि अनेक अवस्थाओं में जो नामसंकीर्त्तन करने का विधान है, उन अवस्थाओं में बहुत जनों का एकत्र मिलन नहीं हो सकता, इसलिये उच्चस्वर से ही नाम-उच्चारण करने को **नामसंकीर्त्तन** कहा जाता है।

उच्चस्वर से नाम उच्चारण करने से—नामसंकीर्त्तन से अन्य जनों को सेवा का भी सौभाग्य मिलता है। स्थावर-जङ्गमादि उस नामध्वनि को सुनकर धन्य हो सकते हैं। उच्चस्वर से उच्चारित होकर नाम उच्चारण करने वाले के कानों में भी प्रवेश करके उसके चित्त पर प्रभाव विस्तार कर सकता है एवं जिह्वा को संयत कर सकता है। श्रीहरिदास जी ठाकुर सदा प्रतिदिन एकलाख नाम का उच्चस्वर से उच्चारण करते थे। श्रीमन्महाप्रभु जी भी उच्चास्वर से तारक-ब्रह्म नाम की कीर्त्तन करते थे। यह बात श्रीपादरूपगोस्वामी जी की स्तवमाला से ज्ञात होती है—**हरेकृष्णेत्युच्चैः स्फुरितरसनः"** इस की टीका में श्रीपाद विद्याभूषण जी ने लिखा है—**"हरेकृष्णेति मंत्र प्रतीकग्रहणम् । षोड़शनामात्मना द्वात्रिंशदक्षरेण मंत्रेण उच्चैरुच्चारितेन स्फुरिता कृत नृत्या रसना जिह्वा यस्य सः ।"** इससे ज्ञात होता है श्रीमन्महाप्रभु जी सोलहनाम बत्तीस-अक्षर का मन्त्र **"हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे । हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।** इस तारक-ब्रह्मनाम का उच्चस्वर से कीर्तन करते थे।

सारांश यह है कि नाम को सदा सुस्पष्ट उच्चस्वर से ग्रहण करना चाहिये, अन्ततः ऐसे रूप से उच्चारण करना ही चाहिये कि उसकी आवाज अपने कानों को सुनाई देती रहे। इस भाव से नाम उच्चारण करने को—(अनेक जन मिलकर अथवा अकेले रहकर) **नामसंकीर्त्तन** कहते हैं। उच्चस्वर से नाम ग्रहण करने से नाम के प्रति मनोयोग अधिक आकृष्ट होता है। उससे अन्य कोई शब्द कानों में प्रवेश कर चित्तवृत्ति को वहिर्मुख नहीं कर सकता। उससे हृदय में प्रेम का आविर्भाव होने की अधिक सम्भावना है, जो नाम का एक मुख्य फल है।

२१—**नाम-जप-स्मरण**—शास्त्र में एवं श्रीगोस्वामीपादगणों ने भगवन्नाम के जप एवं स्मरण के सम्वन्ध में भी बहुत कुछ वर्णन किया है—नाम जप, स्मरण एवं श्रवण करने का भी बहुत माहात्म्य वर्णन किया गया है। कीर्त्तन से जपादि का कुछ थोड़ा सा भेद है। जप तीन प्रकार का है—(१) जिस

जप में उच्च (उदात्त), नीच (अनुदात्त) एवं स्वरित नामक स्वर योग से सुपरिष्कृत अक्षरों में स्पष्ट भाव से मन्त्र उच्चारित होता है, उसे **'वाचिक-जप'** कहते हैं। (२) जिस जप में मन्त्र धीरे-धीरे उच्चारित होता है, होंठ थोड़े हिलते हैं एवं मन्त्र केवल अपने कानों तक सुनाई देता है, उसे **"उपांशु-जप"** कहते हैं। (३)अपनी बुद्धि के योग से मन्त्र के एक अक्षर का एवं एक पद से दूसरे पद का जो चिन्तन है एवं उसके अर्थों का जो चिन्तन है, उसकी बार-बार आवृत्ति को **'मानसिक-जप'** कहते हैं। मानसिक जप ध्यान या स्मरण के तुल्य होता है। वाचिक-जप से उपांशु-जप शत गुणा श्रेष्ठ है और मानसिक-जप सहस्रगुणा श्रेष्ठ है। यह सब प्रसङ्ग श्रीहरिभक्तिविलास (१७-७३ से ७६) में उल्लिखित है। श्रीसनातनपाद जी ने बताया है कि यहाँ जो वाचिक-जप से उपांशु-जप की श्रेष्ठता कथन की गई है, दीक्षा मंत्र के पुरश्चरण के अङ्गीभूत जो दीक्षामंत्रों का जप है, उसके सम्बन्ध में कथन की गई है। नाम-जप के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है।

श्रीहरिभक्तिविलास में भगवन्नाम के जप की बात जो उल्लिखित है, वह नाम के उपांशु-जप के सम्बन्ध में है। थोड़े थोड़े होंठ हिलाते हुये, अपने कानों तक सुनाई देने वाली ध्वनि में, जो धीरे-धीरे नाम-उच्चारण या कीर्त्तन है—वही नाम का उपांशु-जप है, उसे उच्चकीर्त्तन नहीं कहा जा सकता। श्रीजीवगोस्वामी जी ने जो उच्चकीर्त्तन की समधिक प्रशंसा की है, उनका अभिप्राय भी यही है कि नाम के उपांशु-कीर्त्तन से उच्च-कीर्त्तन प्रशस्ततर है।

सारांश यह है कि भगवन्नाम के उच्चस्वर में सङ्कीर्त्तन करने का ही सर्वाधिक माहात्म्य है। उसका कारण यह है कि उच्चस्वर से नाम-कीर्त्तन करने से चित्त की स्थिरता हो जाती है, श्रवणेन्द्रिय मन को किसी दूसरे शब्द की ओर आकर्षित नहीं कर सकती है।

२—नाम-सङ्कीर्त्तन-नियम एवं संख्या— विषय-मलिन-चित्त जीवों का मन नाम-सङ्कीर्त्तन में नहीं लगना चाहता वस्तुतः विषयासक्त मन परम साध्य वस्तु, परम शुद्ध रसतत्व में संलग्नता प्राप्त कर भी कैसे सकता है ? यह बात अनुभव में भी नित्यप्रति आती है—सर्व शास्त्रों में श्रीभगवन्नाम-सङ्कीर्त्तन का सर्वाधिक माहात्म्य वर्णन किया गया है, सब आचार्यपादों ने, समस्त सन्त-महान्त जनों ने, समस्त भक्तों ने श्रीभगवन्नाम की महिमा का मुक्तकण्ठ से गान किया है, किन्तु नामसङ्कीर्त्तन में निष्ठा बहुत कम लोगों में देखने में आती है। अनेक बार प्रेरणा करने पर भी उनकी रुचि नामसङ्कीर्त्तन में नहीं होती। परिक्रमा, कथा श्रवण, यमुना स्नान, मन्दिरदर्शन, व्रत आदि आदि अन्यान्य भक्ति अङ्गों के प्रति प्रायः साधकों की विशेष रुचि देखी जाती है, किन्तु सर्वसाधन श्रेष्ठ विशेषतः कलियुग में एकमात्र जीवोद्धार के परम-उपाय श्रीनामसङ्कीर्त्तन में, नाम के सर्वाधिक माहात्म्य को जानकर भी, सुनकर भी, जीवों की रुचि उत्पन्न नहीं होती— इसके कारण दो ही प्रतीत होते हैं—एक तो विषय-मलिनता के कारण मन की वहिर्मुखता। दूसरे—सर्वोत्कृष्ट, परम रसमय, साध्य-साधन तत्व के ज्ञान का अभाव।

इसलिए एक तो, विषय-मलिन-चित्त को श्रीनामसङ्कीर्त्तन में लगाने के लिए तीव्र अभ्यास का प्रयोजन है, दूसरे —श्रीनामसङ्कीर्त्तन के सर्वोत्कृष्ट रसमय स्वरूप की अनुभूति के लिये महत्-कृपा प्राप्ति की परमावश्यकता है।

तीव्र अभ्यास के लिये—मन के न लगने पर भी प्रतिदिन कुछ काल के लिए नाम-सङ्कीर्त्तन का अभ्यास करना आवश्यक है। इस अभ्यास को तो एक व्रतरूप में ग्रहण करना चाहिए। इसलिए प्रत्येक दिन एक निर्दिष्ट संख्या में ही नाम का सङ्कीर्त्तन करना चाहिए। जिसके लिए तुलसी की माला

आदि पर संख्या करते हुये नाम-कीर्त्तन करने की विधि बताई गई है। श्री हरिदास जी ठाकुर व्रतरूप में ही संख्या-नाम कीर्त्तन करते थे। श्रीमहाप्रभु जी ने भी वही आदर्श स्थापन किया है। ऐसा न करने से प्रतिदिन नाम ग्रहण करने का नियम नहीं बन पड़ता है। नाम-कीर्त्तन में मन न लगने पर भी संख्या-नाम का कीर्त्तन करना आवश्यक है। संख्या का नियम रहने से भजन में शिथिलता नहीं आने पाती एवं क्रमशः नाम के माधुर्य की अनुभूति होने लगती है। नाम-सङ्कीर्त्तन करते करते मन की मलिनता दूर हो जाती है, मन के शुद्ध होने पर नाम की कृपा से नाम का वह सर्वोत्कृष्ट परमरसमय स्वरूप भी स्फुरित हो उठता है। इसलिये प्रतिदिन नियमपूर्वक संख्या पूर्वक नाम का संकीर्त्तन करना ही विधेय है। नाम-संख्या पूर्ण हो जाने के बाद असंख्यात नाम-कीर्त्तन किया जा सकता है। उठते-बैठते, खाते-पीते—आदि सर्वावस्था में असंख्यात नाम ग्रहण हो सकता है।

२३—नाम-मन्त्र—श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा है (१-७-७२)—**"सर्व मन्त्र सार नाम एइ शास्त्र-मर्म।"** समस्त मन्त्रों का सार भगवन्नाम है—शास्त्रों का यही मर्म है। फिर प्रभु ने यह भी स्पष्ट कहा है कि—**"कृष्णनाम महा मन्त्रेर एइ त स्वाभाव।"** (१-७-८०) श्रीकृष्णनाम महामन्त्र है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। श्रीकृष्ण-नाम स्वयं नाम है।

अन्यान्य समस्त भगवन्नाम श्रीकृष्णनाम के ही विशेषण हैं। श्रीकृष्ण के समस्त नामों का समान प्रभाव एवं समान माहात्म्य है। इसलिये प्रत्येक नाम ही 'महामन्त्र है।'

दीक्षा मन्त्र एवं अन्यान्य-मन्त्रों को दूसरे के श्रुतिगोचर करके उच्चारण करने का नियम नहीं है, किन्तु नामरूप महामंत्र का उच्चस्वर से कीर्त्तन ही सर्वश्रेष्ठ वर्णन किया गया है। अन्य मंत्रों की अपेक्षा नाम रूप महामंत्र की यह एक विशेषता है, और भी कई एक विशेषताएं हैं। अन्यान्य मंत्रों में दीक्षा व पुरश्चरण का प्रयोजन है, किन्तु श्रीनाम-मंत्र दीक्षा एवं पुरश्चरण की अपेक्षा नहीं रखता। अन्यान्य मंत्रों के जप में स्थान आसनादि, शौचाशौच-विधान का लक्ष्य रखना पड़ता है, किन्तु श्रीनामरूप महामंत्र के अनुष्ठान में ऐसा कोई नियम नहीं है। श्रीनाम-महामन्त्र परमस्वतन्त्र है एवं किसी विधि-निषेध के आधीन नहीं है।

२४—**कलियुग में नामसंकीर्त्तन ही परम उपाय है।"** इस उक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि कलियुग में ही नाम परम उपाय है, सतयुग, त्रेता एवं द्वापर युग में नाम का कुछ महत्व न रहता होगा—किन्तु यह बात नहीं है। नाम एवं नामी की अभिन्नता जब नित्य है, तब यह जानना चाहिये कि नाम की महिमा भी नित्य है, समस्त युगों में ही श्रीनाम परम-उपाय है। तथापि कलियुग में इस को परम-उपाय जो कहा गया है, वह केवल नाम की महिमा को लक्ष्य करके नहीं कहा गया है, कलि के जीवों की अवस्था को लक्ष्य करके ऐसा कहा गया है। कलि के जीव हीन शक्ति एवं अल्पायु हैं, इन में देहावेश अत्यन्त गाढ़ है एवं इसलिये इन्द्रिय लालसा भी अत्यन्त बलवती है। संयम-नियम का तो अत्यन्त अभाव ही है। सत्ययुगादि अन्य युगों में जीवों की अवस्था कलि जीवों की अवस्था से बहुत उन्नततर थी। कलि जीवों का भव रोग अति उत्कट है। अत्यन्त सांघातिक है। रोग जितना उत्कट व सांघातिक हो उसके प्रतिकार के लिए उतनी ही अमोघ रसायन औषधि की आवश्यकता रहती है। भव-रोग निवृत्ति के लिये जितने भी साधन औषधि रूप में बताये गये हैं, उनमें नाम-संकीर्त्तन की एक ऐसी अमोघ औषधि है जो जिस किसी रूप से भी सेवन की जाये, भवरोग को निश्चितरूप से नष्ट कर देती है। इसलिये असंयत चित्तता इन्द्रियासक्ति, दुर्बलता आदि सांघातिक भवरोग-ग्रस्त कलिजीवों के लिये नामसंकीर्त्तन को ही एकमात्र

प्रकृष्ट औषधि या परम-उपाय कह कर वर्णन किया गया है। अन्यान्य साधनों से महानुशक्तिशाली होने से तथा विधि-निषेध से पर होने से श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन कलि जीवों के पक्ष में सहज साध्य भी है। कलि जीवों की बहिर्मुखता इतनी निबिड़तम हैं,उसे यदि मिटा सकता है तो केवल नाम-सङ्कीर्त्तन ही मिटा सकता है। यहाँ तक कि जो नास्तिक हैं, श्री भगवान् के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते, उनके लिये भी केवल नाम-सङ्कीर्त्तन ही परम उपाय है। इसलिये कहा गया है कि...

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥क-प॥

कलियुग में हरिनाम,हरिनाम,हरिनाम ही एक मात्र गति है, और गति नहीं है, नहीं है, नहीं है,। (भूमिका पृष्ठ २८६ द्रष्टव्य।)

कलियुग में अनेक दोष हैं , किन्तु एक महान् गुण इस में यही है कि श्रीहरिनाम-सङ्कीर्त्तन करके जीव संसार बन्धन से मुक्त होकर परम धाम की प्राप्ति कर सकता हैं। यही बात श्रीमद्भागवत जी (१२-३-५१) में कही गई है। यथा:--

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥क-स॥

और भी श्रीभागवत जी (११-५-३६) में कहा गया है—

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र सङ्कीर्त्तनेनैव सर्वस्वार्थोऽभिलभ्यते॥क-ह॥

कलियुग में श्रीकृष्णनाम के सङ्कीर्त्तन से संसार बन्धन से मुक्त होकर जीव परमधाम को प्राप्त कर लेता है,—इसी गुण के कारण जो गुण-ग्राही व सार-ग्राही लोग हैं, कलियुग को चारों युगों से श्रेष्ठ मानते हैं एवं इसकी प्रशंसा करते हैं, और एक कारण यह भी है कि कलियुग में केवलमात्र नाम सङ्कीर्त्तन से ही समस्त अभीष्टों की प्राप्ति हो जाती है।

कलियुग में नाम सङ्कीर्त्तन की विशेषता का एक कारण यह भी है कि कलियुग में स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण श्रीकृष्णचैतन्यरूप में अवतीर्ण होकर अपने नाम का सर्वत्र प्रचार-प्रसार करते हैं एवं अपने नाम का आप रसास्वादन करते हैं। कलियुग में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार नाम रूप से होता है—कलियुग में नाम सङ्कीर्त्तन की यह भी एक विशेषता है—"कलिकाले नाम रूपे कृष्ण अवतार। (चै० च० १-१७-१९)" इस प्रकार श्रीनाम सङ्कीर्त्तन को कलि में परम-उपाय वर्णन करते हुए श्रीमान्-महाप्रभु जी आगे कहने लगे—

सङ्कीर्त्तन - यज्ञे करे-कृष्ण-आराधन।
सेइ त सुमेधा पाय कृष्णेर चरण॥८॥

श्री मन्महाप्रभु जी ने कहा—" जो व्यक्ति नाम सङ्कीर्त्तन यज्ञ के द्वारा श्रीकृष्ण का आराधन करता है, वही सुबुद्धि व्यक्ति है, एवं वही श्रीकृष्ण की चरण-सेवा को प्राप्त करता है॥८॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमहाप्रभु जी ने कहा है नाम-सङ्कीर्त्तन यज्ञ द्वारा जो व्यक्ति श्रीकृष्ण का आराधन करता है—यहाँ नाम-सङ्कीर्त्तन-यज्ञ का क्या अभिप्राय है ?—यज्-धातु से यज्ञ-शब्द निष्पन्न होता है। यज्-धातु का अर्थ है पूजा करना व देवार्च्चन में दान करना एवं सङ्ग करना। यज् देवार्च्चादान-सङ्गकृतौ, सङ्गस्य-कृतिः सङ्गकृतिः(शब्द कल्पद्रुम)। इससे यज्ञ-शब्द का अर्थ होता है, पूजा करना व संङ्ग करना, सङ्कीर्त्तन यज्ञ द्वारा श्रीकृष्ण के आराधन से तात्पर्य है। नाम-सङ्कीर्त्तन-पूजोपचार द्वारा श्रीकृष्ण

की आराधना करना। आगे कहा है कि जो नाम सङ्कीर्त्तन से ही श्रीकृष्ण की प्रीति विधान करता है, वही सुबुद्धि है—सुन्दर बुद्धि युक्त है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि कलि में जो व्यक्ति श्रीकृष्ण की आराधना श्रीनाम सङ्कीर्त्तन को छोड़कर अन्यान्य उपायों से करने का प्रयास करते हैं या कर रहे हैं, वे सुबुद्धि नहीं है— अर्थात् कुबुद्धि ही हैं। श्रीमद्भागवत जी में भी यही बात कही गई है—

तथाहि (भाः ११-५-३२) —

कृष्णवर्णं त्विषकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्र पार्षदम्।
यज्ञैः सङ्कीर्त्तन प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥२॥

श्रीकरभाजन- योगेन्द्र ने श्रीनिमिराज के प्रति कलियुग के अवतार एवं धर्म का वर्णन करते हुए कहा है—"हे राजन्! बुद्धिमान लोग नाम-सङ्कीर्त्तन प्रधान पूजा द्वारा गौरकान्ति युक्त, सदा कृष्ण का वर्णन करने वाले एवं जिनके अङ्ग-उपाङ्ग ही अस्त्र तथा पार्षद हैं— ऐसे भगवान् की आराधना करते हैं ॥ २ ॥(विस्तृत टीका आदिलीला पृष्ठ ६३ पर द्रष्टव्य है)

नाम - सङ्कीर्त्तन हैते सर्वानर्थ नाश।
सर्व शुभोदय कृष्ण प्रेमेर उल्लास ॥६॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने आगे कहा— "श्रीनाम सङ्कीर्त्तन से सर्व अनर्थों का नाश होता है, (अनर्थोंका विवरण मध्यलीला पृष्ठ६७५ पर द्रष्टव्य है)समस्त मङ्गलों का उदय होता है।(समस्त मङ्गलों का अभिप्राय श्रीकृष्ण प्रेम से ही है—श्रीकृष्ण प्रेम से कृष्ण-सेवा प्राप्ति होती है, उसी में ही जीव का आत्यन्तिक मङ्गल है) नाम सङ्कीर्त्तन से ही कृष्णप्रेम सर्वविध वैचित्री सहित उल्लसित होता है ॥६॥

यहां से आगे श्रीमन्महाप्रभु स्वरचित शिक्षाष्टक का आरम्भ करते हैं:—

तथाहि पद्यावल्याम् (२२)—

चेतोदर्पणमार्ज्जनं भवमहादावाग्नि—निर्वापणं
श्रेयःकैरव चन्द्रिकावितरणं विद्यावधु—जीवनम् ॥
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं।
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनम् ॥३॥

जो चित्तरूप दर्पण को मार्ज्जित करने वाला है, जो संसार-ताप रूप महादावानल को बुझाने वाला है, जो मङ्गल रूप कौमुदी के लिये ज्योत्स्ना वितरण करता है, जो विद्यारूप वधु का प्राण स्वरूप है, जो आनन्द समुद्र को वर्द्धित करने वाला है, जिसके प्रतिपद में ही पूर्ण अमृत का आस्वादन है, एवं जो सर्वात्म (मनेन्द्रिय) को तृप्ति विधान करने वाला है—वही श्रीकृष्ण नाम-सङ्कीर्त्तन सर्वोत्कर्ष से विजय युक्त होकर विराजमान है ॥ ३ ॥

चै० च० चु० *टीका*—शिक्षाष्टक के इस प्रथम श्लोक में श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीकृष्ण नामसङ्कीर्त्तन की महिमा का वर्णन किया है। प्रभु ने उसके सात-गुणों का वर्णन किया है, क्रमशः उनका विवरण इस प्रकार है:—

(१) **चेतोदर्पण मार्ज्जनम्**—श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन जीव के चित्तरूप दर्पण के लिये मार्ज्जन-तुल्य है। जीव के चित्त को दर्पण कहा गया है। दर्पण यदि धूलि-मिट्टी से मैला हो रहा हो, तो उसे किसी वस्त्र से मार्ज्जन किया जाता है, तव वह स्वच्छ हो जाता है। जीव का चित्त-दर्पण जो वहिर्मुखतारूप धूलि से मैला हो रहा है, सङ्कीर्त्तनरूप वस्त्रादि द्वारा उसे मार्ज्जित करने से चित्त दर्पण स्वच्छ हो जाता है।

दर्पण के साथ चित्त की तुलना की सार्थकता यह है कि दर्पण में प्रतिफलन–क्षमता है। उसके निकट या सामने जो वस्तु रहती है, उस का प्रतिबिम्ब उस में प्रतिफलित होता है। यदि दर्पण मैला हो तब उसमें निकटवर्त्ती वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं दीखता। दर्पण जितना मार्ज्जित हो, उतना ही उसमें प्रतिबिम्ब स्पष्टरूप से दीखता है। जीव के चित्त में भी प्रतिफलन-क्षमता है। उसमें भी निकटस्थ वस्तु प्रतिफलित होती है। चित्त के निकटतम वही वस्तु हो सकती है, जो अनन्त एवं सर्वव्यापक हो। श्रीकृष्ण एवं उनके धाम अनन्त एवं सर्व व्यापक हैं। इसलिये यदि जीव का चित्तरूप दर्पण निर्मल रहे तो उसके चित्त में श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्णधाम अर्थात् उनकी लीलाएं सर्वदा प्रतिफलित होते रहते हैं।

प्रश्न हो सकता है—निर्मल चित्त में जैसे श्रीकृष्ण एवं उनके धाम प्रतिफलित होते हैं, उसी प्रकार निकटवर्त्ती प्राकृत वस्तुएं भी तो प्रतिफलित हो सकती है?—उत्तर, किन्तु प्राकृत वस्तुएं प्रतिफलित नहीं हो सकतीं, कारण कि वे चित्त दर्पण की निकटवर्त्ती नहीं हैं। उनके और चित्त के बीच में सर्वव्यापक-अनन्त वस्तु अवस्थान कर रही है। श्रीकृष्ण एवं उनका धाम सर्वव्यापक होने से चित्त के प्रति निकटतम प्रदेश में अवस्थित हैं। प्राकृत वस्तुएं सर्वव्यापक नहीं हैं, अतः उनके पीछे ही अवस्थान करती हैं। दर्पण में सन्मुखस्थ वस्तु ही प्रतिफलित हुआ करती है। पश्चाद्वर्त्ती वस्तु प्रतिफलित नहीं होती। अतः चित्त दर्पण के निर्मल होने पर अत्यन्त निकटतम सर्वव्यापक अनन्त वस्तु जो श्रीकृष्ण एवं उनका धाम है, वही ही प्रतिफलित हो सकता है, प्राकृत वस्तुएं जो सर्वव्यापक वस्तु के पीछे रहती हैं, वे प्रतिफलित नहीं हो सकतीं।

किन्तु जीव या उस का चित्त, जो स्वरूपतः शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है, मायिक दुर्वासनाओं की मलिनता में अनादिकाल से अभिनिविष्ट हो रहा है—जिस चित्तरूप दर्पण पर मायारूप मिट्टी का लेप हो रहा हो, उसमें फिर प्रतिफलन क्रिया का प्रश्न ही नहीं उठता। वह चारों ओर से मलिन ही मलिन दीखता है। वह माया के आवरण में आवृत होकर भगवद् विषयक वस्तु के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने के सर्वथा अयोग्य हो जाता है।

उस मायिक आवरण को दूर करने पर ही—निर्मलचित्त में ही वे भगवद् विषयक वस्तुएं प्रतिफलित होने लगती हैं। चित्त की उस मलिनता को दूर करने का मार्ज्जन स्वरूप है—श्रीकृष्ण-नाम-सङ्कीर्त्तन।

किसी वस्तु को मार्ज्जन करने के लिये बार-बार मार्ज्जनकारी वस्त्र आदि को आगे-पीछे चला-फिरा कर रगड़ना पड़ता है। जितनी बार अधिक उस मार्ज्जनकारी वस्त्रादि को दर्पण पर रगड़ा जाये, वह दर्पण उतना अधिक निर्मल एवं शुद्ध हो जाता है। नामसङ्कीर्त्तन जो चित्त दर्पण का मार्ज्जनकारी है, उसको भी जब बार-बार आगे पीछे—सर्वावस्था में रगड़ा जाता है—अनुष्ठित किया जाता है, तब वह भी चित्त दर्पण को निर्मल कर देता है। जितना अधिक श्रीनामसङ्कीर्त्तन का अनुष्ठान किया जायेगा, उतना अधिक ही चित्त शुद्ध एवं उज्ज्वल हो उठेगा। नामसङ्कीर्त्तन में बार-बार एक नाम की जो आवृत्ति करना है, वही मानों चित्त पर नाम की रगड़ लगाना है, जो चित्त की समस्त मलिनता को अशेषरूप से दूरीभूत कर देती है।

(२) भव महादावाग्नि निर्वापणम्—श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन संसार-महादावानल को निर्वापित करता है। आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं अधिभौतिक—ये जो तीन प्रकार की तापज्वाला जीव को जला

रही है, उसे महादावाग्नि कहा गया है। बन की अग्नि को 'दावानल' कहते हैं, जो वन को जलाकर भस्म कर देती है। इसी प्रकार त्रिताप-ज्वाला में जलकर जीव भी कर्तव्य हीन हो रहा है। संसार ज्वाला को दावाग्नि की तुलना दी है, उसकी सार्थकता इस प्रकार है—

प्रथमतः—बन की अग्नि बन को जला देती है, उसे कोई बाहर से लाकर वन में नहीं लगाता है। वन के वृक्षों में परस्पर संघर्ष से अपने आप वह अग्नि उत्पन्न हुआ करती है। जीव की संसार-ज्वाला भी उसी प्रकार है। बाहर की कोई वस्तु जीव के त्रितापों का या संसार ज्वाला का कारण नहीं है। अनन्त दुर्वासनाओं के परस्पर संघर्ष से जीव के चित्त में इसकी उत्पत्ति होती है। दुर्वासनाओं की प्रेरणा से जीव जो कर्म कर रहा है, अथवा पूर्वले जन्मों में कर आया है, उसके फल स्वरूप जीव की त्रिताप-ज्वाला है। इसका दायित्व जीव के अपने ऊपर है, और दूसरा कोई भी इस जीव को दुख देने वाला नहीं है। दूसरे के द्वारा हम जब किसी दुःख को प्राप्त करते हैं, वह दूसरा केवल मात्र हमारे दुःखका वाहक मात्र होता है। जैसे हम बाजार में जाकर एक फल का बोझा खरीद कर दुकानदार के पास रख आवें और उसको कह आवें कि उस बोझा को वह किसी पल्लेदार के हाथ हमारे घर भिजवा दें। वह पल्लेदार यदि उस फल के बोझा को हमारे घर ले आवे, और उस फल में कोई फल खट्टा या गला-सड़ा निकल आवे, तो उसका उत्तरदायी पल्लेदार नहीं है, हम हैं। वह केवल हमारे फल के बोझ का वाहक मात्र है। उसी प्रकार अन्य किसी के द्वारा जो भी दुख-सुख हम भोग करते हैं, वह हमारे ही पूर्वले कर्मों का फल है, वह अन्यव्यक्ति केवल हमारे दुख-सुख का वाहक मात्र बन जाता है। इस प्रकार संसार-ज्वाला भी चित्त में हमारी अपनी दुर्वासनाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होकर जला रही है।

द्वितीयतः—दावानल जब बन में लगा करती है, तब वन के वृक्षादि उस अग्नि से बच कर आत्मरक्षा नहीं कर सकते, वहीं खड़े-खड़े जला ही करते हैं। मायाबद्ध जीव की भी उसी प्रकार की अवस्था है। जीव त्रिताप-ज्वाला में केवल जल ही जल रहा है। मायिक सुख-भोग की आशारूप रस्सी में बन्धा हुआ जीव त्रिताप ज्वाला से दूर भाग कर–श्रीकृष्णोन्मुख होकर अपनी रक्षा नहीं कर सकता है।

तृतीयतः—अपने में उत्पन्न दावानल द्वारा दग्ध होकर बन जैसे अपने अस्तित्व को खो देता है, बनका कोई चिह्न भी शेष नहीं रहता, उसी प्रकार, जीव जो स्वरूपतः कृष्णदास है। कृष्णसेवा ही उसका स्वरूपगत धर्म है, वह संसार-ज्वाला की लपेटों में ऐसा दग्ध हो रहा है कि उसनें अपने अस्तित्व को—श्रीकृष्णदासत्व को खो दिया है, श्रीकृष्ण-सेवा का कोई चिह्न भी इसमें नहीं दीखता है।

यदि निरवच्छिन्नभाव से बहुत समय तक मूसलाधार वर्षा हो जाये, तभी वह दावानल बुझ सकती है, तद्रूप निरवच्छिन्न भाव से बहुत समय तक श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन करने से ही जीव की त्रिताप-ज्वाला–भवमहादावाग्नि बुझ सकती है। यह ज्वाला छोटी–मोटी अग्नि के तुल्य नहीं है। प्राकृत भोग्य-वस्तुओं से और लोगों के सान्त्वनामय वचनों से शान्त नहीं हो सकती। संसार–ज्वाला महादावाग्नि के तुल्य है। उसे महानशक्तिशाली, महान्तम रसस्वरूप श्रीकृष्णनाम सङ्कीर्त्तन की अमृतवर्षा ही निर्वापित कर सकता है, और कोई उपाय नहीं है।

श्रेयः कैरव-चन्द्रिकावितरणम्—श्रेय का अर्थ है मङ्गल, कैरव का अर्थ है कुमुद। चन्द्रिका का स्पर्श पाकर कुमुद रात्रि में प्रफुल्लित हो उठता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन जीव के मङ्गलरूप कुमुद के पक्ष में चन्द्रिका वितरण करने वाला है। श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन से जीव का मङ्गल प्रफुल्लित या विकसित

हो उठता है। श्रीकृष्ण सङ्कीर्त्तन करते-करते चित्त की दुर्वासना दूर हो जाती है एवं श्रीकृष्ण-सेवा-वासना उन्मेषित हो उठती है।

मायाबद्ध जीव सांसारिक मङ्गलों को ही श्रेय समझ रहा है, वस्तुतः वह मङ्गल नहीं है। वह प्रेय है। इन्द्रियों के सुख की तृप्ति विधान करने वाली वस्तुओं को 'प्रेय' कहते हैं। प्रेय को ही जीव अज्ञानवश श्रेय माने बैठा है। किन्तु प्रेय संसार बन्धनों को और भी दृढ़तर करके दुःखों को ही पोषण करने वाला है। प्रेय क्षणभंगुर व नाशवान सुख, जो वास्तव में दुख रूप है, को प्रदान करने वाला है। श्रीमद्भागवत जी में श्रीकृष्ण भक्ति को ही एक मात्र श्रेय या श्रेय का मार्ग कहा है।—**"श्रेयः सतिं भक्ति मुदस्य ते विभो"**—श्रीकृष्ण-भक्ति अर्थात् श्रीकृष्ण चरण-सेवा ही एकमात्र मङ्गल या श्रेय स्वरूप श्रेय मार्ग है। श्रीकृष्ण-भक्ति की वासना के लिए विकाश के सर्व प्रथम श्रीकृष्णोन्मुखता की आवश्यकता है। श्रीकृष्णोन्मुखता का विकास ही जीव के श्रेयरूप कुमुद के विकाश का प्रथम स्तर है। वह विकाश केवल मात्र श्रीकृष्ण सङ्कीर्त्तन से ही सम्भव पर है। श्रीकृष्णनाम-सङ्कीर्त्तन से कृष्णोन्मुखता का विकाश होकर कृष्ण-भक्ति के उत्तरोत्तर स्तरों का भी विकाश हो उठता है। इसलिये श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन को जीव के श्रेयरूप कुमुद के विकाश के लिये चन्द्रिका वितरण करने वाला कहा गया है।

(४) **विद्यावधुजीवनम्**—श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन विद्यावधू का जीवन-सदृश है। अर्थात् विद्यावधू श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन के बिना जीवित नहीं रह सकती। वह विद्यावधू कौन है?—जिसके द्वारा कुछ जाना जाए—उसे **'विद्या'** कहते हैं। जिसके द्वारा ऐसी एक वस्तु को जाना जाए कि और कुछ जानना शेष न रहे, उसे **'परा विद्या'** कहते हैं। उसी में ही विद्या की पराकाष्ठा है। श्रीकृष्ण ही आश्रय-तत्त्व हैं। इसलिये श्रीकृष्ण को जान लेने के बाद और कुछ जानना बाकी नहीं रहता। श्रीकृष्ण को जानने का एक मात्र उपाय है—उनकी भक्ति **'भक्त्याहमेकयाग्राह्यः'**। अतः कृष्ण-भक्ति ही एकमात्र श्रेष्ठ या पराविद्या है। श्रीरायरामानन्द जी ने कहा है—**श्रीकृष्ण-भक्ति बिना विद्या नाहि आर**। (चै० च० २-८-१९९)यहाँ कृष्ण-भक्ति को ही 'विद्या' कहा गया है और उस विद्या को फिर 'वधू' कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि कृष्ण-भक्ति एक वधू की भाँति कोमल-स्वभावा, स्निग्धा, सेवापरायणा, मधुरस्वभावा, सदा हास्यमयी एवं लजीली अर्थात् आत्मगोपनचेष्टिता है। अभिप्राय यह है कि जिसके हृदय में भक्तिरानी कृपा कर आविर्भूत होती है उसकी ऐसी ही प्रकृति हो जाती है— वह कोमलस्वभाव एवं स्निग्ध-स्वभाव वाला हो जाता है वह सेवा-परायण मधुर-स्वभाव, प्रसन्नात्मा हो जाता है एवं वह अपने को गोपन करने की ही सदा चेष्टा किया करता है। श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन वधु-स्वभावा कृष्ण-भक्ति के जीवन तुल्य हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन के बिना कृष्ण-भक्ति न तो उन्मेषित हो सकती है और उन्मेषित होने के बाद न ही स्थायित्व लाभ कर सकती है। इसलिये श्रीकृष्ण-सङ्कीर्तन को विद्यावधू का जीवन कहा गया है।

पहले कहा जा चुका है कि नाम साधन है एवं साध्य भी है। नाम स्वयं परम पुरुषार्थ है। नाम नामी की भाँति परम आस्वाद्य एवं परम मधुर है। उक्त श्लोक में विद्यावधूजीवनम्—पर्यन्त नाम सङ्कीर्त्तन के साधन स्वरूपत्व का वर्णन किया गया है। श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन से चित्त की समस्त मलीनता दूर होती है, उससे चित्त में भक्ति आविर्भूत हो उठती है। भक्ति के आविर्भूत होने पर उस चिन्मय नाम का भक्तितादात्म्य-प्राप्त जिह्वा के साथ स्पर्श होता है तभी नाम का माधुर्य आस्वादन हो सकता है। वह नाम-माधुर्य का आस्वादन कैसा अपूर्व है—उसका वर्णन श्लोक के शेषार्द्ध में करते हैं, अर्थात् अब आगे श्रीनाम के साध्यस्वरूपत्व या परम पुरुषार्थत्व का प्रतिपादन करते हैं।

(५) **आनन्दाम्बुधि वर्द्धनम्** —श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन आनन्द समुद्र को वर्द्धित करने वाला है। चन्द्रोदय से समुद्र में जैसे विचित्र तरङ्ग-समूह उत्थित होता है, श्रीकृष्ण-संकीर्त्तन के प्रभाव से भी उसी प्रकार भक्तों के हृदय में आनन्द नाना विधि वैचित्री को धारण करता है। भक्तों के हृदय को वह सदा आनन्द से उद्वेलित किए रखता है।

(६) **प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनम्**—श्रीकृष्ण-संकीर्त्तन के प्रतिपद में ही पूर्णामृत का अर्थात् समस्त रसों का आस्वादन प्राप्त होता है। संकीर्त्तन करते समय जितने भी पद या शब्दों का उच्चारण किया जाता है, उनके प्रत्येक पद में ही समस्त रसों का आस्वादन मिलता है। उसका कारण यह है कि श्रीकृष्ण-संकीर्त्तन आनन्द स्वरूप, रसस्वरूप ही है।''

तत्ववस्तु – कृष्ण कृष्ण – भक्ति प्रेमरूप।
नामसङ्कीर्त्तन सब आनन्द स्वरूप॥ (चै० च० १-१-५४)

नाम एवं नामी अभिन्न होने से नामी की भाँति नाम भी पूर्ण है। पूर्ण शब्द उस वस्तु को बताता है, जिसमें से सम्पूर्ण वस्तु ले लेने के बाद भी सम्पूर्ण वस्तु अवशिष्ट रहे—**"पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।"** पूर्ण वस्तु असीम एवं व्यापक होती है। उसका अंश विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। तथापि जिसे उसका अंश जान लिया जाता है, उसमें भी पूर्णवस्तु का धर्म पूर्णरूप से विराजमान रहता है। उसके माधुर्यादि पूर्णतमरूप से ही उसके अंशवत् प्रतीयमान भाग में भी विद्यमान रहते हैं, यही पूर्णवस्तु का स्वरूपगत धर्म है। ऐसी पूर्ण वस्तु है एक मात्र—परब्रह्म श्रीकृष्ण एवं उनका अभिन्न-स्वरूप श्रीनाम। इसलिए सम्पूर्ण नाम के आस्वादन में जो पूर्ण माधुर्य का अनुभव होता है, नाम के एक अंश में भी, नाम के एक अक्षर में भी उसी पूर्ण माधुर्य का पूर्ण आस्वादन प्राप्त होता है।

(७) **सर्वात्म स्नपनम्**—श्रीकृष्णसंकीर्त्तन आत्मा को अर्थात् देह को, मन को एवं इन्द्रियों को स्नान करा देने वाला है—अत्यन्त शीतलता प्रदान करने वाला है। ग्रीष्मकाल में तीव्र गरमी एवं धूप से भीतर-बाहर तपा हुआ व्यक्ति जैसे ठण्डे पानी में डुबकी लेकर स्नान करने से एवं पान करने से अत्यन्त शीतलता को प्राप्त करता है, उसी प्रकार अनादिकाल से संसार-मरुभूमि में भ्रमता हुआ त्रितापज्वाला दग्ध जीव जब परमस्निग्ध अमृतानन्द सुमधुर-रस-समुद्र श्रीकृष्ण-नामसंकीर्त्तन में डुबकी लेता है, तो उसका देह, मन, समस्त इन्द्रियाँ यहाँ तक कि उसके देह का सूक्ष्मतम अणु अणु शाश्वत शीतलता में सराबोर हो जाता है। श्रीकृष्णनामामृत समस्त देहेन्द्रियसमूह को मधुर रस धारा में सम्यक्रूप से प्लावित कर देता है। श्रीवृहद्भागवतामृत (२-३-१६२) में कहा गया है—

एकस्मिन्निन्द्रिये प्रादुर्भूतं नामामृतं रसैः।
आप्लावयति सर्वाणीन्द्रियाणि मधुरैर्निजैः॥क-क्ष॥

श्रीकृष्णनाम एक इन्द्रिय में आविर्भूत होकर, अर्थात् जिह्वा-इन्द्रिय पर स्फुरित होने से, या केवल श्रवणेन्द्रिय में प्रवेश करने मात्र से, अथवा नामाक्षरों के नेत्र गोचर होने मात्र से ही वह श्रीकृष्ण-नाम अपने मधुर रस पूर्ण अमृत से नामग्रहणकारी की सर्व इन्द्रियों को प्लावित—परिनिषिक्त तथा परिसिञ्चित कर देता है—इसलिये श्रीकृष्ण संकीर्त्तन को सर्वात्मस्नपनम् कहा गया है।

(८) **श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनम्**—श्रीकृष्ण-संकीर्त्तन से अभिप्राय है-श्रीकृष्णसम्बन्धीय संकीर्त्तन। श्रीकृष्णनाम, श्रीकृष्णरूप, श्रीकृष्णगुण, श्रीकृष्णलीलादि का संकीर्त्तन करना। इस श्लोक में श्रीकृष्ण-नाम संकीर्त्तन को ही लक्ष्य करके नाम की महिमा का वर्णन किया गया है।

६—परं विजयते—श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन परं-रूप से अर्थात् विशेष रूप से जययुक्त हो रहा है। श्रीमन्महाप्रभु जी ने इस श्लोक द्वारा जगत् के जीवों को प्रच्छन्नभाव से एक आशीर्वाद दिया है—श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन का माहात्म्य यदि जगत् में सर्वतोभावेन प्रचारित हो, जगत् के सब लोग यदि सङ्कीर्त्तन करने लगें, उसके फल से उनके चित्त की मलिनता दूर हो सकती है। यदि उनके विशुद्ध चित्त में भक्ति का आविर्भाव हो, उससे आनन्द का समुद्र उद्वेलित—तरङ्गायित हो उठे। यदि नाम के प्रतिपद में, प्रति अक्षर में पूर्ण आनन्द का आस्वादन प्राप्त हो, यदि देह-मन-इन्द्रिय नामामृत रस से सम्यक्रूप से परि-निषिक्त हों, तभी ऐसा कहा जा सकता है कि "नामसङ्कीर्त्तन विशेषरूप से जययुक्त हो रहा है—यही मानो जगत् के जीवों के प्रति श्रीमन्महाप्रभु जी ने प्रच्छन्न-आशीर्वाद किया है।

अगले पयारों में चेतोदर्पण—श्लोक का मर्म प्रकाश करते हैं—

सङ्कीर्त्तन हैते – पाप-संसार-नाशन। चित्तशुद्धि, सर्वभक्ति साधन—उद्गम ॥१०॥
कृष्णप्रेमोद्गम, प्रेमामृत आस्वादन। कृष्ण प्राप्ति, सेवामृत समुद्रे-मज्जन ॥११॥
उठिल विषाद दैन्य पढ़े आपन श्लोक। यार अर्थ शुनि सब पाय दुख-शोक ॥१२॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा—"श्रीकृष्णनाम-सङ्कीर्त्तन के प्रभाव से सर्वविध पापों का नाश होता है एवं संसारबन्धन, त्रिताप-ज्वाला-आदि दुख नाश होते हैं। इससे चित्त की माया-मलिनता दूर होती है। (चित्त की दुर्वासनायें अन्तर्हित होती हैं।) इससे भक्ति के समस्त साधनों का उदय होता है (चित्तशुद्ध होजाने पर कृष्णोन्मुखता एवं नवविधा भक्ति-साधनों में जीव की रुचि होने लगती है। अथवा श्रीनामसङ्कीर्त्तन से समस्त भक्ति साधनों का फल प्राप्त होता है।) इससे श्रीकृष्ण-प्रेम का आविर्भाव होता है। आनन्द की वृद्धि होती है एवं प्रेमरूप अमृत का पूर्ण आस्वादन होने लगता है। श्रीनामसङ्कीर्त्तन से श्रीकृष्ण की प्राप्ति होती है एवं श्रीकृष्णसेवा-रसामृत-समुद्र में संकीर्त्तनकारी सराबोर हो जाता है। (इस प्रकार नामसंकीर्त्तन की महिमा वर्णन करते करते भक्तभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु के मन में ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि नाम में उनका अनुराग नहीं है। वे नाम के फल श्रीकृष्णसेवा से वञ्चित हैं, तब) प्रभु में विवाद एवं दैन्य भाव का उदय हो आया और वे निम्नलिखित श्लोक पढ़ने लगे। वह ऐसा श्लोक है कि जिसके श्रवण करने मात्र से समस्त दुःख-शोक नष्ट हो जाते हैं ॥१०-१२॥

तथाहि पद्यावल्याम (३१)

नाम्नामकारि बहुधा निज सर्वशक्तिस्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥४॥

भगवन्! आपने (कृष्ण, गोविन्द, मुकुन्द—आदि) अनेक प्रकार से अपने नामों का प्रचार किया है, उन नामों में फिर आपने अपनी समस्त शक्ति भी अर्पण करदी है। उन नामों के स्मरण करने में कोई भी देश-कालादि का नियम नहीं है। हे प्रभु! आप की ऐसी कृपा है, किन्तु मेरे ऐसे फूटे भाग्य हैं कि आपके ऐसे नाम में भी मेरा अनुराग नहीं उत्पन्न हुआ है ॥४॥ (यह शिक्षाष्टक का दूसरा श्लोक है। अगले पयारों में इस श्लोक की व्याख्या करते हैं—)

अनेक लोकेर वाञ्छा अनेक प्रकार। कृपाते करिल अनेक नामेर प्रचार ॥१३॥
खाइते-शुइते यथा-तथा नाम लय। देश-काल-नियम नाहि, सर्वसिद्धि हय ॥१४॥

सर्व शक्ति नामे दिलेन करिया विभाग। आमार दुर्दैव, नामे नाहि अनुराग ॥१५॥
ये रूपे लइले नाम प्रेम उपजाय। ताहार लक्षण शुन स्वरूप रामराय ॥१६॥

"अनेकों लोगों की वाञ्छा अनेक प्रकार की है। (विभिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न इच्छा है। इसलिए जीवों पर कृपा करने के लिए श्रीभगवान् ने अपने अनेक नामों को प्रकट किया है। खाते-पीते सोते-जागते जिस किसी अवस्था में भी नाम का ग्रहण किया जा सकता है, देशकाल का कुछ भी नियम इसमें नहीं है। नाम समस्त अभिलाषाओं को पूरण करने वाला है। श्रीभगवान् ने अपनी सर्वशक्ति अपने नाम में अर्पण कर दी है—इतनी सुविधा होने पर भी हमारे दुर्भाग्य ऐसे हैं कि नाम में हमारी प्रीति नहीं है। जिस रूप से अथवा जिस भाव से नाम ग्रहण करने से प्रेम की प्राप्ति होती है, स्वरूप ! रामराय ! उस के लक्षण सुनो, मैं आपा से कहता हूँ" ॥१३-१६॥

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा—"स्वरूप ! जगत् में समस्त लोगों की रुचि एवं कामना एक जैसी नहीं है, श्रीभगवान् के भी एक ही नाम में सब की रुचि नहीं हो सकती। किसी को कोई नाम प्रिय लगता है, किसी को कोई दूसरा नाम प्रिय लगता है। इसलिए श्रीभगवान् ने अपने अनेक नाम प्रकाशित किए हैं, जिसकी जिस नाम में रुचि हो, वह वही नाम के सकता है। श्रीभगवान् के समस्त नामों में समान शक्ति है, समान महिमा है तथापि जिसकी जिस नाम में अभिरुचि होती है; उसी नाम के ग्रहण करने से, उस नाम के कीर्त्तन करने से उसको अधिक आनन्द की प्राप्ति होती है। श्रीमद्भागवतजी में भी अपने प्रिय नाम के कीर्त्तन करने का संकेत मिलता है—"**एवं व्रतः स्वप्रिय नामकीर्त्या: जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चै**।" स्वप्रिय नाम से, अपने मन को जो प्रिय लगे, उसी नाम के कीर्त्तन करने की बात कही गई है। श्रीहरिभक्तिविलास (११—१३४) में कहा गया है—

सर्वार्थ शक्ति युक्तस्य देवदेवस्य चक्रिणः।
यथाभिरोचते नाम तत् सर्वार्थेषु कीर्त्तयेत् ॥क-त्र॥

श्रीभगवान् चक्रधारी में समस्त अर्थों की पूर्त्ति की शक्ति है। उसी प्रकार उनके समस्त नामों में भी सर्व अर्थों के प्रदान की शक्ति है। इस लिए जो नाम प्रिय लगे, उसी का ही सर्वावस्थाओं में कीर्त्तन करना चाहिए। श्रीभगवान् परम दयालु हैं, उन्होंने अपने नाम ग्रहण करने में देश-काल का कुछ भी नियम नहीं रखा है। सर्वस्थानों पर सर्वकाल में श्रीनाम कीर्त्तन किया जा सकता है। श्रीनाम परम स्वतन्त्र है, किसी विधि-निषेध के आधीन नहीं है।

श्रीमन्महाप्रभु जी दीनभाव से कहते हैं कि—"श्रीभगवान् ने विभिन्न लोगों की विभिन्न रुचि के अनुसार अपने विभिन्न नामों को प्रकाशित किया है, उन्होंने अपने समस्त नामों में अपनी समस्त शक्ति भी अर्पण करदी है, इस पर भी नाम ग्रहण में देशकाल का कुछ बन्धन भी नहीं है, इससे अधिक श्रीभगवान् जीव के प्रति और क्या करुणा करते ? किन्तु इतना होने पर भी मेरे दुर्भाग्य हैं कि मेरा अनुराग उनके नाम में नहीं है।" वास्तव में श्रीमहाप्रभु जी ने इन वचनों से उन जीवों के दुर्भाग्य की बात कही है, जो श्री भगवान् की इतनी अपार करुणा का लाभ नहीं उठाते हैं। इतनी सुविधा होने पर भी जो व्यक्ति आत्म-उद्धार के लिए श्रीभगवन्नाम ग्रहण नहीं करते हैं, वास्तव में वे दुर्भाग हैं, उनके भाग्य फूट चुके हैं।

यहाँ अनुराग-शब्द से तात्पर्य भगवत् भजन करने की तीव्र उत्कण्ठा से है, न कि श्रीकृष्ण-रति की उन्नततम अवस्था—अनुराग से है। श्रीकृष्णरति या श्रीकृष्णप्रीति गाढ़ होते होते प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभावादि अवस्थाओं को प्राप्त करती है, (भूमिका पृष्ठ ८७ द्रष्टव्य।) श्रीकृष्णरति स्तर में जिस अनुराग का वर्णन है। वह अवस्था बहुत दूर की स्तर है। जीव को यथा-वस्थित शरीर से केवल प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। स्नेह-मानादि अवस्थाएें साधक देह में दुर्लभ हैं।

समस्त भगवन्नामों में समस्त शक्ति है, उन सब की समान महिमा है—यह बात इस श्लोक से एवं अन्यान्य अनेक शास्त्र प्रमाणों से सूचित होती है। किन्तु हम देखते हैं कहीं कहीं शास्त्रों में किसी किसी नाम की विशेषता भी वर्णन की गई है। श्री पद्मपुराण, उत्तरखण्ड वृहद् विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र (७२-३३५) में कहा गया है—

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्रनामभिस्तुल्यं रामनाम वरानने ।।क—ज्ञ।।

श्री महादेवजी पार्वतीजी से कहते हैं—"हे वरानने! एक श्री राम-नाम श्री विष्णु के सहस्र नामों के तुल्य हैं। अर्थात् श्री विष्णसहस्रनाम का एकबार पूरा पाठ करने से जो फल प्राप्त होता है, वही फल केवल एकबार श्रीरामनाम कहने से प्राप्त हो जाता है। इसलिए मैं सर्वदा-राम-राम-राम ऐसे मनोरम श्रीरामचन्द्रजी में रमण करता हूं, अर्थात् श्रीरामनाम का कीर्त्तन करके परमानन्द का अनुभव करता हूं ।।क—ज्ञ।।

इससे ज्ञात होता है श्री विष्णु के अन्यान्य एक सहस्र नाम कीर्त्तन करने का जो महात्म्य है। वही माहात्म्य श्रीराम-नाम को केवल एकबार कहने से ही प्राप्त होता है। फिर ब्रह्माण्डपुराण के वचन श्री लघुभागवतामृत (५-३५४) में इस प्रकार उद्धृत किए गये हैं—

सहस्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्या तु यत्फलम्।
एकावृत्त्या तु कृष्णस्य नामैकं तत् प्रयच्छति ।।क—च।।

अर्थात् श्रीभगवान् के अन्यान्य सहस्र नामों को तीनबार कीर्त्तन करने से जो फल प्राप्त होता है, (या तीनबार श्रीराम राम का कीर्त्तन करने से जो फल होता है) वह फल श्रीकृष्णनाम का केवल एकबार कीर्त्तन करने से ही प्राप्त हो जाता है ।।क—च।।

इससे यह सिद्ध होता है कि तीन सहस्र अन्यान्य भगवत्नाम बराबर हैं, तीन श्रीरामनाम के। तीन श्रीरामनाम बराबर हैं केवल एक श्रीकृष्णनाम के। शास्त्र प्रमाणों से यह भी जाना जाता है कि श्रीराम-नाम तारक-ब्रह्म है जिससे मुक्ति की प्राप्ति होती है और श्रीकृष्ण-नाम पारक-ब्रह्म है, जिससे प्रेम की प्राप्ति होती है। (चै० च० ३-३-२४४ पयार-टीका द्रष्टव्य)—इत्यादि इन शास्त्र वचनों से यह सिद्ध होता है कि समस्त भगवन्नामों की एक समान महिमा नहीं है। ऊपर पहले कह आए हैं कि समस्त नामों में समान शक्ति है—इन दोनों प्रकार के वचनों का क्या समाधान है?—इसका समाधान करते हुए श्रीहरिभक्ति विलास (११-२५७) में कहा गया है कि—

श्रीमन्नाम्नाञ्च सर्वेषां माहात्म्ये समेष्वपि:
कृष्णस्यैवावतारेषु विशेषः कोऽपि कस्यचित् ।।च—ख।।

समस्त भगवन्नामों की समान महिमा होते हुए भी भगवत्-स्वरूप समूह में श्रीकृष्ण के किसी किसी नाम का कोई कोई विशेषत्व है।।

इस श्लोक की टीका करते हुए श्रीपाद सनातन गोस्वामीजी ने लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीराम-नृसिंह-वामन आदि आदि असंख्य अवतार हैं। वे सब भगवान् हैं। भगवान् दृष्टि से श्री कृष्ण,श्रीराम, श्रीनृसिंहादि सब समान हैं। किन्तु भगवान् दृष्टि से समान होते हुए भी—"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्-इस श्रीभागवत प्रमाण से उन सब में श्रीकृष्ण का एक विशेषत्व है–वे स्वयं भगवान् हैं। अन्यान्य भगवत् स्वरूपों में और कोई स्वरूप स्वयं भगवान् नहीं है। इसी प्रकार श्रीराम-नृसिंहादि के नाम एवं श्रीकृष्ण का नाम–भगवन्नाम दृष्टि से समस्त नाम समान ही हैं। किन्तु इनमें श्रीकृष्णनाम का एक विशेषत्व है कि वह स्वयं भगवान् का नाम है। श्रीकृष्ण जैसे अनन्त भगवत् स्वरूपों में अखिल-रसामृत सिन्धु एवं अनन्त रस-वैचित्री के मूर्त रूप हैं एवं स्वयं भगवान् होने से उनमें जैसे सर्वशक्तियों का विकाश है, श्रीकृष्ण नाम भी उसी प्रकार अनन्तरस वैचित्री का मूर्त्तरूप है एवं सर्वशक्तियों का उसमें पूर्णतम विकाश है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् में जैसे अन्यान्य समस्त भगवत् स्वरूप अवस्थान करते हैं। श्रीकृष्ण नाम में उसी प्रकार अन्यान्य समस्त भगवत् स्वरूपों के नाम भी अवस्थान करते हैं। अर्थात् श्रीकृष्णनाम समस्त भगवत् स्वरूपों के नाम का फल प्रदान करने में समर्थ है। समस्त नामों का समान माहात्म्य होते हुए भी श्रीकृष्णनाम का यह एक विशेष माहात्म्य है।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही प्रेम-प्रदाता हैं, इसलिए उनका श्रीकृष्ण-नाम भी प्रेमदान करने में पूर्ण समर्थ हैं। श्रीकृष्णनाम की एक और विशेषता है। एक दृष्टान्त द्वारा इसका इस प्रकार स्पष्टी-करण भी किया जा सकता है। एक विद्यालय में अनेक अध्यापक होते हैं। उन्हीं अध्यापकों में से ही कोई एक अध्यापक अध्यक्ष होता है। अध्यापक होने की दृष्टि से वे सब अध्यापक समान हैं किन्तु अध्यक्षता की दृष्टि से उस अध्यक्ष अध्यापक का एक वैशिष्टय्य रहता है। इस प्रकार का विशेषत्व समानता के बीच में भी एक विशेषता रखता है। इसी प्रकार समस्त भगवन्नाम समान होते हुए भी उन समस्त में स्वयं भगवान् का नाम होने से श्रीकृष्णनाम का एवं श्री-कृष्ण सम्बन्धी—गोपाल, गोविन्द, यशुदानन्दन आदि नामों का एक विशेषत्व है। यही श्री हरिभक्ति विलास का एवं श्रीपाद सनातन गोस्वामी पाद का अभिप्राय है।

श्रीभगवन्नाम ग्रहण करने के सम्बन्ध में देशकाल का कुछ भी नियम न रहते हुए भी, श्रद्धा से अथवा अवज्ञा से नाम ग्रहण करने से नाम का साधारण फल प्राप्त होता है, किन्तु नाम का जो मुख्यफल प्रेम है, उस प्रेम की प्राप्ति के लिए नाम ग्रहण करते समय चित्त की एक अवस्था विशेष की प्रयोजनीयता है। किस भाव से नाम ग्रहण करने से श्रीकृष्ण प्रेम की प्राप्ति की जा सकती है–उस भाव के सम्बन्ध में अथवा उस चित्त की अवस्था के सम्बन्ध में श्रीमन्महाप्रभुजी ने एक श्लोक कहा है, जिसे नीचे उद्धृत करते हैं:—

तथाहि पद्यावल्याम् (३२)

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥ ५॥

तृण से भी अतिनीच होकर, वृक्ष की भांति सहिष्णु होकर, अपने लिए मान की कभी भी इच्छा न रखकर, एवं दूसरों को सदा मान देने वाला होकर ही सदा श्रीहरिनाम का कीर्त्तन करना चाहिए॥ ५॥ (शिक्षाष्टक का यह तीसरा श्लोक है। विशेष टीका भूमिका में पृष्ठ ८८ पर द्रष्टव्य है)

अगले पांच पयारों में कविराज इस श्लोक की व्याख्या करते हैं—

उत्तम हञा आपनाके माने 'तृणाधम'। दुइ प्रकारे सहिष्णुता करे वृक्षसम ॥१७॥
वृक्ष येन काटि लेह किछु ना बोलय। शुखाइया मैले कारे पानी ना मागय ॥१८॥
येइ ये मागये, तारे देय आपन धन। घर्म-वृष्टि सहे, आनेर करये रक्षण ॥१९॥
उत्तम हञा वैष्णव हवे निरभिमान। जीवे सन्मान दिवे जानि कृष्ण-अधिष्ठान ॥२०॥
एइमत हञा येइ कृष्णनाम लय। कृष्णेर चरणे तार प्रेम उपजय ॥२१॥

उत्तम होकर भी अपने को तृण से भी अधम जाने, वृक्ष की भाँति दो प्रकार की सहिष्णुता से युक्त हो। जैसे वृक्ष को काट लिया जाए, तो भी वह कुछ बोलता नहीं है। वृक्ष सूख कर मर जाता है किन्तु अपने लिए पानी नहीं माँगता है। वृक्ष से जो जिस वस्तु को चाहता है। वृक्ष उसे उसी अपने धन को दे देता है। वृक्ष धूप व वर्षा सहन कर दूसरे की रक्षा करता है। उत्तम होकर भी वैष्णव को निरभिमानी रहना चाहिये एवं समस्त जीवों को श्रीकृष्ण-अधिष्ठान जान कर सम्मान देना चाहिए। इस प्रकार चित्त की अवस्था युक्त होकर जो श्रीकृष्णनाम ग्रहण करता है, उसी के चित्त में ही श्रीकृष्ण-चरणों के प्रेम की उत्पत्ति होती है ॥१७-२१॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमन्महाप्रभु जी का अभिप्राय यह है कि जो श्रीकृष्णप्रेम की प्राप्ति चाहते हैं, उन्हें सदा चित्त की अवस्था इस प्रकार करनी होगी—धनवान्, जनवान् एवं कुलवान् होकर प्रतिष्ठा, विद्या, भक्ति-सम्पन्न होकर भी साधक को अपने को तृण से भी तुच्छ जानना चाहिये। अर्थात् साधक अपने को सर्व विषय में सर्वापेक्षा हीन एवं हेय समझे।" तृण भी किसी के काम आता है, किन्तु मेरे द्वारा किसी का उपकार नहीं होता है। भगवत्-सेवा भी कुछ मुझ से नहीं बन पड़ती है—इसलिये मैं तृण से भी हीन हूँ, अधम हूँ—इस प्रकार की भावना साधक को हृदय में पुष्ट करनी चाहिये।

हाँ—यह बात केवल मुंह से कहते रहने से काम नहीं चलेगा। जब तक साधक के चित्त में इस भाव की अनुभूति नहीं होती है। आचरण की कसौटी पर जब तक साधक का यह भाव पूरा नहीं उतरता है। तब तक 'तृणादपि-सुनीच'-भाव सिद्ध नहीं होता है।

साधक को वृक्ष की भांति सहिष्णु होना चाहिये। वृक्ष की सहिष्णुता दो प्रकार की है—एक तो वह अन्य व्यक्तियों के दिये हुए दुख को सहन करता है—कोई व्यक्ति उसको काट डाले, तो भी वृक्ष उससे कुछ नहीं कहता है। इस प्रकार जो नाम के फल कृष्णप्रेम को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें ऐसा सहिष्णु होना चाहिए। कोई यदि उनका कैसा भी अनिष्ट करे, यहाँ तक कि उनके प्राण विनाश करने की चेष्टा क्यों न करे, साधक को तब भी कुछ नहीं बोलना चाहिये। तो क्या मन-मन में उनको शाप देदे? या उनके अनिष्ट की चिन्ता मन-मन में करता रहे?—नहीं, किसी प्रकार भी साधक को विचलित नहीं होना है। अनिष्टकारी की भी मङ्गलकामना करना ही साधक का कर्तव्य है। हर प्रकार के दुख-सुख को अपने कर्मों का फल ही समझकर सहन करना चाहिये।

दूसरे, वृक्ष प्रकृति प्रदत्त दुख भी सहन करता है। वर्षा के अभाव के कारण वृक्ष आदि सूख जाता है, किन्तु किसी दूसरे से पानी नहीं माँगता है, स्थिरभाव से खड़ा खड़ा जलाभाव के कष्ट को सहन किया करता है—ऐसी सहिष्णुता वृक्ष में होती है। नाम के मुख्य फल कृष्णप्रेम की प्राप्ति के इच्छुक साधक को भी इसी प्रकार सहिष्णु होना चाहिए।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक--कैसा भी कोई दुःख क्यों न आकर पड़े, साधक का उसे अविचलित रहकर :प्रसन्न वदन से सहन करना चाहिये। दुःख–विपद को हटाने की आशा लेकर किसी से सहायता याचना नहीं करनी चाहिये। समस्त को अपने कृत कर्म का फल जानकर सहन करना ही साधक का कर्त्तव्य है। श्रीहरिदास जी की इस रूप की सहिष्णुता का ज्वलन्त दृष्टान्त मौजूद है। बाईस बाजारों में उनके सर्वाङ्गों पर बेतों के प्रहार किये गये, किन्तु वे किसी पर रुष्ट न हुए, किसी से सहायता न मांगी। मांगी तो एक बात—मारने वाले यवनों का मङ्गल। सब कुछ उन्होंने सहन किया एवं प्रसन्नचित्त से श्रीहरिनाम-सङ्कीर्त्तन करते रहे।

वृक्ष में एक और भी गुण रहता है कि वह अपनी हर वस्तु—पत्र, पुष्प, डाली, फल जो कुछ भी उसके पास है, दूसरे को दे देता है। अपने काटने वाले को भी दे देता है, उसे अपना शत्रु नहीं जानता है। नाम-साधक को भी इसी प्रकार वदान्य होने की आवश्यकता है। उसे शत्रु-ज्ञान रहित होना चहिए एवं परोपकार में अपनी शक्ति के अनुरूप दान करना चाहिये। स्वयं हर प्रकार के कष्ट को सहन कर, परोपकार करना ही साधक का कर्त्तव्य है।

नाम–साधक को कभी भी मान-प्रतिष्ठा का इच्छुक नहीं होना चाहिये। धन, मान, कुल, विद्या, बुद्धि, आचरण एवं भक्ति इन सब में श्रेष्ठ होने पर भी साधक को निरभिमानी रहना विधेय है। किन्तु उसे जीवमात्र के प्रति सम्मान देना चाहिए। इसलिये कि प्रति जीव में श्रीकृष्ण अधिष्ठित हैं। प्रति जीव में श्रीकृष्ण अन्तर्यामी परमात्मारूप से अवस्थान करते हैं। कुत्ता, गधा, बन्दर पशु–पक्षी किसी को भी अवज्ञा उस नाम-साधक भक्त को नहीं करनी चाहिए, जो नाम के मुख्यफल कृष्णप्रेम की प्राप्ति करना चाहता है।

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा है इस प्रकार तृण से भी सुनीच, वृक्ष की भाँति सहिष्णु, अमानी एवं मान देने वाला होकर सदा श्री हरिनाम सङ्कीर्त्तन करना चाहिए, तभी नाम के मुख्यफल कृष्णप्रेम की प्राप्ति हो सकती है।

इस प्रकार का एक भाव भी मायाबद्ध जीव के पक्ष में अत्यन्त दुर्लभ है, फिर चारों भावों की बात तो कहनी ही क्या है? इस प्रकार के भावों की प्राप्ति भी वास्तव में साधन–सापेक्ष है। इन भावों की प्राप्ति के लिये श्रीभगवान् के चरणों में एवं श्रीनाम से अति विनम्र प्रार्थना करनी होगी, मन-प्राण से श्रीनाम का आश्रय ग्रहण करना होगा, निरन्तर श्रीनाम को ग्रहण करना पड़ेगा, तब नाम की कृपा से ही इन भावों की उत्पत्ति चित्त में होगी एवं फिर इन भावों से युक्त होकर निरन्तर नाम-सङ्कीर्त्तन करने से श्रीकृष्णप्रेम उदय होगा, इससे पहले नहीं। इसलिए हर नामसङ्कीर्त्तन करने वाले साधक को नाम सङ्कीर्त्तन आरम्भ करने से पूर्व श्रीभगवान् से ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये कि "हे प्रभु! हे करुणामय! हे नाम धेय! आप ऐसी कृपा करो कि मुझ में तृणादपि सुनीच भाव, तरोरिव सहिष्णुता, निरभिमानता एवं दूसरे को मान देने की भावना उदित हो, जिस से मुझे आपके प्रेम की प्राप्ति हो सके।" किन्तु जो नामसंकीर्त्तन करते ही केवल धन-मान-प्रतिष्ठा उपार्जन के लिये हैं–उनकी तो लीला ही न्यारी हैं।

इस प्रकार के नामापराध से रहित होने का उपाय भी केवल नामसंकीर्त्तन ही है। नामापराध वैष्णवापराधरहित होकर एवं उक्त चारों प्रकार के भावों से युक्त होकर श्रीहरिनाम ग्रहण करने से कृष्ण प्रेम की प्राप्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं।

कहिते कहिते प्रभुर दैन्य बाढ़िला। शुद्धभक्ति कृष्ण-ठाञि मागिते लागिला ॥२२॥
प्रेमेर स्वभाव, याँहा प्रेमेर सम्बन्ध। से-इ माने, कृष्णे मोर नाहि प्रेमगन्ध ॥२३॥

तृणादपि-श्लोक के अर्थ कहते कहते श्रीमन्महाप्रभु जी में दैन्य भाव प्रबल हो उठा—"तब वे श्रीकृष्ण से शुद्धाभक्ति—श्रीकृष्णसुखैक तात्पर्यमयी भक्ति मांगने लगे। (श्री कविराज कहते हैं—प्रभु श्रीकृष्ण से शुद्ध भक्ति इसलिए नहीं माँग रहे हैं कि उनमें इसका अभाव था, किन्तु) प्रेम का यह स्वभाव या स्वरूपगत धर्म है कि जहाँ प्रेम का सम्बन्ध है, जिसे प्रेम प्राप्त है, वह यही कहता और मानता है कि उस में कृष्णप्रेम तो क्या, कृष्ण प्रेम की गन्ध भी नहीं है। (प्रेम का अभाव-ज्ञान उत्पादन कर देना प्रेम का स्वरूपगत धर्म है।) ॥२२—२३॥

तथाहि पद्यावल्याम् (६५)—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥६॥

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा —"हे जगदीश ! मैं आप से धन नहीं मांगता हूँ, जन नहीं मांगता हूँ, सुन्दरी पत्नी अथवा सालङ्कार कविता भी नहीं चाहता हूँ, मेरी एकमात्र प्रार्थना यह है कि आप ईश्वर में मेरी जन्म जन्म में अहैतुकी भक्ति बनी रहे ॥६॥ (यह शिक्षाष्टक का चतुर्थ श्लोक है। अगले पयारों में इसका अर्थ कहते हैं—)

धन जन नाहि मागों, कविता सुन्दरी। शुद्धभक्ति देह मोरे कृष्ण ! कृपा करि ॥२४॥
अति दैन्ये पुन मागे दास्यभक्तिदान। आपनाके करे संसार जीव अभिमान ॥२५॥

"हे कृष्ण ! मैं धन, जन एवं सुन्दरी पत्नी या सुन्दरी कविता आपसे नहीं माँगता हूँ। कृपा कर आप मुझे अपनी शुद्धभक्ति ही प्रदान कीजिए।" इतना कहकर प्रभु का दैन्यभाव और भी बढ़ गया, और वे अपने को एक संसारासक्त जीव मान कर श्रीकृष्ण से दास्य भक्ति का दान मांगने लगे॥२५॥

तथाहि पद्यावल्याम् (१७)

अयि नन्दतनुज किङ्करं पतितं मां विषमे भवम्बुधौ।
कृपया तव पाद पङ्कजस्थित धूलीसदृशं विचिन्तय ॥७॥

"अहो नन्दलाल ! विषम संसार-समुद्र में निपतित, अपने ही एक किङ्कर (दास) मुझ को कृपा करके अपने चरण कमलों की धूलि सदृश मान लीजिये ॥७॥ (यह शिक्षाष्टक का पांचवा श्लोक है। अगले दो पयारों में इसका अर्थ कहते हैं —)

तोमार नित्यदास मुञि तोमा पासरिया। पड़ि याछों भवार्णवे मायाबद्ध हञा ॥२६॥
कृपा करि कर मोरे पदधूलिसम। तोमार सेवक करों तोमार सेवन ॥२७॥
पुन अति उत्कण्ठा दैन्य हइला उद्गम। कृष्ण-ठांइ मागे सप्रेम नाम-संकीर्त्तन ॥२८॥

"हे कृष्ण ! मैं आपका नित्य-दास हूँ, किन्तु आपको भूलकर माया के बन्धन में बन्ध कर भव समुद्र में पड़ा हुआ हूँ । कृपा कर मुझे अपने चरणों की धूलि के सदृश कर लीजिए (पद धूलि जैसे पद को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाती है, तद्रूप मैं भी आपके चरणाश्रय को छोड़ कर अन्यत्र कभी न जाऊं ।) मैं आप का सेवक हूँ, आपके चरणों की सेवा करता रहूँ ।" (कृष्ण सेवा की प्रार्थना करते हुए ज्ञात होता है, प्रभु के मन में ऐसा आया कि प्रेमपूर्वक गद्गद् स्वर से नाम-सङ्कीर्त्तन किए विना तो श्रीकृष्ण-सेवा की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए फिर) वे अति उत्कण्ठा एवं दैन्य पूर्वक श्रीकृष्ण से सप्रेम-श्रीनामसङ्कीर्त्तन के सौभाग्य की प्रार्थना करने लगे, जो निम्नलिखित श्लोक में वर्णन करते हैं—

तथाहि पद्यावल्याम् (९४)

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गद्रुद्धया गिरा ।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नाम ग्रहणे भविष्यति ॥८॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"हे भगवन् ! ऐसा कब होगा—जब आपका नाम ग्रहण करते हुए विगलित अश्रुधारा में मेरे नेत्र परिव्याप्त होंगे, मेरा कण्ठ गद्गद् वाक्यों से रुद्ध हो जायेगा । मेरा समस्त देह पुलकित हो उठेगा ?" ॥८॥

(इस श्लोक में प्रभु ने श्रीकृष्णप्रेम एवं प्रेमपूर्वक श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन के सौभाग्य की प्रार्थना करते हुए जीव की प्रार्थनीय वस्तु का इङ्गित किया है । यह शिक्षाष्टक का छठा श्लोक है । इस श्लोक का भावार्थ अगले पयारों में कहते हैं--)

प्रेमधन विनु व्यर्थ दरिद्र जीवन । दास करि वेतन मोरे देह प्रेमधन ॥२९॥
रसान्तरावेशे हैल वियोग स्फुरण , उद्वेग-विषाद--दैन्ये करे प्रलपन ॥३०॥

"हे कृष्ण ! आपके प्रेमधन के बिना मेरा जीवन व्यर्थ है एवं कङ्गाल तुल्य है । आप मुझे अपना दास बना लीजिए एवं वेतन के रूप में मुझे अपना प्रेमधन ही प्रदान कर दीजिये ।" इतना कहकर प्रभु अन्यरस में अर्थात् मधुर रस में आविष्ट हो उठे एवं उन्हें श्रीकृष्ण का वियोग स्फुरण होने लगा । राधाभावावेश में उद्वेग, विषाद एवं दैन्यपूर्वक प्रलाप करने लगे ॥२९-३०॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीकृष्ण-सेवा से ही जीवन की सार्थकता है । किन्तु प्रेम के बिना श्रीकृष्ण सेवा की प्राप्ति असम्भव है, इसलिये जिसे प्रेम की प्राप्ति नहीं हुई, उसका जीवन व्यर्थ ही है । उसके जीवन की सार्थकता नहीं है । कारण कि वह श्रीकृष्ण सेवा से वञ्चित है । ऐसे व्यक्ति के समान और दरिद्र भी कोई नहीं है, जिस के पास प्रेम नहीं, कृष्ण-सेवा नहीं, उसके पास कुछ नहीं है, वह कङ्गाल है ।

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा है—"मुझे अपने सेवकरूप में स्वीकार कीजिए एवं वेतन के रूप में, हे भगवन् ! मुझे अपना प्रेम धन प्रदान कीजिए ।" साधारणतः जो किसी सेवा के बदले अपना वेतन चाहता है, प्रत्युपकार चाहता है, वहाँ स्वार्थसिद्धि हुआ करती है । किन्तु यहाँ वेतन चाहते हुए भी स्वार्थानुसन्धान नहीं है । कारण कि वेतन रूप में श्रीमहाप्रभुजो ने कृष्ण प्रेम की प्रार्थना की है । कृष्णप्रेम का तात्पर्य है—कृष्ण-सुख के लिये ही कृष्ण-सेवा । इसमें अपना सुखलाभ नहीं है ।

श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीकृष्ण से प्रेमधन की प्रार्थना की है। वस्तुतः श्रीकृष्ण ही एक मात्र प्रेम-प्रदाता हैं। प्रेम श्रीकृष्ण की ह्लादिनीशक्ति की वृत्ति विशेष है। इसलिए प्रेम श्रीकृष्ण की स्वरूप-शक्ति होने के कारण केवल मात्र श्रीकृष्ण में ही स्थित है। जीव में प्रेम अवस्थित नहीं है, जीव किसी को प्रेमदान नहीं कर सकता। अन्यान्य भगवत् स्वरूपों में भी प्रेम प्रदान करने की क्षमता नहीं है। उसका कारण भी है। श्रीकृष्ण को छोड़ कर अन्यान्य समस्त भगवत्स्वरूपों का धाम है—वैकुण्ठधाम या परव्योम। परव्योम ऐश्वर्यप्रधान धाम है। इस धाम में ऐश्वर्य की ही सर्वातिशायी प्रधानता है। इसलिए ऐश्वर्यज्ञान हीन एवं मदीयतामय विशुद्ध प्रेम परव्योम में रह ही नहीं सकता। अत; परव्योमस्थित कोई भी भगवत् स्वरूप, यहाँ तक कि परव्योमाधिपति श्रीनारायण भी प्रेम प्रदान नहीं कर सकते हैं। कारण इस प्रकार के प्रेम पर उनका अधिकार नहीं है। द्वारका मथुरा में भी ऐश्वर्य-मात्र है। वहाँ के परिकरों के प्रेम में ऐश्वर्य भाव मिश्रित है। अतः द्वारका-मथुरा में भी ऐश्वर्यज्ञान हीन विशुद्धप्रेम नहीं है। ऐश्वर्य ज्ञान हीन एवं ममत्वबुद्धिमयविशुद्ध प्रेम एक मात्र स्वयं भगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दन के धाम श्रीवृन्दावन में ही अवस्थान करता है। इसलिए श्रीवृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण ही विशुद्ध प्रेम प्रदान कर सकते हैं।

प्रकट लीला में साक्षाद् भाव से श्रीकृष्ण सब को प्रेम प्रदान करते हैं। श्रीगौरसुन्दर-रूप से उन्होंने साधन-भजन की अपेक्षा न करके समस्त जीवों को प्रेम प्रदान किया है एवं अपने पार्षदगणों द्वारा भी उस विशुद्ध प्रेम को वितरण कराया है। किन्तु लीला के अन्तर्धान के बाद साधारणतःवह प्रेम साधन-भजन की सहायता से ही प्राप्त होता है। प्रेम नित्य वस्तु है, साधन के फल से चित्त शुद्ध होता है, उसमें फिर प्रेम आविर्भूत होता है।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में कहा गया है कि कृष्णरति, जो आगे चलकर कृष्ण प्रेम में परिणत हो जाती है वह, पूर्वकाल में (वर्त्तमान अथवा पूर्वजन्म काल में) किए हुए सत्सङ्ग या महत्सङ्ग के फलस्वरूप साधकगणों में उदय हुआ करती है। उसका उदय दो प्रकार से होता है—एक तो, साधन-अभिनिवेश से, दूसरे, श्रीकृष्ण की कृपा से या किसी श्रीकृष्ण-भक्त की कृपा से। इन में साधन-अभिनिवेश से प्राय: समस्त साधक इस भक्ति को प्राप्त करते हैं, किन्तु कृष्ण कृपा-जात रति अति विरल है—किसी विरले भाग्यवान् को प्राप्त होती है। साधन-अभिनिवेश के बिना जो श्रीकृष्ण या श्रीकृष्ण भक्त की कृपा से जिस रति का उदय होता है–वह श्रीकृष्ण या श्रीकृष्णह भक्त का साक्षाद् भाव से अनुग्रह करना है। श्रीकृष्ण का साक्षाद् भाव से अनुग्रह करना साधारणतः प्रकट लीला में ही सम्भव हो सकता है। अप्रकट लीला में यह बात सर्वथा असम्भव हो, ऐसा भी नहीं है, कभी किसी भाग्यवान् को ऐसा सौभाग्य भी प्राप्त होता हैं। इसलिए ऐसी रति को 'विरलोदया' कहा जाता है। जिन का साधन में अभिनिवेश नहीं है, उनके चित्त की शुद्धि की सम्भावना भी नहीं है, इसलिये उनके पक्ष में प्रेम प्राप्त करने की सम्भावना भी नहीं है। तथापि श्रीकृष्ण की विशेष कृपा उद्बुद्ध होने पर अपनी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से उसके चित्त को शुद्ध करके श्रीकृष्ण उसे प्रेम दान कर सकते हैं। किन्तु इस प्रकार की जो कृष्ण-कृपा है, वह साधनाभिनिवेश की अपेक्षा न रखते हुए चित्त की शुद्धि करने के विषय में ही विशेष कृपा है, प्रेमदान विषय में विशेष कृपा नहीं है। कारण कि युक्ति-भुक्ति-वासना हीन विशुद्ध-चित्त वाले जीव को प्रेम-दान करने के लिए तो श्रीकृष्ण स्वयं ही व्याकुल रहते हैं—वे अपनी ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति विशेष को सदा सर्व दिशाओं में निक्षिप्त करते रहते हैं जिससे वह विशुद्ध चित्त भक्तों के हृदय में गृहीत होकर प्रेमरूप में विराजित हो सके।

बाकी रही कृष्णभक्त के अनुग्रह की बात—कृष्णभक्त के अनुग्रह से उत्पन्न होने वाली रति को भी 'विरलोदया' कहा जाता है। इसका कारण भी वही दीखता है, जो हमने ऊपर वर्णन किया है। प्रकट लीला में श्रीमन्महाप्रभु जी ने अपने पार्षद-भक्तों के द्वारा अनर्गल प्रेम-भक्ति को वितरण कराया था, उस प्रेम वितरण में साधन-भजन की कुछ भी अपेक्षा नहीं रखी गई थी। यही श्रीमहाप्रभु जी की प्रकट-लीला की विशेषता है। तब वह कृष्णरति विरलोदया नहीं थी। किन्तु श्रीमहाप्रभु जी की अन्तर्धान लीला के पीछे वह विरलोदया हो जाती है। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णभक्तों के अनुग्रह से साधनाभिनिवेश रहित व्यक्तियों को भी कृष्णरति प्राप्त हो जाती है। वह कैसे प्राप्त होती है ?—वह इस प्रकार कि कोई श्रीकृष्ण भक्त यदि किसी भाग्यवान् के ऊपर प्रसन्न होकर उसके लिये प्रेमप्राप्ति की कामना करे, तो भक्तवत्सल एवं भक्तवाञ्छा कल्पतरु श्रीकृष्ण अपने भक्त की कामना पूर्णकरने के लिए उस भाग्यवान् को प्रेम प्रदान कर देते हैं। कारण कि वे अपने भक्तों की कामना को कभी अपूर्ण नहीं रखते। भक्तों के चित्त का विनोदन करने के लिये तो उनकी समस्त लीलाएं ही हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण भक्तों की कृपा से साधन हीन व्यक्तियों को भी कृष्णरति की प्राप्ति हो जाती है।

यह बात भी स्मरणीय है कि श्रीकृष्ण कृपा से जिन भक्तों के चित्तमें प्रेम का आविर्भाव होता है, वे ऐसा कभी नहीं कहते या मानते कि उन्हें कृष्ण प्रेम की प्राप्ति हो गई है। वे अपने को सदा प्रेमरहित या प्रेम से वञ्चित कह कर ही कहते और मानते हैं—वे सदा यही कहते रहते हैं—"मेरे ऐसे भाग्य कहाँ ? कि मुझे कृष्णप्रेम मिले, प्रेम तो बहुत दूर, प्रेम की गन्ध भी मुझ में नहीं है। हाय हाय ! मुझ में तो श्रीकृष्ण का झूठा-प्रेम भी नहीं है।" इसलिए श्रीकृष्णभक्त जो प्रेम के अधिकारी है, वे किसी से यह नहीं कहते कि "मैं तुम्हें प्रेम दान करता हूँ या करूँगा।" किन्तु जिस भाग्यवान् व्यक्ति के प्रति वे प्रसन्न होते हैं, उसके प्रेम-प्राप्ति के अभिप्राय मात्र को वे प्रकाश करते हैं और उस प्रेमदान करने के लिए श्रीकृष्ण के चरणों में प्रार्थना जना सकते हैं। इस प्रकार की इच्छा करना या कृष्णचरणों में प्रार्थना करना ही कृष्ण भक्तों का किसी भाग्यवान् के प्रति अनुग्रह करना है। शुद्ध प्रेमिक भक्तों की इस प्रकार की इच्छा व प्रार्थना को भक्तवत्सल भगवान् पूर्ण करते हैं। इसलिए प्रेम के मूल प्रदाता श्रीकृष्ण ही हैं। भक्त की प्रार्थना से श्रीकृष्ण के चित्त में प्रेमदान की इच्छा जाग उठती है और वे उस भाग्यवान् जीव को प्रेमदान कर देते हैं।

श्रीकृष्ण-भक्तों के इस प्रकार अनुग्रह से उत्पन्न होनेवाली कृष्णरति को भी "विरलोदया" कहा जाता है। कारण कि शुद्ध प्रेमवान् श्रीकृष्ण-भक्त जगत् में अति दुर्लभ है—**"कोटि ज्ञानि मध्ये हय एकजन मुक्त। कोटि मुक्त मध्ये दुर्लभ एक कृष्णभक्त।"**

इस समस्त आलोचना का सारांश यह है कि प्रेम ह्लादिनी-शक्ति की वृत्ति विशेष है और ह्लादिनी श्रीकृष्ण की स्वरूप-शक्ति है। अत: प्रेम केवल मात्र श्रीकृष्ण की ही एकमात्र सम्पत्ति है। श्रीकृष्ण ही सबके मूलप्रेम-प्रदाता हैं। भक्तों के अनुग्रह के माध्यम से भी प्रेम के प्रदान करने वाले मूल श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकृष्ण के व्यतीत कोई भी प्रेम का स्वामी नहीं हो सकता और न कोई किसी को प्रेम प्रदान ही कर सकता है। इसी बात को जताने के लिए श्रीमन्महाप्रभु जो श्रीकृष्ण से ही उस प्रेमधन की याचना कर रहे हैं, जिस प्रेमधन को प्राप्त करके ही जीवका जीवत्व सार्थक हो सकता है।

प्रेमधन की प्रार्थना करते हुए हठात् श्री महाप्रभुजी का उद्घूर्णा भाव छूट गया और भक्तभाव अन्तर्हित होगया। वे फिर श्रीकृष्ण-विरह कातरा श्रीराधाजी के भाव में आविष्ट हो उठे इस विरह-भाव के स्फुरण होने से श्री महाप्रभुजी के चित्त में उद्वेग, विषाद, दैन्यादि भाव उदय हो उठे और वे निम्नलिखित श्लोक पढ़कर विलाप करने लगे ॥ ३० ॥

तथाहि पद्यावल्याम् (३२८)

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम् ।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्द विरहेण मे ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णविरह कातरा श्रीराधाजी के भाव में आविष्ट होकर श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"श्री गोविन्द के विरह में मेरे लिए एक निमेषकाल (पलक लगने तक का काल) एक युग के बराबर हो गया है। मेरे नेत्रों से निरन्तर अश्रुधारा की वर्षा हो रही है। मुझे समस्त जगत् शून्य ही दीखता है ॥ ६ ॥ (शिक्षाष्टक का यह सप्तम श्लोक है। अगले पयारों में इसका अर्थ कहते हैं)--

उद्वेगे दिवस ना याय, क्षण हैल युगसम। वर्षार मेघप्राय अश्रु वरिषे नयन ॥ ३१ ॥
गोविन्द विरहे शून्य हैल त्रिभुवन। तुषानले पोड़े येन ना याय जीवन ॥ ३२ ॥
कृष्ण उदासीन हैल करिते परीक्षण। सखी सब कहे-कृष्ण करे उपेक्षण ॥ ३३ ॥
एतेक चिन्तिते राधार निर्मल हृदय। स्वाभाविक प्रेमार स्वभाव करिल उदय ॥ ३४ ॥
ईर्ष्या उत्कण्ठा दैन्य प्रौढ़ि विनय। एत भाव एकठाञि करिल उदय ॥ ३५ ॥
एत भावे राधार मन अस्थिर हइल। सखीगण-आगे प्रौढ़ि-श्लोक ये पढ़िल ॥ ३६ ॥
सेइ भावे प्रभु सेइ श्लोक उच्चारिल। श्लोक उच्चारिते तद्रूप आपने हइल ॥ ३७ ॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने श्रीराधा भावावेश में कहा--"सखि! कृष्ण-विरह में प्राणों की अस्थिरता में मेरा दिन नहीं कटता है, एक क्षण भी मुझे युग के समान होकर बीत रहा है। मेरे नेत्र सावन के मेघ की भांति निरन्तर अश्रुओं की धारा वर्षा कर रहे हैं। हाय! सखि! श्रीगोविन्द के देखे बिना समस्त त्रिभुवन मुझे सूना ही दीखता है। तुषानल में मैं जल रही हूं, किन्तु मेरे प्राण नहीं जाते हैं। (तुषानल अर्थात् घास-फूस की अग्नि में जैसे ऊपर तो राख राख दीखती है, किन्तु भीतर भीतर तीव्र ज्वाला एवं ताप रहता है, उसमें कोई वस्तु दबा दी जाय तो वह भस्मीभूत हो जाती है। उसी प्रकार कृष्ण-विरह रूपी तुषानल भीतर भीतर मेरे हृदय, इन्द्रिय-मन को भस्मीभूत किए दे जारही है। किन्तु सखि! तथापि मेरे प्राण नहीं जाते हैं कि जिससे मैं इस असह्य ताप ज्वाला से छूट जाऊँ।") श्री कविराज कहते हैं--एक समय श्रीकृष्ण श्रीराधाजी के प्रेम की परीक्षा करने के लिए उदासीन होकर विचार करने लगे। (श्रीराधाजी के निकट भी न जाते एवं श्रीराधाजी की विरह कथा को सुनना भी उन्हें अच्छा न लगता, ऐसा भाव वे दिखाने लगे।) यह सब देखकर सखियों ने श्रीराधाजी से कहा-"स्वामिनि!

आप भी श्रीकृष्ण की उपेक्षा कर दीजिए। (जैसे वे आप के प्रति उदासीन हो रहे हैं। आप भी उनके प्रति उदासीनता का प्रदर्शन करो। उनके निमित्त अपनी विरह-कातरता मत दिखाओ। उनके पास किसी दूती को मत भेजो। जब आप ऐसा करोगी, तभी श्रीकृष्ण अपने आप आपकी ओर खिंचे चले आवेंगे। वे आप के बिना फिर न रह सकेंगे।") सखियों के इस प्रकार वचन सुन कर श्रीप्रियाजी चिंतित हो उठीं। श्रीराधाजी का हृदय तो अति निर्मल है—उसमें श्रीकृष्ण-प्रेम के बिना और कुछ है ही नहीं। श्रीकृष्ण के प्रति उनका जो स्वभाव-सिद्ध या नित्यसिद्ध प्रेम है, वह अपने स्वभाव को अर्थात् स्वरूपगत-धर्म को उदित करने लगा। उस प्रेम के प्रभाव से उनमें ईर्ष्या, उत्कण्ठा, दैन्य, प्रौढ़ि-विनय (प्रगल्भतामय-विनय) ये समस्त भाव एकसाथ ही उदय हो उठे। इन भावों में श्रीराधाजी का मन अस्थिर हो उठा था। तब वह सखियों के आगे प्रौढ़ी-श्लोक (जिसमें निःसङ्कोच से मन की समस्त कथा कही जाए— ऐसा श्लोक) पढ़ने लगी थीं। श्रीमहाप्रभुजी भी उसी श्लोक का उच्चारण करने लगे एवं श्लोक उच्चारण करते ही श्रीराधाजी के उसी भाव में वे तन्मय होगए। वह श्लोक इस प्रकार है–॥ ३१-३७ ॥

तथाहि पद्यावल्याम् (३४१)–

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा व विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥ १० ॥

श्रीराधा भावाविष्ट श्री महाप्रभुजी ने कहा—"हे सखि! श्रीकृष्ण अपनी पददासी–मुझ को आलिङ्गन द्वारा अपने वक्षस्थल से लगाकर आत्मसात् ही करलें, अथवा दर्शन न देकर मुझे मर्माहत (मृत्युतुल्य पीड़ा प्रदान) ही करें, अथवा वह लम्पट (बहुवल्लभ) जहां तहां विहार ही करते फिरें, (वह कुछ भी क्यों न करें।) वह मेरे प्राणनाथ ही हैं, और कोई दूसरे नहीं हैं॥ १० ॥ (श्रीमहाप्रभु-रचित शिक्षाष्टक का यह आठवां श्लोक है। इसका विस्तृत अर्थ नीचे उल्लेख करते हैं)—

एह श्लोकेर हय अति अर्थेर विस्तार।
संक्षेपे करिये, तार नाहि पाइ पार॥ ३८ ॥

श्री कविराज गोस्वामी कहते हैं–इस श्लोक का अर्थ अति विस्तार युक्त है, मैं इसका संक्षेप से वर्णन करता हूं, कारण कि इसके विस्तृत अर्थ का कोई पार नहीं पा सकता है॥ ३८ ॥

यथाराग:—

आमि कृष्ण–पददासी, तेंहो रससुखराशि, आलिङ्गिया करे आत्मसाथ।
किवा ना देन दरशन, जारेन आमार तनुमन, तभु तेहों मोर प्राणनाथ॥ ३९ ॥

"हे सखि! मैं श्रीकृष्ण के चरणों की दासी हूं। श्रीकृष्ण रस-स्वरूप तथा सुख-स्वरूप हैं। वे मुझे आलिङ्गन करके मुझे आत्मसात् अर्थात् अङ्गीकार करलें, अथवा मुझे दर्शन न देकर मेरे तन-मन को विरहाग्नि में जला दें। तथापि वे श्रीकृष्ण मेरे प्राणनाथ ही हैं। (जैसे तुमने कहा है, मैं उनकी उपेक्षा नहीं कर सकती हूं। उनके प्रति उदासीनता प्रकाश नहीं कर सकती हूं। मैं तो उनकी चरण दासी हूं न। उनका सुख ही एकमात्र विधान करना मेरा कर्त्तव्य है। मैं अपना सुख नहीं चाहती हूं। वे मेरे प्राणवल्लभ हैं, जो उनकी इच्छा हो वही वे करें।") ॥ ३९ ॥

सखि हे ! शुन मोर मनेर निश्चय ।
किवा अनुराग करे, किवा दुख दिया मारे, मोर प्राणेश कृष्ण अन्य नय ।। ध्रु० ।।४०।।
छाड़ि अन्य नारीगण, मोर वश तनु-मन, मोर सौभाग्य प्रकट करिया ।
ता सभारे देन पीड़ा, आमासने करे क्रीड़ा, सेइ नारीगणे देखाइया ।। ४१ ।।
किवा तेंहो लम्पट, शठ धृष्ट सकपट, अन्य नारी गण करि साथ ।
मोरे दिते मनः पीड़ा, मोर आगे करे क्रीड़ा, तभु तेंहो मोर प्राणनाथ ।। ४२ ।।

राय रामानन्दजी को अपनी सखी जानकर राधा-भावाविष्ट प्रभु आगे कहने लगे–"हे सखि ! मेरे मन की निश्चित धारणा सुन,–श्रीकृष्ण मेरे प्रति अनुराग करें अथवा मुझे अदर्शन-रूप प्राणान्तक दुख ही दें, श्रीकृष्ण मेरे प्राणपति ही हैं, वे कोई पराये नहीं हैं । (हर अवस्था में ही वे मेरे प्राणवल्लभ ही हैं ।) देख, यदि वे अन्यान्य प्रेयसीगणों को छोड़कर अपना तन-मन मुझे समर्पण करदें, सम्यक् रूप से मेरे वशीभूत हो जाएं और इस प्रकार का सौभाग्य वे सब के सामने प्रगट भी करदें, तथा उन अन्यान्य प्रेयसीगणों को दुख देते हुए मेरे साथ क्रीड़ा-विलास करें, और फिर उन सब को दिखा दिखा कर मुझे इस प्रकार अङ्गीकार करें, तो भी श्रीकृष्ण मेरे प्राणनाथ हैं और (यदि अनेक रमणियों से सम्भोग करने वाले) लम्पट श्रीकृष्ण शठ, धृष्ट एवं कपटी होकर अन्यान्य प्रेयसियों को साथ लेकर, मुझे दुःख देने के लिए मेरे सामने ही उनके साथ क्रीड़ा करें, तो भी वे मेरे प्राणनाथ हैं, कोई अन्य नहीं हैं ।।" ४०-४२ ।।

चै० च० चु० टीका—श्री उज्ज्वलनीलमणि में कहा गया है कि जो सामने तो प्रिय वाक्य कहने वाला हो किन्तु पीठ पीछे बुराई करने वाला हो एवं निगूढ़ अपराध करने वाला हो, वह 'शठ' है ।

और जिस के शरीर पर अन्य युवति के भोगचिन्ह स्पष्ट भाव से दीख रहे हों, किन्तु फिर भी जो नायक अपनी प्रेयसी के सामने निर्भयता के साथ मिथ्या वचन कहकर अपनी चतुराई से अपने दोष धोना चाहता है, उसे 'धृष्ट' कहते हैं ।

उपर्युक्त त्रिपदियों में श्रीकृष्ण श्रीराधाजी के प्रति कैसे तो अनुराग विधान करते हैं और कैसे प्राणान्तक दुख विधान करते हैं—इनके उदाहरण दिये गये हैं । किन्तु श्रीराधाजी के नित्यसिद्ध प्रेम अथवा ध्वंस रहित प्रेम-स्वाभाविक-प्रेम का उदाहरण यह दिया गया है कि वह इन दोनों अवस्थाओं में श्रीकृष्ण के प्रति समान भाव से ही प्रीति विधान करती हैं—उन्हें अपना प्राणवल्लभ ही मानती हैं । श्रीकृष्ण जब उन्हें दुःख ही देते हैं, तब वह उन्हें क्यों प्राणवल्लभ कहती हैं- इसका कारण अगली त्रिपदी में दिखाकर फिर श्रीराधाजी का कृष्ण-सखैक-तात्पर्य प्रेम प्रदर्शित कराते हैं—

ना गणि आपन दुख, सबे वाञ्छि तांर सुख, तांर सुखे आमार तात्पर्य्य ।
मोरे यदि दिले दुख, तारं हैल महासुख, सेइ दुख मोर सुखवर्य्य ।।४३।।
ये नारीके वाञ्छे कृष्ण, तार रूपे सतृष्ण, तारे ना पाञा काहे हय दुखी ?
मुञि तार पाय पड़ि, लञा याङ हाथे धरि, क्रीड़ा कराञा करों तांरे सुखी ।।४४।।

सखि ! मैं अपने सुख-दुःख को कुछ भी नहीं गिनती हूँ, केवल मात्र मैं उनका ही सुख चाहती हूँ। उनका सुख विधान करना ही मेरा एकमात्र उद्देश्य है। मुझे यदि दुःख देकर उन्हें महान् सुख मिलता हो, तो वह दुख ही मेरे लिए परम सुख—श्रेष्ठ सुख है। (सखि ! मैं तो यहाँ तक करदूं-कि) श्रीकृष्ण जिस रमणी की इच्छा करें, जिस नारी के रूप-लावण्य के लिए लालसान्वित हों—वे उसे प्राप्त ना करके दुःखी क्यों रहें ? मैं स्वयं ही जाकर उस रमणी के पांव पकड़ लूंगी और उसका हाथ पकड़ कर ले आऊंगी तथा श्रीकृष्ण के साथ उसका क्रीड़ा कराऊंगी। इस प्रकार अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण को सुखी करूंगी। ॥४३—४४॥"

चै० च० चु० टीकाः— श्रीकृष्ण को सुखी करने के लिए ब्रज गोपियों की कितनी व्याकुलता है-यह उपर्युक्त त्रिपदी में प्रदर्शित की गई है। यहाँ बाह्यिक सम्भोगादि की प्रधानता नहीं है, प्रधानता दिखाई गई है—श्रीकृष्ण को सुखी करने के निमित्त व्रज गोपियों की व्याकुलता की।

प्रश्न हो सकता है—श्रीकृष्ण सुख के लिए श्रीकृष्ण की अभिप्रेत रमणी के पांव पकड़ कर श्रीकृष्ण के साथ सङ्गम कराने में श्रीराधाजी यदि तैयार हो जाती हैं एवं इस प्रकार अपने को कृतार्थ मान सकती हैं, तो जब श्रीकृष्ण अन्य किसी गोपी की कुञ्ज में जाते थे, तब श्रीराधाजी मान क्यों करती थीं ? श्रीकृष्ण को ताड़न-भर्त्सन ही क्यों करने लगती थीं ?—इसका उत्तर श्रीराधाभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु अगली त्रिपदी में कहते हैं—

कान्ता कृष्णे करे रोष, कृष्ण पाय सन्तोष, सुख पाय ताड़न भर्त्सने।
यथायोग करे मान, कृष्ण ताते सुखपान. छाड़े मान अलप साधने ॥४५॥
सेइ नारी जीये केने, कृष्ण मर्मव्यथा जाने. तभु कृष्णे करे गाढ़ रोष।
निज सुखे माने काज, पड़ू तार शिरे बाज, कृष्णेर मात्र चाहिये सन्तोष ॥४६॥

"सखि ! (तुम कह सकती हो कि जब तुम श्रीकृष्ण के सुख के लिए इतना कर सकती हो, तब श्रीकृष्ण को अन्य गोपी की कुञ्ज में जाता देखकर तुम रोष-मान क्यों करने लग जाती हो ? उनका तिरस्कार ही क्यों करने लगती हो ? सखि ! ऐसा मैं क्यों करती हूँ-उसे तुम सुनो-यह तो तुम जानती ही हो कि-) रसिक-शेखर श्रीकृष्ण पर यदि कोई प्रेयसी रोष करती है, तो वे बहुत सन्तुष्ट होते हैं। उसके ताड़न-तिरस्कार को पाकर वे अति सुखी होते हैं। श्रीकृष्ण-कान्ता यथा योग्य ही मान करती हैं-अर्थात् उतना ही मान करती हैं, जितने में श्रीकृष्ण सुख अनुभव करते हैं। जब भी कृष्ण मान मनाने का थोड़ा सा भी साधन करते हैं- थोड़ी सी ही अनुनय विनय करते हैं, तब वह अपने मान को झट छोड़ देती हैं और सखि ! जो नारी श्रीकृष्ण की मर्मव्यथा को जानती है-श्रीकृष्ण को गाढ़ मान या रोष करने से कष्ट होता है-इस बात को जानती है, फिर भी यदि वह श्रीकृष्ण के प्रति गाढ़ रोष करती है तो वह फिर जीवन ही क्यों धारण करती है ? उसका मरजाना ही अच्छा है। जो अपने सुख को ही अपना उद्देश्य मानती है, उसके माथे पर तो वज्र ही गिर जाना चाहिए। कान्ता को तो एकमात्र श्रीकृष्ण का सुख ही विधान करना चाहिए॥ ४५-४६॥

चै० च० चु० टीका·· उपर्युक्त त्रिपदी में जो रोष-शब्द आया है, उसका अर्थ साधारण रोष या क्रोध नहीं है। उसका तात्पर्य यहाँ 'प्रणय-रोष से है। साधारण रोष और प्रणय-रोष में पार्थक्य

यह है कि अपने सुख भोग में कोई विघ्न आने से विघ्न करने वाले पर 'रोष' या क्रोध उत्पन्न होता है। किन्तु अपना प्रिय व्यक्ति यदि कोई ऐसा कार्य करे कि जिससे उसी का कोई अनिष्ट हो, या उसे कोई दुःख होने की आशङ्का हो, तो उस पर 'प्रणय-रोष' या स्नेह मूलक रोष हुआ करता है। 'रोष' के मूल में आत्मसुखानुसन्धान रहता है किन्तु 'प्रणय-रोष' के मूल में रहता है—प्रिय-सुखानुसन्धान।

श्रीकृष्ण भी कान्ता के प्रणय-रोष को देख कर अत्यन्त सन्तुष्ट होते हैं। जिनके बीच अत्यन्त स्नेह व प्रणय का बन्धन रहता है। ऐसे नितान्त अपने प्रेमी के बिना और कोई प्रणय-रोष नहीं दिखा सकता। मदीयतामय भाव की अभिव्यक्ति विशेष का नाम ही 'प्रणय-रोष' है। तभी वह आस्वाद्य या सन्तोषजनक होता है। जिस कार्य में श्रीकृष्ण के दुःख की आशंका हो, ऐसा कोई कार्य यदि श्रीकृष्ण करते हैं, तब श्रीराधाजी मानवती होकर श्रीकृष्ण के ऊपर प्रणय-रोष प्रकाश करती हैं। श्रीकृष्ण अन्य गोपी की कुञ्ज में जाते हैं-यह जानकर श्रीराधा जी मानवती हो जाती हैं एवं श्रीकृष्ण के प्रति प्रणय-रोष प्रकाश करती हैं—इसका कारण यही है कि अन्य गोपी श्रीकृष्ण के मर्म को जानकर उन्हें सुख दे सकेगी कि न? उसके व्यवहार-आचरण से श्रीकृष्ण को कुछ दुःख न मिले—इस आशंका में श्रीराधा जी उन पर प्रणय-रोष प्रकट करती हैं। इस रोष की उत्पत्ति श्रीकृष्ण सुख-वासना से ही है। इसलिए इसे कृष्णसुख का पोषक कहा गया है।

श्रीराधाजी केवल श्रीकृष्ण का सुख ही चाहती हैं, इसे और भी विशेष करके अगली त्रिपदी में वर्णन करते हैं—

ये गोपी गोर करे द्वेषे। कृष्णेर करे सन्तोषे, कृष्ण यारे करे अभिलाष।
मुञि तार घरे याञा, तारे सेवों दासी हञा, तबे मोर सुखेर उल्लास॥४७॥
कुष्ठिविप्रेर रमणी, पतिव्रता शिरोमणि, पति लागि कैल वेश्यार सेवा।
स्तम्भिल सूर्येर गति, जीयाइल मृत पति, तुष्ट कैले मुख्य तिन देवा॥४८॥

"हे सखि! यदि कोई गोपी मेरे प्रति तो द्वेष की दृष्टि रखती है, किन्तु वह श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट करने वाली है और श्रीकृष्ण भी यदि उसके सङ्ग की अभिलाषा करते हैं, तो मैं उस (अपनी विद्वेषणी) के घर जाकर भी उसकी दासी बन कर उसकी सेवा करूंगी, तभी मुझे पूर्ण सुख मिलेगा।" (इस बात को एक कुष्ठि-विप्र की रमणी के दृष्टान्त द्वारा प्रतिपन्न करते हैं।) एक कुष्ठ-ग्रस्त विप्र की रमणी जो पतिव्रताओं में शिरोमणि थी, उसने अपने पति के लिए एक वैश्या की सेवा की थी। पति की सेवा के फल स्वरूप उसने सूर्य की गति को भी रोक लिया था एवं अपने मृतक पति को भी जीवित कर लिया था। उसने ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश—इन तीनों मुख्य देवताओं को प्रसन्न कर लिया था॥४७—४८॥

चौ० च० चु० *टीका*—कुष्ठि-विप्र का उपाख्यान पुराण में इस प्रकार है—एक अति दरिद्री ब्राह्मण था, उसके समस्त शरीर में गलित कुष्ठ हो गया था। उसकी जो पत्नी थी, वह अत्यन्त साध्वी थी, पतिगत-प्राणा थी। पति का सुख विधान करना ही उसके जीवन का एक मात्र व्रत था। किन्तु फिर भी उस ब्राह्मण का मन सम्पूर्णरूप से उसके वशीभूत न था। एक सुन्दरी वैश्या के रूप को देखकर वह ब्राह्मण मुग्ध होगया। किन्तु एक तो वह नितान्त दरिद्र था, उस पर फिर वह घृणित रोग में ग्रस्त था। इसलिए अपनी मनोकामना की सिद्धि किसी प्रकार भी न देखकर वह ब्राह्मण मन में बहुत दुखी रहने

लगा। वह चाहता था, एक बार नेत्र भरकर उस वैश्या का रूप देखले, जिससे उस के प्राण बच सकें, किन्तु यह भी तो उसके लिए सम्भव न था, कारण कि वह चल फिर ही नहीं सकता था। जीते-जी वह मृतक के समान था। उसकी पत्नि ने जब उस के अत्यन्त दुख के कारण को जाना, तब उसने पति के दुःख निवृत्ति का संकल्प कर लिया। धन सम्पत्ति पास में न थी कि जिससे वह वैश्या को अपने वशीभूत करती। पति के सुख को ही अपना सुख मानने वाली उस साध्वी ने व्यक्तिगत न्याय-अन्याय को भुला दिया और जाकर उस वैश्या की दासी बन कर उसकी सेवा करने लगी। अपनी सेवा से उसने वेश्या को सन्तुष्ट कर लिया और एक दिन अपने मन की बात उसे कह सुनाई। वैश्या ने उसे उसके पति को मिलने की स्वीकृति देदी, किन्तु वह उसके अपने निवासस्थान पर ही। वैश्या उस ब्राह्मण के घर पर जाने को तैयार न हुई। ब्राह्मण-पत्नि उल्लास में भरकर अपने स्वामी को वैश्या के ही पास ले जाने के लिये घर आई। ब्राह्मण में चलने की शक्ति तो थी नहीं, इसलिये रात के समय वह अपने पति को अपने कन्धे पर बैठाकर वैश्या के घर चल पड़ी। रास्ते में मार्कण्ड-मुनि कांटों के आसन पर बैठे तपस्या कर रहे थे एवं उनकी समाधि लग रही थी। दैवयोग से अन्धेरे में उस ब्राह्मण का पांव मुनि को जा लगा और उनकी समाधि भङ्ग होगई। मुनि ने क्रोध में भरकर शाप दिया कि "प्रभात होते ही इस ब्राह्मण की मृत्यु हो जाये।" शाप को सुनकर पतिव्रता विप्रपत्नि को बहुत दुख हुआ। किन्तु उसे अपने विधवा होजाने का कुछ दुख या विचार न आया, उसे दुख हुआ यह सोच कर कि उसके पतिदेव अतृप्तवासना लेकर मृत्यु को प्राप्त हो जाएंगे ? वह अपनी वैश्या से मिलने की वासना पूर्ण होने से पहले ही मर जाएंगे—इस दुख से वह बहुत दुखी हो उठी। तब वह अपने पति को सहसा मृत्यु से बचाने के उपाय को सोचकर कहने लगी कि "मैं यदि पतिव्रता हूँ तो आज प्रभात होगी ही नहीं।" पतिव्रता के वचन कभी असत्य एवं वृथा नहीं होते। हुआ यह कि सूर्य की गति स्तम्भित होगई, प्रभात हुआ ही नहीं। सूर्योदय न होने से समस्त जगत् में उथल-पुथल मच गई। तब ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश तीनों देवता घटना स्थल पर पहुँचे। उन्होंने आकर विप्रपत्नि को समझाया बुझाया कि वह सूर्योदय की सम्मति देदे। सूर्योदय होने से मुनि के शाप से उसके पति की मृत्यु तो हो जावेगी किन्तु वे अपनी शक्ति से उसके पति को पुनः जीवित कर देंगे। उनकी बात सुनकर एवं आश्वस्त होकर विप्रपत्नि ने सूर्योदय की सम्मति दे दी। प्रभात हो आया और उसका पति मृत्यु को प्राप्त होगया, किन्तु ब्रह्मा-विष्णु-महेश की कृपा से वह पुनः जीवित हो उठा। किन्तु अब उसका शरीर कुष्ठ-रोग ग्रस्त न था, सुन्दर निरोग शरीर था और उन देवताओं की कृपा से अथवा उनके दर्शन-प्रभाव से उसकी वैश्यासक्ति भी दूर हो गई।

सारांश यह है कि उस विप्रपत्नि की पतिसुखैकतात्पर्यमयी सेवा इतनी प्रबल थी कि वह अपने पति के उद्देश्य की पूर्ति के लिये स्वयं उसे वेश्या के पास लेजाने के लिए तैयार होगई। पत्नि वही धन्या है जो अपने पति के सुख का ही एकमात्र विधान करती है। जो अपने सुख के लिये ही सचेष्ट है, उस पत्नि का जीवन वृथा है। इसी बात को श्रीराधाभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु जी और भी स्पष्टरूप से अगली त्रिपदी में वर्णन करते हैं—

कृष्ण मोर जीवन, कृष्ण मोर प्राणधन, कृष्ण मोर प्राणेर पराण।

हृदय उपरे धरीं, सेवा करि सुखि करों, एइ मोर सदा रहे ध्यान ॥४॥

मोर सुख सेवने, कृष्णेर सुख सङ्गमे, अतएव देह देङ दान।
कृष्ण मोर 'कान्ता' करि, कहे 'तुमि प्राणेश्वरी', मोर हय 'दासी' अभिमान॥५०॥

"हे सखि ! श्रीकृष्ण ही मेरे जीवन हैं, श्रीकृष्ण ही मेरे प्राण-धन हैं, श्रीकृष्ण ही मेरे प्राणों के प्राण हैं। सखि ! अपने प्राणधन श्रीकृष्ण को हृदय पर धारण कर, उन की सेवा करके उन्हें मैं किसी प्रकार सुखी कर सकूं—यहा एक मात्र मेरी कामना है। इस बात का ही मुझे दिनरात ध्यान रहता है। मेरा सुख तो श्रीकृष्ण-सेवा में है और श्रीकृष्ण का सुख मेरे साथ सङ्गम में है। अतः मैं अपने शरीर को उनके चरणों में अर्पण कर देती हूँ। श्रीकृष्ण मुझे कान्तारूप में अङ्गीकार करके मुझे कहते हैं—"तुम मेरी प्राणेश्वरी हो।" वे मुझे 'प्रणेश्वरी' कहते हैं किन्तु मेरा उनके चरणों में दासी-अभिमान है—मैं अपने को उनकी चरण-दासी ही मानती हूँ" ॥४६-५०॥

कान्त सेवा सुखपूर, सङ्गम हैते सुमधुर, ताते साक्षी लक्ष्मी ठाकुराणी।
नारायणेर हृदेय स्थिति, तभु पादसेवाय मति, सेवा करे दासी अभिमानी॥५१॥
एइ राधार बचन, विशुद्ध प्रेम-लक्षण, आस्वादये श्रीगौरराय।
भावे मन अस्थिर, सात्विके व्यापे शरीर, मन-देह धरण न याय॥५२॥
व्रजेर बिशुद्ध प्रेम, येन जाम्बुनद हेम, आत्मसुखेर याहे नाहि गन्ध।
से प्रेम जानाइते लोके, प्रभु कैल एइ श्लोके, पदे कैल अर्थेर निबन्ध॥५३॥

"सखि ! कान्त की पाद-सम्वाहनादि सेवा ही सुख का समुद्र है, उसमें पूर्ण सुख है। सङ्गम-सुख से भी वह अति सुमधुर है—बढ़ कर है, इस बात की साक्षी श्रीलक्ष्मी ठाकुराणी है। वह सदा श्री नारायण के हृदय पर अवस्थान करती हैं (श्रीनारायण श्रीलक्ष्मी से इतनी प्रीति करते हैं कि उसे सदैव अपने वक्षस्थल पर धारण करते हैं,) किन्तु श्रीलक्ष्मी जी की मति-रति सदा श्रीनारायण की चरण-सेवा में ही रहती है। वह वक्षस्थल को त्याग कर उनकी दासी बनकर उनके चरणों को सम्वाहन करती रहती हैं।" इस प्रकार श्रीगौरप्रभु विशुद्ध-प्रेम लक्षणयुक्त श्रीराधा जी के वचनों का रस आस्वादन कर रहे थे। श्रीराधा-भाव में उनका मन अस्थिर हो रहा था। उनके शरीर पर सात्त्विक-विकार व्याप्त हो रहे थे, उनको अपने तन-मनकी सम्भाल न थी। श्रीकविराज गोस्वामी कहते हैं—व्रज का प्रेम अति विशुद्ध स्वर्ण की भाँति निर्मल है, जिसमें आत्म-सुख की गन्ध-मात्र भी नहीं है। उस विशुद्ध व्रज प्रेमका परिचय जगत् को देने के लिए श्रीमन्महाप्रभु जी ने "आश्लिष्य वा पादरतां"—इस श्लोक की रचना की है एवं "आमि कृष्णपद-दासी" —इस त्रिपदी में इस श्लोक के अर्थों की व्याख्या की है॥५१-५३॥

एइमत प्रभु तत्तद्भावाविष्ट हञा। प्रसाप करिल तत्तत् श्लोक पढ़िया॥५४॥
पूर्वे अष्ट श्लोक करि लोके शिक्षा दिल। सेइ अष्ट श्लोकेर धर्थ आपने आस्वादिल॥५५॥
प्रभुर शिक्षाष्टक श्लोके येइ पढ़े-शुने। कृष्णप्रेमभक्ति तार बाढ़े दिने-दिने॥५६॥

(जिन जिन भावों में आविष्ट होकर श्रीराधाजी—"आश्लिष्य वा पादरतां"—आदि श्लोक उच्चारण किया करती थीं) उन्हीं भावों में आविष्ट होकर श्रीमहाप्रभुजी ने उन्हीं भावों के श्लोकों का

प्रलपन किया है। शिक्षाष्टक के अष्ट श्लोकों की रचना कर श्रीमहाप्रभुजी ने उन भावों की शिक्षा लोगों को दी है एवं उनके अर्थों की व्याख्या करके स्वयं भी उन भावों का रसास्वादन किया है। कविराज गोस्वामी कहते हैं—श्री महाप्रभु-रचित इस शिक्षाष्टक के श्लोकों को जो नित्य पढ़ेगा एवं सुनेगा उसके हृदय में दिन-दिन कृष्णप्रेम-भक्ति वृद्धि को प्राप्त होती जाएगी ।।५४—५६।।

चै० च० चु० टीका:—श्रीमन्महाप्रभुजी ने उपर्युक्त शिक्षाष्टक में, जीव के पक्ष में जो कुछ शिक्षणीय है, उस समस्त का साररूप में उपदेश दिया है। इन आठों श्लोकों में एक सुन्दर धारावाहिकता है—परस्पर इनका एक दूसरे के साथ सम्बन्ध है, जो इस प्रकार है:—

प्रथम श्लोक—"**चेतोदर्पण मार्जनम्**—श्रीनाम सङ्कीर्त्तन की अपूर्व महिमा का कथन करते हुए परम करुण श्रीमहाप्रभुजी ने मायाबद्धजीव को नाम सङ्कीर्त्तन की ओर प्रलुब्ध करने की चेष्टा की है। नाम-सङ्कीर्त्तन में प्रलुब्ध करने का कारण यह है कि कलियुग में एकमात्र नाम-सङ्कीर्त्तन ही भगवत-प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है।

प्रश्न हो सकता है कि श्रीभगवान् के तो अनन्त नाम हैं, किस नाम का कीर्त्तन करने से जीव भगवत्-प्राप्ति कर सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीमन्महाप्रभुजी ने द्वितीय श्लोक "**नाम्नाम-कारि बहुधा**" कहा है। इसमें प्रभु ने बताया है कि श्रीभगवान् के अनन्त नाम हैं, उन समस्त नामों में पूर्णशक्ति है। विभिन्न रुचि एवं विभिन्न अभीष्टों के अनुसार साधक किसी भगवत्-नाम का भी कीर्त्तन कर सकता है, एवं उसी से ही उसकी अभीष्ट सिद्धि हो सकती है। भगवन्नाम ग्रहण करने में देश, काल, अवस्था आदि किसी बात का भी विशेष नियम नहीं है।

और एक प्रश्न होता है—श्रीमहाप्रभुजी एवं समस्त शास्त्रों ने घोषणा की है—एकबार श्रीकृष्ण नाम का कीर्त्तन करने से श्रीकृष्ण-प्रेम की प्राप्ति हो जाती है, किन्तु हम तो दिन-रात नाम कीर्त्तन करते हैं, किन्तु प्रेम-प्राप्ति का कोई भी तो लक्षण हममें नहीं दीखता ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए श्रीमन्महाप्रभुजी ने कहा है कि अपराधी जीव के पक्ष में नाम सङ्कीर्त्तन द्वारा नाम का मुख्यफल—श्रीकृष्ण प्रेम सहसा प्राप्त नहीं हो सकता। अपराधी जीव किस प्रकार नाम-सङ्कीर्त्तन करके श्रीकृष्ण-प्रेम की प्राप्ति कर सकता है, उसी उद्देश्य से प्रभु ने तृतीय श्लोक "तृणादपि सुनीचेन" आदि कहा है। इस श्लोक में कही गई जो चित्त की अवस्था है वह भी अपराधी जीव के पक्ष में सहज नहीं बन सकती। किन्तु श्री-भगवन्नाम का आश्रय लेकर किस प्रकार नाम ग्रहण करने से तृणादपि सुनीचत्व, तरोरिव सहिष्णुत्व एवं अमानी होकर अन्य के प्रति मान-प्रदानत्व भाव चित्त में उदय हो सकता है—इस बात को श्रीमन्महाप्रभु जी ने चतुर्थ, पञ्चम् एवं छठे श्लोकों में वर्णन किया है।

चित्त की उस प्रकार की अवस्था बनाने के लिए नाम-सङ्कीर्त्तन के साथ साथ श्रीभगवान् के चरणों में यह प्रार्थना भी करनी होगी कि "हे प्रभो ! धन-जनादि कुछ भी मुझे नहीं चाहिये, माया से प्रेरित होकर यदि मेरे मन में धन-जनादि की कामना उदय भी हो, तो भी, हे कृष्ण ! आप मुझे धन-जनादि नहीं देना, मुझे तो जन्म जन्म में अपने चरण कमलों की अहैतुकी भक्ति ही प्रदान करने की कृपा कीजिए। हे प्रभो ! आप के चरणों में मेरी यही प्रार्थना है"—

चतुर्थ श्लोक 'न धनं न जनं"—में श्रीमहाप्रभुजी ने ऐसा आदेश किया है। और भी एक प्रार्थना करनी होगी—"हे नन्दनन्दन ! मैं अपने कर्म दोषों से विषम संसार-समुद्र में पड़ा हुआ हूं, तथापि प्रभो ! मैं हूं तो आपका नित्यदास, आप ही मुझे अपना दास जानकर मुझ पर कृपा कीजिए। जिससे आप की चरण-धूलि

के समान आप के चरणों का आश्रय ग्रहण करके मैं आपकी चरण-सेवा कर सकूं। यह शिक्षा श्रीमहाप्रभुजी ने पञ्चम् श्लोक—"**अयि नन्दतनुज**" आदि में प्रदान की है।

श्रीनाम सङ्कीर्त्तन के साथ साथ श्रीकृष्ण-प्रेम की भी इस प्रकार प्रार्थना करनी होगी—"हे प्रभो ! ऐसा दिन मुझे कब प्राप्त होगा, जब आप का नाम सङ्कीर्त्तन करते करते मैं नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित करूंगा, मेरा अङ्ग पुलकावलि से विभूषित् हो उठेगा एवं मेरा कण्ठ गद्-गद् हो जाएगा"—इस प्रकार के प्रेम के लिए प्रार्थना करने का इंगित श्रीमन्महाप्रभुजी ने छठे श्लोक—"**नयनं गलदश्रुधारया**"—आदि में किया है।

इस प्रकार प्रार्थना के साथ श्रीनाम सङ्कीर्त्तन करते करते चित्त में तृणादपि-श्लोक के अनुसार भाव का उदय हो आएगा और फिर चित्त में श्रीकृष्ण-प्रेम आविर्भूत हो उठेगा। प्रेम के हृदय में आविर्भूत होने पर फिर साधक की क्या अवस्था होती है, उसे प्रभु ने सप्तम श्लोक—"**युगायितं निमेषेण**"—आदि में वर्णन किया है। हृदय में श्रीकृष्ण प्रेम के आविर्भूत होने पर श्रीकृष्ण प्राप्ति के लिए साधक की उत्कण्ठा-लालसा पैदा होजाएगी, श्रीकृष्ण के विरह की स्फूर्त्ति होने लगेगी, श्रीकृष्ण विरह-जनित उत्कण्ठा में उसे एक निमेष का काल भी एक एक युग के समान होकर बीतेगा। नेत्र अश्रुधाराओं से विगलित हो उठेंगे एवं श्रीकृष्ण विरह में समस्त जगत् एक विराट् शून्य की भांति प्रतीत होने लगेगा।

सप्तम श्लोक में प्रेमिक भक्त की अवस्था का वर्णन करके श्रीमन्महाप्रभुजी ने अष्टम श्लोक—"**आश्लिष्य वा पादरतां**"—इत्यादि में विशुद्ध ब्रज-प्रेम का स्वरूप वर्णन किया है। वह विशुद्ध-प्रेम कैसा है ?—वह कृष्ण-सखैक-तात्पर्यमय है। अपने सुख-दुःख, धर्म-कर्म, भलाई-बुराई इत्यादि समस्त को तिलांजली देकर दासी की भांति सेवा करके श्री श्यामसुन्दर-नन्दनन्दन को सर्वतोभावेन सुखी करने की चेष्टा ही उस विशुद्ध-प्रेम अथवा ब्रज-प्रेम का एकमात्र तात्पर्य है।

इसलिए श्रीकविराज गोस्वामीजी ने कहा है कि इस शिक्षाष्टक को नित्य पाठ करने से श्रीकृष्ण प्रेम-भक्ति को प्राप्ति एवं अभिवृद्धि होती है।

यद्यपिह प्रभु कोटि-समुद्र-गम्भीर। नानाभाव-चन्द्रोदये हयेन अस्थिर ॥५७॥
येइ येइ श्लोक जयदेवे भागवते। रायेरनाटके येइ आर कर्णामृते ॥५८॥
सेइ-सेइ-भावेर श्लोक करिया पठन। सेइ सेइ भावावेशे करे आस्वादन ॥५९॥
द्वादशवत्सर ऐछे दशा रात्रि-दिने। कृष्णरस आस्वादये दुइ बन्धुसने ॥६०॥
सेइ सब लीलारस आपने अनन्त। सहस्रबदने वर्णे, नाहि पाय अन्त ॥६१॥

श्री कविराज कहते हैं—"यद्यपि श्रीमहाप्रभुजी समुद्र से भी कोटि गुणाधिक गम्भीर हैं, तथापि (जैसे समुद्र चन्द्र को देखकर तरङ्गायित हो उठता है, उसी प्रकार) अनेक प्रकार के सञ्चारी भाव रूप चन्द्रोदय के व्याप्त होने से प्रभु अस्थिर हो उठते थे। श्रीजयदेव जी के गीतगोविन्द में, श्रीमद्-भागवत जी में, राय रामानन्द जी के जगन्नाथवल्लभ-नाटक में, एवं श्रीविल्वमङ्गल जी के श्रीकृष्णकर्णा-मृत में श्रीराधाजी के बहुविध भावद्योतक जो समस्त श्लोक हैं, श्रीमहाप्रभु जी उन समस्त श्लोकों को पाठ करते थे एवं जिस श्लोक में श्री राधाजी का जो भाव व्यक्त हुआ है, उसी भाव में आविष्ट होकर प्रभु उस

श्लोक का आस्वादन करते थे। इसी प्रकार बारह वर्ष तक रात-दिन उनकी यही दशा रही एवं श्रीस्वरूप तथा श्रीरामानन्दराय-इन दोनों बन्धुओं के साथ श्रीकृष्ण-लीलारस का आस्वादन करते रहे। (गौरलीला का जो मुख्य उद्देश्य था, उसे सिद्ध करते थे।) उनकी समस्त लीलाओं के रस का यदि स्वयं श्रीअनन्त भगवान् अपने सहस्रों वदनों से वर्णन करें, तो भी उसका अन्त नहीं पा सकते ॥५७-६१॥

जीव क्षुद्रबुद्धि, ताहा के पारे वर्णिते। तार एक कण स्पर्शि आपना शोधिते ॥६२॥
यत चेष्टा यत प्रलाप, नाहि तार पार। से सब वर्णिते ग्रन्थ हय सुविस्तार ॥६३॥
वृन्दावनदास प्रथम ये लीला वर्णिल। सेइ सब लीलार आमि सूत्रमात्र कैल ॥६४॥
तार त्यक्त अवशेष संक्षेपे कहिल। लीलार बाहुल्ये ग्रन्थ तथापि बाढ़िल ॥६५॥
अतएव से सब लीला नारि वर्णिवारे। समाप्ति करिल लीलाके करि नमस्कारे ॥६६॥

श्री कविराज गोस्वामी कहते हैं—जब श्री अनन्त भी महाप्रभुजी की समस्त लीलाओं का वर्णन नहीं कर सकते हैं, तब मैं तो एक क्षुद्रबुद्धि-जीव हूं, उनका कैसे वर्णन कर सकता हूं? तथापि यह जो कुछ मैंने वर्णन किया है—आत्मशोधन (अपने को पवित्र) करने के लिए मैंने उस अनन्त लीलारस समुद्र के एक कण का स्पर्श किया है। श्री महाप्रभुजी का जो आचरण है, जितने उनके प्रलाप हैं, उनका पार नहीं है। उन सब को यदि वर्णन किया जाता तो ग्रन्थ का बहु विस्तार हो जाता। श्री वृन्दावनदासजी ने पहले जिन लीलाओं का श्री चैतन्य भागवत-ग्रन्थ में वर्णन किया था, उनको मैंने केवल सूत्राकार में वर्णन किया है और जो कुछ उन्होंने छोड़ दिया था, उसको मैंने संक्षेप से वर्णन किया है, तो भी असंख्य लीलाओं के कारण संक्षेप से वर्णन करने पर भी ग्रन्थ बहुत बड़ा हो गया है। अतएव मैं उन सब लीलाओं को भी (जिन्हें श्री वृन्दावनदास जी ने श्री चैतन्य भागवत में वर्णन किया है) सम्पूर्णरूप से वर्णन नहीं कर सका हूं। मैं लीला को सादर नमस्कार करके अपने वर्णन करने को समाप्त करता हूं। ६२—६६ ॥

ये किछु कहिल एइ दिग् दरशन। एइ अनुसारे हवे आर आस्वादन ॥६७॥
प्रभुर गम्भीर लीला ना पारि बुझिते। बुद्धि प्रवेश नाहि, ताते ना पारि वर्णिते ॥६८॥
सब श्रोता वैष्णवेर वन्दिया चरण। चैतन्य चरित वर्णन कैल समापन ॥६९॥
आकाश अनन्त, ताते यैछे पक्षिगण। यार यत शक्ति, तत करे आरोहण ॥७०॥
ऐछे महा प्रभुर लीला, नाहि ओर-पार। जीव हञा केवा सम्यक् पारे वर्णिवार ॥७१॥
यावत् बुद्धयेर गति, तावत् वर्णिल। समुद्रेर मध्ये येन एक कण छुंइल ॥७२॥

श्रीकविराज कहते हैं—"जो कुछ मैंने वर्णन किया है, वह केवल श्री चैतन्य लीलाओं का मैंने दिग्दर्शन ही कराया है। इसी के अनुसार और भी अधिक आस्वादन भक्तगण कर पाऐंगे। श्रीमहा-प्रभुजी की लीलाऐं परम गम्भीर हैं, उन्हें कोई नहीं समझ सकता है। मेरी बुद्धि का प्रवेश उनमें नहीं हो सका, इसलिए मैं उन्हें सम्पूर्णरूप से वर्णन भी नहीं कर पाया हूं। सब श्रोताओं एवं वैष्णवों के चरणों में वन्दना करके श्री श्री चैतन्यचरित का वर्णन समाप्त करता हूं। आकाश अनन्त है। जैसे उसमें अपनी अपनी शक्ति अनुसार सब पक्षीगण उड़ा करते हैं। उसी प्रकार श्री महाप्रभुजी की लीला का भी

कोई आर-पार नहीं है, एक जीव उसको कैसे वर्णन करके उसका पार पा सकता है? जहाँ तक मेरी बुद्धि की गति थी, वहाँ तक मैंने उसका वर्णन किया है ॥६७-७२॥

नित्यानन्द कृपापात्र वृन्दाबनदास। चैतन्य लीलार तेंहो हय आदि व्यास ॥७३॥
तांर आगे यद्यपि सब लीलार भाण्डार। तथापि अल्प वर्णिया छाड़िलेन आर ॥७४॥
ये किछु वर्णिल, सेहो संक्षेप करिया लिखिते ना पारि' ग्रन्थे राखियाछे लिखिया॥७५॥
चैतन्य-मङ्गले तेंहो लिखियाछे स्थाने-स्थाने। सेइ बचन शुन सेइ परम प्रमाणे ॥७६॥
'संक्षेपे कहिल, विस्तार ना याय कथने। विस्तारिया वेदव्यास करिव वर्णने ॥७७॥
चैतन्यमङ्गले इहा लिखियाछे स्थाने स्थाने। सत्य कहे--'व्यास आगे करिव वर्णन ॥७८॥

श्री वृन्दावनदास जी श्री नित्यानन्द प्रभुपाद के कृपापात्र हैं, श्री चैतन्यलीला के वे ही आदि व्यासदेव हैं। उनको श्री चैतन्यलीला का समस्त भण्डार अवगत था, तथापि उन्हीं ने उसमें से थोड़ा सा वर्णन करके बाकी को छोड़ दिया। उन्हीं ने अपने ग्रन्थ– श्री चैतन्य भागवत में लिखा है कि "मैंने जो कुछ वर्णन किया है, वह भी संक्षेप से वर्णन किया है। मैं समस्त लीलाओं को उल्लिखित नहीं कर पाया हूं।" यही बात उन्होंने श्री चैतन्यभागवत में जगह-जगह पर लिखी है, उनकी अपनी उक्ति ही इस बात का प्रमाण है। उन्होंने यह भी लिखा है—"मैंने संक्षेप से कहा है, श्रीचतन्य लीलाओं को विस्तार से वर्णन नहीं कर पाया हूं, वेदव्यासजी ही इन लीलाओं को विस्तार पूर्वक भविष्य में वर्णन करेंगे।" यह बात उन्होंने बार-बार श्री चैतन्य भागवत में कही है उनके वचन सत्य ही हैं, श्रीव्यासजी ही इन लीलाओं को भविष्य में विस्तार पूर्वक वर्णन करेंगे। (इसलिए मैं भी संक्षेप से कहकर अपने वर्णन को समाप्त करता हूं।)॥७३—७८॥

चैतन्यलीलामृत–सिन्धु दुग्धाब्धि समान। तृष्णानुरूप झारि भरि तेंहों कैल पान ॥७९॥
तांर झारी शेषामृत किछु मोरे दिला। ततेके भरिल पेट, तृष्णा मोर गेला ॥८०॥
आमि अति क्षुद्रजीव, पक्षी राङ्गाटुनि। से यैछे तृष्णाय पिये समुद्रेर पानी ॥८१॥
तैछे आमि एक कण छुंइल लीलार। एइ दृष्टान्ते जानिह प्रभुरलीलार बिस्तार ॥८२॥

श्री चैतन्यलीलामृत का भी क्षीरसमुद्र के समान एक सिन्धु है। उसमें से श्री वृन्दावनदासजी ने अपनी तृष्णानुरूप एक झारि भरकर पान की थी। उसमें जो शेष अमृत था, उसे उन्होंने मुझे पान करने के लिए दिया। मैंने भी, जितने में मेरा पेट भर गया। उतना पान करके अपनी तृष्णा बुझाली। मैं राङ्गाटुनी एक अति क्षुद्र पक्षी के समान हूं। वह जैसे अपनी तृष्णा निवृत्ति के लिए समुद्र पर जाकर पानी पिया करता है, (और उसकी तृष्णा एक बूंद में ही निवृत होजाती है,) उसी प्रकार मैंने भी श्री चैतन्यचरितामृत-सिन्धु के एक कणा को स्पर्श करके अपनी तृष्णा निवृत करली है। (जितने जल को पान करके वह अतिक्षुद्ध पक्षी अपनी तृष्णा निवृत करता है। वह जल समुद्र की तुलना में जितना क्षुद्र है, श्री चैतन्य देव की समस्त लीलाओं की तुलना में मेरे द्वारा वर्णन की हुई लीला भी उतनी ही क्षुद्र है) बस इसी दृष्टान्त से ही प्रभु को लीला का विस्तार पाठकगण जानलें ॥७९-८२॥

आमि लिखि, एहो मिथ्या करि अभिमान । आमार शरीर काष्ठपुतली समान ॥८३॥
बृद्ध जरातुर आमि अन्ध बधिर । हस्त हाले, मनोबुद्धि नहे मोर स्थिर ॥८४॥
नानारोगेग्रस्त, चलिते-बसिते ना पारि । पञ्चरोगेर पीड़ाय व्याकुल, रात्रिदिने मरि ॥८५॥
पूर्व ग्रन्थे इहा करियाछि निवेदन । तथापि लिखिये, शुन इहार कारण ॥८६॥

श्रीकविराज कहते हैं—यह जो मैं कहता हूं कि श्रीचैतन्यलीला मैं वर्णन कर रहा हूँ—अथवा लिख रहा हूँ, यह भी मेरा एक मिथ्या अभिमान है । मेरा शरीर तो एक कठपुतली के समान है । मैं वृद्ध हूँ एवं जरा अवस्था से व्याकुल हूँ, मुझे कम दीखता है एवं कम सुनाई देता है, मेरे हाथ-पांव कांपते हैं, मेरे मन एवं बुद्धि स्थिर नहीं हैं । मैं अनेक रोगों में ग्रस्त हूँ, न चल सकता हूँ, न बैठ ही सकता हूँ । अनेक रोगों की पीड़ा से व्याकुल हूँ, रात को मरा कि दिन को मरा—ऐसी अवस्था है, जैसा(कि मध्यलीला द्वितीय-परिच्छेद में) मैं निवेदन कर चुका हूँ, तथापि मैं श्रीचैतन्यचरित को वर्णन कर रहा हूँ या लिख रहा हूँ इसका भी एक कारण है—उसे सुनिये ॥८३—८६॥

श्रीगोविन्द, श्रीचैतन्य, श्रीनित्यानन्द । श्रीअद्वैत श्रीभक्त (आर) श्रीश्रोतावृन्द ॥८७॥
श्रीस्वरूप, श्रीरूप, श्रीसनातन । श्रीरघुनाथ, श्रीगुरु, श्रीजीवचरण ॥८८॥
इहां सभार चरण कृपाय लेखाय आमारे । आर एक हय, तेंहो अति कृपा करे ॥८९॥
श्रीमदनगोपाल मोरे लेखाय आज्ञा करि । कहिते ना जुयाय, तभु रहिते ना पारि ॥९०॥
ना कहिले हय मोर कृतघ्नता दोष । दम्भ करि बलि श्रोता ! ना करिह रोष ॥९१॥
तोमासभार चरण धूलि करिनु वन्दन । ताते चैतन्यलीला हैल ये—किछु लिखन ॥९२॥

श्रीगोविन्ददेव, श्रीचैतन्यदेव, श्रीनित्यानन्दप्रभु, श्रीअद्वैताचार्य प्रभु, श्रीगौरभक्तवृन्द और सब श्रोतावृन्द तथा श्रीस्वरूप, श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीगुरुदेव—श्रीरघुनाथदास, श्रीजीवगोस्वामी—इन सब की चरण-कृपा शक्ति ही मुझ से यह चरित्र लिखवा रही है । एक और भी कारण है—वह यह कि अत्यन्त कृपा करके श्रीमदनगोपाल जी ही मुझे आज्ञा देकर इस चरित्र को लिखवा रहे हैं । यह बात चाहे कहने की नहीं है, तथापि इसे कहे विना रहा भी नहीं जाता है । कारण कि यदि नहीं कहता हूँ तो श्रीमदनगोपाल जी के प्रति अकृतज्ञता-दोष होता है, और यदि कहता हूँ—तो मेरा यह एक दम्भ है (मैं उनकी कृपा का पात्र ही कब हो सकता हूँ ?) हे श्रोतागण ! आप इस दम्भ के लिए रोष नहीं करना । (मुझे क्षमा करना ।)मैंने, हे श्रोतागण ! आपकी चरणधूलि की वन्दना की थी, उसी कारण ही श्रीचैतन्यचरित को कुछ एक लिख पाया हूँ ।" ॥८७-९२॥

एवे अन्त्यलीलागणेर करि अनुवाद । अनुवाद कैले पाइ लीलार आस्वाद ॥९३॥
प्रथम परिच्छेदेरे रूपेर द्वितीय मिलन । तार मध्ये दुइ नाटकेर विधान-श्रवण ॥९४॥
तार मध्ये शिवानन्दसङ्गे कुक्कुर ये आइला । प्रभु तारे 'कृष्ण' कहाइया मुक्त कैला ॥९५॥
द्वितीये छोट हरिदासे कराइला शिक्षण । ताहि मध्ये शिवानन्देर आश्चर्य दर्शन ॥९६॥

अब श्रीकविराज गोस्वामी अन्त्यलीला में वर्णित लीलाओं का संक्षेप से पुनः उल्लेख करते हैं, जिससे समस्त लीलाओं का आस्वादन हो जाएगा। प्रथम परिच्छेद में—श्रीमहाप्रभु जी के साथ श्रीरूपगोस्वामी जी के द्वितीयबार मिलने का प्रसङ्ग वर्णन किया गया है, उसी में श्रीरूपगोस्वामी रचित ललित-माधव तथा विदग्ध-माधव—इन दो नाटकों की रचना-शैली का प्रभु ने एवं भक्तों ने श्रवण किया है। इसी परिच्छेद में श्रीशिवानन्दसेन के साथ जो एक कुत्ता नीलाचल गया था, उसे श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीकृष्ण-नाम उच्चारण कराकर मुक्त किया है—वह प्रसङ्ग भी वर्णित है। द्वितीय परिच्छेद में प्रभु ने छोटे श्रीहरिदास जी को शिक्षा दी है एवं श्रीशिवानन्द जी को आश्चर्य-दर्शन दिये हैं (श्रीशिवानन्द जी के घर पर श्रीप्रद्युम्न ब्रह्मचारी जी ने रसोई बनाकर ध्यान से प्रभु को भोग लगाया था एवं प्रभु का वहाँ आविर्भाव हुआ था) ॥९३–९६॥

तृतीये श्रीहरिदासेर महिमा प्रचण्ड। दामोदर पण्डित प्रभुरे कैल वाक्यदण्ड ॥९७॥
प्रभु 'नाम' दिया कैल ब्रह्माण्ड मोचन। हरिदास कैल नामेर महिमा स्थापन ॥९८॥
चतुर्थे श्रीसनातनेर द्वितीय मिलन। देह त्याग हैते तांरे करिल रक्षण ॥९९॥
ज्येष्ठमासेर घामे तांरे कैल परीक्षण। शक्ति सञ्चारिया पाठाइल वृन्दावन ॥१००॥

तृतीय परिच्छेद में श्रीहरिदासजी की महान् महिमा का वर्णन किया गया है एवं श्रीदामोदर पण्डित ने श्रीमहाप्रभु का वाक्य दण्ड किया है। श्रीमहाप्रभु के 'नाम-दान' देकर ब्राह्माण्ड के उद्धार करने की कथा, श्रीहरिदास जी ने जैसे नाम की महिमा स्थापन की है—वह कथा वर्णन की गई है। चतुर्थ परिच्छेद में श्रीमहाप्रभु जी के साथ श्रीसनातन गोस्वामी जी का द्वितीय वार मिलन हुआ है एवं श्रीमहाप्रभु जी ने उन्हें देहत्याग करने से वर्ज्जन किया है। प्रभु ने जिस प्रकार ज्येष्ठमास की धूप में श्रीसनातन जी की परीक्षा की है तथा उनमें जिस प्रकार शक्ति का सञ्चार करके उन्हें श्रीवृन्दावन भेजा है, वह प्रसङ्ग वर्णित है ॥९७–१००॥

पञ्चमे प्रद्युम्न मिश्रे प्रभु कृपा कैल। रायेर द्वारे तांरे कृष्ण कथा शुनाइल ॥१०१॥
तारि मध्ये बाङ्गाल-कविर नाटक-उपेक्षण। स्वरूपगोसाञि कैला विग्रह-महिमा स्थापन ॥१०२
षष्ठे रघुनाथदास प्रभुरे मिलिला। नित्यानन्द-आज्ञाय चिड़ा-महोत्सव कैला ॥१०३॥
दामोदर स्वरूप-ठाञि तारे समर्पिला। गोवर्द्धनेर शिला गुञ्जमाला तारे दिला ॥१०४॥

पञ्चम परिच्छेद में श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीप्रद्युम्न मिश्र पर कृपा की है एवं उन्हें श्रीरायरामानन्द जी के पास भेजकर कृष्ण कथा सुनवाई है। बाङ्गाली-कवि के द्वारा लिखित नाटक की जिस प्रकार उपेक्षा की गई तथा श्रीस्वरूप गोस्वामी जी ने जिस प्रकार विग्रह महिमा को स्थापन किया—वह कथा वर्णन की गई है। षष्ठ परिच्छेद में—श्रीरघुनाथदास जी श्रीमहाप्रभु जी आकर मिले हैं, श्रीनित्यानन्द प्रभु जी की आज्ञा से उन्होंने चिड़ा-महोत्सव किया है। प्रभु ने श्रीरघुनाथ जी को जिस प्रकार श्रीस्वरूप-दामोदर जी को सौंपा है तथा जैसे श्रीगिरधारी-शिला और गुञ्जामाला दी है—वह प्रसङ्ग वर्णित है ॥

सप्तम परिच्छेदे वल्लभभट्टेर मिलन। नाना मते कैल तांर गर्वखण्डन ॥१०५॥
अष्टमे रामचन्द्रपुरीर आगमन। तार भये कैल प्रभु भिक्षा-सङ्कोचन ॥१०६॥

नवमे गोपीनाथ पट्टनायक–विमोचन । त्रिजगतेर लोक प्रभुर पाइल दरशन ॥१०७॥
दशमे करिल भक्तदत्त आस्वादन । राघवपण्डितेर ताहां झालिर साजन ॥१०८॥
ताहि मध्ये गोविन्देर कैल परीक्षण । ताहि मध्ये परिमुण्डा-नृत्येर वर्णन ॥१०९॥

सप्तम परिच्छेद में—श्रीवल्लभाचार्य जी श्रीमहाप्रभु जी से आकर मिले हैं एवं प्रभु ने उनका अनेक प्रकार से गर्व-खण्डन किया है। अष्टम परिच्छेद में—श्रीरामचन्द्रपुरी नीलाचल में आये हैं एवं श्रीमहाप्रभु जी ने उनके भयवश अपनी भिक्षा को सङ्कुचित कर लिया था। नवम परिच्छेद में—श्रीगोपीनाथ पट्टनायक के विमोचन की कथा एवं त्रिभुवन के लोगों की प्रभु के दर्शन करने की कथा वर्णित है। दशम-परिच्छेद में—भक्तों द्वारा प्रदत्त व्यञ्जनों का आस्वादन प्रसङ्ग तथा श्रीराघव पण्डित की झालि का प्रसङ्ग कहा गया है और श्रीगोविन्द की परीक्षा एवं परिमुण्डानृत्य का वर्णन किया गया है ॥१०५-१०९॥

एकादशे हरिदास ठाकुर निर्याण । भक्तवात्सल्य याहां देखाइल गौर भगवान् ॥११०॥
द्वादशे जगदानन्देर तैलभञ्जन । नित्यानन्द कैल शिवानन्देर ताड़न ॥१११॥
त्रयोदशे जगदानन्द मथुरा यात्रा आइला । महाप्रभु देवदासीर गीत शुनिला ॥११२॥
रघुनाथभट्टाचार्येर ताहांइ मिलन । प्रभु तारे कृपा करि पाठाइला बृन्दाबन ॥११३॥

एकादश परिच्छेद में—श्रीहरिदासठाकुर जी के निर्णय का प्रसङ्ग है, जिसमें श्रीगौराङ्ग-भगवान् ने भक्तवात्सल्य को दिखाया है। द्वादश परिच्छेद में—श्रीजगदानन्द के तैल के घड़े को फोड़ने का प्रसङ्ग है एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु जी ने श्रीशिवानन्द जी को लाठी मारी है। त्रयोदश परिच्छेद में—श्रीजगदानन्द जी मथुरा जाकर लौट आये हैं तथा श्रीमहाप्रभु जी ने देवदासी के गीत को श्रवण किया है। श्रीरघुनाथ भट्टाचार्य के प्रभु के साथ मिलन की कथा तथा जिस प्रकार महाप्रभु जी ने उन पर कृपा कर उन्हें श्रीवृन्दावन भेजा है—वह सब कथा वर्णन की गई है ॥११०–११३॥

चतुर्दशे दिव्योन्माद - आरम्भ-वर्णन । शरीर एथा प्रभुर मन गेला बृन्दावन ॥११४॥
ताहि मध्ये प्रभुर सिंहद्वारे पतन । अस्थिसन्धि-त्याग, अनुभावेर उद्गम ॥११५॥
चटक पर्वत देखि प्रभुर धावन । ताहि मध्ये प्रभुर किछु आलाप वर्णन ॥११६॥
पञ्चदश परिच्छेदे उद्यान–विलासे । बृन्दावन भ्रमे याहां करिल प्रवेशे ॥११७॥
ताहि मध्ये प्रभुर पञ्चेन्द्रिय-आकर्षण । ताहि मध्ये कैल रासे कृष्ण–अन्वेषण ॥११८॥

चतुर्दश परिच्छेद में—दिव्योन्माद का वर्णन आरम्भ हुआ है, एवं श्रीमहाप्रभु जी का शरीर तो नीलाचल में था किन्तु उनका मन-योगी होकर श्रीवृन्दावन चला गया था। श्री महाप्रभुजी का सिंहद्वार पर पतन, उनमें अस्थि-सन्धि के त्याग रूप अनुभाव का उदय, चटक-पर्वत को देखकर प्रभु का दौड़ना, श्रीमहा प्रभु जी का कुछ आलाप-वर्णन—यह सब प्रसङ्ग इसी परिच्छेद में कहे गये हैं। पञ्चदश परिच्छेद में—श्रीमहाप्रभु का उद्यान-विलास, श्रीवृन्दाबन के भ्रम में उद्यान में प्रवेश, उनकी पांचों-इन्द्रियों का आकर्षण, तथा प्रभु का रासलीला में श्रीकृष्ण-अन्वेषण—ये सब प्रसङ्ग वर्णित हैं ॥११४-११८॥

षोड़शे कालिदासे प्रभु कृपा कैला । वैष्णवोच्छिष्ट खाईवार फल देखाइला ॥११९॥
शिवानन्द—बालकेर श्लोक कराइल । सिंहद्वारेर द्वारी प्रभुके कृष्ण देखाइल ॥१२०॥
महाप्रसादेर ताहां महिमा वर्णिल । कृष्णाधरामृतेर श्लोक सब आस्वादिल ॥१२१॥
सप्तदशे गावी मध्ये प्रभुर पतन । कूर्माकार—अनुभावेर ताहांइ उद्गम ॥१२२॥
कृष्णेर शब्द-गुणे प्रभुर मन आकर्षिल । 'कास्त्र्यङ्गते' श्लोकेर अर्थ आवेशे करिल ॥१२३॥
भाव-शाबल्ये पुन कैल प्रलपन । कर्णामृत श्लोकेर अर्थ कैल विवरण ॥१२४॥

षोड़श परिच्छेद में—श्रीकालिदास पर श्रीमहाप्रभु जी ने कृपा की है एवं वैष्णवों के उच्छिष्ट खाने की महिमा दिखाई है, श्रीशिवानन्द जी के बालक श्रीपुरीदास से श्लोक रचना कराई है, सिंहद्वार पर द्वारपाल ने श्रीमहाप्रभु जी को श्रीकृष्ण के दर्शन कराये हैं, महाप्रसाद की महिमा का वर्णन किया गया है, श्रीकृष्ण-अधरामृत सम्बन्धीय श्लोकों का प्रभु ने आस्वादन किया है। सप्तदश परिच्छेद में—गौओं के बीच में जाकर प्रभु का गिरना, प्रभु में कूर्माकार-अनुभाव का उद्गम, श्रीकृष्ण शब्द गुण में प्रभु के मन का आकर्षण, भावावेश में 'कास्त्र्यङ्गते'—श्लोक की व्याख्या, भाव-शावल्य में प्रभु का प्रलाप कृष्णकर्णामृत के श्लोक की व्याख्या—यह सब प्रसङ्ग वर्णन किये गये ॥११९-१२४॥

अष्टादश परिच्छेदे समुद्रे पतन । कृष्ण-गोपी-जलकेलि ताहां दरशन ॥१२५॥
ताहांइ देखिल कृष्णेर वन्य भोजन । जालिया उठाइला, प्रभु आइला स्व भवन ॥१२६॥
ऊनविंशे भित्त्ये प्रभुर मुखसङ्घर्षण । कृष्णेर विरहस्फूर्त्ति प्रलापवर्णन ॥१२७॥
वसन्त-रजनी पुष्पोद्याने विहरण । कृष्णेर सौरम्य—श्लोकेर अर्थ विवरण ॥१२८॥

अष्टादश परिच्छेद में—श्रीमहाप्रभु जी का समुद्र में पतन, एवं श्रीकृष्ण-गोपी जलकेलि का दर्शन, श्रीकृष्ण के वन्य भोजन का दर्शन, जालिया का प्रभु को जाल द्वारा समुद्र से निकालना एवं प्रभु का अपने निवास स्थान पर लौटना—ये लीलाएं उल्लिखित है। ऊनविंश परिच्छेद में—श्रीमहाप्रभु जी का भावावेश में गम्भीरा की दीवारों से मुख-सङ्घर्षण, श्रीकृष्ण की विरहस्फूर्त्ति में प्रलाप, तथा बसन्त की शरद् रात्रि में पुष्पोद्यान में विहरना, श्रीकृष्ण-सौरम्य सम्बन्धीय श्लोकों की अर्थ व्याख्या—ये प्रसङ्ग वर्णित हैं ॥१२५—१२८॥

विंशति परिच्छेदे निज शिक्षाष्टक पढ़िया । तार अर्थ आस्वादिल प्रेमाविष्ट हञा ॥१२९॥
भक्त शिखाइते क्रमे ये अष्टक कैल । सेइ श्लोकाष्टकेर अर्थ पुन आस्वादिल ॥१३०॥
मुख्य मुख्य लीलार ताहां करिल कथन । अनुवाद हैते स्मरे ग्रन्थ विवरण ॥१३१॥
एकेक परिच्छेदेर कथा अनेक प्रकार । मुख्य मुख्य गणिल, शुनिते जानिव अपार" १३२॥

विंश परिच्छेद में—श्रीमहाप्रभु जी ने निजकृत शिक्षाष्टक गान किया है एवं प्रेमाविष्ट होकर उसका आस्वादन किया है। भक्तों को शिक्षा देने के लिये उस शिक्षाष्टक के श्लोकों का पुनः प्रभु ने अर्थ आस्वादन किया है। इसी परिच्छेद में श्रीमहाप्रभु जी की मुख्य मुख्य लीलाओं का अनुवाद अनुवाद वर्णन किया है, जिससे अन्त्य-लीला ग्रन्थ की समस्त लीलाओं का स्मरण हो आता है। एक एक परिच्छेद में अनेक अनेक लीलाएं हैं, किन्तु मुख्य मुख्य लीलाओं की इस परिच्छेद में पुनः गणना कराई गई है, जिन्हें सुनकर विस्तार पूर्वक सब लीलाओं का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है ॥१२९-१३२॥

श्रीराधासह श्रीमदनमोहन । श्रीराधासह श्रीगोविन्द चरण ॥१३३॥
श्रीराधासह श्रीगोपीनाथ । एइ तिन ठाकुर, सब गौड़ियार नाथ ॥१३४॥
श्रीकृष्णचैतन्य, श्रीयुत नित्यानन्द । श्रीअद्वैता-आचार्य श्रीगौरभक्तवृन्द ॥१३५॥
श्रीस्वरूप श्रीरूप श्रीसनातन । श्रीगुरु श्रीरघुनाथ श्रीजीव चरण ॥१३६॥
निज शिरे धरि एइ सभार चरण । याहा हैते हय सब वाञ्छित पूरण ॥१३७॥

श्रीकविराज गोस्वामी जी कहते हैं—"श्रीराधा जी के साथ श्रीमदनमोहन जी, श्रीराधाजी के साथ श्रीगोबिन्द जी, श्रीराधा जी के साथ श्रीगोपीनाथ जी,—ये तीनों ठाकुर समस्त गौड़ीय वैष्णवों के इष्टदेव हैं, श्रीश्रीकृष्णचैतन्यदेव, श्रीयुत् नित्यानन्द प्रभु, श्रीअद्वैताचार्य प्रभु, श्रीवासादि गौरभक्तवृन्द, श्रीस्वरूप दामोदर, श्रीरूपगोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीगुरु श्रीरघुनाथदास गोस्वामी—इन सब के चरणों को अपने सिर पर धारण करता हूँ, जिससे वाञ्छित कामनाओं की पूर्त्ति होती है ॥१३३-१३७॥

सभार चरण कृपा गुरु उपाध्यायी । मोर वाणी शिष्या, तांरे बहुत नाचाइ ॥१३८॥
शिष्यार श्रम देखि गुरु नाचन राखिल । कृपा ना नाचाय, वाणी बसिया रहिल ॥१३९॥
अनिपुणवाणी—आपने नाचिते ना जाने । यत नाचाइल तत नाचि करिल विश्रामे ॥१४०॥
सब श्रोतागणेर करि चरण वन्दन । या सभार चरण कृपा शुभेर कारण ॥१४१॥

उपर्युक्त इष्टदेवगण एवं आचार्यगणों की चरण कृपा मेरी वाणीरूपा शिष्या को नृत्य-गान की शिक्षा देने वाले गुरु के समान है, जिसने मेरी वाणी को बहुत नचाया है । अपनी शिष्या को. थका हुआ जानकर गुरु ने उसे नचाना बन्द कर दिया है । उनकी कृपा के न नचाने पर वाणी अपने आप चुप होकर बैठ गई है । कारण कि मेरी वाणी तो अनिपुण है, अपने आप नाचना नहीं जानती है, जितना उसने नचाया, उतना नाच कर बैठ गई है । अब मैं समस्त श्रोतागणों के चरण कमलों में बन्दना करता हूँ, जो समस्त मङ्गलों का कारण हैं ॥१३८–१४१॥

चैतन्यचरितामृत येइ जन शुने । तांहार चरण धुञा करों मुञि पाने ॥१४२॥
श्रोतार पदरेणु करों मस्तके भूषण । तोमारा ए अमृत पीले सफल हय श्रम ॥१४३॥
श्रीरूप–रघुनाथ—पदे यार आश । चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥१४४॥

श्री श्रीचैतन्यचरितामृत को जो भी व्यक्ति सुनता है, मैं उस के चरणों को धोकर पान करूंगा । इसके श्रोताओं की चरणधूलि को अपने मस्तक का भूषण करूंगा । श्रोतागण ! यदि आप इस श्रीचैतन्य-लीलामृत का पान करेंगे, तो मेरा सब श्रम सफल हो जायेगा" । श्रीरूपगोस्वामी, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी के चरणों की अभिलाषा करते हुये श्रीकृष्णदास कविराज श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥१४२–१४४॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते अन्त्यलीलायां

[शिक्षाश्लोकार्थास्वादनं–नाम

विंश परिच्छेदः ॥२०॥

जयगौर

अन्त्य-लीला

उपसंहार—श्लोकाः

★

चरितममृतमेतत् श्रीलचैतन्यविष्णोः
शुभदमशुभनाशि श्रद्धयास्वादयेद् यः ।
तदमल—पाद—पद्मे भृङ्गतामेत्य सोऽयं
रसयति रसमुच्चैः प्रेममाध्वीक पूरम् ।।क।।

सर्वव्यापक श्रीकृष्णचैतन्य देव का मङ्गल-प्रद व अमङ्गल-नाशक यह चरितामृत जो श्रद्धा सहित पान करेंगे, वे उनके निर्मल चरण-कमलों के मधुप होकर सम्पूर्ण प्रेम-माधुर्य-रस का आस्वादन करेंगे ।।क।।

श्रीमन्मदनगोपाल — गोविन्ददेव तुष्टये ।
चैतन्यार्पितमस्त्वेतत् चैतन्यचरितामृतम् ।।ख।।

श्रीचैतन्यदेव-अर्पित यह श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ श्रीश्रीमन्मदनगोपाल जी एवं श्रीश्रीगोविन्ददेव जी की प्रसन्नता विधान करे ।। ख ।।

परिमल वासितभुवनं स्वरसोन्मादितरसज्ञ—रोलम्बम् ।
गिरिधरचरणाम्भोजं कः खलु रसिकः समीहते हतुम् ।।ग।।

जो अपनी परिमल द्वारा (शरीर-सुगन्धि द्वारा) समस्त त्रिभुवन को सुवासित कर रहे हैं, जो अपने माधुर्य द्वारा रसज्ञ -रसिक-मधुकरों को उन्मादित कर रहे हैं, श्रीगिरधारी के उन चरणकमलों को ऐसा कौन रसिक-भक्त है, जो त्याग करने की इच्छा करेगा ? (अर्थात् कोई भी इच्छा नहीं करेगा) ।।ग।।

शाके सिन्ध्वग्निवाणेन्दौ ज्यैष्ठे बृन्दावनान्तरे ।
सूर्येऽह्न्यसित पञ्चम्यां ग्रन्थोऽयं पूर्णतां गतः ।।घ।।

शकाब्द १५३७ (संवत् १६७२) ज्येष्ठमास की कृष्णापञ्चमी तिथि रविवार को यह श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ सम्पूर्णता को प्राप्त हुआ ।।घ।।

चै० च० च० टीका—श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी जी ने उपर्युक्त उपसंहार-श्लोकों में इस ग्रन्थ श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत के आस्वादन की महिमा को वर्णन करते हुए इसे अपने इष्टदेव के अर्पण किया है तथा इस ग्रन्थ की समाप्ति के समय का उल्लेख किया है ।

—: उपसंहार दोहावली :—

वन्दौं श्रीचैतन्यपद, नित्यानन्द प्रभुपाद ।
श्रीगुरु देवकीनन्द-पद प्रणवहुँ छांड़ि प्रमाद ॥१॥
वन्दौं रूप-स्वरूप-पद, जीव - सनातन साथ ।
वन्दौं श्री गोपालभट्ट, उभय दास रघुनाथ ॥२॥
कृष्णदास कविराज पद प्रणवहुँ भू धरि माथ ।
वन्दौं सादर ध्यान धरि, श्री राधागोविन्द नाथ ॥३॥
जिन करुणा-बल पायके उतरेहुँ सिन्धु अगाध ।
श्री चैतन्यचरित्र को, सहज भयौ अनुवाद ॥४॥
वाञ्छा - पूरण कल्पतरु, करुणा पारावार ।
श्रीचैतन्य-पद - भक्तजन, वन्दौं बारम्बार ॥५॥
युग्माश्विनिकुमार नभ युगल सुसम्वत् आप्त ।
रामनौमि तिथि वार शनि लिखिवो भयो समाप्त ॥६॥
श्रीवृन्दावनधाम मँह सेवाकुञ्ज किनार ।
"श्यामदास' चित्त आस नित लिखिवो नित्य-विहार ॥७॥

इस प्रकार श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत अन्त्यलीला
तथा उपसंहार-श्लोकों का श्रीश्यामदासकृत
हिन्दी अनुवाद चैतन्य-चरण-चुम्बिनी टीका
सहित सम्पूर्ण हुआ ।

समाप्तमिदं श्रीश्रीकृष्णचैतन्य-चन्द्रार्पणमस्तु

आरती

★

आरती श्रीचैतन्य चरित की ॥
गौर-कृष्ण गुण-कीर्ति-कलित की ॥

गावत व्यास दास-वृन्दावन
जीव - स्वरूप - श्रीरूप - सनातन
रामराय को प्राण - जीवन - धन
कृष्णदास कविराज - भनित की ॥ आरती ॥

वेद-शास्त्र सत्-सार स्वरूपा
श्रीमद्भागवत भाष्य - अनूपा
कृष्ण - प्रेम - भक्तिरस - भूपा
पावनि सुरधारा अमृत की ॥ आरती ॥

चारिपदारथ सुगम - प्रदाता
कृष्ण - भक्ति - सौभाग्य विधाता
त्रिविधताप - हर सब सुख दाता
चिन्तामणि पूरक वाञ्छित की ॥ आरती ॥

श्रीबृन्दावन को पावन यश
प्रिया-प्रीतम - पद-मधुप मधुररस
गौरचन्द्र भक्तन को सरवस
गति-मति-सम्पत्ति "श्याम"-पतितकी ॥ आरती ॥

परिशिष्ट

★

सम्पूर्ण ग्रन्थरत्न के मूल और टीका में प्रयुक्त समस्त मुख्य-मुख्य पारिभाषिक अथवा ज्ञातव्य शब्दों की वर्णानुक्रमिक-सूची पृष्ठ-संख्या के साथ नीचे उद्धृत की जाती है, जिससे पाठकगण उन का अर्थ या विशेष लक्षण अथवा, श्रीग्रन्थ में वह शब्द कहाँ प्रयुक्त हुआ है, सहज में देख सकेंगे। पृष्ठ संख्याओं के साथ 'अ'—शब्द से–आदिलीला, 'म'–शब्द से—मध्यलीला तथा 'श'–शब्द से—शेष या अन्त्यलीला की पृष्ठ संख्या जाननी चाहिए, —

श्री श्री चैतन्यचरितामृत-पारायण

श्री मद्भागवत जी के सप्ताह अथवा श्री राम-चरितमानस की भांति श्री श्री चैतन्यचरितामृत का भी नवाह-पारायण एवं मास-पारायण किया जाता है। पाठ आरम्भ करने से पहले "हरे-कृष्ण"— महामन्त्र का यथेष्ठ संख्या पूर्वक सङ्कीर्त्तन करना विधेय है। पारायण के दिनों में पाठक के लिए संयम-नियम युक्त आहार-विहारादि करना चाहिये। श्री चैतन्यचरितामृत का अनुष्ठान श्रीकृष्ण-प्रेमाभक्ति तथा सब प्रकार की अभीष्ट सिद्धि का देने वाला है।

श्री श्री गौराङ्गदेव की कृपा-प्रेरणा से पारायणों के विश्रामों को हम नीचे उद्धृत करते हैं, पाठक वृन्द पाठ आरम्भ करने से पहले श्री ग्रन्थ में विश्रामों को निर्धारित पृष्ठों पर अङ्कित करलें।

नवाह-पारायण

दिन	विश्राम	लीला-परिच्छेद	पयार-श्लोक संख्या योग
१.	प्रथम-विश्राम	आदि लीला, नवम परिच्छेद, पृष्ठ १९४	१२८१
२,	द्वितीय विश्राम	मध्य लीला, प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ ३७	१३१०
३.	तृतीय विश्राम	मध्य लीला, अष्टम परिच्छेद, पृष्ठ २२० श्लोक-३५ तक	१२७१
४.	चतुर्थ विश्राम	मध्य लीला त्रयोदश परिच्छेद, पृष्ठ ३५६ पयार-९२ तक	[illegible]
५.	पञ्चम विश्राम	मध्य लीला अष्टादश परिच्छेद, पृष्ठ-५१०	११९७
६.	षष्ठ विश्राम	मध्य लीला त्र्योविंश परिच्छेद, पृष्ठ-७१६	१२६१
७.	सप्तम विश्राम	अन्त्य लीला, तृतीय परिच्छेद पृष्ठ-११०	१३०६
८.	अष्टम विश्राम	अन्त्य लीला, दशम परिच्छेद पृष्ठ-२५२	१३१९
९.	नवम विश्राम	अन्त्य लीला विंश परिच्छेद, पृष्ठ-४५२	१३४१

सम्पूर्ण पयार-श्लोक संख्या योग—११५६६

मास--पारायण

दिन	विश्राम	लीला-परिच्छेद		पयार-श्लोक संख्या योग
१.	१ म० विश्राम	आदि लीला चतुर्थ परि० पयार-२४ तक	पृष्ठ ७५	[illegible]
२.	२ तीय विश्राम	पञ्चम परि० पयार-११६ तक	पृष्ठ १३७	३८३
३.	३ य वि०	सप्तम परि०	पृष्ठ १८१	३९३
४.	४ र्थ० वि०	एकादश परि०	पृष्ठ २२२	३६४
५.	५ म० वि०	पञ्चदश परि०	पृष्ठ २५७	३५३
६.	६ ठ० वि०	सप्तदश परि०	पृष्ठ ३०९	४४७
७.	७ म० वि०	मध्य लीला द्वितीय परि०	पृष्ठ ५७	३८१
८.	८ म० वि०	चतुर्थ परि०	पृष्ठ ९५	४३१

दिन	विश्राम	लीला-परिच्छेद	पयार-श्लोक संख्या योग
९.	९ म० वि०	षष्ठ परि० पृष्ठ १४८	४४२
१०.	१० म० वि०	अष्टम परि० पयार १६६ तक पृष्ठ २३२	३६३
११.	११ श० वि०	नवम परि० पयार २५१ तक पृष्ठ २७८	३८५
१२.	१२ श० वि०	एकादश परि० श्लोक १० तक पृष्ठ ३१६	३७३
१३.	१३ श० वि०	द्वादश परि० पृष्ठ ३४६	३६२
१४.	१४ श० वि०	चतुर्दश परि० पयार १६६ तक पृष्ठ ३८९	३७९
१५.	१५ श० वि०	पञ्चदश परि०, पृष्ठ-४२९	३९१
१६.	१६ श० वि०	सप्तदश परि० पयार ९९ तक पृष्ठ-४७१	३९३
१७.	१७ श० वि०	अष्टादश परि० पृष्ठ ५१०	३६१
१८.	१८ श० वि०	विंश परि० पयार ९७ तक पृष्ठ ४५९	३५७
१९.	१९ श० वि०	एकविंश परि०, पृष्ठ ६३६	४४९
२०.	२० श० वि०	त्र्योविंश परि० पृष्ठ ७१६	३२५
२१.	२१ श० वि०	चतुर्विंश परि० पृष्ठ ७९१	३५९
२२.	२२ श० वि०	पञ्चविंश परि०, पृष्ठ ८५३	२८२
२३.	२३ श० वि०	अन्त्य लीला द्वितीय परि०, पृष्ठ ७०	३९५
२४.	२४ श० वि०	चतुर्थ परि० पयार ९८ तक पृष्ठ १२२	३७६
२५.	२५ श० वि०	षष्ठ परि० पयार ९८ तक पृष्ठ १६९	३९९
२६.	२६ श० वि०	सप्तम परि०, पृष्ठ २१२	४००
२७.	२७ श० वि०	दशम परि०, पृष्ठ २५२	४१७
२८.	२८ श० वि०	त्र्योदश परि०, पृष्ठ २८९	४०२
२९.	२९ श० वि०	सप्तदश परि०, पृष्ठ ३५९	४४४
३०.	३० श० वि०	विंश परि०, पृष्ठ ४५२	३९५

सम्पूर्ण पयार-श्लोक संख्या—११५६६

शुद्धि—पत्र

मध्य लीला

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
ठ	१०	६१७	६१७,६२४
		जानन्तु एव	जानन्त एव
ढ	२२	पवित्रापवित्रो	अपवित्रोपवित्रो
२	१४	पङ्ग	पङ्ग
	२६	जयाद्वतचंन्द्र	जयाद्व तचन्द्र
८	३०	माहात्म्य	माहात्म्य
९	६	प्रभात्त्व	प्रभावत्त्व
१०	२१	वैशिष्ट	वैशिष्ट्य
१६	११	विपनाय	विपिनाय
१८	१६	विजति	विजड़ित
१९	६	मुरधान्तराभि	मुग्धान्तराभि
२०	२९	सुधि	सुधिबुद्धि
२१	११	आइला	पड़िला
२२	१८	तत्वादि	तत्त्ववादि
२७	२२	तत्त्वादियों	तत्त्ववादियों
२७	२२	आर्शीवादे	आशीर्वादे
२९	६	नाभास	नामाभास
	२५	विज्ञापनमेकग्रतः	विज्ञापनमेकमग्रतः
	२६	दयिनीयस्तन	दयनीयस्तव
३१	६	पलक्ष्य	उपलक्ष्य
	११	गुइ	दुइ
४०	१२	नागर-रे	नागर
४३	५	निवेद	निर्वेद
	१२	मदनहत	मदनहृत
४५	११	में जीव	जीव में
४८	९	कहता	कहा
५५	१६	किमप्यख्यां	किमप्यटव्यां
८१	२०	श्री ग्रिवह	श्रीविग्रह
८९	७	पुरी	चुरी
१००	१२	दने	देन
	३०	मोग्य	योग्य
	३२	जिमिवारे	जिनिवारे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०६	२७	तोल	तोड़
१०६	२९	हो	को
११०	१०	विर्विशेष	निर्विशेष
११६	१८	संम्यासी	संन्यासी
११७	२१	अनुनान	[illegible]
१२५	२६	जन्मादस्य	जन्माद्यस्य
१२७	३२	जकता	सकता
१३७	२४	मुनियः	मुनयः
१५२	१३	काप	[illegible]
१५४	२३	कुस्मादपि	[illegible]
१५६	३	याम	[illegible]
१६१	४	सञ्चार्थ	[illegible]
१८९	४	×	तथाहि [illegible] (१४)
१९५	८	एहोत्तम	[illegible]
२२२	१९	स्वरूपतया	रूपतया
२२८	९	विसहा	विग्रहा
२२९	१२	निवर्त्त	विवर्त्त
२३७	३०	अन्याय	अन्यान्य
२४२	२९	परत्त्व	परतत्त्व
२४५	६	कानेजन	[illegible]
२६०	१९	पल	[illegible]
२६५	१२	पाय	[illegible]
२६६	२०	पावणे	[illegible]
२६९	२७	पागला	[illegible]
२७०	२७	सुक्ति	[illegible]
२७३	२२	स्पशन	[illegible]
	३७	उधृतद्	[illegible]
२७८	१२	वलि	[illegible]
२९९	४	परिपाटा	परिपाटी
	२२	आर्विभूत	आविर्भूत
३१७	३४	लाग	[illegible]
३१८	७	यमनु गृह्णाति	यमनुगृह्णाति
३१८	८	परिनिष्ठताम्	परिनिष्ठिताम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१८	१०	जव	जीव	५२५	२०	कृष्ण-गौरव	कृपा-गौरव
	२६	यगे	लगे		२१	प्रभु करेन	प्रश्न करेन
३१९	६	प्रेमपूर्व	प्रेमपूर्वक	५२७	२४	नतरथा	नेतरथा
	२०	पड़्ड़े	षड़		२५	समतनु	सममनु
३२३	२६	स्पश	स्पर्श	५४३	४	मन से को	मन से कोई
३२५	२४	मृगङ्ग	मृदङ्ग		२९	वञ्चित	बञ्चित
	२५	कीर्त्तनरे	कीर्त्तनेर	५३५	११	मधुरिपुरवशीकार	मधुरिपुवशीकार
३४७	१३	द्रुति	द्रुत	५३६	३०	ह्यदाहृतम्	ह्य दाहृतम्
३५०	१	सकड़ों	सैकड़ों	५३८	१५	सुखस्यान्न	सुखस्यात्र
३५१	११	उन	उनको		२०	हैते	हैते हय
३६२	२५	अमाद	ʼअमाद				
३६६	२०	नाइल	सुनाइल	५४१	३०	ऐश्वर्यवानमिश्रा	ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा
३८९	१४	प्रेम्ना:	प्रेम्न:	५४२	१९	आज्ञनता	अज्ञानता
३९१	१९	कोध	क्रोध	५४३	१०	अन्धेरी	अन्धेरो
३९२	२२	भाग	भाव	५४४	६	वबद्ध	बवन्ध
३९३	२१	चलल्लिखी	चलच्चिली		१९	दामानां	दामानं
३९४	६	करते हैं	कहते हैं	५४६	३	शान्तिरति	शान्तरति
३९७	८	कान्ता:	कान्ता: कान्त:	५५७	२	पतितपा-वन	पतित-पावन
४०६	३१	व्यवजनों	व्यञ्जनों	५६०	३	याति	यानि
४०९	१	संत	सेन		१४–१५	अध्यात्मक	आध्यात्मिक
४२४	५	मधुकरी	माधुकरी	५६५	११	कभी कभी	कभी
४२५	२७	ने से	से	५६८	१३	वेव-पुराण	वेद-पुराण
४३१	२६	देत	देन	५७०	२०	त्रितापाद	त्रितापादि
४३२	७	वलियाछे	चलियाछे	५७७	६	कृष्णास्तु	कृष्णस्तु
४३४	१३	नह	वह	५८०	१४	कालव्यूह	कायव्यूह
४४७	४	क्षौर	और	५८९	३१	शाखाचन्द्रण्याय	शाखाचन्द्रन्याय
४४७	३०	वृतरूप	व्रतरूप	५९१	२२	श्रीवसुदेव	श्रीवासुदेव
४४८	६	कत्तुमप्लुतो	कर्त्तुमवप्लुतो	५९६	२०	करि	करि करे
	११	अपनी	मेरी				
४५०	२२	सा	साथ	५९७	२	तेज:	निजेपु तेज:
४७६	३७	रह्मज्ञानियों	ब्रह्मज्ञानियों		२३	ब्रह्म	ब्रह्मा
४८०	२१	अत:	अत: गुरु	६०६	१४	तटस्थ-थलक्षण	तटस्थ-लक्षण
	२३	गुरु संकुचित	संकुचित	६०८	३०	तेजोडंश	तेजोऽंश
४८६	६	सुखकतत्पर्यमय	सुखैकतात्पर्यमय		३२	कृतस्न	कृत्स्न
४९४	७	चभने	चुभने	६१२	८	सल	सब
४९५	६	त्वसम्पूर्णो	त्वसम्पूर्ण		२१	सर्व्वैवर्य्य	सर्वैश्वर्य
५१९	११	भगाद्भक्ति-हीन	भगवद्भक्ति-हीन		३०	श्रेष्ठयध्यादिभि:	श्रेष्ठमध्यादिभि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	१४	सख्या:	सख्यम	८१४	५	ईशावरस्तमित	ईशावास्यमिद
७६४	२	आभीरशुक्षा	आभीरशुह्रा		६	तेनत्यक्तेन	येनत्यक्तेन
	४	शुक्ष	शुह्रा	८२६	१२	षड़ैश्वरपूर्ण	षड़ैश्वर्यपूर्ण
७६८	२४	क्षब्दे	शब्दे	८२८	२५	में श्लोक	श्लोक में
७८०	३०	ब्रह्मणो	ब्रह्मणे	८३२	२	पुंसा:	पुंस:
७९४	७	गोष्ठा	गोष्ठी	८३३	२४	सूनेर	सूत्रेर
७९६	१६	मदस्तु	–मदस्त	८३४	६	समुद्मृतम्	समुद्धृतम्
७९६	३३	दरशितं	दर्शितं त	८३५	२३	अनादिराति	अनादिरादि
८०६	२५	भक्ति	शक्ति		२६	आस्वान	आस्वादन
८०७	१३	त्रिविशेष	निर्विशेष	८३६	१२	में	का में
८०७	२१	त्रिन्तु	किन्तु	८३८	१६	श्रीभगद्गीतायाम्	श्रीभगवद्गीतायाम्
८०९	३४	ब्रह्म	ब्रह्म	८४०	५	आष्युरुक्रमे	अप्युरुक्रमे
८१५	८	अचिन्तौ	अचिन्त्यौ	४१८	७	तामिते	तारिते
८१७	३५	पजा	पूजा	८४४	२	हरिस्मरणं	हरिसंस्मरणं
८१८	३	सम्पत्ति	सम्मति		१०	प वत्तोपवित्रो	अपवित्रो पवित्रो
	३१	पर्वाचार्यगण	पूर्वाचार्यगण			सवाभ्यह्यरन्तर:	सवाह्याभ्यन्तर:
८२२	२९	यायत्रीते	गायत्रीते				
८२३	११	मङ्गल के	मङ्गलके लिए	८४५	३०	मथुरा मण्डल	मथुरा मण्डेल
	११	भाष्य रस	भाष्य रूप	८५०	१३	उत्सब	उत्स

अन्त्य-लीला

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	७	पंग	पङ्गु	५१	१३	कहते	करते
५	५	पेलाइया	फेलाइया	५२	२६	सर्व शक्तिमय	सर्वशक्तिमयत्व
१३	२०	चित्र	चित्त	५३	१४	लुब्थ	लुब्ध
२३	३	गूढ़ग्रहौं	गूढ़ग्रहा	५८	२८	पानी हारी	पानी हाटी
२३	२४	सूत्रधा	सूत्रधार	६३	१४	मनेरपि	मुनेरपि
२४	३०	शैल	मैल	६७	२०	तन्त्रणा	यन्त्रणा
२७	१	स्तिग्धद्यनद्युति	स्निग्धघनद्युति	६८	२८	खात्र	खात्रा
२७	६	उस भी पर	उस पर भी	६९	१०	ए	एवं
३२	२६	प्रकाश को	प्रकाश की	७२	१४	बह्लिते	बलिते
३४	२७	करिमाछ	करियाछ	७३	२९	दय	हय
३६	१९	कुट्नलिते	कुट्मलिते	७४	१४	खाइष	खाइए
३७	२९	बन्ध्यर्गल	बन्धार्गल	७४	१५	यात	भात
३८	३०	हृदयमिदमङ्क्षीत्	हृदयमिदमदाङ्क्षीत्	७६	२१	शद्द	शब्द
४८	२४	कहीं उनके	उनके	७९	१३	दन्त	दत्त
				७९	२५	वतरि	अवतरि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८२	२२	वश्याम्रो	वेश्याम्रो
८४	२१	मुनि	मुञ्नि
८८	९	तांरल	ताँरं
८९	३१	तथँ	अर्थ
९०	२	पापादि	पापादिर
९२	२४	प्रति	पति
९५	२४	यापक	यापन
९९	१	किन्चु	किन्तु
	१	नाद	वाद
१०२	२१	वास्भाव अक्षेर	स्वभाव-अक्षेर
१०४	२१	दोनों	दीनों
	२५	३ सङ्कीर्त्तन	सङ्कीर्त्तन
१०७	२३	एवं आनन्त	मन्त्र एवं अनन्त
११३	९	वैष्णावेर	वैष्णवेर
११४	२३	द्दढ़ि	द्दढ़
१२३	२	पूर्ववे	पूर्वे
१४१	७	जाती है	जागी है
१४३	२३	तन्मव	तन्मय
१४७	२४	हृद्रोगभाश्व	हृद्रोगमाश्व
१५२	२९	यिश्वासवती	विश्वासवती
१५२	३५	श्रीरूप गोस्वामी	श्रीस्वरूपगोस्वामी
१५३	४	गाम्य-कविर	ग्राम्य-कविर
	२०	विहात्मन्यात्मतां	रिहात्म्वत्यत्मंता
१५५	१६	विभागोऽपं	विभागोऽयं
	२१	दस्र्तशित	दर्शित
१५७	१२	मुभिमु	युझिमु
१५८	१४	श्रीरूर	श्रीस्वरूप
१६२	१	करघे	करये
	६	पुलित-भोजन	पुलिन-भोजन
१७८	१	प्रभु	उन्होंने
१७१	३०	लत	एत
१८४	७	ओङ्ग	अङ्गों
१८७	२२	लुमधुर	सुमधुर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८७	२२	श्रीवासदेव	श्रीवासुदेव
१९९	१६	उपगीव	उपगीयमान
२००	२०	वेकरने	वे ऐसा करते
२०३	१	भट्टर	भ[illegible]
२०८	२९	बद	ब[illegible]
२१५	११	यथितथ	य[illegible]तथि
२२०	१६	वज्जुँन	व[illegible]
२२४	१२	खद्धं वे	ऊ[illegible]
२३०	२९	विषतेर	वि[illegible]
२३२	२२	मने	मा[illegible]
२४४	१६	भासिगा	भा[illegible]
	१९	हथ	हय
२५४	२३	श्रीरूप	श्री[illegible]
२६५	२०	दिया	दि[illegible]
२६६	२९	लाठी	ला[illegible]
२६७	१८	प्रभ	प्रभ[illegible]
	२५	सुखे	मु[illegible]
२६८	१७	की	के
२६९	१२	तम	तुम
२७१	२९	आइर	[illegible]
२९५	पेज नं०	२७५	७२[illegible]
	३१	मल्य	माल[illegible]
२७६	१०	काय	काय[illegible]
२७८	१५	तारे	ना[illegible]
७९	१	काते	का[illegible]
२८१	२	तैते	लै[illegible]
	१५	लिथे	लि[illegible]
२८२	९	घरिला	ध[illegible]
	२४	चैतत्य	[illegible]
	२४	शिखिर	शि[illegible]
२८७	१	सार	अ[illegible]
		व्यश्वन	व्य[illegible]
		——	

क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७	चकबार	एकवार
१७	कण्ठ भाला	कण्ठ माला
१	कला	कैला
५	करिवेने	करिवेन
४	मनना	मनसा
३१	मदन मोह	मदन मोहन
२२	कन्धे	कन्धे
२६	चढ़ते	चढ़ने
३१	कपने	करने
२०	गरग	गरगर
३२	ते	ने
३२	माघुर्य	माधुर्य
१७	घूलि	धूलि
३३	श्रीमद् महाप्रभु	श्री मन्महाप्रभु
२७	भन्ति	भान्ति
२	गन्घ	गन्ध
१	भुक्तावशे	भुक्तावशेष
२१	चवित	चर्बित
२३	वाल	वाला
१३	दुद्दमनीय	दुर्दमनीय
१७	मद्दामता	उद्दामता
१२	और नहीं	और न ही
२६	सम्मार्ज्जुने	सम्मार्ज्जने
२८	महा प्रभुर के	महा प्रभु के
३०	वष्णाव	वैष्णव
१५	पश्चगुण	पञ्चगुण
११	लोत्रि	लोभि
२१	अङ्क	अङ्ग
७	तोमोय	तोमाय
१२	में मैं	में
१५	हरिमित	हरिरित
४	जातता है	जाता है
२६	वाखकेरे	वालकेरे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३५	२१	कृत	कृत्य
३४१	४	हु	वहु
३४६	२२	त्रिजगत	त्रिजगत्
३६०	५	अमाद्धावन	अमाद्धावन
३६७	१	लइ	एइ
३७३	६	थीरः	धीरः
३८४	१४	विच्छ दुखिता	विच्छेद दुखिता
३८५	३	धर्नंनाश	धर्मनाश
३९४	७	गौराङ्गस्त-वकल्प	गौराङ्गस्तव-कल्प
३९५	७	कुरङ्गमदजिद्व-पुः	कुरङ्गमदजिद्वपुः
३९७	७	न्ध	गन्ध
३९७	१९	स्फूःये दिय्य	स्फूर्त्तये दिव्य
४१९	१७	हराणि	कराणि
४२०	६	कृष्णवणं	कृष्णवर्ण
४२३	१	दुदैव	दुर्दैव
४३१	२२	भवम्बुधौ	भवाम्बुधौ
४३८	१६	पड़ू	पड़
४३.	१७	गोर	मोर
४४१	२७	प्रसाप	प्रलापे
४४१	२८	धर्म	अर्थ
४४४	८	संक्षेषे	संक्षेपे

परिशिष्ट

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४५४(कालम-१)	९	अधीन्श	अधीरा
	११	अध्यात्मक-नाप	आध्यात्मिक-ताप
	२१	अनुभव	अनुभाव
	२१	अ-७२	अ-७४
४५५(कालम-१)	४	अपादान-दासभक्त	अपादान
	१७	अवत्नसिद्ध-भाव	अयत्नसिद्ध
	१८	(मानस-बाह्ल)	(मानस-बाह्य)
४५६(कालम-१)	२५	उद्दीप्त-विकार	उद्दीप्त-विकार

श्री शचीतनयाष्टकम्

उज्ज्वल वर्ण गौरवर देहं — विलसित निरवधि भाव विदेहम् ।
त्रिभुवन पावन कृपायालेशं — तं प्रणमामि च श्रीशचीतनयम् ॥
गद गद अन्तर भाव विकारं — दुर्जन तर्जन नाद विशालम् ।
भव भय भञ्जन कारण करुणं — तं प्रणमामि च श्रीशचीतनयम् ॥
अरुणाम्बर धर चारु कपोलं — चन्द्र विनिन्दित शीतल बदनम् ।
जल्पित निज गुण-नाम विनोदं — तं प्रणमामि च श्रीशचीतनयम् ॥
विगलित-नैन कमल जलधारं — भूषण नवरस भाव-विकारम् ।
गति अति मन्थर नृत्य विलासं — तं प्रणमामि च श्रीशचीतनयम् ॥
चञ्चल चारु चरण गति रुचिरं — मञ्जरी रञ्जित पद युग मधुरम् ।
इन्दु विनिन्दित नख चय रुचिरं — तं प्रणमामि च श्रीशचीतनयम् ॥
धृत कटि डोर कमण्डलु दण्डं — दिव्य कलेवर मुण्डित मुण्डम् ।
दुर्जन कल्मष खण्डन दण्डं — तं प्रणमामि च श्रीशचीतनयम् ॥
भूषण भूरज अलकावलितं — कम्पित बिम्बाधर वरं रुचिरम् ।
मलयज विरचित उज्ज्वल तिलकं — तं प्रणमामि च श्रीशचीतनयम् ॥
निन्दित अरुण कमलदल नयनं — आजानु लम्बित श्रीभुजयुगलम् ।
कैशोर कलेवर नर्त्तक वेशं — तं प्रणमामि च श्रीशचीतनयम् ॥

॥ श्रीश्रीकृष्णचैतन्य समर्पणमस्तु ॥